रजत-जयन्ती-ग्रन्थ

सम्पादक-मण्डल
डॉ० मो० दि० पराडकर
प्रो० रं० रा० देशपाण्डे
प्रो० राम म्हात्रे
श्री बालकृष्ण वा० भोसले
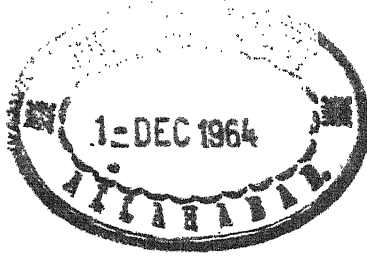
बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ

प्रकाशक :
चिं० रा० फणशीकर
प्रकाशन-मन्त्री
बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ
बम्बई-२६

प्रथम संस्करण, दिसम्बर १९६३
मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :
नवीन प्रेस
६, फ़ैज़ बाज़ार,
दिल्ली-६

भारत के राष्ट्रपति का सचिव
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली-४

पत्रावली संख्या १८ (२)-हि । ६३

मार्च १८, १९६३
फाल्गुन २७, १८८४ (शक)

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपतिजी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ अक्तूबर में अपनी रजत-जयन्ती मनाने जा रही है।

इस अवसर पर राष्ट्रपतिजी विद्यापीठ के लिए अपना आशीर्वाद तथा हिन्दी भाषा के प्रसार एवं समृद्धि की दिशा में किये जा रहे उसके प्रयत्नों की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएँ भेजते हैं।

भवदीय,
सुबिमल दत्त

उपराष्ट्रपति
भारत
नई दिल्ली
मार्च १३, १९६३

प्रिय महोदय,

आपका पत्र क्रमांक १३०७० । ६३-६४ दिनांक ८ मार्च ६३ का प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आप बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ की रजत-जयन्ती के सुअवसर पर एक सन्दर्भ-ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। मैं इस ग्रन्थ की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

आपका
ज़ाकिर हुसैन

संरक्षण-मन्त्री
नई दिल्ली

दिनांक : २९ मार्च, १९६३

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ का रजत-जयन्ती-समारोह अक्तूबर माह में मनाया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। अपनी मातृभाषा के साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी का सब भारतीय अध्ययन करेंगे तो वे एक-दूसरे को आसानी से समझ सकेंगे। राष्ट्र की एकता को कायम रखने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा और भारत अनेक भाषा-भाषी होते हुए भी एक राष्ट्र है इसका सुन्दर उदाहरण दुनिया के सामने रखने में हम सफल होंगे। राष्ट्रभाषा हिन्दी को समृद्धिशाली, प्रेरणादायी तथा सम्पन्न बनाना आज आवश्यक है। साथ ही अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में घर-घर में इसका प्रचार होना भी अनिवार्य है। इस कार्य में हिन्दी प्रचारक संस्थाओं को तथा प्रचारकों को जुट जाना चाहिए।

मेरी सद्भावनाएँ आपके साथ हैं।

यशवन्तराव चह्वाण

योजना एवं श्रम-मन्त्री
भारत सरकार
१६-३-१९६३

प्रिय महोदय,

आपका पत्र संख्या १३०६५। ६३-६४ दिनांक ८-३-६३ का मिला। धन्यवाद।

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के रजत-जयन्ती समारोह तथा सन्दर्भ ग्रन्थ के प्रकाशन के विषय में जानकर प्रसन्नता हुई। मुझे आशा है कि सन्दर्भ ग्रन्थ में इस प्रकार की सामग्री का समावेश किया जाएगा, जोकि अहिन्दी-भाषी राज्यों द्वारा राष्ट्रभाषा को समृद्ध एवं लोकप्रिय बनाने के लिए जो प्रयत्न किये गए हैं उन पर प्रकाश डालेगी। आयोजन की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ।

भवदीय,
गुलजारीलाल नन्दा.

गृह-मन्त्री
भारत
नई दिल्ली
जून २६, १९६३

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ आगामी अक्तूबर में अपनी रजत-जयन्ती मना रही है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि इस अवसर पर एक सन्दर्भ ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है जिसमें हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए देश-विदेशों में जो काम हुआ है तथा जो उन्नति हुई है उसका विवरण होगा।

हार्दिक शुभकामना सहित,

लालबहादुर

मन्त्री,
शास्त्रीय अनुसन्धान एवं सांस्कृतिक कार्य,
नई दिल्ली
दिनांक १४ मार्च १९६१

महोदय,

आपका १-३-१९६३ का निमन्त्रण-पत्र मिला, धन्यवाद। मुझे यह जानकर खुशी हुई है कि आपकी संस्था अक्तूबर में जयन्ती-समारोह मना रही है। इस अवसर पर विद्यापीठ एक सन्दर्भ-ग्रन्थ प्रकाशित कर रही है, यह खुशी की बात है, ऐसे ग्रन्थों की निहायत जरूरत है। मैं आपके ग्रन्थ की पूरी कामयाबी चाहता हूँ।

हुमायुन् कबिर

९, अकबर रोड,
नई दिल्ली
नं० ८६२ एम० एस०। ६३ **दिनांक : १४ मार्च १९६३**

प्रिय पराडकरजी,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ आगामी १२, १३, १४ अक्तूबर को अपनी रजत-जयन्ती मना रही है। इस शुभावसर पर सन्दर्भ ग्रन्थ प्रकाशित करने का जो विचार आपने किया है वह अत्यधिक सराहनीय है। अहिन्दी-भाषी जगत् द्वारा हिन्दी के प्रसार के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं उन्हें जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत कर हिन्दी-भाषी भाइयों के इस विषय के अन्धकार को दूर कर सकेंगे। उन्हें नई चेतना मिल सकेगी। अहिन्दी-भाषी भाइयों के दृष्टिकोण को समझने में सुगमता होगी। वास्तव में यह हिन्दी की सच्ची सेवा होगी।

आपके प्रयास की सफलता के लिए मैं हृदय से कामना करता हूँ।

आपका
राजबहादुर

राजभवन
जयपुर
दिनांक : मार्च १८, १९६३

प्रिय महाशय,

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ अपने जीवन के पच्चीस वर्ष समाप्त करके अपनी रजत-जयन्ती मनाने जा रही है। इस अवसर पर उसको बधाई देता हूँ। आपने जयन्ती-ग्रन्थ के लिए जैसा लेख माँगा है उसको लिखने का प्रयत्न करूँगा। उत्सव तो अक्तूबर में होने-वाला है इसलिए अभी बहुत समय है।

भवदीय,
सम्पूर्णानन्द

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ इस वर्ष अपनी रजत-जयन्ती मना रही है।

विद्यापीठ गत २४ वर्षों से सम्पूर्ण देश में राष्ट्रभाषा का प्रचार एवं प्रसार नियमित तथा सुव्यवस्थित रूप से करती रही है।

रजत-जयन्ती के सुअवसर पर विद्यापीठ की ओर से प्रकाशित होने वाला सन्दर्भ ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। मुझे उम्मीद है कि विद्यापीठ के निष्ठावान तथा कर्मठ कार्यकर्ताओं के बल पर महोत्सव कल्पनातीत सफलता प्राप्त करेगा।

मेरी शुभकामनाएँ आप लोगों के साथ हैं।

शांतिलाल ह० शाह
(मन्त्री, शिक्षा-विभाग)

सचिवालय,
बम्बई : ७ जून, १९६३

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड,
नई दिल्ली-१
९ जुलाई, १९६३

प्रिय बन्धु,

आपका पत्र दिनांक २५-६-१९६३ प्राप्त हुआ। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि विद्यापीठ की रजत-जयन्ती के सुअवसर पर आप एक ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। कार्य में अति व्यस्त होने के कारण मैं इस ग्रन्थ के लिए अपना लेख भेजने में असमर्थ हूँ।

कृपया इस सुअवसर पर मेरी ओर से शुभ कामनाएँ स्वीकार करें।

भवदीय,
डी० संजीवैया
(अध्यक्ष)

निवेदन

स्वाधीन भारत में विभिन्न भारतीय भाषाओं के विकास का प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पराधीनता के काल में शासकों की भाषा होने के कारण अंग्रेजी का स्थान सर्वोपरि रहा। इस काल में भी भारतीय भाषाएँ विकसित होती रहीं, किन्तु केवल आंशिक रूप से; इनकी सर्वांगीण उन्नति अवरुद्ध होती रही, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। अब भारत के निवासियों को अपनी भाषाओं की सर्वांगीण प्रगति का उत्तरदायित्व निभाना होगा। हमारे इस बहुभाषी विशाल देश की स्वतन्त्रता के संग्राम में एकता की स्थापना के साधन के रूप में अधिकांश भारतीय जनता द्वारा बोली तथा समझी जानेवाली हिन्दी भाषा के प्रचार एवं प्रसार में हम संलग्न रहे। स्वतन्त्र भारत के संविधान ने हिन्दी भाषा पर मान्यता की मुहर ठीक ही लगाई। हिन्दी भारती के प्रेमियों का इससे प्रसन्न और सन्तुष्ट होना स्वाभाविक है। अब इस संघभाषा को अन्तरराज्यीय व्यवहार में अपना गौरवपूर्ण स्थान वहन करने योग्य बनाने का उत्तरदायित्व भी हमीं पर है। संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान को हमें इस भाषा में उपस्थित करना है। इस दिशा में ठोस कार्य करने के लिए अग्रसर होना ही हिन्दी के प्रचार में लगी संस्थाओं का पुनीत कर्त्तव्य है। इस महान् कार्य का दुर्लक्ष्य करके हमारी प्रचार संस्थाएँ यदि आज भी अपनी-अपनी परीक्षाओं की चहारदीवारी में ही चक्कर काटती रहेंगी तो भविष्य हमें कदापि क्षमा नहीं करेगा। इसी उद्देश्य से हमने अपनी विद्यापीठ की रजत-जयन्ती के शुभ अवसर पर एक ऐसे ग्रन्थ को प्रकाशित करने की योजना बनाई जिसमें भविष्य में हिन्दी के स्वरूप पर विद्वानों के मन्तव्यों को उपस्थित करते हुए आज तक हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड का शीर्षक है 'लिपि, भाषा और साहित्य की समस्याएँ'। इसमें देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता एवं उपादेयता, भाषा की सरलता, राष्ट्रभाषा की सीमाएँ तथा समस्याएँ जैसे महत्त्वपूर्ण एवं जटिल विषयों के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के कुछ पहलुओं पर हिन्दी के दिग्गज विद्वानों के लेखों का संकलन किया गया है। 'भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि' एवं 'अहिन्दी क्षेत्रों के पाठ्यक्रम में खड़ी बोली के अतिरिक्त उसकी भाषाओं के साहित्य को समाविष्ट करने की उपादेयता' विषयों पर विभिन्न भाषाओं के विद्वानों की संगोष्ठियाँ भी इस खण्ड में सम्मिलित कर दी गई हैं, जो बहुत ही रोचक सिद्ध होंगी। एमस्टर्डम विश्वविद्यालय में आधुनिक भारतीय भाषा एवं साहित्य विभाग के प्रोफेसर डॉ० के० द० ब्रोसे का लिखा हुआ 'अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का अध्ययन' विदेशियों की इस विषय में रुचि का सुन्दर प्रमाण है। प्रो० अ० का० प्रियोलकर का 'गोआ की भाषा-समस्या' महाराष्ट्र राज्य के एक ज्वलन्त प्रश्न का शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करता है, और एक भूभाग की भाषा से सम्बद्ध होने के कारण उसे इस खण्ड में स्थान देना उचित समझा गया।

ग्रन्थ के दूसरे खण्ड का नाम है 'राजभाषा हिन्दी का विकास'। 'राष्ट्रभाषा' शब्द को लेकर जो वितण्डावाद इधर चल पड़ा है उससे बचने के लिए हेतुपूर्वक सम्पादक-मण्डल ने 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा किये गए हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार-कार्य की जानकारी के साथ-साथ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रवर्तित विकास-योजनाओं पर प्रकाश डालनेवाले लेख संग्रहीत किये गए हैं। तदुपरान्त राज्यीय स्तर पर हिन्दी के विकास में (आज तक विभिन्न राज्यों ने) जो योगदान दिया है उसकी रूपरेखा प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इस खण्ड में केरल राज्य से पंजाब तक यानी दक्षिण से उत्तर तक पहुँचने का क्रम रखा गया है।

इसी खण्ड के अन्तर्गत भारत में हिन्दी भाषा एवं लिपि के प्रचार के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के संवर्धन में जुटी हुई संस्थाओं के कार्य की एक झाँकी प्रस्तुत करना भी उचित समझा गया। सभी संस्थाओं ने हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में जो योगदान दिया वह समान रूप से महत्त्व-पूर्ण है। इसीलिए सभी हिन्दी प्रचारक संस्थाओं से सादर जानकारी आमन्त्रित की गई और प्राप्त सामग्री के आधार पर विवरण तैयार किया गया। कुल मिलाकर छब्बीस संस्थाओं के कार्य की संक्षिप्त झलक इस ग्रन्थ में दी गई है। यदि कुछ संस्थाओं के नाम रह गए हों तो उसके लिए सम्पादक-मण्डल विनम्र भाव से उन संस्थाओं के निकट क्षमाप्रार्थी है, क्योंकि किसी भी संस्था के नाम का उल्लेख न करना हमारा उद्देश्य न है और न होगा।

आजकल विदेशों में भी भारतीय भाषाओं का अध्ययन हो रहा है। भारत के बाहर हिन्दी के अध्ययन के सम्बन्ध में जो कार्य हो रहा है उसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए विदेश के दूतावासों से सम्पर्क स्थापित किया गया। परिणामस्वरूप बर्मा, चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी एवं रूस में हिन्दी के अध्ययन की गतिविधि पर प्रकाश डालनेवाले लेख प्राप्त हुए, जिन्हें दूसरे खण्ड के अन्त में संकलित किया गया है।

ग्रन्थ के तीसरे खण्ड को 'भारतीय चिन्तन' की संज्ञा दी गई है। सम्पादक-मण्डल की निश्चित धारणा है कि भारतीय भाषाओं से सामंजस्य रखने में ही हिन्दी का उज्ज्वल भविष्य निहित है। इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से खण्ड में भारत की सभी भाषाओं के स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय उपस्थित करनेवाले लेखों को संग्रहीत किया गया है।

दो-तीन बरस पहले साहित्य-अकादेमी का Whos Who प्रकाशित हुआ था। जयन्ती ग्रन्थ की रूपरेखा बनाते समय साहित्य-अकादेमी के सचिव डॉ० प्रभाकर माचवे से विचार-विनिमय करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य की सेवा करनेवाले हिन्दीतर-भाषी लेखकों का संक्षिप्त परिचय देने के विचार का उद्भव हुआ। परिणामस्वरूप इस दिशा में जानकारी प्राप्त करने के प्रयत्न किये गए और जो सामग्री उपलब्ध हो सकी उसे चौथे खण्ड में प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड के अन्तर्गत जो नामावली दी गई है वह सम्पूर्ण नहीं है। सम्पादक-मण्डल अपनी अक्षमताओं और मर्यादाओं से अवगत है, लेकिन 'अकरणादल्पकरणं श्रेयः' के अनुसार जो हो सका उसे ही हिन्दी प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत करना उचित समझा गया।

इस ग्रन्थ के अन्तिम खण्ड में बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ की आपबीती पाठकों की सेवा में उप-स्थित की गई है। विद्यापीठ की वर्तमान स्थिति एवं रूप के वास्तविक निर्माता हैं उसके प्रचारक

और कार्यकर्ता। उन्होंने इस विद्यापीठ को अपने लहू से सींचा है, लगन एवं निष्ठा से पाल-पोसकर बड़ा किया है। रजत-जयन्ती का समारोह विद्यापीठ के इन आधार-स्तम्भों के सचित्र परिचय के बिना सम्पूर्ण हो ही कैसे सकता है!

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए जब हम सामग्री इकट्ठा कर रहे थे तब हमें कोई आशा नहीं थी कि इसे यह रूप प्राप्त होगा। 'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः' को लेकर ही हम चले थे। किन्तु यह निवेदन करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है कि जिन महानुभावों से हमने पत्र द्वारा सम्पर्क स्थापित किया उन सभी ने बड़ी तत्परता से हमें आश्वासन देकर हमारा उत्साह बढ़ाया। धीरे-धीरे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' आदि मनीषियों के लेख प्राप्त हुए। सभी उदार-मना विद्वानों ने हमारे संकलित कार्य की सराहना की और निःशुल्क रचनाएँ भेजकर अपनी कृपा से हमें अनुगृहीत किया। दिल्ली में स्थित केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के डॉ० श्री० द० लिमये, डॉ० श्री सुरेश अवस्थी आदि महानुभावों ने हमारे कार्य के प्रति आत्मीयता दिखाकर स्नेह और सहयोग दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में संकलित सामग्री वास्तव में सभी विद्वानों की कृपा का सुफल है। सर्वश्री यशपाल तथा उदयशंकर भट्ट की रचनाओं के लिए हम 'ज्ञान-सरिता' के संचालक श्री अरविन्द देशपाण्डे के आभारी हैं।

केन्द्रीय एवं राज्यीय स्तर पर हिन्दी के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करने में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय एवं सांस्कृतिक कार्य तथा अनुसन्धान मन्त्रालय के साथ-साथ पंजाब, मध्य-प्रदेश और महाराष्ट्र के मुख्य-मंत्री सर्वश्री प्रतापसिंह कैरों, भगवन्तराव मण्डलोई, मा० सा० कन्नमवार-जैसे आदरणीय महानुभावों ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर हमें अनुगृहीत किया। विभिन्न राज्यों की हिन्दी-सेवा की झाँकी उपस्थित करनेवाले सुलेखकों के भी हम कृतज्ञ हैं।

भारत में हिन्दी का प्रचार, प्रसार एवं संवर्धन करनेवाली विभिन्न संस्थाओं ने तथा विश्वविद्यालयों ने हमें अपने-अपने कार्य का विवरण भेजने की जो तत्परता दिखाई उसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद प्रदान करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस खण्ड में विदेशों में हिन्दी की गतिविधि पर प्रकाश डालने में सौभाग्य से सर्वश्री व्रीसे, बारान्निकोव और डॉ० ओमप्रकाश आदि महानुभावों की सहायता हमें प्राप्त हुई। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता एवं आदर-भावना की अभिव्यक्ति के लिए हमारे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। हमें आशा है कि भविष्य में भी हमारी संस्था इन सभी उदाराशय व्यक्तियों की सहानुभूति एवं विश्वास का भाजन बनी रहेगी। इसी प्रकार विभिन्न भारतीय भाषाओं के स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य की प्रवृत्तियों का परिचय उपस्थित करने में भारत के जिन भाषाकोविदों ने अनमोल सहायता की उनके भी हम कृतज्ञ हैं। साहित्य-अकादेमी के सचिव डॉ० प्रभाकर माचवे के तो हम विशेष रूप से ऋणी हैं, क्योंकि उन्हीं के मार्गदर्शन में प्रस्तुत ग्रन्थ की रूपरेखा निर्मित हुई।

पाँचवें खण्ड की सामग्री जुटाने में विद्यापीठ के प्रचारक बन्धुओं के उत्साहपूर्ण सहयोग के लिए आभार-प्रदर्शन करना उनके अमिट स्नेह की अवमानना ही होगी।

लेकिन यह ग्रन्थ इस रूप में कभी आ ही न पाता यदि दिल्ली-स्थित नवीन प्रेस और उसके कर्मचारियों का कृपापूर्ण सहयोग हमें उपलब्ध न होता। बहुत थोड़े समय में इस वृहदाकार ग्रन्थ को सुन्दर रूप में मुद्रित करने के लिए हम नवीन प्रेस के संचालक श्री सत्यप्रकाश गुप्ता और उनके सहकर्मी सर्वश्री शम्भूनाथ सेठ, विद्यासागर शर्मा, जसवन्तसिंह, बाबूलाल आदि के अत्यन्त आभारी हैं। ग्रन्थ

की सम्पूर्ण सामग्री के संशोधन, सम्पादन, वर्तनी की एकरूपता, लेखकों का परिचय और चौथे खण्ड की सामग्री आदि प्रस्तुत करने में सर्वश्री राजीव सक्सेना एवं राजेन्द्र कुशवाह आदि हमारी कृतज्ञता के अधिकारी हैं। ग्रन्थ की रूप-सज्जा एवं अलंकृतियों का श्रेय श्रीमती मन्दाकिनी और रिफार्मा स्टूडियो के कलाकारों को है। और अन्त में ग्रन्थ के 'ग्रन्थिक' रूप को सार्थक करनेवाले बाइण्डर जनाब अमीर खाँ साहब का शुक्रिया करना सम्पादक-मण्डल भूल ही कैसे सकता है!

सबके समन्वित सहयोग का यह साकार रूप हिन्दी भारती के चरणों में और समस्त हिन्दी-प्रेमी संसार के कर-कमलों में समर्पित करते हुए सम्पादक-मण्डल आशा करता है कि सभी हिन्दी-प्रेमी व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा इसका सहर्ष स्वागत किया जाएगा और हिन्दी के साथ-साथ समस्त भारतीय भाषाओं के विकास में सभी का योगदान उपलब्ध होगा। इस पावन उद्देश्य की सफलता के लिए वैदिक ऋषि की प्रेरणात्मक वाणी के सहगान में श्रद्धांजली पूर्वक सभी सादर आमन्त्रित हैं:

"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै··· ।।"

शनिवार १२ अक्तूबर १९६३
शनिवार २०, आश्विन शक १८८५

—सम्पादक मण्डल

सूची

राजभाषा हिन्दी का विकास २७१-४६६

भारतीय चिन्तन भारतीय साहित्य ४६७-५६४

इतर-भाषी हिन्दी लेखक ५६४-५८२

बम्बई हिन्दी विद्यापीठ : इतिवृत्त ५८३-६१६

परिशिष्ट : रजत-जयन्ती महोत्सव के भाषण ६१७-६३६

हिन्दी

हिन्दी का उद्देश्य यही है
भारत एक रहे अविभाज्य,
यों तो रूस और अमरीका
जितना है उसका जन-राज्य।

—मैथिलीशरण गुप्त

लिपि भाषा और साहित्य की समस्याएँ

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

हमारी लिपि का नाम 'नागरी' क्यों पड़ा ?

वर्माजी का जन्म बरेली के एक सम्पन्न कायस्थ परिवार में १७ मई १८९७ को हुआ था। शिक्षा लखनऊ, इलाहाबाद एवं पेरिस विश्वविद्यालयों में हुई। वर्षों इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। हिन्दुस्तानी एकेडेमी के संस्थापकों में हैं। आजकल सागर विश्वविद्यालय में भाषा-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं। 'हिन्दी भाषा का इतिहास', 'ब्रजभाषा', 'नागरी अंक और अक्षर' आदि आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

लगभग सत्तर वर्ष पूर्व १८९४ में महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में इस सम्बन्ध में दो-तीन अनुमान दिए थे। इनका सार निम्नलिखित है। 'नागरी' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान इसका सम्बन्ध 'नागर' ब्राह्मणों से लगाते हैं अर्थात् नागर ब्राह्मणों में प्रचलित लिपि नागरी कहलाई। कुछ लोग 'नगर' शब्द से सम्बन्ध जोड़कर इसका अर्थ नागरी अर्थात् नागरों में प्रचलित लिपि करते हैं। एक मत यह भी है कि तांत्रिक यंत्रों में कुछ चिह्न बनते थे, जो 'देवनगर' कहलाते थे। इन चिह्नों से मिलते-जुलते होने के कारण यही नाम इस लिपि के साथ सम्बद्ध हो गया। तांत्रिक समय में 'नागर लिपि' नाम प्रचलित था। अन्त में ओझाजी का कहना है कि इस लिपि के देवनागरी या नागरी नाम पड़ने के कारण वास्तव में अनिश्चित हैं।

१८९६ में नगेन्द्रनाथ वसु ने एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल की प्रोसीडिंग्ज (नं० २, पृ० ११४-१३५) में 'नागरों तथा नागरी लिपि की उत्पत्ति' शीर्षक एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने उपर्युक्त तीन अनुमानों के अतिरिक्त एक चौथा अनुमान भी दिया था कि यह पहले 'नाग लिपि' के नाम से प्रसिद्ध थी। बाद को इसका नाम नागरी लिपि हो गया। किन्तु वसु महोदय ने नागर ब्राह्मणवाले मत का ही अपने लेख में समर्थन किया है। उनके तर्कों का सार निम्नलिखित है। नागरी लिपि का प्रयोग प्रायः गुजरात के उन ताम्रपत्रों में हुआ है, जो उत्तर भारत के ब्राह्मणों को दान देने के सम्बन्ध में हैं, वे ब्राह्मण प्रायः कान्यकुब्ज, पाटलिपुत्र तथा पुड्रवर्धन आदि के हैं। अतः नागरी लिपि कदाचित् उत्तर-भारत से इन ब्राह्मणों के साथ गुजरात गई होगी। ९वीं-१०वीं शताब्दी के लगभग गुजरात के राष्ट्रकूट राजाओं ने गौड़, बंग, कलिंग, गंग, मगध, मालवा आदि देशों तक अपना राज्य फैलाया और उनके साथ उनके नागर पुरोहितों की लिपि भी इस नाम से उत्तर भारत में प्रसिद्ध हो गई।

नागरी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। ओझाजी के अनुसार उत्तर भारत की कुटिल लिपि से ही नागरी लिपि विकसित हुई। कुटिल लिपि का सम्बन्ध गुप्त लिपि के माध्यम से ब्राह्मी लिपि से है। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग प्राचीन बंगाली लिपि निकली। प्राचीन नागरी से ही गुजराती, कैथी, महाजनी आदि उत्तर भारत की अन्य लिपियाँ भी

सम्बद्ध हैं। नागरी लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलता है। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान—अर्थात् हिन्दी भाषी प्रदेश में इस काल के प्रायः समस्त शिलालेख, ताम्रपत्र आदि नागरी लिपि में ही लिखे मिलते हैं। ११वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और १२वीं शताब्दी से वर्तमान नागरी लिपि बन गई। इस तरह आधुनिक देवनागरी लिपि दसवीं शताब्दी ईसवी की प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है।

इस प्रकार जहाँ तक नागरी लिपि की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि यह भारत की परम्परागत लिपियों, अर्थात् ब्राह्मी, गुप्त तथा कुटिल लिपियों का दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच में का विकसित होनेवाला रूप है और इसका प्रचार गंगा की घाटी में अर्थात् प्राचीन मध्यदेश अथवा वर्तमान हिन्दी प्रदेश में था और आज भी है, किन्तु इसका नाम गुजरात में वहाँ के नागर ब्राह्मणों के नाम पर क्यों पड़ा, यह सहसा समझ में नहीं आता। साधारणतया सम्भावना यह होनी चाहिए कि इस लिपि के नाम का भी सम्बन्ध उत्तर भारत के किसी नाम से होना चाहिए। इस विषय में यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि 'नागर' शब्द का प्रयोग लिपि के अतिरिक्त उत्तर भारत में लगभग इसी काल में अन्य क्षेत्रों में भी होता था। एक अपभ्रंश का नाम 'नागर' था। वास्तु, शिल्प तथा चित्रकला की एक शैली 'नागर' कहलाती थी। नागरी लिपि भी इसी समय 'नागर' अक्षरों के नाम से प्रसिद्ध थी। अतः यह असम्भव नहीं कि 'नागर'-शब्द के इन भिन्न प्रयोगों का मूल उद्गम एक हो और ये आपस में सम्बद्ध हों। कुछ समय पूर्व मैंने कहीं पढ़ा था कि 'नगर' उत्तर भारत की प्रसिद्ध राजधानियों में से किसीका नाम था। यह राजधानी पाटलिपुत्र, अहिक्षेत्र अथवा कदाचित् कान्यकुब्ज में से कोई एक थी। इतिहास के कुछ विद्वानों के अनुसार 'नागर' वस्तु तथा शिल्पशैली इसी 'नागर' नाम की राजधानी से प्रसिद्ध हुई हो, तो आश्चर्य नहीं। क्या 'नागर' अपभ्रंश तथा 'नगर अथवा नागरी' लिपि के नाम भी इसी राजधानी के 'नागर' नाम से तो नहीं पड़े?

वास्तव में आवश्यकता इस बात है कि ९वीं से १२वीं शताब्दी में 'नागर' अथवा 'नागरी' नाम जिन-जिन क्षेत्रों में अपने देश में प्रयुक्त हुआ हो—जैसे भाषा, लिपि, वास्तुशैली, शिल्पशैली, चित्रशैली आदि—उन सब उल्लेखों को एकत्र किया जाए। इन अन्य क्षेत्रों के 'नागर' नामकरण के कारणों की भी खोज की जाए। यह भी पता लगाया जाए कि क्या गंगा की घाटी में कोई राजधानी या स्थान 'नगर' नाम से उस काल में इतना प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण था कि जिसके फलस्वरूप उसके नाम पर भाषा, लिपि, शिल्पशैली आदि 'नागर' नाम से प्रसिद्ध हो गई हों। गंगा की घाटी में अनेक प्रसिद्ध जनपद थे, अतः उसमें अनेक बड़े नगर प्राचीनतम काल से थे, जिनकी परम्परा आज भी चल रही है। अतः यह भी असम्भव नहीं है कि मध्यदेश के अनेक नगरों में प्रचलित होने के कारण लिपि, भाषा, शिल्पशैली आदि के नाम 'नागर' पड़ गए हों।

वास्तव में 'नागर' अथवा 'नागरी' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमारी जानकारी ओझाजी तथा उन्नीसवीं शताब्दी में किए गए वसु महोदय के अनुमानों के आगे नहीं बढ़ी है। आशा है भाषा, लिपि, वास्तुकला, शिल्पकला तथा चित्रकला आदि के विद्वान तथा विद्यार्थी इस सम्बन्ध में नया प्रकाश डालेंगे और इन शब्दों की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने का यत्न करेंगे।

★

विद्याभूषण 'श्रीरश्मि'

भारतीय भाषाएँ और देवनागरी

श्री विद्याभूषण 'श्रीरश्मि', एम० ए०, साहित्य रत्न, का जन्म २३ जून, १९३२ को पुनपुन (जिला पटना, बिहार) में हुआ था। हिन्दी के अलावा आपका गुजराती, बंगला तथा अंग्रेजी भाषाओं पर भी अधिकार है। वर्षों तक आपने कई प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में कार्य किया है। आजकल भारत सरकार के प्रकाशन विभाग में सह-सम्पादक हैं। 'धू-धू करती आग', 'प्यासा पंछी', 'खारा पानी' आपके मौलिक उपन्यास हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी तथा बंगला से कई पुस्तकों का अनुवाद किया है। आपके फुटकर लेख, कहानियाँ, आलोचनात्मक निबन्ध आदि बड़े लोकप्रिय हैं।

जब कभी एक सार्वभौम लिपि की सम्भावना का प्रश्न उठा है, भाषा-विज्ञानवेत्ताओं तथा लिपि-विशेषज्ञों का ध्यान बरबस देवनागरी लिपि की ओर आकर्षित हुआ है। उनकी दृष्टि में यही एक ऐसी विज्ञान-सम्मत लिपि है, जिसे किंचित् संशोधन-परिवर्द्धन के साथ संसार-भर की भाषाओं के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। मोनियर विलियम्स ने भी देवनागरी को संसार की सर्वाधिक सुसंगत एवं पूर्ण वर्णमाला माना था। इसकी इसी वैज्ञानिकता तथा सहज-ग्राह्यता से प्रभावित होकर अमरीका के फोर्ड-प्रतिष्ठान ने इसमें अपेक्षित सुधारों के अध्ययन का काम इधर आरम्भ कराया है, ताकि समस्त संसार की भाषाएँ एक समान लिपि के माध्यम से एक-दूसरी के निकट आ सकें।

वह दिन कभी आएगा भी या नहीं, जब सभी भाषाओं की लिपि एक होगी, यह तो अभी नहीं कहा जा सकता, पर इतना निर्विवाद है कि उच्चारण के लिखित संकेत के रूप में विश्व की कोई भी आधुनिक लिपि देवनागरी की समता नहीं कर सकती। ध्वनि के अनुरूप अक्षरों की आकृति यद्यपि एक असम्भव कल्पना-सी प्रतीत होती है, तथापि देवनागरी के कुछ अक्षर इस कसौटी पर भी खरे उतरे हैं। यह एक सुज्ञात तथ्य है कि कुछ वर्ष पहले एक जर्मन विद्वान् ने इस दृष्टि से देवनागरी-अक्षरों की परीक्षा की थी। उन्होंने अक्षरों के मिट्टी के पोले प्रतिरूप तैयार कर उनमें फूँक मारी थी और अ, इ, उ तथा ए, इन चार अक्षरों को ठीक उनकी ध्वनि के अनुरूप पाया था।

ध्वन्यनुरूप अक्षराकृति के इस दृष्टान्त को यदि मात्र संयोग मान लें, तो भी कुछ अन्य तथ्य देवनागरी की वैज्ञानिकता का समर्थन करते हैं। प्रथमतः, इसके प्रत्येक अक्षर या मात्रा का उच्चारण सदा अपरिवर्तित रहता है—देवनागरी में लिखे 'राम' को सदा 'राम' ही पढ़ा जाएगा,—'रम', 'रैम', 'रामो', आदि नहीं। इस शब्द में प्रयुक्त दोनों अक्षर 'र' और 'म' जहाँ कहीं भी प्रयुक्त होंगे, 'र' और 'म' की ही ध्वनि देंगे, कोई अन्य ध्वनि नहीं। इसी प्रकार, अकार की मात्रा (ा) को भी सर्वत्र 'आ' ही उच्चरित किया जाएगा। प्रत्येक संकेत-चिह्न द्वारा एक विशिष्ट ध्वनि का निष्पादन ध्वन्यात्मक लिपि की वैज्ञानिकता का सर्वोपरि मापदण्ड है।

दूसरी बात, देवनागरी-अक्षरों का वर्ग-विभाजन भी अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसके व्यंजनाक्षरों के पाँच मुख्य वर्ग

उच्चारण के स्पर्श-स्थलों के अनुसार निर्धारित हैं। ये स्पर्श-स्थल क्रमशः कंठ, मूर्द्धा, तालु, दन्त तथा ओष्ठ हैं और इनके सहयोग से उच्चरित होनेवाली ध्वनियों के संकेत-चिह्नों को पृथक्-पृथक् वर्गों में रखा गया है—यथा, क-वर्ग, च-वर्ग, ट-वर्ग, त-वर्ग और प-वर्ग। वर्णमाला में इन वर्गों का स्थान भी शरीर में उनकी अवस्थिति के अनुसार ही निश्चित किया गया है—क-वर्ग (कंठ) को पहले स्थान मिला है और प-वर्ग (ओष्ठ) को बाद में। अन्त में अन्तस्थ और ऊष्म ध्वनियाँ रखी गई हैं। पर वर्गों के इस क्रम-निर्धारण में न-जाने कैसे एक त्रुटि रह गई है, जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ है और जिसे बिना किसी विशेष कठिनाई के सुधारा भी जा सकता है। यह त्रुटि च-वर्ग तथा ट-वर्ग के सम्बन्ध में है। च-वर्ग की ध्वनियाँ तालु से सम्बद्ध हैं और ट-वर्ग की मूर्द्धा से। चूँकि हमारे शरीर में कंठ के बाद मूर्द्धा का स्थान है और तब तालु का, इसलिए क-वर्ग के बाद ट-वर्ग को स्थान मिलना चाहिए और तब च-वर्ग को। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, "पाणिनि के समय इन वर्गों के वर्णों का उच्चारण सम्भवतः कुछ भिन्न रहा होगा, पर अब वर्तमान उच्चारण-रूप के अनुसार इन वर्गों का स्थान-परिवर्तन वांछनीय है।"

देवनागरी लिपि की तीसरी वैज्ञानिक विशेषता उसकी शिरोरेखा है, जिसका जन्म चौथी शताब्दी में हुआ था और जो सातवीं शताब्दी तक एक बड़ी सीमा तक विकसित हो चुकी थी। मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा अपराजित (६६१ ईसवी) के लेख में अक्षरों पर शिरोरेखा स्पष्टतः अंकित है। पर उस समय देवनागरी का नहीं, कुटिल लिपि का प्रचलन था, जिसका विकसित रूप वर्तमान देवनागरी है। जो भी हो, शिरोरेखा आरम्भ से हा देवनागरी के साथ रही है और इसकी अपनी विशिष्टता है। शिरोरेखा दृष्टि-गति के सहज संवरण के लिए पथ का निर्माण करती है, जिसके कारण दृष्टि सम्पूर्ण शब्द को एक साथ ग्रहण करती है—अलग-अलग अक्षरों के कारण सम्भावित व्यतिरेक समाप्त हो जाता है। नेत्र-विज्ञानवेत्ताओं की मान्यता है कि शिरोरेखा देवनागरी की एक असाधारण वैज्ञानिक उपलब्धि है, क्योंकि इसके कारण दृष्टि-शिराएँ व्यतिरेकजन्य आघात से मुक्त रहती हैं और इसके फलस्वरूप दृष्टि-दुर्बलता की सम्भावना पैदा नहीं होती।

इस प्रकार, देवनागरी लिपि में लगभग वे सब वैज्ञानिक तत्व हैं, जिनकी एक समुन्नत-समृद्ध लिपि में अपेक्षा की जाती है। इसकी वैज्ञानिकता इसे संसार-भर की लिपियों में सर्वोच्च स्थान दिलाती है। फिर भी, आज जब समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि का प्रश्न उठता है, तब अनेक लोगों को देवनागरी के बजाय रोमन लिपि का पक्ष लेते देखकर तनिक आश्चर्य होता है। वस्तुतः भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की उपयुक्तता न केवल उसकी वैज्ञानिकता के कारण है, बल्कि उन भाषाओं की लिपियों के साथ उसके अत्यन्त निकट सम्बन्धों के भी कारण है। इस प्रसंग में विभिन्न भारतीय भाषाओं की लिपियों के विकास-क्रम पर एक विहंगम दृष्टि डाल लें, तो स्थिति बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाए।

भारत की प्राचीनतम उपलब्ध लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। (मोहेंजोदड़ो के अवशेषों से भी एक लिपि प्रकाश में आई है, पर अब तक उसे पढ़ सकना सम्भव नहीं हुआ है, अतः उसकी गणना यहाँ नहीं की जा रही है।) इनमें से भी खरोष्ठी का, जो अरबी-फ़ारसी की भाँति दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी, प्रचलन देश के केवल पश्चिमोत्तर-प्रदेश में ईसा की चौथी शताब्दी तक रहा। उसके बाद वह लुप्त हो गई। फलतः ब्राह्मी को ही इस देश की प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि कहा जा सकता है। यद्यपि बूलर, वेबर, आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मी का सम्बन्ध पश्चिम-एशिया की किसी प्राचीन लिपि से जोड़ा है, तथापि अपने कथन की पुष्टि में वे कोई ठोस प्रमाण उपस्थित करने में असफल रहे हैं और अधिकांश लाग पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के इस मन्तव्य के ही पक्ष में हैं कि 'ब्राह्मी लिपि भारतीय आर्यों का अपना मौलिक आविष्कार थी।' इस लिपि में लिखे गए लेख ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी तक के मिले हैं। इसके बाद ब्राह्मी के उत्तरी तथा दक्षिणी, ये दो रूप हो गए और इनकी भौगोलिक विभाजन-रेखा बनी विन्ध्याचल की पर्वत-श्रेणी। विन्ध्याचल के उत्तर में उत्तरी ब्राह्मी का प्रयोग होने लगा और उसके दक्षिण में दक्षिणी ब्राह्मी का।

उत्तरी ब्राह्मी का अगला रूप गुप्त लिपि हुआ, जो

गुप्त-काल में प्रचलित थी। फिर, गुप्त लिपि विकसित होकर कुटिल लिपि बनी, जिससे नवीं शताब्दी के आस-पास नागरी और शारदा लिपि का जन्म हुआ। यह शारदा लिपि ही टाँगड़ी (कश्मीरी) तथा गुरुमुखी लिपियों की जननी है। दूसरी ओर, प्राचीन नागरी से राजस्थानी, गुजराती, महाजनी, तथा कैथी लिपियों, और उसकी पूर्वी शाखा से प्राचीन बंगला लिपि का जन्म हुआ। आगे चल-कर प्राचीन बंगला से उड़िया और असमिया लिपियाँ निकलीं। प्राचीन नागरी ही बारहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते विकसित होकर वर्तमान देवनागरी बन गई। इस प्रकार, उत्तर भारत की लगभग सभी आधुनिक लिपियाँ उत्तरी ब्राह्मी की ही पुत्रियाँ हैं।

उधर, दक्षिणी ब्राह्मी से तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, तमिल एवं कलिंग लिपियों का जन्म हुआ। इन लिपियों के वर्णों की आकृतियाँ तो देवनागरी अथवा अन्य उत्तर-भारतीय लिपियों की वर्णाकृतियों से पूर्णतः भिन्न हैं, पर वर्णमाला के स्वर और व्यंजन लगभग समान हैं—स्वर-वर्ण अ, आ, इ, ई, आदि हैं और व्यंजन-वर्ण क, ख, ग, घ, आदि। हाँ, इनमें स्वरों और व्यंजनों की संख्या देव-नागरी से कुछ अधिक अवश्य है। पर तमिल की स्थिति तो इन दक्षिणी लिपियों में भी विचित्र-सी है। सम्भवतः समस्त भारतीय लिपियों में उसकी वर्णमाला सबसे संक्षिप्त है। उसमें क-वर्ग में केवल क और ङ; च-वर्ग में च, ज और ञ; ट-वर्ग में ट और ण; त-वर्ग में त और न, इस तरह बहुत कम अक्षर हैं। अस्तु, दक्षिण भारत में वहाँ की प्रमुख भाषाओं की अपनी-अपनी लिपियाँ तो प्रचलित हैं ही, नागरी लिपि भी 'नन्दिनागरी' अथवा 'ग्रन्थम्' लिपि के नाम से चल रही है, जिसमें संस्कृत के ग्रन्थों को लिपि-बद्ध किया जाता है। इस तरह, आधुनिक दक्षिणी लिपियाँ भी यदि संसार की किसी लिपि से निकटतम सम्पर्क रखती हैं, तो मात्र देवनागरी से। ऐसी अवस्था में देवनागरी का विरोध, स्वभावतः ही, चौंकानेवाला है।

सन् १९३७ में मद्रास में आयोजित भारतीय साहित्य-परिषद् में अपने अध्यक्षीय भाषण में हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था, "भारत में कई लिपियों का प्रचलन विभिन्न प्रान्तों की भाषाएँ समझने के मार्ग में बाधक है। यूरोप के तमाम राष्ट्रों ने एक ही लिपि अप-नाई है। तब भारत को भी, जो एक राष्ट्र होने का दावा करता है, एक ही लिपि अपनानी चाहिए।...रोमन लिपि का व्यवहार भारत में नहीं हो सकता; देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि अनेक प्रान्तीय भाषाओं की लिपियाँ प्रायः एक-सी हैं।" भारत की राष्ट्रीय लिपि के सम्बन्ध में इसी आशय के विचार सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय उप-न्यास 'आनन्दमठ' के यशस्वी बंगाली रचयिता श्री बंकिम-चन्द्र चट्टोपाध्याय के भी थे। 'मॉडर्न रिव्यू' के स्वनामधन्य सम्पादक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने तो 'चतुर्भाषी' नामक एक पत्र निकालने का भी प्रयत्न किया था, जिसमें हिन्दी, बंगला, मराठी और गुजराती, इन चार भारतीय भाषाओं की रचनाएँ देवनागरी लिपि में प्रकाशित होतीं। कलकत्ता उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश श्री शारदा-चरण मित्र ने वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में देवनागरी के प्रचार-प्रसार के लिए कलकत्ते में 'एकलिपि-विस्तार-परि-षद्' की स्थापना की थी और 'देवनागर' नामक एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया था, जिसमें हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, उड़िया, उर्दू आदि कई भाषाओं की रचनाएँ देवनागरी लिपि में प्रकाशित की जाती थीं। उन्हीं दिनों (सन् १९१० में) न्यायाधीश श्री वी० कृष्णस्वामी ऐयर ने इलाहाबाद में आयोजित एकलिपि-सम्मेलन में अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए पूरा बल देकर कहा था कि देवनागरी का सभी भारतीय भाषाओं द्वारा अपनाया जाना न केवल राष्ट्र के हित में, बल्कि स्वयं उनके हित में भी होगा।

इस प्रकार, राष्ट्रीय आन्दोलन-काल में लगभग सम्पूर्ण देश देवनागरी के राष्ट्रलिपि के रूप में ग्रहण किए जाने के पक्ष में था—देवनागरी का पक्ष-समर्थन सबसे अधिक अहिन्दी-भाषी लोग ही कर रहे थे। पर स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद—संविधान-सभा द्वारा देवनागरी में लिखित हिन्दी के राष्ट्रभाषा स्वीकृत किए जाने के उपरान्त—हिन्दी के साथ-साथ देवनागरी के भी विरोध की एक आँधी-सी उठ खड़ी हुई। आज हमारे देश में न केवल अंग्रेज़ी के संघीय भाषा बने रहने की माँग की जा रही है, बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के रोमन लिपि में लिखे जाने की

आवश्यकता पर भी बल दिया जा रहा है।

यहाँ, स्वभावतः ही, प्रश्न उठता है कि क्या रोमन लिपि में, देवनागरी के समान वैज्ञानिक न होते हुए भी, ऐसी खूबियाँ हैं, जिनके कारण हमारे अहिन्दी-भाषी बन्धु उसकी ओर आकर्षित हैं ? सर्वविदित है कि आधुनिक जगत् की सर्वाधिक प्रचलित चार लिपियाँ रोमन, अरबी, चीनी और देवनागरी हैं। इनमें से चीनी वर्णमाला में चित्राक्षरों की अधिकता है और इस कारण स्वयं चीनी भी उसे अपूर्ण, अविकसित और दुस्साध्य मानते हैं। फिर, जहाँ तक अरबी लिपि का सम्बन्ध है, उसमें स्वराक्षरों का घोर अभाव है और इस कारण उसमें उच्चारण के अनुसार शब्द नहीं लिखे जा सकते—'चन्द्र' 'चन्दर', बन जाता है, 'कृष्ण' 'करसन' और 'मन्दिर' 'मन्दर'। फिर, उसके अक्षरों के उच्चारण उनमें निहित ध्वनि के अनुरूप नहीं हैं। अरबी के प्रथम अक्षर का उच्चारण है 'अलिफ़'; पर शब्द-रूप में 'अलिफ़' लिखना पड़े, तो तीन अक्षरों—अलिफ़, लाम और फ़े—को जोड़ना पड़ेगा। इस लिपि में स्वर-ध्वनि के अंकन के लिए केवल तीन वर्ण हैं—अलिफ़, इये और वाओ। इनमें से अलिफ़ अ के अतिरिक्त मद की सहायता से आ की ध्वनि देता है। फिर, एक ही वर्ण इये का प्रयोग य, इ, ई, ए और ऐ, ध्वनियों के लिए तथा वाओ का प्रयोग व, उ, ऊ, ओ और औ ध्वनियों के लिए होता है। ऐसी अवस्था में शब्द, उच्चारण के अनुसार, शुद्ध रूप में नहीं लिखे जा सकते।

बाकी बच जाती है, रोमन लिपि। इस लिपि में स्वर-वर्णों के साथ-साथ व्यंजन-वर्णों का भी अभाव है—पहले इसके स्वर-वर्णों को लें। इसके पाँच स्वर-वर्ण हैं—ए, ई, आइ, ओ और यू। इनमें से ए से अ, ऑ, आ, ए और ऐ, ये पाँच ध्वनियाँ निकाली जाती हैं, जिसके फलस्वरूप 'राम' शब्द 'रम' और 'रैम' भी पढ़ा जा सकता है। फिर, ई से अ, इ और ए, इन तीनों ध्वनियों का प्रकाशन किया जाता है—जैसे, 'हर', 'बी' और 'सेण्ड'। इसी तरह, आइ का प्रयोग इ, ई तथा आइ, इन तीन ध्वनियों के लिए; ओ का अ (कम), ऑ (ऑन) तथा ओ (गो) के लिए; और यू का प्रयोग अ (बट), उ (पुट) तथा यू (ड्यूटी) के लिए होता है। उधर, व्यंजनों का यह हाल है कि सी वर्ण स की ध्वनि के लिए भी प्रयुक्त होता है और क की ध्वनि के भी लिए; जी वर्ण ज की भी ध्वनि देता है और ग की भी; एच बेचारे का तो अपने उच्चारण की किसी भी ध्वनि के लिए प्रयोग ही नहीं होता—वह एक तीसरी ध्वनि ह के लिए प्रयुक्त होता है; यही हाल डब्ल्यू और वाइ का है—ये दोनों वर्ण क्रमशः व और य ध्वनियों के लिए व्यवहृत होते हैं, जिनके लिए इनके उच्चारण में कहीं कोई स्थान ही नहीं है। फिर, महाप्राण ध्वनियाँ निकालने के लिए दो वर्णों का प्रयोग करना पड़ता है—जैसे ख, घ, फ, ढ, आदि। इसके अतिरिक्त, रोमन में ट-वर्ग के ण के, और त-वर्ग के द और न को छोड़कर शेष ध्वनियों के प्रकाशन की कोई व्यवस्था नहीं है। तब, क्या विशेषता है रोमन लिपि की ? लिपि के रूप में तो कोई विशेषता नहीं है। यदि कोई विशेषता है, तो मात्र यह कि उसमें बहुमूल्य साहित्य भरा पड़ा है, जिसके बिना आधुनिक मनुष्य प्रगति नहीं कर सकता। पर क्या यह अपनी अत्यन्त विज्ञान-सम्मत लिपि को तजने के लिए पर्याप्त कारण है ? क्या पाश्चात्य साहित्य के लोभ में पड़कर और आलस्य के कारण हमें अपने 'राम' को 'रामा' और 'रमा' तथा 'बुद्ध' को 'बुड्ढा' बनवा देना चाहिए ? रोमन लिपि अपनाने से क्या हमारे अपने शब्दों के उच्चारण विकृत रूप धारण नहीं कर लेंगे ? क्या यह उचित नहीं होगा कि हम अपनी लिपि को सुरक्षित रखते हुए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने के लिए रोमन लिपि सीखने का भी कष्ट उठायें ?

सच पूछा जाए, तो रोमन लिपि को अपनाने का प्रश्न लिपि और साहित्य की दृष्टि से उठाया ही नहीं गया है। यह कुछ मुट्ठी-भर लोगों का राजनीतिक दाव-पेंच है, और इसके लिए विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच परस्पर ईर्ष्या तथा कटुता पैदा की जा रही है, जो अन्ततः हमारे राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध होगी। यह नहीं माना जा सकता कि महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, स्वामी दयानन्द, बी० जी० खेर, राजेन्द्रप्रसाद, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, विनोबा भावे, काका कालेलकर आदि नेताओं में चिन्तन-शक्ति का अभाव था या है।

परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि देवनागरी अपने-आप में पूर्ण है और इसमें किसी तरह का सुधार किये जाने की

आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः समस्त भारतीय भाषाओं की सभी ध्वनियों के लिए देवनागरी में संकेत-चिह्न नहीं हैं और उनकी व्यवस्था किये बिना दक्षिणी भाषाएँ इस लिपि में शुद्ध रूप में नहीं लिखी जा सकतीं। निस्सन्देह, ये ध्वनियाँ बहुत थोड़ी हैं—दस से भी कम—और इनके लिए नये संकेत-चिह्न बिना किसी कठिनाई के थोड़े समय में ही बनाये जा सकते हैं। पर, दुर्भाग्यवश, स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देवनागरी में सुधार के प्रयत्न उसे भारतीय भाषाओं के अनुकूल बनाने की दृष्टि से नहीं, टाइपराइटर के अनुकूल बनाने की दृष्टि से हुए। परिणामतः वह टाइपराइटर के अनुकूल तो बनती गई, पर भारतीय भाषाओं से दूर होती गई। जिस प्रकार हिन्दी को एक क्षेत्र-विशेष की भाषा बनाने के प्रयत्न में अन्य भारतीय भाषाओं से दूर किया जा रहा है, उसी प्रकार देवनागरी को भी राष्ट्र-पद से हटा कर टाइपराइटर की कुञ्जियों में बन्द करने का भरसक प्रयत्न हुआ। भारत पर अंग्रेज़ी भाषा और रोमन लिपि का प्रभुत्व बनाये रखने के लिए इससे अधिक उपयोगी काम और कोई नहीं हो सकता था।

पर भारत राष्ट्र के सौभाग्य से बहुतेरी उठा-पटक के बाद, अगस्त १९५९ में, देवनागरी लिपि का जो रूप भारत सरकार-द्वारा स्वीकार किया गया, वह टाइपराइटर के साथ-साथ भारतीय भाषाओं के भी अनुकूल है और लिपि की वैज्ञानिकता तथा सरलता की रक्षा करता है। देवनागरी के नये रूप में दीर्घ ॠ को स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि अब उसका प्रयोग नहीं होता और इससे कोई हानि नहीं है। संयुक्ताक्षरों के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया है कि अक्षरों को ऊपर-नीचे बैठाने की कोई आवश्यकता नहीं। खड़ी पाईवाले व्यंजनों का संयुक्त रूप खड़ी पाई को हटाकर बनाया जाएगा; क और फ के संयुक्ताक्षर बनाने का वर्तमान ढंग ही कायम रहेगा—जैसे, पक्का, दफ्तर; ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द तथा ह के संयुक्ताक्षर हल् चिह्न लगाकर बनाये जाएँगे; संयुक्त र के तीनों पुराने रूप (्र, ्र, र्‍) बने रहेंगे; श्र पूर्ववत् 'श्र' के ही रूप में रहेगा; और त्र के स्थान पर 'त्र' लिखा जाएगा। इसके अतिरिक्त, शिरोरेखा को पूर्ववत् बना रहने दिया गया है और पूर्ण विराम के अतिरिक्त अन्य विराम, आदि चिह्न रोमन लिपि से ग्रहण कर लिये गए हैं। अनुनासिक और अनुस्वार (ँ , ं) को भी प्रचलन में रखा गया है तथा अर्द्धचन्द्र (ॅ) की स्वीकृति दी गई है। जिन अक्षरों के रूप स्थिर किये गए हैं, अथवा जिनमें कुछ संशोधन किये गए हैं, वे ये हैं—अ (ॲ नहीं), ख (ख नहीं), छ (छ नहीं), झ (झ नहीं), ण (ण नहीं), ध (ध नहीं), और भ (भ नहीं)। वर्णमाला में एक नया वर्ण ळ भी, जिसकी ध्वनि ल और ड़ के बीच की है तथा जो मराठी एवं दक्षिणी लिपियों में प्रयुक्त होता है, सम्मिलित किया गया है। इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ को भी स्थिर रहने दिया गया है—अ में मात्रा लगाने की बात स्वीकार नहीं की गई। ह्रस्व इ की मात्रा के सम्बन्ध में सन् १९५३ में लखनऊ में हुए लिपि-सुधार-सम्मेलन के सुझाव को स्वीकार नहीं किया गया और उसे पूर्ववत् सम्बद्ध अक्षर से पहले लगाने की बात मानी गई है। विवादास्पद दो अंकों—आठ और नौ के भी स्थिर स्वरूप (८ और ९) स्वीकार कर लिये गए हैं। इस प्रकार, अपने संशोधित रूप से देवनागरी का हित ही हुआ है, क्योंकि अपनी ध्वनि-व्यंजना को अक्षुण्ण रखते हुए वह टाइपराइटर, लाइनो मशीन, मोनो मशीन, आदि के लिए अधिक सुविधाजनक बन गई है।

परन्तु अब भी देवनागरी में कुछ ध्वनियों के लिए संकेत-चिह्न गढ़े जाने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ी के शब्दों Red और Raid को अभी देवनागरी में एक ही प्रकार से 'रेड' लिखा जाएगा। पर यह ठीक नहीं है—Red के लिए ह्रस्व ए की मात्रा बननी चाहिए। इसी प्रकार, ह्रस्व ऐ, ह्रस्व ओ और ह्रस्व औ की भी मात्राएँ आवश्यक हैं। इस सम्बन्ध में यह सुझाव विचारणीय है कि जहाँ ह्रस्व ध्वनि का प्रयोजन हो, वहाँ सम्बद्ध मात्रा के साथ अर्द्धचन्द्र का प्रयोग किया जाए—जैसे रॅड (Red) और रेड (Raid)। इससे किसी अतिरिक्त चिह्न को जन्म दिये बिना ही हम एक बड़े अभाव की पूर्ति कर लेंगे। इसी प्रकार, मलयालम, तमिल, कन्नड़ और तेलुगु में कुछ ऐसे व्यंजनाक्षर भी हैं, जिनके लिए नये संकेत-चिह्न बनाये जाने की आवश्यकता है। अतः अच्छा हो, यदि समस्त भारतीय भाषाओं के विद्वानों का एक आयोग नियुक्त किया जाए, जो शेष भारतीय भाषाओं की

लिपियों के उन वर्णों के लिए, जिन्हें देवनागरी में स्थान नहीं मिला है, उपयुक्त संकेत-चिह्नों का निश्चय करे, और इस प्रकार, देवनागरी को केवल हिन्दी अथवा मराठी की नहीं, बल्कि समग्र भारत की लिपि बनने-योग्य स्वरूप प्रदान करे। इस प्रसंग में, हिन्दी के लेखकों का भी यह कर्तव्य है कि वे हिन्दी-लेखन में सरलता के नाम पर उच्छृङ्खलता को प्रश्रय न दें और देवनागरी के अत्यन्त सरल एवं वैज्ञानिक स्वरूप को नष्ट न करें। हिन्दी-लेखन में उन्हें सावधानीपूर्वक चन्द्रबिन्दु; अर्द्धचन्द्र; अनुस्वार; ट-वर्ग, त-वर्ग, तथा प-वर्ग के अनुनासिकों के अर्द्ध-रूप; अल्पविराम; हलन्त; नुक़ता, आदि का प्रयोग करना चाहिए। विभक्तियों, आदरसूचक सर्वनामों, क्रियाओं के बहुवचन-रूप (गया, गये, गई; हुआ, हुए, हुई), आदि के सम्बन्ध में भी उन्हें आवश्यक नियम बना लेने चाहिए और उनका पूर्णतः पालन करना चाहिए। अनियमितता सरलता नहीं है, यह बात हमें भली भाँति समझ लेनी चाहिए, अन्यथा अनजाने में ही हम एक ऐसी भूल कर बैठेंगे, जिसका कालान्तर में कोई परिमार्जन सम्भव नहीं होगा।
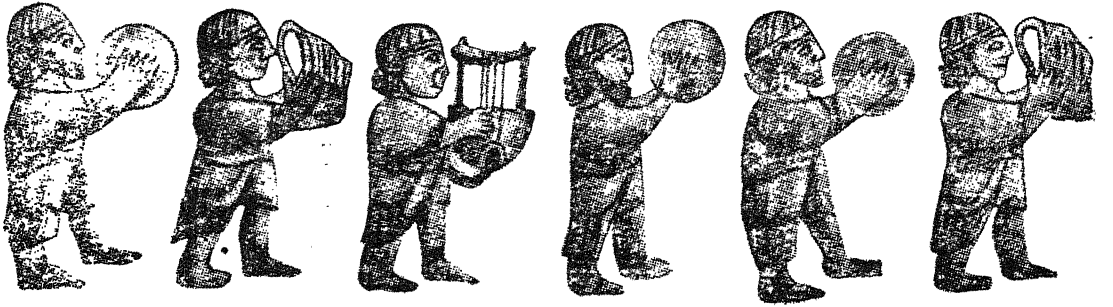
भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि

श्री जवाहरलाल नेहरू ने अभी हाल में कहा है कि "मेरा यह निश्चित विचार है कि कभी-न-कभी हमें भारतीय भाषाओं के लिए एक समान लिपि को प्रोत्साहन देना ही होगा, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि समान लिपि भाषाओं की अपनी लिपियों का स्थान ले लेगी। किसीको भी यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हिन्दी लिपि स्थानीय लिपियों की जगह पर आकर जम जाएगी। सम्भव है, हिन्दी लिपि में ही कुछ परिवर्तन करने पड़ें। लेकिन मेरा सुझाव है कि इसे सभी भाषाओं के लिए एक दूसरी लिपि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इससे एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश की भाषा को ज्यादा आसानी से सीख सकेंगे। वास्तविक कठिनाई भाषा की नहीं, बल्कि लिपि की है।"

हमारी इस संगोष्ठी के लेखकों ने भी, जो भारतीय भाषाओं और साहित्य के मूर्धन्य विद्वान हैं, प्रायः प्रधान मन्त्री के उक्त विचार की ही पुष्टि की है। डॉ० राघवन् ने आधुनिक भाषाशास्त्र के अध्ययन की नींव रखनेवाले सर विलियम जोन्स के शब्दों में कहा है कि देवनागरी दुनिया की किसी भी अन्य लिपि की अपेक्षा ज्यादा स्वाभाविक रूप से व्यवस्थित लिपि है। डॉ० चाटुर्ज्या ने भी माना है कि देश के चालीस करोड़ में से अठारह करोड़ लोग देवनागरी के क्षेत्र में आते हैं और वह संस्कृत की अखिल भारतीय लिपि का स्थान प्रायः सौ वर्ष से ले चुकी हैं। डॉ० राघवन् ने आपसी भेदभाव के कारण अपने ऊपर शासन करने के लिए विदेशी ताकतों को बुला लाने की हमारी पुरानी ऐतिहासिक घृणित प्रवृत्ति की निन्दा की है। यही विचार व्यक्त करते हुए डॉ० वी० के० आर० वी० राव ने भी अंग्रेजी की तुलना बिल्लियों के झगड़े में काम बनानेवाले बन्दर से की है।

एक समान लिपि द्वारा एक क्षेत्र के अध्येताओं के लिए दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं के ग्रन्थों के सहज बोधगम्य हो जाने के महत्व को भी बिसराया नहीं जा सकता। साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित रविबाबू की रचनाओं के देवनागरी संस्करण के सहारे तमिल भाषी डॉ० राघवन् कवि की मौलिक प्रतिभा का साक्षात् रसास्वादन करने में ही सफल नहीं हुए, बल्कि गुरुदेव की कुछ कविताओं का मूल रचना से तमिल में सीधा अनुवाद करने में भी समर्थ हो गए। डॉ० रघुवीर ने भी देवनागरी के सहारे रविबाबू, भारती और गुरुवाणी के सारे देश में सुलभ हो जाने का महत्व स्वीकार किया है। श्री वारियर ने भी इस विचार की पुष्टि करते हुए कहा है कि समान लिपि द्वारा भाषा के अवरोध को दूर करते ही समान संस्कृत शब्दावली के सहारे एक सामान्य शिक्षित भारतीय अपने भाषा-परिवार की भाषाओं को तो आसानी से सीख-समझ ही लेगा, साथ ही थोड़े से ही प्रयत्न से दूसरे परिवार की भाषाएँ भी उनके लिए बोधगम्य हो जाएँगी। उनका निष्कर्ष है कि भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि का होना बड़ी ही व्यावहारिक बात है। इससे भाषाओं में अनुदिन पल्लवित होनेवाला साहित्य सभी भारतीयों की सार्वजनीन सम्पत्ति बन जाएगा।

देश में एक लिपि के होने का अर्थ समस्त देश को रक्षा के लिए एक शस्त्र से सुसज्जित करने-जैसा काम है और डॉ० वी० के० आर० वी राव ने इस परियोजना को उसी महत्व के साथ यथाशीघ्र कार्यान्वित करने का आग्रह किया है। किन्तु जहाँ एक ओर श्री अजवानी तथा अन्य अनेक लेखकों ने देश की विघटनात्मक शक्तियों को रोकने के लिए एक लिपि का प्रयोग जरूरी माना है और यूरोप की किसी भी लिपि को भारतीय भाषाओं की समान लिपि के रूप में स्वीकार करना असम्भव बताया है, दूसरी ओर डॉ० चाटुर्ज्या का विचार है कि इससे पूरे देश में बड़ी भारी गड़बड़ी पैदा हो जाएगी और जगह-जगह से इसका भारी विरोध होगा। दूसरे उन्होंने दुनिया के बहुत बड़े

हिस्से में प्रयोग में आनेवाली रोमन लिपि को इसके लिए उपयोगी बताया है, जो उनके विचार से अपनी सरलता के कारण सभी प्राचीन-नवीन लिपियों में सबसे आसानी से और किसी भी भारतीय लिपि में लगनेवाले समय से आधे समय में सीखी जा सकती है।

विद्वान् लेखकों ने अपने-अपने मत के अनुसार लिपि के इस प्रश्न की जो सैद्धान्तिक-दार्शनिक-व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की है, वह बड़ी ही सामयिक है और किसी भी सामयिक-सांस्कृतिक प्रश्न के प्रत्येक पहलू की प्रत्येक दृष्टिकोण से पूर्वग्रह-रहित चर्चा को हमारे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाले गणराज्य में पूरा महत्व दिया जाना चाहिए। हमें विश्वास है कि इस महत्वपूर्ण प्रश्न की यह विशद व्याख्या भारत के सुशिक्षित व्यक्तियों में भी इस विषय के अज्ञान को दूर करने में सहायक होगी और इस व्यापक समस्या के समाधान में इससे कुछ योग मिलेगा।

—सम्पादक

प्रो० हुमायून् कबिर

ऐसा लगता है कि लोग भाषा के साथ वर्णमाला और लिपि के सम्बन्ध को साफ-साफ नहीं समझते। कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि एक खास वर्णमाला एक खास लिपि में ही लिखी जा सकती है। कभी-कभी इस दावे को और भी आगे बढ़ाकर यहाँ तक कहा जाता है कि वर्ण-माला ही नहीं, लिपि भी भाषा का एक अभिन्न हिस्सा है। चूँकि भाषा के मामलें में लोग हमेशा भावावेश से बात करते हैं, इसलिए वे वर्णमाला और लिपि की चर्चा के सिलसिले में भी बहुत कुछ भावावेश के साथ ही बात करते हैं।

लेकिन इस समस्या पर अगर ध्यान से सोचा जाए, तो पता चलेगा कि भाषा, वर्णमाला और लिपि तीनों बिलकुल ही अलग-अलग चीजें हैं। उनका आपसी रिश्ता और चाहे कैसा हो, पर उसे अभिन्न नहीं कहा जा सकता। दुनिया में ऐसी भी अनेक भाषाएँ हैं, जिनके पास न कोई वर्णमाला है और न कोई लिपि। भारत में ही बहुत से कबीलों की अपनी अलग भाषाएँ हैं। वे काफी विकसित भाषाएँ हैं और कविता में भावों और मनोवेगों को व्यक्त कर सकती हैं। फिर भी उनकी न कोई वर्णमाला है और न कोई लिपि।

यह माना जा जा सकता है कि ज्यादा विकसित भाषा के पास आमतौर पर अपनी लिपि और वर्णमाला होती है। इसका कारण यह है कि ज्यादा विकसित भाषा का मत-लब यह होता है कि उसके पीछे एक ज्यादा विकसित सभ्यता रही होगी। और इस विकास में जितना ज्ञान और भाव-प्रकाशन निहित होता है, उसे आदमी की स्मरण-शक्ति के सहारे ही कायम और चालू नहीं रखा जा सकता। फिर भी इतिहास के छात्रों को यह पता है कि जाति की सांस्कृतिक विरासत को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ले जाने में युगों तक मनुष्य अपनी स्मरण शक्ति पर ही निर्भर रहा, लिखित साहित्य पर नहीं। यह तो मुद्रण और कागज की खोज के बाद ही हुआ कि लिखित साहित्य मनुष्य के विज्ञान और भाव प्रकाशन का मुख्य माध्यम बन गया। पहले हम भाषा को लें। वह एक तरह से मनुष्य की बड़ी ही निजी सम्पत्ति है। वह उसके व्यक्तित्व के साथ इस तरह से जुड़ी हुई है कि उसका अतिक्रमण करना उसके व्यक्तित्व का अतिक्रमण होता है। ऐसे दार्शनिक भी हुए हैं, जिन्होंने भाषा की व्यवस्था कल्पनाजनित चीज के रूप में की है। कुछ दार्शनिकों ने उसे एक नकली चीज माना है, जिसे पहले से तय की गई धारणाओं के अनुसार बदला जा सकता है। कृत्रिम भाषाएँ बनाने की भी बड़ी कोशिशें की गई हैं, पर उनमें कभी कामयाबी नहीं मिली।

जिन दार्शनिकों ने भाषा के विकास का आधार मानव-मनोवेगों को माना है, उनका पक्ष ज्यादा पुष्ट है। इसकी शुरूआत पहले-पहल हमें माता और बेटे के बीच अनुभवों को व्यक्त करने के लिए काम में आनेवाले मनोवेगों के आदान-प्रदान में मिलेगी। यह रिश्ता सिर्फ बौद्धिक नहीं होता। जब माँ बच्चे को दुलारती है, तो दोनों को एक-दूसरे का बौद्धिक भान ही नहीं होता। इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि उन दोनों के बीच एक भावुक एकरूपता है, जो उनके रिश्ते को पवित्र रूप देती है। जब

वह बच्चे को डाँटती या सजा देती है, तब भी यह भावुक एकरूपता इसी तरह मौजूद होती है। इसी तरह जब बच्चा भूख या किसी दूसरी परेशानी के कारण कुछ आवाज करता है, तो यह भी एक बौद्धिक सूचना देना ही नहीं होता, बल्कि इसके साथ भी एक भावगत तात्पर्य और परेशानी को दूर करने की जरूरत पर जोर रहता है। इसी तरह बच्चा पहले-पहल अपनी भाषा अर्जित करता है और इसीलिए मातृभाषा मनुष्य की अभिव्यक्ति की सबसे निकट की चीज है।

मनुष्यों की भाषा जानवरों की बोलियों से अलग है। वह मनोवेगों की स्थितियों को व्यक्त कर सकता है और ज्यादा जटिल और दुर्बोध कामों को करने के लिए जोर दे सकता है। भाषा के विकास में तभी मनःकल्पना का खास योग रहता है। वह खास तजुरबों के—अनेक अनुभवों के सामान्यीकरण पर आधारित होती है। इस सामान्यीकरण में संश्लेषण और विश्लेषण दोनों को काम में लाया जाता है। यह ताकत आदमी में ही है कि वह किसी परिस्थिति के तत्वों का विश्लेषण कर सकता है। वह उनकी खास-खास बातों को समझ लेता है और दूसरी परिस्थितियों के वैसे ही तत्वों से उन्हें जोड़ सकता है। इस कारण वह सभी दूसरे जानवरों में श्रेष्ठ जगह पाता है। उसकी इस श्रेष्ठता का प्रतीक भाषा ही है। भाषा के विकास की जो स्थिति होती है, उससे भी पता चलता है कि वह व्यक्ति या जाति विकास की कितनी सीढ़ियाँ पार कर चुकी है।

इस तरह भाषा आदमी के गम्भीर-से-गम्भीर मनोवेगों पर आधारित होती है। वह दुनिया के बारे में उसके कल्पनागत अनुभवों के जरिए समृद्ध होती है। फिर वह विचारों और मनोवेगों से भी आगे बढ़ जाती है। वह एक ऐसे मिले-जुले तत्व को पैदा करती है कि हिस्सों के मिलाने से जो चीज बनती है, वह उन हिस्सों के कुल जोड़ से भी कहीं ज्यादा होती है। इस जोड़ को आध्यात्मिक कहना गलत न होगा। इस तरह भाषा मनुष्य की गम्भीरतम आध्यात्मिक सम्पत्ति है। वह ऐसा माध्यम भी है, जिसके सहारे मनुष्य अपने अध्यात्म को बढ़ा सकता है और व्यक्त कर सकता है।

अगर हम भाषा के उद्भव और स्वरूप की इस व्याख्या को मानते हैं, तो हमें यह मानना होगा कि मनुष्य के व्यक्तित्व में भाषा एक ऐसा तत्व होगी, जिसका बिलकुल भी उल्लंघन नहीं किया जा सकता। वास्तव में मनुष्य अपनी और सभी विरासतों और तत्वों को बदल सकता है और फिर भी अपने रूप को बनाये रख सकता है। अगर एक अमीर आदमी गरीब हो जाता है, तो वह अपने 'स्व' को नहीं खो देता। वह अपने कपड़े और मकान बदल सकता है, पर इससे उसके व्यक्तित्व पर कोई असर नहीं पड़ सकता। वह अपने तौर-तरीके और मत भी बदल सकता है, फिर भी वह वही व्यक्ति बना रह सकता है। वह अपने देश को छोड़कर दूसरे देश में जाकर बस सकता है। वह अपनी राष्ट्रीयता बदल सकता है या बदल देता है, फिर भी वही व्यक्ति बना रह सकता है। वह अपना धर्म भी बदल सकता है, क्योंकि वैयक्तिक या सामूहिक धर्म-परिवर्तन तो होते ही रहते हैं। परन्तु वह एक बार अपनी भाषा को छोड़ देने के बाद अपने व्यक्तित्व को कायम नहीं रख सकता। असल में वह अपनी भाषा कभी छोड़ ही नहीं सकता, क्योंकि भले ही वह दूसरी भाषा सीख ले, लेकिन अपने मातृभाषा के साथ का अपना भावुक-सम्बन्ध कभी भी वह नई सीखी हुई दूसरी भाषा के साथ नहीं जोड़ सकता।

यूरोप के इतिहास का संक्षिप्त सर्वेक्षण करने से ही यह बात साफ हो जाएगी कि हालाँकि राज्यों की सीमाएँ तो कई बार बदलती रही हैं, राजनीतिक राष्ट्रीयता भी डावाँडोल रही है और तौर-तरीके और मजहब भी समय के साथ बदल गये हैं, लेकिन यूरोप की भाषाओं की सीमाएँ सहस्राब्दियों नहीं, तो शताब्दियों से तो वही रही हैं। भाषाओं को दबाने के लिए की गई सभी जोरदार कोशिशें भी बेकार रही हैं। अगर राजनीतिक दबाव और आर्थिक निर्योग्यताएँ भाषाओं को कुचल सकतीं, तो पोलिश भाषा आज से सैकड़ों साल पहले लुप्त हो गई होती। हिब्रू कितनी मुसीबतें झेलकर भी बनी रही, यह इसका प्रमाण है कि भाषाएँ किसी भी प्रकार के दबाव से कुचली नहीं जा सकतीं।

इसलिए भाषा कुछ ऐसी चीज है, जो आदमी के साथ बिलकुल अभिन्न होती है। दुनिया में करोड़ों आदमी ऐसे

हैं, जो अपनी भाषा को बड़ी कुशलता के साथ बोलते हैं और यह भी नहीं जानते कि भाषा के लिए वर्णमाला-जैसी कोई चीज़ भी जरूरी है। दुनिया के कुछ बड़े-बड़े महाकवि भी ऐसे थे, जिन्होंने कभी कुछ पढ़ा-लिखा न था (कागज़-कलम नहीं छुआ था) और यह भी नहीं जानते थे कि वे जो-कुछ कह रहे हैं, उसके लिए वर्णमाला-जैसी किसी बौद्धिक और अमूर्त चीज़ की जरूरत है। अगर हम वर्णमाला की परिभाषा करें, तो यही कहा जाएगा कि वह किसी खास भाषा में काम आनेवाली ध्वनियों का एक विश्लेषण है और उन्हें कुछ सिद्धान्तों के अनुसार रख दिया गया है। ये सिद्धान्त भी हर वर्णमाला में अलग-अलग होते हैं। इसलिए कुछ वर्णमालाएँ वैज्ञानिक विश्लेषण के कारण दूसरी वर्णमालाओं से ऊँचे दरजे की हो जाती हैं। फिर भी वर्णमाला बहुत-कुछ अमूर्त चीज़ बनी रहती है। उसे साधारण तौर पर जनसाधारण न तो जानता ही है, न उसमें कोई रुचि ही लेता है।

हम यह भी कह सकते हैं कि यद्यपि वर्णमाला भाषा के ऊपर आधारित होती है, फिर भी वह उसका अभिन्न हिस्सा नहीं होती। एक भाषा अलग-अलग वर्णमालाओं में लिखी जा सकती है। ग्रीक, अरबी और संस्कृत वर्णमालाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी वही वाक्य किसीमें भी लिखा जा सकता है। कहा जाता है कि एक भारतीय राजनीतिक नेता ने जर्मन में एक भाषण दिया था, यद्यपि उसे जर्मन नहीं आती थी। यह उसने गुजराती लिपि में लिखे गए भाषण को पढ़कर किया था। संस्कृत वर्णमाला की श्रेष्ठता यही है कि उसमें अक्षरों का क्रम ध्वनि के सिद्धान्त के अनुसार है। फिर भी ऐसी वर्णमालाएँ भी हैं, जो दूसरे सिद्धान्तों के अनुसार बनाई गई है, पर खूब कामयाब रही हैं। भाषाशास्त्र के छात्रों को संस्कृत वर्णमाला इसलिए अच्छी लगती है कि वह आदमी के विभिन्न भाषण-अवयवों से बोली जानेवाली ध्वनियों के अनुसार व्यवस्थित की गई है।

संस्कृत पर आधारित वर्णमालाओं की दूसरी खूबी यह बताई जाती है कि उनमें मनुष्य की ध्वनियों का सबसे ज्यादा निरूपण किया जाता है। यह दावा थोड़ा-थोड़ा ही सही है, कम-से-कम उतना सही नहीं है, जितना कभी-कभी इसे बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है। आदमी की बहुत-सी ऐसी ध्वनियाँ हैं, जिनको संस्कृत पर आधारित वर्णमालाओं या दुनिया की किन्हीं भी वर्णमालाओं के जरिए व्यक्त नहीं किया जा सकता। संस्कृत वर्णमाला में कोई भी ऐसा अक्षर नहीं है, जो अंग्रेज़ी man के a के उच्चारण को व्यक्त कर सके। भाषाशास्त्र के भारतीय छात्रों को यह पता है कि तमिल शब्दों के अन्त में आनेवाले ह्रस्व 'अ' शब्द को व्यक्त करने के लिए संस्कृत वर्णमालाओं में कोई अक्षर नहीं है। असल में एक ही ध्वनि जब अलग-अलग लोग बोलते हैं, तो वह अलग-अलग रूप या लहज़ा ले लेती है और इस प्रकार के अन्तर की सम्भावना अनन्त है, इसलिए कोई भी वर्णमाला चाहे कितनी ही व्यापक क्यों न हो, आदमी की बोलचाल के सभी लहज़ों और लहरियों को व्यक्त नहीं कर सकती।

जैसा ऊपर बताया गया, वर्णमाला का भाषा से कुछ सम्बन्ध जरूर है, हाँ, वह इतने पास का नहीं है, जैसा हम कभी-कभी सोचते हैं। लिपि तो बिलकुल ही अलग चीज़ है और उसका न किसी भाषा से सम्बन्ध है और न किसी वर्णमाला से। किसी खास भाषा की ध्वनियों की एक व्यवस्था को हम वर्णमाला कहते हैं और लिपि वर्णमाला के अक्षर विशेष को व्यक्त करने के लिए दृश्य-चिह्नों का समुच्चय-मात्र है। इसी ध्वनि का निरूपण किन्हीं भी दृश्य-प्रतीकों से किया जा सकता है और किया भी जाता है। विभिन्न यूरोपीय भाषाएँ जिस रोमन लिपि को काम में लाती हैं, उसके कैपिटल और स्माल अक्षरों को बतानेवाले दृश्य-प्रतीक अलग-अलग भाषाओं में बिलकुल अलग-अलग हैं। कोई भी यह नहीं सुझायेगा कि ये अलग चिह्न अलग ध्वनियों को बताते हैं या कैपिटल या स्माल अक्षरों में कुछ ऐसी चीज है कि उसे बदला नहीं जा सकता।

बड़े अचम्भे की बात है कि वर्णमाला और लिपि के सम्बन्ध को लेकर भारत में ही लोगों को दुनिया-भर से ज्यादा विभ्रम हो। संस्कृत वर्णमाला कई शताब्दियों तक विकसित होती रही और लगभग दो हज़ार साल पहले वह परिपूर्ण रूप में हमारे सामने आई। यही बात लिपि के बारे में नहीं कही जा सकती। यही वर्णमाला पहले ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी। ब्राह्मी का उद्भव कुछ

विद्वानों के मत से फिनीशियन लिपि से हुआ है। फिर खरोष्ठी लिपि भी सामने आई। प्राय: एक हज़ार साल तक ब्राह्मी और खरोष्टी दोनों लिपियाँ साथ-साथ चलती रहीं। दूसरी लिपियों को भी संस्कृत वर्णमाला के दृश्य-प्रतीकों के रूप में क्रम में लाया गया, जैसे अशोक की लिपि, गुप्त लिपि, शारदा लिपि, सरस्वती लिपि और पल्लव लिपि। सभी उसी वर्णमाला को मानकर चलती हैं, लेकिन दृश्य-प्रतीकों की प्रणाली हर एक की अलग-अलग है।

आज भी उत्तर भारत की सभी भाषाओं ने संस्कृत की वर्णमाला का ही आधार बना रखा है, पर लिपि अलग-अलग है। वही वर्णमाला देवनागरी में दूसरी तरह से व्यक्त की जाती हैं और बंगला, उड़िया और असमिया में दूसरी तरह से। इनमें वर्णमाला का कोई फर्क नहीं है। लेकिन उनकी लिपियों में काफी फर्क है। यह सुझाव देना बेवकूफी ही है कि इनमें से कोई भी लिपि उस वर्णमाला से (जो सबके लिए एक ही है) कोई अविच्छेद्य पुण्य सम्बन्ध रखती है।

अगर वर्णमाला और लिपि दो अलग-अलग चीजें हैं, तो मैं कोई कारण नहीं देखता कि भारत में—या कभी-कभी बाहर भी—लिपि के प्रश्न को लेकर इतना शोर क्यों मचाया जाता है। लिपि तो एक कृत्रिम प्रतीक है। बच्चा बड़ी मुसीबतों के साथ उसे सीख पाता है और अकसर अध्यापकों द्वारा इसके लिए उसके ऊपर शारीरिक और मानसिक दबाव भी डाले जाते हैं। बच्चा भाषा अपनी माँ के दूध के साथ ग्रहण कर सकता है, पर वर्णमाला वह विद्यालय के अनुशासन में ही सीख सकता है। और लिपि सीखने के लिए तो उसे बहुत दिक्कतें उठानी पड़ती हैं और चिह्न विशेष को ध्वनि विशेष से जोड़ने में तो उसे बहुत ज्यादा समय लगता है। लिपि को सीखने की यह प्रक्रिया न तो आसान ही है और न मजेदार ही, भले ही बाद में इससे उसे बहुत लाभ होते हों।

इसलिए हमारा निष्कर्ष यह है कि भाषा ऐसी चीज़ है, जो मनुष्य के व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा है। वर्णमाला का भाषा से थोड़ा सम्बन्ध होता है और कुछ वर्णमालाएँ कुछ ध्वनियों को दूसरी वर्णमाला की तुलना में ज्यादा सफलता के साथ व्यक्त कर पाती हैं। लेकिन लिपि ऐसी अमूर्त चीज है, जो मनुष्य के अनुभव से बहुत दूर होती है। कोई भी भाषा किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। शर्त यही है कि उसकी वर्णमाला में सभी जरूरी ध्वनियाँ होनी चाहिए। अगर ये ध्वनियाँ नहीं हैं, तो ऐसी ध्वनियों को जोड़ा जा सकता है और उनको व्यक्त करने के लिए दृश्य-प्रतीक जोड़े जा सकते हैं या मौजूदा प्रतीकों में हेर-फेर किया जा सकता है। इसलिए किसी भी लिपि को चुनने का एकमात्र आधार स्पष्टता, सुबोधता और हाथ से या यन्त्र से उसे सभी प्रकार से लिख सकने की उसकी क्षमता ही है।

● ●

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

भारत की जनसंख्या लगभग चालीस करोड़ है। इसमें अनेक भाषाएँ हैं और अनेक धर्म। जो लोग एक राष्ट्र, एक भाषा, एक धर्म के आदर्श की बात करते हैं, वे शायद सोचते हैं कि भारत में धर्मों की जो विभिन्नता है और भाषाओं की जो विविधता है, वह जाति, संस्कृति और धर्म के विभिन्न तत्वों को एकरूप बनाने में आड़े आ रही है। यह सोचकर उन्हें बड़ा खेद होता है। वे पूरी स्थिति को सुधार देना चाहते हैं और अपनी एक कल्पित योजना के अनुसार इन भाषागत तथा अन्य विविधताओं को दूर कर देना चाहते हैं।

बहुभाषी और बहुधर्मी देश होने के नाते कुछ चीजें हमें कभी भी प्राप्त नहीं हुईं, जैसे कोई भी आधुनिक भारतीय भाषा ऐसी नहीं है, जो पूरे देश के लिए उच्चतर बौद्धिक और सांस्कृतिक भाषा का रूप ले सके और जिसे सामासिक भारतीय राष्ट्र के सभी विभिन्न वर्ग स्वेच्छा से अपना सकें। जो चीज हमें भाग्य ने नहीं दी है, उसके लिए हमें परेशान भी नहीं होना चाहिए। हम जापानियों, इटलीवासियों, अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों-जितने भाग्यशाली नहीं हैं और न ही हमारे पास कोई ऐसी राष्ट्रभाषा है, जो साथ ही शिक्षा, साहित्य, प्रशासन, वाणिज्य और राजनीति

के क्षेत्रों में पूरे देश का काम दे सके। संस्कृत अवश्य देश की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक, और ऐतिहासिक एकता की साधिका रही है। कुछ सीमा तक यह काम फ़ारसी ने भी किया था और वह केवल मुसलमानों के लिए ही नहीं, हिन्दुओं के लिए भी प्रशासनिक और सांस्कृतिक एकता का सूत्र रही। आज भी वह भारत की एक भाषा कही जा सकती है। इसके बाद अंग्रेज़ी आई, जो पिछले दो सौ वर्षों से भारतीय रंगमंच पर चली आ रही है और जिसने यूरोप के विज्ञान, संस्कृति व चिन्तन का द्वार हमारे लिए खोल दिया। उसने भारतीय मेधा को आधुनिक बनाया और फिर आजादी के बाद भी भारत को आज के विश्व में एक बड़ी भूमिका लेने के लिए तैयार कर दिया। उसने राजनीति की एकता-स्वाधीनता के लिए हमारी आकांक्षा और हमारे स्वाधीनता संघर्ष को भी पुष्ट किया और चलते-चलते उसने सभी आधुनिक भारतीय साहित्यों की समृद्धि में भी योग दिया।

देश में जितने विवादग्रस्त प्रश्न हैं, उनमें लिपि के प्रश्न ने पिछले मुख्यमन्त्री सम्मेलन में दिये गए सुझाव के कारण सबसे आगे का स्थान प्राप्त कर लिया है। सुझाव यह था कि देश की भावगत एकता के लिए हिन्दी भाषा और हिन्दी (देवनागरी) लिपि का पूरे देश में प्रयोग जरूरी है। बाकी भाषाओं की लिपियाँ धीरे-धीरे अपना स्थान नागरी को दे देंगी और इस प्रकार पूरे देश में भाषा के क्षेत्र में एकरूपता आ जाएगी।

सभी राष्ट्रलिपियों को समाप्त करके नागरी को भारत की राष्ट्रलिपि बनाने की आवश्यकता भी क्या है? क्या लिपियों की एकता से ही भावगत एकता आ जायेगी? हमें लोगों को आर्थिक पुनर्वास, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा और कुशासन से मुक्ति देकर उन्हें एकीकृत करना चाहिए। लिपियों को बदल देने से पूरे देश में बड़ी भारी गड़बड़ी पैदा हो जाएगी और जगह-जगह से इसका भारी विरोध होगा।

दो बातें नागरी लिपि के पक्ष में हैं। एक तो हिन्दी की विभिन्न बोलियोंवाले लोग और बहुत-कुछ सीमा तक पंजाबवाले भी उसका प्रयोग करते हैं। साथ ही, मराठी भी नागरी लिपि में लिखी जाती है और गुजराती लोगों को भी नागरी के समझने में बहुत दिक्कत नहीं है। इस प्रकार भारत के चालीस करोड़ निवासियों में से अठारह करोड़ नागरी के क्षेत्र में आते हैं और बाकी बाईस करोड़ अनेक अन्य लिपियाँ प्रयोग में लाते हैं हैं (साढ़े तीन करोड़ तेलुगु, तीन करोड़ बंगला, दो करोड़ तमिल, एक करोड़ मलयालम, १.२ करोड़ कन्नड़ और १.६ करोड़ उर्दू)। फिर बहुत से लोग रोमन लिपि का भी प्रयोग करते हैं।

दूसरी बात यह है कि देवनागरी लिपि संस्कृत भाषा के लिए अखिल भारतीय बन गई है। संस्कृत से सम्बद्ध होने के कारण नागरी ने विशेष प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त कर लिया है। ईसा से पहले संस्कृत ब्राह्मी के ही पुराने रूप में लिखी जाती थी। बाद में संस्कृत और अन्य भाषाएँ ब्राह्मी के ही बदलते हुए रूपों में देश के विभिन्न भागों में लिखी जाती रहीं। इस प्रकार संस्कृत की एकमात्र पुण्य-लिपि का स्थान नागरी को कभी नहीं मिला। शारदा, बंगला, तेलुगु, ग्रन्थ, मैथिल और मलयालम लिपियों में भी संस्कृत लिखी जाती रही है और पुरानी संस्कृत पाण्डु-लिपियाँ इन लिपियों में लिखी हुई मिलती हैं। नागरी १८६० के बाद क्रमशः संस्कृत की एकमात्र लिपि बन गई और यह ब्रिटिश प्रशासकों के केन्द्रीयकरण की एक विशाल देन थी। चूँकि बनारस में देश-भर के पण्डित एकत्र होकर संस्कृत के लिए नागरी लिपि का प्रयोग करते थे, इसलिए यूरोपीय छात्रों ने उसे विशेष मान्यता दी। कोलब्रुक के १८०५ में प्रकाशित पहले संस्कृत व्याकरण में नागरी का प्रयोग किया गया। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोप और भारत से कुछ महत्वपूर्ण संस्कृत पुस्तकें नागरी में निकलीं। एशियाटिक सोसायटी के महाभारत, मैक्समूलर के ऋग्वेद आदि में नागरी का प्रयोग हुआ और उसे देव-भाषा की लिपि के कारण देवनागरी लिपि कहा जाने लगा। नागर-अक्षरों को देवाक्षर कहकर देवनागरी लिपि में उसी पवित्रता का आरोप किया गया, जो देश-भर में संस्कृत भाषा के साथ सम्बद्ध है। हर जगह संस्कृत विद्वानों ने पहले देवनागरी को संस्कृत के लिए एक सहायक लिपि के रूप में स्वीकार किया और फिर वह अन्य क्षेत्रीय लिपियों, जैसे ग्रन्थ, मैथिल और शारदा को अपदस्थ करने में सफल हो गई। बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने

१८६० में उसे एक अतिरिक्त लिपि के रूप में माना। १८५७ में बननेवाले कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्व-विद्यालयों ने संस्कृत के लिए देवनागरी को आदर्श लिपि माना। इस प्रकार देवनागरी संस्कृत के लिए एक अखिल भारतीय लिपि बन गई और हमारे पास दुनिया को दिखाने के लिए कुछ अखिल भारतीय और एक समान चीज हो गई।

नागरी के पक्ष में ये दो बातें उचित ही हैं, पर हमें अ-नागरी क्षेत्रों की लिपियों के महत्व को न भुला देना चाहिए। तमिल, तेलुगु और बंगला लिपियोंवाले लोग अपनी लिपियों को बहुत प्यार करते हैं और संस्कृत के लिए अब भी वे इन लिपियों (तमिल के प्रसंग में ग्रन्थ लिपि) को काम में लाते हैं। वे भी नागरी-जितनी ही वैज्ञानिक हैं। नागरी लिपि में कोई खास पवित्रता या कलापूर्णता नहीं है और नागरी अक्षर लिखना आसान भी नहीं है। सामान्य नागरी अक्षर से तमिल अक्षर लिखना आसान है। बंगालियों के लिए नागरी बड़ी जटिल और मुश्किल है।

समझ में नहीं आता कि वर्षों से लोगों की भाषा, संस्कृति और साहित्य से सम्बद्ध लिपि को छोड़ देने को कहने से किस प्रकार भावगत एकता पैदा हो जाएगी। बंगला, उड़िया, तेलुगु, तमिल आदि के लिए नागरी के प्रयोग से भयानक आन्दोलन उठ खड़े होंगे। संस्कृत के लिए भी जहाँ स्थानीय लिपियाँ प्रयुक्त होती हैं, नागरी का थोपा जाना लोग सहन न करेंगे। सभीको अपनी-अपनी लिपियाँ समान रूप से प्यारी हैं।

कुछ समय तक लिपि के मामले में भी पूर्वस्थिति बनी रहनी चाहिए। शिक्षा और साक्षरता का प्रसार मातृ-भाषाओं और अपनी-अपनी लिपियों के द्वारा होने देना चाहिए। अ-नागरी क्षेत्रों में नागरी लिपि के प्रचार से साक्षरता के प्रसार में बाधा पड़ेगी। साक्षरता का पर्याप्त प्रसार हो जाने के बाद ही अखिल भारतीय लिपि का प्रश्न उठाया जाना चाहिए।

अ० भा० लिपि के प्रश्न पर युक्तिसंगत रूप में विचार करना चाहिए, कोरी भावुकता के साथ नहीं। किसी भी लिपि का फैसला किया जाए, लोग उसे एकदम तो मान नहीं सकते। नई लिपि आगे बढ़ने से पहले दो, तीन पीढ़ियों तक दोनों प्रकार का साहित्य चलाया जा सकता है। हमारे राष्ट्रीय कामों में धैर्य एक नीति और गुण माना जाना चाहिए।

भविष्य में अखिल भारतीय उपयोग के लिए दो ही लिपियाँ हो सकती हैं—नागरी या रोमन। नागरी का समर्थन तत्काल नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उससे भाषावाद की आग भड़केगी। लिपि के प्रश्न की चर्चा करते समय हमें भाषा की समस्या का भी पुनरवलोकन कर लेना चाहिए। बहुत-से उत्कट राष्ट्रवादियों को यह चाहे अच्छा न लगे, किन्तु यदि अहिन्दी भाषियों से आज अंग्रेज़ी और हिन्दी के बीच में से किसी एक भाषा को चुनने के लिए कहा जाए, तो वे हिन्दी की जगह अंग्रेज़ी को चुनेंगे, भले ही हिन्दी एक भारतीय भाषा हो। अंग्रेज़ी का पक्ष लेनेवाले राष्ट्रवादियों ने इस बारे में अपने तर्क बार-बार दिये हैं और उनके दुहराने की जरूरत नहीं है।

अंग्रेज़ी का खुलकर समर्थन करनेवाले लोग यही चाहते हैं कि अंग्रेज़ी का द्वार केवल उच्च वर्ग के लोगों के लिए ही नहीं, बल्कि सभी के लिए खुला रहे। भारत-जैसे बहुभाषी देश में एक राष्ट्र बनने के इच्छुक हम लोग अंग्रेज़ी के बिना अपना काम नहीं चला सकते। वह आज भी राजनीति और संस्कृति की भाषा बनी हुई है। प्रादेशिक भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्र में साहित्य के विकास और जन-जीवन के उपयोग का माध्यम बनी रहेंगी और राज्य में सब काम लोगों की मातृभाषा में होंगे। उर्दू, गुरुमुखी, बंगला, उड़िया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम पर नागरी लिपि को केन्द्र की नीति के रूप में नहीं थोप देना चाहिए। यह अ-नागरीवालों के ही ऊपर छोड़ देना चाहिए।

भविष्य के भारत के लिए एक लिपि के रूप में रोमन लिपि के समर्थन की बात भी मैं स्पष्ट कर देना चाहूँगा। कुछ क्षेत्रों से इसका घोर विरोध होगा, खासकर जो लोग लेखन-पद्धति को अपनी धार्मिक पवित्रता से सम्बद्ध मानते हैं। अपने को राष्ट्रीय या भारतीय कहनेवाले देशभक्त भी भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि के उपयोग का विरोध करेंगे। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग आज दो हिस्सों में

बँटा है। एक वे लोग हैं, जो शेष दुनिया से एकीकरण चाहते हैं, क्योंकि अपने विशेष स्वरूप या विशिष्ट सफलताओं के बावजूद भारत विश्व-मानवता का ही अंग है और उसके साथ ही उसे आगे बढ़ना होगा। दूसरा वर्ग बाहर की दुनिया से विच्छेद करके दुनियावालों के ऊपर भारत की श्रेष्ठता का विश्वास लेकर चलता है और सब तरह के विदेशी प्रभाव से बचना चाहता है। यह दूसरे प्रकार की मनोवृत्ति ही ऐसे लोगों के द्वारा प्रकट होती है, जो नागरी पुस्तकों में अंग्रेज़ी पुस्तकों के और लेखकों के नाम ही नहीं, वाक्य-के-वाक्य रोमन लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि में लिखना चाहते हैं, जैसे रोमन लिपि कोई अस्पृश्य वस्तु हो। इससे कई तरह की गड़बड़ी पैदा हो जाती है। दूसरी ओर लोग नागरी-लेखन को वैज्ञानिक और रोमन को भारतीय और यूरोपीय सभी भाषा के लिए अवैज्ञानिक मानकर चलते हैं।

हमें दोनों पद्धतियों के गुण-दोषों का विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करना चाहिए। अक्षरों के आकार को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि नागरी आदि लिपियों में रोमन की अपेक्षा कुछ सरलता है। अंग्रेज़ी के j, k, c, (च के लिए प्रयुक्त) l, n, p, b, s आदि अक्षरों को इन्हीं ध्वनियों के लिए प्रयुक्त नागरी ज, क, च, ल, न, प, ब, स अक्षरों से तुलना करके देखें, तो पता चलेगा कि रोमन अक्षर ज्यादा स्पष्ट, सीधे और संक्षिप्त हैं और दूर से भी पढ़े जा सकते हैं। अक्षरों के रूपों में कोई वैज्ञानिकता नहीं होती। नागरी अक्षरों का वैज्ञानिक मूल्य यही है कि वर्णमाला ध्वनियों की एक पद्धति के क्रम से व्यवस्थित है। पर नागरी ध्वनि के इन वैज्ञानिक नियमों का व्यवहार में कोई सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करती। सिद्धान्ततः भारतीय लिपियाँ वर्णमाला के अनुसार हैं और हर ध्वनि (स्वर या व्यंजन) के लिए एक अक्षर है, पर व्यवहारतः लिखने में प्रत्येक अक्षर एक ध्वनि-तत्व या भाषण-ध्वनि को नहीं लिखता, बल्कि एक से ज्यादा ध्वनियों के मिश्रण को व्यक्त करता है, एक या दो व्यंजन और एक स्वर। उधर लैटिन की भाँति रोमन में एक भाषण-ध्वनि के आधार से एक लिपि-प्रतीक का प्रयोग होता है, इसलिए रोमन में s, t, r, i, का समुच्चय इसी तरह stri लिखा जाएगा, जबकि नागरी में स्, त्, र् और ई का समुच्चय 'स्त्री' रूप में लिखा जाएगा। यह ठीक है कि रोमन में एक ध्वनि एकाधिक तरीके से व्यक्त होती है जैसे श् ध्वनि sh, ch और tio से, या फ ध्वनि ph, f और gh (enough में) से। किन्तु लैटिन-जैसी भाषा में प्रयुक्त होने पर या थोड़ा परिवर्तन करके संस्कृत और पाली में भी रोमन का प्रयोग बिलकुल सफल और युक्तिसंगत सिद्ध हुआ है।

संस्कृत और भारतीय भाषाओं की तुलना में लैटिन में, जिसके लिए रोमन लिपि पहले-पहल काम में आई, ध्वनियों की संख्या बहुत कम है। हमारी भाषाओं की अतिरिक्त ध्वनियों के लिए रोमन अक्षरों में कुछ अतिरिक्त चिह्न लगाने के तरीके तय किये गए हैं। भारतीय भाषाशास्त्र में वैज्ञानिक कार्य के लिए रोमन लिपि का महत्व सभी ने स्वीकार किया है और किसी भी भारतीय लिपि की तुलना में वह (कुछ नये चिह्नों को शामिल करते हुए) एक परिपूर्ण उपादान बन गई है। रोमन की सरलता और उसके वर्णमालावाले स्वरूप के कारण वह सभी प्राचीन-नवीन लिपियों में सबसे आसानी से सीखी जा सकती है। बच्चे और निरक्षर-प्रौढ़ किसी भी भारतीय लिपि में (उर्दू, सिन्धी, काश्मारी समेत) लगनेवाले समय से आधे समय में रोमन को सीख सकते हैं। शिक्षा में जितना भी समय बचाया जा सके, उसका बड़ा महत्व होता है और सभी भारतीय लिपियों के स्थान पर एक लिपि रखने का समय जब आये, तब हमें इसका ध्यान रखना होगा। फिर इससे मुद्रण में भारी बचत होगी। आधे अक्षरों, संयुक्त व्यंजनों आदि के लिए अलग टाइप नहीं रखने होंगे। रोमन के छब्बीस अक्षर (कुछ नये चिह्नों समेत, जो अक्षरों के आगे भी बढ़ाये जा सकते हैं) पर्याप्त होंगे, जबकि नागरी में लगभग चार सौ टाइपों की जरूरत होती है। यह ठीक है कि संयुक्त व्यंजनों के लिए पूरे व्यंजन लिखने से पंक्तियाँ भारतीय लिपियों की तुलना में ज्यादा लम्बी हो जाएँगी, पर इससे अपरिमित लाभ भी होगा।

रोमन लिपि दुनिया के बहुत बड़े हिस्से में प्रयोग में आती है। रूसी लिपि भी रोमन से मिलती-जुलती है। चीनी में अवश्य बयालीस हजार प्रतीक हैं, पर वे लोग भी

चीनी की विभिन्न बोलियों के वक्ताओं को उच्चारण सिखाने के लिए रोमन का प्रयोग उपयुक्त समझ रहे हैं। अरब-अफ्रीका को छोड़ सारे अफ्रीका में भी रोमन लिपि का ही प्रयोग होता है, तुर्की में भी पिछले चालीस सालों से रोमन का प्रयोग हो रहा है। इण्डोनेशिया में भी यही स्थिति है। और यदि आगे चलकर अपने ही लाभ के लिए भारत भी रोमन लिपि अपना लें, तो वह भी सारी दुनिया के साथ चल सकेगा। इसके लिए जनमत को शिक्षित करना जरूरी होगा। लेकिन इस प्रश्न पर तभी गम्भीरता से विचार करना चाहिए, जब लोग अपनी-अपनी लिपियों के माध्यम से काफी संख्या में साक्षर और शिक्षित बनाये जा चुकें। तभी देश यह फैसला कर सकेगा कि लिपि बदलना जरूरी है या नहीं, और है तो नागरी-जैसी, भारतीय लिपि अपनाई जाए या रोमन-जैसी अन्तर्राष्ट्रीय लिपि।

इस समय तो एक लिपि और वह भी नागरी के अपनाये जाने के प्रश्न को एक व्यावहारिक महत्व के प्रश्न के रूप में उठाया ही नहीं जाना चाहिए। नागरी की सिफारिश और उसका आग्रह करके हमें नई समस्या नहीं खड़ी करनी चाहिए। इस समय तो वर्तमान स्थिति चालू रहने देनी चाहिए और मातृभाषा और स्थानीय उपयोग में संस्कृत के लिए विभिन्न लिपियों का निर्बाध प्रयोग होने देना चाहिए। साथ ही, दूसरे क्षेत्र की भाषा के अध्ययन के लिए स्थानीय लिपि में उस भाषा का लिप्यन्तर भी, जैसा आजकल खूब होने लगा है, होने देना चाहिए (जैसे बंगला में बंगला अनुवाद के साथ-साथ मूल हिन्दी, मराठी, तमिल, पंजाबी आदि कृतियों के बंगला लिपि में लिप्यन्तर और इसी तरह दूसरे क्षेत्रों में)। साथ ही भावगत एकता के लिए हमारे-जैसे बहुभाषी देश में हर भाषा और लिपि को अकेला रामभरोसे छोड़ देने का (laissez faire) सिद्धान्त अपनाया जाना चाहिए। न तो किसी भाषा या लिपि के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाया जाना चाहिए और न बाहर से कोई केन्द्रीकृत-प्रभाव ही किसी विशेष भाषा और संस्कृति को विशेष दिशा में मोड़ देने के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। यह निरंकुश तानाशाही और सैनिकशाही के तरीके हैं, मस्तिष्क की स्वाधीनता को मान्यता देनेवाले लोकतंत्र के नहीं।

●

डॉ० रघुवीर

कुछ दिनों से देश में एक लिपि का विचार मूर्तमान् हो रहा है। इस विचार को सबसे पहले भारतीय संसद् के प्रथम अध्यक्ष स्वर्गीय श्री मावलंकर ने उस समय कार्यान्वित किया था, जब उन्होंने यह आदेश दिया था कि संविधान के भारतीय भाषाओं के प्रायः सभी रूपान्तर प्रत्येक भाषा की प्रचलित लिपि के साथ-साथ प्रत्येक प्रादेशिक भाषा में देवनागरी लिपि में भी छापे जाएँ। एक ओर सम्बन्धित भाषा की लिपि हो और दूसरी ओर देवनागरी। यह एक साहसपूर्ण प्रयोग था। इससे कोई सनसनी पैदा नहीं हुई और यह प्रयोग सफल रहा।

एक लिपि की समस्या केवल लेखन की समस्या ही नहीं है, वरन् भावनात्मक समस्या भी है। इस समस्या का हल केवल वहीं तक सम्भव है, जहाँ तक दूसरे लोग उसका स्वागत कर सकें।

मेरा अपना व्यक्तिगत विचार है कि देवनागरी लिपि एक अतिरिक्त लिपि होनी चाहिए। क्षेत्रीय लिपियों को समाप्त कर उनकी जगह देवनागरी लिपि का प्रयोग करना बुद्धिमत्ता न होगी।

आज हिमाचल प्रदेश, दक्षिणी पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र और दिल्ली में देवनागरी लिपि चल रही है। पंजाबी और गुजराती लिपियाँ देवनागरी लिपि से काफी मिलती-जुलती हैं।

कुछ पीढ़ियों पहले गुजराती भी देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, अर्थात् हर अक्षर के ऊपर लकीर होती थी। अब गुजराती अक्षरों के ऊपर बिना लकीर लगाकर लिखने के इतने आदी हो गए हैं कि देवनागरी के अक्षरों के ऊपर लकीर न लगाकर लिखने या शिरोरेखा न लगाने की सिफारिश करते हैं।

हमारा पड़ोसी नेपाल अपनी दोनों भाषाओं—इण्डो-आर्य नेपाली और आर्येतर नेवाड़ी के लिए देवनागरी लिपि

ही प्रयोग में लाता है।

देवनागरी संस्कृत की प्रधान लिपि है। उन्नीसवीं शताब्दी में छपाई शुरू हो जाने के बाद संस्कृत और प्राकृत के लिए देवनागरी लिपि क्रमशः अपना ली गई है।

संस्कृत और प्राकृत के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होने के कारण यह लिपि भारत के सभी प्रान्तों में पहुँच गई है। अब हिन्दी उसे प्राथमिक और माध्यमिक शालाओं तक पहुँचाये दे रही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए, तो भारत की सभी लिपियाँ अशोक के काल की ब्राह्मी से निकली हैं। चट्टानों और लाटों पर अशोक के शिलालेख अनेकों भाषाओं, बोलियों और लिपियों में खोदे गए थे। अफगानिस्तान में अशोक के शिलालेख ग्रीक और आर्मेइक भाषाओं में हैं। मानसेहरा और शाहबाजगढ़ी (तक्षशिला के उत्तर) में अशोक के जो शिलालेख हैं, वे खरोष्ठी में खोदे गए हैं, पर शेष भारत में नेपाल से लेकर गुजरात तक और उड़ीसा से लेकर मैसूर तक अशोक के शिलालेख ब्राह्मी भाषा में हैं। अशोक के पश्चात् कई शताब्दियों तक ब्राह्मी लिपि सारे भारत में और विदेशों में लिखी-पढ़ी जाती थी और उसमें काफी एकरूपता आ गई थी। मध्य एशिया से लेकर लंका, मलाया, जावा, इण्डोचीन और सिलेबीज तक में ब्राह्मी और उससे उद्भूत गुप्त और पल्लव लिपियाँ पाई जाती हैं।

भारतीय लिपियों का जो वर्तमान रूप है, वह ईसा की दसवीं शती का है। इसके पीछे जाने पर हमें उनमें ज्यादा-ज्यादा एकरूपता मिलती जाएगी।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए और अपने हृदय में यह बात जमा लेनी चाहिए कि भारतीय लिपियाँ आपस में सगी बहनें हैं। सबके स्वरों और व्यंजनों का ध्वनि-विन्यास एक-सा ही है। हाँ, कुछ भाषाओं में कुछ अतिरिक्त ध्वनियाँ हैं, जिनके लिए उनमें अतिरिक्त अक्षर हैं।

तमिल का अपना एक विशेष स्थान है, क्योंकि उसमें अघोष और महाप्राण व्यंजनों का अभाव है।

एक भारतीय भाषा को देवनागरी लिपि में लिखने से उस भाषा के न बोलनेवालों को ज्यादा लाभ होगा। उदाहरण के लिए, देवनागरी में रविबाबू की कृतियाँ बंगाल, उड़ीसा और असम के बाहर भी लाभप्रद हो सकेंगी। देवनागरी लिपि में भारती की कविताएँ तमिलनाड के बाहर भी गूँज उठेंगी और देवनागरी में सिक्खों की गुरु-वाणी सारे देश में फैल जाएगी।

प्रत्येक क्षेत्र के चुने हुए महान् ग्रन्थों का हिन्दी में लिप्यन्तरण करके इस दिशा में श्रीगणेश किया जा सकता है। पाद-टिप्पणियों, हाशिए में आवश्यकतानुसार दिये गए शब्दार्थों और पंक्तियों में भी शब्दशः अनुवाद की सहायता से एक क्षेत्र के महान् ग्रन्थ सारे भारत के महान् ग्रन्थ बन सकते हैं। लेकिन हर राज्य में वहाँ की भाषा अपनी लिपि को बनाये रखेगी। दूसरे राज्य का यदि कोई व्यक्ति उस राज्य की भाषा का विशेष अध्ययन करना चाहता है, तो उसे उस भाषा की लिपि भी सीखनी होगी।

●●

डॉ० बाबूराम सक्सेना

भारत एक विशाल देश है, जिसमें विभिन्न वर्गों की अनेकों भाषाएँ बोली जाती हैं। भाषाओं के इन विभिन्न वर्गों को तकनीकी भाषा में 'भाषा-परिवार' कहा जाता है। एक परिवार की भाषाओं में दूसरे परिवार की भाषाओं की अपेक्षा अधिक घनिष्ठता होती है, उदाहरणार्थ—हिन्दी, बंगाली, गुजराती और मराठी भाषाओं में आपस में अधिक घनिष्टता है और तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम, जो दूसरे परिवार की भाषाएँ हैं, अनसे हिन्दी आदि की अधिक घनिष्ठता नहीं है। घनिष्टता ध्वनि और व्याकरण पर आश्रित है। यदि किसी विशिष्ट परिवार की भाषा का शब्द उससे भिन्न दूसरे परिवार की भाषा में उधार लिया जाता है या यों कहा जाए कि प्रयोग में लाया जाता है, तो उसे दूसरी भाषा में उसके ध्वनि-विन्यास और व्याकरण के अनुरूप बनाकर ही खपाना होगा। भाषा सबसे पहले और मूल रूप से बोली जाती है। उसका लिखित रूप बाद में आता है और वह गौण है। हाँ, इतना अवश्य है कि संस्कृति और सभ्यता के प्रसार के साथ-ही-साथ भाषा के लिखित रूप को अधिक महत्ता मिलने लगी है।

एक बात पूर्णतः स्पष्ट है कि विश्व की किसी भी भाषा का किसी विशेष लिपि से गठबन्धन नहीं है। देखा जाए, तो किसी भाषा की लिपि उस भाषा की ध्वनि को व्यक्त करने के लिए माने हुए कुछ चिह्नों का समूह मात्र ही है। इस प्रकार जो कुछ मौखिक रहता है, वही श्रव्य में बदल दिया जाता है। अतएव एक भाषा-परिवार की भाषा दूसरी किसी भी ऐसी सुविधाजनक लिपि को अपना सकती है, जो उसकी वर्तमान लिपि से भिन्न हो और इससे उस भाषा की तनिक भी हानि नहीं होगी। इसकी केवल एक शर्त यह है कि उस भाषा के व्यंजनों को पूरी तरह से व्यक्त करने के लिए अपनाई जानेवाली लिपि में पर्याप्त ध्वनि-संकेत होने चाहिए। किसी भी भाषा के व्यंजन उस भाषा की ध्वनियों की क्रमिक श्रेणियों को व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दी भाषा को बंगला या गुजराती लिपि में अच्छी तरह लिखा जा सकता है, क्योंकि इन भाषाओं की लिपियों में वही व्यंजन हैं, जो देवनागरी में हैं। यदि फ़ारसी लिपि में कुछ ऐसे ध्वनि-संकेत अथवा चिह्न और मिला दिये जाएँ, जो उसमें नहीं हैं, तो हिन्दी फ़ारसी लिपि में भी लिखी जा सकती है। सच तो यह है कि जब उर्दू (जो बनावट में सचमुच ही एक भारतीय भाषा है) अरबी-फ़ारसी लिपि में लिखी जाने लगी, तो उसमें भी मूर्धन्य ध्वनियों और महाप्राण ध्वनियों आदि के लिए कुछ नए चिह्न अपना लिये गए। यह दुर्भाग्य ही था कि उसने उन चिह्नों का मोह नहीं छोड़ा, जो फ़ारसी और अरबी के लिए उपयुक्त और आवश्यक थे पर साथ-ही-साथ भारतीय भाषाओं के लिए निरर्थक और संभ्रम उत्पन्न करनेवाले थे। उर्दू इनको अपने कलेवर में संजोए रही, क्योंकि उसकी प्रेरणा का स्रोत ये दोनों विदेशी भाषाएँ थीं और उसके प्रामाणिक स्वरूप में फ़ारसी और इन भाषाओं से उत्पन्न बहुत-से शब्द शामिल कर लिये गए थे।

छब्बीस अक्षरोंवाली रोमन लिपि में जब तक अनेकों ध्वनियों को व्यक्त करनेवाले नये चिह्न नहीं अपनाये जाते, तब तक वह किसी भी भारतीय भाषा को ठीक-ठीक दक्षता से व्यक्त करने के लिए बिलकुल ही अपर्याप्त रहेगी। जैसी कि वह आज है, उस रूप में भी वह अच्छी लिपि होने का दावा नहीं कर सकती, क्योंकि उसमें एक ही चिह्न अनेकों ध्वनियों के लिए काम में लाया जाता है, (उदाहरणार्थ father, fate और fat आदि में 'a' अलग-अलग ध्वनियों के लिए प्रयोग में लाया जाता है) अथवा एक ध्वनि अनेक चिह्नों में व्यक्त होती है। (जैसे clock जिसमें c और k दोनों एक ही ध्वनि के लिए आये हैं)।

किसी भी भाषा की आदर्श लिपि वही हो सकती है, जिसमें एक ध्वनि के लिए केवल एक चिह्न हो और वह चिह्न केवल एक ही ध्वनि को बोध कराये और एक से भिन्न किसी दूसरी ध्वनि का भाव तक न हो। इसके अलावा चिह्न एक-दूसरे से इतने भिन्न होने चाहिए कि दो चिह्नों के स्वरूप में कोई संशय पैदा न हो। इन चिह्नों का कुछ सौन्दर्य और कलात्मक स्वरूप होना चाहिए और वे इस योग्य होने चाहिए कि आधुनिक मशीनों, जैसे टाइप-राइटर, प्रेस आदि में उनका उपयोग हो सके।

भारत की समस्त लिपियों का उद्गम एक सामान्य स्रोत से हुआ है और यह स्रोत ब्राह्मी लिपि है, जिसके पीछे उसका ढाई हजार वर्षों का इतिहास है। इस प्रकार उत्तर में काश्मीर की शारदा और दक्षिण मद्रास की तमिल लिपि की उत्पत्ति का स्रोत ब्राह्मी लिपि ही है। विभिन्न भारतीय भाषाओं की लिपियों में जो भेद है, वह अधिकांशतः उस सामग्री के कारण है कि जिस पर वे पहले-पहल लिखी गई थीं। उत्तर में वे सामान्यतः भोजपत्रों पर लिखी गई थीं और दक्षिण तथा पूर्व में वे ताम्रपत्रों पर लिखी जाती थीं। सभी भारतीय भाषाओं की वर्णमाला एक-सी ही है।

काई भी भाषा सीखने में लिपि-भेद एक बहुत बड़ा बाधा होता है। यदि लिपि का आवरण हटा लिया जाए, तो भाषा का स्वरूप सरलता से पहचाना जा सकता है। उदाहरणार्थ, गुजराती, बंगाली, हिन्दी और मराठी लिपियाँ बनावट में एक-दूसरे से बहुत निकट हैं और यदि वे एक ही लिपि में लिखी जाएँ, तो इनमें से किसी एक भाषा को बोलनेवाला व्यक्ति दूसरी भाषा को जरा-सी कोशिश करके समझ सकता है। तेलुगु में संस्कृत के साठ-से-सत्तर प्रतिशत शब्द हैं। उसी प्रकार कन्नड़ और मलयालम में पचास-से-साठ प्रतिशत संस्कृत शब्द हैं और तमिल में भी एक दशाब्द पूर्व तक लगभग चालीस-से-पचास प्रतिशत संस्कृत शब्द थे, परन्तु यह बात लिपियों के आवरण के कारण

हमारी दृष्टि से ओझल बनी हुई है। यदि लिपि की बाधा न होती, तो इन भाषाओं का शब्द भण्डार भारतीय भाषाओं से अपना सम्बन्ध स्वयं ही बताता। यूरोप में फ्रेंच, पोर्चुगीज़, स्पेनिश, इटेलियन और अंग्रेजी भाषाएँ आपस में सरलता से समझी जा सकती हैं, क्योंकि उनकी लिपि एक समान है।

प्रश्न यह है कि भारतीय भाषाओं के लिए कौनसी लिपि उपयुक्त होगी। मेरी समझ में इस प्रश्न के उत्तर के लिए केवल उन्हीं लिपियों पर विचार किया जा सकता है, जो समस्त भारत में व्याप्त हैं और ये लिपियाँ फ़ारसी-अरबी (उर्दू), रोमन और देवनागरी हैं। यदि संख्या की दृष्टि से विचार किया जाए, तो रोमन लिपि बहुत ही कम लोग व्यवहार में लाते हैं। यद्यपि अंग्रेजी के कारण आज-कल रोमन लिपि काफी प्रचलित है, तथापि भारतीय भाषाओं के उपयुक्त बनाने के लिए उसमें बहुत से परि-वर्तन जरूरी होंगे। रोमन की अपेक्षा उर्दू लिपि का प्रयोग करनेवाले ज्यादा संख्या में हैं और इसे अपना लेने पर हम पाकिस्तान और निकटवर्ती मध्य पश्चिमी देशों से अपना सम्बन्ध बनाये रख सकेंगे, लेकिन इस लिपि को अपनाकर हम दूसरी भारतीय भाषाओं से बिलकुल ही सम्बन्ध विच्छेद करने को मजबूर हो जाएँगे। उर्दू लिपि के वर्णों में परिवर्तन कर और उसमें स्वर चिह्नों के अभाव को दूर करने के लिए आवश्यक स्वर चिह्न मिलाकर चाहे हम उसे भले ही वैज्ञानिक बना लें, पर फिर भी वह अन्य भारतीय भाषाओं के अनुकूल न होगी।

इन परिस्थितियों में हमारे सामने देवनागरी लिपि को अपनाने के सिवाय और कोई चारा नहीं रह जाता। वास्तव में देवनागरी लिपि को सभी भारतीय भाषाओं की लिपि बनाने के लिए उसमें तमिल और कुछ अन्य भाषाओं की विशेष ध्वनियों को स्थान देने के लिए दो-या-तीन अतिरिक्त चिह्न बढ़ाने होंगे। इसके अलावा टाइपराइटरों और अन्य आधुनिक मशीनों के सीमित कुँजी-पटल के लिए उपयुक्त बनाने के हेतु देवनागरी लिपि में से उसके कुछ संयुक्त व्यंजनों को या तो सरल करना पड़ेगा या उन्हें छोड़ना पड़ेगा। यह काम सरलता से किया जा सकता है और भारत सरकार का ध्यान पहले ही इन बातों की ओर आकर्षित हो चुका है।

सम्पूर्ण भारत के लिए एक सामान्य लिपि की उप-योगिता काफी समय पहले महसूस की गई थी और लगभग पचास वर्ष पहले कलकत्ता के जस्टिस शारदाचरण मित्र ने देवनागरी लिपि को सामान्य लिपि बनाने का आन्दोलन प्रारम्भ किया था। इसके लिए उन्होंने 'देवनागर' पत्रिका भी प्रारम्भ की थी। यह बड़ी ही मजेदार और उल्लेख-पूर्ण बात है कि देवनागरी के उपयोग के बारे में जो पहला अभिलेख मिलता है, वह अहिन्दी-क्षेत्र का ही है।

हमें मुख्यमन्त्रियों की सिफारिश को सतर्कतापूर्वक और धीरे-धीरे कई चरणों में कार्यान्वित करना चाहिए, क्योंकि जहाँ तक भाषा और लिपि का सम्बन्ध है, साधा-रण जनता आमतौर पर उनके बारे में अनुदार और अस-हनशील होती है, क्योंकि भाषा और लिपि का प्रश्न उसकी भावनाओं के साथ सम्बद्ध होता है। क्षेत्रीय लिपि के साथ देवनागरी लिपि का उपयोग ऐच्छिक कर दिया जाए और देवनागरी लिपि में छापी गई क्षेत्रीय भाषाओं की पुस्तकों के प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के लिए इस ढंग की पुस्तकों को पुरस्कार दिये जाएँ। इसके अतिरिक्त जनता को एक लिपि अपनाने के लाभ विभिन्न अभिकरणों और प्रचार के जरिए समझाए जाने चाहिए।

● ●

डॉ० वी० के० आर० वी० राव

राष्ट्रीय एकता की समस्या पर देश के अनेक लोग अनेक तरह से सोच रहे हैं। कुछ दिनों से यह समस्या राजनीतिक नेतृत्व के लिए चिन्ता का विषय बन गई है और कांग्रेस दल इस समस्या पर चर्चा को बढ़ावा देने तथा इसको हल करने के उपायों को ढूँढ़ने में अग्रणी रहा है। भारत के प्रधान मन्त्री ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कुछ दिनों पूर्व मुख्यमन्त्रियों की एक बैठक बुलाई थी। इस बैठक में प्रसंगवश यह भी फैसला किया गया था

कि राष्ट्रीय एकता के संवर्धन के लिए एक लिपि अपनाई जाए। इस बैठक के अन्त में जो वक्तव्य दिया गया था, वह इस प्रकार है: "हम अनुभव करते हैं कि यदि भारत के लिए एक लिपि—देवनागरी अपना ली जाए, तो ज्यादा अच्छा होगा।" इसके आगे यह भी कहा गया था: "हम यह महसूस करते हैं कि इसमें कठिनाइयाँ हैं।" मैं इस छोटे-से लेख में भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि अपनाने के बारे में एक व्यावहारिक और यथार्थ नीति की रूपरेखा देने जा रहा हूँ।

आज भारत में विचार-विनिमय केवल विश्वविद्यालयों से निकले हुए शिक्षित-वर्ग तक ही सीमित है। यह वर्ग विचारों के आदान-प्रदान के लिए अंग्रेजी माध्यम का ही प्रयोग करता है। साधारण जनता, जिसको विश्वविद्यालय की शिक्षा नहीं मिली और न ही मिलने की सम्भावना है, चौदह भारतीय भाषाओं में से एक-न-एक भाषा बोलती है। इस जनता का विचारों के आदान-प्रदान के लिए कोई एक माध्यम नहीं है। भारतीय जनता पारस्परिक सांस्कृतिक विरासत या प्रचलित विचारधारा से अनभिज्ञ है, अतएव वह आपस में एक-दूसरे को समझने में असमर्थ है। इसके कारण उसके लिए एक ही भावना या एक ही दृष्टिकोण अपनाना कठिन प्रतीत होता है। परिणाम यह होता है कि यह भोली-भाली जनता प्रान्तीयतावाद, भाषावाद और विघटन का शिकार बन जाती है। अतएव यह नितांत आवश्यक हो जाता है कि जनता में विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए प्रभावशाली साधन अपनाये जाएँ। इसका आदर्श रूप केवल एक भाषा ही हो सकता है, परन्तु भारत जैसे बहुभाषी देश में एक ही भाषा का उपयोग न तो सम्भव ही है और न ही वांछनीय, क्योंकि प्रत्येक भाषा का अपना गौरवपूर्ण इतिहास है और सभी भारतीय भाषाओं को राष्ट्रीय भाषा होने का अधिकार है। वास्तव में चौदहों भारतीय भाषाएँ राष्ट्रीय भाषाएँ हैं। यही कारण है कि संविधान में इन्हीं चौदह भाषाओं में से देश में सबसे अधिक बोली जानेवाली एक भाषा हिन्दी राष्ट्र की राजभाषा मानी गई है। इसका नतीजा यह हुआ कि उन लोगों से, जिनकी भाषा हिन्दी नहीं है, हिन्दी पढ़ने के लिए कहा गया। गैर-हिन्दी भाषी क्षेत्र के लोगों ने इसका विरोध किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में उनके ऊपर एक बोझा लादा जा रहा था और भेद-भाव किया जा रहा था, यद्यपि वे सिद्धान्त में यह मानते थे कि विभिन्न राज्यों की जनता के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए एक ही लिपि का होना आवश्यक है, तथापि वे यह महसूस करते थे कि यदि देश की एकता के नाम पर उनसे हिन्दी सीखने के लिए कहा जाता है, तो हिन्दी-भाषी लोगों से भी एक-दूसरी भारतीय भाषा सीखने के लिए कहा जाए। इससे न केवल भाषा के बोझ में ही समानता आएगी, वरन् इससे यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्दी भाषी दूसरी भारतीय भाषाओं का भी आदर करते हैं और उनमें अभिरुचि रखते हैं। यही आज की स्थिति है। इस बीच रोटी के टुकड़े पर लड़नेवाली बिल्लियों और बन्दर की कहानी के अनुसार इस विवाद में अंग्रेजी कूद पड़ी है और बन्दर बन गई है। अब उसे भारतीय संघ की सहयोगी राजभाषा बना दिया गया है। यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि जब तक गैर-हिन्दी-भाषी स्वेच्छा से हिन्दी को शासकीय भाषा मानने को तैयार नहीं हो जाते, तब तक उन्हें अतिरिक्त राजभाषा के रूप में अंग्रेजी का उपयोग करने की सुविधा मिलती रहेगी।

कानून के जरिए हिन्दी को देश की शासकीय भाषा बनाने के निष्फल प्रयास का जो इतिहास है, उससे भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि के प्रयोग का समर्थन करनेवालों को शिक्षा लेनी चाहिए और यह याद रखना चाहिए कि कानून से कोई बात नहीं मनवाई जा सकती। यदि लोग हिन्दी को अनिवार्य अतिरिक्त भाषा के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, तो यह स्पष्ट ही है कि वे अपनी लिपि के स्थान पर दूसरी लिपि को स्वीकार करने में और भी अधिक अनिच्छा प्रकट करेंगे। यह शंका निर्मूल कर देनी होगी कि भारतीय भाषाओं की वर्तमान लिपियों के बदले में किसी एक सामान्य लिपि को रखने का कोई प्रस्ताव है। आज जो सुझाव दिये जा रहे हैं, उन सबका निष्कर्ष यही है कि सभी भारतीय भाषाओं की अपनी-अपनी लिपि तो रहेगी ही, इसके अलावा इनके लिए एक ही लिपि अपनाई जाएगी, ताकि एक भारतीय कोई भी भारतीय भाषा सरलता से सीख सके और केवल

हिन्दी या कोई भी अन्य प्रमुख भाषा सीखकर ही न रह जाए। यदि एक ऐसी लिपि अपना ली जाए, जिसमें तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, बंगला, हिन्दी और मराठी सीखना सम्भव हो, तो भारतीय जनता में विचारों के परस्पर आदान-प्रदान की सम्भावनाएँ उस पैमाने तक बढ़ जाएँगी, जिसका भारतीय इतिहास ने स्वप्न भी नहीं देखा। अब तक भारत के कुछ विशेष वर्ग ही एक-दूसरे को समझ सकते थे और आपस में विचारों का आदान-प्रदान कर सकते थे। यह काम क्रमश: संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी भाषाओं के माध्यम से किया जा रहा है। सामान्य जनता को कभी भी यह सुविधा नहीं मिली। इनके विचार-विनिमय का साधन केवल धर्म, उत्सव, धर्मग्रन्थ और तीर्थ ही रहे हैं। अब एक लिपि के जरिए, जिसके लिए देवनागरी लिपि का सुझाव दिया गया है (जो अब हिन्दी और मराठी के लिए एक ही है और गुजराती के भी बहुत निकट है), सभी भारतीय भाषाएँ सीखी जा सकेंगी और सामान्य जनता के लिए विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान सरल हो जाएगा। अब हर भारतीय विद्यार्थी दो लिपियाँ—अर्थात् अपनी मातृभाषा की लिपि और सामान्य लिपि देवनागरी सीखकर न केवल अपनी ही भाषा समझ सकेगा, बल्कि भारतीय संघ की अन्य सभी भाषाओं को समझ सकेगा। ऐसी स्थिति में यदि वह चाहे, तो अपनी मातृभाषा भी सामान्य लिपि में सीख सकता है, परन्तु यह पूर्णत: उसकी स्वेच्छा पर निर्भर होगा। सभी हालतों में उसे अपनी मातृभाषा उसी लिपि में सीखने की स्वतन्त्रता होगी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामान्य लिपि अपनाने का उद्देश्य उन लोगों को लाभ पहुँचाना है, जो अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना चाहते हैं और उसके द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं में विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान करना चाहते हैं।

मुझे भय है कि इस काम के लिए देवनागरी लिपि के अपनाये जाने पर हिन्दी, मराठी और गुजराती भाषियों को अन्य भारतीय भाषाएँ सीखने में दूसरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा सरलता रहेगी और कहीं ज्यादा लाभ होगा। पर मैं निश्चित रूप से यह भी कह सकता हूँ कि इसके सिवाय और कोई चारा नहीं है।

इस तर्क के आधार पर कि सभी भारतीयों को अपनी मातृभाषा के अलावा दूसरी भाषा सीखने में एक-सा ही परिश्रम करना पड़े या एक-जैसी कठिनाई उठानी पड़े, रोमन लिपि को अपनाने का समर्थन करना भाषाओं की पारस्परिक समानता के सिद्धान्त को अव्यवहार्य ठहराना है। इससे ईर्ष्या और असहनशीलता की कुछ ऐसी बू आती है, जो भारत-जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय और भावगत एकता कायम करने की इच्छा के प्रतिकूल है और बाद में इसको दूर करना मुश्किल हो जाएगा। इसके अलावा रोमन लिपि को समस्त भारतीय भाषाओं के अनुरूप बनाने में अनेकों कठिनाइयाँ हैं। लिखने के लिए इस लिपि का उपयोग करने में और कठिनाई होगी, विशेषकर उन शब्दों को लिखने में, जिनमें संयुक्त अक्षर हैं। ये अंग्रेजी में नहीं होते और इसलिए उसके लिए रोमन लिपि का प्रयोग करने में कठिनाई नहीं होती। फिर, जब हमारे यहाँ दीर्घकाल से प्रचलित और परम्पराओं से सम्मानित देवनागरी लिपि वर्तमान है, तो यह हमारे राष्ट्र के स्वाभिमान के लिए अच्छा न होगा कि हम उसका बहिष्कार करें, जब तक कि इसके लिए बहुत ही जोरदार कारण न हो। इन परिस्थितियों में मैं मुख्यमन्त्रियों के इस सुझाव का समर्थन करूँगा कि विभिन्न भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि देवनागरी अपनाई जाए। वास्तव में हर राज्य सरकार को इस सिफारिश को अपनाने की स्वतन्त्रता रहेगी, परन्तु पृथक् राज्य सरकार को समान रूप से यह विशेषाधिकार नहीं होगा और जो कि तर्कसंगत भी है कि वह दूसरी राज्य सरकारों को देवनागरी लिपि का एक अतिरिक्त लिपि के रूप में उपयोग करने की मनाही कर दे। कोई भी राज्य सरकार अपनी भाषा की लिपि के लिए देवनागरी लिपि का अतिरिक्त लिपि के रूप में और सभी भारतीय भाषाओं की एक सामान्य लिपि के रूप में उपयोग कर सकती है।

सभी भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि का अतिरिक्त लिपि के रूप में उपयोग हो और इसमें सुविधा हो सके, इसके लिए मैं निम्नलिखित कार्यक्रम पेश करता हूँ, जिस पर कार्यवाही होनी चाहिए :

(एक) देवनागरी लिपि की इस दृष्टि से विशेषज्ञों द्वारा परीक्षा की जानी चाहिए कि विभिन्न भारतीय भाषाओं

की लिपि के रूप में उसके अपना लिये जाने पर उनका काम अच्छी तरह निभाने के लिए यदि कोई परिवर्तन आवश्यक हों, तो उनको कर लिया जाए। इसके साथ-साथ-साथ टाइपिंग और मुद्रण की सुविधा को ध्यान में रखते हुए परिवर्तित लिपि की फिर से जाँच की जाए। चूँकि यह सभी भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि होगी, उसको जो लोग अपनी भाषाओं—जैसे मराठी और हिन्दी के लिए काम में ला रहे हैं, उनके प्रति कोई खास विरोध की भावना न लाते हुए देवनागरी लिपि में ऐसे जरूरी सुधार किये जाएँ, ताकि वह समस्त भारतीय भाषाओं की लिपियों का काम कर सके। यहाँ यह मान ही लिया गया है कि सामान्य लिपि के अंक हिन्दी के अंक १, २, ३, ४, ५ आदि नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय अंक 1, 2, 3, 4, 5 आदि होंगे। जहाँ तक सम्भव हो, ऐसी वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली अपनाई जाए, जो सभी भारतीय भाषाओं में समझी जा सके। हम अंग्रेज़ी भाषा से ही वैज्ञानिक और तकनीनी शब्दावली ज्यों-की-ज्यों क्यों नहीं ग्रहण कर लेते, इसका मुझे कोई कारण समझ में नहीं आता, खासतौर पर जब तकनीकी शब्दों के लिए सभी भारतीय भाषाओं में एक-जैसे पर्याय ढूँढ़ना कठिन है।

(दो) विभिन्न भारतीय भाषाओं की देवनागरी लिपि में प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तकें तत्काल निकालने के लिए एक केन्द्र खोलना चाहिए और इसके साथ-ही-साथ द्विभाषी, त्रिभाषी और बहुभाषी शब्दकोष देवनागरी लिपि में छपने चाहिए।

(तीन) हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के अलावा दूसरी भारतीय भाषाओं के अध्यापन के लिए तत्काल व्यवस्था की जानी चाहिए। इन भाषाओं का अध्यापन पाँचवीं कक्षा से प्रारम्भ किया जाना चाहिए। विद्यार्थियों को हिन्दी को छोड़कर दूसरी दो भारतीय भाषाओं में से एक को चुनने का विकल्प होना चाहिए और इस तरह की व्यवस्था की जानी चाहिए कि एक क्षेत्र की सब शालाओं को मिलाकर उस क्षेत्र में सभी भारतीय भाषाएँ पढ़ाई जाती हों।

(चार) अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी और देवनागरी लिपि में एक दूसरी भारतीय भाषा के पढ़ाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन भाषाओं का अध्यापन भी पाँचवीं कक्षा से शुरू होना चाहिए। प्रारम्भ में इन क्षेत्रों में दूसरी भारतीय भाषाओं का अध्ययन विद्यार्थी की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए, लेकिन जब दूसरी भारतीय भाषा सीखना वाणिज्य शिक्षा का एक अंग हो, तब यह छूट नहीं देनी चाहिए।

(पाँच) विभिन्न भारतीय भाषाओं के पुराग्रन्थों और आधुनिक कृतियों को देवनागरी लिपि में लिप्यन्तरित करने और उनके अनुवाद कराने की तत्काल बड़े पैमाने पर व्यवस्था होनी चाहिए। मैं हर एक भारतीय भाषा से हर साल कम-से-कम एक हजार पुस्तकों के लिप्यन्तरण के लिए सुझाव देना चाहूँगा।

(छः) प्रत्येक भारतीय भाषा का अध्यापन देवनागरी के माध्यम से हो सके, इसके लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के हेतु कई स्थानों पर प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाएँ। यह स्वयं सिद्ध है कि जो व्यक्ति किसी भारतीय भाषा को देवनागरी लिपि में पढ़ायेगा, वह इस विशिष्ट भाषा के इतिहास, व्याकरण और साहित्य से भली भाँति परिचित होगा।

अन्त में, मैं भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि के उपयोग को सरल बनाने के इन कार्यक्रमों और अन्य कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप देने के अत्यन्त राष्ट्रीय महत्व और आवश्यकता पर जोर देना चाहूँगा और यह कहूँगा कि यह केवल शैक्षिक या भाषाई मामला ही बनकर न रह जाए। देश में एक लिपि के होने का अर्थ समस्त देश को रक्षा के लिए एक ही शस्त्र से सुसज्जित करना है। भारत की बहुभाषी जनता के बीच विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान की सुविधा का होना भारत की भावगत एकता और एक ही राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ बनाने में एक अनूठा और विशाल प्रयास होगा। आम जनता में राष्ट्रीयता की ऐसी भावना उत्पन्न कर देना भारत की सुरक्षा की दृष्टि से सशस्त्र सेना के असंख्य दस्तों, हवाई जहाज के बेड़ों और समुद्री जहाज के पोतों की अपेक्षा कहीं ज्यादा मूल्यवान् है। सेना हार सकती है, पर कोई भी राष्ट्र पराजित नहीं किया जा सकता। अतएव एक लिपि के इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने में पैसे का कोई विचार नहीं करना चाहिए और तीव्रगति से इस कार्यक्रम को बढ़ाना चाहिए।

सारी परियोजना को प्रतिरक्षा की एक योजना माना जाए और इसको पूरा करने के लिए उसी प्राथम्य, गति और दक्षता से काम किया जाए, जिससे उस समय काम किया जाता है, जब राज्य के ऊपर कोई आपत्ति आ जाती है और उसे पूरा करने के लिए युद्धकालीन स्तर पर काम होता है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान के अभाव से राष्ट्रीय एकता का जो खतरा पैदा हो गया है, वह युद्ध के संकट-जैसा ही है और उसी दृढ़ता और संकल्प से उसका सामना करके उस पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

● ●

श्री एस० एम० कत्रे

भारत में लेखन-प्रणालियाँ बहुत प्राचीन काल से ज्ञात रही हैं। सिन्धु घाटी में कुछ ऐसी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर एक प्रकार की लिखावट खुदी हुई है। इससे सिद्ध है कि ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व भी भारतीयों को लेखन-प्रणालियों का ज्ञान था। जिन लेखन-प्रणालियों को अर्थ लगाकर पढ़ा जा सका है, उनमें सर्वप्रथम है खरोष्ठी लिपि (जो भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में प्रचलित थी) और ब्राह्मी लिपि (जिसका प्रचलन शेष भारत में था)। इन लिपियों में सबसे महत्वपूर्ण लेख महान् अशोक के शिलालेख हैं। इसी मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि का विस्तार समस्त भारत, बर्मा, श्रीलंका और थाईलैण्ड में हुआ। इस विस्तार की अटूट परम्परा के अनुक्रम में आगे चलकर उसके वे प्रादेशिक रूप उद्भूत हुए, जिन्हें आज हम स्यामी, बर्मी, सिंहली और भारतीय लिपियों के रूप में जानते हैं।

हिमालय के दक्षिणवर्ती उप-महाद्वीप में पिछले चार हजार से अधिक वर्षों में चार सुभिन्न भाषा-परिवार सक्रिय रहे हैं और परस्पर प्रभावित होते रहे हैं, जिससे एक समान भारतीय संस्कृति उत्पन्न हुई। इन भाषा-परिवारों में से प्रत्येक की लेखन-प्रणाली के मूल में ब्राह्मी लिपि ही रही है। (काश्मीर की) शारदा, (सिख समुदाय की) गुरुमुखी, गुजराती, मराठी, हिन्दी, मैथिली, बंगाली, असमिया, उड़िया, तेलुगु, तमिल (और ग्रन्थ), मलयालम और कन्नड़ सभी लिपियाँ इसी प्राचीन ब्राह्मी लिपि के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। विभिन्न कालों में इसका जो प्रसार हुआ और अलग-अलग प्रदेशों से विशिष्ट रूप से जो विकास हुआ, उसके अनुक्रम में प्रयुक्त सामग्री की दृष्टि से प्रत्येक रूप एक-दूसरे से दूर हटता गया और एक समय ऐसा आया, जब उनकी एकता पूरी तौर से छिन्न-भिन्न हो गई और हरएक ने अपना स्वतन्त्र रूप अपना लिया। अब तो केवल विशेषज्ञ ही उनके भाषा-परिवार की समानता पहचान सकते हैं और यह बता सकते हैं कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में उनका कौनसा रूप परिवर्तित हुआ।

ऊपर दिये गए विवरण से यह प्रकट है कि बृहत्तर भारत में पाये जानेवाले केवल तीन प्रमुख भाषा-परिवारों में लिखित साहित्य उपलब्ध हैं। ये भाषा-परिवार हैं: भारतीय आर्य (इण्डो-आर्यन), द्राविड़ और चीनी-तिब्बती (तिब्बती, बर्मी और स्यामी)। चौथे बड़े परिवार, अर्थात् आस्ट्रेलिया-एशियाई भाषाओं के परिवार में बहुत थोड़ा साहित्य लिखित रूप में मिलता है। इस भाषा-परिवार की ओर लोगों का ध्यान उन्नीसवीं शताब्दी में उस समय आकर्षित हुआ, जब आधुनिक विद्वानों ने इस परिवार की भाषाओं के सम्बन्ध में खोजबीन आरम्भ की और उन्हें आधुनिक पश्चिमी रोमन अक्षरों पर या निकटवर्ती भारतीय लिपियों पर आधारित आधुनिक लेखन-प्रणाली से विभूषित किया।

समस्त बृहत्तर भारत की मूल सांस्कृतिक भाषा संस्कृत थी और बहुत काल तक इसकी परम्परा सर्वथा मौखिक रूप में चलती रही। महान् धार्मिक भाषाओं ने, जो संस्कृत से व्युत्पन्न हुईं और जिनमें जिन महावीर और गौतम बुद्ध ने उपदेश दिये, उसी मौखिक परम्परा को जारी रखा। पाली में रचित त्रिपिटकों का, जिनमें हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध ग्रन्थों के मूल पाठों का संकलन है, प्रथम वाक्य ही इस तथ्य का साक्षी है। वह इस प्रकार है "एवं मे सुतम" (ऐसा मैंने सुना है)। श्वेताम्बर जैन धार्मिक नियमों को लेखबद्ध करने का कार्य छठी शताब्दी ईसवी में मौखिक परम्परा को एकत्र करके हुआ था। आधुनिक काल

में ऋग्वेद के, जो कि भारतीय आर्य भाषा-परिवार का प्राचीनतम ग्रन्थ है, आलोचनात्मक संस्करण में लिखित और परम्परागत मौखिक पाठ का उपयोग किया गया है। मौखिक पाठ में एक विशेषता यह है कि वह एक विद्वान् से दूसरे विद्वान् के पास आगे चलता रहता है और लिखित परम्परा की तुलना में अधिक विशुद्ध रूप में सुरक्षित रहता है। लिखित परम्परा में मूलपाठ के समान ही प्रतिलिपि भी मूल प्रति बन जाती है, जिससे नई प्रतिलिपियाँ तैयार होती हैं।

भारतीय लिपियों के विकास पर विचार करते समय यह ध्यान देने की बात है कि महाभारत, रामायण और वैसी ही ही अन्य लोकप्रिय रचनाओं के मूलपाठ देश के विभिन्न प्रदेशों में मिलनेवाली अनेक हस्तलिखित पुस्तकों के रूप में ही नहीं, वरन् देश की अनेकानेक लिपियों में भी सुरक्षित हैं। मूलपाठ जितना अधिक लोकप्रिय होगा, उतनी अधिक उसकी प्रतिलिपियाँ मिलती हैं और वे उतनी ही अधिक लिपियों में होती हैं। महाभारत और रामायण-जैसे श्रेष्ठ महाकाव्यों के महत्वपूर्ण आलोचनात्मक संस्करणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आम तौर पर प्रत्येक प्रादेशिक लिपि में हस्तलिखित पुस्तकों के प्रसार की अपनी एक विशिष्ट परम्परा है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में पाठान्तर या रूपान्तर कहा जा सकता है। यह एक ऐसा तथ्य है, जो यह प्रकट करता है कि इनमें से प्रत्येक लिपि अपनी समान मूल लिपि—मौर्यकालीन ब्राह्मी—से कितनी भिन्न हो गई है और इसलिए वह दूसरी लिपियों के प्रयोगकर्ताओं की समझ में नहीं आती। परिणामस्वरूप उसके प्रसार में यदि कोई विशिष्टताएँ होती हैं, तो वे केवल उसी लिपि तक सीमित रह जाती हैं। परन्तु देवनागरी लिपि इसका बड़ा एक अपवाद है। इस लिपि में न केवल महान् उत्तरी और दक्षिणी भाषाओं की लिपियों के बीच, बल्कि भारतीय आर्य या द्राविड़ वर्गों की लिपियों के बीच भी एक कड़ी का काम किया है। प्रत्येक पारिवारिक वर्ग की अलग-अलग लिपियों की अपेक्षा देवनागरी लिपि में अन्य लिपियों से और देवनागरी लिपि से अन्य लिपियों में बहुत अधिक आदर्श प्रतियों की प्रतिलिपियाँ तैयार हुई हैं। किसी भी लिपि विशेष के समान उपयोग के सम्बन्ध में नीति विषयक निर्णय करते समय यह महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। यह भी याद रखना चाहिए कि व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए किसी भी नई भाषा को सीखने का पहला साधन बोलचाल ही है। इसकी शुरुआत मातृभाषा से होती है। किसी भी भाषा के लिए निर्धारित लेखन-प्रणाली ऐतिहासिक घटना मात्र है और जब प्रादेशिक या वर्गीय वफ़ादारी के दृष्टिकोण से उसे देखा जाता है, तो वह एक बहुत पवित्र वस्तु बन जाती है। यदि हम यह याद रखें कि धार्मिक संस्कारों और आचारों में जिन मूलपाठों का प्रयोग होता है, उनके प्रादेशिक रूपान्तर प्रादेशिक लिपियों में होते हैं—भले ही उनकी भाषा संस्कृत हो—तो यह बात साफ हो जाएगी कि यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी भाषा की केवल एक ही लिपि हो। संस्कृत के मूलपाठ भारत की लगभग सभी लिपियों में मुद्रित हो चुके हैं। किसी भी भाषा के मूलपाठ के किसी प्रादेशिक लिपि में लिखे जाने में कोई सैद्धांतिक आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रादेशिक भाषाओं का विकास करने के उद्देश्य से अब हमारे देश को न्यूनाधिक भाषाई आधार पर बनाये गए राज्यों के रूप में पुनर्गठित किया गया है। इस तथ्य से हमारे सामने संचार की और अन्तर्राज्यीय स्तर के लिए एक समान राजभाषा की जो सामयिक समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं, उनमें लिपि की समस्या महत्वपूर्ण है। यदि किसी व्यक्ति को एक से अधिक साहित्यिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना है, तो उसके लिए उसे प्रादेशिक भाषा, भारत की राजभाषा और कम-से-कम एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा को भली प्रकार सीखना होगा और इस प्रकार तीन भिन्न-भिन्न लेखन-प्रणालियों, अर्थात् प्रादेशिक लिपि (यदि वह देवनागरी नहीं है), देवनागरी लिपि (जिस रूप में उसे भारत की राजभाषा के लिए अपनाया गया है) और (अंग्रेजी या समान महत्ववाली किसी विश्व भाषा के लिए) रोमन लिपि में क्षमता प्राप्त करना आवश्यक होगा। जहाँ तक परस्पर सम्पर्कवाली भाषाओं का सम्बन्ध है, उनके बीच देश और काल के अन्तर को आधुनिक आविष्कारों ने बिलकुल मिटा दिया है। फिर भी संचार के माध्यम के रूप में किसी नई भाषा को प्रत्यक्ष रीति

से सीखने में उस भाषा को बोल सकना और सुनकर उसे समझ सकना (मौखिक और श्रव्य अनुभव) मात्र पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रयोजन के हेतु उस भाषा के मूलपाठ को पढ़ना भी आवश्यक होता है। यदि इस काम में एक नई लेखन-प्रणाली को सीखने की कठिनाई (जो टाली जा सकती है) जुड़ी न हो, तो इस दिशा में प्रगति अधिक तेज हो सकती है। इस प्रकार भारत में बोली जानेवाली सभी भाषाओं के लिए एक सरल लेखन-प्रणाली के विकास का परिणाम यह होगा कि प्रत्येक भाषा अन्य भाषाओं को बोलनेवालों को स्वतः ही अधिक आसानी से समझ में आने लगेगी। यही नहीं, ऐसी भाषाओं के प्रयोग में कुशलता प्राप्त करने में जो समय लगता है, वह भी इसके फलस्वरूप कम हो जाएगा। इसलिए भाषाई एकता की दृष्टि से ऐसी एक लिपि को अपनाना हमारे लिए हितकर होगा, जिसमें हम अपनी अनेक भाषाओं को साहित्य के रूप में लेखनबद्ध कर सकें।

यद्यपि लिपि और भाषा के बीच का सम्बन्ध एक ऐतिहासिक घटना है, फिर भी उसमें विवेक-रहित सनातनी भावना (ब्रिटेन की अंग्रेज़ी जिसका एक खास उदाहरण है) को जन्म देनेवाली शक्ति छिपी होती है। द्राविड़ लिपियों को छोड़कर भारतीय आर्य-परिवार की लिपियों में से किसी को भी ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) नहीं माना जा सकता है। देवनागरी में लिखित किसी ऐसे लेखांश को ले लीजिए, जो किसी अन्य भाषा के मूलपाठ का ही दूसरा रूप है। सम्भव है कि स्वभावतः अन्य भाषा-भाषी पाठक उसका अनुवाद बिलकुल ठीक-ठीक न कर सकें। चाहे वह लेखांश उसकी अपनी लिपि में ही क्यों न लिख दिया जाए, फिर भी यदि लेखांश की भाषा उस व्यक्ति की भाषा से भिन्न हुई, तो वह उसका ठीक-ठीक अनुवाद नहीं कर सकेगा। इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति की दृष्टि में, जो दो सम्बद्ध लिपियों को पढ़ सकता है; ऐसे लेखांश और उसकी मातृ-भाषा में लिखे मूलपाठ का मूल्य समान होगा। इसलिए यह तर्क कि यदि बंगाली भाषा को देवनागरी अक्षरों में लिखा जाए (या इसके विपरीत स्थिति हो) तो उस लेख की भावों को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने की शक्ति पर प्रभाव पड़ेगा, निरर्थक हो जाता है। एक से अधिक लिपियों को सीखने के लिए थोड़े से प्रयत्न की आवश्यकता है। किन्तु एक बार यह सुविधा प्राप्त हो जाने पर लिखित मूलपाठ को पढ़ने में कम कठिनाई होगी। इसलिए किसी विशेष लेखन-प्रणाली के समर्थकों का यह कहना कि भाषा विशेष के लिए वह लेखन-प्रणाली एक पवित्र वस्तु है, सत्य नहीं है। लेकिन एक समान लिपि का विकास करते समय इस तर्करहित भय और विवेकरहित दृष्टिकोण पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना होगा।

हमारे देश में भाषाओं के जो चार परिवार बने और परस्पर प्रभावित होते रहे, उन्होंने कतिपय अखिल भारतीय विशेषताओं का विकास किया है। भाषण के विभिन्न रूपों और उनके वर्गीकरण में एक प्रकार की समानता मिलती है। कुछ थोड़े से हेर-फेर या स्वरभेद द्वारा कोई भी लेखन-प्रणाली दूसरी लेखन-प्रणाली का स्थान ले सकती है और उससे लिखित मूलपाठ की बोधगम्यता में कोई जटिलता पैदा नहीं होगी। लेखन-प्रणालियों के क्रमिक विकास को देखने से पता चलता है कि एक प्रादेशिक लिपि में लिखे मूलपाठ को उस प्रदेश से बाहर अन्य प्रदेशों में पहुँचाने का प्रधान साधन देवनागरी लिपि ही रही है। यही कारण है कि लिखित संचार के अखिल भारतीय माध्यम के रूप में देवनागरी को अपनी महान् परम्परा का बल प्राप्त है। कुछ साधारण स्वर भेदों के द्वारा इस लिपि ने पहले ही कुछ अरबी ध्वनियों को हिन्दी वर्ग की भाषाओं में सम्मिलित कर लिया है। सिन्धी लिपि ने इस ओर और भी अधिक ध्यान दिया है। यदि इस देश में प्रयुक्त सभी भाषाओं के सम्बन्ध में किसी एक भारतीय लिपि का अखिल भारतीय लिपि के रूप में विकास करना है, तो देवनागरी इसके लिए बहुत उपयुक्त है। उसमें विशेषता यह है कि वह इस पद के लिए उस समय भी योग्य थी, जब मुद्रण का प्रारम्भ नहीं हुआ था और जब लिखित मूलपाठ की प्रतियों की संख्या में वृद्धि का एकमात्र साधन हस्त-लिप्यन्तरण था।

गत दो शताब्दियों में पर्याप्त मात्रा में साहित्य भारतीय भाषाओं, विशेषकर शास्त्रीय भारतीय भाषाओं में रोमन अक्षरांतरण (ट्रांसलिटरेशन) पद्धति में मुद्रित हो चुका है। अक्षरांतरण प्रक्रिया केवल रोमन लिपि तक ही सीमित

नहीं है। इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में न केवल भारतीय मूलपाठों से चीनी भाषा में अनुवाद हुए थे, बल्कि उस काल में अक्षरांतरण की विशिष्ट पद्धतियाँ भी विद्यमान थीं, जिनके अस्तित्व के कारण आज हम लुप्त संस्कृत मूल-पाठों की पुनः रचना करने की सुस्थिति में हैं। रोमन अक्षरांतरण में विशेषता यह है कि वह आधुनिक मुद्रणालयों में सरलता से मुद्रित हो सकता है और टाइपराइटरों के प्रयोजन के लिए भी अधिक सरल है। इसीलिए तुर्की, चीनी, कोरियाई और जापानी, मलय और जावानी तथा अनेक अफ्रीकी और अमरीकी आदिमजातीय भाषाओं के लिए उसे या तो अपना लिया गया है या उनके अनुकूल बना लिया गया है। वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए इण्टर-नेशनल फ़ोनेटिक एसोसियेशन (अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिशास्त्र संस्था) ने एक प्रणाली अपनाई है, जो आई० पी० ए० (इपा) प्रणाली कहलाती है। विभिन्न स्वरूपोंवाली अनेक भाषाओं के सम्बन्ध में इस प्रणाली के प्रयोग से लाभ यह है कि लिखित मूलपाठों के संचार का क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा और फिर चूँकि भारत में प्रचलित लेखन प्रणालियों की अपेक्षा रोमन प्रणाली का स्वरूप शब्दांश रहित (नौन-सिलेबिक) है, इसलिए उससे यह भी लाभ है कि उसके द्वारा थोड़े ही शब्दों में और सरल रूप के भाव व्यक्त हो सकते हैं। जो लोग किसी विश्व भाषा को पढ़ने में कुशलता प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए इसमें एक अतिरिक्त लाभ यह भी है कि समझदारी के साथ इस अन्तर्राष्ट्रीय लिपि के प्रयोग द्वारा वे स्वतः अपने ज्ञान का विस्तार कर सकेंगे। लेखन-प्रणालियों की कार्यक्षमता के विषय में हाल ही में हुई जाँच-पड़ताल से पता चलता है कि रोमन प्रणाली में अधिक सुविधाएँ हैं। यहाँ पर फिर वही प्रश्न उठता है कि लेखन-प्रणाली के चुनाव में उपयोगिता को दृष्टि में रखा जाए या परम्परागत लेखन-प्रणालियों को ही चलने दिया जाए? सम्भव है कि यह समस्या लिपि के चुनाव के प्रश्न को प्रतिकूल प्रभावित करे।

यह तथ्य कि ऐतिहासिक विकासक्रम में अखिल भारतीय लिपि ब्राह्मी के अनेक प्रादेशिक रूप हो गए, सम्भवतः ऊपर से देखने में सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए एक ही लिपि को विकसित करने के सिद्धान्त का विरोधी प्रतीत हो। किन्तु भारतीय दर्शन की मूल भावना बहुत प्राचीन काल से यह रही है कि एक में से अनेक उत्पन्न होते हैं और फिर उसी एक में वे अनेक विलीन हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में समय अवश्य लगता है और इस एक लिपि के विकास में भी कुछ समय अवश्य लगेगा। कुछ समायोजन आवश्यक है। स्थिति को देखते हुए, आरम्भ में सभी लिखित पाठों के लिए एक चुनी हुई लिपि के प्रयोग के लिए विशेष प्रोत्साहन की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, तमिलभाषी कोई व्यक्ति तमिल को तमिल लिपि में ही पढ़ना चाहेगा, ठीक उसी प्रकार, जैसे कि बंगलाभाषी व्यक्ति बंगला को बंगाली लिपि में पढ़ना पसन्द करेगा। किन्तु यदि इनमें से किसी एक को दूसरे का साहित्य पढ़ना है, तो उसे मूलपाठ का देवनागरी रूपान्तर दिया जा सकता है, जिसमें सभी गैर-तमिल और गैर-बंगला भाषी विद्वानों की रुचि होगी। इस उदाहरण में प्रत्येक भाषा से सम्बद्ध परम्परागत लेखन-प्रणाली का स्थान 'एक लिपि' ले लेगी। सभी राज्य-कार्र-वाइयाँ दो लिपियों में प्रकाशित हो सकती हैं—एक तो उसी राज्य में उपयोग के लिए और दूसरी उस राज्य के बाहरवाले लोगों के लिए। एक लिपि के प्रयोग द्वारा प्रत्येक प्रादेशिक भाषा के संचार का विस्तार करने की इस प्रक्रिया में हम उस प्रक्रिया को, जो हमारे संविधान के अनुच्छेद ३५१ में लक्षित है, अपने-आप द्रुत गति से बढ़ने का अवसर प्रदान करेंगे। इस प्रकार अखिल भारतीय स्तर पर इस एक लिपि के अतिरिक्त प्रयोग द्वारा बोल-चाल की अपनी पृथक्-पृथक् आदतों को आपस में मिलाकर और उन्हें नया रूप देकर हम अपनी राष्ट्रीय भाषा के विकास को सुनिश्चित कर सकते हैं। हमारे संविधान में निहित भावना के अनुकूल ऐसी एकता कालान्तर में ही स्थापित हो सकती है। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि लोगों को तीन लेखन-प्रणालियाँ, अर्थात् प्रादेशिक, अखिल भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रणालियाँ पढ़ने में कुशल बनाने के हेतु अभी से आवश्यक प्रयत्न किये जाएँ। विज्ञान और टेक्नोलौजी की आशातीत प्रगति के साथ-साथ हमारी दुनिया दिन-प्रति-दिन छोटी होती जा रही है। संचार का मुख्य साधन भाषण (बोली) है, किन्तु विज़िविल

स्पीच के सामने इसका भी महत्व घटता जा रहा है। मौखिक संचार का स्थान अनिवार्य रूप से विज़ुअल स्पीच लेती जा रही है। इस नये विकास को देखते हुए हमारी लेखन-प्रणालियों में सुधार बहुत आवश्यक हो गया है, क्योंकि ऐसा सुधार विज़िबल स्पीच का प्रथम परिणाम है।

इन आधुनिक विकासों के प्रति सजग हो जाने पर हमारे लिए यह अच्छा होगा कि हम शीघ्रातिशीघ्र ऐसा कौशल प्राप्त करें, जो हमें एकता के सूत्र में बाँध सके और हमारा भावनात्मक एकीकरण कर सकें।

● ●

श्री वी० के० गोकक

हमारे-जैसे विशाल देश के सामने राष्ट्रीय एकीकरण का जो प्रश्न उपस्थित है, उसने लोगों को ऐसे उपायों और साधनों के बारे में सोचने के लिए मजबूर कर दिया है, जिनसे इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। इस सम्बन्ध में अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। उनमें एक सुविधा उन माध्यमों का उपयोग है, जिनकी सहायता से जनसाधारण तक कोई बात पहुँचाई जा सकती है। यदि इस प्रयोजन के लिए पुस्तकों और समाचारपत्रों का भी उपयोग करना है, तो हमारे सामने लिपियों की समस्या उपस्थित हो जाती है।

रविबाबू ने कहा था कि विश्व संकीर्ण घरेलू सीमाओं में बँट गया है। भारतीय साहित्य भी एक समान लिपि के अभाव में अनेक प्रादेशिक साहित्यों में विभाजित हो चुका है। यदि एक समान लिपि होती, तो प्रत्येक राज्य के नागरिक कम-से-कम अपने पड़ोसियों की भाषाओं में लिखी पुस्तकों को समझ सकते। जब हम इस योग्य हो जाएँगे कि भारतीय भाषाओं में लिखी पुस्तकों को पढ़ सकें, तो उनका समझना आसान हो जाएगा। संस्कृत, फ़ारसी और अरबी भाषाओं के अनेक ऐसे शब्द हैं, जो सभी भारतीय भाषाओं में घुल-मिल गए हैं। दक्षिण भारतीय भाषाओं का मूल स्वरूप आपस में एक ही जैसा है और यही बात उत्तर भारतीय भाषाओं के विषय में भी सत्य है। इसलिए इन भाषाओं को अधिक प्रयास के बिना ही सीखा जा सकता है।

जब हम समान लिपि के बारे में सोचते हैं तो स्वाभाविक रूप के हमारा ध्यान रोमन लिपि की ओर चला जाता है। यह लिपि यूरोप के अनेक भागों में प्रचलित है और चीन ने भी इसे अपना लिया है। परन्तु हमारी अपनी लिपियों की तुलना में रोमन लिपि बहुत कम ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) है। यदि हमें ऐसी लिपि अपनाना है, जो भारतीय उद्भव की नहीं है, तो अधिक अच्छा यह होगा कि हम अपनी सभी भाषाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि का प्रयोग करें। उस सूरत में हमें कम-से-कम यह सन्तोष तो रहेगा कि हम एक ऐसी लिपि के पक्ष में अपनी लिपियों का त्याग करेंगे, जो अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। यदि एकरूपता के लिए हमें अपनी भावनाओं का त्याग करना ही है, तो हम कम-से-कम इस बात का ध्यान रख सकते हैं कि हम जो लिपि अपनाने जा रहे हैं, वह निश्चित और ठीक-ठीक अर्थ व्यक्त करनेवाली है।

वस्तुत: अन्य विकल्पों की अपेक्षा हमारे लिए देवनागरी लिपि में कई लाभ हैं। आमतौर पर संस्कृत भाषा और साहित्य के सभी विद्यार्थी इससे परिचित होते हैं। यह रोमन लिपि की अपेक्षा अधिक ध्वन्यात्मक है। अंग्रेज़ी भाषा से हमने जो नई ध्वनियाँ ग्रहण की हैं, (जैसे आक्सफोर्ड में 'ओ' और हैट में 'ऐ',) उन्हें व्यक्त लरने के लिए कुछ थोड़े से नये संकेत बनाने पड़ेंगे। हम इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि के संकेतों की सहायता से लिख सकते हैं या फिर अपने नये संकेत बना सकते हैं। इस प्रकार कुछ नये संकेतों को जोड़कर यह लिपि हमारी सभी भाषाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है।

इस विषय में समान लिपि से जो बड़ा लाभ होता है, उसका अनुमान साहित्य अकादेमी के 'भारतीय कविता' जैसे प्रकाशन से लगाया जा सकता है। साहित्य अकादेमी ने इस ग्रन्थ के द्वारा एक अनोखे प्रयोग का श्रीगणेश किया है। मूल कविताएँ देवनागरी में दी गई और सामनेवाले पृष्ठ पर इन कविताओं के देवनागरी लिपि में हिन्दी अनुवाद छपे हैं। कोई भी व्यक्ति, जो देवनागरी लिपि जानता

है, वह उस ग्रन्थ में असमिया या मलयालम की कविताएँ मूलरूप में पढ़ सकता है। इन विभिन्न भाषाओं में कविताओं के पढ़ने पर हमको यह देखकर आश्चर्य होता है कि इन कविताओं में काफी अधिक संख्या में संस्कृत के ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनसे हम पहले ही से परिचित हैं।

यदि हमें देवनागरी को अपनी सभी भाषाओं के लिए समान लिपि के रूप में अपनाना है, तो हमें यह सोचना होगा कि उसमें यह सुधार किस प्रकार किया जाए। आरम्भ में इसे सर्वोच्च स्तर पर लागू करना सहायक सिद्ध होगा। इन सभी भाषाओं में निकलनेवाले भारत सरकार के प्रकाशन देवनागरी में प्रकाशित किये जा सकते हैं। राज्यों में होनेवाली प्रतियोगिता-परीक्षाओं और अखिल भारतीय प्रतियोगिता-परीक्षाओं के लिए भी विभिन्न भाषाओं की मान्य लिपि देवनागरी हो सकती है। साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट तथा अन्य संस्थाओं के ऐसे प्रकाशन भी, जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में निकलते हैं, देवनागरी में छपने चाहिए।

इस दिशा में निचले स्तर से ऊपर की ओर काम एक दूसरे ढंग से आरम्भ किया जा सकता है। सभी राज्यों में सभी प्रयोजनों के लिए तत्काल देवनागरी को लागू करने की बजाय एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती आधुनिक भारतीय भाषाओं की लिपियों के परस्पर विलयन के लिए प्रयत्न किया जा सकता है। कर्नाटक साहित्य अकादेमी ने १९५७ में तेलुगु और कन्नड़ लिपियों के परस्पर विलयन के लिए उपायों और साधनों की खोज करने के लिए एक प्रस्ताव स्वीकार किया था। यह इसलिए किया गया था कि १९५७ में हुए कर्नाटक साहित्य सम्मेलन के सभापति को इसके लिए प्रोत्साहन श्री विनोबा भावे से प्राप्त हुआ था। आन्ध्र प्रदेश की सरकार ने इस लिपि सुधार के प्रश्न को उस भाषा समिति को विचारार्थ सौंप दिया, जो उसने नियुक्त की थी। इस प्रश्न पर अभी विचार हो रहा है और यदि दोनों राज्यों की सरकारें इसका समर्थन करें, तो इसका अन्तिम निर्णय हो सकता है। इसी प्रकार के विलयन की बात असमिता, बंगाली, हिन्दी और पंजाबी-जैसी लिपियों के बारे में भी सोची जा सकती है। इनमें से कुछ लिपियों के सम्बन्ध में बहुत विचार-विमर्श हो चुका है और स्थिति यह आ पहुँची है कि आज हमारे बीच इन लिपियों के बारे में भावनाएँ बहुत उत्तेजित हो गई हैं। परन्तु यदि समझदारी से सोचा-विचारा जाए, तो हम निश्चय ही इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि सहयोगी लिपियों के इस प्रकार विलयन से सचमुच राष्ट्र को लाभ पहुँचेगा। अधिक माँग होने से टाइपराइटर और मुद्रण यन्त्र अपेक्षाकृत बहुत कम मूल्य पर मिल सकते हैं। राज्यों की जनता के बीच अधिक निकटतर सम्पर्क स्थापित हो सकते हैं।

यह आशा की जाती है कि इस बीच में देवनागरी का विकास होगा और वह सारे देश के लोगों को स्वीकार्य हो सकेगी। इस प्रकार धीरे-धीरे वह प्रत्येक आधुनिक भारतीय भाषा के लिए सभी स्तरों पर व्यवहार के लिए अपना ली जाएगी।

● ●

डॉ० वे० राघवन्

प्रारम्भिक जैन धर्म सूत्रों में अठारह लिपियों तथा महावस्तु और ललितविस्तार नामक दो बौद्ध रचनाओं में क्रमशः तीस और चौंसठ लिपियों का उल्लेख हुआ है। उनमें से कुछ लिपियाँ (जिनमें से अधिकांश के नाम भारतीय हैं) स्पष्टतः पहचानी जा सकती हैं। मोहनजोदड़ो और हरप्पा में उपलब्ध लिखित प्रतीक सर्वाधिक प्राचीन हैं। वेदों में लिखित लिपि के अस्तित्व के विषय में विद्वानों में मतभेद है। ईसा के दो हजार वर्ष पूर्व के मोहनजोदड़ो के उन लेखों के अतिरिक्त (जो कि अभी तक पढ़े नहीं जा सके) ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के सिक्कों तथा बाद के के अशोककालीन शिलालेखों में उपलब्ध लिपि हमारी प्राचीनतम लिपि है।

अशोक के शिलालेखों में दो प्रकार की लिपियों का व्यवहार हुआ है। उत्तर-पश्चिम में मिलनेवाले शिलालेख खरोष्ठी लिपि में, जो दायें-से-बायें लिखी जाती है और शेष शिलालेख ब्राह्मी लिपि में, जो बायें-से-दायें लिखी जाती

हैं, उत्कीर्ण हैं। ब्राह्मी यद्यपि भारतीय नाम है, तथापि अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि इस लिपि को विदेशी व्यापारियों की नार्थ सेमेटिक लिपि से लिया गया है। फिर भी जिस रूप में यह अशोक के शिलालेखों में उपलब्ध होती है, उससे स्पष्ट पता चलता है कि यह लिपि भारत में बहुत काल से अपनाई जा रही थी, उसमें परिवर्तन किये जा चुके थे और उसका विकास भी किया गया था। इतना ही नहीं, उसके विकास में जिन लोगों का हाथ था, वे संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् तथा ध्वनि-शास्त्र के पंडित थे, जिस कारण अशोक के काल तक यह लिपि विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि बन गई थी।

यह ब्राह्मी लिपि बाद में सारे भारतवर्ष में प्रयुक्त होने लगी और समय के प्रवाह के साथ-साथ लिपिकारों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न स्थानों में उसमें भिन्न-भिन्न प्रदेशीय गुणों का समावेश हो गया। इसकी दक्षिण भारत की शाखा द्राविड़ी में सबसे अधिक परिवर्तन हुए। दक्षिण भारत का भट्टिप्रोलू का ईसा से दो सौ वर्ष पुराना उत्कीर्ण लेख प्राचीनतम है। ब्राह्मी की उत्तर भारत की शैली से गुप्त, शारदा, प्राचीन बंगला आदि लिपियों का विकास हुआ। देवनागरी लिपि का पहला शिलालेख ७५४ ईसवी का है।

प्राचीन तमिल साहित्य में कन्नेलुत्तू का उल्लेख मिलता है, जिसकी प्रकृति का अब पता लगाना कठिन है। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के शिलालेखों तथा पाण्डुलिपियों में बट्टेलुत्तू, ग्रन्थ और तमिल, इन तीन लिपियों का उपयोग मिलता है। प्राचीनतम बट्टेलुत्तू, जिसका अर्थ है टेढ़ी लाइनों से बनी हुई आकृति, ईसा की सातवीं शताब्दी में लिखी गई मिलती है और जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, इससे पहले के अभिलेख दक्षिण प्रदेश की ब्राह्मी लिपि में हैं। बट्टेलुत्तू लिपि भी, जो दक्षिण भारत के दक्षिण पश्चिमी अंचल तक सीमित थी, उत्तर भारतीय लिपि से ही निकली थी। ग्रन्थ लिपि, जो ब्राह्मी से निकली थी, पल्लव-वंशी नरेशों द्वारा खूब प्रचारित की गई और वह अब भी तमिल क्षेत्रों में संस्कृत के लिखने में काम में लाई जाती है। चोळ काल में बहुप्रचारित तमिल लिपि का उद्गम भी इसीसे हुआ है और तमिल तथा ग्रन्थ लिपियों में कुछ अक्षर तो बिलकुल समान हैं, जबकि कुछ अक्षरों में थोड़ा-सा अन्तर है। मलयालम के बारे में भी यही कहा जा सकता है, और बाहरी रूपरेखा को देखने पर ग्रन्थ, तमिल और मलयालम एक ही प्रकार की लिपियाँ प्रतीत होती हैं। तात्पर्य यह है कि उनको एकरूप बनाना आसान है। कन्नड़ और तेलुगु, ये दोनों लिपियाँ एक-दूसरे के काफी निकट हैं और अब साहित्यकार ऐसा प्रयास कर रहे हैं कि दोनों लिपियों में एकरूपता ला दी जाए। ये दोनों लिपियाँ यद्यपि ग्रन्थ आदि पूर्वोक्त लिपित्रय से भिन्न प्रतीत हो सकती हैं, तथापि यदि उनमें प्रयुक्त होनेवाले सिरे के कुछ चिन्हों को हटा दिया जाए, तो कन्नड़ और तेलुगु का ग्रन्थ, तमिल और मलयालम लिपियों से अभेद स्पष्ट हो जाएगा।

देवनागरी का इतिहास क्या है? अन्य लिपियों की तरह देवनागरी ने भी उत्तर भारत में अपने स्वरूप को बदल दिया, परन्तु यदि हम विभिन्न लिपियों में प्रयुक्त होनेवाली शीर्ष रेखा तथा तरह-तरह के सिर की लहरियों आदि की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर ध्यान न दें, तो संस्कृत से विकसित भाषाओं की लिपियों की एकरूपता को हम स्पष्ट रूप में देख सकते हैं। दक्षिण में, जैसाकि रामायण के प्राचीनतम ज्ञात टीकाकार उदली-वरद राज ने रामायण की पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में कहा है, चोळ-काल में संस्कृत के विद्वान् नागरी लिपि की किसी रचना से परिचित नहीं थे। विजयनगर काल में शिलालेखों के द्वारा नागरी का काफी प्रसार हुआ, परन्तु जब स्कूल और कॉलेज खोले जाने लगे और मुद्रणालयों में संस्कृत ग्रन्थों का मुद्रण होने लगा, तो देवनागरी लिपि धीरे-धीरे संस्कृत लिखने के लिए निश्चित लिपि बन गई। स्कूल के अतिरिक्त संस्कृत का जितना भी विशेषाध्ययन प्रस्तुत लेखक ने घर पर किया, वह ग्रन्थ लिपि के माध्यम से ही किया और अब भी संस्कृत की पुस्तकों का पठन-पाठन तथा मुद्रण ग्रन्थ लिपि में तमिलनाड में, तथा मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु लिपियों में अपने-अपने क्षेत्रों में होता है।

जैसाकि हमने संस्कृत आयोग की रिपोर्ट में संकेत किया है, संस्कृत भाषा के लिए क्षेत्रीय लिपियों का प्रयोग करने से संस्कृत भाषा और मातृभाषा की दूरी कम हो

जाती है और संस्कृत को अपनी शिक्षा का अभिन्न अंग बनाने की दिशा में उसका बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। इसीलिए क्षेत्रीय लिपियों में संस्कृत ग्रन्थों के मुद्रण का क्रम जारी रखना चाहिए। सभी प्रदेशीय भाषाएँ संस्कृत की ध्वनियों को बिना किसी कठिनाई के प्रकट कर सकती हैं। यहाँ तक कि तीन द्राविड़ी भाषाओं—तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम ने अपनी ध्वनियों का संस्कृतीकरण कर लिया है, केवल कुछ विचित्र द्राविड़ ध्वनियाँ उनमें अभी शेष हैं। केवल तमिल के लिए ही, संस्कृत पुस्तकों का ग्रन्थ लिपि में मुद्रण हुआ है। हाल ही में संस्कृत सामग्री का तमिल लिपि में मुद्रण करने का कार्य प्रारम्भ हुआ है, किन्तु उसमें संस्कृत व्यंजनों के वर्गों के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों को प्रकट करने के लिए क्रमशः २, ३ और ४ अरबी अंकों को जोड़ दिया गया है। जब से तमिल लिपि का मुद्रण प्रारम्भ हुआ तभी से संस्कृत के 'क्ष', 'ज', 'स' और 'ह' के लिए तमिल ने ग्रन्थ लिपि के अक्षरों को अपना लिया, यहाँ तक कि समाचार-पत्रों, पुस्तकों और विज्ञापनों में भी ग्रन्थ लिपि के इन अक्षरों का प्रयोग होता रहा। अभी, जब कि ग्रन्थ लिपि के इन अक्षरों का प्रयोग बन्द नहीं हुआ है, भाषा की विशुद्धता का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया है और आन्दोलन-कारियों की इच्छा है कि ये अतिरिक्त ग्रन्थ अक्षर निकाल फेंके जाएँ। लेखक ने स्वयं भी ग्रन्थ लिपि के इन चार अक्षरों और २, ३ और ४ के अंकों की सहायता से तमिल और ग्रन्थ लिपियों में संस्कृत की सामग्री के प्रकाशन-कार्य में भाग लिया है, परन्तु इस कार्य के पीछे यही लक्ष्य रहा है कि संस्कृत की सामग्री उन लोगों में भी लोकप्रिय बन जाए जो देवनागरी या ग्रन्थ लिपि नहीं पढ़ सकते। अभी हाल में, लेखक द्वारा मद्रास म्यूज़िक एकेडमी के लिए तमिल लिपि में मुद्रित ग्रन्थ 'संगीत सम्प्रदाय प्रदर्शनी' प्रकाशित किया गया है जो केन्द्रीय संगीत नाटक अकादेमी के संयोजकत्व में निकला है। परन्तु विख्यात संस्कृत सामग्री को नयी टीका के साथ प्रथम बार किसी प्रादेशिक लिपि में प्रकाशित करने से एक महती हानि यह होती है कि उस स्थानीय लिपि को न जाननेवाला देश का एक बहुत बड़ा समुदाय उस बहुमूल्य सामग्री से अपरिचित रह जाता है। संस्कृत के उच्चकोटि के अनेकों विद्वान् लेखक और बहुत-सी उत्तम कविताएँ, नाटक एवं दार्शनिक और धार्मिक रचनाएँ केवल इसलिए उनके अपने क्षेत्र से बाहर के लोगों को अज्ञात हैं, क्योंकि वे केवल क्षेत्रीय लिपियों में ही मुद्रित हुई हैं। केन्द्रीय संस्कृत-मण्डल ने लेखक के इस सुझाव को मान लिया है कि संस्कृत की कुछ प्रमुख रचनाएँ जो ग्रन्थ और तमिल-जैसी क्षेत्रीय लिपियों में ही छपी हैं, नागरी लिपि में भी पुनर्मुद्रित की जाएँ। दक्षिण भारत के शैव और वैष्णव दर्शन का ज्ञान इसलिए भी पूरी तरह नहीं हो पाता है कि उसके आगम, निबन्ध और शास्त्रों का एक बहुत बड़ा भाग केवल ग्रन्थ और तमिल लिपियों में ही छपा है।

अरबी-फारसी लिपि के प्रचार के कारण उत्तर भारत के कुछ भागों में संस्कृत उच्चारण भ्रष्ट हो गया है।

पारस्परिक ज्ञान और एकता के लिए सम्पर्क का एक सामान्य माध्यम आवश्यक होता है। अगर उत्तर भारत के जन-समुदाय तक दक्षिण भारत के साहित्य का ज्ञान अधिक मात्रा में फैलाना है, तो उसके लिए एक ऐसी सामान्य लिपि को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है, जो प्राथमिक बाधाओं को तोड़ दे और विभिन्न क्षेत्रों को मिलाने के लिए एक प्रभावी पुल का कार्य कर सके। इस विषय में लेखक एक महान् कार्य की ओर संकेत करना चाहता है, जिससे वह स्वयं भी सम्बद्ध था; वह है कर्नाटक के महान् पद्य-रचयिता सन्त त्यागराज की तेलुगु की गेय रचनाओं को देवनागरी लिपि में अखिल भारतीय पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना। इस प्रकार के कार्यों की भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध-परिषद् द्वारा उदारतापूर्वक मदद की जानी चाहिए। वास्तविक सहायता के अभाव में एकीकरण की समस्या के विषय पर की जानेवाली गोष्ठियों-मात्र से कुछ नहीं हो सकता। एक इसी प्रकार का प्रयत्न लेखक द्वारा मद्रास में होनेवाले द्वितीय अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन में किया गया था। जब उसने कुछ अन्य मित्रों के साथ संगम काल से आधुनिक काल तक की तमिल कविता के एक संग्रह को अंग्रेजी अनुवाद के साथ नागरी लिपि में प्रकाशित करवाया था। इस बात को नहीं भूल जाना चाहिए कि रोसेटा स्टोन या प्राचीन भारतीय सिक्के आदि पुरातन लिखित

सामग्रियों की द्विभाषिता अथवा बहुभाषिता के कारण ही प्राचीन लिपियों का पठन और महान् ऐतिहासिक महत्व के अन्वेषण सम्भव हो सके थे।

क्षेत्रीय रचनाओं को देवनागरी लिपि में मुद्रित करने से केवल इतना ही लाभ नहीं होता कि अन्य भाषाओं को पढ़ने के मार्ग में आनेवाली प्राथमिक बाधाएँ दूर हो जाएँगी, अपितु इससे अर्थ समझने में भी निश्चित रूप से सहायता मिलेगी। सभी लेखक, फिर चाहे वे किसी भी सीमित क्षेत्र के रहनेवाले और किसी भी क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करनेवाले क्यों न हों, सम्पूर्ण भारतवर्ष में समझी जा सकनेवाली संस्कृत भाषा की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। क्षेत्रीय रचनाओं को नागरी लिपि में मुद्रित करके प्रकाशित करने पर पहले क्षेत्रीय लिपि के आवरण में छिपा रहनेवाला कुछ-न-कुछ ऐसा अंश प्रकाश में आ जाता है, जिसका अधिकांश भाग पहले से ही परिचित होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की बंगला रचनाओं के विषय में लेखक को कुछ आश्चर्यजनक अनुभव हुए हैं। प्रायः दो वर्ष पूर्व तक लेखक ने उनके अंग्रेजी भाषण और उनकी रचनाओं के अंग्रेजी अनुवादों को ही पढ़ा था। परन्तु जब से साहित्य अकादेमी ने कवि की रचनाओं के देवनागरी संस्करण निकालने प्रारम्भ किये तब से लेखक की कवि और उसकी अभिव्यक्ति के प्राथमिक माध्यम तक सीधी पहुँच हो सकी है और संस्कृत तद्भव और तत्सम शब्दों के विशाल भण्डार के उन रचनाओं में बिखरे हुए होने से तथा बंगला की विभक्तियों तथा वाक्य-रचना की साधारण-सी बाह्य मदद से लेखक कवि की मौलिक प्रतिभा का साक्षात् रसास्वादन कर सका तथा 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'नटीर पूजा' का मूल रचना से सीधा अनुवाद करने का सौभाग्य प्राप्त कर सका।

अखिल भारतीय उपयोग के लिए देवनागरी लिपि के प्रयोग का समर्थन लगातार होता रहा है। यद्यपि हाल के मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन में इस सिद्धान्त के स्वीकृत किये जाने के परिणामस्वरूप अब इस प्रश्न ने काफी जोर पकड़ लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश की सभी उपयोगी योजनाएँ किन्हीं विचित्र प्रवृत्तियों के द्वारा अस्त-व्यस्त कर दी जाती हैं। पहले समस्याओं पर विचार-विमर्श करते समय लोग बहुधा उत्साह में आकर सार्वजनिक रूप से किसी बात को स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु बाद में सोच-विचार करने के बाद लोग सार्वजनिक रूप से निष्क्रिय उपेक्षा दिखाने या व्यक्तिगत रूप से सक्रिय विरोध भी करने लगते हैं। फिर एक तीसरे प्रकार के लोग सामने आते हैं, जो परिपूर्णता का समर्थन करते हैं और फिर असाध्य और दुःसाध्य परिपूर्ण या सर्वोत्तम हमेशा सहज व्यावहारिक उत्तम के आड़े आ जाता है। इस पिछले वर्ग में वे लोग हैं जो भारतीय लिपियों के पचड़े को दूर हटाकर रोमन लिपि को अपनाना चाहते हैं। जोश में आकर वे यहाँ तक कह बैठते हैं कि विदेशी लिपि को ही क्यों न स्वीकार किया जाए, आखिर ब्राह्मी लिपि का उद्गम भी तो अभारतीय ही है। इन लोगों को ऐसे साथी भी मिल जाते हैं, जो देशी चीजों को पसन्द नहीं करते और हमेशा चुनाव में एक बिलकुल विदेशी चीज को ही ज्यादा पसन्द करते हैं। वे उन पुराने भारतीय शासकों या कूटनीतिज्ञों सरीखे हैं जो आपसी भेद-भाव के कारण अपने ऊपर शासन के लिए विदेशी ताकतों को बुला लाए थे।

इन सबके अतिरिक्त नागरी की अपेक्षा रोमन लिपि को अपनाने से होनेवाली हानियों के बारे में भी भावुकता के बिना और वैज्ञानिक रीति से विचार किया जा सकता है। भारतवर्ष में हम लोगों के द्वारा रोमन लिपि अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ी गई है और चूंकि भारत में अंग्रेजी की साक्षरता न्यूनतम है और उसका अध्ययन स्वल्प है, इसलिए रोमन का ज्ञान भी धीरे-धीरे समाप्ति की ओर ही जा रहा है। अंग्रेजी के माध्यम से जिस रोमन का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह ध्वन्यनुकूल नहीं है इसलिए वह भारतीय भाषाओं की ध्वनि को व्यक्त नहीं कर सकती। अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य अध्ययन ने रोमन लिप्यन्तर की एक प्रणाली निश्चित की है, परन्तु उसमें ध्वनिभेद प्रदर्शनार्थ प्रयुक्त होनेवाले चिह्नों की इतनी भरमार है कि उससे कठिनाइयों में वृद्धि ही होगी। अगर ऐसी रोमन लिपि का ही प्रयोग करना है, तो यह तो एक पूर्णरूपेण नवीन लिपि ही है।

फिर भी लिपि के विषय में लेखक हठधर्मी नहीं है। वह तो एक लिपि और देवनागरी लिपि का समर्थक है,

जिसके विषय में आधुनिक भाषाशास्त्र के अध्ययन की नींव रखनेवाले सर विलियम जोन्स ने कहा था कि यह किसी भी अन्य लिपि से अधिक स्वाभाविक रूप से व्यवस्थित लिपि है। परन्तु यह लिपि बलपूर्वक लादी नहीं जानी चाहिए। साथ-ही-साथ क्षेत्रीय लिपियों के प्रेमियों को भी देवनागरी के प्रति सशंकित नहीं होना चाहिए और न ऐसा सोचना चाहिए कि उसके कारण उनकी क्षेत्रीय लिपियों के अस्तित्व को कोई खतरा है। उन्हें अपनी स्थानीय लिपि के क्षेत्र के बाहर के लिए ही देवनागरी का प्रयोग करने की आवश्यकता है अन्यथा किसी को भी अनुवाद के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं के मूल ग्रन्थों के अवलोकन का अवसर ही नहीं मिलेगा। क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य के लिए अथवा क्षेत्रीय उपयोग के संस्कृत ग्रन्थों के लिए तो क्षेत्रीय लिपि प्रयोग में लाई जाएगी, परन्तु अखिल भारतीय स्तर के उपयोग, और परस्पर एक-दूसरे को समझने और आँकने के लिए देवनागरी लिपि का उपयोग किया जाएगा। साथ-ही-साथ शिक्षा और अनुसन्धान के कार्यों के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग के हेतु स्वरभेद के चिह्नों से युक्त रोमन लिपि का उपयोग किया जा सकेगा।

● ●

एन० बी० कृष्ण वारियर

भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि के साधारण-से प्रश्न को अकारण ही जटिल बनाया जा रहा है। उत्तर भारत की सभी प्रमुख भाषाएँ तो संस्कृत से आई ही हैं, दक्षिण की भिन्न परिवार की भाषाओं ने भी संस्कृत से बहुत से शब्द लिये हैं। तमिल में भी जो इस परिवार की सबसे ज्यादा पुरानी और परिष्कृत भाषा है, संस्कृत शब्द बहुत हैं। फिर प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की वर्णमाला भी वही है। लिपि इस वर्णमाला के ही प्रतीक चिह्नों का समुच्चय होती है, अतः किसी भी लिपि को इन भाषाओं के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। वर्णमाला एक होने से भाषाओं के संस्कृत और द्रविड़ परिवार-वाले भेद भी लुप्त हो जाते हैं। किसी समय इन सभी के लिए एक ब्राह्मी लिपि प्रयुक्त होती थी, यह भी याद रखना चाहिए। यह सिद्ध किया जा चुका है कि आज के भारत में बाईं से दाईं ओर लिखी जानेवाली सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं। तमिल के भी ब्राह्मी में लिखे शिला-लेख प्राप्त हुए हैं और सबसे पुराने तमिल व्याकरण 'तोलकाप्पियम्' में यह दर्शानेवाले पद हैं कि तमिल ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी।

हमारी आज की लिपि-समस्या विदेशी प्रचारकों ने खड़ी की है, जो मुद्रण को भी भारत में लाये थे। यह ठीक है कि इससे उन्होंने भारत की भाषाओं की बड़ी सेवा ही की थी। फिर भी यह सच है कि भारत महादेश में राष्ट्रीय एकता की सिद्धि के लिए कोई सार्वजनीन लिपि प्रचलित करने का उनका कोई विचार न था। दूसरे वे एक क्षेत्र में ज्यादा-से-ज्यादा लोगों तक अपना सन्देश पहुँचाना चाहते थे। इसके लिए क्षेत्र-विशेष में प्रचलित लिपियों को ही उन्होंने चुना और टाइप ढालने में उन्होंने इस प्रकार उन सभी स्थानीय लेखन-शैलियों को स्थायी रूप दे दिया। इसलिए इन लिपियों के विधाता अठारहवीं सदी के ये मुद्रण-यन्त्रों के प्रयोक्ता ही हैं।

लिपि का संस्कृति से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं। वह भाषा के साथ आबद्ध होती है और लिपि उसकी बाह्य सज्जा-मात्र होती है। भाषा को बिना क्षति पहुँचाए और कभी-कभी उसे विशेष लाभ पहुँचाने की दृष्टि से लिपि को कभी भी बदला जा सकता है। यह बात हमारी भाषाओं के इतिहास से भी सिद्ध हो जाएगी और इस पहलू पर जोर देना जरूरी भी है, जिससे इस बारे में समग्र पूर्वग्रहों से बचा जा सके। भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि का होना बड़ी ही व्यावहारिक बात है। इससे हमारी भाषाएँ निकटतर आएँगी और इन भाषाओं में अनुदिन पल्लवित होनेवाला साहित्य सभी भारतीयों की सार्वजनिक सम्पत्ति बन जाएगा। भाषा के अवरोध को दूर करते ही सब भाषाओं में समान संस्कृत शब्दावली आपसी समझदारी बढ़ाने में बड़ा योग देगी। एक सामान्यतः पढ़ा भारतीय तब दूसरी भाषाओं में लिखी चीजें भी आसानी

से पढ़-समझ सकेगा। अपने परिवार की भाषा में तो यह सरलता होगी ही, थोड़ा प्रयत्न करके दूसरे परिवार की भाषा भी उसके लिए बोधगम्य हो जाएगी। और वास्तविक और स्थायी भावगत एकता के लिए यही एकमात्र रास्ता है।

इस प्रकार एक समान लिपि को चालू करना सम्भव भी है और लाभप्रद भी। इसके लिए देश के अधिकतम भाग में प्रयोग में आनेवाली किसी चालू लिपि को ही चुनना ज्यादा अच्छा होगा। इस दिशा में देवनागरी के दावे से कोई इनकार नहीं कर सकता। यह लिपि भारत में सबसे ज्यादा समझी जाती है। हिन्दी, मराठी और संस्कृत तीन भाषाएँ इस लिपि में लिखी जाती हैं। बंगला, पंजाबी (गुरुमुखी) और गुजराती की लिपियाँ भी इससे मिलती-जुलती हैं। देवनागरी को टाइपराइटर और मुद्रण मशीनों पर आसानी से प्रयुक्त किया जा सकता है। द्राविड़ परिवार की भाषाओं में प्रचलित सात-आठ ध्वनि-तत्वों के लिए कुछ नये प्रतीक अवश्य तय करने होंगे और यह आसानी से किया जा सकता है।

हिन्दी को राजभाषा का स्थान देने के विरोधियों में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य काफी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने मुख्य-मन्त्रियों के देवनागरी को समान लिपि के रूप में मंजूर करने के इस सुझाव को बेवकूफी का सुझाव बताया है। फिर भी, अभी एक महीने पहले ही मलयालम कवि श्री जी० शंकर कुरुप के सम्मान में मद्रास में आयोजित एक बैठक में उन्होंने चारों द्रविड़ भाषाओं के लिए एक समान लिपि का जोरदार समर्थन किया था। उस समय उन्होंने यह तक कहा था कि मलयालम लिपि को दक्षिण भारत की समान लिपि बनाया जाए, तो वह उसका भी समर्थन करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि राजाजी समान लिपि के सुझाव को बेवकूफी का सुझाव नहीं समझते। उनका विरोध तो एक उत्तर भारतीय लिपि के इस प्रकार अपनाए जाने से है। उनके विचार से तमिल का नागरीकरण सम्भव नहीं है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि "तमिल गौरव ग्रन्थों को उनके सौन्दर्य और अनुभूति को क्षति पहुँचाए बिना देवनागरी में नहीं लिखा जा सकता··· मैं नहीं समझता कि यदि कोई आधुनिक तमिल-लेखक देवनागरी में लिखने लगे, तो उसका दिमाग काम कर सकेगा।" यह सब भावुक प्रलाप है, जो उनके-जैसे विद्वान् के लिए अशोभनीय है। जैसा मैं बता चुका हूँ कि वर्तमान तमिल लिपि से बिलकुल भिन्न लिपि में तमिल गौरव-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और तमिल के महान् लेखकों ने उस लिपि का प्रयोग किया है। तमिल-जैसी अपरिवर्तनीय भाषा ने भी कई लिपियों के परिवर्तन से लाभ उठाया है। फिर यह भी ध्यान में रखना होगा कि तमिल दक्षिण की चार भाषाओं में से एक ही है। और बाकी तीनों भाषाओं के क्षेत्रों में देवनागरी लिपि को समान लिपि बनाने का कोई विरोध नहीं किया गया है।

राजाजी ने कहा है, जो ठीक भी है, कि देवनागरी सारे देश में संस्कृत की भी लिपि नहीं रही। हमारे पूर्वज भूसी और चावल का भेद समझते थे। वे मानते थे कि मुख्य वस्तु भाषा है और लिपि बाह्य आवरण, जिसे सुविधानुसार बदला जा सकता है। इसलिए संस्कृत के लिए भी स्थानीय लिपियों का प्रयोग किया गया। तमिल-नाड में तमिल लिपि संस्कृत ध्वनियों के लिए प्रयुक्त न हो सकी थी, अतः एक नई ग्रन्थ लिपि को इसके लिए प्रयुक्त किया गया। परन्तु अब स्थिति बदल गई है और जैसा राजाजी ने भी कहा है कि विश्वविद्यालयों और बम्बई के प्रकाशकों के कारण नागरी संस्कृत के लिए सार्वजनीन लिपि बन गई है। अब तमिलनाड में भी ग्रन्थ लिपि में संस्कृत पुस्तकें नहीं छापी जातीं। इससे सिद्ध होता है कि मुद्रण-टैकनोलौजी भी लिपियों की विविधता के स्थान पर एकरूपता के पक्ष में है। इससे यह भी स्पष्ट है कि संस्कृत के बारे में जो बात लाभप्रद सिद्ध हुई, वह दूसरी भारतीय भाषाओं के लिए भी अन्यथा नहीं हो सकती। भारत की कोई भी भाषा चाहे वह संस्कृत परिवार की हो या द्रविड़ परिवार की आसानी से विद्यमान लिपि के स्थान पर देव-नागरी लिपि को अपना सकती है, जैसा हाल में संस्कृत के लिए किया गया है।

यह कहा जाता है कि ऊपर-नीचे कुछ चिह्न लगाकर रोमन लिपि को भारतीय भाषाओं के लिए प्रयुक्त किया जाए, किन्तु इन चिह्नों से रोमन लिपि इतनी जटिल हो जाएगी कि उसके ये सारे गुण लुप्त हो जाएँगे, जिनके

आधार पर उसका समर्थन किया जाता है। इस भारतीय-कृत रोमन का उच्चारण इतना भिन्न होगा कि उससे भारत में अंग्रेजी के पढ़ने में भी दिक्कत होगी।

यदि देवनागरी को अपनाने का निश्चय किया जाए, तो संक्रमण-काल को क्रमिक बनाने के लिए कुछ व्यवस्था की जा सकती है। शुरू में उसे केवल उत्तर की सभी भाषाओं के लिए चालू किया जाए और ये भाषाएँ कुछ समय तक अपनी लिपियों का भी प्रयोग करती रहें। दो लिपियों का प्रयोग अजीब बात नहीं है। जर्मन-जैसी समृद्ध भाषा भी अभी हाल तक गोथिक और रोमन दो लिपियों का प्रयोग करती रही थी। ज्यादातर साहित्यिक कृतियाँ गोथिक में छपती थीं और वैज्ञानिक कृतियाँ रोमन में। इससे उन्हें कोई कठिनाई भी नहीं हुई। ऐसी व्यवस्था भारतीय भाषाओं के लिए भी असम्भव नहीं है। दो लिपियाँ दस बारह वर्ष चलती रहें और फिर अन्तिम परिवर्तन कर दिया जाए।

इस तरह समान लिपि की समस्या बड़ी सरल है, पर पूर्वग्रह उसे जटिल बना देते हैं। इन मामलों में लोग अपरिवर्तनवादी होते हैं और उन्हें कुछ संशय या भय भी रहते हैं। हाँ, यह भी बड़े अचम्भे की बात है कि देवनागरी को ज्यादा वैज्ञानिक बनाने के लिए और उसमें बाकी भारतीय भाषाओं के ध्वनि-तत्वों के प्रतीक जोड़ने के लिए जो प्रयत्न हुए, उनका भी विरोध किया गया। दाक्षिणात्य इस पर भी बड़े हतोत्साहित हुए कि उत्तरवालों ने देवनागरी में अरबीवाले अंकों को शामिल करने का विरोध किया। इससे देवनागरी के विरोधियों को ही बल मिलता है। पूर्वग्रह बड़ी मुश्किल से मिटते हैं और हमारे-जैसे प्रजातन्त्र की सरकार के लिए कुछ जबर्दस्ती करना भी असम्भव है। उस झोंक में लोग बुद्धि और तर्क को तिलांजली दे देते हैं और उदात्त सिद्धान्तों की आड़ में घृणा को पल्लवित किया जाने लगता है; फिर इन सिद्धान्तों के लिए लोग बलिदान तक देने पर उतारू हो जाते हैं।

●

●

कृपानाथ मिश्र

पशुओं, पक्षियों, नृत्य और संगीत की भाषा के लिए कोई दृश्य-प्रतीक आवश्यक नहीं होते। अंग्रेजी बिल्ली भारतीय बिल्ली को मित्र बना सकती है और अल्सेशियन कुत्ते का चुनाव उसके भोंकने की आवाज से नहीं होता। कथकली नृत्य हो या मणीपुरी, दोनों के अंग-विन्यास को सर्वत्र समझा और पसन्द किया जा सकता है। भाषा के प्रसंग में अवश्य ये कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं, विशेषत: भाषा के लिखित प्रतीकों को लेक । पहले भाषाएँ विकसित हुईं और फिर लिपियाँ, और लिपियों ने भाषा की दूरियाँ और बढ़ा दीं। आज भारत में एकता के प्रश्न—खासकर भावगत एकता के प्रश्न के समाधान के लिए यह जरूरी है कि भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि को प्रयोग में लाया जाए।

जून, १९५९ में लन्दन की अन्ध संस्था के पत्र में श्री हुमायून् कबिर ने, जो उस समय शिक्षा मन्त्रालय में संयुक्त सचिव थे, लिखा था कि पूरी दुनिया में ब्रेल-कोड एक-जैसा ही होना चाहिए और यदि लिपियों के भेद के कारण एक कोड बनाने में दिक्कत है, तो एक रोमन लिपियों पर आधारित होना चाहिए और दूसरा एशिया-अफ्रीका के लिए। इसका आधार एकरूप भारतीय ब्रेल-कोड हो सकता है, जिसमें संस्कृत, अरबी-फारसी और द्रविड़ लिपियों की सारी समस्याओं का समाधान कर लिया गया है। यह यूनेस्को के लिए एक चुनौती थी, पर उसका तदर्थ सम्मेलन सोच-विचार के बाद इस नतीजे पर पहुँचा कि सामान्य काम के लिए ध्वनि-शास्त्र पर आधारित दुनिया का एक ब्रेल-कोड बनाना सम्भव नहीं है। उलटे उसने भारत सरकार से कहा कि वह भारत के लिए पृथक् ब्रेल पर पुनर्विचार करे और दुनिया के साथ एकरूपता रखने के लिए एक-जैसी ब्रेल ही स्वीकार करे। भारत सरकार ने इस पर पुनर्विचार किया और फिर ब्रेल-भारती सम्बन्धी निर्णय पूरे देश में लागू किया गया। एकरूप ब्रेल की सम्भावना को देखकर यह कहा जा सकता है कि जब इटली, अरब, तमिल या चीन के अन्धों की ब्रेल लिपि एक-जैसी है, तो आँखवालों के लिपि-प्रतीकों को एक-

फलक-एक

स्वराघात-चिह्नों से युक्त रोमन

रोमन अक्षरों में चिह्न लगाकर उन्हें ऐसी अनेक भाषाओं के, जिनके लिए लाइनो-टाइप बन गया है, विभिन्न स्वरों के लिखने के काम में लाया जाता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। फाउंड्रियां इन चिह्नों से युक्त अक्षर प्रायः सभी प्रकार के टाइपों के लिए विशेष अनुरोध पर ढाल देती हैं।

Á À Â Ä Ā Ă Å Ā Ã Â Ȧ Ả Ạ Ą Ạ Ặ Ậ Ǽ Ǣ A

á à â ā ā ă å ā ã ä ȧ ǡ ā̈ ấ ạ ą ạ̄ ą̄ ą ǽ ǣ ā̂ ā̈ ȧ â ạ̈ â ậ ꜳ

Ć Ĉ Č Ç CH Ch Є ć ĉ č ç̇ ç ch č e

Ḋ Ď D' D̆ D̈ Đ Ḍ Ḑ DH Dh ḋ ď d' d̆ d̋ đ ḍ ḑ ð dh

É È Ê Ë Ē Ĕ Ê Ē̆ Ě Ė Ê̄ É Ê Ę Ę̄ Ē Ẹ

é è ê ë ē ĕ ē ê ē̆ ě ė ė̄ é̄ é ê ē̈ ę ę̀ ę̄ ę̄ ę e ę ê ę é ę̄ ẹ

Ǵ Ĝ Ḡ Ġ Ģ Ģ Ğ GN Gh Gn Ğ ǵ ĝ ḡ ġ ġ ģ ğ gh gn ġ ǧ ĝ

Ĥ Ḥ Ḥ̈ Ḫ Ħ Ḣ h ḥ ḥ̈ ḫ ħ ḫ ẖ

Í Ì Î İ Ï Ī Ĭ Ǐ Î Í Ī Į Ị Į́ Ɨ í ì î ï ĭ ī î ī ï ǐ į į į ı į ī į į ị ì ı

जैसा रूप क्यों नहीं दिया जा सकता ?

भारत के संविधान में स्वीकृत चौदह भाषाओं में से दो-तीन दाईं से बाईं ओर चलनेवाली लिपियों में लिखी जाती हैं। उक्त अन्तर्राष्ट्रीय ब्रेल सम्मेलन में दुनिया के साथ एकरूपता रखने की दृष्टि से इस प्रकार की लिपियों को उपयुक्त नहीं समझा गया था।

वक्र अक्षरोंवाली भारतीय लिपियों में से, जिनमें अक्षरों के अन्त में खड़ी रेखा नहीं होती, कुछ तो ध्वनि की दृष्टि से अपूर्ण हैं (उनमें महाप्राण नहीं होते), कुछ में संयुक्त व्यंजन के लिए आधे अक्षर नहीं होते, क्योंकि आखिर का कुछ हिस्सा हटाकर वक्र अक्षरों का आधा अक्षर नहीं बनाया जा सकता। उनमें दूसरा अक्षर छोटे रूप में नीचे जोड़ा जाता है, जिससे यह बुरा नतीजा निकला कि आधा अक्षर तो पूरा लिखा जाता है और पूरा अक्षर छोटे-से रूप में नीचे जोड़ा जाता है। असमिया-बंगला लिपियों में भी यह कठिनाई है।

देवनागरी मराठी, हिन्दी और संस्कृत में एक रूप में प्रयुक्त होती है और वह गुजराती लिपि से भी विशेष भिन्न नहीं है। बंगाल एशियाटिक सोसायटी के प्रेसीडेंट के रूप में सर विलियम जोन्स ने रोमन लिपि को अपरिपूर्ण बताते हुए कहा था कि अरबी और देवनागरी लिपियों में एक भी अक्षर घटाने-बढ़ाने में बड़ी दिक्कत होती है। रोमन हमारे लिए बिलकुल अनुपयुक्त है। बर्नार्ड शा ने पिगमेलियन की भूमिका में ऐंग्लो-सैक्शन लिक्खाड़ों की इस अक्षर-रचना को घृणित बताया है। यह न भी मानें, तो भी यह मानना होगा कि फ्रेंच विजय के बाद फ्रांसीसी परम्परा के लिक्खाड़ उस परम्परा के अनुसार अक्षर-विन्यास करने लगे तो भारी गड़बड़ी पैदा हो गई (देखिए वेब्सटर डिक्शनरी, भूमिका)। अगर भारतीय भाषाओं के लिए रोमन का प्रयोग किया गया, तो अंग्रेजी अक्षर-विन्यास भारतीय भाषाओं पर छा

फलक-दो

अखिल भारतीय रोमन (फथ की) मे लिखी कुछ पंक्तियां

ii. gṛhṇati vəhnih hnute brahməṇə praŋhəstəh praŋghəstəh iṣṭanbhanni

əgnimiiḷe purohitəm̧ yəjnəsyə devəmṛtvijəm̧ / hotarəm̧ rətnədhatəməm
əgnih puurvobhərṛṣibhiriiḍyo nuutənəy̆rutə / sə devam̧ ehə vəkṣəti

tətrapəʃyətsthitanparthəh pitṛrnəthə pitaməhan
acaryanmatulanbhrantṛrputranpəv̆transəkhim̧stəthə

səktah kərməṇyəvidvam̧so yətha kurvənti bharətə
kuryadvidvam̧stətha-səktəʃcikiirṣurlokəsəŋgrəhəm

nəy̆və kim̧citkəromiiti yukto mənyetə təttvəvit
pəʃyənʃṛṇvənspṛʃənjighrənnəʃnəngəcchənsvəpənʃvəsən

ajnakiirtih palənəm̧ brahmaṇam̧ danəm̧ bhogo mitrəsəm̧rəkṣəṇəm cə
yeṣamete ṣəḍguṇə nə prəvṛttah korthəsteṣam̧ parthivopaʃrəyeṇə

जाएँगे। यूरोपीय भाषाओं में जिस रोमन का प्रयोग होता है, वह स्वराघातों से इतनी लदी हुई है कि हम रोमन के कार्यकारी उपयोग को भूल जाएँगे। पृष्ठ ५४-५५ के फलक एक और दो में स्वराघातवाले सभी ऐसे रोमन टाइप दिखाये गए हैं, जो उन सब भाषाओं में काम आते हैं जिनमें लाइनो-टाइप को काम में लाया जाता है। इससे मेरी बात स्पष्ट हो जाएगी। इस बात का अन्दाज लगाना मुश्किल है कि हमें कितने प्रकार की रोमन पढ़नी होगी।

इसलिए देवनागरी ही एक ऐसी लिपि है, जो भारत की सभी भाषाओं के लिए मंजूर की जा सकती है। इसका अर्थ यह न समझा जाए कि हिन्दी के लिए प्रयुक्त होने-वाली देवनागरी सर्वथा परिपूर्ण और निर्दोष है। देवनागरी में एक दो छोटी-छोटी त्रुटियाँ हैं (इनमें से कुछ तो नई दिल्ली में १९५९ में हुए देवनागरी सम्मेलन की सिफारिशों को मान लेने से दूर भी हो गई हैं)। जैसे द और ट के आधा करने की स्थिति में नीचे दूसरे व्यंजन का जोड़ा जाना। अब इनको हलन्त रूप में आधा करके दिखाया जाएगा। शृंखला के रूप में अक्षरों के आने की त्रुटि की ओर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ध्यान आकर्षित किया था। मूर्धन्य अक्षर ट ठ ड ढ (टवर्ग) को तीसरा स्थान न देकर दूसरा स्थान दिया जाना चाहिए और चवर्ग को तीसरा। शायद पहले इनका उच्चारण किसी दूसरे रूप से होता था। अब वर्णमाला की पुस्तकों में इनको इस रूप में छापा जा सकता है।

देवनागरी की ध्वनि-सम्बन्धी त्रुटियों की विशद व्याख्या कुमारी लेमबर्ट ने प्रस्तुत की है! पहले डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इसका उल्लेख-मात्र किया था। उच्चारण में मन आदि बहुत-से अकारान्त शब्दों का अन्तिम उच्चारण आजकल 'मन्' जैसा होता है। इसी तरह हरकत का हर्कत और हलचल का हल्चल जैसा उच्चारण होता है और दूसरे स्वरान्त अक्षर को भी स्वरहीन (हलन्त) रूप में बोला जाता है। शिरोरेखा को थोड़ा लम्बा करके ध्वनि-शास्त्रियों की इस आपत्ति का समाधान किया जा सकता है। देवनागरी की भारी कमी कुछ ध्वनियों के लिए प्रतीकों का अभाव है। मराठी ज्ञ और ळ को स्वीकार करके इसकी कुछ पूर्ति की गई है, पर ह्रस्व ए और इ आदि के लिए उपयुक्त प्रतीक अभी तक नहीं खोजे जा सके हैं। अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के विद्वानों और हिन्दी विशेषज्ञों के संयुक्त प्रयत्न द्वारा इसका समाधान किया जा सकता है। ग्रियर्सन ने कुछ देवनागरी अक्षरों को उलटा या तिरछा छापकर इसका समाधान निकाला था। इसे अपनाया जा सकता है।

देवनागरी के मुख्य गुण हैं : अक्षरों और प्रतीकों का

परम्परागत स्पष्ट रूप, संयुक्ताक्षरों का स्पष्ट रूप में बनाया जाना, जिसमें दोनों अक्षर पृथक् मालूम पड़ते हैं, एक के नीचे एक अक्षर का न आना और केपिटल और स्माल इन दो वर्गों के दुहरे प्रतीकों का न होना, आखिर की खड़ी रेखा को हटाकर संयुक्ताक्षर का बनाया जाना सम्भव होना (इसमें दूरमुद्रक में बहुत सुविधा मिलती है), लाइनो-की नव्वे चैनलवाली मशीन में इसका अन्य लिपियों की अपेक्षा आसानी से व्यवस्थित किया जा सकना और दूर-मुद्रक और टाइपराइटरों आदि के सीमित कुञ्जीपटल में खप सकना।

एक के बाद एक सम्मेलन बुलाते रहकर हम किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। रामानन्द चटर्जी ने जो बड़ा संक्षिप्त उपाय सुझाया था, उसको मैं बहुत उपयोगी मानता हूँ और नीचे स्पष्ट कर रहा हूँ। इसे भारत सर-कार को मान लेना चाहिए और हमारी संसद् में एक एक्ट पास कर सबके ऊपर लागू कर देना चाहिए।

इस संशोधित देवनागरी लेखन-प्रणाली को लिपि-भारती नाम दिया जाए और सबसे कहा जाए कि इस सरल लेखन-प्रणाली को निश्चित समयावधि तक सीख लें। इस लिपि-भारती के द्वारा भागवत एकता के काम को आगे बढ़ाया जाए और आगे चलकर जरूरी हो तो एक समान भाषा भी विकसित की जाए। इस लिपि के लिए सभी देवनागरी व्यंजन अक्षरों के प्रतीकों को इसी रूप में हलन्त (व्यंजन) स्वीकार कर लिया जाए और स्वर-अक्षरों के प्रतीक उनके आगे पूरे-पूरे लिखे जाएँ, उनकी मात्राएँ न लगाई जाएँ। इस प्रकार 'मन' को हिन्दी क्षेत्र में मअन और अन्यत्र मअनअ लिखा जाए और संविधान को सअम-वइधआन। यह केवल नयी लेखन-प्रणाली होगी, नयी लिपि नहीं और ध्वनि के अनुसार लिखना तो सम्भव हो ही जाएगा, साथ ही बहुत से प्रतीक कम किये जा सकेंगे। जार्ज बर्नार्ड शा ने एक बार कहा था : "यह बात जानने-वाले जीवित साहित्यकारों में अकेला मैं ही हूँ कि ब्रिटिश वर्णमाला में कितनी धनराशि विद्यमान है।"

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), में पृष्ठ १९३ पर रामानन्द चटर्जी का यह प्रस्ताव विस्तृत रूप में प्रकाशित हुआ है।

● ●

सी० एन० वकोल

हाल में दिल्ली में हुए मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन ने राष्ट्रीय भावगत एकता की समस्या के समाधान के लिए पूरे देश के हेतु उपयुक्त समान भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार किया है। उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी दोनों को आज की स्थिति में देश के लिए समान भाषाओं के रूप में स्वीकार करना वांछनीय समझा है। उन्होंने सुझाव दिया है कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर प्रादेशिक भाषाओं के अलावा हिन्दी और अंग्रेजी दोनों को पढ़ाया जाए। वे हिन्दी और अंग्रेजी दोनों का ही स्तर ऊँचा उठाने के लिए भी उत्सुक थे। उस निर्णय में अद्भुत बात यह है कि विश्वविद्यालय के स्तर पर शिक्षा-माध्यम के लिए प्रादे-शिक भाषाओं को भी विकसित करने की बात कही गई है। आजादी के बाद से अब तक हिन्दी को एक प्रभावी शिक्षा-माध्यम बनाने में हम सफल नहीं हो पाए, फिर चौदहों भाषाओं को उतना विकसित करने में कितन समय-श्रम लगेगा इसका अनुमान नहीं किया गया है।

देश के विकास के आयोजन में हमें मूल बातों पर ही ज्यादा जोर देना चाहिए और अवान्तर मामलों में शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए। यह ठीक है कि राष्ट्रीय भावगत एकता के लिए समान भाषाओं का प्रश्न महत्त्व-पूर्ण है। जब हिन्दी और अंग्रेजी दोनों को आज की स्थिति में यह स्थान देने की बात तय कर ली गई, तो सारी शक्ति उसी दिशा में लगाई जानी चाहिए, ताकि अब तक हुई असफलता आगे भी न हो। प्रादेशिक भाषाओं के प्रश्न को बीच में लाने से जटिलता ही पैदा हो जाएगी और असली बात पीछे पड़ जाएगी।

यही तर्क भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि की समस्या पर भी लागू होता है। अगर अंग्रेजी और हिन्दी दोनों माध्यमिक स्तर पर पढ़ानी हैं, तो सभी शिक्षित व्यक्ति रोमन और देवनागरी लिपियों से परिचित हो ही

जाएँगे। साथ ही वे प्रादेशिक लिपि भी जान जाएँगे। प्रादेशिक भाषाओं के समर्थकों को यह समझा देना होगा कि राष्ट्रीय भावगत एकता के लिए अंग्रेजी या हिन्दी को ही विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा-माध्यम मानकर चलना होगा। इस बीच समान लिपि का पचड़ा खड़ा करने से मुख्य समस्या पीछे पड़ जाएगी और नये विवाद उठ खड़े होंगे और भावगत एकता की जगह विशृङ्खलताओं को ही प्रोत्साहन मिलेगा। राष्ट्रनायकों को प्रथम वस्तु को प्रथम स्थान देने की बात पर जोर देना ही होगा। राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को पूरी दृढ़ता के साथ सुलझाना होगा। इसके आड़े आनेवाले दूसरे प्रश्नों को गौण स्थान देना होगा। तभी हम सचमुच भावगत एकता की सिद्धि कर सकेंगे।

एल० एच० अजवानी

भारतीय भाषाओं के लिए एक समान लिपि का प्रश्न खेर (राजभाषा) आयोग की नियुक्ति के समय उठाया गया था, परन्तु उस समय इस पर सर्वसाधारण का ध्यान नहीं गया था। जब मैं इस आयोग के समक्ष (सिन्धी बोली सभा के अध्यक्ष की हैसियत से) सिन्धी भाषा का समर्थन करने और उसे भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किये जाने का अनुरोध करने के लिए गया था, तब मुझसे यह पूछा गया था कि क्या सिन्धी लोग ऐसी लिपि स्वीकार करने को तैयार होंगे, जो सभी भारतीय भाषाओं को मान्य हो। मुझे 'हाँ' कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई और मेरी इस स्वीकृति में उन तमाम लोगों का समर्थन था, जो सिन्धी भाषा के हितों के लिए काम कर रहे थे। उस समय सिन्धियों में दो परस्पर-विरोधी दल थे। एक दल इस बात का दृढ़ निश्चय कर चुका था कि सिन्धी की लिपि अरबी-सिन्धी होनी चाहिए, जिसमें वर्तमान सिन्धी साहित्य छपा है और इसी तरह दूसरा दल बराबरी से इस बात का दावा करता था कि सिन्धी के लिए देवनागरी लिपि अपना ली जाए, क्योंकि भारत के विभाजन के बाद परिस्थितियाँ बदल गई हैं। इतना होते हुए भी दोनों दल राष्ट्रीय भावना का प्रश्न आते ही एकमत हो जाते थे और राष्ट्रीय एकता के नाम पर समस्त भारतीय भाषाओं के लिए किसी भी ऐसी लिपि को स्वीकार करने के लिए तैयार थे, जो समस्त भारतीय भाषाओं के लिए मान्य हो।

खेर आयोग के प्रतिवेदन के बाद जो साल व्यतीत हुए, उनमें समस्त भारतीय भाषाओं की एक लिपि के महान् उद्देश्य को सामान्यतः भुला दिया गया था और हमारी नींद अभी उसी दिन खुली है, जब हमारे मुख्यमन्त्रियों ने इस बात की अत्यन्त आवश्यकता महसूस की कि राष्ट्रीय एकता के लिए सभी भारतीय भाषाओं की एक लिपि हो। हाल के कुछ वर्षों में भारतीय राजनीति में भाषावाद का विष फैल गया है। भाषावाद एक ऐसा संहारक राक्षस है, जिसने जातिवाद और सम्प्रदायवाद से ज्यादा हानि पहुँचाई है। भाषावार प्रान्तों के निर्माण से राष्ट्रीय एकता ऐसे बिन्दु पर पहुँच गई है, जहाँ से उसके छिन्न-भिन्न होने का भय है, क्योंकि हर भाषावार प्रान्त अपनी भाषा को और उसके साथ निश्चित रूप से उस भाषा की लिपि को बढ़ावा देने में दत्तचित्त है।

यदि देश की विघटनात्मक शक्तियों को रोकना है तो सबसे पहले यह कदम उठाया जाए कि स्कूलों, कॉलेजों, सरकारी परीक्षाओं, अदालतों, सरकारी लिखा-पढ़ी आदि में एक लिपि का प्रयोग शुरू कर दिया जाए। अतातुर्क कमाल पाशा ने अपने देश टर्की में एक लिपि (रोमन लिपि) को लागू करके उसे विनाश से बचा लिया और आज की परिस्थितियों में हमें भी एक कमाल पाशा की जरूरत है। यह भारत का दुर्भाग्य है कि नाजुक समय में उसके पास कोई अब्राहम लिंकन नहीं था। ऐसा ही और शायद इससे बड़ा दुर्भाग्य यह होगा कि हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए जबर्दस्त नुकसानवाले भाषावाद (लिपिवाद सहित) को समाप्त करने के लिए कोई कमाल पाशा आज सामने न आ पाए और सारी भारतीय भाषाओं के लिए एक ही लिपि लागू न कर सके। अनुभव से यह मालूम हुआ है कि देश में यूरोप की किसी लिपि को लागू करना सम्भव नहीं है। इस देश में यदि कोई लिपि चल सकती है, तो वह केवल

देवनागरी ही है, परन्तु इसके पहले उसमें काफी सुधार और परिवर्तनों की जरूरत होगी तथा उसमें नए अक्षर और चिह्न शामिल करने होंगे, ताकि वह सिन्धी-जैसी उन भाषाओं के लिए भी उपयुक्त हो सके, जिनकी कुछ ध्वनियाँ हिन्दी भाषा में नहीं पायी जातीं। देवनागरी लिपि (गुजराती, सिन्धी, उर्दू आदि की तुलना में) थोड़ी-सी कठिन है और वह शीघ्रता से लिखने में सहायक नहीं है, परन्तु इस दिशा में हमारे विद्वान् अपनी निपुणता का परिचय देंगे और वह दिन दूर नहीं होगा, जब वे एक ऐसी देवनागरी लिपि बना लेंगे, जिसमें ये दोष नहीं रहेंगे।

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त

श, ष, स युक्त तत्सम शब्दों की वर्तनी का प्रश्न

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त का जन्म-स्थान मुंगरा बादशाहपुर (जि० जौनपुर) है। आपका जन्म सन् १९१० में हुआ था। शिक्षा-दीक्षा इलाहाबाद में हुई और कुछ समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में रीडर तथा स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। 'ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली' आपकी प्रमुख कृति है। इन दिनों आप शामली में वैश्य कालेज के प्राचार्य एवं हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

हिन्दी छात्रों की उत्तर पुस्तिकाओं में श, ष, स युक्त कुछ संस्कृत शब्दों की वर्तनी इस प्रकार मिलती है—

संस्कृत	लिखित रूप	संस्कृत	लिखित रूप
श्मशान	स्मशान	विकास	विकाश
अशुद्ध	असुद्ध	विशेषण	विषेशण
अशोक	असोक	विषम	विसम
आशा	आसा	विश्लेषण	विष्लेशण
आषाढ़	आसाढ़	सान्त्वना	शान्त्वना
त्रिदोष	त्रिदोश	शासन	शाशन
दृष्टि	दृस्टि	षोडश	षोडष
दृश्य	दृष्य	सन्तोष	सन्तोश
देश	देस	षष्ठी	सष्ठी
दोष	दोस	सहिष्णु	सहिस्णु
निर्दोष	निर्दोश	शासक	साशक
पुष्प	पुश्प	आश्रम	आस्रम
पोषक	पोसक	ऋषि	रिशि
प्रसन्न	प्रशन्न	आशीर्वाद	आसिर्वाद
प्रसाद	प्रशाद	शृङ्गार	सृङ्गार
बहिष्कार	बहिस्कार	परिशिष्ट	परिसिस्ट
वेश	वेष	प्रकाश	प्रकास
निशेष	निषेश	निष्फल	निश्फल

उपर्युक्त तालिका से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

१. हिन्दी छात्रों को संस्कृत शब्दों और उनकी वर्तनी का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है।

२. साधारणतः श और ष के प्रयोग में उन्हें कोई अन्तर नहीं समझ में आता है।

३. श और ष के स्थान पर स का प्रयोग अधिक मिलता है। इस प्रकार श और ष अपना महत्त्व खो चुके हैं।

४. संस्कृत में जहाँ स है वहाँ श लिखने की बात कदाचित् इसलिए है कि हिन्दी का छात्र श को स की अपेक्षा संस्कृत ध्वनियों के अधिक निकट मानता है—स के प्रयोग में उसे देसीपन लगता है। प्रसाद को प्रशाद तथा प्रसन्न को प्रशन्न लिखना इसी धारणा का फल है।

५. श की अपेक्षा ष को संस्कृत के और भी निकट समझा जाता है, इसीलिए दृश्य का दृष्य तथा वेश का वेष प्रयोग मिलता है।

६. श और ष का उच्चारण भेदरहित है—अर्थात् संस्कृत का मूर्धन्य ष हिन्दी में नहीं है। इसलिए ष के स्थान पर 'श' और श के स्थान पर 'ष' लिखा जाना स्वाभाविक है।

७. संस्कृत और हिन्दी में उच्चारण के अनुरूप वर्तनी होती है; श और ष में उच्चारण-भेद समाप्त हो जाने से तदनुरूप वर्तनी सम्भव नहीं रह गई है।

प्रश्न यह है कि हिन्दी के छात्रों की यह भूल क्षम्य है या नहीं? क्या यह भूल केवल संस्कृत की अज्ञानता के कारण है या इसके पीछे कुछ भाषा-वैज्ञानिक कारण भी

हैं ? इस पर विचार करने के लिए हमें श, ष, स के संस्कृत भाषा के प्रयोग पर भी ध्यान देना पड़ेगा ।

१. संस्कृत में 'कोष' तथा 'कोश' दोनों ही प्रयोग हैं, इससे लगता है कि संस्कृत काल में ही ष और श का उच्चारण-भेद मिट चुका था और इसके फलस्वरूप यह शब्द 'ष' और 'श' दोनों ध्वनियों से लिखा जाने लगा। वर्तनी की अनिश्चितता का श्रीगणेश यहीं से आरम्भ हुआ।

२. संस्कृत श और स में भी भेद क्षीण हो गया और फलस्वरूप किशलय तथा किसलय, वसिष्ठ तथा वशिष्ठ, शायक तथा सायक, शूकर तथा सूकर, कलश तथा कलस दोनों ही रूप शुद्ध माने गए।

संस्कृत के वैयाकरणों ने शब्द के इन दो रूपों को स्वीकार कर भाषा के विकास के मर्म को समझा—उन्होंने 'ष' के स्थान पर श तथा 'श' के स्थान पर स के उपर्युक्त प्रयोगों को अशुद्ध न कहकर इन प्रयोगों की स्वीकृति दे दी—भाषा के विकास की इस धारा को उन्होंने रोका नहीं, स्वीकार किया।

प्राकृत काल में स का प्रयोग प्रमुख हो गया—कृष्ण का कसण तथा अश्व का अस्स रूप इसके प्रमाण हैं। पाली में भी श, ष, स, तीनों ऊष्म ध्वनियों के स्थान पर स ही प्रमुख रहा—इषु का इसु तथा शिशु का सुसु रूप उसके उदाहरण हैं।

श, ष, स के इस इतिहास को जान लेने पर भी क्या हम हिन्दी छात्रों से इसकी आशा कर सकते हैं कि वे संस्कृत शब्दों में प्रयुक्त श, ष, स को स्मरण रखें और उन्हें ठीक-ठीक यथास्थान लिखें। कहना नहीं होगा संस्कृत भाषाविदों की भाँति हिन्दी के पण्डितों को भी उदारता और समझदारी से काम लेना होगा तथा संस्कृत के ऐसे शब्दों के दो रूप स्वीकार करने पड़ेंगे, जिनमें श, ष, स आए हैं—यदि संस्कृत में कलश और कलस दोनों चल सकते हैं तो हिन्दी में श्मशान तथा स्मशान, अशुद्ध तथा असुद्ध, अशोक तथा असोक, आशा तथा आसा, आषाढ़ तथा आसाढ़, त्रिदोष तथा त्रिदोश,—स, दृष्टि तथा दृस्टि, देश तथा देस आदि दो रूप क्यों नहीं मान्य हो सकते ? चाहिए तो यह कि संस्कृत के आधुनिक विद्वान्, परम्परा के अनुसार, संस्कृत के लिए भी ऐसे शब्दों के दो रूपों को स्वीकार कर लें—यदि वे इतने सक्षम नहीं हैं तो हिन्दी को तो इसे मान ही लेना चाहिए।

संस्कृत व्याकरण में सन्धि-नियमों पर हम ध्यान दें, तो स के स्थान पर ष होने की बात साधारण-सी लगेगी—सं० अभि+सेक का अभिषेक, सं० नि+सिद्ध का निषिद्ध, सं० अनु+संग का अनुषंग तथा सं० वि+सम का विषम रूप इसके साक्ष्य हैं।

इन उदाहरणों में स, ष में परिवर्तित हो गया है और इसके लिए इस प्रकार का सन्धि-नियम है—जब 'स' के पूर्व अ, आ के अतिरिक्त कोई स्वर हो, या कवर्ग का कोई अक्षर हो या य, र, ल, व, ह में से कोई अक्षर हो, तो स का ष हो जाता है।

संस्कृत सन्धि में विसर्ग कहीं स् में और कहीं ष् में परिवर्तित हो जाता है—अन्त:+तल का अन्तस्तल; नि:+सार का निस्सार, तथा नि:+काम का निष्काम, नि:+फल का निष्फल आदि उदाहरण सहज ही दिए जा सकते हैं। भाषा की इस प्रवृत्ति के आधार पर यह नियम बना दिया गया कि यदि विसर्ग के बाद तवर्ग या स् हो तो विसर्ग स में तथा यदि विसर्ग के बाद क, ख, ट, ठ, प, फ हो तो विसर्ग ष् में बदल जाता है। विसर्ग के बाद च आने पर विसर्ग श् में परिवर्तित हो जाता है यथा राम:+च का रामश्च।

इस प्रकार संस्कृत में ही श, ष, स का भेद ढीला हो चुका था। प्राकृत और पाली में स की प्रधानता हो चुकी थी और मूर्धन्य ष के उच्चारण का लोप। हिन्दी में श, ष, स तीन शिन् ध्वनियों में स (दन्त्य ध्वनि) ही मिलती है। हिन्दी स्, सं० श्, ष्, स् तीनों से ही विकसित है यथा, सं० आशा हिं० आसा, सं० पौष हिं० पूस; सं० सप्त हिं० सात; सं० श्रेष्ठ हिं० सेठ; सं० रश्मि हिं० रास; सं० मातृ-ष्वस् हिं० मौसी; सं० श्वश्रु हिं० सासु।

अस्तु, हिन्दी से 'श' और 'ष' दोनों ही लुप्त हो चुके हैं। ऐसी दशा में संस्कृत शब्दों में जहाँ श, ष, स प्रयुक्त हुए हों वहाँ छात्र द्वारा इनका ठीक-ठीक प्रयोग न किया जाना स्वाभाविक है। प्रश्न है कि भाषा-विज्ञान के इस तथ्य को स्वीकार कर क्या हमें हिन्दी में सं० कोष और कोश की भाँति सन्तोष और सन्तोश; पुरुष तथा पुरुश;

एवं किशलय और किसलय या कलश और कलस की भाँति दृश्य और दृस्य, प्रसन्न और प्रशन्न; शाप और साप; देश और देस; प्रसाद और प्रशाद; दोष और दोश या दोस; अशोक और असोक को शुद्ध नहीं मान लेना चाहिए ? यदि हिन्दी को सरल और वैज्ञानिक बनाना है, यदि उच्चारण के अनुरूप वर्तनी रखनी है, तथा यदि भाषा की धारा को समझकर उसके अनुकूल भाषा की शुद्धता और अशुद्धता का मानदण्ड स्थिर करना है तब हमें, सचाई को स्वीकार कर, श ष स सम्बन्धी वर्तनी की उपर्युक्त अशुद्धियों को अशुद्धि न कहना चाहिए—संस्कृत वैयाकरणों एवं भाषाविदों का अनुकरण कर इन्हें ग्रहण या स्वीकार कर लेना चाहिए। हिन्दी तथा हिन्दी पढ़ने या सीखनेवालों के साथ इस न्याय की आज अत्यन्त अपेक्षा है।

सीताराम चतुर्वेदी

हिन्दी की उत्पत्ति और उसका स्वरूप

श्री सीताराम चतुर्वेदी एम० ए०, साहित्यरत्न का जन्म सन् १९०७ में वाराणसी में हुआ था। हिन्दी के प्रचार और उन्नयन के लिए आपने बहुत-कुछ किया है। आपके वक्तृत्व और वाग्मिता की बड़ी धाक है। आपकी ४० के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से कुछ हैं—'महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय' (जीवनी), 'अभिनव नाट्यशास्त्र', 'शबरी' (नाटक), 'समीक्षाशास्त्र' तथा 'भाषालोचन' (भाषा-विज्ञान)। आपने कालिदास की कृतियों का अनुवाद भी किया है। इन दिनों वाराणसी में रहते हैं।

हिन्दी भाषा का इतिहास लिखनेवाले प्रायः सभी विद्वानों ने माना है कि संस्कृत और प्राकृतों के माध्यम से अपभ्रंश में होती हुई हिन्दी उत्पन्न हुई; किन्तु तथ्य यह है कि प्रत्येक युग में एक लोक-व्यापक शिष्टजन भाषा होती है और अनेक प्रादेशिक जनपद सामान्यजन भाषाएँ—जैसे तमिलनाड में पढ़े-लिखे लोगों की शेन (पूर्ण) भाषा और सामान्य लोगों या जन-साधारण की कोडुन (देहाती) भाषा है। यह मानना नितान्त भ्रामक है कि पहले कोई प्राचीन भारतीय भाषा रही, फिर मध्यकालीन, फिर उत्तरकालीन आदि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भ में उत्तर-पश्चिम अर्थात् त्रि-सप्तसिन्धु में शिष्टजन की भाषा संस्कृत और सामान्य-जन की भाषा प्राकृत रही। यह प्राकृत भाषा स्थानीय उच्चारण के अनुसार शिष्टजन की भाषा को अपनी भाषण-प्रकृति के अनुसार ढालकर प्रयोग करती रही। इसलिए भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'प्राकृत' की व्याख्या करते हुए बताया—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

[यह (संस्कृत) ही विगड़कर गुण और संस्कार से हीन होकर अनेक अवस्थाओंवाली प्राकृत हो जाती है।]

किसी भी भाषा पर उस भाषा के सम्पर्क में आनेवाले अन्य भाषा-भाषियों की भाषाओं का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है और यह प्रभाव चार प्रकार से पड़ता है—

१. उच्चारण
२. शब्द-प्रयोग
३. वाक्य-विन्यास
४. नवीन ध्वनियों का आगमन।

संयोगवश हिन्दी भाषा का इतिहास लिखनेवालों ने ऐतिहासिक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया है और यह नहीं समझाया है कि भाषा के विकास में ऐतिहासिक घटनाओं का कितना हाथ है। यदि हम केवल योरप, आफ्रीका और एशिया की ऐतिहासिक घटनाओं और विभिन्न मानव-समाजों के पारस्परिक संघर्ष का क्रमिक विवरण जान लें, तो प्रतीत होगा कि किस प्रकार एक जाति ने दूसरी जाति को, एक देश ने दूसरे देश को और एक वर्ग ने दूसरे वर्ग को एवं कला, शिल्प, आचार-विचार और भाषा को किस प्रकार प्रभावित किया है।

भाषा के विकास में इतिहास का हाथ

वैज्ञानिकों का मत है कि प्राचीनतम मनुष्य का जन्म

डेढ़ करोड़ वर्ष पहले हुआ, किन्तु वर्तमान रूपवाला मनुष्य साढ़े बारह लाख वर्ष पूर्व अन्य जीवों से पृथक् मनुष्य रूप में व्यक्त हुआ। इसके पश्चात् अनेक प्रकार की मानव-जातियाँ—भूमध्यसागर के उत्तर में निएण्डर्थल और अरि-ग्रेसी, उत्तर अफ्रीका या दक्षिण एशिया में क्रोमैग्नन और ग्रिमाल्डी, दक्षिणी स्पेन में ऐजीलियन और पश्चिमी योरप में मन्दग्लिनियन मनुष्य-जातियाँ प्रकट हुई, जो पाषाण-युग और नवपाषाण-युग की मानव-जातियाँ मानी जाती हैं। फ्लिण्डर्स पेत्री ने नील नदी के कछार में मिस्री सभ्यता का प्रारम्भ १०,००० ई० पू० से माना है। लोकमान्य तिलक का मत है कि जिस समय योरप तथा अन्य भूभागों में वन्य मानव-जातियाँ रहती थीं उस समय १८ सहस्र वर्ष पूर्व वेद की रचना होने लगी थी। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनसे ज्ञात होता है कि ईसा से ६००० वर्ष पूर्व भारत से मिस्र तक के देश (मिस्र, असुरिया, बाबुल, ईरान और आर्यावर्त्त) परस्पर एक-दूसरे से बहुत सम्बद्ध हो चुके थे। जब छह सहस्र वर्ष पूर्व ऐसे समृद्ध नगरों का विवरण मिलता है तब यह निश्चय है कि ये जातियाँ कई सहस्र वर्ष पूर्व ही पर्याप्त विकास कर चुकी होंगी, क्योंकि सप्तसिन्धु में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा, सुमेरिया में निपर नगर, मिस्र के फराओं की राजधानी मेम्फिस और असुरिया में असुर नगर और असुर देवता की प्रतिष्ठा लगभग एक समय अर्थात् ६००० से ४००० ई० पू० तक हो चुकी थी। भारत के उत्तर में प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक यो-किङ्-ताओ के मूल ग्रन्थ की रचना ३४६८ ई० पू० हो चुकी थी अर्थात् ईसा से चार सहस्र वर्ष पूर्व चीन में भी पर्याप्त सांस्कृतिक जागृति हो चुकी थी और उधर उत्तर भारत में गान्धार से हस्तिनापुर तथा काशी तक प्रतापी राजा राज्य कर रहे थे, जिनमें से शान्तनु, भीष्म, विचित्रवीर्य तथा महाभारत के सम्पूर्ण राजाओं का पूरा विवरण विस्तार से मिलता है। कलियुग के आगम अर्थात् ३१०२ ई० पूर्व से उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रतापी राजा राज्य करते थे। इसके पश्चात् का भारत का इतिहास भाषा-वैज्ञानिकों को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। महाभारत के युग में ही भगवान् कृष्ण ने द्वारका में राजधानी बनाकर भारत के पश्चिमी समुद्र के द्वार को सुरक्षित कर दिया। जब भगवान् कृष्ण का निर्वाण हुआ तब उनकी पत्नियों को लेकर आते समय बीच में आभीरों ने घेरकर कृष्ण की पत्नियाँ अर्जुन से छीन लीं अर्थात् ३००० वर्ष ई० पू० में वर्तमान राजस्थान में दस्युओं के रूप में आभीर विद्यमान थे। उसी समय मिस्र में पिरैमिड बन रहे थे और सारगोन प्रथम ने आकर सुमेरी साम्राज्य का अन्त कर डाला था अर्थात् मिस्र के लोग सुमेरिया (ईरान की सीमा) तक पहुँच गए थे। इसके पश्चात् हम्मूरबी ने २१०० ई० पू० में बाबुल (बेबिलो-निया) जीत लिया। अरबों ने १५८० ई० पू० में मिस्र को जीत लिया। इसके पश्चात् १४३५ ई० पू० में पश्चिमी एशिया तक भारत के आर्यों का राज्य रहा। १४०० से १२०० ई० पूर्व तक यहूदी लोग फिलस्तीन में पहुँचे। १३७५ ई० पू० में मितन्नी अर्थात् पश्चिम एशिया में आर्य देवताओं की पूजा होने लगी थी और मिस्र में सूर्य का मन्दिर बन गया था। १००० ई० पू० में यूनानी लोग एशिया कोचक तक फैल गए थे। ७७० ई० पू० में यूनान के साथ भारत का व्यापार होने लगा। ७२२ ई० पू० में असुरियों ने इसराइल जीता और ६७० में मिस्र जीत लिया। ६१२ ई० पू० में खल्दियों ने असुरी साम्राज्य उखाड़ फेंका। ६०० ई० पू० में ईरानियों ने मिस्र जीत लिया। ५८६ ई० पू० में बाबुल के राजा नबूशदनजर ने यरूसलम ध्वस्त किया और सहस्रों यहूदी नागरिकों को बन्दी बनाकर बाबुल ले गया। ५३९ ई० पू० में कुरु ने खल्दी साम्राज्य नष्ट करके ईरानी राज्य स्थापित किया। ५२५ ई० पू० ईरानियों ने मिस्र पर अधिकार जमाकर ५२२ ई० पू० में भारतीय सीमा तक क्षत्रपत्य स्थापित कर लिया। इसके पश्चात् सिकन्दर का आक्रमण हुआ और फिर चन्द्रगुप्त से हारकर सैल्युकस ने भारत की पश्चिमी सीमा के पश्चिमी प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे दिए और अपनी कन्या का विवाह भी चन्द्रगुप्त से कर दिया। इसके पश्चात् शक, सीथिआई, हूण, अरब, तुर्क, मंगोल निरन्तर भारत पर आक्रमण करने आते रहे और यहाँ बस जाते रहे। तात्पर्य यह है कि भारत की सीमा से छेड़छाड़ पहली बार ईरानी राजा कुरु ने ५२२ ई० पू० में की। इसके पूर्व उत्तर-भारत में संस्कृत का बोलबाला था।

भाषा-विज्ञान के पण्डित यदि इन घटनाओं पर दृष्टि-पात करेंगे, तो उन्हें प्रतीत होगा कि मिस्र से लेकर ईरान तक के समस्त प्रदेश की संस्कृति और भाषा निरन्तर ही मिस्री, यूनानी, असुरी, बाबुली, सुमेरी, ईरानी, अरबी, हूण और शक जातियों के परस्पर संहार, उथल-पुथल, आदान-प्रदान से बनी है। अतः, जिस समय पण्डित और राजा लोग भारत में संस्कृत का पोषण कर रहे थे उस समय राजनीतिक महत्वाकांक्षी राजा, साधु-संन्यासी और व्यापारी एक दूसरे देश से सम्पर्क स्थापित करके स्वतन्त्र रूप से इधर-से-उधर आ-जा रहे थे और जो इन युद्धों में विजयी होता था वह विजित देश के सैनिकों और नागरिकों को बन्दी बनाकर अपने देश में ले जाता था। अतः, यह कहना अत्यन्त भ्रामक है कि पहले चुपचाप संस्कृत हुई, फिर चुप-चाप प्राकृत हुई, फिर चुपचाप अपभ्रंश। यहाँ की काव्य-भाषा और शिष्टजन-भाषा संस्कृत के साथ-साथ पास-पड़ोस के प्रदेशों की न जाने कितनी प्रकार की भाषाओं का मेल यहाँ की भाषाओं में होता रहा, हुआ और उन विभिन्न जातियों के यहाँ आ बसने के कारण पंजाब, राजस्थान, सिन्ध और सौराष्ट्र के विभिन्न प्रदेशों की भाषाएँ अर्थात् सीमान्त प्रदेशों की भाषाएँ बहुत रूपों में वैसे ही ढल चलीं। प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि पाकिस्तान बनने के कारण सिन्ध के जो लोग भारत में आए वे यहाँ रहकर अपना संस्कार भी बनाए हुए हैं और साथ ही यहाँ की भाषा का भी प्रयोग करते हैं। वैसे ही मिस्र और भारत के बीच की अनेक प्रतापी समृद्ध जातियों के परस्पर संघर्ष से जो भग-दड़ मची उनमें से कुछ ने (यहूदियों और पारसियनों ने) भारत में ही आश्रय लिया। ऐसी परिस्थिति में भाषा का निर्माण शान्तिपूर्वक नहीं हुआ। जो जातियाँ आती गईं वे अपने उच्चारण-क्रम के अनुसार संस्कृत का उच्चारण करती रहीं और वे जहाँ-जहाँ जाकर बसीं वहाँ-वहाँ उनकी अपनी प्राकृत बनी और विभिन्न प्रदेशों में बसने के कारण ही उनके द्वारा उच्चरित भाषा ही उस देश की अपभ्रंश बन गई अर्थात् उन प्रदेशों में जो वहाँ के प्राकृत लोग (स्वाभाविक देशवासी) जिस भाषा का प्रयोग करते थे उसी को बिगाड़कर ये नये आगन्तुक जो बोलने लगे वही अपभ्रंश बन गई या वर्तमान भाषाएँ जैसे संस्कृत का 'कुतः' लोक भाषा में 'किधर' हुआ, किन्तु अँगरेज इसे और भी बिगाड़कर 'किडर' कहता है। यही अपभ्रंश है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि जिस समय संस्कृत का बोल-बाला था उस समय भी दुष्ट शब्दों का प्रयोग करनेवाले विद्यमान थे और वे प्राकृत बोलते थे और उसमें भी जो बाहर से लोग आकर अपनी नई ध्वनिप्रणाली के अनुसार उच्चारण करते थे वह अपभ्रंश हो गया। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि राजशेखर ने अपभ्रंश का जो क्षेत्र बनाया है वह वही है जहाँ उत्तर-पश्चिम के मार्गों से ईरानी, यूनानी, शक, सिथियाई, हूण और अरब लोग आकर बसते रहे। उसने कहा है—

सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।

[सारा मरुस्थल, (राजस्थान) टक्क (पूर्वी पंजाब) से भादानक पहाड़ (मालवा) तक अपभ्रंश बोला जाता था।]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत या वैदिक संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से देशी भाषाएँ नहीं बनीं वरन् संस्कृत ही अनेक अवस्थाओं में पड़कर संस्कार और गुण से होकर प्राकृत बनी। हिन्दी भी संस्कृत की ऐसी ही प्राकृत भाषा है।

एक ओर तो जहाँ राजनीतिक उथल-पुथल से अनेक जातियों का पारस्परिक संघर्ष, समन्वय और सम्पर्क हुआ वहाँ दूसरी ओर शताब्दियों पहले उत्तरी अफ्रीका, सुरिया और चीन से भारत का व्यापार-सम्बन्ध बना चला आ रहा था। यहाँ से जो व्यापारी प्राचीन काल में विदेश जाते थे वे हिन्दी कहलाते थे और उनकी भाषा हिन्दी कहलाती थी। आज भी जो मुसलमान भारत से हज करने मक्के या मदीने जाते हैं उन्हें वहाँ के लोग हिन्दी ही कहते हैं। इन भार-तीय व्यापारियों ने विभिन्न देशों में जाकर अनेक भारतीय शब्द अन्य अनेक देशों के भाषा-भाषियों को सिखाए और वहाँ से अनेक शब्द अपने यहाँ ले आए। इतना ही नहीं, अनेक व्यापारी तो विदेशों में जाकर वहाँ की कुमारियों को दासी या पत्नी बनाकर और वहाँ के लोगों को दास अथवा मित्र बनाकर यहाँ ले आए। पश्चिम और पश्चिमोत्तर भारत का समस्त प्रदेश इस प्रकार की अनेक संस्कृतियों, जातियों और भाषाओं के मिलन का ज्वलन्त परिणाम है। इधर पूर्वी प्रदेशों का सम्बन्ध जावा-सुमात्रा, हिन्द-चीन,

कम्बोदिया, स्याम और चीन में रहा और भारतीय संस्कृति से प्रभावित रहा। अगस्त्य ऋषि ने उत्तर भारत की आर्य संस्कृति का प्रचार दक्षिण में किया।

हिन्दी के सम्बन्ध में व्यापक भ्रम

जिस हिन्दी को आज भारत ने राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार किया है वह हिन्दी भारत के किसी प्रदेश के बोल-चाल की भाषा नहीं है। अन्तर्वेद (गंगा-यमुना के बीच का क्षेत्र) अत्यन्त प्राचीन काल से ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि भारतीय दर्शन, साहित्य और संस्कृति का केन्द्र रहा है, वहाँ के लोगों ने अन्य प्रदेशों में जाकर अपनी भाषा और संस्कृति का प्रचार किया। गंगा-यमुना का उद्गम तथा राम और कृष्ण की जन्मभूमि तथा विहार-स्थली होने के कारण उस प्रदेश की भाषा का प्रचार भी सम्पूर्ण भारत और भारत के बाहर तक फैली हुई तत्सम्बद्ध संस्कृति के साथ-साथ विभिन्न प्रदेशों में हुआ। स्वभावतः संस्कृत का भी प्रसार हुआ। इस अन्तर्वेद प्रदेश में सम्पूर्ण भारत और भारत से बाहर के लोग निरन्तर लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष बद्री, केदार, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, प्रयाग और काशी की यात्रा के लिए आते रहे। अतः, इस प्रदेश में भारतवर्ष के विभिन्न कोनों से आनेवाले लोगों ने पारस्परिक व्यवहार की सुविधा के लिए जिस मिली-जुली बोली का व्यवहार प्रारम्भ किया, वही ढलते-ढलते आज की हिन्दी बनी, जिसका प्रथम स्पष्ट सार्वजनिक प्रयोग कबीर, नानक, दादू, नामदेव आदि सन्तों ने अपने नैतिक विचारों के प्रचार के लिए किया, फिर श्री वल्लभाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों ने किया, उसके पश्चात् गुजरात के स्वामी दयानन्द-जैसे महापुरुषों ने आर्य-भाषा के नाम से, जस्टिस शारदाचरण मित्र-जैसे विचारकों और श्रद्धाराम फुल्लौरी-जैसे विद्वानों ने विभिन्न प्रदेशों के पारस्परिक सम्पर्क को दृढ़ करने के लिए धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार के लिए प्रयत्न भी किया और प्रेरणा भी दी। यह कहना और समझना नितान्त मिथ्या, भ्रामक और दोषपूर्ण है कि हिन्दी किसी एक प्रदेश की भाषा है, क्योंकि उत्तर भारत के भूभागों को हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश कहा जाता है। उसके विभिन्न अंचलों में राजस्थानी, पंजाबी, अवधी, बैंसवाड़ी, भोजपुरी, पहाड़ी, छत्तीसगढ़ी, मालवी, मगही, सन्थाली तथा मैथिली आदि भाषाएँ बोली जाती हैं। अभी साठ वर्ष पहले तक केवल इस तथाकथित उत्तर प्रदेश की तथा समस्त उत्तर भारत की काव्य-भाषा गुजरात से असम तक ब्रज ही थी, किन्तु गुजरात, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान और मध्य प्रदेश के शिष्टजन ने अपनी पारस्परिक व्यावसायिक और धार्मिक एकता की भावना को पुष्ट करने के लिए हिन्दी का आश्रय लिया, जिसका सूत्रपात हिन्दुस्तानी के नाम से आगे चलकर कलकत्ते के फोर्ट विलियम में हुआ और जिसकी व्यापक महत्ता को समझकर गुरु नानक के सुपुत्र श्री चन्द्राचार्य ने अपना पृथक् उदासीन सम्प्रदाय चलाकर उसके धर्मग्रन्थ 'मात्रा-शास्त्र' का निर्माण इसी हिन्दी में किया। इसका अर्थ यह है कि आज से चार सौ वर्ष पहले तक पंजाब में इस हिन्दी के सर्वव्यापक प्रभाव और बोधगम्यता की महत्ता समझी जाने लगी थी और जहाँ इस भाषा को सरहिन्दी कहते थे। कम-से-कम समस्त उत्तर भारत में सभी सन्तों, महात्माओं, उपदेशकों और धर्माचार्यों ने इसी भाषा को अपने धर्म-प्रचार के लिए अपना आधार बना लिया, क्योंकि यह भाषा किसी एक प्रदेश की भाषा नहीं थी वरन् देशव्यापी राष्ट्र-भाषा, संस्कृत भाषा, के सभी व्यापक तत्त्व इस भाषा में स्वभावतः आ गए थे, जो सब प्रदेशों के लिए बोधगम्य थे। अतः, इस हिन्दी की सीधी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है, किसी प्राकृत या अपभ्रंश से नहीं, जैसा भ्रमवश कुछ विद्वान समझते हैं और इसका निर्माण देश-भर के लोगों ने किया था।

इस प्रकार की कोई भी भाषा कैसे अपना रूप धारण करती है इसका ज्ञान ऐसे प्रदेश में रहने से सरलता से हो सकता है जहाँ कई प्रकार की भाषाएँ बोलनेवाले लोग एक साथ रहते हों। बम्बई में मराठी, गुजराती और कोंकणी लोग परस्पर जब एक-दूसरे से मिलते हैं तो वे एक विचित्र प्रकार की हिन्दी में बात करते हैं—'तुमकू किदर जाने का है, तुम्मारा औरत उदर पड़ेला है, तुम काए को खाली-पीली बूम मारता है।' हैदराबाद राज्य में यह भाषा की समस्या अत्यन्त जटिल थी, क्योंकि हैदराबाद राज्य में तमिल, मराठी, तेलुगु, तुलू और कन्नड़ भाषाओं

का व्यवहार करनेवाले लोग रहते थे और इतने दिन पारस्परिक सम्बन्ध रखकर भी वे अपने पारस्परिक व्यवहार के लिए कोई एक भाषा नहीं बना सके, इसलिए निज़ाम ने वहाँ फ़ारसी-अरबी से लदी हुई हिन्दी की वह शैली अपनाई जिसे उर्दू कहते हैं। वह उर्दू राज्य-भर के सब लोगों ने सीखी और सीखकर उसी के माध्यम से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया। अतः, यह भ्रम सबको तत्काल अपने मन से निकाल देना चाहिए कि उत्तर भारत में कोई एक विशिष्ट हिन्दी-भाषी प्रदेश है, उस प्रदेश की कोई हिन्दी भाषा है और वह भाषा किसी पर लादी जा रही है, क्योंकि वह भाषा दक्षिण में भी दक्खिनी हिन्दी और उर्दू के रूप में सब की सुविधा की दृष्टि से व्यवहृत होती रही है। अपनी व्यापकता की शक्ति के कारण ही पहले व्यापारियों, फिर सन्तों और धर्म-प्रचारकों, तत्पश्चात् साहित्यकारों और फिर राजनीतिक मंचवालों ने सबके लिए समान मंच की स्थापना के उद्देश्य से सब प्रदेशों में समझी जाने योग्य जिस भाषा का विकास किया है वह हिन्दी भाषा सारे भारतवर्ष के सब प्रदेशों में और भारत के बाहर फ़िजी, ट्रिनीडाड, मारीशश, डच-गायना, ब्रिटिश गायना, पूर्वी अफ्रीका आदि देशों में बोली और समझी जाती है। वह राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसे उत्तर भारत ने अपनी प्रादेशिक जनपदीय भाषाओं का परित्याग करके साठ-सत्तर वर्ष पहले पारस्परिक शिष्ट-जन व्यवहार के लिए स्वीकार कर लिया था और दक्षिण-वालों को अब स्वीकार करने के लिए कहा जा रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पूर्व महात्मा गान्धी के प्रयास से दक्षिण भारत के लाखों नर-नारियों ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक इस भाषा को सीखा और पढ़ा है तथा इसमें प्रौढ़ता प्राप्त की है। इतना ही नहीं, दक्षिण भारत ने हिन्दी को बहुत अच्छे लेखक, सम्पादक, कवि और साहित्यकार भी दिए हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पूर्व भारतीय अखंडता और एकता के लिए आवश्यक और अनिवार्य मानी जानेवाली सर्वबोध्य हिन्दी भाषा राजनीतिक द्वन्द्व में पड़कर अब विरोध का कारण बन रही है, और जिसे स्वतः उठाकर सिर पर चढ़ा लेना चाहिए था, जिसे उत्तर भारतवालों ने व्यापक लोकहित की दृष्टि से बहुत पहले सिर पर चढ़ा भी लिया है, उसे अब कुछ लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं और उसका विरोध भी करने लगे हैं।

इस व्यापक लोक-भाषा हिन्दी का स्वरूप कितना प्राचीन है और वह किस प्रकार बना, इसे समझ लेने पर किसी प्रकार के विरोध का स्थान नहीं रह जाता। इस नागरी भाषा का सर्वप्रथम उल्लेख सातवीं शताब्दी के दक्षिण भारत के आचार्य कुमुदेन्दु मुनि के 'भूवलय' ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। उसके पश्चात् अमीर खुसरो (१२०५), नामदेव (१२६०-१३५०), श्री चन्द्राचार्य (१४९४ मात्रा-शास्त्र), गंग (१५१५ चन्द-छन्द वर्णन), रामप्रसाद कथावाचक (योगवाशिष्ठ १७४१), लल्लूजी लाल (१७५३-१८२५ प्रेमसागर), सदल मिश्र, सदासुखलाल (१७४६-१८२४ सुखसागर), इंशाअल्ला खाँ आदि ने १९वीं शताब्दी में इसी भाषा का प्रयोग किया जिसमें से इंशाअल्ला खाँ ने तो ऐसी हिन्दी का प्रयोग किया जिसमें 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले और बाहर की बोली (अरबी, फारसी) और गँवारी (ब्रज, अवधी आदि) कुछ उसके बीच में न हो, भाषापन (संस्कृतनिष्टता) भी न हो।' कलकत्ते की स्कूल बुक सोसाइटी (१८१७) और आगरा स्कूल बुक सोसाइटी ने इसी हिन्दी में पुस्तकें छपवाई और डैनिश पादरी कैरे, मार्शमैन और वार्ड ने अपने धर्मग्रन्थ छपवाए। इसका अर्थ यह था कि हिन्दी भाषा जो सर्वग्राह्य बनी थी वही नागरी, हिन्दवी, आर्य भाषा और हिन्दुस्तानी तथा उर्दू (बाजार या व्यवसाय) की भाषा के नाम से विभिन्न युगों में चलती रही और यह किसी एक प्रदेश की भाषा नहीं थी इसलिए इसका कोई निश्चित नाम भी नहीं पड़ा। दिल्ली के मुसलमान शासकों ने अपने सारे राज्य में अपना शासन चलाने के लिए इसकी व्यापकता के कारण इसी भाषा को आधार मान लिया। इसका अर्थ यह है कि आज से चार सौ वर्ष पूर्व लोग हम से अधिक बुद्धिमान थे, जिन्होंने यह अनुभव कर लिया कि विभिन्न प्रकार की भाषाएँ बोलनेवालों को एक सूत्र में बाँधने के लिए उनके पारस्परिक व्यवहार और व्यवसाय के लिए अपने देश की एक भाषा नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी की प्रकृति—खुसरो और इंशाअल्ला खाँ की

'हिन्दवी' से एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी की मूल प्रकृति तद्भवात्मिका है जिसमें अधिकांश शब्द संस्कृत के तद्भव हैं और कुछ परिमित संख्या में देशी। ये देशी शब्द प्रत्येक लेखक के प्रादेशिक संस्कार के अनुसार भिन्न हो जाते हैं, किन्तु क्रिया, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय, लिंग तथा वचन की प्रकृति ज्यों-की-त्यों रहती है।

हिन्दी की क्रिया-प्रकृति कुछ स्थानों पर पूर्णतः संस्कृत की अनुगामिनी है। 'सः याति (वह जाता है या जाती है) वाक्य में संस्कृत का 'याति' शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंग के साथ ज्यों-का-त्यों है। पुल्लिंग बदलकर 'जाता' हो जाता है। इतना ही नहीं, हिन्दी में इस अनिश्चित वर्तमान काल में संस्कृत की प्रकृति के अनुसार 'सः यातः अस्ति, सा याता अस्ति का रूपान्तर है क्योंकि यदि यह केवल याति का रूपान्तर होता तो कहा जाता 'वह जाता', 'वह जाती', इसमें 'है' की आवश्यकता न होती। अतः, हिन्दी की क्रिया प्रकृति में संस्कृत से यह परिवर्तन किया गया, इतना ही नहीं, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में निश्चयवाचक वर्तमान में 'हैगा' और ब्रजभाषा में 'हैगो' का प्रयोग करते हैं, जिसके लिए हम लोग शिष्ट हिन्दी में केवल 'है' कहते हैं। 'गतः आसीत्' का जैसे भूतकाल में 'गया था' बन गया वैसे ही भविष्यकाल का वाचक 'गा' हिन्दी में निश्चित वर्तमान के रूप में 'अस्ति गतः' का अपभ्रष्ट 'हैगा' भी बन गया। क्रिया में लिंग-परिवर्तन से उन भाषा-भाषियों को असुविधा होती है जिनके यहाँ क्रिया का एक ही लिंग होता है और यह दोष नहीं वरन् सरल-बोध्यता के लिए गुण भी है।

हिन्दी के सर्वनामों में 'हम' और 'तुम' तो संस्कृत के 'अहम्' और 'त्वम्' के तद्भव रूप हैं किन्तु 'मैं' और 'तुम' दोनों पारसी प्राकृत के 'मन' और 'तो' के अपभ्रष्ट रूप हैं। यह पारसी प्राकृत उस उत्तर-पश्चिम भारत में प्रयुक्त होती थी जो दुर्भाग्यवश पाकिस्तान के अन्तर्गत आ गया है। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् ये 'मन' और 'तो' दोनों हिन्दी में प्रविष्ट हो गए और स्वीकृत कर लिये गए। 'वह' तो 'सः' का प्राकृत रूप ही है जो पहले 'हः' बना और फिर 'वह'। यह तृतीय पुरुष का सर्वनाम एकवचन में 'वह' तथा बहुवचन में 'वे' के रूप में प्रयुक्त होना चाहिए, किन्तु प्रायः लोग दोनों वचनों में वह का ही प्रयोग करने लगे हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में यह भेद स्पष्ट रहता है—'वो जाहरा, वा जाहरी।' बहुवचन में स्त्रियाँ भी अब 'हम जा रही हैं' के बदले 'हम जा रहे हैं', कहती हैं।

हिन्दी में विशेषण भी विशेष्य के लिंग के अनुसार अपना लिंग बदलता है—'अच्छा लड़का, अच्छी लड़की।' किन्तु यदि तत्सम विशेषण आ जाता है तो वह अपना लिंग नहीं बदलता, जैसे सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की।

पारसी प्राकृत से कुछ अव्यय भी आए हैं जैसे 'व'—राम व लक्ष्मण, गंगा व यमुना। किन्तु इस 'व' का प्रयोग अब तो बहुत कम होने लगा है किन्तु दो वाक्यों को जोड़नेवाला पारसी शब्द 'कि' (उसने कहा कि) हिन्दी में पूर्णतः स्वीकृत कर लिया गया है और उसका इतना अधिक प्रयोग होता है कि अब किसी भी प्रकार उसे छोड़ा नहीं जा सकता। इसके लिए संस्कृत में 'यत्' शब्द का प्रयोग होता था, जिसका तद्भव रूप आज भी हमें बंगाली सज्जनों द्वारा बोली हुई हिन्दी में प्राप्त हो जाता है, जैसे 'हम बोला जे हमको कागद दिखाय दो', इसमें 'जे' शब्द उसी 'यत्' का तद्भव रूप 'कि' के बदले प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी की एक और भी विशेषता है। उसके आकारान्त पुल्लिंग शब्दों के साथ जहाँ 'परसर्ग' लगा कि उसके अन्त्य आकार का एकार हो जाता है—'मैं कलकत्ते से घोड़े पर चढ़कर आगरे गया।' बहुत से लेखक, कवि तथा सम्पादक इस सम्बन्ध में बहुत प्रमाद करते हैं। वे लिखते हैं—'कलकत्ता से, माला से' आदि।

हिन्दी की क्रिया-प्रकृति में कुछ बड़े विचित्र प्रयोग हैं जो संसार की किसी भाषा में नहीं प्राप्त होते हैं—'वह अपना गट्ठर बाँधे-छाने, सँभाले-उठाए लिये चला जा रहा है। इसमें बाँधना, छानना, सँभालना, उठाना, लेना, चलना, जाना, रहना और होना इन नौ क्रियाओं का एक साथ प्रयोग हुआ है। अन्य भाषा में इस प्रकार के वाक्यों का अनुवाद भी सम्भव नहीं है। हिन्दी में क्रिया का भी लिंग बदलता है—'लड़का जा रहा है, लड़की जा रही है।'

हिन्दी की लिंग-प्रकृति संस्कृत से निश्चय ही भिन्न है। इसमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग के बदले केवल पुल्लिंग और स्त्रीलिंग ही है। यह लिंग-प्रकृति हिन्दी की अपनी है जो उसने उत्तर भारत में बोली जानेवाली राज-

स्थानी, पंजाबी, व्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही आदि देशी भाषा से ग्रहण की है और जिससे उसमें सरलता भी आ गई है। गुजराती में भी तीन लिंग हैं और फारसी में भी मुज़क्कर (पुल्लिंग), मवन्निस (स्त्रीलिंग) और मुख़न्नस (नपुंसकलिंग) तीन हैं। पर हिन्दी की यह लिंग-प्रकृति उसकी अपनी सहधर्मिणी भाषाओं से प्राप्त हुई है।

यही बात वचन-प्रकृति के सम्बन्ध में भी है, जो प्रायः भारत की भाषाओं में समान रूप से व्याप्त है। संस्कृत में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के क्रम से तीन वचन होते हैं किन्तु हिन्दी में केवल दो ही वचन होते हैं और यही देशी भाषाओं की प्रकृति भी है।

हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति संस्कृत से कुछ भिन्न है। संस्कृत के 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण अए और अओ होता है। ऋ, लृ, ङ, ञ, ळ का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता। मूर्धन्य ष का लिखित भाषा में प्रयोग होता है, बोलने में नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ ध्वनियाँ हिन्दी की अपनी हैं जैसे ड़, ढ़, न्ह, म्ह, ल्ह। 'ण' के बदले हिन्दी में सर्वत्र 'न' का प्रयोग होता है किन्तु तत्सम शब्दों में 'ण' का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'अः' का प्रयोग भी 'अन्तःकरण' आदि तत्सम शब्दों में ही होता है। उपनिषत्काल में 'अः' का ऊष्मा अंश आगे मिल जाता था—'सः उवाच' का 'स होवाच' बन गया।

हिन्दी की स्वाभाविक ध्वनि-प्रकृति अनुनासिक-बहुला है। यह अनुनासिकत्व कुछ तो संस्कृत के 'आनि' कुछ 'अं' और कुछ आगम ध्वनि के रूप में आया है किन्तु वह हिन्दी की अपनी विशिष्ट प्रकृति है, जिसका प्रयोग ब्रज, अवधी, मगही आदि सहयोगी भाषाओं में प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह है कि हिन्दी की मूल प्रकृति तद्भवात्मिकता है जिसमें संस्कृत के शब्द तो तद्भव रूप में हैं ही, साथ ही सहयोगी भाषाओं की प्रकृति का भी सरलता के लिए समन्वय किया गया है।

हिन्दी ने उदारतापूर्वक समय-समय पर अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार फ़ारसी, अरबी, तुर्की, अँगरेजी तथा उन अन्य अनेक भाषाओं के शब्दों को ग्रहण कर लिया जिनके सम्पर्क में वह आई। कुछ शब्द राजकीय प्रभाव के कारण अनावश्यक और अवांछनीय रूप में ग्रहण किये गए जिनके प्रतिरूप पर्याय देशी भाषा या संस्कृत में विद्यमान थे, जैसे 'जरूर' शब्द के लिए 'अवसि' या 'अवश्य' का ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि यह शब्द हमारी भाषा में विद्यमान है, किन्तु बटन, टोपी, कोट, चश्मा आदि शब्द ग्रहण कर लेने चाहिए क्योंकि इनके पर्याय अपनी भाषा में नहीं हैं और यदि इनके पर्याय गढ़े भी जाएँ तो अप्राकृतिक होंगे। हमें बहुत-से शब्द बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि सहयोगिनी भाषाओं से भी ग्रहण करने चाहिए, जिनका अत्यन्त सटीक प्रयोग उन भाषाओं में होता चला आ रहा है।

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास लिखनेवालों ने जहाँ उदारतापूर्वक राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली और मगही को हिन्दी के अन्तर्गत माना वहाँ उन्हें पंजाबी, गुजराती और बँगला को भी समन्वित करना चाहिए था। कवीन्द्र रवीन्द्र का 'आज दुखिन दुआर खुला, एशो एशो एशो आमार वसन्त।' इसमें 'एशो' ही एक शब्द हिन्दी से भिन्न है। बँगला तो केवल उच्चारण के कारण विलग प्रतीत होती है अन्यथा वह हिन्दी के नितान्त समीप है।

इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दी ने अपना प्रारम्भ तो मूलतः संस्कृत की तद्भव प्रकृति से किया और प्रधानतः अन्तर्वेद की देशी भाषा के शब्दों को ग्रहण करते हुए उन अन्य अनेक भाषाओं के शब्दों को अपनी प्रकृति में आत्मसात् कर लिया जिनके सम्पर्क में वह आती रही। किन्तु ज्यों-ज्यों यह भाषा अन्तःप्रान्तीय सम्पर्क के लिए काम में लाई जाने लगी त्यों-त्यों इसमें संस्कृत के तद्भव और अन्तर्वेद के देशी शब्दों के बदले संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा। इस प्रयास में इसकी एक शाखा फ़ारसी और अरबी के शब्दों से अधिक प्रभावित होने के कारण उर्दू बन गई और राजाश्रय मिलने के कारण दिल्ली, लखनऊ और पंजाब में तथा दक्षिण हैदराबाद में मँजकर चल निकली। इधर हिन्दी भी संस्कृतनिष्ठ होने के कारण समस्त भारत के लोगों के लिए ग्राह्य बन गई, क्योंकि संस्कृत के शब्द स्वभावतः भारत के प्रत्येक प्रदेश में और वहाँ की भाषाओं में तत्सम रूप में सुलभता के साथ सर्वबोध्य थे।

इस प्रकार हिन्दी ने संस्कृत और अन्तर्वेद की लोकभाषा का और संस्कृत की तद्भवात्मक प्रकृति का आश्रय

लेकर भारतवर्ष-भर के व्यवसायियों और तीर्थ-यात्रियों के सौविध्य के लिए सब के सहयोगात्मक प्रयोग से जो अपना सरल रूप बनाया और जिसे सन्तों ने अपने विचार के प्रचार के लिए, शासकों ने अपने व्यापक शासन सौकर्य के लिए और व्यवसायियों ने व्यापार-सुविधा की दृष्टि से एक सर्वसमन्वयात्मक रूप दिया, वही कवियों, लेखकों, पत्र-कारों और अध्यापकों के द्वारा भली प्रकार परिमार्जित होकर और संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय लेकर अब हिन्दी बन गई, जिसमें कुछ लोगों के मतानुसार सभी प्रचलित शब्दों का समावेश किया जाना चाहिए, किन्तु वास्तव में जिसमें उन्हीं शब्दों का समावेश वांछनीय है जिनका न तो हिन्दी या संस्कृत में पर्याय प्राप्त है अथवा जो अनुवाद कर देने पर सरलता से बोधगम्य नहीं हो सकते।

अब हिन्दी की प्रकृति स्थिर हो गई है। उसका शब्द-भंडार अन्य सहयोगी भाषाओं के सहारे बढ़ाकर उसे इतना व्यापक बना देना चाहिए कि वह सचमुच सारे हिन्द की 'हिन्दी' बन जाए।

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

हिन्दी-भाषा में लिंग-विधान

डॉ० अंबाप्रसाद 'सुमन' का जन्म २१ मार्च, १९१६ को जिला अलीगढ़ के शेखूपुर ग्राम में हुआ था। आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी एम० ए० तथा साहित्य सम्मेलन की साहित्यरत्न परीक्षाओं के अतिरिक्त सुमनजी ने आगरा विश्वविद्यालय से भाषा-शास्त्र में पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधियाँ ली हैं। साहित्यिक तथा सामाजिक विषयों पर आपके कई ग्रन्थ तथा लेख प्रकाशित हो चुके हैं। आपको पी-एच० डी० के शोध प्रबन्ध—'कृषक जीवन-सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली' पर उत्तरप्रदेश सरकार ने ११०० रु० का पुरस्कार प्रदान किया था। इस समय अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापन कर रहे हैं।

हिन्दी भाषा से हमारा तात्पर्य साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी से है, जो संस्कृत, प्राकृत, देशज, देशी, विदेशी आदि शब्दों को लेकर अपने भाण्डार को बढ़ा रही है और जो अपनी स्वाभाविक साकारता देवनागरी लिपि में प्रकट कर रही है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से गुजराती और मराठी में तो तीन लिंग अर्थात् पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग संस्कृत की भाँति आज भी पाये जाते हैं, लेकिन हिन्दी भाषा में केवल दो ही लिंग हैं अर्थात् पुल्लिग और स्त्रीलिंग। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत काल के नपुंसकलिंग को हिन्दी ने पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग में ही समाविष्ट कर लिया है। जैसे संस्कृत का नपुंसकलिंग शब्द 'फल' हिन्दी में आकर पुल्लिग हुआ और संस्कृत का नपुंसकलिंग 'पुस्तक' शब्द हिन्दी में आकर स्त्रीलिंग हुआ। हिन्दी के इस लिंग-विधान की भूमिका प्राकृत काल में ही प्रारम्भ हो गई थी। कितनी बढ़िया बात हुई कि अपभ्रंश और हिन्दी में नपुंसकलिंग की समाप्ति से अनेक शब्द-रूपों का झंझट मिट गया। देखिए—

संस्कृत	हिन्दी
(१) बालकः सुन्दरः अस्ति।	(१) बालक सुन्दर है।
(२) बालिका सुन्दरी अस्ति।	(२) बालिका सुन्दर है।
(३) पुस्तकं सुन्दरं अस्ति।	(३) पुस्तक ,, ,,
(१) बालकः दृष्टः।	(१) बालक देखा गया।
(१) बालिका दृष्टा।	(२) बालिका देखी गयी।
(३) पुस्तकं दृष्टम्।	(३) पुस्तक देखी गयी।

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकट है कि संस्कृत के रूप-विस्तार को हिन्दी ने कितना कम किया है।

भाववाचक तथा निर्जीव पदार्थ-द्योतक शब्दों में पुल्लिग और स्त्रीलिंग किस तरह पहचाना जाए, यह एक विकट समस्या है। हिन्दी में कोई कहता है—"चर्चा की" और कोई कहता है—"चर्चा किया।" इसी प्रकार **'ग़ौर'**, **'कलम'**, **'दही'**, **'विनय'**, **'तमाखू'**, **'बर्फ़'** आदि को कोई पुल्लिग रूप में बोलता है और कोई स्त्रीलिंग रूप में। ऐसे उभय-लिंगीय शब्दों का क्या किया जाए? इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि ऐसे शब्दों को दोनों लिंगों में ही ठीक मान लेना चाहिए। संस्कृत में भी ऐसे शब्द पाये जाते हैं

जो तीनों लिंगों में प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे—

पुल्लिग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
कलशः	कलशी	कलशं
तटः	तटी	तटं
दरः	दरी	दरं
पुटः	पुटी	पुटं

संस्कृत में संज्ञा, विशेषण और क्रिया (कृदन्तीय क्रिया) के रूपों में वचनों के दृष्टिकोण से एक लिंग में कितने अधिक रूप होते हैं, इसका तनिक अनुमान तो लगाइए। इसके अतिरिक्त संस्कृत में तो लिंग 'अर्थ' में न होकर शुद्ध रूप से शब्द में भी पाया जाता है। स्त्री का अर्थ देनेवाले **'कलत्र'** और **'दारा'** शब्द इसके प्रमाण में उद्धृत किये जा सकते हैं, जिन्हें संस्कृत भाषा व्याकरण की दृष्टि से क्रमशः नपुंसकलिंग और पुल्लिग मानती है। कम-से-कम हिन्दी में ऐसा झंझट तो नहीं है। लिंगधारी प्राणिवाची तो हिन्दी में निश्चित रूपेण अर्थ से निर्णीत हो जाते हैं। जैसे—

(१) लड़का अच्छा है; लड़की अच्छी है।

(२) भाई आता है; बहन (भाभी)[१] आती है।

(३) बैल बैठता है; गाय बैठती है।

(४) पुरुष हँसता है; स्त्री हँसती है।

(५) नर कौआ उड़ता है; मादा कौआ उड़ती है।

केवल बेजानदार वस्तुओं को प्रकट करनेवाले शब्दों के लिंग-निर्णय में कठिनाई रह जाती है, जिसकी समस्या का समाधान हमें खोजना है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि कौनसा तत्त्व है जिसके आधार पर हिन्दी-भाषी 'खाट' को स्त्रीलिंग और 'ठाट' को पुल्लिग कहता है। 'नाव' स्त्रीलिंग क्यों है? और 'घाव' पुल्लिग क्यों है? 'चाँद' (=चन्द्रमा) पुल्लिग क्यों माना गया है? और 'चाँद' (=सिर) स्त्रीलिंग में क्यों रखा गया? लोग कहते हैं कि "**चाँद** निकल आया।" "**चाँद** गंजी हो गई।" इन प्रश्नों के उत्तर देने के लिए हमें प्रस्तुत शब्द की 'निरुक्ति' तथा संसर्ग पर अवश्य ध्यान देना होगा। कारण यह है कि हिन्दी में कुछ लिंग वे ही हैं, जो मूल भाषा में थे, भले ही उनके रूप में अन्तर आ गया हो। संस्कृत में 'चन्द्र' शब्द पुल्लिग है; इसका विकसित रूप 'चाँद' भी पुल्लिग ही रहा। 'खोपड़ी' शब्द ईकारान्तता के नियम पर स्त्रीलिंग है। इसके केन्द्र भाग को 'चाँद' कहते हैं। अतः खोपड़ी के लिंग के आधार पर 'चाँद' का भी वही लिंग हो गया। 'कार' एक प्रकार की गाड़ी ही है। अतः गाड़ी के कारण 'कार' भी स्त्रीलिंग है। संस्कृत में **'रेखा'** शब्द स्त्रीलिंग है। यह प्राकृत के माध्यम से हिन्दी में **'रेख'** बनकर आया है; इसलिए हिन्दी में 'रेख' शब्द स्त्रीलिंग ही है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में लिखा है कि अपभ्रंश भाषा में 'सि' =सु आदि विभक्तियाँ परे रहें तो संज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर का प्रायः दीर्घ या ह्रस्व हो जाता है—

"स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ"—(हेम व्याक० ८।४।३३०)

सं० धन्या > अप० धण। सं० सुवर्ण रेखा > अप० सुवण्णरेह—हेमचन्द्र के व्याकरण से ऐसे उदाहरण अनेक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। देखिए—

"ढोल्ला सामला **धण** चम्पा वण्णी। णाइ **सुवण्णरेह** कस वट्टइ दिण्णी।"

—(हेम व्याकरण, अ० ८। पाद ४ सू० ३३० छन्द १)

लिंग-निर्णय में सामान्य तत्त्व यह है कि जिन शब्दों के अर्थों में ओज, बल, कठोरता, उग्रता, विशालता आदि भावों की अनुभूति होती है, वे पुल्लिग माने जाते हैं और जिनके अर्थों में कोमलता, सुन्दरता, लघुता आदि भावों का आभास मिलता है, वे स्त्रीलिंग माने जाते हैं। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री प्रो० बाबूरामजी सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'सामान्यभाषा-विज्ञान' में उक्त तथ्य की ओर संकेत किया है। उनका कथन है कि—

"संस्कृत का स्त्रीवाचक पुं० 'दाराः' शब्द शायद स्त्री के गृह-प्रबन्ध के कौशल को देखकर ही पुल्लिग हुआ होगा। ××× संस्कृत का स्त्रीवाचक नपुंसकलिंग 'कलत्र' शब्द शायद इस बात का द्योतक है कि स्त्री और सामग्री की तरह पिता के घर से पति के घर पहुँचा दी जाती थी। ××× जलवाचक 'अपस्' का स्त्रीलिंग में प्रयोग उसके सुख, शान्ति देने के गुण का द्योतक है।[२]

अँगरेजी में लिंग चार हैं। बेजानदार चीजों को वहाँ

१. **'भाई' शब्द का स्त्रीलिंग 'बहन' है और 'भाभी' भी। पु० 'गोपः' स्त्री, गोपा; गोपी।**

२. **डॉ० बाबूराम सक्सेना, 'सामान्य भाषा विज्ञान', हिन्दी सा० स० प्रयाग, संवत् २०१३, पृ० ९३,९४।**

'न्यूटर जेण्डर' में गिनाया जाता है। अँगरेजी-मिश्रित हिन्दी-वाक्य बोलनेवाले बाबुओं में कोई तो कहता है कि—"मैंने साहब को अपना **ऐप्लीकेशन** दे दिया।" और कोई कहता है कि—"मैंने साहब को अपनी **ऐप्लीकेशन** दे दी।" यहाँ एक **'ऐप्लीकेशन'** को पुल्लिग में प्रयुक्त कर रहा है और दूसरा स्त्रीलिंग में। इसका क्या कारण है ?

इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। जिस बाबू ने 'ऐप्लीकेशन' शब्द का प्रयोग पुल्लिग में किया है, उसकी मानसिक भूमिका में पुल्लिग शब्द 'प्रार्थना-पत्र' अनूदित रूप में पहले से उपस्थित है। जिसने 'ऐप्लीकेशन' को स्त्रीलिंग में कहा है, उसके मन के पटल पर स्त्रीलिंग 'अर्जी' शब्द है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अँगरेजी 'स्टाइल'[1] शब्द को 'शैली' का पर्याय मानकर उसे स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त किया है। इसका कारण 'शैली' शब्द ही है जो हिन्दी में स्त्रीलिंग माना जाता है।

पतंजलि ने महाभाष्य में कहा है कि लिंग लोक के आधार पर निश्चित होता है। कालक्रमानुसार और स्थान-भेद के आधार पर शब्दों के लिंग परिवर्तित भी होते रहते हैं। 'चलनी' के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाला 'तितउ' शब्द वैदिक काल में नपुंसकलिंग था। वेद में कहा गया है—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो।" (ऋक्० १०।७१।२)

यास्क ने इसे नपुंसकलिंग ही लिखा है—

"तितउ परिपवनं भवति"—(निरुक्त, नैगम काण्ड, ४।९)

अमरकोश में 'तितउ' पुल्लिग है। (अमर० २।९।२६)

यही रत्नकोशकार के द्वारा नपुंसकलिंग लिखा गया है। लोकोक्ति प्रचलित है कि—

'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः' अर्थात् हाथी के पाँव में सबका पाँव।

इससे सिद्ध है कि लिंग-निर्णय देश-काल के आधार पर परिवर्तित होता रहता है। अवधी और ब्रजभाषा के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। प्रथम पूर्वी उपभाषा है तो द्वितीय पश्चिमी उपभाषा। ब्रजभाषा में 'लात' शब्द स्त्रीलिंग है लेकिन अवधी में वही पुल्लिग है। यहाँ स्मरण, रखना चाहिए कि अवधी 'मागधी' की विकसित परम्परा में आती है और मागधी ने नपुंसकलिंग को पुल्लिग में बदलना प्रारम्भ किया था। नीचे लिखी सूची से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा की कुछ संज्ञाएँ अवधी में लिंग बदल लेती हैं। प्रमाण के लिए श्री 'समीर' द्वारा सम्पादित 'अवधी कोश' (प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) देखा जा सकता है।

ब्रजभाषा में	**अवधी में**
अकड़ (स्त्री०) = गर्वीलापन	अकड़ (पु०)
ऐंठ (स्त्री०) = गर्व	अइंठ (पु०)
ओट (स्त्री) = आड़	ओट (पु०)
तमांकू (पु०) = तम्बाकू	तमाकू (स्त्री०)
लात (स्त्री०) = पाँव	लात (पु०)

हिन्दी में संज्ञाओं, विशेषणों और क्रियाओं के पद ही लिंगानुसार परिवर्तित हुआ करते हैं। जैसे—

(१) **लड़का** आता है।	**लड़की** आती है।
(२) लड़का **अच्छा** है।	लड़की **अच्छी** है।
(३) लड़का **आया**।	लड़की **आई**।
(४) लड़का **आएगा**।	लड़की **आएगी**।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिन्दी ने लिंग-परिवर्तन के क्षेत्र में बड़ा सीधा-सच्चा मार्ग अपनाया है अर्थात् पुल्लिग में 'आकारान्त' और स्त्रीलिंग में 'ईकारान्त'। विभिन्न लिंगीय दो संज्ञाओं का एक ही विशेषण हो तो वह दो प्रकार से प्रयुक्त होता है—(१) लड़का और लड़की **अच्छी** है—निकटवर्ती संज्ञा शब्द के लिंगानुसार। (२) लड़का और लड़की **अच्छे** हैं। पुल्लिग संज्ञा शब्द के अनुसार लिंग में, किन्तु वचन दोनों के अनुसार। हिन्दी के सर्वनाम पदों में अपना निजी लिंग-परिवर्तन नहीं पाया जाता। केवल क्रिया-पदों के लिंग से उनका लिंग-निर्णय होता है, जैसे—

वह पढ़ता है; **वह** पढ़ती है। **तू** घर जाएगा; **तू** घर जाएगी।

संज्ञा में लिंग

पुल्लिग	**स्त्रीलिंग**
लड़का	लड़की

१. **"उन्होंने खड़ीबोली पद्य की चार स्टाइलें कायम की थीं।"—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', सं० २००६, पृ० ५९९)**

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
चबूतरा	चबूतरी
नँदोरा	नँदोरी[1]
भिसौरा	भिसौरी[2]

कुछ शब्द रूप में पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग मालूम पड़ते हैं। किन्तु अर्थ में वे नितान्त भिन्न होते हैं। जैसे—

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
(१) छाता = छतरी	(२) छाती = वक्षःस्थल
(१) ताला = कुफ्ल	(२) ताली = चाबी
(१) तोड़ा = गले का आभूषण	(२) तोड़ी = पाँव का आभूषण

विशेषण में लिंग

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
अच्छा	अच्छी
काला	काली
नीला	नीली
पीला	पीली
ताजा	ताजी

क्रिया में लिंग

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
आना	आती
आया	आयी
आएगा	आएगी

अतः (—आ) पुंसूचक और (ई) स्त्री सूचक प्रत्ययें हैं।

हिन्दी में कुछ प्रत्ययें ऐसी हैं, जो संज्ञा शब्दों के लिंग-निर्णय में सहायक सिद्ध होती हैं। उनके अध्ययन से हम लिंग-निर्णय जल्दी कर सकते हैं।

हिन्दी में कुछ प्रत्ययें ऐसी हैं, जिनके लगने पर संज्ञा शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। जैसे—

प्रत्यय	विश्लेषण	शब्द	लिंग
—अक	कड़्+—अक	=कड़क	स्त्री०
	खड़्+ ,,	=खड़क	,,
	चम्+—अक	=चमक	स्त्री०
	धम्+ ,,	=धमक	,,
—अत	घट्+—अत	=घटत	,,
	चल्+ ,,	=चलत	,,
	फिर्+ ,,	=फिरत	,,
	बच्+ ,,	=बचत	,,
—अन	कह्+—अन	=कहन	,,
	कुढ़्+ ,,	=कुढ़न	,,
	चल्+ ,,	=चलन	,,
	सुन्+ ,,	=सुनन	,,
—अन्त	गढ़्+—अन्त	=गढ़न्त	,,
	भिड़्+ ,,	=भिड़न्त	,,
	रट्+ ,,	=रटन्त	,,
—आई	चढ़्+—आई	=चढ़ाई	,,
	पिट्+ ,,	=पिटाई	,,
	लड़्+ ,,	=लड़ाई	,,
—आन	उठ्+—आन	=उठान	,,
	उड़्+ ,,	=उड़ान	,,
—आवट	गिर्+—आवट	=गिरावट	,,
	बन्+ ,,	=बनावट	,,
	सज्+ ,,	=सजावट	,,
—आस	पी +—आस	=प्यास	,,
	मूत्+—आस	=मुतास	,,
—ई	हँस्+—ई	=हँसी	,,
	खुश्+ ,,	=खुशी	,,
—गत	बन्+—गत	=बनगत	,,
	चल्+ ,,	=चलगत	,,
—ता	लघु+—ता	=लघुता	,,
—ती	घट्+—ती	=घटती	,,
	बढ़्+ ,,	=बढ़ती	,,
—हट	घबरा+—हट	=घबराहट	,,
	चिल्ला+ ,,	=चिल्लाहट	,,

१. ऐसे शब्द स्त्रीलिंग रूप में लघुतार्थ सूचक भी होते हैं।

२. मोती, पानी, हाती ईकारान्त होने पर भी पुल्लिंग इसलिए है कि ये संस्कृत, प्राकृत की अवशिष्ट ध्वनियाँ लिये हुए हैं—सं० मौक्तिक>मोत्तिअ>मोती। सं० पानीय>पानी। हस्ती>हत्ती>हाती।

प्रत्यय	विश्लेषण	शब्द	लिंग
धातुमूलक[1]	छाप्+—०	=छाप्	स्त्री०
	पुकार्+ ,,	=पुकार्	,,

इसी प्रकार नित्य पुल्लिंग सूचक प्रत्ययें भी हैं—

प्रत्यय	विश्लेषण	शब्द	लिंग
—अइया	ओढ़+—अइया	=उढ़इया	पु०
	बिछ्+ ,,	=बिछइया	,,
—आ	जोत्+—आ	=जोता	,,
—आप	मिल्+—आप	=मिलाप	,,
—आपा	राँड़+—आपा	=रँड़ापा	,,
	बूढ़+ ,,	=बुढ़ापा	,,
—आव	चढ़+—आव	=चढ़ाव	,,
	पहन्+— ,,	=पहनाव	,,
— त्व	गुरु+—त्व	=गुरुत्व	,,
	मनुष्य+ ,,	=मनुष्यत्व	,,

हिन्दी में कुछ प्रत्ययें ऐसी हैं जिनसे पुल्लिंग शब्द स्त्रीलिंग बनाये जाते हैं। जैसे—

पुल्लिंग शब्द	मूलशब्द+प्रत्यय	स्त्रीलिंग शब्द
स्त्री प्रत्यय—अ		
खौंपा	खौंप्+—अ	=खौंप[2]
भैंसा	भैंस्+—अ	=भैंस[3]
—आइन		
चौवा	चौव्+—आइन	=चौबाइन
बाबू	बबु+ ,,	=बबुआइन
—आनी		
पंडित	पंडित्+—आनी	=पंडितानी
महतर	महतर्+ ,,	=महतरानी
सेठ	सेठ्+ ,,	=सेठानी
ठाकुर	ठकुर्+ ,,	=ठकुरानी
गुरु	गुरु+ ,,	=गुरुआनी

इनके अन्त में पायी जानेवाली (—आनी) प्रत्यय संस्कृत की परम्परा से आयी हुई प्रतीत होती है। संस्कृत में आचार्य की पत्नी 'आचार्यानी' कहाती है। शिक्षण तथा पाठन आदि का कार्य करनेवाली को 'आचार्या' कहते हैं।

पुल्लिंग शब्द	मूलशब्द+प्रत्यय	स्त्रीलिंग शब्द
—इन		
माली	माल्+—इन	=मालिन
तेली	तेल्+ ,,	=तेलिन
धोबी	धोब्+ ,,	=धोबिन
लोहार	लोहार+ ,,	=लोहारिन
ग्वाल, ग्वाला	ग्वाल् ,,	=ग्वालिन[4] (ग्वालिनी भी)
—इनी		
स्वामी	स्वाम्+—इनी	=स्वामिनी[5]
अपराधी	अपराध्+ ,,	=अपराधिनी स्त्री०
पुजारी	पुजार्+ ,,	=पुजारिनी ,,

'हाथी' का स्त्रीलिंग 'हथिनी' है, नियमानुसार 'हाथिनी' होना चाहिए था। किन्तु सं० हस्तिनी का विकसित रूप 'हथिनी' ही हिन्दी को गृहीत हुआ।

---

१. इनमें वाच आदि अपवाद भी मिलते हैं। 'उजाड़', 'उतार', 'दुलार', 'सुधार' आदि द्विअक्षरी शब्द पुल्लिंग हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रायः एकाक्षरी धातुमूलक भाववाचक संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं; जैसे काट्, जीत्, टूट्, फूट्, मोड़्, मार्, पीट्, रोक्, हार् आदि एकाक्षरी धातुमूलक संज्ञाएँ स्त्रीलिंग ही हैं। वैसे अपवाद भी इनमें मिलते ही हैं।

२, ३. वास्तव में ये शब्द व्यंजनान्त हैं—खौंप्, भैंस्।

४. उच्चारण की दृष्टि से इनके अन्त में (—इन) प्रत्यय माननी चाहिए। रत्नाकर कृत उद्धव-शतक (छन्द २७) में तिर्यक रूप बहुवचन 'ग्वालिनि' है।

५. इसमें संस्कृत की परम्परा का ही पालन हो रहा है, जैसे—संस्कृत में पु० करी, स्त्री० कारिणी। पु० शास्त्री, स्त्री० शास्त्रिणी। पु० मानी, स्त्री० मानिनी। पु० विहारी, स्त्री० विहारिणी। पु० उत्कर्षी, स्त्री० उत्कर्षिणी—र, ष् के परे आनेवाला 'न्' वर्ण 'ण' में बदल जाता है।

पुंल्लिग शब्द	मूलशब्द+प्रत्यय	स्त्रीलिंग शब्द
—ई		
बेटा	बेट्+ —ई	=बेटी[1] स्त्री०
दास	दास+ ,,	=दासी ,,
—नी		
मोर	मोर+ —नी	=मोरनी ,,
सिंह	सिंह+ ,,	=सिंहनी ,,
स्यार	स्यार+ ,,	=स्यारनी ,,
ऊँट	ऊँट+ ,,	=ऊँटनी ,,

हिन्दी के स्त्रीलिंग-पुल्लिग शब्दों के नियम तथा लिंग-निर्णय के सम्बन्ध में निरपवाद सर्वसामान्य सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते। इस समस्या के समाधान के लिए कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं। उनको क्रियात्मक रूप प्रदान किया गया तो हिन्दी की लिंग-समस्या में सुगमता आ सकती है और हिन्दी-इतर भाषा-भाषियों के लिए लिंग की उतनी कठिनाई फिर नहीं रह सकती। लिंग-निर्णय के सुझाव इस प्रकार हैं—

(१) जिन नियमों में अपवादों की संख्या अधिक मिलती है, उन्हें नियम न समझना चाहिए।

(२) दही, पवन, बर्फ आदि जो उभयलिंग हैं, उन्हें सरलता के लिए पुल्लिग मान लिया जाए; क्योंकि हिन्दी की प्रकृति पुल्लिग प्रधान है। जैसे—कबूतर और कबूतरी का जोड़ा=कबूतरों का जोड़ा। लड़का और लड़की आये।[2] लड़की और लड़का आए।[3]

(३) ईकारान्त शब्दों को स्त्रीलिंग माना जाए और शेष को पुल्लिग के रूप में प्रयुक्त किया जाए।

(४) किसी विशेष कार्य अथवा व्यवसाय को सूचित करनेवाली संज्ञाओं का लिंग-परिवर्तन न किया जाए। जैसे 'गुरु' से 'गुरुआनी' बनाने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार 'कवि'[4] 'राजदूत', 'राष्ट्रपति' आदि शब्दों का लिंग-परिवर्तन उचित नहीं है।

कोई विशेषण शब्द चाहे अरबी से आया हो और चाहे फारसी आदि से, उसके प्रयोग में लिंग की व्यवस्था हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ही रहनी चाहिए। हिन्दी में **'ताजा पानी'** और **'ताजी हवा'** लिखना चाहिए। उसी तरह **उम्दा घोड़ा** और **उम्दी घोड़ी** लिखना ठीक है। क्योंकि हिन्दी आकारान्त विशेषण को स्त्रीलिंग में ईकारान्त कर लेती है। तिर्यक रूप में पुल्लिग आकारान्त विशेषण एकारान्त हो जाता है, स्त्रीलिंग ईकारान्त नहीं होता; जैसे—

(१) **अच्छा** लड़का पुस्तक पढ़ता है;
अच्छे लड़के ने पुस्तक पढ़ी।

(२) **अच्छी** लड़की पुस्तक पढ़ती है;
अच्छी लड़की ने पुस्तक पढ़ी।

संयुक्त क्रियाओं के साथ पूर्वांश की क्रियाओं का लिंग विशेषण की भाँति निश्चित करना चाहिए जैसे—

(१) मुझे बात **कहनी** है।
(२) मेरी बात **माननी** चाहिए।
(३) यह नियम **मानना** चाहिए।
(४) बात **सोचनी** है।
(५) मामला **सोचना** है।

अकर्मक संयुक्त क्रियाओं के पूर्वांश सदैव पुल्लिग रहना चाहिए। जैसे—

(१) मुझे **खेलना** चाहिए। (२) मुझे **खेलना** है।
(३) कमला को **दौड़ना** चाहिए। (४) राम को **दौड़ना** है।

हमारा विश्वास है कि उक्त नियमों का पालन यदि किया जाएगा, तो हिन्दी-भाषा की संज्ञाओं, विशेषणों तथा क्रियाओं में लिंग-प्रयोग की समस्या का झंझट कुछ अवश्य दूर होगा। जब भारतवर्ष की जनता ने संस्कृत भाषा के जटिल नियमों को प्रेम और शान्ति से स्वीकार किया तब हिन्दी के इस सुगम लिंग-विधान को भी प्रेमपूर्वक स्वीकार करना चाहिए। हिन्दी ने तो **नपुंसकलिंग** हटाकर समस्या को सरल ही किया है।

१. इया प्रत्यय के योग से भी स्त्रीलिंग बनते हैं, जैसे—लोटा से लुटिया, लठ से लठिया, बन्दर से बँदरिया।

२, ३. इन वाक्यों की क्रियाएँ पुल्लिगीय हैं। पुल्लिगीय कर्ता की प्रधानता के कारण, ऐसा प्रयोग हिन्दी में अधिक पाया जाता है।

४. वैसे 'कवि' का स्त्रीलिंग शब्द 'कवयित्री' प्रचलित है। "महादेवी वर्मा हिन्दी की अच्छी कवि हैं" लिखना ठीक मानना चाहिए।

की प्रवृत्ति अनायास उमड़ आती है। इस प्रवृत्ति का परोक्ष प्रभाव हिन्दी बोलनेवाले हिन्दीतर-भाषी लोगों की हिन्दी की व्याकरणिक स्थिति में देख पड़ता है। जरा इसे स्पष्ट करें। मलयालम, तमिल, कन्नड़, तेलुगु आदि भाषाओं को मातृभाषा के रूप में बोलनेवाले जब हिन्दी का व्यवहार करते हैं तब परोक्ष रूप से उनकी मातृभाषाओं का व्याकरणिक गठन उनकी हिन्दी-रचना में आ जाता है। यह नया प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के पुस्तकीय-नियमों के अनुसार गलत लगता है।

अब हिन्दी-व्याकरण पर कुछ सोचें। व्याकरण किसी अपौरुषेय और सनातन नियमावली का नाम नहीं है। व्याकरण-नियम किसी भाषा के किसी युग-विशेष में प्रयुक्त रूप-विशेष का बोधक है। भाषा का विकास ज्यों-ज्यों होता है त्यों-त्यों रूप-विकास भी होता है। जैसे, प्राचीन भारतीय-आर्यभाषा संस्कृत में जो विशाल व्याकरणिक रूप-समुच्चय था वह मध्यकालीन आर्यभाषा के युग में संकुचित हो गया। संस्कृत में दस लकार, तीन वचन, तीन लिंग आदि थे। प्राकृतकाल में लकारों का लोप हो गया और विविध कृदन्त क्रियारूप प्रयुक्त हुए। लिंग-व्यवस्था प्रायः बनी रही। परन्तु द्विवचन उठ गया। क्या इस कारण से मध्यकालीन भाषाएँ एकदम भ्रष्ट हुईं? मध्यकाल से आधुनिककाल में आने पर यही संकोच और रूपान्तर-विकास की प्रवृत्ति दुहराती है। यदि इन प्रवृत्तियों को हम केवल अशुद्धि समझते हैं तो सारी आधुनिक भाषाएँ पूर्णतः अशुद्ध हो सकती हैं। बात उलटी है। प्राचीन दृष्टि से गलत रूप अब सही माने गए हैं। विनोदार्थ संस्कृत पण्डित कहते हैं कि संस्कृत पदों का गलत प्रयोग शुद्ध हिन्दी है। यहाँ शुद्धि-अशुद्धि की अपेक्षा विकास की ही बात आती है। वरना **प्रारम्भ होना, संगठन** आदि कितने ही शब्द गलत होने लायक हैं, पर शुद्ध हैं। व्याकरण और भाषा-विज्ञान की इन विविध दृष्टियों से हिन्दी-वचन के विकास की झाँकी लेना ही इस लेख का उद्देश्य है।

हिन्दी के वचनों की चर्चा मूलतः संस्कृत-व्याकरण के आधार पर की जाती है। संस्कृत में तीन-तीन वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। इनके विधायक पाणिनीयसूत्र हैं—"द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने" (१-४-२२) और बहुषु बहुवचनम् (१-४-२१)। यह वचनव्यवस्था वस्तुओं की व्यावहारिक संख्या के अनुसार की जाती है। इनके अलावा भाषा की रूढ़ि के आधार पर एकवचन-बोधक पद भी बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। इस रूढ़ि के कई कारण हैं, जैसे—आदर, राशिभूत अवस्था…आदि।

उदा० प्राणाः, दाराः, गुरुपादाः……

द्विवचन तो जोड़ों, दम्पतियों के अर्थ में प्रयुक्त है। दम्पती, पितरौ, पाणिपादौ…

सर्वनामों में भी तीन वचन मिलते हैं—

अहं	आवां	वयम्
त्वं	युवां	यूयम्
सः	तौ	ते। आदि

इनमें भी एक व्यक्ति का बोध कराने के लिए एकवचन प्रयुक्त है। दो व्यक्तियों के बोध के लिए द्विवचन प्रयुक्त होता है। बहुवचन तो बहुसंख्यावाची और एकवचन में आदरबोधक है। वयम्, यूयम् और ते का प्रयोग एक व्यक्ति के वाक्य में भी शास्त्रार्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ 'वयम्' एक मत में लोगों के प्रतिनिधि के वचन के प्रसंग पर आता है, 'यूयम्' तथा 'ते' भी। नृप आदि उच्चपदस्थ लोग अपने विषय में बोलते समय इसी आदर-वाचक बहुवचन का प्रयोग करते हैं। यह तो शिष्टाचार है।

संस्कृत की यह परम्परा भारतीय संस्कृति में अबाधित रूप से अभी तक विद्यमान है। प्राकृतयुग में पहुँचने पर वचन-प्रक्रिया कुछ सरल और संक्षिप्त हो चलती है। प्राकृत में द्विवचन नहीं रहता, केवल एकवचन-बहुवचन हैं। अपभ्रंश में भी यही प्रक्रिया है। वही क्रम हिन्दी या खड़ी बोली में आता है। इसीलिए हिन्दी में दो वचन हैं—एकवचन और बहुवचन।

एकवचन निम्नलिखित प्रयोगों में आता है।

१. एक संख्याबोधक वस्तु के निर्देश में—घड़ा, कुत्ता।

२. एक वस्तु या राशि का बोध कराने में—धन, जल, चाय, अनाज, तेल, रुपया, दस रुपया, चार कप…

३. समूहवाचक संज्ञा के अर्थ में—सभा, समिति, दल, जनता आदि…

४. क्रियार्थवाचक और विशेषण से निष्पन्न भाव-

वाचक संज्ञा में—मिठास, चढ़ाव, बड़ाई, घबराहट, सफलता, यह, वह···

बहुवचन निम्नलिखित प्रयोगों में आता है।

१. एकाधिक वस्तुओं के निर्देश में—लड़के, कुर्ते, आदमी, कई देश···

२. आदरसूचक या रूढ़िसूचक—देवता, राजा, चाचा, आचार्य, आप, हम, वे···

३. द्रव्यवाचक और समूहवाचक संज्ञाओं की भी एकाधिकता सूचित करने के लिए··· } सारे धन, रुपये, समितियाँ

४. क्रिया तथा गुण से निष्पन्न भाववाचक संज्ञाओं की विविधता में—लड़ाइयाँ, सफलताएँ।

विशेष नियम

१. परमात्मा के विषय में कुछ कहते समय 'तू', 'वह' और 'यह' का प्रयोग होता है। परमात्मा के वचनों का उद्धरण देते समय 'हम' प्रयुक्त है।

२. किसी एक ही व्यक्ति का आदरसहित उल्लेख करते समय 'वह' तथा 'यह' लिखते हैं, पर क्रिया बहुवचन में होती है।

३. लेखक और साधारण लोग भी बातचीत के वक्त 'मैं' के बदले 'हम' का प्रयोग करते हैं।

४. कुछ शब्द नित्य बहुवचन में होते हैं—प्राण, भाग्य, आँसू, केश, बाल, देवता···

इनका अध्ययन जब हिन्दीतर प्रान्त के लोग करते हैं तब कुछ विशेषताएँ आ सकती हैं। इनका एक कारण है हिन्दीतर-भाषाओं की प्रवृत्ति एवं प्रभाव। यों तो हिन्दी का प्रयोग गत सैकड़ों वर्षों से होता है। इन सैकड़ों सालों के भीतर किसी भाषा के वचन-प्रयोग का बदलना भी सम्भव ही है। इन परिवर्तन-कारणों को कहाँ तक साधुता दी जाए, यह प्रश्न उठता है। क्या अब भी कामताप्रसाद गुरु द्वारा लिखित प्राचीन व्याकरण की नियमावली पर दृढ़ता से निर्भर रहना चाहिए? इसका उत्तर देते समय हमें सोचना चाहिए कि अर्थकल्पना और व्याकरणिक व्यवस्था में भाषा वर्षों में परिवर्तित अवश्य होती है।

ऐसे परिवर्तन की स्वीकृति भाषा की तर्कबद्धता के लिए आवश्यक है। ज्यों-ज्यों भाषा का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक बनता है त्यों-त्यों भाषा-प्रयोग की रूढ़ियों को व्यापक क्षेत्र के अनुसार व्यापक बना लेना ही उचित निकलता है। यदि थोड़ा-सा समयोचित सुधार रूढ़ियों में हम करें तो निरर्थक भूलों का हौआ कम कष्ट देगा। इस सुधार का मतलब यह नहीं हैं कि विशेष भाषा की विशेष प्रवृत्ति को मूलसहित बदला जाए। यह तो अनुचित और असम्भव है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से और हिन्दी की कुछ द्राविड़ी भाषाओं से तुलना के आधार पर वचन-विचार की थोड़ी बातें प्रस्तुत करना चाहता हूँ। कुछ खास शब्द ही इसमें आधार या माध्यम के रूप से प्रधानतः लिये गए हैं। इन्हें यथासम्भव श्री कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण के नियमों की पृष्ठभूमि में अवतरित करने की कोशिश करूँगा। मेरी व्याख्या का मतलब हिन्दी की गलतियाँ ढूँढ़ना या दिखाना नहीं। एक व्यक्ति के दोष दिखाने से समाज की भाषागत प्रवृत्ति नहीं टूटा करती।

हिन्दी व्याकरण

२८८. (अ)—आदर के लिए भी बहुवचन आता है जैसे—'राजा के बड़े बेटे आये हैं', 'तुम बच्चे हो।'

'बड़े बेटे' का बहुवचन प्रयोग आदरार्थक है। यह हिन्दी भाषा की निजी प्रवृत्ति है। 'राजा' शब्द स्वतः आदरबोधक है। किन्तु 'बेटा' को भी आदरार्थक मानकर बहुवचन में बदलना एक विशेष बात है। 'बड़े बेटे' से भ्रम भी सम्भव है कि इससे तात्पर्य क्या है। अंग्रेज़ी में इसका अनुवाद होता है—(The eldest son of the king has arrived)—'दि एल्डस्ट् सन् ऑफ़ द किंग हास एरैव्ड।' मलयालम में भी एकवचन आता है, जैसे—राजाविन्टे (राजा का), मूत्ता (बड़ा), मकन (एकवचन-बेटा), यन्निट्टुण्टु (आया है)। तमिल में—अरशरिन (राजा का), पेरिय (बड़ा), पिल्लै (बेटा), वन्तिरुक्किरान (आया है—एकवचन)। कभी तो आदरार्थ केवल क्रिया में बहुवचन आता है—वन्तिरुक्किरार (आर—बहुवचन)। इन अन्य भाषाओं के वक्ता लोग लिखते समय सहज प्रकृति से एकवचन का प्रयोग करें, यह सम्भव है। अपनी अभ्यस्त

पदरचना-शैली के खिलाफ़ एक नया क्रम अपनाना मुश्किल होता है। 'तुम बच्चे हो'—प्रयोग में भी यही भाषागत विशेषता है। 'बच्चा' शब्द को बहुवचन में बदलने की प्रवृत्ति अकसर नहीं सूझती।

•

हिन्दी व्याकरण

२८९. अपवाद (१)—साला, भानजा, भतीजा, बेटा आदि शब्दों को छोड़कर रोज़ सम्बन्धवाचक, उपमानवाचक और प्रतिष्ठावाचक आकारान्त पुल्लिग शब्दों का रूप दोनों वचनों में एक ही रहता है—जैसे काका, मामा, लाला, नाना, दादा, सूरमा आदि, बाप-दादा का रूपान्तर है।

अपवाद (२)—संस्कृत की ऋकारान्त और नकारान्त संज्ञाएँ जो हिन्दी में आकारान्त हो जाती हैं बहुवचन में अविकृत रहती हैं—कर्त्ता, पिता, राजा, युवा, आत्मा, जामाता…

यह अपवाद-धारा कुछ निराली-सी लग सकती है। 'इन पुल्लिग शब्दों का रूप दोनों वचनों में एक ही रहता है'। यहाँ दो व्याख्याएँ सम्भव हैं। एक तो यह कि इन शब्दों का प्रयोग कभी आदरार्थ बहुवचन में होता है, कभी एकवचन में। ऐसे बन्धुतावाचक शब्दों में भी कुछ शब्दों को छोड़ने का कारण शब्दों की सुन्दरता या परिचितता हो सकती है। 'काके, मामे' नहीं चलते—'भतीजे, भानजे' चलते हैं। इसके लिए केवल व्यवहार ही कारण हो सकता है, और कोई कारण नहीं मिलता। इनके लिए तमिल, मलयालम और अंग्रेज़ी में जो शब्द हैं वे दोनों वचनों में अभिन्न नहीं होते।

उदाहरण

हिन्दी	मलयालम	तमिल	अंग्रेज़ी	संस्कृत
एकवचन			Paternal	
काका	वालियच्छन	पेरियप्पा	Uncle	पितृव्य:
बहुवचन				
काका	वलियच्छन्मार	पेरियप्पामार	Uncle	पितृव्या:
एकवचन			Maternal	
मामा	अम्मावन	मामन	Uncle	मातुल:
बहुवचन				
मामा	अम्मावन्मार	मामन्मार्कल	Uncles	मातुला:

इस भाषागत अन्तर के कारण भ्रम की सम्भावना है। अतएव कोई मलयालम-भाषी यदि "कंसराज कृष्ण का मामा थे" लिखें तो उसे भाषागत प्रवृत्ति ही समझना चाहिए।

कर्त्ता, पिता, योद्धा, राजा आदि तत्सम शब्द हिन्दी में जब पहले प्रयुक्त हुए तब उनका प्रयोग संस्कृतज्ञों ने किया था। कर्त्ता, पिता और योद्धा ऋकारान्त-कृदन्त संज्ञा शब्द निकले। राजा तो नकारान्त शब्द है। संस्कृत में उसका बहुवचन रूप 'राजान:' है। इसे भुलाकर हिन्दी में बहुवचन में 'राजे' बना देना ठीक नहीं लगता था। इनका प्रयोग तमिल-भाषी एवं मलयालम-भाषी के लिए भी संस्कृत प्रयोग के रूप में सुपरिचित है। अतएव उनके प्रयोग में संस्कृत-शैली का अनुकरण तमिल-भाषी एवं मलयालम-भाषी करते हैं।

"३०१—कई एक शब्द बहुत्व की भावना के कारण बहुवचन ही में आते हैं—जैसे "समाचार, प्राण, दाम, होश, हिज्जे, भाग्य, दर्शन, आँसू।"

यह नियम हिन्दीतर-भाषियों की दृष्टि से कुछ विलक्षण एवं तर्करहित-सा लगता है। यह नियम भाषा की प्रवृत्ति का ही परिचय देता है, न कि कोई आदेश। इनमें एक-एक शब्द को विचारार्थ लें।

समाचार—उदा० : फ्रान्स और इंगलैण्ड के मध्य साधारण रूप से इस नियम से **समाचार भेजे जाने लगे।** (बहुवचन—गद्यमंजरी, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा—पृ० ३५) संस्कृत में 'समाचार' शब्द इस मतलब में अधिक प्रयुक्त नहीं; 'वार्ता' शब्द ही अधिक प्रयुक्त है। 'वार्ता' शब्द एकवचन भी है। मलयालम में 'समाचार' व 'वार्ता'—दोनों शब्द प्रचलित हैं। दोनों एकवचन हैं। बहुवचन में प्रत्यय लगाया जाता है—'वार्तकल'। तमिल में 'समाचारम्' शब्द चलता है। उदा० "सन्ना समाचारम् ?" समाचार के लिए 'चेय्ति' शब्द भी तमिल में चलता है, जो एकवचन ही है। अंगरेज़ी में जो न्यूज़ (newes) शब्द है वह अर्थ में बहुवचन होने पर भी एकवचन में ही प्रयुक्त है। यों समाचार के बहुवचन होने का कोई विशेष कारण नहीं दीख पड़ता। वार्तासंग्रह के अर्थ में यह आता है, यही व्याख्या सम्भव है।

प्राण—हिन्दी में प्रयुक्त 'प्राण' शब्द संस्कृत में भी बहुवचनान्त है—'प्राणा:'। यही तो रूढ़ि है कि प्राण,

अपान आदि पाँच पवन हमारे भौतिक शरीर के भीतर सामूहिक रूप से रहकर इसे चेतन रखते हैं। इन पाँच पवनों के प्रतिनिधि के रूप में 'प्राण' शब्द प्रयुक्त है। यह विशद व्याख्या संस्कृतज्ञ लोगों के लिए ही परिचित हो सकती है। साधारणत: 'प्राण' शब्द चेतना का पर्यायवाची है, जिसको अंग्रेज़ी में लाइफ़ (life) ब्रेथ (breath) आदि कहते हैं। लाइफ़, ब्रेथ आदि शब्द एक चेतना के बोधक होने के नाते एकवचन हैं। मलयालम में प्राणन् (एकवचन), जीवन, उयिर—ये तीन प्रमुख शब्द हैं, जो एकवचन हैं। तमिल में भी प्राय: ये ही शब्द आते हैं। यह एकत्व हिन्दी में भी हो सकता है। और लोग 'प्राण' का एकवचन में प्रयोग करें, यह सम्भव भी है। पन्तजी ने "प्रिये, प्राणों की प्राण" कहकर 'प्राण' को एकवचन बताया है। इस विलक्षण स्थिति में 'प्राण' शब्द का एकवचन में प्रयोग यदि साधु माना जाए तो असंगति होने की नहीं।

दाम—यह शब्द व्यवहार में दोनों वचनों में आता है—जैसे "आम के आम गुठली के दाम" और "इस पुस्तक का दाम दो रुपये है।" इस दोहरे रूप के कारण नई समस्या नहीं उठती।

होश—प्रसिद्ध प्रयोग चलता है "होश उड़ गए।" लेकिन 'होश' एक भाववाचक संज्ञा भी है तो एकवचनात्मक हो सकता है। एकवचन में इसका प्रयोग देखिए :

"यदि थोड़ा-सा होश बाकी हो तो याद करो।"

(कुण्डलीचक्र)

अँगरेज़ी में इसी अर्थ में दोनों तरह के प्रयोग प्रचलित हैं—senses (सेन्सेज़) और consciousness (कांशियसनेस)। मलयालम में होश के अर्थ में 'बोधं' शब्द आता है, जो एकवचन है। जैसे:, "रण्टुमून्नु नालिका कलिञ्जिट्टाणु सुन्दरय्यनु **बोधं** उण्टायतु" (मार्ताण्डवर्मा पृ० ७९) तमिल में इस अर्थ में **निनैवु** शब्द आता है जो भी एकवचन ही है। संस्कृत में 'प्रज्ञा' शब्द एकवचन ही है। अर्थबोध की दृष्टि से 'होश' शब्द सुनने पर एकवचनार्थ का ही बोध होना सुलभ है। इसलिए 'होश' का एकवचनत्व विचारार्ह है।

भाग्य—बहुवचन में 'भाग्य' शब्द का प्रयोग तो चलता है। इस बहुवचनत्व का कारण स्पष्ट नहीं है। यद्यपि यह तत्सम शब्द है तो भी इसका प्रयोग संस्कृत में एकवचन में ही होता है। "दैवं दिष्टं भागधेयं **भाग्यं** स्त्री नियतिर्विधि:" (अमरकोश)। अंग्रेजी में luck या fortune शब्द प्रयुक्त है, जो एकवचन है। मलयालम में भी एकवचन 'भाग्यं' शब्द प्रचलित है—"इतु तन्नोलम **भाग्यं** लभिच्चिट्टिल्लात्तवरिल···(ऐनस्टयिन—पृ० १४)। तमिल में यही स्थिति है—"पलररियार—**पाक्कियं** (भाग्य) ताल"—('कुरळ'—११४१) (पंचमी एकवचन)। आधुनिक गद्यकार हिन्दी में भी 'भाग्य' शब्द एकवचन में लिखते हैं—जैसे : "अपने **भाग्य को** बखानो कि अँगरेजों की अमलदारी में हो" (जीवनस्मृतियाँ—प्रेमचन्द)। अपना-अपना **भाग्य** (जैनेन्द्र)। एकवचन में 'भाग्य' शब्द का यह प्रयोग भी विचारार्ह है।

दर्शन—यह तत्सम शब्द दर्शनार्थक 'दृश्' धातु से भावार्थक अन् प्रत्यय के मेल से निष्पन्न है। इस दृष्टि से यह नपुंसकलिंग एकवचन शब्द है। ऐसा प्रयोग भी संस्कृत में है—पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। हिन्दी में बहुवचन का प्रयोग क्यों ?—इसका तर्कसंगत मनोविश्लेषणात्मक उत्तर दिया जा सकता है। जैसे : (१) "महात्माजी **के दर्शन तो** कर लो।" (गांधीजी का संस्मरण—पंतजी) (२) "महात्माजी **के दर्शनों** का यह प्रताप था।" (जीवनस्मृतियाँ—प्रेमचन्द)। मन्दिर, तीर्थ, महापुरुष आदि का दर्शन पवित्र तथा श्रद्धासुलभ होता है। इस दर्शन की विशिष्टता संस्कृत में दृश्यमान व्यक्तियों का उल्लेख बहुवचन में करने से दिखाई जाती है। जैसे : सुकृतिनां दर्शनेन, आदि···किन्तु हिन्दी में दृश्यमान व्यक्ति के एकत्व की दशा में बहुवचन-प्रयोग असंगत होने से व्यक्ति का उल्लेख एकवचन में किया जाता है। वक्ता का मानसिक आदर सहज रूप से समीपवर्ती 'दर्शन' शब्द पर प्रभाव डालता है। उसे हिन्दी-भाषी बहुवचन में लिखते हैं।

अब तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें। अँगरेज़ी में **'sight'** (साइट) शब्द एकवचन है। मलयालम में 'दर्शनम्' एकवचन में प्रयुक्त है। दर्शनम् का पर्यायवाची **'काल्च'** शब्द भी एकवचनान्त है। उदा० **"रामदर्शनत्तिनु** मुन्पुतन्ने" (चिन्तातरंगम्—कुट्टिप्पुला पृ० १०)। इस वाक्य में जैसा एकवचनान्त समस्तपद है वैसा हिन्दी में भी है। जैसे :

विश्वदर्शन आदि। तमिल में भी एकवचन प्रयोग है—स्वामिदरिशनम् (दर्शनम्) अलकायिरुन्ततु:-(स्वामिदर्शन बड़ा सुन्दर था), मणियिन् **कालचि**—(रत्न का दर्शन) (कम्परामायणम्)।

हिन्दी में भी 'दर्शन' शब्द के पीछे जो धार्मिक व श्रद्धामय वातावरण है वह सार्वत्रिक नहीं हो सकता। 'दर्शन' शब्द का प्रयोग तो व्यापक रूप से करना भी पड़ता है क्योंकि इसके पर्यायवाची शब्द हिन्दी में कम हैं। झाँकी, नज्ज़ारा आदि दर्शन के ठीक पर्यायवाची नहीं हो सकते। "भगवान नारायण **के दर्शन**"—प्रयोग में संगति पानेवाले भी—"नत्थूसिंह **के दर्शन**" प्रयोग असंगत मान सकते हैं क्योंकि दूसरे उदाहरण में दर्शन को बहुवचनत्व देना गलत भी सिद्ध हो सकता है। अतएव स्वाभाविक प्रवृत्ति यही होगी कि "भगवान नारायण के दर्शन" तो लिखें, पर "नत्थूसिंह का दर्शन" लिखें। उपर्युक्त इतर भाषाओं की प्रवृत्ति एकवचन की ओर झुकती भी है। आजकल कई लेखक 'दर्शन' शब्द एकवचन में लिखते भी जाते हैं।

आँसू—संस्कृत के 'अश्रु' शब्द का तद्भव शब्द 'आँसू' बहुवचन में आता है। संस्कृत में 'अश्रूणि' प्रयोग मिलता है:—"नवकिसलयपाण्डुपत्राः मुंचन्त्य **श्रूणीव** लताः।" एकवचन में 'अश्रुबिन्दु' शब्द आता है। यही ढंग हिन्दी में स्वीकृत है। अँगरेजी में tear (टियर) शब्द एकवचन में भी प्रयुक्त है, यद्यपि tears शब्द अधिक प्रयुक्त है। "आँसू की एक बूंद" प्रयोग एक दृष्टि से हिन्दी में होना चाहिए। मलयालम में अश्रुजल के अर्थ में ही '**कण्णुनीरं**' (कण्णु = आँख, नीर = पानी) शब्द एकवचन में ही आता है! जैसे:—"अद्देहत्तिन्टे मुखत्तुनिन्नु **कण्णुनीर** ओलुकित्तुटङ्ङि" (उनके मुख से अश्रुजल बहने लगा)—"मार्ताण्ड-वर्मा—सी० वी० रामनपिल्लै—पृ० १७८।" तमिल में इसी प्रकार अश्रुजल अर्थ का 'कण्णीर' (कण्+नीर) शब्द एकवचनान्त आता है। जैसे, "कोकिलम् मीण्टुं **कण्णीर** पीरिट्टुवर, पूजै अरैक्कुळ अटैक्कलम पुकुन्ताळ"—(कोकिलम् ने आँखों में आँसू लिये पूजा-भवन की शरण ली)।···चूँकि हिन्दी में आँसू का कोई पर्यायवाची शब्द इतना भावद्योतक और हृदयद्रावक नहीं रहता इसीलिए 'आँसू' शब्द बराबर प्रयोग करना पड़ता है। इतर भाषाभाषी 'आँसू' का व्यवहार एकवचन में अगर करते हैं तो उसके कारण उपर्युक्त हैं।

अब अन्य दो-चार शब्दों की चर्चा करें। 'बाल' या 'केश' या अन्य पर्यायवाची शब्द हिन्दी में बहुत्वबोधक और बहुवचनान्त हैं। केश के सूत्रों या पतली धाराओं के समूह का ही सामूहिक व्यवहार 'केश' शब्द से होता है।—"**केशेषु** गृहीत्वा" प्रयोग संस्कृत में चलता है। यद्यपि "बाल की खाल खींचना" मुहावरा प्रयुक्त है तो भी साधारण व्यवहार में बहुवचनान्त है। अँगरेजी में तो यह सामूहिक अर्थ में hair (हेयर) शब्द से व्यवहृत है जो एकवचनान्त है। मलयालम में सामूहिक अर्थ में 'तलामुटि' (तला—सिर, मुटि—बाल) शब्द आता है। जैसे,—"सत्यं मुलुवन् निरवेट्टिय जान एन्टे **तलामुटि** इनि बन्धिक्कट्टे" (शपथ पूरा किये हुए मैं अब अपने केश बाँधूँ—मुद्राराक्षसम् कण्णंपुला—पृ० १५२) तमिल में इसी अर्थ में एकवचनान्त 'तलैमयिर' या 'मयिर' शब्द आता है। जैसे, "**मयिर** नीप्पिन् वालाक्कवारिमान्" (कुरळ) (बालों के नष्ट होने पर चँवरमृग जिन्दा नहीं रहेगा)।

हिन्दी लिखते समय इन भाषाओं के एकवचनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

'कवि', 'नाटककार', 'कलाकार' आदि कुछ शब्द किसी कलारूप के रचयिता के अर्थ में आते हैं। प्रायः स्वीकृत-प्रणाली यही मालूम पड़ती है कि कवि आदि का स्वतन्त्र-प्रयोग एकवचन में होता है। किसी व्यक्ति के विशेषण के रूप में शब्द जब आते हैं तब बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। जैसे, "हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि हरिऔध नए विषयों की ओर चल पड़े थे" (हिन्दी साहित्य का इतिहास; रामचन्द्र-शुक्ल—पृष्ठ ६०७)। मालूम पड़ता है कि व्यक्ति का सम्मान बहुवचन से और व्यापारकर्त्ता का उल्लेख एकवचन से करने की प्रवृत्ति हिन्दी में संस्कृत से आई है। संस्कृत में बहुवचन-द्योतक प्रत्यय भी जुड़ता था, कवयः, पंडिताः आदि। हिन्दी में अलग से बहुचचन-प्रत्यय नहीं लगता। अंगरेज़ी में ऐसे प्रसंग पर सर्वत्र एकवचन आता है। आदरार्थ 'Mr' शब्द जोड़ा जाता है। मलयालम में एक कलाकार के लिए जितने भी विशेषण लगते हैं, सभी एकवचन में लगते हैं। जैसे, एट्टवुं प्रमुख **कवियाणु** जी० शंकरक्कुरुप्पु

(सबसे प्रमुख कवि हैं जी० शंकर कुरुप—मलयाल साहित्य चरित्रम्—पी० के० पी० नायर—पृ० २२७)। मलयालम में क्रियां में वचनभेद भी नहीं होता। तमिल में क्रिया में वचनभेद है। उसमें प्रसंग एवं वक्ता की इच्छा के अनुसार एकवचन और बहुवचन का प्रयोग आता है जैसे, कंबन् पाटिनान् (एकवचन)—कंबर गाये। भारतीया, पारट्टुकिरार् (भारतियार गाते हैं—बहुवचन)। इन दोनों भाषाओं में एक प्रसंग पर एक ही वचन का क्रम चलता है।

हिन्दी में व्यक्तियों की चर्चा के बाद उसी प्रसंग पर कलाकार-धर्म का बोध कराने के लिए एक वचन का प्रयोग किया जाता है। यह ज़रूर कुछ खटकता है। कम-से-कम इतर भाषा-भाषियों को उलझन में डालता है। तमिल में कविञ्जर (कवि), आचिरियर (आचार्य), एलुन्ताळर (लेखक) आदि शब्द-पूजक बहुवचन में प्रयुक्त है। (अर—बहुवचन बोधक प्रत्यय है।) इसलिए तमिल, मलयालम के वक्ता ऐसे प्रसंग पर बहुवचन का प्रयोग करें, यह सम्भव है।

आदरसूचक बहुवचन के प्रसंग पर इससे सम्बन्धित और एक बात की भी चर्चा असंगत नहीं होगी। हिन्दी में—मैथिलीशरणजी गुप्त, महादेवीजी वर्मा आदि प्रयोग मिलते हैं, जिनमें आदरसूचक शब्दांश 'जी' बीच में आता है। यह इतरभाषा-भाषियों—अर्थात् अँगरेज़ी, मलयालम व तमिलके वक्ताओं के लिए अपरिचित व विलक्षण होना है। अँगरेज़ी में पूरे नाम के पहले या बाद में आदरसूचक शब्दांस लगता है—'Mr. Jacob Johan या Thomas Edison Esq। मलयाळम में आदरार्थ 'श्रीमान केशवन-नायर' या 'केशवन नायर अवरकळ' (आदरार्थ शब्द) आता है। तमिल में भी यही प्रवृत्ति है। हिन्दी में भी 'मैथिलीशरणजी और गुप्तजी आते हैं' मिलाकर कहते समय मैथिलीशरणजी गुप्त कहा जाता है।' यह कुछ नया-सा लगता है। यह प्रयोग हिन्दी की सामाजिक व साम्प्रदायिक चेतना का ज्ञापक है। मालूम पड़ता है कि 'गुप्त', 'वर्मा', 'दीक्षित' आदि जातियों या उपजातियों का विशेष ज्ञापन कराने के लिए ही शब्दों के अन्त में उनका स्वतन्त्र प्रयोग किया जाता था। जातीयता व साम्प्रदायिकता भारत के हर प्रान्त में है, किन्तु मलयालम और तमिल में जातिवाचक शब्द को मिलाकर ही नाम लिया जाता है। इस नाम के बाद आदरसूचक शब्दांश जुड़ता है। यह प्रथा समीचीन ही लगती है और इस प्रथा को तोड़ना इन भाषाओं के वक्ताओं के लिए अत्यन्त कठिन रहता है। यही कारण है कि ये—मैथिलीशरण गुप्तजी, महादेवी वर्माजी, सुभद्राकुमारी चौहानजी आदि लिखते हैं।

उपर्युक्त इन विषमताओं के प्रति हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना ही मेरे प्रस्तुत लेख का लक्ष्य है। हिन्दी मध्य-देश की संकुचित सीमा को छोड़कर अब सम्पूर्ण भारत की प्रतिनिधि भाषा बनती जा रही है। इसका राजपथ अब जितना सीधा और विशाल रहे उतना ही कल्याण होगा। इसलिए छोटी-मोटी तर्कविरुद्ध और भाषाविकास की परम्परा के विरुद्ध प्रवृत्तियों को मनन के बाद छोड़ देने से हिन्दी की प्रगति शीघ्रतर हो सकती है। इतर-भाषा-भाषियों को इसमें अधिक आत्मीयता अनुभव भी हो सकती है। जब हिन्दी व्याकरण पर पुनर्विचार करने एवं उसे कालोचित बनाने की बात उठे, तब पंडितों का ध्यान इन विषमताओं की ओर भी जाए, यही निवेदन है। व्याकरण का पुनर्विचार समय-समय पर करना ही पड़ेगा। जिस संस्कृत व्याकरण की अपरिवर्तनीयता बतलाई जाती है उसमें ऐन्द्र आदि कई व्याकरणों के बाद ही पाणिनीय लिखा गया। वार्तिककार और भाष्यकार पाणिनि के बाद हुए थे। अँगरेज़ी में भी समय-समय पर नए प्रयोगों पर विद्वान विचार करके साधुता की मुहर लगाते हैं।

डॉ० रघुवीरसिंह

हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली

सीतामऊ (मालवा) राज्य के महाराजकुमार डॉ० 'रघुबीरसिंह' का जन्म २३ फरवरी १६०८ को हुआ था। उन्हें 'मालवा इन ट्रान्जीशन' शोध-प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय ने १६३६ में डी० लिट्० की उपाधि दी। इसके हिन्दी रूपान्तर 'मालवा में युगान्तर' पर १६४५ में मंगलाप्रसाद पारितोषक मिला। वे इतिहास के अधिकारी विद्वान हैं और इस विषय पर हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में दर्जनों पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें प्रमुख हैं : 'पूर्व मध्यकालीन भारत', 'रतलाम का प्रथम राज्य', 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' आदि। इन्होंने देशी राज्यों को मिलाकर मध्यभारत राज्य के निर्माण में सक्रिय भूमिका अदा की थी।

ज्ञान की परिधि के विस्तार तथा नये विशेष ज्ञान की प्राप्ति के साथ उसको अपनी भाषा में ठीक तरह से अभिव्यक्त करने के लिए सदैव ही प्राप्य शब्दों का उपायोजन अथवा अत्यावश्यक नये शब्दों की रचना होती रही है। ऐसे ही अवसर पर अनेकों सदियों पहले ऋषि ने निर्देश दिया था—"यवन शब्दाभावे निरुक्तादया:।" इसी प्रकार जब शिवाजी ने निश्चय किया कि उनके स्वाधीन राज्य का कार्य मराठी भाषा में चलाया जाए तब रघुनाथ पन्त ने 'राजकोष' की रचना कर संस्कृत मूल-शब्द-तत्वों के आधार पर कोई डेढ़ हज़ार पारिभाषिक शब्दों की शब्दावली प्रस्तुत की थी। अत: भारत पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य स्थापित हो जाने के बाद जब अंग्रेज़ी भाषा में सुलभ ज्ञान भारतीय भाषाओं में प्राप्य करने के लिए अनुवाद किये जाने लगे तब तदर्थ भारतीय भाषाओं में अत्यावश्यक समुचित शब्दावली की समस्या उठना सर्वथा स्वाभाविक ही था।

ईसा की १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय विद्वान भी इस दिशा में प्रयत्नशील हुए और हिन्दी भाषा में ऐसा प्रथम प्रयत्न काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् १८९८ ई० में प्रारम्भ किया था। तदर्थ नियुक्त विशेष समिति द्वारा तैयार की गई 'हिन्दी सायण्टिफिक ग्लासरी' सन् १९०६ ई० में प्रकाशित हुई। परन्तु २०वीं सदी के द्वितीय चतुर्थांश में जब विद्यालयों में पठन-पाठन हिन्दी माध्यम द्वारा होने लगा तब यह शब्दावली अपर्याप्त प्रतीत होने लगी। पुन: जब द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद भारत द्वारा शीघ्र ही स्वाधीनता-प्राप्ति की सम्भावना सुनिश्चित हो गई तब तो हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली की यह समस्या उत्कट रूप में सामने आयी और वैज्ञानिक के साथ ही कानूनी, संवैधानिक, प्रशासकीय आदि अन्य सभी विषयक पारिभाषिक शब्दावलियों को भी तैयार करना अनिवार्य हो गया। तब राज्य-शासनों और साहित्यिक संस्थाओं के साथ ही कई-एक व्यक्तियों ने भी तदर्थ प्रयत्न प्रारम्भ किये, जिनमें स्वर्गीय डॉ० रघुवीर का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए। हिन्दी के इस अनन्य उपासक ने एक बृहत् कोष तैयार किया था जिसमें न केवल प्रशासकीय शब्द हैं, किन्तु ज्ञान और विज्ञान के प्राय: सभी आवश्यक शब्द हैं। कुछ आधारभूत वैज्ञानिक सिद्धान्तों को सामने रखकर डॉ० रघुवीर ने अपने इस कोष में संस्कृतमूलक शब्दावली प्रस्तुत की है। लोक-सभा और भारत शासन द्वारा बाद में बनवाये गए कोषों में डॉ० रघुवीर के इस कोष का काफी अधिक उपयोग किया गया है।

विभिन्न राज्य-शासनों द्वारा तदर्थ किये जा रहे अलग-अलग प्रयत्नों को केन्द्रित करने के लिए केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने सन् १९५० ई० में 'बोर्ड आफ टरमिनॉलोजी'

का संगठन किया, जिसने पिछले १०-१२ वर्षों में कोई तीन लाख पारिभाषिक शब्द बनाए। अब तक किये गए इन सभी विभिन्न प्रयत्नों का समन्वय तथा परिवेक्षण कर पारिभाषिक शब्दावली को अन्तिम रूप देने के लिए उसी मन्त्रालय ने सन् १९६१ ई० में 'स्टेण्डिग कमिशन फार सायण्टिफिक एण्ड टेकनिकल टर्मिनॉलोजी' आयोजित किया, जो अब इस कार्य को चलाये जा रहा है। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा नियुक्त उक्त बोर्ड तथा कमिशन ने कुछ मूलभूत सिद्धान्तों तथा मान्यताओं को स्वीकार कर तदनुसार पारिभाषिक शब्दावली अपनाने, बनाने या निश्चित करने का कार्य किया या कर रहा है। उन सबका सविस्तार विवरण तथा विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। परन्तु आज जो शब्दावली यों तैयार कर अपनाई जा रही है उसकी उपयोगिता, व्यावहारिकता आदि पर ही मोटे तौर पर कुछ कहा जा सकता है।

'पारिभाषिक' शब्द वह होता है, 'जिसका प्रयोग किसी विशेष अर्थ में, संकेत रूप से होता हो।' यों अंग्रेज़ी शब्द 'टेकनिकल' के अनुवाद के रूप में इस शब्द का उपयोग किया जा रहा है। परन्तु पारिभाषिक शब्दावली-सम्बन्धी हिन्दी भाषा-भाषियों की आवश्यकता तथा माँग केवल विशेषज्ञों तक सीमित ज्ञान-विषयक ही नहीं रहकर साधारण बोलचाल या दैनिक व्यवहार के लिए तथा औपचारिक लिखा-पढ़ी या विचार-विनिमय के हेतु भी दिनों-दिन अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। दैनिक जीवन और व्यवहार में निरन्तर अनेकानेक नई वस्तुओं, क्रियाओं, विचारों तथा नियमादि का अधिकाधिक प्रवेश होता जा रहा है, जिनको लेकर भाषा तथा व्यवहार में नये शब्द आप-ही-आप चले आ रहे हैं। अब तक राज्य-भाषा होने के कारण तथा साथ ही अंग्रेज़ी भाषा के प्रति पढ़े-लिखों के विशेष पक्षपात तथा आग्रह के फलस्वरूप अंग्रेजी शब्दावली से भरपूर खिचड़ी भाषा के निरन्तर प्रयोग के कारण तद्विषयक अंग्रेज़ी शब्द ही या तो जैसे-के-तैसे हिन्दी में चल निकले हैं या उनका हिन्दीकरण भी होने लगा है। यह तो सुनिश्चित है कि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप कई-एक अंग्रेज़ी या अन्य विदेशीय भाषाओं के शब्द अपने रूढ़ार्थ में हिन्दी शब्दावली के अविभाज्य अंग बन जाएँगे। परन्तु आज हिन्दी में व्यवहृत ऐसे सभी शब्दों को यह सौभाग्य सदैव के लिए कदापि नहीं प्राप्त हो सकेगा। अंग्रेज़ी के महत्त्व और प्रभाव के ह्रास तथा अन्य उपयुक्त हिन्दी पर्याय के प्रचलन के साथ ही आज सर्वमान्य कई-एक अंग्रेज़ी शब्द बहुत ही जल्दी हिन्दी शब्दावली से लुप्त होने लगेंगे; जैसे स्कूल, कालेज, आफिस, वोट, एटम आदि शब्दों का हिन्दी में प्रयोग अल्पकालीन ही प्रतीत होता है। पुनः अपने रूढ़ार्थ में अपनाये गए कई विदेशी शब्दों का प्रयोग साधारण दैनिक व्यवहार तथा अपारिभाषिक साहित्य तक ही सीमित रहना सर्वथा अवश्यम्भावी जान पड़ता है, 'रेडियो' जैसे शब्दों को आधार बनाकर तैयार की गई पारिभाषिक शब्दावली बहुत काल तक कदापि मान्य नहीं हो सकेगी।

पिछली सदियों में हिन्दी न तो राजभाषा रही और न विद्वानों ने ही इसे शास्त्रीय भाषा के रूप में अपनाया, अतः इसका व्यवहार-क्षेत्र सीमित ही रहा, जिससे प्रयोग करते समय न तो अनेकानेक पर्यायवाची शब्दों के विभिन्न अर्थों और उनमें से प्रत्येक के विशिष्ट भाव तथा प्रतिबोध की ओर अधिक ध्यान दिया गया और न किसी शब्द के साथ प्रयोग किये जाने पर उसके अनेकानेक उपसर्गों तथा प्रत्ययों से उसके अर्थ-बोध में होनेवाली सुस्पष्ट विभिन्नताओं को समझने का ही विशेष कष्ट किया गया। यों मिलते-जुलते अर्थवाले शब्दों को पर्यायवाची तथा उपसर्ग या प्रत्यय-भेद के बाद भी समानार्थी के ही रूप में अब तक काम में लेते रहे हैं। परन्तु निरन्तर अंग्रेज़ी भाषा के प्रयोग से सूक्ष्म अर्थ-भेद और यथार्थ प्रति-बोध को पूरी तरह से समझ-बूझकर ही सही अंग्रेज़ी शब्द को ढूँढ़ निकालने और उसके उपयुक्त ठीक उपसर्ग या प्रत्यय का ही प्रयोग करने की जो उचित प्रवृत्ति बन गई है, उसको अब हिन्दी भाषा में भी पूर्णतया क्रियान्वित करने का प्रयत्न करना सर्वथा अवश्यम्भावी हो गया है। ऐसा किये बिना न तो हिन्दी भाषा का उचित विकास ही हो सकेगा और न उसकी शब्दावली के अत्यावश्यक सुनिर्दिष्ट सूक्ष्मतम अर्थ-बोध की समुचित पुष्टि ही हो सकेगी। इस सारी प्रक्रिया को पूरा होने में पर्याप्त समय लगेगा और इसके लिए संस्कृत की मूल शब्दावली तथा उसके साथ प्रयुक्त होनेवाले अनेकानेक उपसर्ग-प्रत्ययों आदि का गहरा अध्ययन तथा हिन्दी में अब तक मान्य उनके

रूढ़ार्थों की पूरी सही जानकारी भी आवश्यक होंगे । तदर्थ विशेष आयोजन और प्रयत्न शीघ्र ही प्रारम्भ कर दिए जाने चाहिए ।

सामान्य प्रशासन तथा न्याय-व्यवस्था-सम्बन्धी कार्य उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग में पर्याप्त समय तक पहिले फ़ारसी और बाद में उर्दू भाषा के द्वारा चलता रहा है जिससे उनके आधार पर तद्विषयक अत्यावश्यक शब्दावली तब बन गई थी जिसके कई शब्द आज भी पर्याप्त संख्या में साधारणतया प्रयुक्त होते रहते हैं। परन्तु आज जब यह प्रयत्न हो रहा है कि यह शब्दावली सारी भारतीय भाषाओं में यथासम्भव समान हो तब आज भी प्रयुक्त होनेवाले ऐसे सभी शब्दों का भविष्य समानरूप से आशापूर्ण नहीं कहा जा सकता है और इस प्रकार के वे ही शब्द भविष्य में रह सकेंगे, जो उसी अर्थ में किन्हीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी अब तक प्रयुक्त होते रहे हैं ।

अब प्रश्न आता है उस सारी बृहत् पारिभाषिक शब्दावली का जो किसी शास्त्र, कला-कौशल, उद्योग-धन्धों या विज्ञान-विशेष के लिए अत्यावश्यक हो गई है। आज एक ऐसी प्रवृत्ति चल गई है कि प्रत्येक व्यवसाय, कला-कौशल या उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी यन्त्रों, उपकरणों (औजारों) तथा प्रक्रियाओं के लिए अंग्रेज़ी भाषा के शब्दों का भाषान्तर कर सर्वथा नई शब्दावली बनाई जाए । शिल्प, चित्रकारी, बढ़ईगिरी, लुहारी, सुनारी आदि अनेकानेक कला-कौशल हज़ारों वर्षों से भारत में चले आए हैं और यत्किंचित् विस्मृत होने पर भी आज सभी भारतीय भाषाओं में उनकी अपनी शब्दावलियाँ विद्यमान हैं । अतः आवश्यकता इस बात की है कि तद्विषयक उन सभी शब्दावलियों में समन्वय स्थापित कर उनके आधार पर सभी भाषाओं के लिए प्रत्येक विषय की एक समान शब्दावली तैयार कर उसके प्रतिबोध तथा अर्थ को सुनिश्चित किया जाए । यों ही हम भूत के आधार पर भविष्य का निर्माण कर भारतीय परम्परा को अबाध चला सकेंगे ।

हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली की सबसे महत्त्वपूर्ण और साथ ही अत्यधिक उलझी हुई समस्या है तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली (इण्टरनेशनल सायण्टिफिक टर्मिनालोजी) की । पिछली दो शताब्दियों में विभिन्न प्रकारों के वैज्ञानिक ज्ञान की यूरोप तथा अन्य पाश्चात्य देशों में अत्यधिक उन्नति और अकल्पनीय विकास हुआ है । ऐसे वैज्ञानिक शोधों, अध्ययनों और तद्विषयक प्रसार तथा विचार-विनिमय का माध्यम प्रधानतया वे यूरोपीय भाषाएँ ही रही हैं, जिनका मूल स्रोत मुख्यतः लेटिन अथवा यूनानी भाषाएँ हैं अतः यह अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दावली मुख्यतया लेटिन या यूनानी धातुओं तथा उनके उपसर्गों को ही लेकर बनायी गई है । यह सब होते हुए भी तथाकथित यह अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली सारी उन्नत यूरोपीय भाषाओं तक में पूर्णतया समान नहीं है । विभिन्न भाषाओं की अपनी-अपनी लिपि, प्रकृति, व्याकरण आदि के अनुसार प्रत्येक की उक्त शब्दावली के लिप्यन्तर के साथ ही उनके अनेकानेक शब्दों में भी पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है । तथापि अंग्रेज़ी भाषा में मान्य ऐसी शब्दावली को ही भारत में अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली स्वीकार कर लिया गया है ।

इस तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय या पारिभाषिक शब्दावली के बारे में क्या नीति अपनाई जाए इस प्रश्न पर भारतीय विद्वानों में तीव्र मतभेद रहा है । भारतीय वैज्ञानिकों तथा अन्य विशेषज्ञों का निरन्तर यही आग्रह रहा है कि अंग्रेज़ी भाषा में सुमान्य वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली पूरी-की-पूरी यथावत् हिन्दी में अपना ली जाए । इसके विपरीत स्वर्गीय डा० रघुवीर का यह निश्चित मत रहा है कि लेटिन धातुओं और उपसर्गों से बनायी गई यह तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली हिन्दी में यत्किंचित् भी नहीं मान्य की जानी चाहिए, प्रत्युत संस्कृत धातुओं, उपसर्ग-प्रत्ययों तथा भारतीय प्रतिबोधमूलक शब्दों द्वारा हिन्दी के लिए सर्वथा विभिन्न ही वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली तैयार की जानी चाहिए । इन आधारभूत सिद्धान्तों को क्रियान्वित करते हुए डॉ० रघुवीर ने अपने बृहत् अंग्रेज़ी-हिन्दी कोष में बहुत सारे विषयों की पारिभाषिक शब्दावली प्रस्तुत की । परन्तु हिन्दी की अपनी अलग ही पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने की यह बात भारतीय वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों को बिलकुल ही मान्य नहीं हुई तथा भारत शासन ने भी उनके ही मत को मान लिया ।

"विज्ञान विश्वव्यापी है और उसकी कोई प्रादेशिक या राष्ट्रीय सीमाएँ नहीं हैं। अतः यही निश्चय किया गया कि (हिन्दी में) वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दावलियाँ यथा-सम्भव अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोगों पर ही निर्धारित हों और सभी भारतीय भाषाओं में वे समान हों।" अतः अंग्रेजी भाषा में प्रचलित समूची वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली का हिन्दी लिप्यन्तर तैयार किया गया है। यह भी निश्चय किया गया है कि गणित आदि सभी विज्ञान-शास्त्रों में काम आनेवाले अंक, चिह्न, संकेत और सूत्र बिना किसी प्रकार के हेरफेर या रूपान्तर के अपने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप में ही काम में लिये जाएँ तथा गणित-शास्त्रीय संकेतों और सूत्रों का साधारणतया हिन्दीकरण नहीं किया जाए। यही नहीं, यह भी सुदृढ़ निर्देश है कि रेखागणित-सम्बन्धी आकृतियों तथा अन्य मानचित्रों में साधारणतया वर्तमान (यूरोपीय) रोमन अक्षर ही काम में लिये जाएँ और आवश्यकता पड़ने पर यूनानी अक्षरों का भी उपयोग किया जा सकता है। भारत शासन द्वारा प्रकाशित वैज्ञानिक पारिभाषिक हिन्दी शब्दावली में यत्र-तत्र हिन्दीमूलक शब्द भी दे दिये गए हैं, परन्तु तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली से विभिन्न पारिभाषिक शब्दों, चिह्नों, संकेतों या सूत्रों का प्रयोग करनेवाले वैज्ञानिक प्रकाशनों को हतोत्साहित ही नहीं, रोकने का भी, निर्णय लिया गया है। अतः इस प्रकार भारत शासन द्वारा स्वीकृत हिन्दीमूलक शब्दावली के यदा-कदा प्रयोग की भी कोई विशेष सम्भावना नहीं रह गई है। वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के साथ ही वैज्ञानिक साहित्य-सृजन और शिक्षण-सम्बन्धी सारी महत्वपूर्ण बातों-विषयक भारत शासन की इस निश्चित नीति को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो गए हैं।

जापान, इज़राइल आदि एशियाई देशों के विगत अनुभव को देखते हुए यह बात स्पष्टतया सुनिश्चित ही थी कि हिन्दी भाषा के माध्यम से वैज्ञानिक शिक्षा का प्रारम्भ होने पर किसी भी स्वरूप में क्यों न हो—अपने मूल अंग्रेज़ी स्वरूप में या उनके प्रस्तावित हिन्दी लिप्यन्तर में—इस युगान्तर काल के लिए तो अवश्य ही अंग्रेजी भाषा में प्रचलित तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली को भी पठन-पाठन तथा हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों में साथ-ही-साथ काम में लेना होगा और इस प्रकार हिन्दी में सभी वैज्ञानिक शिक्षण तथा पाठ्य-पुस्तकें कुछ समय के लिए अनिवार्य रूपेण द्विभाषीय (बायलिंग्वल) रहेंगी। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि आवश्यक लिप्यन्तर के द्वारा उसका हिन्दीकरण कर उक्त स्वरूप में तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली को जो हिन्दी भाषा की वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली मान्य किया जा रहा है, तथा विभिन्न विज्ञान-शास्त्रों में काम आनेवाले अंक, चिह्न, संकेत, सूत्र आदि को उनके वर्तमान अंग्रेज़ी स्वरूप में ही काम में लेने तथा रेखागणित-सम्बन्धी आकृतियों और मानचित्रों में वर्तमान रोमन अथवा यूनानी अक्षरों का ही प्रयोग करने के ये जो निर्णय किये गए हैं, क्या वे स्थायी हो सकेंगे? और इस प्रकार की शब्दावली आदि को लेकर तैयार की गई पुस्तकों आदि के द्वारा हिन्दी भाषा-भाषी जन-साधारण तक भी क्या वैज्ञानिक ज्ञान का निरन्तर यथेष्ट प्रसार किया जा सकेगा?

इन उपर्युक्त निर्णयों के समर्थन में कही जा रही अनेकों बातों में मुख्य ये हैं: वैज्ञानिक ज्ञान की परिधि के निरन्तर विस्तार के साथ आज वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली में भी बड़ी तेजी के साथ लगातार वृद्धि होती जा रही है, अतः आगे भविष्य में भी अनवरत अत्यावश्यक नई-नई पारिभाषिक शब्दावली तैयार करते रहने की झंझट नहीं रहेगी। इस समय स्वीकृत परिपाटी के अनुसार नये-नये अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों को अत्यावश्यक लिप्यन्तर और हिन्दीकरण के बाद हिन्दी में अपना लेना बहुत ही सरल हो जाएगा। दूसरे, हिन्दीकरण के बाद अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली को ही यों अपना लेने से निरन्तर उन्नतिशील पाश्चात्य देशीय वैज्ञानिक जगत के साथ हिन्दी भाषा-भाषियों का बहुत ही गहरा और निकट का सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा, तथा अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपीय भाषाओं में प्रकाशित होनेवाला वैज्ञानिक साहित्य आसानी से उन्हें बोधगम्य हो जाएगा। तीसरे, राष्ट्र के औद्योगिक विकास के लिए यह अत्यावश्यक है कि यहाँ के कम पढ़े-लिखे परन्तु कुशल चतुर कारीगरों और श्रमिकों को भी वैज्ञानिक जानकारी हिन्दी पुस्तकों आदि के द्वारा सुलभ हो सके। पुनः साधारण बोलचाल

की ओर वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली समान हो जिससे वह इस वर्ग-विशेष के लिए सुबोध तथा सुगम्य हो सके।

वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली आदि के लिए आज हिन्दी में जो-कुछ भी किया जा रहा है और तत्सम्बन्धी जो भी निर्णय लिये गए हैं, उनके समर्थन में जो-कुछ कहा जाए, कई-एक अन्य देशों में तत्सम्बन्धी अब तक की प्रवृत्तियों, तथा वहाँ के विगत अनुभवों को देखते हुए आज निश्चितरूपेण यह कहना कदापि सम्भव नहीं कि इन निर्णयों पर भविष्य में पुनर्विचार नहीं होगा। कालान्तर में कई-एक ऐसी परिस्थितियाँ अनिवार्य रूपेण सामने आनेवाली हैं जिनके फलस्वरूप उक्त निश्चयों पर पुनर्विचार अत्यावश्यक हो जाएगा।

वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली भाषा का अविभाज्य अंग होती है, और दैनिक व्यवहार के शब्दों और पारिभाषिक शब्दावली का सुस्पष्ट विभाजन कदापि सरल नहीं, तथापि यह तो स्पष्ट ही है कि वैज्ञानिक विवेचन और निर्देशन की शब्दावली निश्चितरूपेण साधारण बोलचाल की भाषा से विभिन्न ही होती है। कई-एक विषयों में तो यह विभिन्नता बहुत अधिक बढ़ जाती है। आज भी अंग्रेज़ी में दवाइयों के नुस्खों में पानी के लिए लेटिन शब्द 'एक्वा प्यूरा' ही लिखे जाते हैं। इस विभिन्नता को पूर्णतया पाट सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक श्रमिक, कारीगर, छात्र या अध्यापक को अपने काम के लिए आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली हर हालत में विशेषरूप से सीखनी ही होगी।

इधर यह बात तो सर्वमान्य है कि भारत में अंग्रेज़ी भाषा का अध्ययन और ज्ञान बहुत ही थोड़े लोगों तक सीमित रहा है, और आज तो अंग्रेज़ी के उनके ज्ञान का स्तर दिनोंदिन अधिकाधिक गिरता जा रहा है। उस स्तर को पुनः ऊँचा करने के लिए किये जा रहे प्रयत्न कहाँ तक सफल हो सकेंगे यह कहा नहीं जा सकता, परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि अंग्रेज़ी भाषा के प्रति जन-साधारण की यह उपेक्षा बढ़ेगी ही। अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करनेवाले उच्चस्तरीय विद्यार्थियों के लिए भी डॉ० दौलतसिंह कोठारी का आग्रहपूर्ण सुझाव है कि—"अंग्रेज़ी वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली प्रधानतया लेटिन भाषा से ही व्युत्पादित है, अतः कॉलेज स्तर पर यदि कुछ समय सम्बद्ध लेटिन धातुओं और उपसर्गों के अध्ययन में लगाया जाए तो उससे पारिभाषिक शब्दावली—विशेषतया जीव-विज्ञान (बायॉलाजी) विषयक—को ठीक तरह पूरा-पूरा समझने में छात्रों को बहुत ही सहायता मिलेगी।" अतएव अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान की निरन्तर बढ़ती हुई कमी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली भारतीय जनसाधारण के लिए अवश्य ही अधिकाधिक अबूझ होने लगेगी। उधर डॉ० कोठारी ने भी माना है कि, "अगर वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली जनसाधारण की नित्यप्रति की भाषा के लिए विदेशीय तथा असम्बद्ध हो तो विज्ञान में विशेषज्ञ बननेवालों के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तियों के लिए विद्यालय में पढ़े विज्ञान को बाद में याद रखना और विज्ञान में विशेष दिलचस्पी रखना कठिन हो जाएगा।" अतः अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर बनाई गई हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली से सुसज्जित हिन्दी भाषा तथा साहित्य के द्वारा विज्ञान-विषयक ज्ञान को जनसाधारण—विशेषतया कम पढ़े-लिखे श्रमिक और कारीगरों के लिए सुलभ कर देश में उसका अधिकाधिक विस्तार तथा विशेष उन्नति करने का मूल उद्देश्य आप ही बहुत-कुछ विफल हो जाएगा।

हिन्दी के लिए कोई-सी भी पारिभाषिक शब्दावली अपनाई जाए, विज्ञान कि उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले छात्रों, संशोधकों और प्राचार्यों आदि सभी के लिए अंग्रेज़ी के साथ ही जर्मन और रूसी भाषाओं का भी उपयुक्त अध्ययन अत्यावश्यक होगा और उसके लिए उच्च वैज्ञानिक शिक्षण के पाठ्यक्रम में आवश्यक व्यवस्था शीघ्र ही करनी चाहिए। यों अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन करनेवाले अनिवार्य रूपेण अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली सीखेंगे। इस प्रकार विदेशीय वैज्ञानिक अध्ययन, शोध आदि के साथ भारतीय वैज्ञानिकों का अवश्य ही पूरा-पूरा सम्पर्क बना रहेगा। तब विदेशी भाषाओं में पारंगत वैज्ञानिकों का यह प्रमुख कर्त्तव्य होगा कि सभी विदेशी वैज्ञानिकों की सारी आधुनिकतम शोधों आदि का विस्तृत विवरण तथा अन्य पूरी जानकारी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में शीघ्रातिशीघ्र प्रस्तुत करें, जिससे

इन विदेशी भाषाओं से अनभिज्ञ भारतीय वैज्ञानिक भी विदेशी वैज्ञानिकों के अध्ययन, शोध तथा अन्य प्रयत्नों से पूरा-पूरा लाभ उठा सकें।

सद्यः स्वाधीन हुए प्रायः सभी एशियाई देश अपनी भाषा को सर्वांगपूर्ण और हर तरह से समर्थ बनाने को प्रयत्नशील हैं, जो सर्वथा स्वाभाविक ही है, अतः वैज्ञानिक ज्ञान के आदान-प्रदान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के साथ ही वे अपनी राष्ट्रभाषा की पारिभाषिक शब्दावली—विशेष का भी प्रयोग करने को समुत्सुक रहते हैं। हिब्रू-जैसी सर्वथा मृत भाषा को सजीव और हर तरह से समर्थ बनाकर यहूदियों ने एक सर्वथा अभूतपूर्व चत्मकार कर दिखाया है। यहूदियों के नवराष्ट्र इज़राइल की राष्ट्रभाषा हिब्रू में आज विज्ञान की प्रत्येक शाखा के ग्रन्थ प्राप्य हैं। रूसी भाषाओं की वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में भी रूसी राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के रूसी स्वरूपों के साथ ही रूसी भाषाओं के वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का भी अब वहाँ अधिकधिक प्रयोग किया जाने लगा है। अपनी लिपि और वर्णमाला में पायी जानेवाली मौलिक विभिन्नताओं के कारण जापानी भाषा में वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली बनाने के लिए जापानी वैज्ञानिकों को सर्वथा दूसरा ही तरीका अपनाना पड़ा था, जो अवश्य ही बहुत सफल हुआ और आज जापानी भाषा की पारिभाषिक शब्दावली बहुत ही समृद्ध और समर्थ बन गई है। ये ही वे कुछ विशेष संकेत हैं जिनके द्वारा एशियाई भाषाओं की तत्सम्बन्धी भावी प्रवृत्ति की सम्भावित दिशा का कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

अनेकानेक कोषकारों तथा राज्यशासन के अब तक के सारे प्रयत्नों से हिन्दी की वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य में विशेष प्रेरणा और निश्चित गति प्राप्त हुई है और हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों के पठन-पाठन के लिए आवश्यक साहित्य-निर्माण का काम भी आज चल निकला है। परन्तु हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि भी मूलतः अंग्रेज़ी आदि यूरोपीय भाषाओं तथा लिपियों से पूर्णतया विभिन्न हैं, अतएव अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली का यह हिन्दीकरण कहाँ तक हिन्दी भाषा में समाविष्ट होकर आत्मसात हो सकेगा यह आज निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। इसका सही पता तो आगे चलकर कुछ युगों बाद ही चलेगा जब हिन्दी-भाषी वैज्ञानिकों पर अंग्रेज़ी भाषा तथा शब्दावली का वर्तमान प्रभाव बहुत-कुछ लुप्त हो गया होगा और वे अपनी राष्ट्रभाषा के प्रति विशेष गौरव का अनुभव करने लगेंगे।

हरिमोहनकृष्ण सक्सेना

हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दावली की समस्याएँ और उनका समाधान

श्री हरिमोहन कृष्ण सक्सेना का जन्म १६२८ में···हुआ। १६५३ में आगरा विश्व-विद्यालय से एम० एस-सी० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इस विश्वविद्यालय में उन्होंने एक वर्ष तक कीट-विज्ञान पर अनुसन्धान किया। १६५४ से केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में वैज्ञानिक शब्दावली पर कार्य कर रहे हैं और सहायक शिक्षा-अधिकारी हैं।

हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दावली के विकास से सम्बद्ध समस्याओं को मुख्यत: तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—उद्धृत शब्दों की समस्या, शब्द-चयन की समस्याएँ और शब्द-निर्माण-सम्बन्धी समस्याएँ।

१. उद्धृत शब्दावली

पिछले दो-तीन सौ वर्षों में विज्ञान का विकास विशेष रूप से यूरोपीय देशों में ही हुआ है। यही कारण है कि आज यूरोपीय भाषाओं में पर्याप्त वैज्ञानिक शब्दावली पायी जाती है। उनमें वैज्ञानिक तथ्यों, संकल्पनाओं तथा पदार्थों को व्यक्त करने के लिए असंख्य वैज्ञानिक शब्द प्रचलित हैं। इनको अपनी भाषा में किस प्रकार लिया जाए यह एक विवादास्पद विषय है। इस बारे में तीन विचारधाराएँ प्रचलित हैं जिनमें दो को अतिवादी और एक को उदारवादी या मध्यमार्गी कहा जा सकता है। अतिवादी विचारधाराओं में एक के समर्थक तो बिलकुल शुद्धतावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनका कहना है कि विदेशी शब्दों को अपनाना अपनी भाषा की दरिद्रता का परिचायक है। जब हमारी भाषा में शब्द-निर्माण की इतनी क्षमता है तो हम विदेशी शब्दों को क्यों लें? दूसरा मत यह है कि वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क आवश्यक है। इसीलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम भी उसी शब्दावली का प्रयोग करें जो अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में प्रयुक्त हो रही है। इस मत के प्रवर्तकों का विचार है कि अधिकांश वैज्ञानिक शब्दावली अन्तर्राष्ट्रीय है और उसको बिना किसी परिवर्तन के अपनी भाषा में अपना लेना चाहिए। उदारवादी विचारधारावालों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। उनका कहना है कि ऐसे काफी शब्द हैं जो संसार की कई उन्नत भाषाओं में प्रयुक्त हो रहे हैं। उदाहरणार्थ, रेडियो और मानसून अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, जापानी तथा अरबी भाषाओं में प्रचलित हैं। हिन्दी भाषा में भी ये शब्द काफी समय से चल रहे हैं। ऐसे कई विदेशी शब्द अपनी भाषा में ले लिये गए हैं जिनके लिए भाषा में कोई और पर्याय है ही नहीं। प्रोटीन, विटामिन, पेट्रोल, जेट, सिमेंट, डेल्टा, स्टोव, थर्मस, मीटर, ग्राम, वोल्ट तथा मलेरिया इसी श्रेणी में आते हैं। इनके लिए अब नये शब्द गढ़ना व्यावहारिक दृष्टि से न्यायोचित न होगा। परन्तु बहुत-से वैज्ञानिक शब्द ऐसे हैं जिनके लिए अपनी भाषा में पहले से शब्द मौजूद हैं। 'ऐल्कली' शब्द भी उपर्युक्त सभी भाषाओं में प्रयुक्त होता है परन्तु हिन्दी में इसके लिए 'क्षार' शब्द चलता है। इसी प्रकार ऐरोप्लेन के लिए हवाई जहाज और वायुयान, सबमैरीन के लिए पनडुब्बी, रेडिएशन के लिए विकिरण, ऐटम के लिए परमाणु शब्द चलते हैं। ऐसे पदार्थों अथवा संकल्पनाओं के लिए हमें यथासम्भव अपने शब्दों का प्रयोग ही करना चाहिए। परन्तु कुछ ऐसे भी उद्धृत शब्द हैं जिनके लिए

हिन्दी में अपना समानार्थी शब्द प्रचलित हो गया है। बैक्टीरिया और जीवाणु, वाइरस और विषाणु, फोटोग्राफ और छायाचित्र, सिनेमा और चलचित्र, तथा रॉकेट और प्रक्षेपणास्त्र आदि ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। यहाँ पर किसी एक शब्द को लादना ठीक नहीं रहेगा। जनता को यह अधिकार होना चाहिए कि वह चाहे जिसका प्रयोग करे।

उपर्युक्त तीनों विचारधाराओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदारवादी नीति अपनाना ही ठीक रहेगा। हमको इस बात का विशेष ध्यान रखना है कि वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगति के आधुनिक युग में कहीं हम अन्य देशों से पीछे न रह जाएँ। परन्तु साथ ही यह भी देखना है कि हम अपनी भाषा में उपलब्ध सामग्री का पूरा-पूरा लाभ उठाएँ और हमारी भाषा विदेशी शब्दों के अन्धाधुन्ध प्रयोग से कृत्रिम या बोझिल न हो जाए।

किसी भी भाषा में विदेशी शब्दों को लेते समय दो समस्याएँ सामने आती हैं। एक तो यह है कि इन शब्दों को लिप्यन्तरित करते समय विदेशी भाषा के मूल उच्चारण को ही आधार माना जाए या उसको अपनी भाषा के ध्वनि-सम्बन्धी नियमों के अनुरूप ढाल लिया जाए। हिन्दी में काफी समय से प्रयुक्त उद्धृत वैज्ञानिक शब्दों पर दृष्टि डालने पर इस समस्या का समाधान हो जाता है। 'कुनैन' शब्द को ही लीजिए। इसका मूल उच्चारण 'क्वीनीन' है परन्तु अपनी भाषा में अपनाते समय इसका रूपान्तरण हो गया। इसी प्रकार एंजिन का इंजन, डीज़ेल का डीज़ल, मैशीन का मशीन, पाउण्ड का पौंड, और कैमेरा का कैमरा, हो गया है। अन्य भाषाओं में भी यही प्रक्रिया देखने को मिलती है। हिन्दी का घड़ियाल शब्द अंग्रेज़ी में गैविएल बन गया। कभी-कभी एक ही शब्द कई भाषाओं में रूप बदलता चला जाता है। चाकलेट शब्द मूलतः मैक्सिकन भाषा का है। अंग्रेज़ी में इसका रूप Chocolatl से Chocolate, जापानी में Chokeretio और हिन्दी में चाकलेट हो गया। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'अधिकांश विदेशी शब्दों का रूपात्मक विकास होकर हमारी भाषा में आगम' हुआ है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल बन जाता है। अमरीकी भाषाविद् एडवर्ड सैपीर ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है: "विदेशी शब्दों को अपनाते समय उनमें ध्वनि-परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। कुछ विदेशी ध्वनियाँ या स्वराघात-सम्बन्धी विशिष्टताएँ ऐसी अवश्य होती हैं जो सजातीय ध्वनि-प्रवृत्ति के प्रतिकूल होती हैं। आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके उनको अनुकूल बना लिया जाता है।" अतः उद्धृत शब्दों को लिपिबद्ध करते समय वर्तनी तथा उच्चारण की दृष्टि से अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप बनाना ही वांछनीय होगा।

विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि उनसे व्युत्पन्न शब्दों के बारे में क्या नीति अपनाई जाए। भाषाओं के विकास का यह एक मौलिक सिद्धान्त है कि कोई भी जीवित भाषा विभिन्न स्रोतों से चाहे जितनी संख्या में शब्द ले सकती है परन्तु उनके व्याकरण-नियमों को नहीं लेती। हिन्दी में काफी समय से प्रचलित उद्धृत शब्दों के अध्ययन से इस सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है। फिल्म और मशीन के बहुवचन के रूप में फिल्में और मशीनें प्रयुक्त होते हैं, फिल्म्स और मशीन्स नहीं। इसी प्रकार एटामिक की जगह एटमी, वोल्टेज की जगह वोल्टता, आक्सीडेशन की जगह आक्सीकरण, डार्विनिज़्म की जगह डार्विनवाद आदि शब्दों का प्रयोग हो रहा है।

संक्षेप में, उद्धृत शब्दों को स्वीकार करते समय दो तरह के संस्कार होते हैं। एक तो विदेशी शब्द को ग्रहण करनेवाली भाषा की ध्वनि-पद्धति के अनुरूप ढाल लिया जाता है और दूसरे, उस शब्द या उसके संक्षिप्त रूप को धातु मानकर ग्राहक भाषा के व्याकरण के अनुसार नए व्युत्पन्न शब्द बना लिये जाते हैं।

२. शब्द-चयन की समस्याएँ

वैज्ञानिक शब्दावली में ऐसे काफी शब्द मिलते हैं जो हैं तो भाषा के सामान्य शब्द, परन्तु वैज्ञानिक क्षेत्र में विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—अंग्रेज़ी के वर्क, फोर्स, एनर्जी, फ्रूट, हैबिट, फैमिली, आदि। इनके लिए नये शब्द गढ़ने की जगह प्रचलित शब्दों का ही यथासम्भव प्रयोग किया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में दो कठिनाइयाँ

सामने आती हैं। एक तो यह कि जहाँ पर दो या अधिक शब्द एक अंग्रेज़ी शब्द के पर्याय के रूप में चलते हों वहाँ कौन-सा शब्द लिया जाए। दूसरी समस्या यह है कि यदि एक ही हिन्दी शब्द दो अंग्रेज़ी शब्दों के लिए चलता हो तो किसका पर्याय माना जाए।

सामान्य बोलचाल तथा साहित्यिक भाषा में 'विकास' शब्द अंग्रेज़ी के दो शब्दों—डवेलपमेण्ट और इवोल्यूशन के लिए प्रयोग किया जाता है। चूँकि जीव-विज्ञान में इन दोनों का अलग-अलग विशिष्ट अर्थ है इसलिए हमें दो हिन्दी शब्द चाहिए। 'विकास' शब्द को 'इवोल्यूशन' के लिए स्थिर कर देने से 'डवेलपमेण्ट' के लिए दूसरा शब्द खोजना पड़ेगा। इसकी व्याख्या—अण्डे से वयस्क प्राणी तक बढ़ने की क्रिया—को ध्यान में रखकर 'परिवर्द्धन' शब्द रखा जा सकता है।

इसी प्रकार अंग्रेज़ी के 'पावर' और 'एनर्जी' के लिए हिन्दी में 'शक्ति' प्रचलित है। भौतिक विज्ञान में इन दोनों से सम्बद्ध एक और शब्द है 'फोर्स', जिसके लिए हिन्दी में 'बल' शब्द चालू है। यहाँ शब्दों का प्रयोग मर्यादित करना होगा। भाषा-विज्ञान में इसको अर्थ-परिसीमन कहते हैं। इस प्रकार, 'पावर' के लिए 'शक्ति' और 'फोर्स' के लिए 'बल' सीमित कर दिया गया और 'एनर्जी' के लिए तीसरा शब्द 'ऊर्जा' खोजना पड़ा।

कहीं-कहीं पर एक अंग्रेज़ी शब्द के लिए हमें अपनी भाषा में अनेक पर्याय मिल जाते हैं, जैसे फेदर (feather) के लिए पर, पंख, पक्ष और पिच्छ चार शब्द मिलते हैं। यहाँ पर शब्द-चयन करते समय कई बातों पर ध्यान देना पड़ता है। पहले तो यह देखना है कि मूल शब्द की व्याख्या के अनुसार कौन-सा शब्द अधिक उपयुक्त ठहरता है। दूसरी बात यह है कि ये चारों शब्द किसी दूसरे अर्थ के बोधक तो नहीं हैं। तीसरी बात यह है कि क्या इनसे व्युत्पन्न शब्द बन सकते हैं। इस दृष्टि से यदि हम चारों शब्दों का मूल्यांकन करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'पक्ष' और 'पंख' तो अंग्रेज़ी के 'विंग' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं और उस अर्थ में अधिक उपयुक्त भी हैं। अब रहे दो शब्द 'पर' और 'पिच्छ'। इनमें 'पर' तो सामान्य बोलचाल का शब्द है जो काफी प्रचलित है और 'पिच्छ' संस्कृतमूलक शब्द है जो उतना प्रचलित नहीं है। देशव्यापी हित को ध्यान में रखते हुए संस्कृत का शब्द काफी उपयोगी रहता है, क्योंकि यह अन्य भारतीय भाषाओं में भी ग्रहण किया जा सकता है। दूसरे, पिच्छ से व्युत्पन्न शब्द या सामासिक पद सरलता से बनाए जा सकते हैं, जैसे पिच्छ-गर्त, पिच्छ-कर्ण, पिच्छाक्ष, आदि। इसलिए 'पर' तथा 'पिच्छ' दोनों शब्दों को रखना ही श्रेयस्कर होगा। उपर्युक्त उदाहरण से एक और बात स्पष्ट हो जाती है। शब्द-चयन करते समय किसी संकल्पना या पदार्थ से सम्बद्ध अन्य सभी शब्दों पर एक साथ विचार करना अपेक्षित है, नहीं तो अतिव्याप्ति की सम्भावना रहती है। जीवविज्ञान में कोष के अर्थ में कई शब्द आते हैं, जैसे (Sac), वैक्यूओल (Vacuole), सिस्ट (Cyst), सेल (Cell) और पाउच (Pouch)। इनके लिए क्रमशः कोष, धानी, पुटी, कोशिका और कोष्ठ नियत किये जा सकते हैं। एक बार स्थिर हो जाने पर वैज्ञानिक प्रकरण में उनका प्रयोग विशिष्ट अर्थों में ही होने लगेगा।

संक्षेप में शब्द-चयन करते समय सरलता के साथ-साथ यथार्थता की तरफ भी समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि ऐसे शब्दों का चयन हो जिनमें व्युत्पन्न शब्दों या सामासिक पदों के निर्माण की क्षमता हो।

३. शब्द-निर्माण सम्बन्धी समस्याएँ

किसी भी विदेशी वैज्ञानिक शब्द के लिए हिन्दी प्रतिशब्द गढ़ते समय सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि मूल शब्द की व्युत्पत्ति को शब्द का आधार माना जाए या उसके प्रचलित अर्थ को। अकसर लोग केवल व्युत्पत्ति या शाब्दिक अर्थ के अनुसार ही नया शब्द गढ़ लेते हैं, भावार्थ पर ध्यान ही नहीं देते। फलस्वरूप हिन्दी में कभी-कभी हास्यास्पद अभिव्यक्तियों का प्रयोग दिखलाई पड़ता है। जैसे कोल्ड ब्लडेड एनीमल के लिए शीत रुधिर प्राणी, एटामिक प्लाण्ट के लिए आणविक पौधा, आइवरी टावर के लिए गजदन्ती मीनार, रिलीफ मैप के लिए सहायता मानचित्र, इत्यादि। इसलिए, यदि किसी शब्द की व्युत्पत्ति उसके प्रचलित अर्थ को समझने में सहायक हो तभी

व्युत्पत्ति को आधार मानकर नया शब्द गढ़ा जा सकता है। अंग्रेज़ी के माइक्रोस्कोप के लिए हिन्दी में सूक्ष्म (माइक्रो) और दर्शी (स्कोप) को मिलाकर सूक्ष्मदर्शी शब्द बन जाता है। यह व्युत्पत्ति पर आधारित सार्थक शब्द है। इसी प्रकार क्लोरोफिल (पत्तियों में पाया जाने वाला हरा पदार्थ) के लिए 'पर्णहरिम' कितना उपयुक्त है।

परन्तु कहीं-कहीं व्युत्पत्ति अर्थ को समझने में सहायक न होकर बाधक ही होती है। कहने का मतलब यह है कि व्युत्पत्ति और अर्थ में कोई अनुरूपता नहीं होती। ऐसी जगह व्युत्पत्तिमूलक शब्द ठीक नहीं रहेगा। यदि हमें मलेरिया के लिए कोई शब्द गढ़ना पड़ता तो बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो जाती, क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति से प्रचलित अर्थ का कुछ भी बोध नहीं होता है। यह दो इतालवी शब्दों से बना है जिनका अर्थ है 'खराब हवा'। इसलिए अच्छा हुआ कि यह हमारी भाषा में अपना लिया गया है।

कहीं-कहीं पर व्युत्पत्ति भ्रामक तो नहीं होती परन्तु उससे व्याख्या का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। स्तनी प्राणियों का एक वर्ग है जिसमें मनुष्य और बन्दर आते हैं। ये प्राणी विकास की दृष्टि से सबसे ऊँचे गिने जाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए विश्वविख्यात जीववैज्ञानिक लिनी-अस ने इस गण का नाम 'प्राइमेट्स' रखा जो लैटिन 'प्राइमेट्स' (प्रथमस्थान) से बना है। हिन्दी में इसको 'प्रथम गण' कहने से कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। यदि 'नरवानर' गण का प्रयोग किया जाए तो मूल शब्द में निहित भाव व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रोटोप्लाज़्म' के लिए व्युत्पत्ति के आधार पर 'आद्यद्रव्य' (ग्रीक प्रोटोस—प्रथम, आद्य; ग्रीक प्लाज़्स—द्रव्य, सार) शब्द बनता है। परन्तु व्याख्या को देखते हुए 'जीवद्रव्य' अधिक उपयुक्त लगता है। यह शब्द सरल, सुगम और यथार्थ भी है।

नए शब्दों को गढ़ते समय एक और समस्या सामने आती है। वैज्ञानिक शब्दों का अर्थ काफी विस्तृत होता है। उसमें कई विचार जुड़े होते हैं। नए शब्द में सारी व्याख्या का समावेश तो सम्भव नहीं इसलिए एक या दो महत्वपूर्ण बातों पर ही शब्द-निर्माण करना पड़ता है। एक्वेरियम शब्द को ही लीजिए। इसकी व्युत्पत्ति से केवल दो बातों का बोध होता है जल (एक्वा) और शाला (एरियम) परन्तु व्याख्या में तीन बातें आती हैं जल, जीव और शाला। इसी से सम्बद्ध शब्द है टेरेरियम। इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः जलजीवशाला और थलजीवशाला का सुझाव दिया गया है परन्तु जलशाला और थलशाला से ही मुख्य अर्थ का बोध हो जाता है और व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से भी ये शब्द अधिक उपयुक्त हैं। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। 'फ़्लोरा' एक लैटिन शब्द से बना है जिसका अर्थ केवल फूल है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है, 'किसी देश, क्षेत्र अथवा काल में पाये जानेवाले विशिष्ट पौधे।' इस परिभाषा के अनुसार इसका पर्याय होगा 'बनस्पति समूह', या 'पादपसमूह'। कुछ लोग इसको अपर्याप्त कहते हैं। उनके मत से 'पादप जाति-समूह' उपयुक्त शब्द है क्योंकि इसमें पूरा अर्थ समा जाता है। परन्तु 'अर्थ की पूर्णता' ही उपयुक्तता का मापदण्ड नहीं है। भाषा में प्रचलित पारि-भाषिक शब्दों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ ही सब-कुछ नहीं है। वही शब्द अन्त में स्वीकृत होते हैं जो प्रयोग की कसौटी पर खरे उतरते हैं। इस पहलू से यदि हम कुछ शब्दों का परीक्षण करें तो हम देखेंगे कि कई शब्द सुगमतापूर्वक प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। उदाहरणार्थ, यदि हमें इस अंग्रेजी वाक्यांश 'फ़्लोरा आफ इण्डिया' का अनुवाद करना हो तो उपर्युक्त पर्याय के अनुसार 'भारत का वनस्पति जातिसमूह' होगा। यदि हम 'भारत की पादपता' कहें तो बोलने तथा लिखने में कितनी सुगमता होती है! 'पादपता' शब्द सार्थक भी है। 'जनता' तथा 'ग्रामता' के सादृश्य पर पादप में 'ता' प्रत्यय जोड़कर पादपता बन सकता है। इस प्रकार शब्द-निर्माण के समय अर्थ पर ही सारा ध्यान केन्द्रित नहीं होना चाहिए। प्रयत्नलाघव (economy of effort) का भी कम महत्व नहीं है। इसी प्रकार 'शरीरक्रिया विज्ञान' करें तो फिज़ियोलोजिकल फैक्टर से बने मिश्रित शब्दों को एक लम्बे वाक्यांश द्वारा व्यक्त करना होगा। इस प्रकार भाषा कृत्रिम तथा दुरूह बन जाएगी। यदि हम 'शरीरक्रिया विज्ञान' की जगह केवल 'कार्यिकी' शब्द अपना लें तो प्रयोग में काफी सुविधा हो जाती है।

इतने लम्बे शब्दों को बनाने का मूल कारण यह है कि विदेशी भाषाओं के वैज्ञानिक शब्दों की पूरी व्याख्या को

हिन्दी में एक शब्द से व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे शब्दों को पढ़नेवाले इस बात पर विचार नहीं करते कि शब्द स्वतः परिभाषा नहीं हो सकते। शब्द तो भावों के संकेत-मात्र हैं। कई विचारों को केवल एक शब्द में प्रकट करने का प्रयास शब्द की आत्मा के साथ महान अन्याय करना है।

इस सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध भाषाविद् तथा अर्थविज्ञानी ब्रेयल (Breal) का निम्न कथन अवलोकनीय है :

'भाषा के एक शब्द में उन सब विचारों का समावेश नहीं हो सकता जो किसी पदार्थ-विशेष को देखकर मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। इसलिए भाषाविद् को चुनने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अनेक विचारों में से केवल एक को चुना जा सकता है। इसी लिए शीघ्र ही वह शब्द केवल एक संकेत-मात्र बन जाता है।'

इसलिए नए वैज्ञानिक शब्दों को गढ़ते समय यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि पारिभाषिक शब्द तो केवल संकेत-मात्र हैं। उनसे पूर्ण व्याख्या का बोध नहीं हो सकता। इसलिए लम्बे वर्णनात्मक शब्दों के स्थान पर यथासम्भव संक्षिप्त शब्दों को गढ़ने का प्रयास होना चाहिए, क्योंकि उनके प्रयोग में अधिक सुगमता होती है और भाषा में ओज, प्रवाह तथा सौन्दर्य बना रहता है।
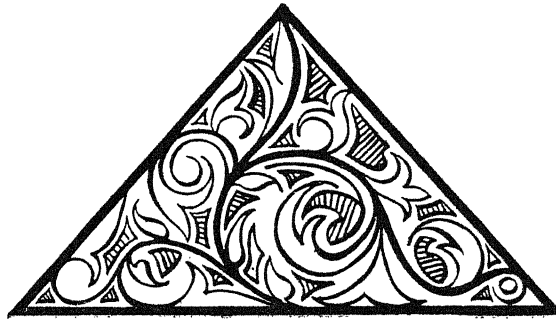
डॉ० बी० एल० उपाध्याय

संस्कृतमूलक हिन्दी गणितीय शब्दावली का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा भाषाशास्त्रीय संक्षिप्त अध्ययन
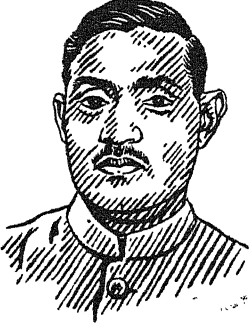
डॉ० बी० एल० उपाध्याय का जन्म १९१६ में बदायूँ जिले के बाँस बरौलिया ग्राम में हुआ था। वे गणित में एम० ए०, संस्कृत में शास्त्री और हिन्दी में भारतीय गणित शब्दावली पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। गत १० वर्षों से वे केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में गणित शब्दावली पर कार्य कर रहे हैं।

व्याकरण की दृष्टि से यद्यपि हिन्दी और संस्कृत में पर्याप्त वैषम्य है किन्तु शब्दावली की दृष्टि से इन दोनों में उतना ही साम्य है जितना कि माँ-बेटियों में हुआ करता है। यों तो समस्त हिन्दी शब्दावली प्रायः संस्कृत-जन्य ही है किन्तु गणितीय हिन्दी शब्दावली तो प्रायः संस्कृतमय ही है। इसकी आधार-भूमि इसी के रत्नों से बनी है, इसका कलेवर भी इसी के अन्न-जल से पुष्ट हुआ है।

गणित का महत्व

जिस प्रकार मयूरों की शिखाएँ, नागों की मणियाँ, शरीर के अंगों में भी मस्तिष्क मूर्धस्थान में स्थित है उसी प्रकार गणित भी सकल वेदांगों तथा शास्त्रों में शिरोमणि है। वेदांग ज्योतिष में सत्य ही कहा है :

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदांग शास्त्राणां गणितं मूर्ध्नि स्थितम् ॥

प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने तो यहाँ तक कहा है :

बहुभिर्विप्रलापैः किम् त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किंचिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन बिना न हि॥

अर्थात् और अधिक प्रलाप करने से क्या लाभ इस चराचर संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसके आधार में गणित न हो।

वास्तव में गणित विद्या समस्त विज्ञानों की जननी है और लगभग सभी विज्ञान अपनी अन्तिम विकासावस्था में प्रायः गणितमय ही हो जाते हैं। गणित के महत्व को सम्पूर्ण रूप से वर्णन करना प्रायः अशक्य है। यह सांख्यिकी के रूप में शासन का नेत्र है एवं अर्थशास्त्र का प्राण है, उच्च-गणित के रूप में भौतिकी की आत्मा, प्रक्षेपणशास्त्र (बैलिस्टिक्स) के रूप में देश की सुरक्षा का साधन, ज्योतिष के रूप में इहलोक तथा परलोक (नक्षत्रलोक) के ज्ञान का साधन, त्रिकोण-मिति के रूप में व्योमगति का साधन तथा अंकगणित के रूप में समस्त लोक-व्यवहार का साधन है। कैसे आश्चर्य की बात है कि इतने महत्वपूर्ण शास्त्र की आज तक किसी ने शब्दगवेषणा नहीं की। सच पूछा जाए तो संस्कृत तथा उससे विनिर्गत हिन्दी-भाषा की शब्दावली का अब तक भी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन नहीं हुआ है। हिन्दी भाषा का जन्म तो दासता के कारागार में हुआ है और कारागार के बन्दी की बोली का क्या महत्व ! यही कारण है कि हिन्दी-भवन अभी भरा-

पूरा दृष्टिगोचर नहीं होता। यद्यपि हिन्दी जन्म-काल से ही अत्यन्त सरल एवं सुन्दर रही है, किन्तु रूपवती भिखारिणी के समान आदरणीय नहीं रही। हिन्दी तो अपने देश में भी विदेशी भाषा के समान रही है और उधर अंग्रेजी और फारसी भाषाएँ विदेश में भी देशी भाषाओं से अधिक आदृत रही हैं।

लेकिन अब समय आ गया है कि राष्ट्रभाषा में गणित-शास्त्र की शब्दावली का भाषा-शास्त्रीय, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन किया जाए।

शब्दावली के अध्ययन से लाभ

पारिभाषिक शब्दावली के अध्ययन से अनेक लाभ हैं। प्रथम तो पारिभाषिक शब्दों के अर्थज्ञान के बिना कोई शास्त्र ही समझ में नहीं आ सकता। विभिन्न कालों में शब्दों के अर्थ किस प्रकार परिवर्तित हुए, इसको बिना समझे हम विभिन्न कालों के साहित्य को नहीं समझ सकते। इन लाभों के अतिरिक्त, जिस प्रकार कालक्रम से हिम के अंचल में जमे हुए अनेक पदार्थ मिल जाते हैं, उसी प्रकार शब्दों के अन्तर्गत छिपे हुए बड़े-बड़े महत्वपूर्ण तथ्य हस्तगत हो जाते हैं। हमारा पृथ्वी के लिए 'अचला' शब्द तथा सूर्य की 'नवग्रहों' (गच्छतीति ग्रहः अर्थात् जो चले वह ग्रह होता है) में गणना इस तथ्य के द्योतक हैं कि प्राचीन काल में हमारे पूर्वज (आर्यभट्ट को छोड़कर) पृथ्वी को अचल तथा सूर्य को चल मानते थे।

संस्कृत के 'मातृ, पितृ' अंग्रेजी के 'फादर, मदर' फारसी के 'पिदर, मादर' तथा यूनानी के 'पेटर, मेटर' संस्कृत 'दक्षस्, दान्त' अंग्रेजी 'डैक्सट्स, डांटिड' आदि अनेक सदृश शब्दों के विवेचन से ही एक नवीन इतिहास का पता चला कि ये सब जातियाँ पहले एक ही थीं और एक स्थान में निवास करती थीं।

संस्कृत का केन्द्र (यूनानी कैत्रान), यवन (यूनानी आयोनियन), द्रम्म (यूनानी द्राक्मे), नेम (फारसी नीम), यूनानी 'केन्योस' (संस्कृत शून्य), ब्रिज (संस्कृत मूर्ज), पिप्पर (संस्कृत पिप्पली), इण्डिया (संस्कृत सिन्धु अवेस्तन हिन्दू) शब्द इस बात के द्योतक हैं कि भारत, अरब तथा यूनान में कभी सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक आदान-प्रदान होता था।

संस्कृत 'जीवा', अरबी 'जेब' तथा लैटिन 'साइनस', अंग्रेजी 'साइन', संस्कृत 'शून्य', अरबी 'सिफ्र', अंग्रेजी 'साइफर' शब्द इस तथ्य के द्योतक हैं कि योरपवालों ने अरबों के माध्यम से भारतीय गणित सीखा था। अंग्रेजी का 'अल्जेब्रा' शब्द, जो स्वयं 'बीजगणित' का अनुवाद है, क्योंकि दोनों का अर्थ समीकरण-गणित ही है, उपरोक्त तथ्य को पुष्ट करता है। 'ताजिक नीलकण्ठी' का ताजिक शब्द, जिसका अर्थ है फारस में पला हुआ कोई अरब, तथा आजकल भी ताजिकिस्तान रूस का एक राज्य है, इस तथ्य को सूचित करता है कि वर्षफल-पद्धति फारस के माध्यम से अरब से भारत में आई।

अफरीती, अपरीती, अपरान्त, अर्थात् पश्चिम प्रान्त का निवासी कन्धारे (गांधार) तथा जैद भाषा (छन्दः भाषा) इस तथ्य के परिचायक हैं कि कभी भारत का सुदूर पश्चिम तक राज्य फैला था। अंग्रेजी का 'वर्सिड साइन' शब्द लीजिए। इसका शाब्दिक अर्थ है उल्टा साइन अर्थात् साइन किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है '१-कोसाइन'। इस अर्थ-विरोध को समझाने के लिए उनके पास कोई व्याख्या नहीं है, किन्तु अन्वेषण करने से पता चलता है कि यह हमारे 'उत्क्रमज्या' शब्द का शब्दानुवाद-मात्र है। क्योंकि हमारा शब्द प्राचीन है तथा इसकी युक्तियुक्त व्याख्या हमारे पास है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि कभी एक दिन ऐसा था जबकि पश्चिमवाले हमारा अनुकरण करते थे और आज दुर्भाग्य से स्थिति में पर्याप्त अन्तर पड़ गया है। चक्र की गति ऊपर से नीचे की ओर हो गई है और आज हमको उनका अनुकरण करना पड़ रहा है।

'सुपारी' शब्द भी कितने पुराने बन्दरगाह 'सूपारक' की स्मृति दिलाता है, जिसके नाम पर एक सूपारक जातक भी है। बौद्धकाल में पश्चिमी घाट पर यह एक बन्दरगाह था जहाँ से सुपारी लदकर विदेशों को जाती थी अतएव विदेशियों ने उस वस्तु का नाम ही उस स्थान के नाम पर रख लिया, जहाँ से यह वस्तु आती थी। जैसे प्रारम्भ में सूरत बन्दरगाह पर उतरने के कारण 'तम्बाकू' का नाम 'सुरती' हो गया। इसी तरह मिस्र से आने के कारण मिस्री तथा चीन से आने के कारण 'चीनी' नाम पड़े। कमरख शब्द भी इसी प्रकार कर्म-रंग से बना है। 'कर्मरंग' नाम का

मलाया में एक छोटा राज्य था। वहाँ से ५वीं शती के प्रारम्भ में यह वस्तु यहाँ आई अतएव कर्मरंग नाम से पुकारी गई।

गणितीय शब्दावली का ऐतिहासिक अध्ययन

इस अध्ययन से पता चला कि हमारी गणितीय शब्दावली का सृजन वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो जाता है और पुनः ब्राह्मण ग्रन्थों, सूर्य ग्रन्थों, विशेषतः शुल्वसूत्र, बौद्ध तथा जैन साहित्य, वक्षाली गणित, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम, पृथूदक स्वामी, महावीराचार्य, श्रीधराचार्य, श्रीपति, भास्कर द्वितीय, सम्राट जगन्नाथ इन सबने मिलकर उस शब्दावली को परिपूर्ण किया। प्रत्येक ने कौन-कौन-से नवीन गणितीय शब्द तथा गणितीय संकल्पनाएँ प्रदान कीं इसका विवरण तो यहाँ देना सम्भव नहीं है। इन प्राचीन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय गणितीय शब्दावली उतनी ही प्राचीन है जितना कि भारतवर्ष। इसका एक अपना सुसम्बद्ध तथा सुश्लिष्ट इतिहास है। सहस्रों वर्षों तक की हुई निरन्तर कठोर तपस्या तथा सुदीर्घ चिन्तन का यह परिणाम है। यह किसी एक व्यक्ति के निजी मस्तिष्क की उपज नहीं है। शब्दों को एक दीर्घकाल तक उन्मुक्त प्रतियोगिता करने का भव्य अवसर मिला है तथा योग्यता-विशेष के सिद्धान्त से जो शब्द सबसे अधिक सरल, संक्षिप्त तथा सुन्दर थे, वही जीवित रहे, शेष सब कालकवलित हो गए। फिर भी जो बचे उनमें प्रधानतया संस्कृत तथा गौण रूप से पालि तथा अन्य प्राचीन एवं प्रादेशिक भाषाओं का अपना-अपना एक निजी भाग है। इसमें सभी धर्मों तथा सभी प्रान्तों का समान हाथ है। शब्दों का इतिहास भी मानव-वंश-परम्परा के इतिहास के समान होता है। कोई शब्द-परिवार आदिकाल से अब तक चला आ रहा है जैसे एक से सहस्र तक की संख्याओं के नाम, कोई कुछ काल तक चलकर समाप्त हो गया और किसी दूसरे को अपने स्थान पर छोड़ गया, जैसे अयुत, नियुत, प्रयुत आदि के स्थान पर दस हज़ार, लाख, दस लाख, करोड़ आदि शब्द प्रचलित हो गए; अथवा निरुद्ध के स्थान पर लघुत्तम समापवर्त्य शब्द प्रचलित हो गया। कुछ भी हो, हमें अपनी इस शब्दावली पर गर्व है। यह हमारे अतीत गौरव की स्मारक है। उक्त संख्यावाचक शब्द सप्तर्षि तथा २७ नक्षत्रों के नाम एवं युग्म तथा अयुग्म शब्द वैदिक काल के अर्थात् ५००० वर्ष प्राचीन हैं। संख्या, वृत्त तथा शून्य शब्द ब्राह्मण काल के अर्थात् ४०००.वर्ष प्राचीन हैं। करणी, वर्ग, फलक, व्यास, रेखा, शंकु तथा विज्ञान शब्द शुल्वकाल के अर्थात् ३२०० वर्ष प्राचीन हैं। गणित, भिन्न, मुहूर्त, विभाजन, शोधन (घटाना), गुणा, भूगोल आदि शब्द वेदांग ज्योतिष काल के अर्थात् २५००-३००० वर्ष प्राचीन हैं। कोण, त्रिकोण, चतुष्कोण, शब्द सूर्य प्रज्ञाप्ति के अर्थात् २५०० वर्ष प्राचीन हैं। संकलन, वृद्धि, ब्याजी (ब्याज का पूर्वज) कौटिल्य अर्थशास्त्र के अर्थात् २२८५ वर्ष प्राचीन हैं। चक्रवृद्धि गौतम धर्मसूत्र तथा गणितीय शून्य शब्द पिंगल छन्दःशास्त्र के अर्थात् २१६० वर्ष प्राचीन हैं। उत्क्रमज्या, ज्या, कौटिज्या शब्द सूर्य-सिद्धान्त के अर्थात् २००० वर्ष प्राचीन हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम इस निधि को सुरक्षित रखें।

भारतीय गणितीय शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन

इस अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय जीवन अपेक्षाकृत सरल तथा प्राकृतिक था। यही कारण है कि गणित की पुस्तकों में प्रश्न भी भ्रमर, कमल, गजयूथ, मृग-समूह, सरोवर, वापी निर्झर-सम्बन्धी तथा दान-विषयक अधिक हैं।

करणी शब्द के अध्ययन से पता चला कि भारतवर्ष में कभी यज्ञ बहुत होते थे। सच पूछा जाए तो यज्ञ-व्यवस्था के निमित्त ही गणित की उत्पत्ति हुई। यज्ञ समुचित काल पर करने से फलदायी होते हैं ऐसी उनकी आस्था थी, अतएव काल-निर्णय करने के लिए गणित-ज्योतिष की उत्पत्ति हुई। वेदांग ज्योतिष का निम्न श्लोक इस सम्बन्ध में अवलोकनीय है :

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता
कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
दो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥

यज्ञों की वेदियों का भी आकार-प्रकार सुनिश्चित

था। उसमें लेशमात्र भी अशुद्धि हो जाने से अनिष्ट की आशंका हो जाती थी। अतएव वेदियों के समुचित आकार-प्रकार के निर्णय करने के लिए शुल्वसूत्र बनाये गए, जिनसे विश्व में रेखागणित की नींव पड़ी। करणी उस रस्सी को कहते थे जिससे वेदियाँ बनाई जाती थीं। आजकल जो कार्य हम पटरी तथा परकार से करते हैं वह कार्य वे रज्जु से कर लेते थे। कात्यायन शुल्वसूत्र में कहा है :

करणी, तत्करणी, तिर्यङ् मानी
पार्श्वमान्यक्षणया चेति रज्जवः।

वर्गाकार वेदियों को बनाते-बनाते करणी वर्ग की एक भुजा को भी कहने लगे। पुनः समस्त वर्ग को कभी करणी शब्द से बोधित करने लगे। अन्त में करणी उस संख्या का नाम हो गया जिसका वर्गमूल निकालना तो अपेक्षित हो किन्तु जो पूरा-पूरा न निकल सके, केवल जो वर्ग की एक भुजा द्वारा निरूपित किया जा सके।

व्यक्त गणित और अव्यक्त गणित शब्दों के अवलोकन-मात्र से पता चलता है कि ये उसी जाति के मस्तिष्क की खोज है जो व्यक्त तथा अव्यक्त के विचार में दिन-रात डूबी रहती थी। भारतवासियों ने जिस प्रकार व्यक्त लोक को उस अव्यक्त शक्ति से उत्पन्न माना था उसी प्रकार उनकी यह कल्पना थी कि व्यक्त गणित (अंकगणित) के समस्त नियम अव्यक्त गणित (बीजगणित) से निस्सृत हो जाते हैं। देखिए भास्कर द्वितीय की निम्न उक्ति :

उत्पादकं यत्प्रवदन्ति बुद्धे-
रधिष्ठितं सत्पुरुषेण सांख्याः।
कृत्स्नस्य लोकस्य तदेकबीजम-
व्यक्तमीशं गणितं च वन्दे॥

अर्थात् जिसको सांख्यशास्त्र के रचयिता बुद्धितत्व का उत्पादक तथा पुरुषतत्व से अधिष्ठित मानते हैं और जो समस्त व्यक्त जगत् का बीज है उस परमात्मा की मैं वन्दना करता हूँ। (गणित पक्ष में) जो बुद्धि को बढ़ाने-वाला है जिसका ऊँचे-ऊँचे विद्वानों ने परिशीलन किया है जो व्यक्त गणित का मूल है उस बीजगणित की मैं वन्दना करता हूँ।

कई एक यूनानी तथा अरबी शब्द भारतीय ज्योतिष में मिलते हैं, जैसे केन्द्र, आपोक्लिम, मेषूरण, ताजिक, ईस-राफ, मुथशिल आदि, जिनसे प्रतीत होता है कि इन विभिन्न संस्कृतियों में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में किस प्रकार परस्पर सहयोग था। हमारे शब्दों का भी विदेशों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए शून्य शब्द ही ले लीजिए। अरब में इसको सिफ्र शब्द से अनूदित किया गया। वहाँ से निम्नलिखित दो विभिन्न मार्गों से चलकर योरप पहुँचा। अतएव वहाँ इसके दो भिन्न शब्द मिलते हैं प्रथम साइफर द्वितीय ज़ीरो।

प्रथम मार्ग	**अरबी**	**स्पेनिश**	**पुरानी फ्रेंच**	**नई फ्रेंच**	**इंगलिश**
शून्य	सिफ्र	सिप्रा	सिफ्रे	शिफ्रे	साइफर

द्वितीय मार्ग	**अरबी**	**लैटिन**	**इटालियन**	**फ्रेंच**	**इंगलिश**
शून्य	सिफ्र	ज़ैफ्रम ज़ैफीरम	ज़ैफीरो ज्यूरो	ज़ीरो	ज़ीरो।

अमरकोष में रिक्तार्थक शून्य शब्द के चार पर्याय बताए हैं : १. शून्य, २. वशिक, ३. तुच्छ, ४. रिक्तक (शून्यं तु वशिकं तुच्छ रिक्तके: अमरकोश)। संसार की अन्य भाषाओं में इन्हीं चारों से मिलते-जुलते शब्द है :

यूनानी	केनोस, केन्योस	शून्य से मिलते हुए। (श का क हो जाता है)
ऐलिक	केन्नोस	
लैटिन	वेक्क्युअस	वशिक से मिलते हुए
इटैलियन	व्यूदो	
स्पैनिश	तेशिओ	तुच्छ से मिलते-जुलते
डैनिश	तोम	
लिथूनियन	तुच्छियस	
लैटिक	तुक्स	
स्लैविक	तुश्ती	
बोहीमियन, जैक	रोज़्डनी	रिक्त से मिलते-जुलते
पोलिश	रोज़नी	

'धन' शब्द दौड़ों में रखे हुए पारितोषिक के लिए आता था। 'धनंजित' तथा 'हितं (रखा हुआ) धनं' वैदिक प्रयोग इसके परिचायक हैं। 'ऋण' शब्द तथा 'कलियुग' आदि शब्दों के अध्ययन से पता चला कि भारत में ऋण तथा द्यूत की प्रथा अति प्राचीन है। देखिए :

जाया तप्यते कितवस्यहीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा विम्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति॥
(ऋग्वेद)

अर्थात् इधर-उधर मारे फिरते हुए जुआरी पुत्र की हीनावस्था को प्राप्त माता सन्तप्त हो रही है और इधर ऋणग्रस्त जुआरी सबसे डरता हुआ, धन की इच्छा करता हुआ रात को चोरी के लिए घर में घुसता है।

अंकगणित की प्राय: सभी प्राचीन पुस्तकों में जीव-विक्रय नामक एक प्रकरण रहता है, जिसमें स्त्री-विक्रय तथा पशु-विक्रय के प्रश्न रहते हैं। इन प्रश्नों में एक नवयुवती का मूल्य लगभग ३०-४० कनक मुद्राएँ बताया गया है।

'कुसीद्' शब्द व्याज वृत्ति के अर्थ में तैत्तिरीय संहिता तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र में आता है। अत: यह स्पष्ट है कि व्याज लेने की प्रथा भारतवर्ष में अतिप्राचीन है। यह प्रथा वैध तो थी किन्तु अच्छी नहीं मानी जाती थी, तभी तो पंचतंत्र में **'कुसीदाद्दारिद्र्युम्'** तथा महाभारत में **भिष्टा वार्धुषिकस्यान्नम्'** अर्थात् व्याज लेने से दरिद्रता आती है तथा व्याज लेनेवाले का अन्न भिष्टा के समान होता है, यह उल्लेख आया है।

गणितीय शब्दावली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन : गणितीय शब्दों की व्युत्पत्तियाँ

ज्या, जीवा, चाप, शर—ये सब नाम आकृतिसाम्य पर हैं। आसन्नचित्र में क म ट चाप के आकार का ही है अतएव चाप कहलाया, क ट इस चाप की जीवा अर्थात् प्रत्यञ्चा के समान है अतएव 'जीवा' शब्द से व्यक्त की जाती है, म ल शर के आकार का होने के कारण 'शर' कहलाया, क म ज्यार्ध अर्थात् अर्ध-प्रत्यञ्चा के आकार का होने के कारण 'ज्यार्ध' कहलाया जो संक्षिप्त होकर 'ज्या' हो गया। देखिए सूर्यसिद्धान्त का ज्यार्ध का प्रयोग :
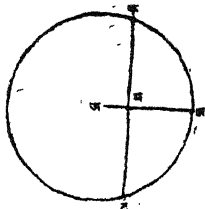
'राशिलिप्ताष्टमो भागः प्रथमं ज्यार्धमुच्यते'

विषुवत् रेखा—विषुवत् शब्द सर्वप्रथम मध्यगामी के अर्थ में आता था; विषुवद्दिवस यज्ञ के सत्र के मध्य दिवस के अर्थ में आया है। पृथ्वी के मध्य वृत्त के लिए जब एक शब्द की आवश्यकता हुई तो उसको भी विषुवद्दिवस के आधार पर 'विषुवद्वृत्त' कहा गया। विषुवतरेखा पर सूर्य के पहुँचने पर रात-दिन बराबर हो जाते हैं, अतएव कोशकारों ने विषुवत का अभिहित अर्थ '(रात-दिन) बराबर कर देनेवाली' कर दिया। विषु का अर्थ 'साम्य' तथा उससे मतुप् प्रत्यय लगाकर विषुवत् शब्द सिद्ध कर लिया। सामान्य-जन पृथ्वी के मानचित्र में पृथ्वी के बीचोंबीच इस रेखा को जाते हुए देखता है अतएव उसने इसका अर्थ 'भूमध्यगामी' कर लिया।

व्याज—व्याज शब्द संस्कृत साहित्य में छल के अर्थ में आता था। पुन: छल के कारण राजा को अन्न आदि के लेने में व्यापारियों से जो हानि होती थी उसकी पूर्ति के लिए जो ऊपर से मुट्ठी-भर अन्न डाल दिया जाता था उसको व्याजी कहते थे। गरम घी लेने पर कुछ घी राजा को और दे दिया जाता था, उसको 'तप्तव्याजी' कहते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख है। बाद को संस्कृत साहित्य में यह शब्द इस अर्थ में नहीं मिलता, केवल प्रादेशिक बोलियों में गुजरात आदि की तरफ 'सूद' के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। पुन: १२७५ ई० के लगभग सिंह-तिलक सूरि ने इस शब्द को, 'गणिततिलक' की टीका में संस्कृत में प्रविष्ट किया, जो बाद को सूद के अर्थ में समस्त हिन्दी-भाषी प्रान्तों में प्रचलित हो गया। दक्षिण भारत में वृद्धि (वड्डी) शब्द का प्रचार हुआ। हिन्दी में व्याज का सर्वप्रथम प्रयोग कबीरदासजी का है।

शत—पंडित सुधाकर द्विवेदी का मत है कि शतपर्वा नामक घास शत के स्थान पर रखने से इस स्थान का नाम शत पड़ा, किन्तु शतपर्वा से शत शब्द भी कम प्राचीन नहीं है। यह ऋग्वेद के प्रथम मंडल में प्रयुक्त हुआ है। 'शतपर्वा' स्वयं शत शब्द से बन सकता है, क्योंकि इसका अर्थ है शत (१००) पर्व (जोड़)। इसमें वास्तव में, पंक्ति, विंशति,...अशीति, नवति के प्रतिमान पर एक 'दशति' शब्द था। सामवेद, महाभारत तथा पुराणों में यह शब्द मिलता है। भारोपीय भाषा में इससे मिलता-जुलता शब्द 'द कान्त' है जिससे आदि 'द' का लोप होकर 'कान्त' 'केन्तों', 'सेंटुम', 'सेंट', 'हेकातोन', 'हंड' तथा 'हंड्रे' शब्द बने। 'क' का फ्रेंच में 'स' तथा यूनानी भाषा में 'ह' हो गया। हमारे यहाँ भी दशति के आदि 'द' का लोप होकर शति तथा शत शब्द बने। यह रूपान्तरण पूर्व-वैदिक काल में ही हो गया था।

दिन, वार—प्रारम्भ में वार शब्द अकेले दिन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था, किन्तु 'दिनवार' के साथ प्रयुक्त होता था। दिन का अर्थ है 'प्रकाश'। प्रकाश के बाद अन्धकार और अन्धकार के बाद प्रकाश; इस अनन्त क्रम में कालविशेष को जानने के लिए सात क्रमानुगत प्रकाशों के नाम ग्रहों के नाम पर रख लिये गए। अतएव सोमवार का अर्थ है उस दिन की वारी, जिसका अधिपति सोमदेव है। पुनः दिनवार के दो टुकड़े हो गए, एक 'दिन' और दूसरा 'वार'। दोनों स्वतन्त्र रूप से मूल अर्थ के द्योतक हो गए, जैसे आश्विनकुमार से आश्विन तथा कुमार (कुवाँर) दो शब्द बन गए। अथवा वलीवर्ह से वेल तथा वर्ह दो शब्द बन गए। देखिए 'दिनवार' शब्द का प्रयोग '**दिनवार प्रतिपत्तिर्न समा सर्वत्र कारणं कथितम्**' (वराहमिहिर कृत पंचसिद्धान्तिका)।

घटाना—यह घट धातु के प्रेरणार्थक रूप 'घाटयति' की क्रियार्थक संज्ञा 'घाटन' तथा हिन्दी में 'घटाना' है, से बना है। घाटयति का अर्थ हानि पहुँचाना है। घाटयति क्योंकि संस्कृत में णिजन्त में 'आ' पहिले अक्षर के उपरान्त लगता है, जैसे 'पातन' में तथा हिन्दी में किर्स। बाद के अक्षर के साथ लगता है, जैसे गिराना में।

कोण—शुल्वसूत्रों में त्रिकर्ण-पंचकर्ण आदि शब्दों के स्थान पर सूर्य प्रज्ञप्ति त्रिकोण, पंचकोण शब्द देखकर पूज्य डॉ० बी० बी० दत्त का अनुमान था कि कोण शब्द कर्ण का ही विकृत रूप है। किन्तु भाषाशास्त्र की दृष्टि से ठीक नहीं है। प्राकृत में कर्ण के विकृत रूप 'कन्न' 'कन्ने' तथा 'कान' हैं, न कि कोण। ऋग्वेद में 'कुणारु' तथा सुश्रुत में 'कुणि' शब्द मुड़े हाथवाले व्यक्ति के लिए आए हैं। जिनके देखने से मालूम होता है कि 'कुण' धातु-का 'वक्रित होना' अर्थ भी रहा होगा, अतः इसी धातु से कोण शब्द बना है। हो सकता है पहिले यह प्राकृत में बना हो और पुनः उत्तर वैदिक काल में संस्कृत में आ गया हो। संस्कृत में अथर्ववेद परिशिष्ट तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह प्रयुक्त हुआ है।

गणितीय शब्दों के प्राचीन प्रयोग

गणित शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वेदांग ज्योतिष के पूर्व उद्धृत श्लोक '**यथा शिक्षा मयूराणां**' में हुआ है। संख्या शब्द का प्रथम प्रयोग शतपथब्राह्मण की पंक्ति '**केतासामसंख्याताना संख्येति**' में हुआ। शून्य शब्द का गणितीय अर्थ में प्रथम प्रयोग पिंगल छन्दःशास्त्र की पंक्ति 'रूपे शून्यम्' में हुआ है। 'भिन्न' शब्द का प्रथम प्रयोग वेदांग ज्योतिष के '**त्र्यंशोमशेषोदिवसांशभागश्चतुर्दश स्थापनीय भिन्नम्**' में हुआ।

ध्वनिसाम्य पर बनाये गए गणितीय शब्द

अपेरण	एवेरेशन
लघुगणक (लघुरिक्थ्)	लोगेरिथ्म
परवलय	पैराबोला
दशमलव	डेसीमल
ज्यामिति	ज्योमेट्री
निष्पत्ति	निस्बत
परिमिति	पैरिमीटर
केन्द्र	केंत्रान
सर्पिल	स्पाइरल
फलन	फंकशन
अन्वालोप	इनवलप
त्रिकोणमिति	ट्रिग्नोमेट्री
सममिति	सिमेट्री
अन्तराल	इंटरवल
अन्तरिम	इंटेरिम

कोरे शब्दानुवाद

चिक्कण वक्र	स्मूथकर्व
उचित भिन्न	प्रोपर फ्रैक्शन
प्राकृत लघुगणक	नेचुरल लोगरिथ्म
केशाकर्षण	केपिलर्स अटरैक्शन

● ●

आचार्य रघुवीर

भारतीय पारिभाषिक शब्दावली के सिद्धान्त

आचार्य रघुवीर एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् का जन्म १९०२ में रावलपिण्डी में हुआ था। इन्होंने पंजाब और लन्दन विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की। ये प्रसिद्ध भाषा-विद् थे। हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में इन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया। इन्होंने संस्कृत तिब्बती मंगोलियन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। भारत के भौगोलिक नामों का चीनी शब्दकोश भी तैयार किया। 'स्वर-व्यंजना' नामक ग्रन्थ में इन्होंने कावी-बालीय देवनागरी लिपियों पर प्रकाश डाला। इन्होंने मंगोलियन-संस्कृत शब्दकोश भी तैयार किया। दुर्भाग्य है कि १९६३ में उपचुनाव के दिनों में दौरा करते समय एक कार-दुर्घटना के शिकार हो गए और असमय चल बसे।

हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली अधिकांश अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रयुक्त हो सकती है और होगी भी, इसलिए इसको भारतीय नाम से अभिहित करना तथ्य से बहुत दूर नहीं।

पिछले २३ वर्षों के कार्य में जिन सिद्धान्तों को हमने नियमित रूप से अपने कार्य का आधार बनाया, उन्हीं का आज हम प्रतिपादन करेंगे।

पहला सिद्धान्त : एक शब्द एक ही मुख्य अर्थ का वाची हो अथवा यूँ कहें कि प्रत्येक मुख्य अर्थ के लिए एक पृथक् शब्द हो।

दूसरा सिद्धान्त : प्रत्येक शब्द अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुगामी हो। अन्वर्थता हमारी शब्दावली का प्राण है। यथा-सम्भव मुख्य लक्षण अथवा विभेदक गुण के आधार पर शब्द बनाये गए हैं।

तीसरा सिद्धान्त : असमस्त पद का परिमाण चार अक्षरों से अधिक न हो। जैसे phasphorus के लिए भास्वर। भास्वर में ३ अक्षर हैं।

यदि रोमन लिपि में लिखे हुए अंग्रेजी शब्दों और देवनागरी में लिखे हुए भारतीय अनुवादों पर आप दृष्टिपात करेंगे तो आप पाएँगे कि सामान्यतया भारतीय शब्द थोड़ा स्थान लेते हैं।

चौथा सिद्धान्त : जब अंग्रेज़ी शब्द के एक अथवा अनेक संक्षेप तथा प्रतीक विद्यमान हों तो भारतीय शब्द के भी प्रतीक और संक्षेप, एक अथवा अनेक (जैसी भी आवश्यकता हो) होने चाहिए। गणित, रसायन और अन्य विज्ञानों में प्रतीकों और संक्षेपों की पदे-पदे आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं की सहायता से सूत्र (formulae) का निर्माण होता है। रसायन में ९२ तत्व हैं। इनमें प्रत्येक का प्रतीक आवश्यक है। प्रत्येक प्रतीक विभिन्न होना चाहिए। प्रतीक-निर्माण की सामान्य पद्धति शब्द के आदि अक्षर का प्रयोग है। इसलिए प्रत्येक रासायनिक तत्व का प्रारम्भिक अक्षर (syllable) विभिन्न रखा गया है। यह सम्भावना केवल हमारी भाषा और लिपि में है। अंग्रेजी में तो वर्णमाला के केवल २६ अक्षर हैं। उनकी लिपि का लेखन एकक (graphic unit) एक वर्ण है न कि अक्षर (syllable)।

पाँचवाँ सिद्धान्त : अंग्रेजी के समस्त पदों का अनुवाद असमस्त पदों से ही किया जाए, समासों अथवा वाक्यों से नहीं। यह नियम बहुत महत्व का है। इसका पालन न करके कुछ लोगों ने उपहास की अच्छी सामग्री जनता के लिए

उपस्थित की है। जैसे signal के लिए अग्निरथ-गमन-आगमन-सूचन-लोहपट्टिका। यह व्याख्या है, शब्द नहीं। इसका अनुवाद तो 'संकेत' है। व्याख्यात्मक अनुवाद नये शब्द अपरिचित व्यक्ति को समझाने के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, किन्तु प्रयोग के लिए वे सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इनकी अनुपयुक्तता समझने के लिए हम इनसे व्युत्पन्न शब्दों की ओर आपका ध्यान दिलाते हैं, यदि signal का अनुवाद अग्निरथ-गमन-आगमन-सूचन-लोहपट्टिका मान लिया जाए तो signalling, signal man आदि का अनुवाद और भी लम्बा और भद्दा हो जाएगा और जब ये शब्द वाक्य में प्रयोग करने होंगे तो उस वाक्य की रचना किस प्रकार से होगी यह अनुमान करना ही व्याकुलता उत्पन्न करता है। अंग्रेजी के एक शब्द का अनुवाद हिन्दी के एक शब्द से ही होना चाहिए—यह सिद्धान्त जब भी उल्लंघन किया जाएगा, तभी कष्ट होने की सम्भावना रहेगी।

छठा सिद्धान्त : यथाशक्य उपसर्गों का अनुवाद उपसर्गों से तथा प्रत्ययों का प्रत्ययों से करना चाहिए। उदाहरण के लिए peri के लिए परि—perimeter परिमाप। sub के लिए अनु—sub-genus अनुप्रजाति। con के लिए सं—condense संघनन। ab के लिए अप—ab-rade अप-घर्षण। anti के लिए प्रति—antimere प्रतिखण्ड। eu के लिए सु—eu-pepsia सु-पचन। dys के लिए दुस्—dyspnea दुश्श्वसन इत्यादि।

अब प्रत्ययों को लीजिए।

phosph से ate, ated, atic, atide, ation, ide, in, inic, onic आदि अनेक प्रत्यय एक-एक दो-दो करके लगाए जाते हैं। phosph का अनुवाद भास्व, ate का ईय, phosphate भास्वीय। एवमेव phosphated भास्वीयित, phosphatic भास्वीयिक, phosphatide भास्वीयेय, phosphation भास्वीयन, phosphide भास्वेय, phosphin भास्वि, phosphinic भास्वियिक, phosphonic भास्वायिक, इत्यादि।

सातवाँ सिद्धान्त : जब अंग्रेजी शब्द समस्त हो तो इसका विश्लेषण करके सार्थक अंगों का अलग अनुवाद करके उनके सहयोग से हिन्दी के शब्द का निर्माण किया जाए। जैसे centrifugal केन्द्रापग, केन्द्र से अपगमन करनेवाला centri केन्द्र, fugal अपग। centripetal केन्द्राभिग, केन्द्र की ओर अभिगमन करनेवाला। tetramerous चतुरवयव—tetra चतुर, merous अवयव। xanthophyll पर्णपीत—xantho पीत, phyll पर्ण।

आठवाँ सिद्धान्त : यदि एक शब्द से अंग्रेजी में अनेक शब्दों की प्राप्ति होती हो तो उन सब व्युत्पन्न शब्दों की व्याख्या होनी चाहिए। शब्द-विकास की दृष्टि से इस सिद्धान्त का पालन नितान्त आवश्यक है।

जैसे law विधि
lawful विधिवत्
legal वैध
illegal अवैध
legislate, legislation विधान
legislative विधायी
legislator विधायक
legislatable विधेय
lawless विधिहीन
lawlessness विधिहीनता

नवाँ सिद्धान्त : शब्दों का अकेले-अकेले अनुवाद नहीं किया जाना चाहिए। पहले शब्द के सम्बन्धी पदों का संग्रह किया जाना चाहिए, फिर उनके समासों का। सम्बन्धी शब्दों में व्याकरण अथवा अर्थों द्वारा स्थापित दोनों प्रकार के सम्बन्ध का सन्निवेश है। व्याकरण सम्बन्ध का उदाहरण—

१. aurum स्वर्ण
auric स्वर्णिक
aurous स्वर्ण्य।

२. absorb प्रचूषण
bsorbancy प्रचूषत्व
absorbed प्रचूषित
absorber प्रचूषक
absorptive प्रचूषी।

३. acid अम्ल
acidic अम्लिक
acidiant अम्लकर
acidification अम्लन

acidifier अम्लक

अब अर्थ द्वारा सम्बद्ध कुछ शब्दों को लीजिए

१. adductor muscle उपचालक पेशी
   abductor muscle अपचालक पेशी

२. afferent अभिवाही
   efferent अपवाही

३. superintendent अधीक्षक
   inspector निरीक्षक

४. motion प्रस्ताव
   resolution संकल्प
   bill विधेयक
   act अधिनियम

५. revolution क्रान्ति
   mutiny सैन्यद्रोह
   rebellion विद्रोह

६. right अधिकार
   authority प्राधिकार
   prerogative परमाधिकार
   privilege विशेषाधिकार

समासों की संख्या तो कभी-कभी सैकड़ों और सहस्रों तक पहुँचती है।

दसवाँ सिद्धान्त : नए विचारों के लिए नए प्रत्ययों का निर्माण। इन प्रत्ययों का आविष्कार कल्पना के आधार पर नहीं किया जाता, किन्तु वास्तविक शब्दों के संक्षेपों का प्रत्यय के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह पद्धति संसार की अन्य भाषाओं में भी विद्यमान है। अंग्रेजी में तो इसका प्रतिदिन अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है। aurum, ferrum, argentum आदि के अन्तिम भाग um को रसायनशास्त्र में धातुवाची तत्वों का द्योतन करने के लिए प्रत्यय के रूप में प्रयोग किया गया है, जैसे alumin अर्थात् फटकड़ी से um प्रत्यय लगाकर aluminum रसायनिक तत्व का नाम रखा गया। इन नये प्रत्ययों की संख्या बहुत थोड़ी है। नितान्त आवश्यकता पड़ने पर ही हमने इस पद्धति का प्रयोग किया है। रसायनिक धातुवाची तत्व नामों के लिए स्वयं धातु शब्द का अन्त्य भाग -आतु प्रयोग किया है। alumen का अनुवाद स्फटी अर्थात् फटकड़ी। इसी स्फटी, स्फटिक, स्फटिकादि से हिन्दी के फटकड़ी, फिटकड़ी आदि रूप बने हैं। स्फटी के आगे -आतु प्रत्यय लगाने पर स्फट्यातु शब्द प्राप्त होता है।

ग्यारहवाँ सिद्धान्त : जो विचार और पदार्थ प्राचीन समय से हमारी भाषाओं में चले आए हैं, उनका अन्वेषण करना हमारा पहला कर्तव्य है। नए शब्द बनाने के स्थान में प्राचीन शब्दों का प्रयोग अधिक उपकारी है। भारत का प्राचीन साहित्य संस्कृत, पालि और प्राकृत में निहित है। इस साहित्य की विशालता, विभिन्नता और गम्भीरता का अनुमान करना सम्भव नहीं। इनके अतिरिक्त उत्तर और दक्षिण की आधुनिक भाषाओं में भी अच्छा साहित्य विद्यमान है। इनके शब्दों का निरीक्षण करना हमारे लिए लाभकारी सिद्ध हुआ है। यह कार्य समय और परिश्रम की दृष्टि से अनन्त व्यय-साध्य है, किन्तु अपरिहार्य है।

बारहवाँ सिद्धान्त : पारिभाषिक शब्द ऐसे होने चाहिए जो केवल हिन्दी में ही नहीं किन्तु भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी प्रयोग किये जा सकें।

हमारा सौभाग्य है कि प्राचीन काल से पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सर्वत्र भारतवर्ष में समानता और एकरूपता रही है। आयुर्वेद के कारण पौधों के नाम, औषधियों और रोगों के नाम, लंका से नेपाल तक विद्वानों में एक ही समान हैं। ज्योतिष, दर्शन, पुराण, रामायण, महाभारत समस्त भारत की सम्पत्ति है। वैष्णव, शैव, शाक्त, तन्त्र, काव्य, हमारे अनन्य सखा हैं। यदि हम भारतीय भाषाओं के शब्दकोशों पर दृष्टि डालें ती मलयालम, बँगला, असमिया और उडिया में ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत के दिखाई पड़ते हैं। कन्नड, तेलुगु और हिन्दी में भी संस्कृत शब्दसंख्या ७० प्रतिशत है। इसी प्रकार गुजराती और मराठी में है। मद्रास विश्व-वद्यालय द्वारा प्रकाशित बृहत् तमिल कोश के ७ भागों में ४०,००० शब्द संस्कृत के विद्यमान हैं।

उत्तर की भाषाएँ संस्कृत की पुत्रियाँ हैं, इसलिए उनके तो बहुत से सामान्य शब्द भी संस्कृत से आए हुए हैं। इनको तद्भव कहते हैं। जैसे करना, जाना, खेलना, हँसना, देना, पाना आदि करण, यान, क्रीडन, हसन, दान, प्रापण आदि से बने हैं। सामान्य जन-भाषा में इन्हीं शब्दों

का अधिक प्रयोग होता है। किन्तु जिस समय पारिभाषिक विषयों का अध्ययन होता है उस समय शुद्ध संस्कृत अथवा तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है। पाठशाला में प्रवेश करते ही बालक वर्णमाला, स्वर, व्यंजन, कण्ठ्य, तालव्य, संयुक्त वर्ण, भूगोल, गणित, इतिहास, त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण, इत्यादि तत्सम शब्दों को सीखना आरम्भ करता है। विद्यार्थी जितना ऊँचा जाएगा उतने ही अधिक उसको तत्सम शब्द मिलते जाएँगे। कविता, निबन्ध, समालोचना, शिल्प, कला आदि के क्षेत्रों में भी उत्तरोत्तर तत्सम शब्दों की वृद्धि होती जाती है।

अब दक्षिणी भाषाओं की ओर चलें। इनमें तद्भव शब्दों की संख्या उत्तर की अपेक्षा थोड़ी है, किन्तु तत्सम शब्दों की प्रचुरता में विशेष भेद नहीं। मलयालम में तो केवल संस्कृत शब्दों का ही नहीं किन्तु लम्बे-लम्बे समासों का भी प्रयोग होता है।

हमारा क्षेत्र पारिभाषिक है। इसमें हम यदि ऐसे शब्द लें जो उत्तर और दक्षिण दोनों में प्रयोग हो सकें तो अनायास ही तत्सम शब्द सामने आते हैं। इन्हीं के आधार पर हमारी पारिभाषिक शब्दावली एक बन सकती है।

तेरहवाँ सिद्धान्त : पारिभाषिक शब्दकोश सामान्य शब्दकोश का सहायक और पूरक है। पारिभाषिक शब्द सामान्य जनशब्दों के प्रयोग में बाधक नहीं होते। सामान्य जनता अपने सामान्य कार्यों को करने के लिए कोश का प्रयोग नहीं करती और न करेगी। यह बात प्रत्येक विद्वान् के मन में अंकित कर देनी चाहिए। यह सच है कि विद्वानों के शब्द धीरे-धीरे जनता में फैलते हैं और जनता के शब्द विद्वानों में आते हैं तथापि दोनों में संघर्ष हो, ऐसी बात नहीं।

पश्चिमी भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी डेढ़ सौ वर्ष पीछे है। इस अवधि में पश्चिमी भाषाओं ने छः सौ वैज्ञानिक विषयों की रचना की और उनके लिए लाखों शब्दों का निर्माण किया। इनका स्रोत लातीनी और यावनी अर्थात् लैटिन और ग्रीक भाषाएँ हैं।

नए विषयों के लिए हमको भी नए शब्दों के निर्माण की आवश्यकता है। हमारे नए शब्द पूर्वपरिचित साहित्यिक उपसर्गों, धातुओं और प्रत्ययों से बने हुए होने के कारण सरल और व्याख्यागम्य होंगे। हमारी जनता को वैज्ञानिक अध्ययन के लिए विदेशी भाषाएँ पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी। हमारे बालकों के बहुमूल्य जीवनकाल के ५, ७ वर्ष बच जाएँगे। विदेशी भाषाओं का अध्ययन केवल अन्वेषणकर्ताओं के लिए अनिवार्य होगा। जो समय इस प्रकार बचेगा वह ज्ञान और विज्ञान के उपार्जन में लग सकेगा। ऊँचे-से-ऊँचे विचार तथा आविष्कार हिन्दी जाननेवाली जनता तक पहुँच सकेंगे।

जो सिद्धान्त हमने ऊपर दर्शाए हैं उनका एकमात्र प्रयोजन यह है कि प्रत्येक विदेशी शब्द के लिए भारतीय शब्द निर्माण हो सके और उनके द्वारा हम विज्ञान को शीघ्रातिशीघ्र पूर्णरूपेण आत्मसात् कर सकें। MONOCOTYLEDONOUS के स्थान में एकबीजपत्र, OPUNTIA के स्थान में नागफण, OROLOGY के स्थान में पर्वतविद्या, विषय समझने के लिए कहीं सरल और सहायक हैं। अंग्रेजी शब्दावली कभी भी हमारी शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती।
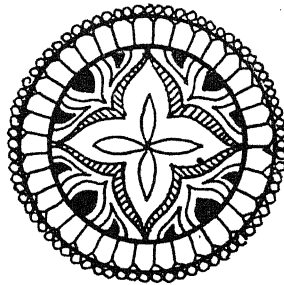
डॉ० बाबूराम सक्सेना

भाषा की सरलता

डॉ० बाबूराम सक्सेना का जन्म १८९७ में लखीमपुर जिले के महेवागंज नामक स्थान पर हुआ था। इन्होंने इलाहाबाद, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और लन्दन के प्राच्य विद्या संस्थान में शिक्षा प्राप्त की और अपने शोध कार्य पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। ये एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें से कुछ हैं: 'अर्थविज्ञान' (अर्थशास्त्र), 'सामान्य भाषा-विज्ञान', 'दक्षिणी हिन्दी' और अंग्रेज़ी में 'इवोल्यूशन आफ अवधी' आदि। इस समय ये केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द-रचना आयोग के उपाध्यक्ष हैं।

प्रत्येक भाषा सरल है—उनके लिए जो उसे माँ के दूध के साथ अनायास, स्वाभाविक क्रम से सीखते हैं। और प्रिय तथा मधुर भी है। दूसरों के लिए वह अन्यथा हो सकती है। संस्कृत जब बोलचाल की भाषा थी तब वह उस समय के भारतीय जन के लिए सरल थी, आज हमें वह कठिन लगती है। उस समय वह मधुर और प्रिय भी रही होगी। पर राजशेखर के समय वह परुष (कठोर) दीखने लगी और प्राकृत सुकुमार। आज हम लोग जो न संस्कृत बोलते हैं न प्राकृत, अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल इसके विषय में राय देंगे। एक संस्कृत को पसन्द कर सकता है, दूसरा प्राकृत को। यही बात समकालीन भाषाओं पर भी लागू है। अरबी या तमिल बोलनेवाले को अरबी या तमिल सरल प्रतीत होती है, दूसरे को कठिन।

भाषा के तीन पक्ष मुख्य हैं—ध्वनियाँ, व्याकरण और मुहावरा। यदि किसी भाषा की ध्वनियाँ हमारी भाषा से भिन्न हैं तो उन विशिष्ट ध्वनियों के उच्चारण में हमें कठिनाई होती है। उर्दू शब्दों की क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़् आदि कुछ ध्वनियाँ जो प्रायः अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं हैं, उनके बोलनेवालों को कठिन जान पड़ती हैं। दूसरी ओर संस्कृत तत्सम शब्दों के (व्यंजन) संयोग क्त, त्य, क्र, क्ल, क्ष आदि उर्दू भाषा-भाषी के लिए मुश्किल हैं। तमिल भाषा की वह ध्वनि जिसको हम देवनागरी की ष् और रोमन के Z (कषगम Kazgam) से व्यक्त करते हैं, उत्तर भारत के निवासियों को बहुत कठिन मालूम होती है, पर तमिल भाषा-भाषी को नहीं। सामान्य स्वाभाविक नियम यह है कि अपरिचित ध्वनि के लिए निकटतम ध्वनि रख दी जाए। सरलीकरण की इस प्रवृत्ति को हमें बराबर प्रोत्साहन देना चाहिए, तभी पारस्परिक वैमनस्य दूर किया जा सकता है। उच्चारण की शुद्धि अच्छी चीज है, पर अन्य भाषा-भाषी यदि आपकी ध्वनियों को कुछ भिन्न ढंग से बोलें, तो आपको न बुरा मानना चाहिए, न उसका मजाक बनाना चाहिए।

हिन्दी भाषा का व्याकरण निश्चित है, इसमें हिन्दी-उर्दू में कोई भेद-भाव नहीं। अन्य भाषा-भाषी को दो बातें बहुत कठिन दिखाई पड़ती हैं, एक तो संज्ञाओं और कुछ क्रियाओं का लिंगभेद और दूसरे कर्तृवाच्य में 'ने' का प्रयोग। पर ये दोनों बातें भाषा की प्रकृति में हैं, सरलीकरण के लिए उन्हें हटाया नहीं जा सकता। हाँ, नियमों का स्पष्ट निर्देशन होना चाहिए और यदि सौ दो सौ शब्दों का लिंग-परिवर्तन कर देने से सुगमता आती हो तो

उसे भी स्वीकार कर लेना चाहिए। अभी भी कुछ शब्दों का प्रदेश-भेद से भिन्न-भिन्न लिंग सुनाई पड़ता है—गेंद, आलू, हालचाल उदाहरण हैं।

भाषा का मुहावरा बोलचाल से विकसित होता है, वह तो भाषा के व्यवहार से ही आता है और उसे निकाल फेंका भी नहीं जा सकता। आया, आ गया, आ चुका, आ मरा में सूक्ष्म अर्थ-भेद है, इसे अन्य भाषा-भाषी को हृदयंगम कराना कठिन है। इसी तरह मुँह लगना, मुँह करना, मुँह बनाना, मुँह नोचना, मुँह चुराना आदि प्रयोग प्रचलित हैं। इनका अर्थ ऐसा है जो तर्क से नहीं निकाला जा सकता है; उसे तो सीखना ही पड़ेगा। मुहावरा जीती-जागती भाषा की जान है, उसे सरलीकरण का पक्ष लेकर नहीं हटाया जा सकता।

हिन्दी का जो रूप इधर सौ-सवा सौ साल में विकसित हुआ है उसने स्थिर-स्वरूपता और निश्चयात्मकता प्राप्त कर ली है। वह किसी नगर-विशेष या क्षेत्र-विशेष की भाषा नहीं रह गई है। जिस क्षेत्र की बोली से उसने स्वरूप ग्रहण किया उसकी जन-भाषा आज इससे काफी दूर हो गई है, यह भाषाविज्ञान के विद्वान स्वीकार करते हैं। आज उस बोली की ध्वनियों और व्याकरण का सहारा लेकर स्थिर स्वरूप प्राप्त की हुई परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) हिन्दी को बदलना अनुचित होगा।

सरलीकरण की समस्या केवल शब्दावली पर लागू होती है। हिन्दी, बंगाली, मराठी आदि सभी भाषाओं की प्रवृत्ति संस्कृत से शब्द लेने की है। ऐसे शब्द जिनके तद्भव रूप बोलियों में मौजूद हैं, उनके लिए भी हम संस्कृत का सहारा लेते हैं। कवि और ग्रन्थकार बहुधा सूर्य, चन्द्र लिखते हैं, सूरज और चाँद कम। फारसी, अरबी के शब्दों के बहिष्कार की भी प्रवृत्ति है। आज अच्छी हिन्दी से ऐसे स दे शब्द जैसे सवाल, मदद, जवाब, तारीख, साल, गरीब आदि भी निकले-से दिखाई देते हैं। मेरी समझ में इनको चलने देना चाहिए, साथ ही प्रश्न, सहायता, उत्तर, दिनांक, रंक आदि के प्रयोग पर प्रतिबन्ध न लगना चाहिए। दोनों को प्रयोग में रखा जाए, सम्भव है दोनों रह जाएँ। व्यक्तिगत शैली पर भी बहुत-कुछ निर्भर है किसी को एक अच्छा लगेगा किसी को दूसरा।

पर यदि बोलचाल के प्रचलन का बहाना लेकर वज़ीरे आज़म, जेबरात तिलाई, शीरर ख्वार, तिफ़्ल, इस्तग़ासा, फ़ौरी हुक्म, आदि का प्रयोग जारी किया गया और इनके स्थान पर प्रयुक्त प्रधान मन्त्री आदि को निकालने की नीति अपनाई गई तो अन्याय होगा। पिछले साठ-सत्तर साल संघर्ष करने के बाद हिन्दी का स्वरूप निखरा है। उसे अब सरलीकरण का नाम देकर बिगाड़ना नहीं चाहिए। इसका यह मतलब नहीं संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को प्रचलित और सुबोध शब्दों की अपेक्षा प्रश्रय मिले। मंगलवार, चंदोवा, गन्धक के स्थान पर भौमवार, चन्द्रातप और शुल्वारि शब्दों का प्रयोग बुरा और अनिस्ट है। भाषा को दुरूह और दुर्गम तथा दुर्बोध बनाना, भाषा को सँवारना नहीं उसे बिगाड़ना है।

तद्भव शब्दों के प्रयोग की भी एक सीमा है, एक ही संस्कृत शब्द के, क्षेत्र-भेद से अनेक तद्भव रूप हैं, कोई किसी क्षेत्र में कोई किसी में। ऐसी परिस्थिति में उनके स्थान पर सीधा, सादा, उच्चारण में सरल तत्सम शब्द आये तो अच्छा है। वह बंगाली आदि भारतीय भाषाओं से भी प्रयोग होगा और इस प्रकार सभी शिक्षित समाज के लिए सुबोध।

अंग्रेजी ऊँचे स्तर के भारतीय समाज की भाषा कई पीढ़ियों से है। आज प्रायः नगरों में शिक्षित समाज की बोलचाल में बहुतेरे शब्द इस भाषा के मिलते हैं। पर समय बदल रहा है। और भारतीय भाषाएँ अपना अधिकार-क्षेत्र प्राप्त कर रही हैं। अंग्रेजी के केवल वे शब्द हमारी भाषा में रहने चाहिए जो गाँवों में भी व्याप गए हैं और अब अपना लिये गए हैं। भापदण्ड के लिए नगर-निवासी अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त जन नहीं, बल्कि ग्रामनिवासी अंग्रेजी से अनभिज्ञ जन की भाषा होना चाहिए।

सरलीकरण की समस्या का हल होना चाहिए—साहित्यिक और भाषा वैज्ञानिक संस्थाओं द्वारा न कि राजनीतिक नेताओं या दलों द्वारा। **[संस्कृति के सौजन्य से**

● ●

डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रीय एकता

भागलपुर विश्वविद्यालय से सम्मानित डी० लिट्० की उपाधि-प्राप्त डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु का जन्म १५ दिसम्बर १९०६ को पूर्णिया जिले (बिहार) में हुआ था। वे स्वतंत्रता आन्दोलन के सेनानी भी रहे हैं और इस समय बिहार विधान सभा के अध्यक्ष हैं। उनकी दो कृतियाँ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त' अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण हैं। वे बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दो बार अध्यक्ष रह चुके हैं। १९५३-५६ में 'अवन्तिका' पत्रिका के सम्पादक थे। इस समय नागरी प्रचारणी सभा द्वारा १७ भागों में प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के तेहरवें भाग का सम्पादन कर रहे हैं।

हिन्दी-विरोधी लोगों की हिन्दी को एकमात्र राष्ट्रभाषा मानने के विरुद्ध मुख्य दलील यह है कि हिन्दी से राष्ट्रीय एकता कमजोर पड़ जाएगी। उनकी विचार-पद्धति में भारत में भाषागत एकता अंग्रेजी के माध्यम से है और अंग्रेजी को हटाने से भारत की राष्ट्रीय क्षति होगी। यदि हिन्दी-विरोधी लोगों का यह तर्क सही है, तो भारत-जैसे बहुभाषी देश के लिए, जिसमें केवल भाषागत अनेकता ही नहीं है, अन्यान्य प्रकार की भी अनेकताएँ हैं, यह एक गम्भीर समस्या है।

यदि हम शान्त चित्त से इस पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने से देश पर जो पहला प्रभाव पड़ेगा, वह उसकी एकता पर नहीं, उसकी व्यवस्था पर और वह भी प्रशासनिक व्यवस्था पर पड़ेगा। इसी प्रकार यह भी प्रमाणित हो जाता है कि अब तक जो तथाकथित भाषागत एकता हमारे देश में रही है, वह सचमुच एकता नहीं, केवल प्रशासन-विषयक व्यवस्था अथवा सुविधा है, जिसे अंग्रेजी राज्य ने, अंग्रेजी भाषा-भाषी प्रशासकों ने अपनी सुविधा के लिए इस पर लाद दिया था। इसमें देश की एकता नहीं, अंग्रेज शासकों की प्रशासनिक एकता रही है।

राष्ट्रीय एकता के दो महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं—सांस्कृतिक और भावात्मक। भाषागत एकता सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत आती है। साथ ही, भावात्मक एकता में भी भाषा का प्रबल प्रभाव रहता है। किसी देश की संस्कृति के माध्यम हैं—धर्म, कला, दर्शन, साहित्य और भाषा। धार्मिक मान्यताएँ, कलात्मक अनुभूतियाँ, दार्शनिक भंगिमा, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और इन सब की अभिव्यक्ति के माध्यम आदि का सम्यक् स्वरूप उस देश की संस्कृति का सूचक है। जब तक इन माध्यमों में एकता नहीं होगी, उस संस्कृति में भी एकता का विकास नहीं हो सकेगा। भारत में सौभाग्य से इन माध्यमों में यथेष्ट एकता रही है। केवल भाषा की दृष्टि से पिछली कुछ शताब्दियों से राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया में कुछ बाधा पड़ रही है। किन्तु अन्य माध्यम, विशेष रूप से धार्मिक और दार्शनिक, इतने प्रबल हैं कि भाषागत व्यवधान का अधिक प्रभाव नहीं हो सका। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं

ने बहुत दूर तक उत्तर भारत में भाषा-वैभिन्न्य को प्रायः नियन्त्रित रखा। लेखन-कार्य संस्कृत या तत्कालीन प्राकृत और अपभ्रंश में होते रहे। तक्षशिला से बंगाल तक बोली जानेवाली प्राकृत भाषाएँ एक-दूसरे से इतनी भिन्न नहीं थीं जितनी आज-कल की पंजाबी और बंगला। मूल आर्य-भाषाओं से इनका इतना स्वतन्त्र विकास नहीं हो पाया था कि जन-साधरण को किसी अन्तर्क्षेत्रीय माध्यम की आवश्यकता पड़ती। इसके अतिरिक्त उस समय लोगों की आवश्यकताएँ भी सीमित थीं। बौद्धिक अभिरुचियाँ या जिज्ञासाएँ बहुत अधिक नहीं थीं। दैनिक जीवन की बातें लोग सहज ज्ञान से जान जाते थे। जिन्हें अधिक समर्थ और समृद्ध भाषा की आवश्यकता होती थी, वे संस्कृत का व्यावहार करते थे। एक प्रकार से संस्कृत हमारी भाषागत एकता की माध्यम थी।

भावात्मक एकता प्रत्येक देश में अपने-अपने ढंग की होती है। कभी-कभी यह इतनी विचित्र भी होती है कि आज के वैज्ञानिक युग में उसे भावुकता या जोश भी कहा जा सकता है। जैसे भारत में अंग्रेजों के अधिकार के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना। इस राष्ट्रीय भावना ने आधी शताब्दी तक भावात्मक एकता का काम किया। आज चीन के आक्रमण ने भी देश में भावात्मक एकता की यही स्थिति उत्पन्न कर दी है। आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक देश में ऐसी एकता आशातीत तीव्रता प्राप्त कर लेती है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। इस एकता में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है इसकी भावना की व्यापकता। जब तक देश का बच्चा-बच्चा राष्ट्रीय भावना के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता, यह एकता अपूर्ण ही मानी जाएगी। सांस्कृतिक एकता कुछ अर्थों में एक वर्ग-विशेष या केवल वयस्क नागरिकों तक ही सीमित रह सकती है। इतने में ही वह पूर्ण प्रभावशालिनी है। परन्तु भावात्मक एकता राष्ट्र-निर्माण का अद्भुत और सुदृढ़ तत्व है। उसका सम्बन्ध इतिहास के हर अध्याय से होता है।

आधुनिक युग में स्थिति क्रान्तिकारी रूप से बदल रही है। एक माँ से जन्मी भाषाओं के रूप बहुत भिन्न हो गए हैं। लोगों की आवश्यकताएँ, जिज्ञासाएँ और अभिलाषाएँ भी बदल रही हैं। इतके लिए उन्हें उपयुक्त माध्यमों की आवश्यकता है। कला और दर्शन के माध्यम में नाना प्रकार के प्रयोगों द्वारा जिस प्रकार एक सर्वग्राह्य और सर्व-सामान्य तत्व की खोज तेजी से चल रही है, वह भाषा के क्षेत्र में भी है। एक भाषा या एकाधिक भाषा-भाषी देशों में यह खोज अपेक्षाकृत सहज है, पर भारत-जैसे बहुभाषा-भाषी और बहुलिपिवाले देश में यह खोज बहुत कठिन है। दुर्भाग्यवश गुलामी के कारण भारत पर एक बहुत ही शक्तिशाली और आक्रामक भाषा ने अधिकार जमा लिया है। फलस्वरूप भारतवासी भावात्मक एकता की दिशा में अपनी एक भाषा की खोज में पथभ्रष्ट और विवेक-शून्य हो गए हैं। यहाँ तक कि हमारे कुछ नेता भी राष्ट्रभाषा के महत्व और मूल्य को आज तक नहीं समझ पाए हैं। साहित्य, दर्शन और कला की व्यापकता आज के युग में जन-जन तक पहुँच रही है। विज्ञान के व्यापक प्रभाव ने इसमें और भी योग दिया है। अतएव सांस्कृतिक एकता के लिए वही भाषा ईमानदारी से काम कर सकती है, जो उस संस्कृति की सहगामिनी रही हो, उसके साथ हँसी और रोई हो, जो देश में किसानों के घर से लेकर संसद-भवन तक व्याप्त हो। संस्कृति और भावना का दर्पण तथा माध्यम वही भाषा हो सकती है, जिसमें वहाँ की बहू-बेटियाँ रोती और गाती हों। ऐसी भाषा वही हो सकती है, जो केवल पाठशालाओं में ही नहीं पढ़ाई जाती, बल्कि समाज और जीवन में भी स्वतः विद्यमान हो। निश्चय ही भारत में यह भाषा अंग्रेजी अथवा फ़ारसी नहीं हो सकती—हिन्दी, तमिल या बंगला हो सकती है। भारत की राष्ट्रभाषा एक भारतीय भाषा हो, इस पर विवाद नहीं होना चाहिए। मतभेद केवल इस पर हो सकता है कि वह भाषा हिन्दी हो या अन्य कोई भारतीय-भाषा। वस्तुतः जो हिन्दी का विरोध कर रहे हैं, उनको विरोध की सारी प्रेरणा अंग्रेजी से मिली हैं, तमिल या मराठी से नहीं। केवल अपनी अंग्रेजी भक्ति को जाने या अनजाने छिपाने के लिए ही वे राष्ट्रीय एकता की बात करते हैं। यदि हिन्दी के अतिरिक्त कोई दूसरी भारतीय भाषा इस काम को करने में समर्थ हो तो उस पर सबको सहानुभूतिपूर्वक विचार करना चाहिए। जब तक अंग्रेजी हटाई नहीं जाती तब तक किसी भारतीय भाषा को समुचित

विकास का अवसर नहीं मिल सकेगा। यदि वे स्वयं एक बार अपने अर्द्धचेतन मन को टटोलें तो उन्हें इसकी प्रतीति हो जाएगी। ऐसे लोगों का हिन्दी-विरोध कई कारणों से है —यथा राजनीतिक, प्रशासकीय, मानसिक और वैयक्तिक।

अब प्रश्न है कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा क्यों हो? इसके समर्थन में दो पक्षों पर विचार होना चाहिए। एक तो राष्ट्रीय एकता-सम्बन्धी और दूसरा इस वैज्ञानिक और व्यवहारिक युग में उपयोगिता-सम्बन्धी। किसी देश की राष्ट्रभाषा वहाँ की उस भाषा को होना चाहिए १—जिसमें अधिक-से-अधिक देशवासियों के हृदय और मस्तिष्क को प्रभावित करने की क्षमता हों, २—जिसमें अधिक-से-अधिक अन्तर-क्षेत्रीय तत्व विकसित हों, ३—जिसका स्वरूप अधिक-से-अधिक अन्तरजातीय अर्थात् राष्ट्रीयता के निकट हो, और ४—जो सीखने तथा बोलने में सहज हो, जिससे अन्य भाषा-भाषी उसे सरलता से अपना सकें। हिन्दी में ये सभी योग्यताएँ हैं। यह लगभग २० करोड़ भारतीयों की अपनी भाषा है, जो देश की लगभग ४४ प्रतिशत आबादी के बराबर है। अंग्रेजी भाषा हमारे देश के ऊपर इस प्रकार लद गई है कि वह हटाये नहीं हटती। सारे देश में केवल एक प्रतिशत व्यक्तियों द्वारा समझी जानेवाली भाषा ने हमारी पराधीनता-मूलक प्रवृत्ति के कारण इतना महत्व प्राप्त कर लिया है कि वह हमारे सिर पर भूत की तरह नाच रही है। अंग्रेजी भाषा वे ही लोग बोल या समझ सकते हैं जिन्होंने अंग्रेजी पढ़ी-लिखी हो, किन्तु हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिन्होंने हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा को पढ़ा-लिखा नहीं वे भी अपने-अपने क्षेत्र में उस भाषा में बोल सकते हैं और उसे समझ सकते हैं। राष्ट्रीय एकता के विचार से भारतीय भाषा के पक्ष में यह बहुत महत्वपूर्ण बात है।

हिन्दी ही एक भारतीय भाषा है जो पाँच राज्यों की राजभाषा और एक राज्य की दो में से एक राजभाषा है। उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और हिमाचल प्रदेश आचार-व्यवहार में एक दूसरे से कुछ भिन्नता रखते हुए भी हिन्दी के द्वारा एक सूत्र में आबद्ध हैं। तमिल और मलयालम, असमिया और उड़िया में यह योग्यता नहीं है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के लोग किसी जाति-विशेष के नाम से नहीं पुकारे जाते। बंगला बोलनेवाले बंगाली और पंजाबी बोलनेवाले पंजाबी कहलाते हैं। परन्तु उत्तर-प्रदेश या मध्यप्रदेश के निवासी को क्या कहा जाएगा? वस्तुतः हिन्दी-भाषी क्षेत्र का स्वरूप मिश्रित है, जिसमें कई जातियों, कई भाषा-भाषी लोगों के चरित्र और स्वभाव का प्रतिबिम्ब और भावनाएँ परिलक्षित होती हैं। आज से ही नहीं, इतिहास के आरम्भ से आर्यावर्त का आन्तरिक, सांस्कृतिक और भावनात क निर्माण ऐसे ही तत्वों से हुआ हुआ है। अन्य भारतीय भाषाएँ इस दृष्टि से अधिक सीमित, संकीर्ण और क्षेत्रीय मनोवृत्तियों को पोषित, प्रेरित करनेवाली हैं। हिन्दी भारत की सरलतम भाषा है। हिन्दी की लिपि भी भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा संस्कृत की देवनागरी लिपि है। महाराष्ट्र को लेकर यह आधे से अधिक भारतीयों की लिपि है। देवनागरी लिपि के समान वैज्ञानिक, नियमित और व्यवस्थित लिपि शायद ही कोई हो। यों यह सच है कि प्रत्येक लिपि में अपनी क्षेत्रगत ध्वनियों का विशेषताएँ कुछ रहती ही हैं।

संक्षेप में यदि हम राष्ट्रीय एकता को भलीभाँति समझें, अपने देश में व्याप्त और अपेक्षित एकता को तुलनात्मक दृष्टि से देखें, यदि राष्ट्रीय एकता और प्रशासकीय व्यवस्था के भेद को भलीभाँति जानें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि राष्ट्रीय एकता और जबर्दस्ती लादी हुई विदेशी भाषा का यदि कोई सम्बन्ध हो सकता है तो वह राष्ट्रीय फूट और लज्जा का ही होगा। यदि भारतीय भाषाओं में से ही किसी को राष्ट्रभाषा का पद दिया जा सकता है, तो हिन्दी को छोड़कर कोई दूसरी भाषा उसकी शर्तें पूरा नहीं करती!

● ●

डॉ० गोविन्ददास

राष्ट्रीयता के लिए हिन्दी की उपयोगिता

सेठ गोविन्ददास का जन्म १८९६ में जबलपुर में हुआ था। इन्होंने लगभग सवा सौ पुस्तकें लिखी हैं। ये मुख्यतः नाटककार हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं: 'कर्तव्य' (नाटक), 'सप्तरश्मि' (एकांकी), 'कर्म' (नाटक), 'इन्दुमती' (उपन्यास), 'कुलीनता' (नाटक) आदि। ये राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार रहे हैं और इस समय लोक-सभा के सदस्य हैं।

पराधीनता चाहे वह राजनैतिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो अथवा सांस्कृतिक—सिद्धान्त रूप से एक अभिशाप ही होता है। फिर यह पराधीनता वैयक्तिक स्तर से बढ़कर जब राष्ट्रीय स्तर पर आ जाती है तब तो उसकी प्रशस्ति और उन्नति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है।

इसी तथ्य के आधार पर व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व, उसकी भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति तथा उन्नति के समान अवसर का अधिकार भारतीय गणराज्य के संविधान में प्रदान किया गया है। भाषा की, जो व्यक्ति की भावनाओं, उसके विचारों की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन है, पराधीनता न केवल उसकी व्यक्तिगत पराधीनता होती है वरन् उसके व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन के विकास का मार्ग ही समाप्त हो जाता है। व्यक्ति की उन्नति का मार्ग समाप्त होने का अर्थ होता है राष्ट्रोन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाना। फिर हमने अपने देश में गणतन्त्र की स्थापना की है, जिसके द्वारा हम व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करते हुए उसे उसके अधिकार की अनुभूति और समान अवसर देते हुए एक उन्नत और शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लक्ष्य को प्राप्त करने को कृत संकल्पित हैं।

भारत एक विभिन्न धर्मावलम्बी और विभिन्न भाषा-भाषी देश है। ऐसा देश जिसकी अपनी पुरातन संस्कृति है और जो देश के शहरी जीवन से सुदूर गाँवों में फैली हुई है। हमारी सभ्यता और संस्कृति की प्रशस्ति और प्रतिष्ठा हजारों वर्ष पूर्व सुदूर देशों में विख्यात थी। लगभग दो सौ वर्षों की दासता के बाद, आज भी आजादी के इस स्वल्प समय में, हमारी जो प्रशस्ति और प्रतिष्ठा विदेशों में हम पुनः देख रहे हैं, इसकी क्या वजह है, इस तथ्य पर हमारा ध्यान जाए बिना नहीं रहता।

भारत एक ऐसा सांस्कृतिक देश है जिसकी जड़ आध्यात्म है। आध्यात्म हमारी संस्कृति के उस वृक्ष की भाँति समूचे राष्ट्र को अपनी गहरी जड़ों और सघन छाया में समेटे हुए है जिसकी टहनियों, शाखाओं और पत्तों की आकृति-भिन्नता के बावजूद हमारी राष्ट्रीय अखण्डता और उसकी एकसूत्रता का सारा बोझ अपने संस्कृति-रूपी पीड में धारण किये है। इस प्रकार हमारा आध्यात्म ही हमारा अस्तित्व है, व्यक्ति-स्तर पर और राष्ट्रीय स्तर पर भी। यह आध्यात्म, जिस पर हमारी संस्कृति का ताना-बाना निर्भर है, किसी विदेशी साया में, किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, कदापि पनप नहीं सकता। फिर भाषा, मजहब और संस्कृति पर, एक क्षण के लिए भी विदेशी दासता बहुत बड़ा अभिशाप बन बैठता है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

शिक्षा और संस्कार, इन दो शब्दों में मावन-जीवन की प्रगति की कहानी निहित है। जिस भाषा में हम शिक्षा दें और जिस भाषा और बोली में हम अपने बालकों को संस्कृत करें उसी के अनुरूप उनका भावी जीवन ढलेगा। दूसरे शब्दों में भाषा के द्वारा, जो शिक्षा का माध्यम होती है, हम अपना और अपने राष्ट्रीय जीवन का निर्माण करते हैं। अपने देश और अपने ही घर में अँगरेजी में बात करनेवाले माता-पिता अपने बालकों से मातृभाषा और भारतीय संस्कृति की दक्षता एवं भारतीय संस्कारों की आशा नहीं कर सकते। अपने उद्देश्यों और आदर्शों तक पहुँचने के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि हमें अपने बुजुर्गों और पूर्वजों के अनुरूप बनना है तो हमें उनकी गुणगाथाएँ, उनकी कहानियाँ और इतिहास पढ़ना होगा। किसी विदेशी साहित्य, इतिहास अथवा दर्शन के अध्ययन-अध्यापन से हम भारतीय आदर्श और भारतीयता के अनुरूप कदापि नहीं बन सकते।

जैसा कि पहले कहा गया है, भारत विभिन्न भाषा-भाषी देश है। हमने अपने संविधान में देश की सभी प्रादेशिक भाषाओं को राष्ट्रभाषा माना भी है। इन सबके साथ हिन्दी को, जो देश की बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली जाती है और आसानी से समझी जाती है, राष्ट्रीय भाषा के साथ ही राजभाषा का स्थान दिया है। राष्ट्रीय अखण्डता की दृष्टि से हर ऐसे स्वतन्त्र देश में जो हर दृष्टि से अपनी सार्वभौमिकता के लिए स्वतन्त्र हो एक राष्ट्रभाषा और राजभाषा का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। राजभाषा की यह अनिवार्य स्थिति हर ऐसे राष्ट्र के लिए समझना और स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है जो किसी विदेशी दासता से एक लम्बे संघर्ष के बाद मुक्त हुआ हो। भारत से अँगरेजों का साम्राज्य गया, किन्तु अँगरेजी अपना आधिपत्य आज भी जमाए हुए है। हम अपने अज्ञान से स्वयं ही इस आधिपत्य का कारण बने हुए हैं। अँगरेजी, जिसे भारत के केवल दो प्रतिशत लोग ही जानते हैं, आज हमारे प्रशासनिक कार्य की भाषा रहे, यह केवल हमारे लिए लज्जाजनक नहीं, हमारे संविधान के लिए भी हास्यास्पद है।

स्वतन्त्र भारत में मैं स्वातन्त्र्य-प्रेम, भारतीय एकता, समाजवादी समाज-रचना, आर्थिक उन्नति और प्रजातन्त्र की सफलता सर्वोपरि बातें मानता हूँ। किन्तु यह हिन्दी और भारतीय भाषाओं पर ही निर्भर है। जनता जब तक स्वातन्त्र्य-प्रेमी नहीं होगी, जब तक वह स्वराज्य का अर्थ न समझेगी उसे अपने दैनिक जीवन में अनुभव न करेगी तब तक स्वतन्त्रता और उसके विकास की सम्भावनाएँ सर्वथा संदिग्ध ही रहेंगी। यह तभी हो सकता है जब सारा सरकारी कार्य हिन्दी और भारतीय भाषाओं में हो। अँगरेजी द्वारा न इस देश की एकता सम्भव है और न राष्ट्रनिर्माण अथवा उसका विकास ही। जिस अँगरेजी ने यहाँ के मुट्ठी-भर शिक्षितों और अशिक्षित जनता के बीच एक खाई खोद दी है वह उसी के द्वारा कैसे भरी जा सकती है और वह हमारी राष्ट्रीय एकता का साधन कैसे बन सकती है। इस एकता के बिना समाजवादी समाज-रचना कैसे की जा सकती है और आर्थिक प्रगति, जो आज विज्ञान पर निर्भर है, अँगरेजी के कारण जब यथेष्ट संख्या में हम वैज्ञानिक तैयार नहीं कर सकते, कैसे होगी। फिर वह प्रजातन्त्र भी अँगरेजी द्वारा, जिसे देश के ९८ प्रतिशत लोग नहीं जानते, कैसे स्थायित्व और सफलता प्राप्त कर सकता है।

हमें भाषा के क्षेत्र में राजनीति से सर्वथा पृथक् एक सांस्कृतिक दृष्टि से सोचना होगा। यही नहीं, हमें सारे विषय पर रचनात्मक ढंग से विचार करना होगा। यदि हम ऐसा करें तो इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि सर्वप्रथम हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में सम्पूर्ण सरकारी काम हिन्दी में चलाया जाए; और अन्य राज्यों में वहाँ की मातृभाषाओं में तथा केन्द्र में शनैःशनैः हिन्दी किस प्रकार लाई जाए इसके सम्बन्ध में हिन्दी और भारतीय भाषाओं के विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाए।

हिन्दी तथा मातृभाषाओं का भविष्य आज अन्धकारमय अवश्य दिखता है, परन्तु यदि हम सबने मिलकर प्रयत्न किया और राष्ट्र की एकता, उसकी सार्वभौमिकता, उसकी आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक प्रभुसत्ता के लिए उसके उपयोग को समझ लिया तो इस अन्धकार का निवारण होना आज भी असम्भव नहीं है। यह कार्य मूलतः इस भावना पर निर्भर रहेगा कि यह प्रश्न केवल भाषा का प्रश्न न होकर हमारा सांस्कृतिक प्रश्न है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द

हिन्दी राष्ट्रीय एकता की प्रतीक है

डॉ० सम्पूर्णानन्द का जन्म १८९० में वाराणसी में हुआ था। ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० एस्-सी० और एल० टी० उपाधि प्राप्त करके राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। वर्षों तक काशी विद्यापीठ के प्राध्यापक रहे। बनारस विश्वविद्यालय ने इनकी साहित्यिक सेवाओं का सम्मान करने के लिए डी० लिट् की उपाधि दी। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं: 'दर्शन और जीवन', 'चिद्विलास', 'समाजवाद' आदि। ये वर्षों तक उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री रहे और इस समय राजस्थान के राज्यपाल हैं।

यदि ठण्डे दिल से विचार किया जाए तो इस बात के मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इस समय हिन्दी हमारी राष्ट्रीय एकता की प्रतीक है। यों तो राष्ट्रीय एकता के और भी प्रतीक हैं, जैसे राष्ट्रीय सरकार या राष्ट्रीय ध्वज, पर इसमें सन्देह नहीं कि देश की राष्ट्रीय भाषा भी राष्ट्रीय एकता की प्रतीक हुआ करती है और इसी दृष्टि से मैं हिन्दी को प्रतीक मान रहा हूँ। एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। हिन्दी को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि आज संविधान में उसको राष्ट्रीय भाषा मान लिया गया है। संविधान अपरिवर्तनशील नहीं है। वह बदल सकता है और हिन्दी की जगह किसी और प्रादेशिक भाषा का नाम लिखा जा सकता है, परन्तु यदि ऐसा हो जाए तब भी, राष्ट्रभाषा न रहते हुए भी, हिन्दी राष्ट्रीय एकता की प्रतीक रहेगी। संस्कृत को छोड़कर और किसी भारतीय भाषा में यह क्षमता नहीं है। किसी विदेशी भाषा को यह गौरव प्राप्त नहीं हो सकता। अँगरेजी या किसी अन्य विदेशी भाषा का पठन-पाठन चाहे जितना बढ़ जाए पर वह हमारी, हमारे राष्ट्र की, अपनी चीज़ नहीं हो सकती। अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार में उसका चाहे जो स्थान हो परन्तु उसके माध्यम से भारत की आत्मा नहीं बोलती, न बोल सकती है।

हिन्दी को यह अधिकार इसलिए नहीं मिला है कि वह भारतीय भाषाओं में सबसे उत्तम है। उसकी उत्तमता में भी कोई सन्देह नहीं है, परन्तु प्रकृत सन्दर्भ में उत्तमता सबसे पहिली कसौटी नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि आज हिन्दी के जाननेवाले, अर्थात् पढ़ने और समझनेवाले जितने हैं उतने किसी अन्य भाषा के नहीं हैं। यह सब लोग हिन्दी भली-भाँति नहीं जानते। व्याकरण की भूलें करते हैं। अशुद्ध हिन्दी बोलते हैं, परन्तु बोलते हैं। अपने भाव को व्यक्त कर लेते हैं और दूसरों की बात समझ लेते हैं और ऐसा सैकड़ों वर्षों से चला आता है। शिवाजी की बोली मराठी थी। उनके दरबारी, उनकी प्रजा, सभी मराठी बोलनेवाले थे, परन्तु उन्होंने भूषण को अपने दरबार में आदर का स्थान दिया। भूषण की कविता बाजारों में बोली जानेवाली सरल बोली नहीं है, वह साहित्यिक भाषा है, परन्तु शिवाजी ने उसका समादर किया। यदि उनके दरबार में वह बोली न चलती होती, उसको समझनेवाले न होते, तो वह ऐसा नहीं करते। दिल्ली से भेष बदलकर शम्भाजी के साथ दक्षिण लौटे। औरंगजेब के गुप्तचर उनका कहीं पता नहीं लगा सके। यदि वह उत्तर भारत की बोली—हिन्दी से परिचित न होते तो ऐसा न हो पाता। सन्त महात्माओं की वाणियाँ सब जगह पढ़ी और समझी जाती हैं। दिल्ली भारत की राजधानी थी और उसकी भाषा, उसके जन-साधारण की भाषा, हिन्दी थी, भले ही उसे उर्दू कहते हों। हैदराबाद राज्य ने सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी को चलाया। देश के कई मुख्य तीर्थ

उत्तर भारत में हैं। इन सब बातों ने हिन्दी को व्यापक बना दिया। वह हिन्दू धर्म की भाषा नहीं है, परन्तु जनता की भाषा है, वह भाषा है जिसके द्वारा देश के एक कोने से चलकर कोई भी व्यक्ति दूसरे कोने तक जा सकता है और बीच में अपना काम चला सकता है। यह सुविधा किसी दूसरी भाषा में नहीं है। अनेकताओं के बीच में भारतीय जीवन में जो एकता है उसकी झलक हिन्दी में मिलती है। हर भारतीय हिन्दी नहीं जानता, परन्तु देश का स्यात् ही कोई भाग है जहाँ कुछ लोग हिन्दी जाननेवाले न हों, इसी लिए मैं उसको भारतीय एकता का प्रतीक मानता हूँ।

एक और बात है। हिन्दी का उद्भव जिस भू-भाग में हुआ वह औरों की अपेक्षा प्रादेशिक भावनाओं से बहुत-कुछ मुक्त है। इसका कारण है। भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में इस भू-भाग का जो महत्व रहा है वह किसी अन्य भाग को प्राप्त नहीं हुआ। मौर्य, शुंग, गुप्त, पठान, और मुगल सभी साम्राज्यों का इसी क्षत्र में उदय और विकास हुआ। इसी प्रकार काशी, मथुरा, अयोध्या, हरिद्वार—जैसे प्रधान हिन्दू तीर्थ ही नहीं, वरन् बौद्ध और जैन तीर्थ भी इसी भू-खण्ड में स्थित हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के कोने-कोने से खिचकर प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने इसे अपना घर बनाया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि इसमें प्रान्तीयता पनप न सकी। ऐसे प्रदेश की मातृभाषा होने के कारण, हिन्दी में बड़ी ग्राहक शक्ति है। उसको बरतने में सभी को अपनेपन का अनुभव हो सकता है। पिछले सौ वर्षों में जो हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक और पत्रकार हुए उनमें कई बंगाली, गुजराती और मराठे रहे हैं। यह भी इस बात की ओर संकेत करता है कि हिन्दी भारतीय एकता की प्रतीक है।

डॉ० गार्गी गुप्ता

अंग्रेज़ी और हिन्दी
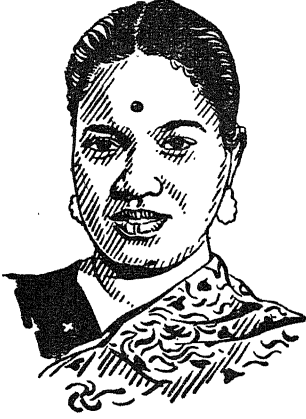
डॉ० गार्गी गुप्ता का जन्म २ अक्तूबर १९२९ को बरेली में हुआ था। वे दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच्० डी०, कोलम्बिया विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में एम० एस०, और इतालियन भाषा का सर्टिफिकेट प्राप्त कर चुकी हैं। आजकल दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापिका हैं। उनकी प्रमुख कृति है 'राम-काव्य में रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन'।

जब-जब किसी देश में विदेशियों का राज्य होता है तो साधारणतः पराजित और शासित अपने को हीन और शासकों को श्रेष्ठ समझकर शासक जाति के समकक्ष बनने के अभिप्राय से उसकी भाषा को अपनी भाषा मानने लगते हैं; परन्तु आज जब स्वाधीन भारत में कुछ लोग यह कहते हुए दिखाई पड़ते हैं कि उनकी भाषा अँगरेज़ी की तुलना में दरिद्र है तो बड़ा दुःख होता है। ऐसा लगता है कि वे स्वाधीन होकर भी पराधीन हैं, उनकी चेतना तथा विचार-शक्ति परतन्त्र और कुण्ठित हो गई है। सच तो यह है कि भारत के इस तथाकथित अँगरेज़ीदाँ-वर्ग पर अँगरेज़ी आचार-विचार, भाव-विनिमय तथा रहन-सहन का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि उन्हें यह समझने का भी अवकाश नहीं है कि आज की बदलती हुई परिस्थितियों को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय जगत में अँगरेज़ी का पहले-जैसा महत्व नहीं रह गया है। ठीक है, किसी समय अँगरेज़ी विश्व की एक शक्तिशाली और सर्वाधिक व्यापक भाषा थी, पर अब स्थिति बदल गई है। आज संसार में उपनिवेशवाद का अन्त हो रहा है, पराधीन देश स्वतन्त्र हो रहे हैं और अँगरेज़ी राज्य में कभी सूरज न छिपनेवाली बात निरर्थक हो गई है। इसलिए आज भी अँगरेज़ी को हम उतना ही महत्व दें यह एक बहुत बड़ी भूल है।

आज का युग वैज्ञानिक तथा प्राद्योगिक उन्नति का युग है। सारा संसार दो बड़े गुटों में बँट गया है और रात-दिन एक-दूसरे को नीचा दिखाने की होड़ मची हुई है। नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं, और एक-दूसरे का नाश करने के लिए अधिक-से-अधिक संहारक शस्त्रास्त्रों का निर्माण हो रहा है। कूटनीतिक चालें बढ़ती जा रही हैं और ऐसे समय यदि हमें युग की गति पहचानकर उसके साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलना है और अपने-आपको इस गुटबन्दी से अलग रखना है तो दोनों गुटों की भाषाओं को जानना होगा, उनके संकेत-प्रसंकेतों से परिचित होना होगा। उनकी चालों से अपने को सुरक्षित रखने के लिए उनके गूढ़ार्थों को समझना होगा और इसके लिए हमें उन दोनों की भाषाओं का अध्ययन करना होगा। आज हम केवल अँगरेज़ी जानकर विश्व की प्रगति और राजनीति नहीं समझ सकते। इसके लिए हमें जितना अँगरेज़ी जानना आवश्यक है उतना ही रूसी, चीनी, जर्मन और फ्रेंच आदि भाषाएँ जानना भी। अँगरेज़ी-भाषी अमरीका में आज रूसी पढ़ने पर ज़ोर दिया जा रहा है और रूस में अँगरेज़ी

की संख्या बहुत कम है, परन्तु परिस्थितियों की विडम्बना ऐसी है कि भारत के प्रशासन और नीति-निर्माण का दायित्व प्रधान रूप से ऐसे ही लोगों के हाथ में है। इन लोगों का भारत की आम जनता के साथ न तो कोई सीधा सम्पर्क है और न उसके बौद्धिक उत्थान में उनकी कोई रुचि है। उन्हें न जनता की समस्याओं का ज्ञान है और न उसकी भावनाओं का ध्यान। इस आम जनता की आवश्यकता उन्हें दो ही अवसरों पर पड़ती है—चुनाव में वोट लेते समय और शत्रु का सामना करने के लिए उसके धन-जन का बलिदान माँगते समय। जनता उन्हें वोट देती है, उनकी नीतियों से प्रसन्न होकर नहीं, बल्कि स्वतन्त्रता-संग्राम में उनकी सेवाओं का स्मरण कर। वह अपने जन-धन का बलिदान करती है, प्राणों से भी अधिक प्रिय देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए। यों वह जानती है कि उसके देश के कर्णधार जिस भाषा में बात करते हैं उससे उसका दूर-दूर तक कोई परिचय नहीं है। और जनता अपने शासक-वर्ग की बात न समझे यही तो इस अँगरेज़ीदाँ शासक-वर्ग का सबसे बड़ा स्वार्थ और सम्बल है।

अँगरेज़ों ने जब इस नीति का पालन किया था तब तो बात समझ में आती थी। भारत और उसकी जनता से उनका लगाव ही क्या था, पर आज जब उसी पथ का अनुसरण कर भारतवासी भारतवासी पर रौब गाँठना चाहता है तो बात कुछ असंगत-सी मालूम पड़ती है। भारत के संविधान में जब १९६५ से अँगरेज़ी के स्थान पर हिन्दी को राजभाषा घोषित करने की बात कही गई थी तो ऐसा लगता था कि शासक-वर्ग धीरे-धीरे जनता के निकट सम्पर्क में आकर एक सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना करेगा, परन्तु जिस प्रकार उसने संघटन के स्थान पर विघटनकारी शक्तियों को प्रोत्साहन देकर अँगरेज़ी को अनिश्चित काल के लिए अतिरिक्त राजभाषा बनाना तय किया है उससे स्पष्ट ही पता चलता है कि शासक-वर्ग स्वयं अँगरेज़ी के प्रति आसक्त है और स्वतन्त्र भारत की एक अपनी राजभाषा हो, इसके प्रति उसे कोई जल्दी नहीं है। उसका काम अँगरेज़ी में आराम से चल रहा है, इसलिए उसे अपनी राजभाषा सीखने और उसमें काम करने की आवश्यकता भी क्या है? और अपने इस स्वार्थ तथा अकर्मण्यता पर वह यह कहकर पर्दा डालता है कि हिन्दी अभी सारे भारत की भाषा नहीं है, उसमें नवीनतम विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं है।

इसी कारण १५-१६ वर्षों के स्वाधीनतोत्तर काल में हिन्दी की समस्या भी विकृत हो गई है। एक तरफ तो उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, पंजाब आदि हिन्दी-भाषी प्रान्तों में कुछ शुद्धतावादी लोगों के प्रयास से हिन्दी का रूप इतना जटिल और संस्कृतगर्भित हो गया है कि वह सामान्य जन की भाषा से बहुत दूर हो गई है और दूसरी तरफ इससे अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में एक विरोध पैदा हो गया है। उनका यह विरोध अकारण भी नहीं है। उनका यह भय कि हिन्दी के राजभाषा होने से भविष्य में हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के लोग प्रशासनिक सेवाओं में बाज़ी मारकर उनके ऊपर शासन करेंगे, बहुत-कुछ सही है। वास्तव में हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए शासन और हिन्दी-भाषी प्रान्तों को जिस उदारता और परिश्रमपूर्वक काम करने की आवश्यकता थी उसकी ओर दोनों में से किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। शासन और हिन्दी-भाषियों का कर्तव्य तो यह था कि हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए उसे अधिकाधिक शुद्ध करने का प्रयत्न करने के स्थान पर सहयोगपूर्वक उसमें अखिल भारतीयता लाने के प्रयत्न करते और सभी शासनिक-प्रशासनिक सेवाओं के लिए प्रत्येक हिन्दी-भाषी के लिए एक प्रादेशिक भाषा और अहिन्दी-भाषी के लिए हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य कर देते। अहिन्दी-भाषी जब कहते हैं कि हिन्दी के राजभाषा बनने से हिन्दी-भाषी पर ओई अतिरिक्त बोझ नहीं पड़ता तो उनकी बात ठीक ही है। यदि प्रत्येक हिन्दी-भाषी पर शासन एक प्रादेशिक भाषा सीखने का ज़ोर डाल देता तो यह विरोध कभी भी इतना उग्र रूप धारण न करता।

साथ ही शासन और हिन्दी-भाषी, दोनों अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर एक बहुत बड़े ऐतिहासिक सत्य को भी भुला बैठे हैं कि हिन्दी का इतिहास अनेकता में एकता का इतिहास रहा है। वह आज से नहीं, शताब्दियों से पूरे देश की भाषा रही है। वास्तव में हिन्दी शब्द का अर्थ ही हिन्द की भाषा है, दिल्ली और उत्तर प्रदेश की भाषा नहीं। ईसा से बहुत पहले लिखे 'दसातीर' नामक फ़ारसी

ग्रन्थ के 'चूँ व्यास हिन्दी बलख आसद' में सर्वप्रथम हिन्दी शब्द का प्रयोग मिलता है। प्राचीन काल में संस्कृत के बाद जो भाषा भारत में सबसे अधिक व्यापक थी वही हिन्दी कहलाती थी। इसी को तुलसी, केशव आदि कवियों ने 'भाषा' कहा है। 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच' में इसी भाषा की ओर संकेत है। परन्तु तेरहवीं शताब्दी में जब तुर्कों और ईरानियों ने भारत पर आक्रमण किये तो उन्होंने इस 'भाषा' को ही हिन्दुस्तान की भाषा होने के कारण हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुई आदि नाम से सम्बोधित किया। प्रसिद्ध तुर्क कवि अमीर खुसरो ने लिखा :

अरबी, हिन्दी, फ़ारसी तीनों करो ख़याल।

और मलिक मुहम्मद जायसी ने लिखा :

तुर्की अरबी हिन्दवी भाषा जेति आहि।
जामें मारग प्रेम का सबै सराहें ताहि॥

धीरे-धीरे हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक मेल-जोल से उस 'भाषा' नामक भाषा का एक नया रूप विकसित होने लगा। इन दोनों ही ने अच्छी तरह अनुभव कर लिया कि दोनों को साथ-साथ रहना है और इसके लिए उनकी बातचीत और व्यवहार की भाषा का एक होना अत्यन्त आवश्यक है। ज्यों-ज्यों हिन्दुओं और मुसलमानों का आपसी मतभेद कम होकर उनमें मेल-मिलाप बढ़ने लगा त्यों-त्यों एक समन्यवादी भाषा का मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार होने लगा। आरम्भ में इस नई प्रवृत्ति के विरुद्ध उस समय भी विरोध हुआ था। कट्टर हिन्दू शुद्ध संस्कृत अथवा संस्कृतनिष्ठ भाषा पर जोर दे रहे थे और कट्टर मुसलमान तथा उनके जीहज़ूर हिन्दू साथी शुद्ध तुर्की और फारसी पर। परन्तु शीघ्र ही सांस्कृतिक संयोग तथा समन्वय के कारण तुर्की-फ़ारसी मिश्रित हिन्दी एक-दूसरे को समझने का माध्यम बन गई। हिन्दी में नई परिस्थितियों के अनुकूल ढल जाने और विदेशी शब्दों की ग्रहणशीलता का गुण सदा से विद्यमान रहा है, इसलिए शीघ्र ही वह अखिल भारतीय स्तर पर चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनने लगी।

सूफियों ने प्रारम्भ से ही अनुभव कर लिया कि भारतीय जनता तक पहुँचने का मार्ग फ़ारसी नहीं हिन्दवी ही हो सकती है। उन्होंने जनता तक अपना सन्देश हिन्दवी के माध्यम से पहुँचाया और अलाउद्दीन खिलजी की गुजरात तथा दक्षिण-विजय के बाद तो हिन्दवी का प्रसार मध्य-भारत तथा दक्षिण भारत में भी होने लगा। दक्षिण के तत्कालीन प्रसिद्ध सूफी सन्त शाह बुअली कलन्दर की भाषा का एक उदाहरण देखिए :

साजन सकारे जाएँगे और नैनं मरेंगे रोय।
विधना ऐसो कीजियो कि भोर कभी न होय॥

इसे देखने से पता चलता है कि उस समय भी हिन्दवी में एक सांस्कृतिक भाषा का सौन्दर्य तथा लावण्य विद्यमान था। ख्वाजा मोहम्मद गेसूदराज और उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों ने तो जैसे दक्षिण में हिन्दवी की नींव ही पुष्ट कर दी थी।

हिन्दी के विकास में सन्त कवियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। नामदेव, कबीर, पीपा और रविदास आदि कवियों की भाषा सूफी कवियों की भाषा से बहुत भिन्न नहीं थी। केवल इतना ही अन्तर था कि सूफी कवि हिन्दी छन्दों में फारसी शब्दों का प्रयोग करते थे और भक्त कवि अपनी विशिष्ट शब्दावली संस्कृत के पौराणिक साहित्य से लेते थे; परन्तु दोनों जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे, इसलिए वे ऐसी हिन्दवी का प्रयोग करते थे जिसे देश के सभी लोग समझते थे। नामदेव महाराष्ट्र के निवासी थे, कबीर उत्तर प्रदेश के और नानक पंजाब के, परन्तु थोड़े-बहुत स्थानीय प्रभाव को छोड़कर इनकी भाषा में कोई मूलभूत अन्तर न था। ये भक्त और सूफी सन्त भारत के उत्तर-दक्षिण सभी प्रान्तों का भ्रमण करते थे और जनता की भाषा में उपदेश करते थे। शेख निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य शेख नुरहानुद्दीन ग़रीब ने भी दक्षिण में हिन्दवी 'भाषा' के प्रचार में बहुत योग दिया था। बहमनियों के पतन के बाद तो गोलकुण्डा और बीजापुर हिन्दवी के बहुत बड़े केन्द्र बन गए थे। इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने फ़ारसी के स्थान पर दक्षिणी हिन्दवी अर्थात् हिन्दी, मराठी, तेलुगु, तमिल, तुर्की, फ़ारसी मिश्रित दक्षिणी हिन्दवी को अपनी राजभाषा ही बना दिया था।

मुगलों के भारत में आने के बाद हिन्दवी का शब्द-क्षेत्र और भी अधिक व्यापक हुआ और उसका प्रभाव तथा

क्षेत्र विस्तृत होने लगा। फ़ारसी और तुर्की के मुहावरे तथा शब्द सामान्य प्रयोग में आने लगे। शेख़ अब्दुल हक़ मुहदिस ने 'ज़ादुल मुन्तक़ीन' में लिखा है कि उसके आचार्य शेख़ अब्दुल वाहब मुत्तकी मक्का में उच्च कक्षा के भारतीय छात्रों को धर्म और दर्शन आदि गम्भीर विषयों की शिक्षा हिन्दवी में दिया करते थे। इससे पता चलता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में हिन्दवी इतनी विकसित हो चुकी थी कि उसमें कठिनतम बौद्धिक समस्याओं पर विचार किया जाता था। अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे हिन्दी के मुसलमान कवियों में संस्कृत तथा फ़ारसी शब्दों का अत्यन्त कलात्मक संयोग मिलता है। इसी प्रकार चन्दर-भान-जैसे ब्राह्मण कवि की भाषा में विदेशी शब्दों का बड़ा सुन्दर समाहार मिलता है; जैसे :

खुदा ने किस शहर अन्दर हमन को लाय डाला है।
न दिलवर है, न साकी है, न शीशा है, न प्याला है॥

प्रयोग में आते-आते इन शब्दों का इतना भारतीयकरण हो गया था कि उनकी विदेशी ध्वनि भी लुप्त हो गई। राजा टोडरमल की फ़ारसी नीति के पूर्व भूमि-प्रशासन का सारा हिसाब-किताब भी हिन्दवी में ही रखा जाता था। उधर राजपूतों और मुगलों के वैवाहिक सम्बन्धों तथा अन्त-प्रन्तीय और अन्तर्देशीय व्यापार के कारण भी हिन्दवी के प्रचार-प्रसार और विकास में परोक्ष रूप से सहायता मिल रही थी।

इस प्रकार जिस समय अंगरेज़ों ने भारत में अपना प्रभुत्व जमाया था, जनसाधारण में यही हिन्दवी प्रचलित और विकसित हो रही थी। उस समय यद्यपि राजभाषा फ़ारसी थी, परन्तु वह केवल शासक-वर्ग की भाषा थी, जनता इस मिली-जुली हिन्दवी का ही प्रयोग करती थी। अंगरेज़ों ने किस प्रकार फ़ारसी को न्यायालय और अंगरेज़ी को राजकार्य की भाषा बनाकर अपनी भेद-नीति से हिन्दवी के दो रूपों—हिन्दी और उर्दू को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया और किस प्रकार उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिक भेदभाव उत्पन्न कर उनकी शक्तियों को विघटित कर दिया, उसे दोहराने की आवश्यकता यहाँ नहीं। फिर भी अंगरेज़ों के राज्यकाल में हिन्दी के इतिहास को देखने से दो बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं कि अंगरेज़ों के हर सम्भव प्रयत्न के बावजूद अंगरेज़ी भारत की लोकभाषा हिन्दी का स्थान न ले सकी और दूसरे, हिन्दी ने अपने आत्मसाती तथा ग्रहणशील स्वभाव के कारण अपने में अंगरेज़ी शब्दों तथा संकल्पनाओं को आत्म-सात करने की प्रक्रिया सदैव चालू रखी।

इसलिए यह सोचना कि हिन्दी आज पर्याप्त समृद्ध नहीं है या वह पूरे देश की भाषा नहीं है, सरासर ग़लती है। यह दूसरी बात है कि सदा की तरह आज भी कुछ अतिवादी लोग विद्यमान हैं जो एक तरफ तो हिन्दी को एकदम संस्कृतनिष्ठ बनाकर उसमें से अंगरेज़ी, अरबी-फ़ारसी तुर्की आदि सभी विदेशी शब्दों को, यहाँ तक कि उन शब्दों को भी जो हिन्दी में पूरी तरह आत्मसात हो चुके हैं, निकाल देना चाहते हैं; दूसरी तरफ वे लोग हैं जो हिन्दी से संस्कृत के शब्द निकालकर उसमें केवल विदेशी शब्द ही रखने पर जोर देते हैं। कुछ लोग केवल हिन्दी के पक्षपाती हैं तो कुछ लोग केवल अंगरेज़ी के। परन्तु यह सब अतिवादी और जनता के सीमित वर्ग हैं। सामान्य जनता इन सब विवादों से दूर है और वह इन सबके बीच की ही भाषा बोलती-समझती है। हिन्दी चलचित्रों और पत्र-पत्रिकाओं में अखिल भारतीय रुचि इस बात का जीता-जागता प्रमाण है।

वस्तुतः आज इस सम्बन्ध में जो इतनी बड़ी भ्रान्ति हमारे देश में फैली हुई है, उसका प्रमुख कारण है—लोक-भाषा हिन्दी और हिन्दी-भाषी प्रदेशों की राजभाषा हिन्दी के बीच की अस्पष्ट स्थिति। सच तो यह है कि देश की राजभाषा और लोकभाषा, हिन्दी-भाषी प्रदेशों की विदेशी और अन्तर्प्रान्तीय शब्दों का बायकाट करनेवाली हिन्दी नहीं, बल्कि जनता की हिन्दी ही हो सकती है। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए एक उपाय यह भी हो सकता है कि हम देश की भाषा को हिन्दी न कहकर 'भारती' या ऐसा ही कोई दूसरा नाम दें ताकि वह हिन्दी प्रदेशों की हिन्दी से अलग भी पहचानी जा सके और उसमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आवश्यकतानुसार नये-नये देशी-विदेशी शब्दों का समाहार भी हो सके। सैयद अहमद देहलवी ने अपने प्रसिद्ध कोष 'फ़रहंग आसफिया' में हिन्दवी के शब्दों की संख्या ५४,००९ बताई है जिसमें हिन्दी के

२१,६४४ शब्द हैं और विदेशी भाषाओं के शब्दों का विवरण इस प्रकार है—

अरबी	७,५८५	पुर्तगाली	१६
फ़ारसी	६,०४१	लातीनी	४
संस्कृत	५५४	फ्रांसीसी	३
अँगरेज़ी	५००	पालि	२
तुर्की	१०५	बर्मी	२
हिब्रू	१८	मलाबारी	१
यूनानी	२९	स्पेनिश	१

जब हम अतीत में इस प्रकार की मिली-जुली भाषा बोल सकते हैं तो भविष्य में क्यों नहीं बोल सकते, समझ में नहीं आता।

यदि शासन उच्च माध्यमिक स्तर तक शिक्षा-दीक्षा का माध्यम प्रत्येक प्रान्त की भाषा बना दे, और ५वीं या ६ठी कक्षा से अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी का और हिन्दी प्रान्तों में प्रादेशिक भाषाओं का अध्यापन आरम्भ कर दे तो कोई कारण नहीं कि विश्वविद्यालय स्तर पर समस्त भारत में एक-सा पाठ्यक्रम निर्धारित कर हिन्दी के माध्यम से शिक्षा न दी जा सके। इससे हिन्दी के साथ-साथ सभी प्रादेशिक भाषाओं का विकास भी होगा और प्रत्येक भारतीय हिन्दी के अतिरिक्त कम-से-कम एक प्रादेशिक भाषा और उसके साहित्य से भी परिचित हो सकेगा। इससे पारस्परिक सद्भाव और भारतीय संस्कृति के प्रति अपनत्व की भावना बढ़ेगी तथा अन्तर्प्रादेशिक आवागमन के प्रति लोगों में रुचि भी बढ़ेगी।

तब विश्वविद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों के लिए एक तीसरी भाषा अनिवार्य की जा सकती है। विद्यार्थी अपनी आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार अँगरेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी, जापानी, स्पेनिश कोई भी विदेशी भाषा पढ़ सकते हैं और जो लोग कोई भी विदेशी भाषा न पढ़ना चाहें उनके लिए एक दूसरी प्रादेशिक भाषा पढ़ने की सुविधा दी जा सकती है। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि हम विद्युत गति से विश्व का आधुनिकतम ज्ञान अपनी जनता तक उसकी ही भाषा में पहुँचाएँ और शिक्षा पर होनेवाले खर्च को पहली प्राथमिकता दें, अन्यथा करोड़ों भारतीयों पर अँगरेज़ी थोपना सदा-सदा के लिए उन्हें मानसिक दासता के शिकंजे में कसना होगा क्योंकि

मुसाफ़िर से जिन्होंने दिल लगाया,
उन्होंने सब जनम् रोते गँवाया।

शिवाजीराव आयदे

राष्ट्रभाषा की सीमाएँ और समस्याएँ

श्री शिवाजीराव आयदे का जन्म ३ जून १९२७ को छपरा (बिहार) में हुआ था। इस समय ये वकालत कर रहे हैं। मराठी-भाषी होते हुए भी अधिकतर हिन्दी में लिखते हैं। उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ हैं : 'खेतों में पानी' (उपन्यास), 'भीगे नयन' (एकांकी), 'धरती और इन्सान' (उपन्यास), 'आशियाना की आवाज़' (जीवनी), जो अंग्रेज़ी में भी प्रकाशित हो चुकी है, आदि। सारन जिले में इन्होंने 'लोक-संस्कृति मण्डल' की स्थापना की और उसके मन्त्री हैं। ये अहिन्दी-भाषी हिन्दी साहित्यकार सम्मेलन के संयोजकों में से एक हैं।

हिन्दी का स्वरूप प्रारम्भ से ही जनतन्त्रात्मक रहा है। इसे सभी जानते और मानते हैं। गंगा के प्रवाह की तरह वह सम्प्रदाय, जाति, वर्ण और क्षेत्रीय सीमाओं की परिधि को तोड़कर बहती रही। इसलिए वह किसी विशिष्ट प्रदेश या समुदाय की मातृभाषा नहीं बनी। वह राष्ट्रीय संस्कारों और भारतीय संस्कृति की ही गोद में फलती-फूलती रही। यही कारण है कि शुरू से ही इसकी उपासना और इसका उपयोग केवल उत्तरप्रदेश के हिन्दू ही नहीं, मुसलमान, अंग्रेज़, बंगाली, पंजाबी, मराठी सभी क्षेत्रों के रचनाकारों ने किया, जिसमें कबीर, रहीम, खुसरू, जॉन पारसन, जॉन चेम्बरलेन, भूदेव मुखर्जी, केशव भट्ट, स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहनराय इत्यादि प्रमुख हैं। इतना प्रवाहयुक्त और अन्तर-प्रादेशिक जीवन होने पर भी हिन्दी की सीमा गंगा की तरह उत्तर भारत के उत्तरी क्षेत्रों तक ही रही।

लेकिन आश्चर्य की बात है कि जहाँ दक्षिण में गंगा को उत्तर भारत की सरिता समझकर उसका बहिष्कार नहीं किया जाता, वहाँ हिन्दी के बहिष्कार की समस्या खड़ी होती है। उत्तर में प्रवाहित होनेवाली गंगा के प्रति दक्षिण की इतनी अपार श्रद्धा है कि उसका जल बोतलों और बन्द डब्बों में वहाँ जाता है। लेकिन वहीं राष्ट्रभाषा हिन्दी के कुछ शब्दों का भी व्यवहार कतिपय दक्षिण-वासियों को पसन्द नहीं।

जहाँ तक हिन्दी के राजनैतिक विरोध का प्रश्न है वह भाषा और साहित्य का विषय नहीं। किन्तु राष्ट्रभाषा के स्वरूप की समस्या, उसके आवेष्टन का विस्तार, उसके पात्रों की विविधता का प्रश्न, लिपि और शैली का प्रयोग, उसकी आंचलिकता और राष्ट्रीयता का सवाल, उसकी सीमाएँ और साहित्यकारों की समस्याएँ, भाषा और साहित्य से सम्बन्धित हैं और उन पर हमें विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए।

आज राष्ट्रभाषा के सम्मुख दो प्रकार की समस्याएँ हैं, एक विरोध की समस्या और दूसरी समर्थन की समस्या। विरोध की समस्या अपरिचित नहीं, तथा समझने लायक है। किन्तु समर्थन की समस्या नई है। हिन्दी का समर्थन करते हुए यदि आपने राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में लोकोपयोगिता के नाम पर कोई ऐसा सांस्कृतिक या साहित्यिक प्रयोग या आविष्कार कर दिखाया जिससे भाषा की चाँदनी में कालिख लगती हो तो ऐसा समर्थन भी विरोध की तरह एक नई समस्या को जन्म देता है। उदाहरणार्थ विनोबाजी

की 'लोकलिपि' को लिया जा सकता है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है, लेकिन नई कविता की तरह 'भूदान-समाचार' में नई लिपि चलाकर एक नई समस्या पैदा कर दी है। अधिकांश भाषाविद् देवनागरी लिपि को वैज्ञानिक, व्यावहारिक और सभी दृष्टिकोणों से परिपूर्ण मानते हैं। इस लिपि में कुछ संशोधनों की गुंजाइश अवश्य है, परन्तु 'लोकलिपि' के ढंग का आमूल परिवर्तन या नयापन-लाना लिपि की वैज्ञानिकता को भंग करना है, खण्डित करना है। इस लिपि ने व्याकरण पर भी आघात किया है, सन्धि और समास को अपने मनमाने ढंग से विघटित किया है। लिपि की सीमा तोड़कर भाषा को सरल बनाने का यह चमत्कारिक और नूतन प्रयोग विनोबा की अपनी देन है, जिसने हिन्दी में एक नई समस्या खड़ी कर दी है।

साहित्यिक सीमाओं की दूसरी समस्या लीजिए। कुछ ही दिन पहले एक दाक्षिणात्य साहित्यिक मित्र ने हिन्दी के एक श्रेष्ठ कवि के बारे में कहा कि "ये राजकवि, राजसभा में हिन्दी को देश का दर्पण सिद्ध करने का दावा तो करते हैं लेकिन केवल उत्तर की नदियों, नारियों, नगरों और निर्माणों पर कविता रचते हैं। इन्होंने आज तक दक्षिण की स्थापत्य-कला, वहाँ के सागर-तटों और प्रकृति-पुरुष को अपनी कविता का विषय नहीं बनाया। दक्षिण की संस्कृति उनकी रचनाओं में नाम-मात्र के लिए भी चर्चित नहीं हुई। फिर भी ये संस्कृति के अध्याय की कड़ी जोड़ने का दावा करते हैं।" उन मित्र ने यह भी कहा कि जब तक रामेश्वरम् की रमणीयता, मदुराई के मन्दिरों की महिमा, मैसूर की मिट्टी, केरल की कन्याएँ और मद्रास की ललनाएँ काव्य में चित्रित नहीं होतीं, दाक्षिणात्यों के निकट हिन्दी का कोई साहित्यिक मूल्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार, हिन्दी में दक्षिण और उत्तर के आवेष्टन को लेकर साहित्यिक टीका-टिप्पणियाँ हो रही हैं। यह भी ठीक है कि दक्षिण में हिन्दी का विरोध दो प्रकार के व्यक्ति करते हैं। एक तो वे जो हिन्दी का ककहरा तक नहीं जानते और दूसरे वे जो हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं। जो हिन्दी से सर्वथा अपरिचित हैं उनका विरोध भाषा के धरातल से न होकर राजनीति के धरातल से होता है। उनके विरोध से विचलित होकर हमारा अपनी प्रगति या शब्दशक्ति पर सशंकित हो जाना अनुचित और अमर्यादित होगा। किन्तु यदि वहाँ के हिन्दी जाननेवाले, जिन्हें साहित्यिक गतिविधियों का पूर्ण परिचय है, कोई सारगर्भित विरोध साहित्य के धरातल से करें तो हमें निश्चय ही समाधान, संशोधन एवं दृष्टिकोण-परिवर्तन के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

हम अपनी शिथिलताओं, दुर्बलताओं और ममताओं की कमजोरियों को उतना अधिक नहीं पहचान सकते जितना बाहरवाले या अन्य भाषा-भाषी कर सकते हैं। हम इसकी प्रतीक्षा भी नहीं कर सकते कि जब मद्रासी लेखक पैदा होंगे तब वहाँ का जीवन और वहाँ की जवानी, हिन्दी साहित्य में प्रवेश करेगी। दुनिया की किसी भी भाषा ने अपनी विविधता, विस्तार और सतरंगी समुन्नति के लिए ऐसी प्रतीक्षा नहीं की और न ऐसी प्रतीक्षा करना उचित ही है। अमरीकी उपन्यासकार श्रीमती पर्ल एस० बक ने चीन का व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन अँगरेज़ी साहित्य में उतारकर 'नोबेल पुरस्कार' तक प्राप्त किया है। अमरीकनों और अँगरेज़ों ने किसी चीनी लेखक की प्रतीक्षा नहीं की, हालाँकि बहुत से चीनी-जापानी अँगरेज़ी जानते हैं और सीख भी रहे हैं।

जब तक दक्षिण का परिसर, वहाँ का जन-जीवन, वहाँ के ज्वारभाटे, वहाँ की लोककथाएँ हिन्दी में प्रवेश नहीं करतीं तब तक केवल विन्ध्य पहाड़ियों के इस पार रचा जानेवाला साहित्य देश का दर्पण कदापि नहीं हो सकता। भाषण दे देना आसान बात है। किन्तु भाषण के शब्दों को प्रमाणित करना कठिन हो जाता है। आज हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ कवि वक्तव्य देते हैं, हिन्दी के समर्थन में लेख लिखते हैं, फ्रेंक एन्थोनी और मनोहरन को मुँहतोड़ उत्तर देने की कोशिश करते हैं, किन्तु जब साहित्य-साधना के लिए कमरे में बैठते हैं तो उनकी कल्पना कठिनाई से हैदराबाद तक जाती है। बार-बार वे दिल्ली दुहराते हैं, कलकत्ता की कहानी कहते हैं, ताजमहल और गंगा-यमुना के संगम का संगीत सुनाते हैं। हिन्दी के प्रचारक की हैसियत से उन्हें अपने परिवेश का मोह छोड़कर देश के सभी भागों की सूक्ष्म और स्थूल विशेषताओं का विवरण प्रस्तुत करने

की तत्परता दिखलानी होगी। हिन्दी का समर्थन केवल वक्तव्य देने, वाद-विवाद करने, लेख लिखने, जुलूस निकालने या शिष्टमंडल ले जाने से पूरा नहीं होगा। ऐसे खोखले समर्थन से नई-नई समस्याएँ पैदा हो रही हैं।

मराठी की एक साहित्य-सेविका ने एक मजेदार बात कही। उन्होंने कहा, "तुम्हारी हिन्दी में मराठी-मद्रासी नायक और नायिकाओं की संख्या कितनी है?" मैं चकराया। सवाल सरल था लेकिन टेढ़ा भी। वह स्वयं कहने लगीं, "हिन्दी में मुस्लिम, बंगाली, चीनी, मारवाड़ी, पंजाबी, एंग्लों-इंडियन और कुछ पहाड़ी जातियाँ आती हैं, किन्तु मराठी, गुजराती और मद्रासी तो नहीं के बराबर हैं। इस प्रकार के संकुचित, सीमित और संदिग्ध पात्र-निर्वाचन से गणतन्त्रात्मक साहित्य की रचना कैसे हो सकती है और राष्ट्रभाषा को सभी जातियों और प्रदेशों का विश्वास कैसे मिल सकता है?"

बात उनकी सोलहों आने सच है। आज हमारे उपन्यास-क्षेत्र की क्या दशा है! कोई शान्ति, रेखा, सुधा, वीणा, मालती या कुमकुम किसी रमेश, भुवन, चन्दर, वसन्त या प्रशान्त से प्रेम करती है। प्रेम करने की जगह भी उत्तर भारत की कोई नगरी, जैसे कलकत्ता, पटना, बनारस, लखनऊ, कानपुर, मसूरी, नैनीताल या दिल्ली रहती है। सरिता विशेषकर गंगा या यमुना रहती है। फूल गुलाब, चमेली, बेला, हरसिंगार या रजनीगन्धा रहते हैं। हवा या तो पुरवा या पछुआ बहती है। इसी प्रकार उपन्यास का सारा 'कैनवास' एक सीमित भौगोलिक परिसर के अन्तर्गत परिक्रमा करता रहता है। अभी तक हमारे यहाँ ऐसे भी उपन्यास नहीं जिनमें बिहार की कोई बाला दक्षिण के किसी नौजवान से प्रेम करती हो। मैसूर या आन्ध्र की ललना उत्तर प्रदेश के उत्साही नौजवान की रूमानी साँसों का सरगम सुनती हो। जब हम कथा-साहित्य में ही इसके लिए तैयारी नहीं, छुआछूत का वातावरण कायम रखते हैं तो फिर देश की एकता का गीत कैसे गा सकते हैं। श्रीमती पर्ल एस० बक ने अपने मशहूर उपन्यास 'पैट्रियट' में चीनी नायक और जापानी नायिका में उस समय अगाध प्रेम दिखलाया है जब दोनों देश एक-दूसरे के दुश्मन थे। फिर अपने ही दक्षिण के हम गीत क्यों नहीं गा सकते? हिन्दी उपन्यासों के माध्यम से प्रेम और स्नेह तथा जातियों के विभिन्न सांस्कृतिक मिलन एवं समन्वय की कहानी क्यों नहीं शुरू हो सकती?

हमें अपने उपन्यास और कहानियों की सीमाओं का अविलम्ब विस्तार करना होगा। आवश्यकता आंचलिक उपन्यासों की उतनी नहीं जितनी राष्ट्रीय उपन्यासों की है। मुल्क आज ऐसे लेखकों-कवियों की प्रतीक्षा में बैठा है जो राजनीति की दरारों, जातिगत स्वार्थों की विघटनकारी प्रवृत्तियों और राष्ट्रीयता के नाम पर पतनोन्मुख प्रादेशिकता की गन्दगी को दूर हटाकर अपने साहित्य की समरसता से ईंट-ईंट को जोड़नेवाली सीमेण्ट का काम करें। कभी-कभी राजनीति की विफलताओं से जब समाज विचारों की अराजकता के कारण अपना ही सर्वनाश करने के लिए तत्पर हो उठता है तो साहित्य उसका हाथ पकड़कर सही रास्ते पर लाता है। क्या हिन्दी के लेखकों-कवियों ने इस चुनौती की ओर ध्यान दिया है? अफ़सोस तो इस बात का है कि हमारे अधिकाधिक साहित्यकार या तो स्वयं राजनेता हैं या किसी राजनीति की राह पकड़कर चल रहे हैं। विशुद्ध साहित्यकार ही कबीर की तरह चौराहे पर समाज और साहित्यकार को ललकार सकता है:

लाया साखी बनाय के इत-उत अच्छर काट।
कबिरा कहे कब तक जीये जूठी पत्तल चाट॥

(कबीर)

अन्तिम समस्या प्रचारकों की है। यह सर्वविदित है कि किसी भी भाषा के चार प्रमुख अंग होते हैं—रचनाकार, प्रकाशक, मुद्रक और पाठक। चारों की अपनी-अपनी समस्याएँ हैं, अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। लेकिन हिन्दी में एक नये वर्ग का उदय हुआ है, जिन्हें हम राष्ट्रभाषा-प्रचारक कहते हैं। ये प्रचारक अहिन्दी भाषी प्रदेशों में जाकर 'मिशनरी' की तरह हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य करते हैं। इससे हिन्दी का प्रचार नहीं होता, विरोध होता है। ये बाहर से भेजे गए किसी राजनैतिक षड्यंत्र के परिचायक समझे जाते हैं। किसी भी भाषा का प्रसार उसके अपने आकर्षण से होता है, प्रचारक भेजने से नहीं। राजनीति का प्रचार हो सकता है, उसे लादा जा सकता है। लेकिन संस्कृति और साहित्य का प्रचार केवल माइक्रोफ़ोन और

मंच से नहीं हो सकता और न उसे किसी जाति पर लादा ही जा सकता है। उसके लिए साहित्य का नया इन्द्रधनुष खिलाना होगा।

यदि भाषा समृद्ध होती गई तो उसका प्रचार स्वयं होगा, प्रचारक नियुक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं। सेठ गोविन्ददास ने अपनी दक्षिण-यात्रा में एकमात्र यही अनुभव प्राप्त किया है कि उत्तर भारत से भेजे जानेवाले हिन्दी प्रचारकों को अविलम्ब वापस बुला लिया जाए। उनके वहाँ रहने से राजनीति की दुर्गन्ध पैदा होती है, साहित्य की सुगन्ध नहीं। यदि हमने दक्षिण की धरती तथा वहाँ के लोगों के जातीय जीवन की विविधताओं और सांस्कृतिक परम्पराओं पर साहित्य का कृत्रिम चाँद भी गढ़ा तो वे स्वयं अपने कमरे की मरकरी लाइट छोड़कर हमारा स्वागत करेंगे। इसके लिए देश की परिक्रमा करनी होगी, पर्यटन करना होगा। क्या राहुल और विनोबा की तरह दक्षिण के गाँव-गाँव घूमने के लिए हिन्दी के शीर्षस्थ साहित्यिक तैयार हैं? हिन्दी साहित्यकारों की नई पीढ़ी को यह कार्य तुरत आरम्भ कर देना चाहिए।
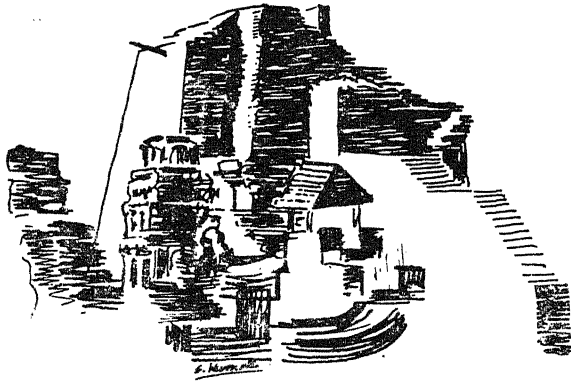
अहिन्दी-क्षेत्रों के पाठ्यक्रम में क्या खड़ी बोली के अतिरिक्त उसकी उपभाषाओं के साहित्य का समावेश भी आवश्यक है ?

[आगरा के केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण-मण्डल के तत्वावधान में, १९६२ के अक्तूबर महीने की पहली और दूसरी तारीख को अहिन्दी-क्षेत्रों के लिए हिन्दी के पाठ्यक्रम पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। विचारणीय विषय यह था कि हिन्दीतर प्रदेशों के हिन्दी शिक्षणार्थियों को खड़ीबोली के साथ-साथ ब्रज और अवधी आदि उपभाषाएँ पढ़ानी चाहिए या नहीं। अनेक विद्वानों ने संगोष्ठी में भाग लिया। अध्यक्षता डॉ० हरिशंकर शर्मा एवं श्री बालकृष्ण राव ने की। समस्त चर्चा स्थायी महत्त्व की थी। केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण-मण्डल के सौजन्य से चर्चा के महत्त्वपूर्ण अंश इस ग्रन्थ मे उद्धृत किये जा रहे हैं।]

डॉ० विनयमोहन शर्मा

भारतीय संविधान में हिन्दी को राजभाषा स्वीकार किया गया है। हिन्दी शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसके अन्तर्गत ब्रज, खड़ीबोली, बुन्देली, कन्नौजी, अवधी, बघेलखंडी और छत्तीसगढ़ी, बिहार की बोलियाँ (भोजपुरी, मैथिली, मगही), राजस्थानी आदि का समावेश होता है। यद्यपि कुछ भाषा-विज्ञानी राजस्थानी और बिहारी बोलियों को हिन्दी से पृथक् भाषा ही मानते हैं, पर राष्ट्रभाषा-प्रेमियों ने 'विज्ञान' के पार्थक्य को स्वीकार नहीं किया। वे इन्हें भी हिन्दी मानते हैं। इसका कारण है। यद्यपि उपर्युक्त सभी भाषाओं तथा बोलियों के व्याकरणिक रूप में थोड़ा-बहुत अन्तर है और कतिपय शब्द-रूप-भिन्नता भी है, तो भी उनके बोलनेवाले परस्पर एक-दूसरे को समझने में कठिनाई अनुभव नहीं करते। हिन्दी-क्षेत्र के पड़ोसी भाषा-भाषी भी हिन्दी को स्वल्प प्रयत्न से समझ लेते हैं। पर द्रविड़ भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में श्रम उठाना पड़ता है। इसलिए जब संविधान में हिन्दी को राजभाषा घोषित कर दिया गया और उसका वह रूप स्वीकार किया गया, जो परिनिष्ठित हिन्दी अथवा खड़ीबोली कहलाता है, तब उसके सामने अनेक प्रकार के प्रश्न उठ खड़े हुए— 'हम हिन्दी के इसी परिनिष्ठित रूप को क्यों न सीखें ? विभाषाओं—ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली आदि के साहित्य का क्यों अध्ययन करें ? उनकी व्यावहारिक उपयोगिता क्या है ? हम तो राजभाषा खड़ीबोली के लिंग, क्रिया-रूप, कारक-चिह्न, विशेषकर 'ने' आदि के व्याकरणिक वैशिष्ट्य को ही आत्मसात नहीं कर पा रहे हैं, फिर ब्रज, अवधी आदि के भाषा-तत्वों को हृदयंगम करना और भी कठिन होगा, आदि।

ये प्रश्न अहिन्दी भाषा-भाषियों द्वारा ही नहीं उठाये जा रहे हैं, हिन्दी के कतिपय साहित्य-प्राध्यापकों के लेखों और भाषणों में भी उनकी प्रतिध्वनि सुन पड़ती है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं, 'जहाँ तक भाषा के व्यावहारिक रूप और अभ्यास का प्रश्न है हिन्दी विद्यार्थी के लिए ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल आदि उपभाषाओं का कोई भी विशेष महत्त्व नहीं रह गया है।' (भाषा, जून ६२) वे तो यहाँ

तक कहते हैं, कि हिन्दी के नये ललित तथा उपयोगी साहित्य के निर्माण में भी इन उपभाषाओं के साहित्य से विशेष सहायता नहीं मिल सकती। हिन्दी भाषा के नाम से अनेक भाषा-रूपों और साहित्य-शैलियों को सीखने के कारण विद्यार्थी की साहित्यिक खड़ीबोली (हिन्दी) के अभ्यास में ही बाधा पड़ती है। यदि किसी विद्यार्थी को पहली कक्षा से एम० ए० तक के लिए साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी का अभ्यास कराया जाए, तो उसकी भाषा-शैली अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित हो जाएगी। डॉक्टर बाबूराम सक्सेना ने भी कुछ वर्ष पूर्व लगभग यही बात कही थी। दोनों हिन्दी क्षेत्र के मूर्धन्य विद्वान खड़ीबोली हिन्दी को ही अहिन्दी क्षेत्रों के हिन्दी पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने के पक्षपाती हैं। डॉ० वर्मा तो हिन्दी क्षेत्रों में भी व्यावहारिकता की दृष्टि से खड़ीबोली को ही स्वीकार करते हैं।

राष्ट्रभाषा-प्रेमी को खड़ीबोली हिन्दी को ही अपनाने में कोई संकोच नहीं होगा। पर वह उसकी उपभाषाओं के साहित्य से असम्पृक्त कैसे रह सकेगा? खड़ीबोली के क्रम-बद्ध साहित्य-निर्माण का इतिहास सौ-सवा सौ वर्ष से प्राचीन नहीं है और इसके परिनिष्ठित रूप से प्रारम्भ का इतिहास तो और भी कम प्राचीन है। आज से साठ-बासठ वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य के द्विवेदी-युग से ही वह सँभलने-सँवरने लगी है। यह मैं मानता हूँ कि इधर तीस-पच्चीस वर्ष में उसमें विभिन्न विषयों पर प्रचुर और ठोस साहित्य भी निर्मित हुआ है। गद्य की विधाएँ उसी में सृष्ट और पुष्ट हुई हैं। फिर भी क्या उसकी उपभाषाओं में कवि चन्द, कबीर, तुलसी, जायसी, मीरा, विद्यापति, बिहारी, देव आदि की रचनाओं को, जो जन-जीवन में रम गई हैं, विस्मृत किया जा सकता है? हिन्दी-क्षेत्र में ही नहीं, अहिन्दी-क्षेत्रों में भी, जनता सूर और मीरा के पद, कबीर की साखियाँ, तुलसी की रामायण, रहीम के दोहे और भूषण के कवित्त पढ़ती-सुनती और विभोर होती आ रही है। मध्ययुग में अहिन्दी-क्षेत्रों तक में ब्रज में काव्य-रचना करने में कवि अपने को गौरवान्वित अनुभव करते थे। कृष्ण-भक्तों की कृष्ण की जन्मभूमि की यात्राएँ होती रहती थीं और वे उसकी भाषा से परिचित होते रहते थे और भावविभोर हो उसी में रचना करने लगते थे। बंगाल में तो वैष्णवों ने ब्रज-मिश्रित बंगला की एक विशिष्ट भाषा 'ब्रजबुलि' ही निर्मित कर डाली और उसमें अत्यन्त भाव-भरे पद रचे। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी 'भारतीय-आर्य भाषा और हिन्दी' में लिखा है, "ईसा के बिलकुल पश्चात् की ही शताब्दियों में सबसे अधिक लालित्य-पूर्ण प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत की सीधी वंशज ब्रजभाषा का ही ऊपरी गंगा के मैदान में साहित्यिक भाषा के रूप में सबसे अधिक प्रचार था, एवं उसी का सबसे अधिक अध्ययन भी होता था।" महाराष्ट्र गुजरात आदि प्रदेशों में कवियों तथा सन्तों ने इसी 'भाषा' में मधुर पद गाये। भुज (सौराष्ट्र) में तो शताब्दियों तक राजकीय आश्रय में ब्रजभाषा की एक पाठशाला संचालित होती रही, जो स्वाधीनता के पश्चात् बन्द कर दी गई। त्रावणकोर के महाराजा ने सौ वर्ष पूर्व मणिप्रवाल-शैली में एक काव्य-ग्रन्थ लिखा था, जिसमें ब्रजभाषा की ही पंक्तियाँ गुम्फित हैं। संगीत का तो ब्रजभाषा प्राण ही है। महाराष्ट्र में जब एक बार उसके स्थान पर मराठी के बोल रखने का आग्रह किया जाने लगा तब स्वयं संगीतज्ञों ने उसका विरोध किया। परिणामतः वहाँ आज भी वह संगीत में मधु-वर्षा करती रहती है।

तुलसीदास के रामचरितमानस ने किस के मानस को नहीं मथा? वह देश-भर में सभक्ति गाई जाती है और उसके माध्यम से 'अवधी' लोक-ग्राह्य बन गई है। विद्यापति के पदों का लालित्य भी हृदयहारी है। 'चन्द' का 'रासो' भी अपने ओजपूर्ण शृङ्गार के कारण सहृदयों को आकर्षित करता रहा है। इस प्रकार हिन्दी की उपभाषाओं में ब्रज और अवधी विशेष रूप से राष्ट्र-प्रचलित रही हैं। फिर भी इन्हें हिन्दी के पाठ्यक्रम से पृथक् करने का जो प्रश्न उठाया जा रहा है, वह विचारणीय है।

हमें दो बातों पर विचार करना है :

(१) क्या हिन्दी और अहिन्दी-क्षेत्रों के हिन्दी पाठ्य-क्रम भिन्न-भिन्न रहें; और क्या यह भिन्नता माध्यमिक शालाओं तक ही सीमित रहे या विश्वविद्यालयीन स्तर पर भी रहे। दूसरे शब्दों में, क्या अहिन्दी-क्षेत्रों के माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में केवल खड़ीबोली साहित्य का समावेश रहे, और ब्रज, अवधी

आदि का अमर साहित्य सर्वथा बहिष्कृत कर दिया जाए?

(२) यदि उसका सर्वथा बहिष्कार अभीष्ट नहीं है, तो माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में उनको कहाँ और किस परिमाण में समाविष्ट किया जाए?

यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि आज दक्षिण में प्रायः प्रत्येक प्रमुख विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग स्थापित हो चुके हैं जहाँ एम० ए० तक पढ़ाई ही नहीं होती, शोध-कार्य भी होने लगा है। क्या दक्षिण के विश्वविद्यालय का प्राध्यापक मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य-परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञ रह सकता है और हिन्दी का सच्चे अर्थ में प्राध्यापक या 'मास्टर-इन-हिन्दी' (हिन्दी का आचार्य) कहला सकता है? क्या वह उत्तर के विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों के समकक्ष अपने को अनुभव कर सकता है?

● ●

डॉ० बाबूराम सक्सेना

मेरे एक अहिन्दी भाषी मित्र ने एक बार मुझसे पूछा कि यह जो बागवान या रसोइया हिन्दी बोल रहा है या जो मारवाड़ी सज्जन बोलता है वह हिन्दी या जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी का प्रोफेसर बोलता है वह हिन्दी है? उनकी समझ में नहीं आता कि वास्तविक हिन्दी क्या है? यही कारण है कि उन्होंने कहा, "हिन्दी में कोई अच्छी शैली नहीं है और जब तक उसमें कोई अच्छी शैली नहीं तब तक हिन्दी को राजभाषा नहीं बनाया जा सकता।"

आपको मालूम होगा कि हिन्दी की और उर्दू की समस्या का संवर्ष हमारे उत्तर भारत में डेढ़ सौ वर्ष से चला आ रहा है और उसमें हम हिन्दीवालों का पक्ष बराबर यह रहा है कि हम हिन्दी के अन्तर्गत न केवल खड़ी बोली वरन् हिन्दी-क्षेत्र में बोली जानेवाली सभी भाषाओं अर्थात् राजस्थानी, पूर्वी पंजाबी, पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी आदि की गणना करते हैं। जिस भाषा का साहित्यिक रूप स्वीकृत है अर्थात् जो भाषा परिनिष्ठित रूप से स्वीकृत है वह भाषा मान्य समझी जाती है। लेकिन हिन्दी-प्रदेशों की जो अपनी भाषाएँ हैं उनमें रचे साहित्य को हम हिन्दी साहित्य कहते हैं। यद्यपि मीरा के पदों की भाषा को हम हिन्दी कहते हैं तो भी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह राजस्थानी है, जिसके अन्तर्गत मारवाड़ी और मेवाड़ी सम्मिलित हैं। बिहार में तीन उप-भाषाएँ हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी; और पंजाब के पूर्वी प्रदेशों में बाँगड़ू है।

इन सब भाषाओं में जो साहित्य निर्मित हुआ, वह हिन्दी का ही साहित्य है। उर्दूवाले संकुचित ढंग से विचार करते हैं। वे केवल खड़ीबोली और फ़ारसी लिपि में लिखे जानेवाले साहित्य को ही उर्दू मानते हैं और शेष को नहीं। हम हिन्दीवालों की नीति ज्यादा समन्वयात्मक है। हमने सारे क्षेत्रों के साहित्य को अपना साहित्य माना है। उर्दूवाले तो कुछ वर्ष पहले तक खड़ीबोली हिन्दी को भाषा ही नहीं मानते थे। उनके यहाँ जो पाठ्यक्रम बना था उसमें हिन्दी के बी० ए० और एम ए० का कोई पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं किया गया। थोड़ा-सा हिन्दी का जो पाठ्क्रम बना था वह था 'भाखा' का, भाषा का नहीं। और वह 'भाखा' क्या थी? ब्रज को वे भाखा कहते थे। अब तो जमाना बदला है और वहाँ हिन्दी-संस्कृत-विभाग भी खुल गए हैं और उनके अध्यक्ष हैं और कई अच्छे प्राध्यापक भी हैं। अब हमारे जो अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के भाई हैं वे इस चीज को नहीं समझ पाते। जब उनके सामने हिन्दी-उर्दू-संघर्ष की बात आती है तो वे आँखें फाड़कर देखते हैं कि आप क्या कहते हैं।

भाषा बनती है ध्वनियों से, व्याकरण से, मुहावरों से और शब्दावली से। चार चीजें भाषा में हैं। ध्वनियाँ एक हो सकती हैं, हालाँकि उर्दू और हिन्दी की ध्वनियों में बहुत अन्तर है। विशेषकर उर्दू लिपि बाहर की ध्वनियों को भी लेती है और उन्हें तत्सम रूप में रखती है। क़, ख़, ग़, ज़, ये सारी ध्वनियाँ वह लेती है और उनको तद्‌रूप अर्थात् जैसा-का-तैसा रखना चाहती है। हिन्दी भी इन रूपों के इन शब्दों को ले सकती है, लेकिन हिन्दी की प्रवृत्ति यह है कि वह उन विदेशी ध्वनियों के स्थान पर स्वदेशी ध्वनियों को, जो उनके निकटतम हैं, रखती है। यह भाषाओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। उर्दू यह स्वाभा-

विक प्रवृत्ति नहीं रखती, लेकिन जहाँ तक संस्कृत के तत्सम शब्दों का सवाल आता है, उर्दू संस्कृत के तत्सम शब्दों को लेने के लिए तैयार नहीं है। सबसे भारी लड़ाई इसी बात की है। हिन्दी, बंगाली, मराठी आदि जितनी उत्तर भारत की भाषाएँ हैं, यहाँ तक कि द्रविड़ भाषाएँ भी, संस्कृत के तत्सम शब्दों को ज्यों-का-त्यों लेने को तैयार हैं और लेती हैं। उर्दूवाले यदि संस्कृत का कोई शब्द लेंगे तो भी उसको इस तरह से तोड़-मरोड़ कर कि वह विकृत हो जाता है। हिन्दी में देश को देश लिखते हैं और देश, स्वदेश, प्रदेश आदि कहते भी हैं। लेकिन उर्दू वाले देश नहीं 'देस' कहेंगे। स्वदेशी शब्दों को तद्भव रूप में रखेंगे पर विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में रखेंगे। यह विडम्बना मेरी समझ में नहीं आती; और यह हम सब के लिए विचारने की बात है। अगर आपको तद्भव शब्द ही लेने हैं और प्रदेश को परदेस आप कहना चाहते हैं, तो गरीब को भी ग़रीब कहिए। पर आप गरीब कहने को तैयार नहीं। लेकिन प्रदेश को परदेश अवश्य कहेंगे, गरीब को ग़रीब कहेंगे जालिम को ज़ालिम कहेंगे। उर्दूवाले खड़ीबोली का केवल वह साहित्य लेते हैं जो फ़ारसी लिपि और फ़ारसी-अरबी बोली में लिखा हो। हिन्दी लिपि में, देवनागिरी लिपि में लिखे हुए साहित्य को वे नहीं मानते।

अब प्रश्न यह है कि हमारा अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में हिन्दी पढ़ाने का प्रयोजन क्या है? क्या हमें उन्हें साहित्य देना है या हमें उन्हें भाषा देनी है? पहली बात जो इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख है वह यह कि हमें भाषा पढ़ानी है। संविधान की ३५१वीं धारा में हिन्दी का स्वरूप बताया गया है। उस स्वरूप में ऐसा है कि जो हिन्दी उस धारा के अनुकूल बनेगी उसमें प्रतिनिधित्व देश की सारी भाषाओं की संस्कृत का रहेगा। हिन्दी के हिन्दुस्तानी रूप का भी बहिष्कार नहीं होगा; जहाँ शब्दावली की विशेष आवश्यकता होगी वहाँ संस्कृत का सहारा भी लिया जाएगा। इस लक्षण के अनुकूल राजभाषा बनती है। उसकी शब्दावली में जहाँ तक वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों का सम्बन्ध है वह बन रही है और हिन्दी प्रदेशों में जो भाषा चल रही है वह हमारी परिनिष्ठित हिन्दी है। वह करीब-करीब बन चुकी है। उसको बदलने की कोई कितनी भी कोशिश करे, मैं समझता हूँ बदल नहीं पाएगा। वह तो भाषा है। उस भाषा को हम राजभाषा स्वीकार करते हैं, स्वीकार किया है। उस भाषा के साथ अहिन्दी क्षेत्रों को क्या हम हिन्दी का उपभाषाएँ भी सिखाएँगे? साहित्य पढ़ने का मतलब यह होगा कि उन भाषाओं का भी ज्ञान करा दें। एक बार हम दिल्ली से मोटर में आ रहे थे। एक भोजपुरी मित्र हमारे साथ बैठे थे और एक अवधी-भाषी मित्र भी बैठे थे। देखते चले आ रहे थे कि कितने मील चले आए हैं और कितने मील रह गए हैं, तो हमारे अवधी भाषा-भाषी मित्र बोले, 'छाछठ मील आ गए।' भोजपुरी मित्र बोले, 'हाँ छयासठ मील आ गए।' अब मैं पूछता हूँ कि आप छाछठ भी सिखाएँगे और छयासठ भी सिखाएँगे? फिर अहिन्दी भाष-भाषी के सामने प्रश्न उठता है कि वह छाछठ माने या दोनों माने? रसखान का एक पद है :

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं।

अब 'या लकुटी' को 'या लकुटी' कहें या 'इस लकड़ी'? परिनिष्ठित हिन्दीवाला तो 'इस लकुटी' या 'इस लाठी' कहेगा। 'अरु', 'कामरिया पर' तो परिनिष्ठित हिन्दी के शब्द नहीं हैं। आप इन शब्दों के कितने रूपों को पढ़ाएँगे?

संख्या का एक दूसरा उदाहरण देता हूँ। परिनिष्ठित हिन्दीवाले कहते हैं ग्यारह। इसका भोजपुरी रूप है एगारा और अवधीवाले कहते हैं गेरा। हम अवधी क्षेत्र के हैं। वहाँ ग्यारह भी कहते हैं और लोग समझ लेते हैं। हम जानते हैं कि ग्यारह स्टैण्डर्ड रूप है, गेरा अवधी का रूप है और एगारा भोजपुरी रूप है। अगर हम दोनों उपभाषाओं का साहित्य पढ़ाएँगे तो एगारा भोजपुरी साहित्य का भी आएगा और गेरा भी आएगा अवधी साहित्य का। और ग्यारह तो है ही स्टैण्डर्ड हिन्दी का। यदि आप राजस्थानी पढ़ाते हैं, जैसे मीरा के पद, तो उस शब्दावली के डिंगल शब्दों को लें तो फिर जितना अन्तर मैंने आपको बताया है इससे कहीं अधिक डिंगल और पिंगल में है। ब्रज, अवधी और उधर मैथिली। मैथिली में विद्यापति के पद कितने ललित, कितने सुन्दर हैं कि छोड़ने को जी नहीं चाहता। लेकिन क्या इन सब को पढ़ाएँगे आप? विद्या-

पति के पद पढ़िए, दोनों का व्याकरण देखिए, दोनों की ध्वनियाँ देखिए और फिर कहिए आप कि एक भाषा है। भाषा-विज्ञान का अध्येता तो एक नहीं मानेगा। यह हम मान सकते हैं कि हिन्दी का परिनिष्ठित रूप इन दोनों क्षेत्रों में चल रहा है और हम सब ने यह स्वीकार कर लिया है। लेकिन हम यह नहीं मानते कि मैथिली का साहित्य और डिंगल अर्थात् मारवाड़ी-बैसवाड़ी का जो साहित्य है वह एक ही भाषा का साहित्य है।

अहिन्दी भाषा-भाषी विद्यार्थियों को अपनी भाषा भी पढ़नी है और उसमें पारंगत होना है, क्योंकि अपने क्षेत्र में सारा काम उसी में वे चलाएँगे। अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए हिन्दी भी सीखनी है, क्योंकि जो स्वरूप हमारे सामने राष्ट्र का है उस स्वरूप में अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाएँ काम करेंगी, और अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए हिन्दी अथवा केन्द्र की भाषा रहेगी। वे अपनी भाषा पूरे तौर से पढ़ेंगे और इसके साथ-साथ वे हिन्दी पढ़ना चाहेंगे तो क्या हम हिन्दी के साथ-साथ उसकी उपभाषाएँ भी पढ़ाएँगे ? क्या इतना बोझ उनके ऊपर डालना उचित होगा ? क्या वे इस बोझ को सह सकेंगे ? बार-बार हमारे नेता यह कहते हैं कि हिन्दी को राजभाषा इसलिए स्वीकार किया गया है कि इसके बोलनेवालों की संख्या अधिक है और समझनेवालों की संख्या भी अधिक है। ४२ प्रतिशत आबादी हिन्दी भाषा को समझती है, शेष अपनी क्षेत्रीय भाषाएँ। यह कभी दावा नहीं किया गया कि हिन्दी का साहित्य अन्य भाषाओं के साहित्य से ऊँचा है। करे कोई हिम्मत यह कहने की—किसी बंगाली भाषा-भाषी से या किसी तमिल भाषा-भाषी के सामने कि हिन्दी का जो साहित्य है वह सर्वोच्च है ! कम-से-कम मेरी तो हिम्मत यह कहने की नहीं होती। मैं अवध का रहनेवाला हूँ। तुलसीदास की भाषा मेरी भाषा है और तुलसीदास को मैं संसार के अन्य कवियों में बहुत ऊँचा स्थान देता हूँ, और ब्रज के सूरदास को भी मैं मानता हूँ। हम हिन्दीवाले सूर और तुलसी को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। लेकिन यह कहने को कोई तैयार नहीं कि तमिल का जो कुरल है या चंडीदास की जो रामायण है वह नीची श्रेणी की है, कम-से-कम कहना नहीं चाहिए। हिन्दी भाषा-भाषियों से मैं निवेदन करूँगा कि वे ऐसा कहने की धृष्टता नहीं करें, नहीं तो बवण्डर खड़ा कर देंगे। वैसे ही हिन्दी का काफी विरोध है।

हिन्दी को हिन्दी साहित्य पढ़ाने के लिए ही स्वीकार नहीं कराया गया। इसे राष्ट्रभाषा का रूप देना है। सबको सिखाना है। हमारी तो यह इच्छा है कि भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति अपनी राजभाषा जाने, प्रत्येक क्षेत्र में, प्रदेश में हर व्यक्ति को अपनी राजभाषा जानना चाहिए। व्याकरण की गुत्थियाँ नहीं सिखा पाएँगे आप। ध्वनियों के परिवर्तन इतने विकराल हैं कि उन्हें नहीं सिखा पाएँगे आप। मुहावरे भी मुश्किल पड़ेंगे। शब्दावली में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि शब्दावली सभी संस्कृत से लेते हैं। लेकिन व्याकरण का जो ढाँचा है वह सबके लिए कठिन साबित होगा। कठिन साबित न होता तो विरोध की आवाज नहीं उठती। आज ही यह नहीं उठी है, वर्षों से उठी है। प्रश्न उठाया जाता है कि क्या अहिन्दी प्रदेशवासी हिन्दी के सम्पूर्ण साहित्य से वंचित रह जाएँ ? कौन कहता है कि वंचित रह जाएँ। आप शौक से पढ़िए। शेक्सपीयर और मिल्टन को पढ़िए। सूरदास और मीरा को भी शौक से पढ़िए। लेकिन क्या अनिवार्य रूप से यह सारा साहित्य पढ़ाया जाए ? जो हिन्दी को केवल राजभाषा के रूप में स्वीकार करता है वह केन्द्र की भाषा समझने और उसके द्वारा अन्तरप्रदेशीय भावों को समझने और समझाने की योग्यता-मात्र चाहता है। इस उद्देश्य से तो उसके लिए आवश्यक नहीं है कि वह हिन्दी का साहित्य भी पढ़े। पढ़े तो बहुत अच्छा। हम ज्ञानेश्वरी पढ़ते हैं तो हमें आनन्द आता है। चंडीदास की रामायण पढ़ते हैं तो हमको आनन्द आता है। कुरल का हमने अंगरेजी अनुवाद पढ़ा, हमको बहुत आनन्द आया। लेकिन किसी को मजबूरन पढ़ाना कि तुमको हिन्दी पढ़नी है तो ये उपभाषाएँ भी पढ़ो, यह ज्यादती है। सच है कि उसे साहित्य भी पढ़ाना पड़ता है।

हिन्दी साहित्य का कितना अंश उसे हम पढ़ाएँ, यह प्रश्न उचित है। हम राजभाषा का वह रूप सिखाएँ जो केवल खड़ीबोली ही का रूप हो ! मैं तो कहता हूँ कि जो केवल खड़ीबोली ही सीखना चाहते हैं उनको केवल खड़ीबोली ही सिखाना चाहिए। मेरा सुझाव है कि राजभाषा या खड़ीबोली का वही रूप सबको अनिवार्य रूप से सिखाना

चाहिए जो कि उसके काम आए, व्यावहारिक दृष्टि से काम आए। साहित्य तो वह स्वान्तःसुखाय भी पढ़ सकता है। हिन्दी साहित्य में प्रवीणता प्राप्त करना चाहें वे अवश्य उसका साहित्य पढ़ें। पुराने जमाने में अँगरेज़ी बी० ए० का जो पाठ्यक्रम होता था उसमें अँगरेज़ी के दो भाग अनिवार्य रूप से होते थे—जनरल इंगलिश या स्पेशल इंगलिश। जनरल इंगलिश तो सबके लिए अनिवार्य थी अर्थात् बी० ए० वालों के लिए अनिवार्य थी ही, साहित्य भी अनिवार्य था, लेकिन बी० एस-सी० वालों के लिए और बी० काम० वालों के लिए केवल जनरल इंगलिश अनिवार्य थी और उसमें जो वर्तमान अँगरेज़ी भाषा है उसकी किताबें पढ़ाई जाती थीं। उसमें मिल्टन का काव्य या शेक्सपीयर के नाटक सम्मिलित नहीं थे। उसमें मध्ययुग का कोई साहित्य नहीं था, केवल वर्तमान-कालीन साहित्य ही था। इस तरह से जो केवल भाषा सीखना चाहें उन्हें केवल खड़ीबोली का रूप सिखाएँ और जो साहित्य का अध्ययन करना चाहें उन्हें आप साहित्य अलग से सिखाएँ। साहित्य की उपाधि अलग होनी चाहिए, भाषा की अलग। उनकी परीक्षाएँ भी अलग-अलग होनी चाहिए।

अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी-विभाग खुल गए हैं। मद्रास में भी है, और मैसूर में भी है। वहाँ एम० ए० तक हिन्दी की पढ़ाई होती है, तो उनमें क्या हिन्दी विभाषियों का साहित्य न पढ़ाया जाए? उसका जो पाठ्यक्रम है वह मेरी समझ में हिन्दी साहित्य का पाठ्यक्रम है, केवल हिन्दी भाषा का पाठ्यक्रम नहीं है। उस पाठ्यक्रम में आप रख सकते हैं उपभाषाओं के इस साहित्य को। और मैं समझता हूँ कि हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का यदि कोई ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो उसे कम-से-कम ब्रज और अवधी को अच्छी तरह जानना चाहिए। अगर हिन्दी में कोई एम० ए० करना चाहता है, चाहे मद्रास यूनिवर्सिटी में हो, चाहे शान्तिनिकेतन में या कलकत्ते में तो मेरी समझ में उसको यह मौका देना चाहिए। उससे यह आशा करनी चाहिए कि वह इन भाषाओं के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करे। अगर केवल भाषा की डिग्री प्राप्त करना हो तो मैं समझता हूँ, फ़र्स्ट डिग्री कोर्स तक खड़ीबोली साहित्य का अध्ययन पर्याप्त होगा।

जो प्रचारक हैं उनको मेरे विचार से केवल खड़ीबोली सिखानी चाहिए। उस खड़ीबोली के सिखाने में मेरी राय है कि बजाय ब्रज, मैथिली, अवधी, राजस्थानी आदि पढ़ाने के उनको उर्दू सिखा दें तो ज्यादा काम आएगी। ऊपर मैं हिन्दी-उर्दू-संघर्ष की बात कह आया हूँ, लेकिन यह केवल भाषा की दृष्टि से कहता हूँ। जिसको हम उर्दू कहते हैं उसको उर्दू के कवियों ने, लेखकों ने बहुत अर्से से माँजा-सँवारा है और उसका एक अच्छा रूप प्रस्तुत किया है। उसमें जरूर बहुत-से ऐसे शब्द हैं जो हमारी समझ में नहीं आते, फिर भी उन्होंने एक शैली बना दी है, उर्दू स्वरूप को खड़ा कर दिया है जो कि हम नहीं कर सके। आज हम देखते हैं कि उर्दू काव्य के जो संग्रह देवनागरी लिपि में छपे हैं वे धड़ाधड़ बिक रहे हैं। जो हिन्दी में भी लिखते हैं और उर्दू के भी अच्छे पण्डित हैं उनकी भाषा में जो लोच है, जो रवानी है, वह केवल हिन्दी भाषा जाननेवाले की भाषा में नहीं आ पाती। यह मेरा निजी अनुभव है। यदि उपभाषाओं के पढ़ाने का ही सवाल है तो मेरा विचार है कि उर्दू-साहित्य के कुछ अंश देवनागरी में लिखकर भाषा में चलाए जाएँ, क्योंकि थोड़ी शब्दावली को छोड़कर उर्दू और हिन्दी की भाषा बिलकुल एक है। यह ज्यादा काम की होगी, बजाय ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि के।

हिन्दी सिखाने के एक पक्ष का प्रयोजन यह है कि हम हिन्दी भाषा का परिनिष्ठित रूप, जो संविधान की ३५१वीं धारा में वर्णित किया गया है, सारे भारतवर्ष में प्रचलित करें। अन्य रूप प्रचलित करने का हमारा ध्येय नहीं है। अन्य रूपों में थोड़ा-बहुत अन्तर हो तो हम उसको भी पढ़ाएँ, लेकिन बहुत काफी अन्तर और उस सारे अन्तर का बोझ अहिन्दी भाषा-भाषी के ऊपर लादना मैं उचित नहीं समझता।

● ●

डॉ० हरिशंकर शर्मा

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के लिए, जो वर्तमान राष्ट्र-भाषा है उसी का सबसे अधिक प्रचार हो। जहाँ तक उर्दू का सम्बन्ध है, उर्दू भी हिन्दी का ही एक रूप है। दुनिया में उर्दू का कोई शब्द है ही नहीं, या तो वह अरबी का शब्द है या फ़ारसी का शब्द है या तुर्की का। आज तक मुझे उर्दू का शब्द देखने को नहीं मिला। और बात मैं नहीं कहता, बल्कि 'आबे हयात' के लेखक मुहम्मद हुसेन आज़ाद, जो कि उर्दू के बड़े लेखक हुए हैं, उन्होंने 'आबे हयात' में स्पष्ट लिखा है। 'आबे हयात' उर्दू का इतिहास है, उसमें लिखा है कि उर्दू कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है, वह हिन्दी से निकली है। उन्होंने यह भी लिखा है कि वह हिन्दी की प्रतिनिधि है। हिन्दी का वही व्याकरण है जो उर्दू का है, केवल शब्दों का भेद रह जाता है और कुछ नहीं है। "मैं मुल्क को आजाद करना चाहता हूँ" इसे अगर हिन्दी में कहेंगे तो कहेंगे—"मैं देश को स्वतन्त्र करना चाहता हूँ।" व्याकरण वही रहता है और शब्दों में थोड़ा-सा अरबी के या फ़ारसी के शब्द मिला देने का नाम उर्दू है।

वस्तुतः उर्दू और हिन्दी में, जहाँ तक शब्दों का सम्बन्ध है, उर्दू और फारसी के शब्द आने से हिन्दी हो जाती है। मैं समझता हूँ हिन्दी का एक रूप है—उर्दू और उसका काफ़ी प्रचार हो रहा है। हमारे यहाँ गाँव में जाइए, आप सुनेंगे—"क्यों भइया कहा कर रहो है। साहब मोहे कहा खबर कहाँ गयो है।" अब 'खबर' अरबी का शब्द है, फारसी का भी है। "वह बहुत खराब आदमी है"—"वह दूषित पुरुष है" ऐसा नहीं कहेंगे—'खराब' अरबी का शब्द है, 'आदमी' फ़ारसी का शब्द है। यह अरबी-फारसी हम लोग बोलते हैं। "तू बज़ाज के यहाँ गयो।" 'बज़ाज' अरबी का शब्द है। 'बज़' माने कपड़ा, 'जाज' माने कपड़ा बेचना। "सराफ के यहाँ गयो।" "भैया मकान खाली कर दयो है।" 'मकान' अरबी का शब्द है, 'खाली' अरबी का शब्द है—घर भी नहीं कहेंगे हम लोग, गृह तो कहना मुश्किल है। हम ऐसे कई शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। 'पाजामा' फ़ारसी का शब्द है। 'तकिया' अरबी का शब्द है, 'फर्श' अरबी का शब्द है। तो हमारे यहाँ इतने शब्द आ गए हिन्दी में—'हिन्दी' शब्द खुद फारसी का माना जाता है, चाहे उसमें सिन्दी, बिन्दी सिद्ध कर लीजिए, लेकिन 'हिन्दी' शब्द फारसी का है। 'हिन्द' अरबी का शब्द हैं, फारसी व्याकरण से हिन्दी हो गया। जैसे 'साइकल' अंगरेजी का शब्द है, यदि हम 'साइकिल' कहें तो हिन्दी हो गया। 'कुली' तुर्की भाषा का शब्द है, कुली के माने हैं—गुलाम, दास। तो इतने शब्द आ गए हमारे यहाँ अरबी-फारसी के कि हम यह नहीं कह सकते कि हम उर्दू की परवाह नहीं करते। अगर हम 'अभियोग' कहें, 'अभियोग चल रहा है कहें' तो उर्दू वाले कहेंगे बहुत सकील हिन्दी बोलते हैं, जनाब, हम समझते नहीं। वे मुकदमा कहेंगे। मुकदमे के दो अर्थ होते हैं। 'मुकदमे' का एक अर्थ है मुकदम। "साहब हमारे गाँव में मुकदम है"—'मुकदम' माने हैं आगे कदम रखनेवाला। किताब की जो भूमिका लिखी जाती है उसका नाम भी 'मुकदमा' है। लिखते हैं—"गालिब ने हाज़ी का 'मुकदमा' बहुत अच्छा लिखा है। हमारे यहाँ इतने शब्दों का इस्ते-माल हो रहा है, लेकिन उनके यहाँ नहीं हो रहा है। 'कमीज़' शब्द तुर्की का है, कमीज़ नहीं है, 'कमीस' है। उनकी चीजों को हमने ढेरों ले लिया है हमारी चीजों को वे नहीं लेते। एकाध शब्द लेते हैं तो बड़े विकृत रूप में लेते हैं।

दूसरी बात यह जो है कि हम ब्रजभाषा को, अवधी को, पाठ्यक्रम में नहीं रखें, इससे मैं सहमत हूँ। जहाँ तक राष्ट्रीय शिक्षा का सम्बन्ध है वहाँ तो हमें राष्ट्रभाषा पढ़ानी पड़ेगी। ब्रजभाषा हम लोग भूल गए हैं। हम लोग ब्रज के रहनेवाले हैं लेकिन हममें से कितने ब्रजभाषा बोलते हैं। ब्रज में अब देखिए—ब्रज के कवि दिनोंदिन कम होते जा रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रजभाषा में जो पुराने महान् कवि हो गए हैं उनकी कविता को हम न पढ़ें। अगर उनकी दो-चार कविताएँ हमारे पाठ्यक्रम में रखी जाती हैं और उनके शब्द भी दे दिये जाते हैं तो कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन यह केवल उनके लिए हो जो साहित्य भी पढ़ना चाहते हैं। जो लोग साहित्य पढ़ना चाहें वे पढ़ें, तुलसीदास को पढ़ें, और इनमें जो विशेषता प्राप्त करना

चाहें वे करें, एम० ए० में पढ़ें, बी० ए० में पढ़ें। लेकिन सर्व-साधारण को हम ब्रजभाषा या भोजपुरी या अवधी, जो अब केवल थोड़े-से लोगों की बोलियाँ हैं, पढ़ने के लिए कैसे कह सकते हैं।

हिन्दी खड़ीबोली का जो रूप है वही हमें मानना पड़ेगा। ब्रजभाषा अब बोली रह गई है। उसमें साहित्य का निर्माण नहीं हो रहा है। गद्य तो कोई लिखता नहीं और पद्य भी अब कम है। मैं इस बात से बिलकुल सहमत हूँ कि जो साहित्य पढ़ना चाहें वे ब्रजभाषा और सब उपभाषाओं का अध्ययन करें और जो केवल भाषा जानना चाहें उनके लिए राष्ट्रभाषा का ही रूप होना चाहिए।

हिन्दी के साथ थोड़ी-सी उर्दू भी हमें जानने की जरूरत है जिससे कि हम उर्दू के शब्दों का ठीक-ठीक इस्तेमाल कर सकें। जब हम शब्दों का प्रयोग करते हैं तो साहित्य का थोड़ा-बहुत ज्ञान भी होना चाहिए। इस विषय में मेरा तो दो शब्दों में यही मत है कि हमको सारे देश में राष्ट्रभाषा का प्रचार करना है तो कोर्स में तुलसी और सूर की दो-चार कविताएँ भी अवश्य रख लेनी चाहिए। सूर में, तुलसी में, भगवान राम में, कृष्ण में सबकी श्रद्धा है। जो उनको विशेष रूप से जानना चाहें वे अपने कोर्स में उनको विशेष रूप से पढ़ें और विशेष रूप से इस विषय का अध्ययन करें और उसका ज्ञान प्राप्त करें और जो साधारण हैं, हाई स्कूल के, इण्टर के लड़के हैं उनके कोर्स में ब्रज के दो-चार पद आ जाएँ, क्योंकि ब्रजभाषा से हिन्दी निकली हुई मानी जाती है।

तो भाषा सीखनेवालों को केवल खड़ीबोली सिखलाएँ और सूर-तुलसी के दो-चार पद रहें तो अच्छा ही है, साहित्य पढ़नेवालों के लिए ब्रज और अवधी आदि भी रहें। उर्दू भी कुछ आनी चाहिए और उर्दू शब्दों का सही इस्तेमाल होना चाहिए।

• •

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

बहुत साधारण-सी बात है कि जब हम हिन्दी पढ़ने चलते हैं तो हम वही हिन्दी सिखाएँगे जिसको आज हम लिखते हैं, पढ़ते हैं, बोलते हैं। इसमें वाद-विवाद का कौन-सा प्रश्न है! परन्तु विषय का दूसरा पक्ष भी है, याने केवल वही हिन्दी पर्याप्त नहीं है जिसमें आज हम अपना काम चलाते हैं, जिसमें बात करते हैं या जिसे लिखने में, भाषणों में, आपस की बोल-चाल में प्रयुक्त करते हैं।

मैं इस प्रश्न को एक-दूसरे रूप में देख रहा हूँ। 'अहिन्दी क्षेत्रों के हिन्दी पाठ्यक्रम में' यह अहिन्दी-क्षेत्र क्या हैं? ऐसा मालूम होता है कि एक हिन्दी-क्षेत्र है, दूसरा अहिन्दी क्षेत्र। और जो अहिन्दी-क्षेत्र है उसको भी हिन्दी-क्षेत्र बनाना है, उसी रूप में जैसे कि एक हिन्दी-क्षेत्र बन चुका है। क्या हम दूसरे क्षेत्र को, जिसको हम अभी तक अहिन्दी-क्षेत्र कहते हैं, हिन्दी-क्षेत्र बना सकते हैं? मुझे तो यह प्रश्न इसी रूप में दिखाई पड़ रहा है और यदि हम उसे हिन्दी-क्षेत्र बना सकते हैं तो उसके लिए अच्छे-से-अच्छा साधन क्या है? क्या हम हिन्दी के केवल एक रूप को लेकर चलें अथवा हिन्दी के अनेक रूप, जिनको हमने अभी तक अंगीकार किया था, उनको लेकर चलें? यही प्रश्न है जिसको हम भाषा-विज्ञान में 'स्पीच कम्यूनिटी' कहते हैं। हिन्दी भाषा-भाषी जन-समुदाय, इसी जन-समुदाय का हम विस्तार करना चाहते हैं, के विस्तार के लिए हमें कौन-सा साधन अपनाना चाहिए? हिन्दी के एक रूप अथवा हिन्दी के अनेक रूप—ये अनेक रूप बने कैसे?

मुझे अपनी याद है कि मैं पढ़ रहा था। छः वर्ष की अवस्था होगी। १९११-१२ की बात होगी। मैं गाँव में पढ़ रहा था, हिन्दी की दूसरी या तीसरी की पुस्तक रही होगी। एक बहुरूपिया आया, सूट-बूट-टाई पहने था, साहबी पोशाक में। आते ही उसने मुझसे कुछ प्रश्न किये—क्या पढ़ रहे हैं आप? आपका क्या नाम है? मैं घबरा-सा गया कि वह कौन-सी भाषा बोल रहा है। हालाँकि मैं हिन्दी की पुस्तक प्रारम्भ कर चुका था। मैंने क्या उत्तर दिया याद नहीं है। जब वह चला गया तब मुझे शान्ति मिली। गाँव के जो लोग वहाँ आकर इकट्ठा हो गए थे उन्होंने कहा, वह बहुरूपिया था और उर्दू बोल रहा था। मैंने भी समझा ठीक है, यह भाषा हमारे गाँव में उर्दू समझी जाती थी।

मैं जो पढ़ रहा था उसके विषय में मुझे कुछ ज्ञान नहीं था। कुछ वर्ष पीछे की बात है। पिताजी आए थे। गाँव में उन्होंने मेरे शिक्षक को बुलाकर कहा। मैं चाहता हूँ, भाषा की ओर, हिसाब की ओर और अंगरेजी की ओर विशेष ध्यान दिया जाए, जिससे भाषा का और हिसाब का और अंगरेजी का अच्छा अध्ययन होना चाहिए। मुझे याद है कि भाषा शब्द का प्रयोग किया था उन्होंने। तब मुझे मालूम हुआ कि मैं भाषा पढ़ रहा हूँ। तीन-चार वर्षों के बाद मैं शहर में आया और उसी समय दो पुस्तकें मेरे सामने आईं—'भाषा-भास्कर' और दूसरी 'भाषा-चन्द्रिका' (व्याकरण)। तब मैंने दृढ़ता के साथ समझा कि मैं भाषा पढ़ रहा हूँ। मैं जब १९१६ में स्कूल में पढ़ने आया तब बुद्धि कुछ और विकसित हुई थी। मुझे बतलाया गया कि ये भाषा की पुस्तकें नहीं वर्नाकूलर की पुस्तकें हैं। दो तरह के क्लास होते थे। एक क्लास को वर्नाकूलर का क्लास कहा जाता था और दूसरा जो था वह क्लासिक्स का क्लास कहलाता था। उसमें हम दो वर्गों में विभाजित हो जाते थे। हमारे कई-एक मुसलमान साथी थे, वे फारसी पढ़ते चले जाते थे। उसको भी क्लासिक्स कहते थे।

और मैं समझता हूँ कि अब केवल एक विश्वविद्यालय नहीं, सभी विश्वविद्यालयों में इसी नाम को अपनाया गया है। 'मॉडर्न इंडियन लैंग्वेज' शब्द से हिन्दी और हिन्दीतर सभी भाषाओं को अभिहित करते हैं। तो यह जो धरातल बदलता गया, नाम बदलते गए उसके पीछे मुझे मालूम होता है हमारी भाषाएँ भी बदलती गईं। इस ओर आपका ध्यान आकर्षित करने जा रहा था कि किस प्रकार यह हिन्दी भाषा की भावना समय-समय पर बदलती गई है।

ऑफिशियल लैंग्वेज कमीशन की रिपोर्ट में सुनीति बाबू ने यही बतलाया कि भोजपुरी, मैथिली, अवधी या ब्रज-भाषा सब स्वतन्त्र भाषाएँ हैं, सब स्वतन्त्र हैं। फिर भी ये हिन्दी के अन्तर्गत आ गईं। प्रश्न है कि—कैसे आ गईं ? मैं बराबर समझता हूँ कि मैं हिन्दी भाषा-भाषी हूँ, मैं यह भी समझता हूँ कि हिन्दी मेरी मातृभाषा है, लेकिन मैं यह कैसे समझने लगा ! क्योंकि मेरी माँ तो हिन्दी भाषा नहीं बोल सकतीं। मातृभाषा तो वह है जिसे हम अपनी माँ के दूध के साथ पियें। ऐसी भाषा मेरे लिए हिन्दी नहीं है। हिन्दी तो बहुत बाद में सीखना शुरू किया था। भोजपुरी वह भाषा है जिसको मैं मातृभाषा कह सकता हूँ। उस अर्थ में तो मैं, जिसकी मातृभाषा भोजपुरी है, इस अवस्था पर कैसे पहुँचा कि वह हिन्दी को भी मातृभाषा समझने लगा। शिक्षा के द्वारा यह मेरे लिए अर्जित भाषा है, मेरे लिए एक शिष्ट भाषा है। हिन्दी इसी रूप में अपनाई गई। एक अर्जित भाषा के रूप में ब्रजवालों ने हिन्दी को इसी रूप में अपनाया।

सत्यनारायणजी के सम्बन्ध में मैंने सुना है कि जब वे 'ब्रजभाषा का विलाप' नामक कविता सुनाते थे तो सुननेवाले रो पड़ते थे। ब्रजभाषा रोती थी कि मुझे निकाला जा रहा है। फिर भी ब्रजभाषा को निकाला नहीं गया, वह खड़ीबोली के साथ चलती रही। परन्तु आज निकाला जा रहा है, और अब तो खुल करके निकाला जाए, यही प्रस्ताव करने हम आए हैं। मैं देखता हूँ कि सारे विषय के पीछे दो दृष्टियाँ हैं। एक तो वह दृष्टि जिसको मैं कहूँगा कि यूरोपीय दृष्टि और दूसरी दृष्टि वह है जिसको मैं कहूँगा भारतीय दृष्टि। आज दुर्भाग्य से हम किसी विषय पर विचार करते हैं तो यूरोपीय दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ कर देते हैं। मैं कुछ वर्ष पहले जब इंगलैण्ड और हालैण्ड गया था, वेल्स भी गया था। वहाँ देखा कि अंगरेजी के प्रतिकूल भावना है। वे अपनी शैली अंगरेजी पर आरोपित करना चाहते हैं, वे अपनी भाषा का प्रचार करना चाहते हैं। परन्तु एक दृष्टि है जो वेल्स और स्काच को अपने पास फटकने नहीं देते। वहाँ भी इस ढंग से ब्रिटिश कौन्सिल की स्थापना करके अंगरेजी भाषा का प्रचार किया है, जिससे दुर्भाव नहीं रहने पाए और अंगरेजी का, बिना किसी रुका-वट के निर्विघ्न रूप में प्रचार हो जाए; और प्रचार हो भी गया। कुछ क्षेत्रों में नहीं हो सका, आयरलैण्ड में नहीं हो सका। उन्होंने स्वतन्त्र होने पर उस क्षेत्रीय भाषा को काफी प्रश्रय दिया है और उसके विकास के लिए काफी कुछ किया भी है। तो एक दृष्टि यह कि विरोध को दबा दिया जाए। फिर भी दबाने पर भी विरोध रह जाता है। एक है—समन्वित दृष्टि और दूसरी अनन्वित दृष्टि। क्या हम समन्वित ढंग से भाषा का अध्ययन-अध्यापन करें अथवा अनन्वित रूप से करें। समन्वित रूप से क्या मतलब ?

समन्वित रूप से यह मतलब है कि हम सब को एक साथ लेकर चलें। मैं उस भोजपुरी प्रदेश का निवासी हूँ, जिसकी मातृभाषा हिन्दी नहीं, भोजपुरी है। इस समन्वित दृष्टि से यह समझने लगा हूँ कि हिन्दी का प्रयोग करता हूँ, इसके लिए मुझे अभिमान है और मैं चाहता हूँ कि हिन्दी का प्रचार हो।

हिन्दी नाम के पीछे अनेक भाषाएँ हैं। शायद ग्रियर्सन के पहले खुलकर और परम्परा के रूप में किसी ने अवधी शब्द का प्रयोग नहीं किया, उसके बाद मैथिली शब्द का प्रयोग भी हुआ। नए-नए शब्द हमारे सामने आने लगे। जब-जब जैसी-जैसी भावना रही, उस तरह के शब्द भी पैदा हो गए। तो अवधी शब्द नहीं, केवल भाषा शब्द का प्रयोग हुआ। यहाँ तक कि असम में शंकरदेवजी ने जो लिखा है वह भी ब्रजभाषा है—ब्रजबुली। इस भाषा शब्द को कुछ लोग अच्छी दृष्टि से देखते हैं और कुछ बुरी दृष्टि से। तुलसीदासजी ने भाषा के सम्बन्ध में कहा है, किन्तु कहीं अवधी शब्द का प्रयोग नहीं किया। तुलसीदास ने जगह-जगह भाषा का प्रयोग किया है और क्षमायाचना भी की है कि मैं भाषा में लिख रहा हूँ। उन्होंने संस्कृत श्लोकों को भी लिखा है। जिससे कोई यह न कहे कि उन्होंने संस्कृत का विरोध किया है। केशवदासजी ने तो यहाँ तक कहा है :

भाषा बोल न जानहिं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भय मन्दमति, तह कुल केशवदास॥

जायसी ने भाषा शब्द का प्रयोग किया है। रहीम ने हिन्दी का प्रयोग किया है। मुसलमान, जो खड़ीबोली का प्रयोग करते थे, उसी को हिन्दी कहते थे। पीछे चलकर भाषा के साथ हिन्दी को हम लोगों ने जोड़ दिया। इसके पहले भाषा को बिलकुल अलग समझते थे। ब्रजभाषा को भी बंगाल में, असम में लोग समझते थे। याने स्थानीय भाषा को ऐसा रूप देना, जिससे उस भाषा-क्षेत्र के बाहर के लोग भी उसे समझ सकें, याने बाहरी रूपों को भी उसके अन्दर रखकर खपाते जाना। यह तो भाषा है; और उसे निर्विकार रूप देना, यह है अनन्वित रूप। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इंशा अल्लाखाँ ने पहले-पहल अनन्वित रूप का व्यवहार किया था। याने केवल हिन्दी भाषा रहे, और भाषा का उसके अन्दर पुट न हो, केवल हिन्दी का पुट हो, यह उसकी शैली थी।

जब से पाठ-शोध की परम्परा चली, उसमें यह प्रवृत्ति हुई कि बाहर के जितने प्रयोग हैं उन्हें निकाल देते हैं और कहते हैं कि यह शुद्ध पाठ है। बात यह उचित नहीं है। आप किसी भी प्राचीन-ग्रन्थ को दिखाइए जिसमें शुद्ध निखारित किसी स्थानीय बोली का प्रयोग हुआ हो। जायसी की भाषा में भी अवधी के क्षेत्र के बाहर के रूपों का प्रयोग है। केवल शब्द नहीं व्याकरणिक रूपों का प्रयोग है। तुलसीदास की भाषा में तो है ही। सूरदास की भाषा में भी है। कहीं भी किसी ने यह परहेज़ नहीं किया कि बाहर की भाषाओं को हम भीतर न लें। यह समन्वित रूप है। तो प्रश्न यह है कि हम समन्वित दृष्टि को लेकर चलें या अनन्वित दृष्टि को। यह व्यावहारिक सुविधा-असुविधा की बात है। इधर की भाषाओं को समन्वित रूप में लेकर हिन्दी के अन्तर्गत रख दिया है, किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में देखिए ब्रज, अवधी आदि भाषाओं को उसके अन्दर समन्वित कर दिया गया है। क्या दक्षिण में भाषा के साथ भी हम इसी नीति से काम ले सकते हैं? दक्षिण में यदि हमें हिन्दी का प्रचार करना है तो क्या हम अनन्वित रूप से काम लें अथवा समन्वित रूप से ? इस सम्बन्ध में मेरे कुछ निश्चित विचार हैं।

हिन्दी का पाठ्यक्रम, जो दक्षिण में चले, उसके अन्तर्गत एक प्रश्न-पत्र तो हिन्दी का हो, जिसमें आप चाहें तो बिलकुल खड़ीबोली का प्रयोग करें और हिन्दी के अन्तर्गत ही जिस क्षेत्र में हिन्दी पढ़ाई जाए वहाँ की भाषा को भी रखें। आप चाहें तो उसके लिए एक अलग प्रश्न-पत्र उसके अन्तर्गत भी रखें। परन्तु इसको अलग न समझें। तीसरा प्रश्न-पत्र जिसमें उस भाषा से हिन्दी में अनुवाद और हिन्दी से उस भाषा में अनुवाद, कुछ पत्र-लेखन आदि भी रखें, जिसको हम कम्पोजीशन कहते हैं। इस ढंग से सभी भाषाओं को समन्वित रूप में लेकर चलें। हमें सेतुओं का निर्माण करना है। हमें जो 'स्पीच-कम्यूनिटी' है उसका विस्तार करना है।

'स्पीच-कम्यूनिटी' की भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दो-तीन कसौटियाँ हैं। पहली बात है कि पारस्परिक सुबोधता

होनी चाहिए । जिस भाषा में जिस-जिस 'स्पीच-कम्यूनिटी' का विस्तार करना चाहते हैं उस भाषा के साथ दोनों में पारस्परिक सुबोधता होनी चाहिए । पारस्परिक सुबोधता, मैं समझता हूँ, भोजपुरी, ब्रजभाषा और हिन्दी के साथ हो चुकी है । इसमें कोई कठिनाई नहीं है । दक्षिणी भाषाओं के साथ ऐसी सुबोधता नहीं हो सकी है । यह केवल एक कसौटी है । दूसरी कसौटी है शब्दों की समरूपता, एक-रूपता नहीं, समरूपता । तीसरी कसौटी है—व्याकरण की समरूपता, एकरूपता नहीं ।

जहाँ तक दक्षिण की भाषाओं का प्रश्न है, हम देखते हैं कि शब्दावली की बहुत-कुछ समरूपता है, जिसको 'मारफ़ोलोजी' कहते हैं । व्याकरणिक रूपों में तो समरूपता अधिक नहीं है, परन्तु वाक्य-विन्यास में एकरूपता है । व्याकरण के कुछ हिस्सों में समरूपता है । उसके आधार पर व्याकरण की समरूपता का विकास हम किस प्रकार कर सकते हैं, यह विचारणीय विषय है । शब्दों की सम-रूपता, व्याकरण की समरूपता और पारस्परिक समरूपता । चौथी बात भी है—सबसे अधिक शक्तिशाली, जादू का-सा असर पैदा करनेवाली बात है, रुचि की समरूपता । 'ईस्थ-टिक सेन्स' में विश्वजनीन सौन्दर्य की भावना एक हो, एक हो रचनात्मक प्रवृत्ति, एक ईस्थटिक सेन्स हो । भारत के लोग भी अब इंगलिश स्पीच-कम्यूनिटी में आते हैं । हमारी भाषा और उनकी भाषा में कोई तुलना नहीं है । मगर हम में जो अंगरेज़ी समझनेवाले हैं, अंगरेज़ी में बोलनेवाले हैं, अंगरेज़ी ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले हैं वे इंगलिश 'स्पीच-कम्यूनिटी' के अन्तर्गत समझे जाते हैं । हिन्दी 'स्पीच-कम्यूनिटी' नाम की अगर कोई चीज है तो कैसे हम उसको एक कर सकते हैं ? मैं देखता हूँ कि हिन्दी के जो सर्वश्रेष्ठ कवि गिने जाते हैं, 'दिनकरजी' का दृष्टान्त ले लें, वे मैथिली भाषा-भाषी हैं । अब यह कैसे कहेंगे कि मैथिली भाषा-भाषी हिन्दी 'स्पीच-कम्यूनिटी' के अन्तर्गत नहीं आते हैं, जबकि बेनीपुरी-जैसे गद्य-लेखक और दिनकर-जैसे कवि हिन्दी में रचना करते हैं, हिन्दी में उच्च स्थान उन्होंने अपने लिए निर्धारित कर लिया है । इसी तरह दक्षिण के अच्छे लेखक हिन्दी में प्रणयन करने लगे हैं । यह बात दूसरी है कि आज उनकी संख्या कम है, लेकिन यह संख्या बढ़ती ही जाएगी ।

रचनात्मक प्रतिभा की विवेचना करने पर पाया जाएगा कि हिन्दी साहित्य का निर्माण उन लोगों ने किया जिनकी भाषा भोजपुरी थी, जैसे प्रसाद, प्रेमचन्द । जिसको हम हिन्दी-क्षेत्र कहते हैं, पश्चिमी हिन्दी का क्षेत्र उसके बाहर पूर्वी हिन्दी के क्षेत्रवालों ने हिन्दी का निर्माण किया । दक्षिण भारत के लोग भी हिन्दी का निर्माण करने लगे हैं, तब हम उन्हें हिन्दी-क्षेत्र से बाहर कैसे मान सकते हैं । अब तो वे भी हिन्दी-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं । तो समन्वित रूप से ब्रज और अवधी भाषा का साहित्य भी उनके सामने, यदि आगे चलकर बी० ए० की क्लास में, हम रखें तो मैं समझता हूँ कि कोई कठिनाई नहीं होगी ।

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोई ।
जा तन की झांई पड़े श्याम हरित द्युति होई ॥

इसमें 'जा' और 'होई' ब्रजभाषा के शब्द हैं । इनके कारण उसको वे नहीं समझ सकें—ऐसी धारणा मेरी नहीं है ।

इसी तरह की जो.शैली है याने जो क्षेत्रीय भाषाएँ हैं उनको भी हम सम्मिलित कर सकते हैं और इसके पहले भी समन्वित दृष्टि लेकर चलें । जो क्षेत्रीय भाषाएँ हैं, उनको हिन्दी के साथ समन्वित करते चलें और हिन्दी का जो विकसित रूप बने, उसको स्वीकार करने के लिए हम तैयार रहें ।

● ●

प्रो० हरिदत्त दुबे

कुछ लोग इस प्रश्न को केवल अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों के लिए नहीं हिन्दी-भाषी-क्षेत्रों के लिए भी विचारणीय मानते हैं । इसलिए यह विवेचन हिन्दी-शिक्षण के लिए सामान्य-सा बना दिया गया है ।

अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रचार का बोध-पूर्ण यत्न अंगरेज़ी के स्थान पर हिन्दी को बैठालने की आवश्य-कता में से उत्पन्न हुआ है । इस आवश्यकता के औचित्य-अनौचित्य पर भी यदा-कदा, यत्र-तत्र कुछ लोग कुछ कह

बैठते हैं, किन्तु यह विवेचन यहाँ के लिए प्रासंगिक नहीं है। यदि सर्व-सम्मति से नहीं तो प्रायः सर्व-सम्मति से हिन्दी ही अंगरेज़ी का स्थान लेने योग्य मानी गई। इसलिए शासन ने एक निश्चित अवधि के भीतर उसे अंगरेज़ी के स्थान में बैठालने का संकल्प किया। इस संकल्प की पूर्ति हिन्दी-भाषी क्षेत्र में ही यत्नापेक्ष थी, अहिन्दी भाषी-क्षेत्र में यत्न की आवश्यकता निर्विवाद है। दोनों ही क्षेत्रों में यह यत्न चला और उससे सम्बन्ध रखनेवाली कठिनाइयों ने जन्म लिया। शासन के इस यत्न से पहले भी हिन्दी-प्रचार का कार्य न्यूनाधिक मात्रा में सारे देश में चल रहा था और उसे सफलता मिल रही थी। किन्तु हिन्दी को अंगरेज़ी के स्थान में बैठालने के लिए शासन के संकल्प ने स्थिति बदल दी। पहले जो कार्य हो रहा था, वह कार्य अब भी चल रहा है—वह था विशुद्ध देश-कल्याण से प्रेरित, दोनों ओर, प्रचारकों के हृदय में और हिन्दी-प्रेमी अहिन्दी-भाषियों के हृदय में यही भावना थी। शासन संचालित कार्य ऐसा नहीं होता। फिर शासन द्वारा प्रदत्त हिन्दी की मान्यता ने अनेक भय भी उत्पन्न कर दिये, जिससे वह पवित्र देश-कल्याण-भावना अब यत्र-तत्र विफल दिखने लगी है। प्रस्तुत विवेच्य समस्या कुछ सीमा तक इसी स्थिति का परिणाम है।

इस देश में अनेक भाषाएँ हैं और उनका स्वतन्त्र साहित्य है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि इन भाषाओं के क्षेत्रों में एक भौगोलिक देश के भाग होने पर भी परस्पर अस्पृष्ट रहने की प्रवृत्ति पनपे। यदि इस प्रवृत्ति के कुछ सबल विरोधी न होते, तो सचमुच यह पनपती। वैसे इस प्रवृत्ति के अस्तित्व में तो सन्देह नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीयता के अनेक आधार हैं। भाषा उनमें से एक है और यह बड़ा सबल आधार है। अंगरेज़ी ने इस दृष्टि से इस देश की बड़ी सेवा की। यह कहना कि अंगरेज़ी बहुत थोड़े लोग जानते हैं, इस तथ्य का विरोधी नहीं। कुछ लोग ही तो जाति का बौद्धिक नेतृत्व करते हैं। अब अंगरेज़ी के रहने पर यही काम हिन्दी को करना पड़ेगा।

यहीं पर हमारी समस्या का जन्म होता है। शासन प्रायः न्यूनतम से तृप्त हो जाता है। सच पूछिए तो यही कदाचित् उसके लिए सम्भव है। शासन को अंगरेज़ी के स्थान पर अपने शासनिक कार्यों, न्यायादिक आदि के लिए एक भाषा मिल जाए तो उसका कार्य चलता है। किन्तु भाषा तो साधन-मात्र है। उसे साहित्य के माध्यम से ही सीखा जा सकता है। इसलिए हिन्दी के शासन-भाषा-रूप समर्थकों ने कहना आरम्भ किया कि इस कार्य के लिए हिन्दी का केवल खड़ीबोली रूप ही पर्याप्त है। उसे सीखने के लिए हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के साहित्य के अध्ययन की क्या आवश्यकता है?

यह सारी तर्क-प्रणाली दूषित है। मैं राष्ट्रीयता के आधारों का ऊपर संकेत कर चुका हूँ। आजकल जिस भावात्मक भावना की चर्चा की जा रही है वह उन आधारों का पिण्डित प्रतिफलन ही तो है। भाषा के प्रश्न को भी हमें इस भावात्मक ऐक्य-भावना के माध्यमत्व रूप में देखना चाहिए। अंगरेज़ी ने इस देश में ऐसा माध्यम दिया जिसके द्वारा हम लोग, मेरा अभिप्राय है, अंगरेज़ी शिक्षा-प्राप्त लोग, एक-दूसरे के निकट आये और देश में एक नये प्रकार की एकता उत्पन्न हुई। किन्तु अंगरेज़ी हमारे लिए भावात्मक एकता का साधन नहीं हो सकती। उदाहरण लेकर देख लीजिए। अनेक भारतीय इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि अन्य देशों में रहते हैं और तद्देशीय भाषाओं का उपयोग करते हैं। अनेक विदेशी भारत में हैं और यहाँ की भावनाओं का उपयोग करते हैं, किन्तु इतने से भावात्मक ऐक्य-भावना उत्पन्न नहीं हो जाती। यह काम देशी भाषा के द्वारा ही हो सकता है। सो हिन्दी को केवल राष्ट्रभाषा ही नहीं होना है, उसे एक राष्ट्र-साहित्य भी देना है। भावात्मक ऐक्य भाषा पर नहीं, साहित्य पर स्थापित किया जा सकता है।

हमारे आदर्श, महत्वाकांक्षाएँ और संकल्प साहित्य में निहित रहते हैं, इसलिए हम भाषा के प्रश्न पर विचार करते समय साहित्य से विरक्त नहीं हो सकते, और क्योंकि वर्तमान की जड़ें अतीत में रहती हैं इसलिए हम किसी साहित्य के केवल वर्तमान रूप से तृप्त नहीं हो सकते। खड़ीबोली के साहित्य की जड़ें कहाँ हैं? ब्रजभाषा और अवधी को खड़ीबोली से भिन्न कहकर उनके साहित्य को हिन्दी के विद्यार्थी के लिए अध्ययन-विषय न मानना भ्रान्त है। पहिले तो इनमें भेद ही कितना? इनमें इतना रूप-

भेद है कि इनमें से किसी एक के विद्यार्थी के लिए ये सब अत्यन्त अल्प यत्न से सुलभ हैं। यदि ऐसे भेदकों से हम डरें तो फिर कुछ पढ़ें ही न। एक समर्थ लेखक की शैली दूसरे समर्थ लेखक की शैली से भिन्न होती है और कभी-कभी दुरूह। पर क्या केवल इतने के कारण हम इन लेखकों को पढ़ते नहीं? फिर यह तो सोचिए, रामचरितमानस-जैसा ग्रन्थ क्या केवल इसलिए पठनीय नहीं कि वह खड़ीबोली में नहीं है? लाखों अहिन्दी-भाषी केवल इस ग्रन्थ को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखते हैं। छोड़िए औरों को। गांधीजी ने हिन्दी या हिन्दुस्तानी का प्रचार राजनीतिक आवश्यकता-वश किया था। किन्तु रामचरितमानस के भक्त वे किस लिए थे? गांधीजी को तो हम अन्धश्रद्धालु नहीं कहेंगे। जिस ग्रन्थ से उस महात्मा को शान्ति मिलती थी, उससे हम अपने-आपको वंचित रखें? यह होगा आत्म-प्रतारण, आत्म-दंडन।

अभी मैंने राष्ट्र-साहित्य की बात आपसे कही थी। मैं देश की सभी भाषाओं और उनके साहित्य के प्रति नतमस्तक हूँ। किन्तु हममें से सब इन सभी भाषाओं को तो नहीं पढ़ सकते, एक को ही पढ़ सकते हैं। इधर हिन्दी सबके लिए अनिवार्य तथा स्वीकृत है। तब हम अत्यन्त साधारण बाधाओं के डर से उसके समस्त उत्तम भाग को लेने से क्यों पीछे हटें? राम-कथा सभी भाषाओं में है। तुलसीदास के समर्थ कृतित्व से वह समर्थतर ही होगी। गीत सर्वत्र है, पर क्या इन भाषाओं का गीति-धन सूरदास, मीरा, कबीर आदि की सहायता से सम्पन्न न हो जाएगा? कबीर आदि का सौन्दर्य जब रवीन्द्रनाथ को मोहित कर सका, तो हम साधारण-सी कठिनता के बहाने अपने-आपको उससे वंचित रखना चाहते हैं! इसे क्या कहा जाए? मुझे स्व० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का कथन स्मरण आ रहा है। वे कहते थे कि मैंने प्रायः सभी भारतीय भाषाओं का गीति-साहित्य देखा, पर संगीत की आवश्यकताओं को सूरदास के ही गीत पूरा करते हैं। सूर, मीरा आदि अपने क्षेत्र के बाहर अपनी गुण-गरिमा के आधार पर ही लोकप्रिय हुए हैं।

जीवन केवल शासन नहीं है। उसे प्राणों का अजस्र स्रोत चाहिए, अमर उत्साह चाहिए, धर्म आदि की कोमल भावनाएँ चाहिए। खड़ीबोली के साहित्य में ये हैं, किन्तु इनका जो रूप ब्रजभाषा और अवधी में है वह दिव्य है। उसे देशवासियों तक पहुँचने दीजिए। एक ओर जहाँ यह करोड़ों अहिन्दी-भाषी भारतीयों के हृदयों को अलौकिक सुख-शान्ति से भरेगा, वहाँ दूसरी ओर देश में भावात्मक ऐक्य भावना को जन्म देकर राष्ट्र-साहित्य की दृढ़ नींव भी डालेगा।

●

श्री भालचन्द्र आपटे

संविधान के अनुच्छेद ३५१ में भाषा के रूप और विकास के सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है: हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।

हिन्दी भाषा के इसी रूप को अपनी दृष्टि के सामने रखकर उसके साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध में विचार करना समीचीन होगा।

अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों में हिन्दी के अध्यापन के लिए पाठ्यक्रम में ऐसे साहित्य को प्रधानतः स्थान मिलना चाहिए जिसमें भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति के लिए सहायता मिल सके। ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि समृद्ध भाषाओं में भारत की सांस्कृतिक एकता के पोषण के लिए पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। चन्द, तुलसी, सूर, मीरा, कबीर, रहीम, मैथिल कवि विद्यापति सभी के साहित्यों से विचार और भावना की जो धाराएँ बही हैं उन्हीं के दर्शन भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में होते हैं। तमिल-भाषी अंडाल को

मीरा में, तेलुगु-भाषी पोतना को तुलसीदास में और बंगाली चैतन्य प्रभु को सूरदास में या विद्यापति में हम पा सकेंगे।

यही नहीं भारत एक जाति-धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है। धर्म-भेद, जाति-भेद भाषा-भेद और स्त्री-पुरुष-भेद को भूलकर एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण का लक्ष्य हमारे सामने है। इस परिस्थिति में पाठ्यक्रम में ऐसे साहित्य का होना अत्यन्त आवश्यक हैं जो राष्ट्रीय एकता की साधना में उपयोगी हो। फिर कबीर, रहीम, जायसी, रसखान वगैरह की हम किस प्रकार उपेक्षा कर सकेंगे ?

जिस द्राविड़ी भक्ति को रामानन्द इतने मनोयोग के साथ दक्षिण से लाये और जो नौखण्ड में व्याप्त हुई उसकी परम्परा को सजीव करके सामाजिक संस्कृति के विकास में हाथ बँटाना क्या हमारा कर्तव्य नहीं है ?

हाँ, मैं यह नहीं समझता कि हिन्दी की इन विभाषाओं (उपभाषाओं) के हर प्रकार के साहित्य को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। हमारे लक्ष्य की सिद्धि में जो उपयोगी साहित्य है उसी को चुनकर पढ़ाया जाए। इस सिलसिले में मैं तुलसी की रामायण को अग्रस्थान देना उचित समझूँगा। भारतीय संस्कृति का इतना सुन्दर रूप, इतनी सरल भाषा में और इतनी सरल रीति से अन्यत्र दुर्लभ है। जिसने तुलसी को नहीं पढ़ा उसने हिन्दी ही नहीं पढ़ी, यही समझा जाएगा। दक्षिण के किसी हिन्दी अध्यापक ने अगर यह कहा कि उसने तुलसी का अध्ययन नहीं किया तो उसका आदर उसके सहयोगियों में और विद्यार्थियों में नहीं होगा।

हिन्दी साहित्य के अध्यापन में हमारा दृष्टिकोण अधिक विशाल होना चाहिए। जो भाषा सारे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा और राजभाषा के स्थान पर अधिष्ठित हो चुकी है उसका क्षेत्र हिन्दी के प्राचीन और आधुनिक लेखकों तक ही सीमित रखना उचित नहीं। अष्टम अनुसूची में चौदह भाषाओं का उल्लेख है, जिनमें एक हिन्दी भी है। हमारे संविधान के निर्माताओं का इसमें क्या उद्देश्य था, मैं नहीं कह सकता; किन्तु मैं यह मानता हूँ कि राजाभाषा या राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य में हिन्दी की प्राचीन और आधुनिक साहित्यिक रचनाओं के साथ, अष्टम अनुसूची की अन्य तेरहों भाषाओं के हिन्दी में अनुवादित सभी प्रामाणिक ग्रन्थ-रत्नों का समावेश अत्यावश्यक है। तभी अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा के एक अखिल भारतीय साहित्य का विकास होगा, जिसमें भारतीय राष्ट्र-पुरुष के दर्शन हो सकेंगे। इस सार्वदेशिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों के पाठ्यक्रम में होना उचित ही नहीं, अत्यावश्यक है। रवीन्द्र, शरत्चन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय के प्रामाणिक अनुवाद अथवा तमिल कवि भारती, तेलुगु कवि गुरजड अप्पाराव, और अन्य भाषाओं के खांडेकर, फडके, मुन्शी इत्यादि भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के लेखकों और कवियों की रचनाओं का पाठ्यक्रम में इस तरह समावेश होना चाहिए कि जिससे भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति अनायास हो सके।

हिन्दी की उपभाषाएँ आज जिनको माना जा रहा है वे वास्तव में समृद्ध भाषाएँ हैं। जो बोली थी वह आज भाषा में विकसित हो गई है और वह सिर्फ भाषा ही नहीं भारत की राजभाषा के स्थान पर विराजमान है। ब्रज, अवधी, मैथिली इत्यादि साहित्य-सम्पन्न भाषाओं को राज-भाषा की उपभाषाएँ कहना और उनके साहित्यों की उपेक्षा करना राजभाषा के हित में नहीं। ये तथाकथित उपभाषाएँ वास्तव में बहुत मँजी हुई भाषाएँ हैं। उनके शब्द, उनके मुहावरे और कहावतें हमारी राष्ट्रभाषा की श्रीवृद्धि में जितने उपयोगी सिद्ध होंगे उतने नवनिर्मित शब्द और मुहावरे हो सकेंगे या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। राजभाषा हिन्दी के स्वाभाविक विकास में इन तथाकथित विभाषाओं के साहित्य का अध्ययन सहायक होगा और संविधान के उपर्युक्त अनुच्छेद में उल्लिखित हिन्दी की आत्मीयता में हस्तक्षेप न करने के आदेश का पालन हो सकेगा।

अष्टम अनुसूची में जिन भाषाओं का उल्लेख है उनके रूप, शैली और पदावली को हिन्दी में आत्मसात करने और उसकी समृद्धि सुनिश्चित करने का आदेश भी संवि-धान ने दिया है। इस दृष्टि से भी राजभाषा हिन्दी के साहित्य को अखिल भारतीय साहित्य का रूप देना आव-श्यक है। प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य हिन्दी में लाना चाहिए। इस प्रयत्न में इन भाषाओं के शब्द, मुहावरे और पदावली हिन्दी भाषा के सर्व-सामान्य तत्वों के अनुसार

जब हिन्दी में आत्मसात हो जाएगी तब हिन्दी कितनी समृद्ध होगी ? अंगरेज़ी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द और मुहावरे आत्मसात कर लिये गए हैं, यहाँ तक कि भारत की अनेक भाषाओं के शब्द अंगरेज़ी में आ गए हैं—जैसे तमिल का 'पन्दल' 'पेण्डाल' हो गया और इसी कारण वह विश्व भाषा बनने का हौसला कर सकी। हिन्दी की श्रीवृद्धि में यही विशाल दृष्टिकोण हमारा भी होना चाहिए।

इस पृष्ठभूमि में उर्दू के साहित्य का अध्ययन भी अहिन्दी भाषियों के लिए आवश्यक हो जाता है। उर्दू अष्टम अनुसूची में एक मान्य भाषा है, केवल इसलिए कि वह हिन्दी की एक भगिनी भाषा है, इसलिए उसके बाहरी और विदेशी प्रभावों से मुक्त साहित्य को नागरी लिपि में लाकर अखिल भारतीय हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास के लिए प्रेरित करना हमारा कर्तव्य है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से और उसके शब्द, मुहावरे और व्याकरण सभी दृष्टियों से उर्दू हिन्दी के जितनी नज़दीक है उतनी भारत की कोई दूसरी भाषा नहीं। अगर मैं यह कहूँ कि हिन्दी की तथाकथित उपभाषाओं के समान उर्दू भी उसकी एक उपभाषा है तो वह अनुचित नहीं समझा जाएगा।

अन्त में मुझे इतना ही कहना है कि हिन्दी केवल राजभाषा नहीं है, वह राजनैतिक एकता की स्थापना का एक अनिवार्य और एकमात्र साधन है, उसका विकास और उसके साहित्य का अध्ययन इसी दृष्टि से होना चाहिए।

● ●

पं० जगन्नाथ तिवारी

मैं वर्नाक्यूलर फाइनल का विद्यार्थी था। उन दिनों वर्नाक्यूलर फाइनल ही उस परीक्षा का नाम था। हिन्दी उस समय भी पढ़ाई जाती थी, लेकिन जो हिन्दी पढ़ाई जाती थी वह यही खड़ीबोली पढ़ाई जाती थी। लिखने की भाषा उस समय भी खड़ीबोली थी। सभी उत्तर खड़ीबोली में लिखे जाते थे, प्रश्न खड़ीबोली में आते थे और उसके साथ-साथ व्रजभाषा और अवधी भी रहती थी।

व्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि सूरदास को तो कोई छोड़ नहीं सकता। अगर उनको हिन्दी साहित्य से निकाल देते हैं तो खड़ीबोली कहाँ रहेगी। इसको तो खड़े होने की भी जगह नहीं मिलेगी कहीं भी। इस समय भी इसका जो रूप हमारे सामने मौजूद है वह कृत्रिम है। इसके लिए एक भाषा शब्द का प्रयोग जबरदस्ती हम करने लग गए हैं। भाषा तो वह है जिसके बोलनेवाले बहुत हों और जिसका प्रयोग सबसे अधिक होता हो। खड़ीबोली का जो प्रयोग होने लगा है वह पढ़े-लिखे लोगों में होने लगा है। हिन्दी के क्षेत्र में या अहिन्दी-क्षेत्रों में भी, वे कितने प्रतिशत लोग हैं जो खड़ीबोली का प्रयोग कर रहे हैं; और जो रूप लिया जा रहा है वह रूप भी कौन-सा रूप है ? कृत्रिम रूप है, बनाया हुआ रूप है। उसके साहित्य के विषय में भी मैं यही मानता हूँ।

हमारी सरकार ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप दे दिया है और उसका अब बहुत प्रचार होगा, उसकी समृद्धि होगी, दक्षिणवालों को भी पढ़नी पड़ेगी। खड़ीबोली हम लोग भी शुरू से आज तक पढ़ते और पढ़ाते आए हैं। कॉलेज में भी हम खड़ीबोली में ही पढ़ाते हैं। खड़ीबोली में ही प्रश्न होते हैं, खड़ीबोली में ही उत्तर देते हैं, लड़के सब उसी में बोलते हैं। लेकिन उस खड़ीबोली के साथ-साथ अवधी और व्रजभाषा को भी पढ़ना है। बुन्देलखण्डी भी सीखनी है, क्योंकि केशव को तो छोड़ नहीं सकते। मैथिली भी थोड़ी-सी आ जाती है। अध्ययन सबका आवश्यक है। यह कहना कि व्रज-अवधी आदि हिन्दी से भिन्न हैं, इन भाषाओं के साथ ज्यादती है।

केवल खड़ीबोली का ही साहित्य पढ़ाएँगे तो बड़ी कठिनाई होगी। यह मेरा विगत ३२ वर्षों का हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का अनुभव है। खड़ीबोली के ऊपर, विशेषकर काव्य पर पाश्चात्यवादों का इतना अधिक प्रभाव है कि उसमें भारतीयता बहुत कम दिखलाई देती है। कलावाद, अभिव्यंजनावाद, कल्पनावाद, छायावाद और प्रतीकवाद आदि वादों से ये कविताएँ भरी हुई हैं। प्रसाद को आप ले लीजिए, निराला को ले लीजिए, पन्त को ले

लीजिए, महादेवी वर्मा को ले लीजिए, जो इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने गए हैं। अगर आप उनके साहित्य का अध्ययन करें, तो मैं नहीं समझता कि आपको तुलसी और सूर के साहित्य के अध्ययन से अधिक सरलता होगी, मेरा तो यही अनुभव है। मैं खड़ीबोली को भी पढ़ाता हूँ, ब्रजभाषा को भी पढ़ाता हूँ, अवधी भाषा को भी पढ़ाता हूँ। खड़ीबोली का साहित्य पढ़ाना ब्रज और अवधी के साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से कहीं कठिन है। आधुनिक कवियों में, पन्त में भी इतने 'वाद' आ गए हैं, कला, कल्पना, अभिव्यंजनावाद, छायावाद और अन्त में प्रतीकवाद और उल्टी-सीधी चीजें इतनी आ गई हैं कि अर्थ स्पष्ट करना बड़ा कठिन हो जाता है। 'प्रसाद' में ही बहुत-से स्थल ऐसे हैं, जिनका अर्थ लोगों को आज तक स्पष्ट नहीं हुआ—कोई कुछ अर्थ बतलाता है, कोई कुछ अर्थ बतलाता है। पन्त में भी कुछ स्थल ऐसे हैं, जिनका अर्थ समझने में बड़ी भारी कठिनाई होती है। तो सरलता की दृष्टि से भी अहिन्दी प्रान्तवालों के लिए सूर की वह जो हृदय से निकली हुई पवित्र धारा बही है उसको पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है, और समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। तुलसी में भी वही चीज़ हम देखते हैं। वह भाव की धारा इतने प्रबल वेग से बहती है कि आपको भी उसमें डुबोती हुई, नियोजित करती हुई, आनन्द देती हुई बिलकुल अपना लेती है।

भावात्मक एकता, सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने का भी एक ही साधन है और वह है मध्यकालीन साहित्य, तुलसी, सूर, मीरा का साहित्य। महाराष्ट्र में भी उनके गीत मौजूद हैं। कौन ऐसा प्रदेश है जहाँ पर मौजूद न हों। आधुनिक कविता में क्या है, पाश्चात्य साहित्य का अन्धा अनुकरण। साहित्यिक दृष्टिकोण नहीं है—बिलकुल बुद्धिवाद है। उस बुद्धि को आप जब समझने का प्रयत्न करते हैं तो बड़ी देर में समझ पाते हैं इसलिए खड़ीबोली के साथ-साथ ब्रजभाषा और अवधी भी अवश्य पढ़ाई जानी चाहिए।

● ●

श्री हनुमत शास्त्री

इस समस्या के तीन पक्ष हैं: एक तो है व्यावहारिक पक्ष, दूसरा सांस्कृतिक पक्ष, तीसरा साहित्यिक पक्ष। इस प्रकार विभाजन करने से विषय सुबोध हो जाएगा। जहाँ तक व्यावहारिक पक्ष है, दक्षिण भाषा-भाषियों के सामने कई कठिनाइयाँ हैं। उसको मानने में किसी को किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। एक नई भाषा सीखना कोई सरल काम नहीं है। कई कठिनाइयों का सामना करते-करते ये हमारे दक्षिण भाषा-भाषी हिन्दी भाषा का अध्ययन इतनी दिलचस्पी के साथ कर रहे हैं, उसकी जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। इसलिए मेरे विचार में हाई स्कूल ही नहीं इण्टरमीडिएट तक पाठ्यक्रम में केवल खड़ीबोली का प्रयोग होना चाहिए। नहीं तो विद्यार्थी के मस्तक पर भार पड़ेगा। इस भार को वह नहीं सँभाल सकता। आपका उद्देश्य यह कभी नहीं हो सकता कि दक्षिण भाषा-भाषी विद्यार्थी अपनी मातृभाषा को छोड़कर केवल हिन्दी ही पढ़ें। अपनी मातृभाषा के साथ-साथ एक नई भाषा हिन्दी का अध्ययन करना, साथ ही अंगरेजी को सम्यक् रूप से समझना, ये सारी समस्याएँ उसके सामने हैं। और केवल भाषा का अध्ययन ही नहीं है, आधुनिक संसार में तकनीकी विषयों की जितनी प्रधानता है, हम सभी जानते हैं। इस हालत में एक औसत विद्यार्थी क्या कर सकता है, इस बात पर विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर बात साफ लक्षित होती है—वह यह कि कम-से-कम इण्टरमीडिएट तक न सूर की चर्चा करनी चाहिए, न उसके सामने तुलसी की चर्चा करनी चाहिए।

यह मैं मानता हूँ कि ये महानुभाव हैं—विश्व साहित्य की दिव्यज्योति, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी व्यावहारिक असुविधाओं के कारण, कठिनाइयों के कारण इन लोगों को छोड़ देना चाहिए। जहाँ तक दक्षिण भाषा-भाषियों का सवाल है वे हमेशा यही सवाल उठाते हैं कि संविधान की दृष्टि में हिन्दी केवल ऑफिशियल लेंग्वेज है। ऑफिशियल लेंग्वेज कर्मचारी-भाषा है। तो कर्मचारी-भाषा में जो तकनीकी शब्द प्रयुक्त होते हैं और दफ़्तर में काम आनेवाली जो शैली है उससे वह परिचित हो जाएगा तथा

उसका काम बन जाएगा। उसका साहित्य या उसके अन्यान्य रूपों का अध्ययन करने की उसे क्या आवश्यकता है? यह सवाल आमतौर पर पूछा जाता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह सवाल सारगर्भित मालूम पड़ता है, परन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर उसमें कोई सार नहीं है।

ऑफिशियल लेंग्वेज कोई ऐसी चीज नहीं है, जो आसमान से नीचे उतर आई हो। डेमाक्रेसी में—जनतन्त्रता के इस युग में—ऑफिशियल लेंग्वेज भी जनता की लेंग्वेज होनी चाहिए। जनतन्त्र या प्रजातन्त्र तभी चल सकता है। मतलब यह है कि जनतन्त्र और ऑफिशियल लेंग्वेज के बीच ऐसी कोई खाई नहीं है जो जनता से उसको विच्छिन्न करती हो। ऑफिशियल लेंग्वेज से जनता का पूरा सम्बन्ध है। तो यह पूरा सम्बन्ध जनता तभी रख सकती है जब वह उससे पूर्णरूपेण अवगत हो। इसके लिए एक निश्चित प्रणाली के अनुसार कक्षाओं में इसके अध्ययन-अध्यापन का कार्य चालू होना अनिवार्य है।

लेकिन केवल ऑफिशियल जीवन ही जीवन नहीं है, खास करके जब हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना चारों ओर मुखरित हो रही हो। हमारी संस्कृति की परम्परा अविच्छिन्न रहनी चाहिए। यह सांस्कृतिक परम्परा हमारे मध्यकालीन साहित्य में विद्यमान है। हिन्दी भाषा-भाषी के लिए भी वह समय निकट है जब उसका ज्ञान बिलकुल अधूरा रह जाएगा, यदि वह दक्षिणी भाषाओं के सम्यक् रूप से परिचित न हो। आगे चलकर वह यह दावा नहीं कर सकता कि उसमें संस्कृति का पूर्ण रूप विकसित हो रहा है। इसलिए जब तक हिन्दी भाषा-भाषी भी नानक से लेकर वर्तमान युग के कवियों तक का परिचय प्राप्त न कर लें उनका संस्कृति-ज्ञान अधूरा रह जाएगा।

यह राजभाषा शब्द भी कुछ भ्रामक है। इस शब्द में इम्पीरियलिज्म की गन्ध है। इससे एक प्रकार की भावना पैदा होती है कि हमारी भाषा राजभाषा हो गई, इसलिए हमें किसी दूसरी भाषा का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं। लेकिन यह गलत है। मैं सांस्कृतिक पक्ष को लेकर अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ। जहाँ तक पाठ्य-प्रणाली का प्रश्न है—केशव तो महाकवि हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं; मगर उस महाकाव्य की गहराई तक जाने के लिए वर्षों के अध्ययन की आवश्यकता होती है। ऐसी हालत में शुरू-शुरू में ओल्ड पोएट्री में भी, जो सरल है, मतलब नीति के दोहे, रहीम या कबीर से, प्रारम्भ करना चाहिए और जब बी० ए० या एम० ए० तक पहुँचें तब उन्हें प्रौढ़ कृतियों का अध्ययन करवाना चाहिए। लेकिन भारतीय साहित्य के अध्ययन में केवल 'वन-वे ट्रेफिक' नहीं हो सकता। उत्तरवासियों को भी दक्षिण की कोई भाषा सीखनी चाहिए। यही व्यावहारिकता है।

● ●

श्री रामानन्द शर्मा

अँगरेजी का एक वाक्य है 'ignorance is bliss'; अकसर हम लोग उसका व्यंग्य में प्रयोग करते हैं। लेकिन अब मुझे मालूम पड़ता है कि अभिधार्थ में भी वह बहुत ठीक है। जब हम लोग १९२० में बिहार से दक्षिण पहुँचे, तो यह हमको मालूम नहीं था कि हम बिहारी भाषा का प्रचार करने जा रहे हैं या आगरे की भाषा का या दिल्ली की। पढ़ने के समय भी हमको यह नहीं मालूम हुआ था कि यह अवधी है या ब्रजभाषा है या मैथिली—(मेरी मातृभाषा मैथिली है)। लेकिन विद्यापति के पद पढ़ते हुए सूर और तुलसी के पद मुझे कुछ अलग नहीं मालूम होते थे!

भाषा-विवाद या आंचलिक भाषाओं की उन्नति, जनपदीय भाषाओं का महत्व हमारी शक्ति को तोड़नेवाला है, मिलानेवाला नहीं। भाषा एक निर्जीव चीज नहीं है। भाषा हमारे प्राणों से उद्गत होती है। प्राणों में संस्कृति है, भाव है, भावना है, आनन्द है, उल्लास है, विलास है। उसको छोड़कर भाषा रह ही नहीं सकती। मुझे तो यह मालूम होता है कि हम साईकिल के उलटे ही क्रम में आ गए हैं।

मैंने ४२ साल हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार किया—आसाम से लेकर बंगाल, उत्कल, आन्ध्र, तमिल, कन्नड़, मद्रास, बर्मा, बम्बई, पूना इत्यादि में भी।

मुझे यह मालूम है कि एक ही भाव-धारा सारे साहित्य

में बहती है; इसको ध्यान में रखकर हम हिन्दी का प्रचार करें, लेकिन वह नहीं हो रहा है। भावात्मक एकता की बात कितने साल बाद, स्वराज्य प्राप्त हो जाने के बाद, कर रहे हैं, यह लज्जा की बात है। जिस भारत के बंकिमचन्द्र ने 'के बले मा तुमी अबले बहुबल धारणी नमामि तारणी' कहा था आज वहाँ के लोग ignorance is bliss कहते हैं। भावात्मक एकता का प्रश्न उठाकर हम यह सब कर रहे हैं। अगर राजभाषा न होती तो हमारी हिन्दी का प्रचार खूब होता। आज इस तरह से जो उसकी गति में रुकावट पैदा हो गई है, नहीं होती। हिन्दी अपने बल पर खड़ी होगी, क्योंकि वह जनता की भाषा है। जहाँ-जहाँ मैंने हिन्दी का प्रचार किया वहाँ लोगों ने मुझसे आग्रह किया कि तुलसी पढ़ाइए। हिन्दी आज कुछ लोगों के लिए हौआ हो रही है; लेकिन जिस प्रेम के साथ हिन्दी साहित्य का अध्ययन सारे भारत में हो रहा है, उसका मुकाबला नहीं है। आज हमारी नारियाँ, महिलाएँ, बहू-बेटियाँ जिस संख्या में दक्षिण में या और कहीं, हिन्दी का अध्ययन कर रही हैं, यह हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है।

● ●

श्री मोहनलाल भट्ट

आज हमारे सामने जो समस्या आई है वह यह है कि जो राष्ट्रभाषा कही जानेवाली भाषा है क्या वह हिन्दी प्रदेश की भाषा है, जिसका साहित्य-निर्माण होता चला जा रहा है, या वह कोई भिन्न प्रकार की है? कुछ लोगों ने तो इस पर बहुत जोर दिया है। महाराष्ट्र सरकार, जो पहले बम्बई सरकार थी, उसने एक कमेटी नियुक्त की थी इस सम्बन्ध में और उस कमेटी ने बड़े ज़ोरों से इस बात को रखा था कि वह जो राष्ट्रभाषा है वह तो अभी होनेवाली है, बननेवाली है, वह तो आज है ही नहीं।

तो सवाल आज हमारे सामने यह आ पड़ा है कि क्या राष्ट्रभाषा और हिन्दी दो भिन्न-भिन्न शैलियाँ हैं? आज जो हमारे सामने प्रश्न उठाया गया है कि अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में हिन्दी का अध्ययन किस प्रकार कराया जाए, तो इसके माने यह हैं कि हिन्दी प्रदेश से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी प्रदेश में जिस तरह से हिन्दी का अध्ययन होता है उस पर विचार नहीं हो रहा है। विचार हो रहा है अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी पढ़ाने के सम्बन्ध में। इसलिए आभास होता है कि आप दो भाषाओं में भेद कर रहे हैं। आप अहिन्दी प्रदेश की जो भाषा सिखाएँगे वह अलग होगी और यह अलग होगी। आप ऐसा खयाल करते हैं तो मैं कहता हूँ कि हमें यह खयाल छोड़ देना पड़ेगा। मैं राष्ट्रभाषा और हिन्दी को अलग-अलग नहीं मानता।

परन्तु यह सवाल अवश्य ही हमारे सामने है कि जो प्राचीन हिन्दी का साहित्य है उसके पढ़ने का बोझ अहिन्दी-भाषियों पर डाला जाए या नहीं? यह गम्भीर प्रश्न है। कई लोग कहते हैं और सुनीति बाबू ने तो मेरे सामने ही कहा था कि यह तो बड़ा भारी बोझ डाल रहे हैं आप अपने तमाम विद्यार्थियों के ऊपर। खैर, उनकी बात नहीं, लेकिन जब हम विचार करने लगते हैं कि मैट्रिक और इण्टर तक हिन्दी खड़ीबोली में पढ़ाई जाए, इसके बाद बी० ए०, एम० ए० में जो हिन्दी अध्ययन करनेवाले हैं उनको आप साहित्य पढ़ाएँ। इस तरह आप करने जाएँगे तो इसका परिणाम क्या होगा। उसका परिणाम एक ही होनेवाला है जैसा कि सुनीति बाबू कहते हैं कि हमको तो बाजारू हिन्दी सीखनी है, कामचलाऊ हिन्दी सीखनी है, उतनी सीखकर ही रह जाएँगे।

हिन्दी का अध्ययन आपको करना है, अच्छी तरह करना है तो केवल भाषा का अध्ययन कराने से काम नहीं चलेगा। खासकर मेरे सामने तो यह प्रश्न आया ही हुआ था। नागालैण्ड में तो आप जानते ही हैं कि किस तरह की परिस्थिति है। वहाँ आप संस्कृति के नाम से नहीं जा सकते। वहाँ पर आप कोई दूसरा राजनीतिक प्रश्न लेकर नहीं जा सकते लोगों के पास। केवल हिन्दी का प्रचार लेकर जा सकते हैं। अगर उनको आप केवल हिन्दी भाषा सिखाते हैं तो उनमें न आप भारतीयता का नाम ला सकेंगे और न राष्ट्रीयता का प्रचार कर सकेंगे। हमारी भावना तो केवल यही नहीं है कि हम उनके पास पहुँचे, हिन्दी का सन्देश ले जाएँ बल्कि हिन्दी के साथ-साथ भारतीय संस्कृति

का भी कुछ अंश ले जाएँ, अवश्य ले जाएँ।

लेकिन भारतीय संस्कृति की क्या व्याख्या करें, यह भी एक बड़ा भारी प्रश्न है। मैं केवल समस्या का रूप आपके सामने रख रहा हूँ। भारतीय संस्कृति से मतलब प्राचीन संस्कृति से तो नहीं है। आज उस पर अंगरेज़ी का भी प्रभाव है, याने पाश्चात्य का भी प्रभाव है, मुगल संस्कृति का भी प्रभाव है, सभी संस्कृतियों का प्रभाव है। इसलिए संविधान में ३५१वीं धारा में सामाजिक संस्कृतियों का एकीकरण करनेवाली भाषा हो यह कहना पड़ा। इसके कहने की आवश्यकता इसलिए थी कि केवल प्राचीन भारतीय संस्कृति जो है उसकी अभिव्यक्ति करनेवाली भाषा पहले से नहीं है। उस भाषा में विकसित होकर आज जितनी सफलताएँ मिश्रित हो गई हैं, समन्वित हो गई हैं, उन सभी की उसमें अभिव्यक्ति है। तो यह जरूरी बात है कि प्राचीन चीजों को, प्राचीन सभ्यता को, प्राचीन संस्कारों को तुलसी, सूर आदि का अध्ययन करके सीखा जा सकता है। लेकिन केवल उन्हीं की भाषा में अर्थात् उन्हीं के शब्दों में हम किसी को सिखाएँ मैं इसको आवश्यक नहीं मानता। यह तो आप जानते हैं कि पुरानी अंगरेजी की जो बाइबिल थी उसको नई अंगरेजी में करके लोगों के पास पहुँचाया गया, क्योंकि समय की माँग थी। उसी प्रकार हमको भी सूर, तुलसी वगैरह को सरल हिन्दी में करके सब लोगों के पास पहुँचाना चाहिए। आज प्राचीन की जो भाषाएँ हैं उनको उन लोगों को साथ-साथ पढ़ाने जाएँगे तो उनका विरोध पनपनेवाला है, इसमें कोई सन्देह नहीं और उसमें से उनको बचाना पड़ेगा। हिन्दी शिक्षा की भाषा रहेगी और शिक्षा की भाषा को हमें अ गे चलकर समृद्ध बनाना है, राष्ट्रभाषा बनाना है और उसमें जो राष्ट्र की भावना है उसकी अभिव्यक्ति करनी है। उसमें जो चीजें बाहर से ली जा सकें लीजिए—चाहे पश्चिम से लीजिए या बंगाल से ला सकें, बंगाल के साहित्य से लीजिए, दक्षिण के साहित्य से लीजिए, और तुलसी-सूर सबको लीजिए, लेकिन लाकर उसको समृद्ध करना पड़ेगा।

• •

डॉ० शम्भूनाथ पांडे

जब तक हिन्दी भाषा और साहित्य का अध्ययन और अध्यापन केवल हिन्दी-क्षेत्र तक सीमित था तब तक उसके पाठ्यक्रम और शिक्षण-विधियों की समस्याएँ उतनी जटिल नहीं थीं जितनी जटिल वे हिन्दी के राष्ट्रभाषा रूप में स्वीकृत होने के पश्चात् हो गई हैं। सम्पूर्ण देश में हिन्दी का थोड़े-से-थोड़े समय में प्रचार एवं प्रसार एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। उसको जनमत में प्रतिष्ठित कर देना एक सांस्कृतिक आवश्यकता है। अतः अहिन्दी क्षेत्रों के हिन्दी-साहित्य के पाठ्यक्रम में खड़ीबोली के अतिरिक्त उसकी अन्य उपभाषाओं के साहित्य को पढ़ाने की आवश्यकता पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है :

१. हिन्दीतर क्षेत्रों में हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के उद्देश्य;

२. खड़ीबोली और हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के साहित्य की तुलनात्मक स्थिति; एवं

३. शिक्षण के विभिन्न स्तर।

हिन्दीतर क्षेत्रों में हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के उद्देश्य

हिन्दीतर क्षेत्रों में राष्ट्रभाषा-शिक्षण के मोटे तौर पर दो उद्देश्य नज़र आते हैं। एक व्यावसायिक उद्देश्य और दूसरा सांस्कृतिक उद्देश्य। व्यावसायिक उद्देश्यों को पुनः दो लक्ष्यों में बाँटा जा सकता है : (अ) अन्तर्प्रान्तीय सम्पर्क की स्थापना तथा (ब) अखिल भारतीय स्तर पर सरकारी काम-काज का संचालन। उक्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण-विधि अपनाई जा सकती है; इसलिए दोनों पर सम्मिलित रूप में विचार किया जा सकता है। दोनों लक्ष्यों की पूर्ति के लिए बोल-चाल की भाषा को समझना, विभागीय पत्र-व्यवहार की शब्दावली का ज्ञानार्जुन करना तथा टूटे-फूटे शब्दों में ही सही, हिन्दी में अपने विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की क्षमता प्राप्त कर लेना-भर पर्याप्त है।

व्यावसायिक उद्देश्य—उक्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिए साहित्य का वही पाठ्यक्रम अभिस्तावित किया जा सकता है जो सरल बोलचाल की भाषा में लिखा गया हो। विभागीय शब्दावली का ज्ञान साहित्य की किसी विधा द्वारा दिया जाना सम्भव नहीं है। उसके लिए तो अनुवाद-प्रणाली तथा कोश-ग्रन्थों का ही सहारा लेना पड़ेगा। कामचलाऊ भाषा का ज्ञान डेढ़-दो हज़ार बुनियादी शब्दावली के द्वारा प्रदान किया जा सकता है। बुनियादी शब्दावली द्वारा भाषा का ज्ञान कराने में भी साहित्य की किसी विधा के पाठ्यक्रम के निर्धारण का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। हिन्दीतर प्रदेशों में केवल बुनियादी शब्दावली एवं वाक्य-साँचों को अभिस्तावित किया जा सकता है, जिसके आधार पर स्थानीय भाषा-परम्परा एवं शिक्षार्थियों की रुचि के अनुकूल स्थानीय शिक्षा संस्थाओं द्वारा पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया जा सकता है। व्यावसायिक दृष्टि मितव्ययता की दृष्टि होती है, जिसमें अल्पतम समय और साधन के द्वारा महत्तम परिणाम उपलब्ध किये जाते हैं। मैं शुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से ही बुनियादी शब्दावली का प्रस्ताव कर रहा हूँ।

सांस्कृतिक उद्देश्य—सम्पूर्ण देश के लिए एक सम्मिलित भाषा के विकास एवं प्रचार का एक-दूसरा उद्देश्य भी है और वह है देश की एक समन्वित संस्कृति का विकास। संयुक्त राज्य अमरीका आज विश्व का एक सर्वोत्तम शक्तिशाली देश कभी नहीं बन पाता यदि वहाँ के विभिन्न देशों से आये हुए विभिन्न भाषा-भाषियों ने अपनी मातृ और पितृ-भाषाओं के मोह का परित्याग करके एक सम्मिलित भाषा के द्वारा एक समन्वित संस्कृति का विकास न किया होता। अमरीका एक नवीन राज्य था, इसलिए वह वैसा कर सका। भारत एक प्राचीन देश है, इसलिए यहाँ प्रादेशिक भाषा और संस्कृति के बन्धन प्रगाढ़ हैं। मैं प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृतियों की अवहेलना की बात नहीं कहूँगा। किन्तु आज देश के सामने सबसे बड़ा संकट वे विघटनकारी तत्व हैं जिनका विस्फोट हमें कभी उत्तर और कभी दक्षिण में आये दिन दिखलाई पड़ता है। देश में जब तक संस्कृत भाषा का प्रचलन रहा, देश सांस्कृतिक एकता का अनुभव करता रहा, किन्तु जैसे-जैसे संस्कृत का प्रचलन विलुप्त होता गया वैसे-वैसे विघटनकारी तत्व उभरते गए और आज हमारी जनतन्त्रात्मक समाज-व्यवस्था में तो इन तत्वों का उभार खतरे के निशान से कहीं ऊँचा उठ चुका है।

भावात्मक समन्वय की आवाज़ इसी खतरे की आवाज़ है। सांस्कृतिक समन्वय के प्रयास के बिना भावात्मक एकता की बात करना नादानी है। इस संकट का सामना करने के लिए हमें अपनी संस्कृति के उन भावात्मक सूत्रों को खोजना एवं जनमन में प्रतिष्ठित कर देना होगा जिनमें भारत की आत्मा और उसकी समन्वय की प्रवृत्ति निवास करती है। अतः साहित्य के पाठ्यक्रम पर विचार करते हुए हमें उन्हीं अंशों को हिन्दी एवं हिन्दीतर क्षेत्रों के पाठ्यक्रमों के लिए चुनना पड़ेगा जिनमें देश की समन्वित संस्कृति की झलक मिलती है। यह तत्व आधुनिक साहित्य में भी उपलब्ध हो सकते हैं एवं प्राचीन साहित्य में भी, जिसकी भाषा का स्वरूप राष्ट्रभाषा के वर्तमान रूप से कुछ भिन्न है।

सांस्कृतिक एकरूपता के जो-जो तत्व हमें जिस-जिस भाषा के साहित्य में उपलब्ध होते हैं उन सबका अनूदित रूप में ही सही, सम्पूर्ण देश के पाठ्यक्रमों में स्थान होना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुवाद की भाषा हिन्दी ही हो सकती है। मेरा यह भी अनुमान है कि हिन्दी जब तक देश की जन-भाषा के रूप में विकसित नहीं होती तब तक प्रान्तीय संकीर्णताएँ, विद्वेष एवं ग़लत-फ़हमियाँ उन्मूलित नहीं की जा सकतीं। एक शक्तिशाली राष्ट्रभाषा के अभाव में कोई शंकर, कोई रामानुज या कोई चैतन्य सम्पूर्ण देश की आत्मा को प्रज्वलित नहीं कर सकता।

इतनी भूमिका के पश्चात् मैं मूल प्रश्न पर आता हूँ। साहित्य के पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय हमें आधुनिक साहित्य, जिसकी अभिव्यक्ति खड़ीबोली के माध्यम से हुई है, उसके अतिरिक्त क्या प्राचीन साहित्य, जिसकी अभिव्यक्ति खड़ीबोली से इतर रूपों में हुई है, का भी अंश निर्धारित करना चाहिए? साहित्य की समन्वयकारी दृष्टि से हिन्दी का अतीत जितना समृद्ध है उतना वर्तमान साहित्य नहीं। हिन्दी का अतीत एक सुरम्य तपोवन है,

जिसके वातावरण में क्षण-भर साँस लेने से जीवन की घुटन घुलने-सी लगती है। इस तपोवन में भारत की आत्मा निवास करती है—उत्तर-दक्षिण की संकुचित दृष्टि नहीं। भारतीय संस्कृति का समन्वित रूप इन्ही तपोवनों में उपलब्ध होता है। हिन्दी के सन्त एवं भक्त कवि अन्य भाषाओं के सन्त कवियों की ही भाँति एक अविभाज्य भारतीय संस्कृति के प्रकाश-स्तम्भ हैं। सन्तों की बानियों ने हिन्दी को जितना लोकप्रिय बनाया है उतना लोकप्रिय सरकारी आकाशवाणियों एवं विज्ञप्तियों ने नहीं बनाया। अतः प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जब हिन्दी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से उसके अतीत के बहिष्कार का संकेत मिलता है तब मुझे ठेस लगती है। मुझे ऐसा महसूस होता है मानो हमारी संस्कृति के आधार पर कोई चोट की जा रही हो। मैं हिन्दीतर क्षेत्र के छात्रों को 'मानस' के एक घूँट का अवश्य पान कराना चाहूँगा जिसको पीकर 'पुमान सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' मैं उन्हें सूर के उस वृन्दावन में अवश्य घुमाना चाहूँगा, 'यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि।' मैं उन्हें मीरा के उस नटवर नागर से अवश्य परिचित कराना चाहूँगा, 'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।' दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक समन्वय, आध्यात्मिक उन्नति एवं काव्य-वैभव की दृष्टि से हिन्दी के जो कवि महान् हैं उनका सन्देश मैं भारत के घर-घर में पहुँचाना चाहूँगा, चाहे वे धर हिन्दी-क्षेत्र में स्थित हों चाहे हिन्दीतर-क्षेत्र में।

खड़ीबोली तथा हिन्दी की अन्य उपभाषाओं की तुलनात्मक स्थिति

हिन्दी के पाठ्यक्रमों में क्या खड़ीबोली के अतिरिक्त उसकी अन्य उपभाषाओं के साहित्य का पढ़ाना आवश्यक है? इस प्रश्न को सुनकर ऐसा आभास होता है कि मानो हिन्दी की सभी उपभाषाएँ अर्थात् बाँगरू, ब्रज, कनौजी, बुन्देली मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, नैपाली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि साहित्यिक भाषाएँ हैं और उनमें निरन्तर साहित्य का सृजन हो रहा है। अतः प्रश्न यह है कि खड़ीबोली के अतिरिक्त इनमें से यदि पढ़ाया जाए तो किन-किन का साहित्य पढ़ाया जाए। जब कि तथ्य यह है कि ब्रज, अवधी और मैथिली को छोड़कर अन्य उपभाषाएँ कभी भी साहित्यिक भाषाएँ रही ही नहीं एवं आधुनिक युग में खड़ीबोली ही एकमात्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम है। जहाँ तक आधुनिक साहित्य का प्रश्न है, खड़ीबोली के अतिरिक्त किसी अन्य उपभाषा के साहित्य के अध्ययन का प्रश्न न हिन्दी-क्षेत्र के सम्मुख है और न हिन्दीतर-क्षेत्र के। फिर साहित्य की विभिन्न विधाओं, जैसे नाटक, कथा-साहित्य, समालोचना, निबन्ध, इतिहास आदि का सूत्रपात एवं विकास आधुनिक युग में खड़ीबोली के माध्यम से ही हुआ है—अतः इन विधाओं की पढ़ाई में तो अन्य उपभाषाओं के साहित्य का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता।

साहित्य की एक विधा काव्य ही शेष रह जाती है। काव्य की दृष्टि से हिन्दी का अतीत इतना समृद्ध है कि जिन कक्षाओं में हिन्दी काव्य का रसास्वादन वांछनीय समझा जाएगा उन कक्षाओं को भक्ति एवं रीति-काव्य के वैभव से वंचित रखना उनके साथ अन्याय करना होगा। काव्य का अध्ययन भाषा सीखने की दृष्टि से कभी नहीं किया जाता। अतः जहाँ तक केवल भाषा सीखने-बोलने की क्षमता उत्पन्न करने का प्रश्न है उसके लिए न प्राचीन काव्य पढ़ाना आवश्यक है और न अर्वाचीन, किन्तु यदि साहित्यिक शिक्षा का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है तो उन्हीं कविताओं को पाठ्यक्रमों में सन्निविष्ट करना चाहिए जो रस की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट हों; और इस दृष्टि से प्राचीन काव्य का सर्वथा बहिष्कार करना मुझे अनुचित प्रतीत होता है। अंग्रेजी साहित्य का पाठ्यक्रम जब उच्चतर कक्षाओं में निर्धारित किया जाता है तब शेक्सपियर का कोई-न-कोई अंश उसमें अवश्य सन्निविष्ट किया जाता है। शेक्सपियर की भाषा अंग्रेजी के आधुनिक रूप से उतनी ही भिन्न है जितनी कबीर की भाषा पन्त की भाषा से, फिर भी अंग्रेजी के पाठ्यक्रमों में उसके नाटकों को स्थान अवश्य मिलता है, क्योंकि अंग्रेजी साहित्य का सबसे उत्कृष्ट रूप उनमें उपलब्ध होता है। ठीक यही बात हिन्दी के सूर और तुलसी के विषय में भी कही जा सकती है।

इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है। जिन भाषाओं को यहाँ हिन्दी की उपभाषाओं के रूप में उल्लिखित किया गया है उन्हें मैं ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी की उपभाषाएँ नहीं अपितु वर्तमान साहित्यिक हिन्दी का पूर्व रूप मानता हूँ। भाषा के उपरूपों अर्थात् बोलियों की व्याख्या इन शब्दों में समझी जा सकती है—"बोली किसी भाषा का विशिष्ट रूप है, जो निश्चित भू-भाग या भौगोलिक क्षेत्र में बोली जाती है और जिसमें उक्त भाषा के साहित्यिक रूप में पर्याप्त अन्तर रहता है।" अतः आज जब हम अवधी, मैथिली या व्रज भाषा की बात करते हैं तब निश्चय ही वे साहित्यिक हिन्दी की बोलियाँ और उपभाषाएँ ही कहलाएँगी क्योंकि आज प्रत्येक हिन्दी-भाषी की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम खड़ीबोली ही है। किन्तु तुलसी ने जब अपना 'अतिमंजुल भाषा निबन्ध' जिस भाषा में लिखा था तब वही साहित्यिक अभिव्यक्ति की एकमात्र माध्यम थी। वही साहित्यिक भाषा थी। उससे इतर कोई साहित्यिक भाषा नहीं थी। अवधी और ब्रज का भेद साहित्य की विधाओं के अनुसार अर्थात् प्रबन्ध और मुक्तक की दृष्टि से अपनाया गया था, किसी भौगोलिक सीमा के आधार पर नहीं। 'रामचरितमानस' को केवल पूर्वी जिलों के लोग समझते हों एवं 'सूरसागर' को पश्चिम के ऐसी बात भी नहीं थी। साहित्यिक कृतियों का रसास्वादन समान रूप से समस्त हिन्दी-भाषी करते थे। यदि ऐसा नहीं होता तो कोई भूषण किसी शिवा या छत्रसाल को आत्मगौरव के लिए मर मिटने की प्रेरणा नहीं दे सकता था। ऐतिहासिक दृष्टि से तुलसी एवं सूर को हिन्दी की उपभाषाओं का कवि कहना मुझे एक अपराध-सा प्रतीत होता है, हिन्दी साहित्य के विषय में एक भ्रमात्मक प्रचार-जैसा दिखलाई पड़ता है। आज यदि कोई साहित्यकार हिन्दी खड़ीबोली के अतिरिक्त किसी अन्य उपभाषा में साहित्यिक रचना करता है तो हम उसे राष्ट्रभाषा का साहित्यकार नहीं कहेंगे और न उस साहित्य को विद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान देने का सुझाव ही देंगे, किन्तु जब हम हिन्दी साहित्य और उसकी परम्परा का पाठ्यक्रम निर्धारित करने की बात सोचेंगे तब उसके प्राचीन साहित्य को उपभाषाओं का साहित्य कहकर उनका निरादर नहीं करेंगे। किसी साहित्य का परम्परा से विच्छिन्न भी अनुशीलन हो सकता है, मुझे यह विचित्र बात प्रतीत होती है। आचार्य श्री धीरेन्द्र वर्मा ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि "मध्यकाल की साहित्य-निधि इतनी सम्पन्न और उत्कृष्ट है कि उसके परिचय के बिना हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक परम्परा का ज्ञान अधूरा बन जाएगा।"

शिक्षा के विभिन्न स्तर एवं हिन्दी-साहित्य का पाठ्यक्रम

यह कहा जा चुका है कि हिन्दीतर क्षेत्रों के हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम निर्धारित करने में पहली विचारणीय बात शिक्षार्थी का हिन्दी सीखने का उद्देश्य है। यदि किसी सरकारी विभाग के कर्मचारी विभागीय कार्य-संचालन के लिए ही हिन्दी सीखना चाहते हैं तो उनके पाठ्यक्रम में मैं केशव या निराला के समावेश की कभी सिफारिश नहीं करूँगा। मैं उनके लिए अल्पकालीन शिक्षण-शिविरों के आयोजन की सिफारिश करूँगा, जिनमें अनुवाद-विधि एवं बुनियादी शब्दावली के आधार पर हिन्दी भाषा का काम-चलाऊ ज्ञान कराना होगा। यही बात मैं शिक्षा-संस्थाओं के नियमित रूप से विद्याध्ययन करनेवाले किशोरों के लिए कभी नहीं चाहूँगा।

विद्यार्थियों की दृष्टि शुद्ध व्यावसायिक कभी नहीं होती। वे उसी विषय का गम्भीर अध्ययन करना चाहते हैं जिनमें उन्हें रुचि होती है। उनको किसी साहित्य की शिक्षा केवल इसलिए नहीं दी जाती कि वे आगे चलकर दफ्तरों में बाबूगीरी करेंगे। उनके लिए साहित्य के अनुशीलन का महत्व सृजनात्मक शक्ति का विकास करना होता है। अतः रुचि और सृजनात्मक शक्ति के विकास को दृष्टि में रखकर विद्यार्थी के लिए पाठ्यक्रम का निर्धारण करना चाहिए, खड़ीबोली और ब्रजभाषा को ध्यान में रखकर नहीं। हिन्दी का आधुनिक कवि ब्रजभाषा का अपनी रचनाओं से बहिष्कार नहीं कर पाया। आधुनिक कथा-साहित्य में भी पात्रानुकूल हिन्दी की बोलियों का प्रयोग होता आ रहा है, तब हम कैसे कह सकते हैं कि "हिन्दी के विद्यार्थी के लिए ब्रजभाषा और अवधी आदि उप-

भाषाओं का कोई भी विशेष महत्व नहीं रह गया है, हिन्दी के ललित तथा उपयोगी साहित्य के निर्माण में इन उपभाषाओं के साहित्य से विशेष सहायता नहीं मिल सकती।" मैं तो यही कहूँगा कि आज का साहित्य जन-जीवन को चित्रित करनेवाला साहित्य है। जन-जीवन को अपने स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक परिवेश में चित्रित करनेवाले साहित्य-स्रष्टा के लिए जनभाषाओं का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। अतः साहित्य-शिक्षण के सृजनात्मक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए केवल खड़ीबोली पढ़ाई जाने की बात कुछ जँचती नहीं। शिक्षा के किसी स्तर पर हम क्या पाठचक्रम निर्धारित करेंगे, उस पाठचक्रम में साहित्य की विविध विधाओं का आनुपातिक क्या स्थान होगा, इस विषय* पर तो किसी छोटी-सी प्रवर समिति में ही विचार किया जा सकता है। बड़ी संगोष्ठियों में केवल यह संकेत किया जा सकता है कि अध्ययन के जिन स्तरों पर हिन्दी साहित्य का विधिवत अनुशीलन कराया जाए उन स्तरों पर आधुनिक हिन्दी साहित्य के साथ-साथ उसकी परम्परा का भी अध्ययन अवश्य कराया जाए। छोटी कक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों के लिए प्राचीन कवियों के ऐसे सरल काव्यांश खोजे जा सकते हैं जो भाषा की दृष्टि से भी अधिक कठिन नहीं, किन्तु छात्रों की रुचि के विशेष अनुकूल हों।

अन्त में मैं अपनी मान्यताओं को पुनः दोहराना चाहूँगा कि :

१. पाठचक्रम निर्धारित करते समय शिक्षार्थी के भाषा सीखने के उद्देश्य को अवश्य ध्यान में रखा जाए।
२. काव्य के अतिरिक्त अन्य विधाओं के पाठचक्रम में हिन्दी के केवल खड़ीबोली के साहित्य को ही स्थान दिया जाए।
३. साहित्य के पाठचक्रम में शिक्षार्थी की रुचि, मानसिक अवस्था आदि को ध्यान में रखकर केवल वही अंश निर्धारित किये जाएँ जिन्हें वह सरलता से समझ सकें, अपनी सृजनात्मक शक्ति का विकास कर सकें।
४. भावात्मक एकता एवं सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से हिन्दी के प्राचीन कवियों की सरस, मधुर एवं सरल कविताओं को हिन्दीतर क्षेत्र के पाठचक्रमों में अवश्य ही स्थान दिया जाए। किन्तु प्रत्येक शाखा के प्रतिनिधि कवियों के केवल महत्वपूर्ण चुने हुए अंश ही पाठचक्रम में सम्मिलित किये जाएँ।
५. जिन उच्चतर पाठचक्रमों का उद्देश्य केवल हिन्दी साहित्य की शिक्षा देना है उनमें हिन्दी और हिन्दीतर क्षेत्र का कोई विशेष भेद-भाव न किया जाए तथा जिन पाठचक्रमों का उद्देश्य बोलचाल की भाषा का परिचय देना है उनमें बुनियादी शब्दावली के आधार पर निर्मित पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ाया जाए।
६. सभी पाठचक्रमों में हिन्दी साहित्य के आधुनिक रूप पर ही विशेष बल दिया जाए।

● ●

श्री भूदेव शास्त्री

विचार के क्षेत्र को सीमित रखने के लिए यह मानकर चलना उचित है कि हिन्दी और खड़ीबोली ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और ब्रज और अवधी आदि हिन्दी की उपभाषाएँ हैं। मानकर चलने की बात इसलिए कह रहा हूँ कि मैं हिन्दी भाषा को हिन्दी प्रदेश के सभी निवासियों की मातृभाषा स्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ, परन्तु मैं यहाँ उस विवाद को उठाए बिना आगे बढ़ना चाहता हूँ।

अहिन्दी-क्षेत्रों के लिए हिन्दी-पाठचक्रम, हिन्दी भाषा-शिक्षण और हिन्दी साहित्य-शिक्षण इन दोनों उद्देश्यों से बनाए जा सकते हैं। यह मानने में सम्भवतः किसी को आपत्ति न होगी कि भाषा और साहित्य दो विभिन्न वस्तुएँ हैं, दोनों के शिक्षण की समस्याएँ भी पृथक्-पृथक् होती हैं और भाषा-शिक्षण का स्थान साहित्य-शिक्षण से पहले आता है। इस पृथकता और पूर्वपरता को मान लेने के बाद स्तर की बात कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाती है। यदि अहिन्दी-क्षेत्रों में माध्यमिक स्तर के प्रारम्भ अर्थात् छठी कक्षा से हिन्दी सिखाना आरम्भ कर दिया जाए तो माध्यमिक स्तर (ग्यारहवीं कक्षा) के अन्त तक जो भी पाठचक्रम

चलेगा, उसका उद्देश्य निश्चित रूप से साहित्य-शिक्षण न होकर भाषा-शिक्षण ही होगा। माध्यमिक स्तर के पश्चात् विश्वविद्यालय स्तर आता है। यदि माध्यमिक स्तर पर समय-विभाग में हिन्दी को कम-से-कम एक घण्टा प्रतिदिन दिया जाए और अध्ययन-अध्यापन संकल्प और श्रद्धा के साथ चले तो इस स्तर पर आते-आते छात्र हिन्दी भाषा पर उतना अधिकार अवश्य प्राप्त कर लेंगे, जितना दसवीं कक्षा के अन्त तक हिन्दी-भाषी छात्रों को प्राप्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में विश्वविद्यालय-स्तर पर जो भी पाठ्य-क्रम चलेगा, उसका उद्देश्य हिन्दी साहित्य-शिक्षण होगा, हिन्दी भाषा-शिक्षण नहीं।

विचार के इस स्तर पर यह भी सोचना चाहिए कि विश्वविद्यालय-स्तर पर हिन्दी साहित्य-शिक्षण के क्या उद्देश्य होंगे। उद्देश्यों की खोज में हमें शैक्षणिक एवं व्यावसायिक पथ-प्रदर्शकों की सहायता से छात्रों की जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की जाँच-पड़ताल करनी पड़ेगी। आवश्यकताओं की दृष्टि से कुछ छात्र ऐसे होंगे जिन्हें हिन्दी भाषा पर ही और अधिक अधिकार अपेक्षित होगा। अन्य कुछ छात्र ऐसे भी होंगे, जिनके लिए हिन्दी साहित्य पर अधिकार करना भी उतना ही आवश्यक होगा, जितना हिन्दी भाषा पर अधिकार करना। आवश्यकताओं की विभिन्नता का अध्ययन-अध्यापन के प्रयोजन पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा। आवश्यकताओं की उपेक्षा करके निर्मित पाठचक्रम व्यर्थ तथा बोझीले सिद्ध होंगे और उनके विरुद्ध विद्रोह की भावना अवश्य भड़केगी।

इस विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत समस्या हमारे सामने तीन खण्डों में विभक्त होकर तीन समस्याओं के रूप में उपस्थित होती है :

१. माध्यमिक स्तर पर भाषा-शिक्षण के उद्देश्य से निर्मित पाठचक्रम में क्या हिन्दी की उपभाषाओं के साहित्य का समावेश आवश्यक है ?

२. विश्वविद्यालय स्तर पर भाषा पर ही और अधिक अधिकार प्राप्त कराने के उद्देश्य से निर्मित पाठच-क्रम में क्या हिन्दी की उपभाषाओं के साहित्य का समावेश आवश्यक है ?

३. विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी-साहित्य पर अधिकार प्राप्त कराने के उद्देश्य से निर्मित पाठचक्रम में क्या हिन्दी की उपभाषाओं के साहित्य का समावेश आवश्यक है ?

प्रथम समस्या के विषय में मेरा सुझाव यह है कि हिन्दी भाषा-शिक्षण के उद्देश्य से निर्मित पाठ्यक्रम में उपभाषाओं के साहित्य का समावेश बिलकुल नहीं होना चाहिए। इस स्तर के पाठ्यक्रमों में जो भी गद्य और पद्य पाठ दिये जाएँ वे सब परिनिष्ठित हिन्दी में ही होने चाहिए। इस स्तर पर जो भी अभ्यास-कार्य कराया जाए वह सब परिनिष्ठित हिन्दी में ही होना चाहिए। इस स्तर पर पाठचक्रम में हिन्दी भाषा के विभिन्न घटक—वाक्य-साँचे, शब्द, संकेत-चिह्न तथा मुहावरे आदि—बिलकुल अनुस्तरित (ग्रेडिड) रूप में ही प्रस्तुत होने चाहिए।

द्वितीय समस्या का सम्बन्ध विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी भाषा में विशेष प्रवीणता प्राप्त कराने के उद्देश्य से निर्मित पाठचक्रमों से है। इन पाठचक्रमों में हिन्दी की उपभाषाओं का साहित्य बहुत अल्प मात्रा में और वह भी केवल भाव-ग्रहणार्थ रखा जाना चाहिए। हाँ, जैसे-जैसे छात्र ऊँची कक्षाओं में पहुँचते जाएँ, वैसे-वैसे उपभाषाओं के साहित्य की मात्रा में क्रमशः थोड़ी-थोड़ी वृद्धि की जा सकती है। अन्तिम समस्या उन पाठचक्रमों से सम्बद्ध है जिनका अध्ययन वे छात्र करेंगे जो हिन्दी भाषा के साहित्य पर भी अधिकार करना चाहेंगे। इन पाठचक्रमों में द्वितीय समस्या के प्रसंग में चर्चित पाठचक्रम के अतिरिक्त हिन्दी की उपभाषाओं का साहित्य भी अवश्य और पर्याप्त परि-माण में पढ़ाया जाना चाहिए। अन्तिम दो पाठचक्रमों को वैकल्पिक ही रखना उचित होगा। अपर्याप्त भाषा-क्षमता-वाले छात्रों पर अनिवार्य अन्य भाषा और उसके साहित्य का भारी बोझ लादना उचित नहीं होगा। पाठ्य-वस्तु-संगठन में अर्वाचीन से प्राचीन की ओर तथा सरल से कठिन की ओर—इन दो सूत्रों का ध्यान सदैव रखा जाना शाहिए। किसी एक कवि की रचनाएँ प्रस्तुत करने में भी इन सूत्रों को उपेक्षणीय नहीं माना जाना चाहिए।

इस प्रसंग में मैं विद्वानों से यह भी निवेदन करूँगा कि शिक्षण के क्षेत्र में क्यों, क्या, किस क्रम से, कब और कैसे ये सब प्रश्न साथ-साथ उठते हैं। उनका उत्तर वस्तु-गत तर्क-बुद्धि से खोजकर ही हमें पाठ्यक्रम के विषय में

कुछ निश्चय करना चाहिए। यह भी ध्यान रखना उचित होगा कि हिन्दी की दृष्टि से हिन्दी-क्षेत्र और अहिन्दी-क्षेत्रों के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'विश्वविद्यालय स्तर' शब्द एकार्थ-वाची नहीं हैं।

● ●

श्री बालकृष्ण राव

इस समय, हिन्दी ही हमारी राजभाषा हो या और कोई भारतीय भाषा हो, इस प्रश्न पर विचार करना निरर्थक है। क्योंकि हिन्दी जो राजभाषा बनी है वह इस कारण नहीं कि हिन्दी की तुलना में अन्य भारतीय भाषाएँ हीन हैं, बल्कि इसलिए कि हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकृत करके संविधान ने हिन्दी को कुछ दिया नहीं। हिन्दी को इतिहास जो दे चुका था, जो स्थान, जो पद, उसी के कारण उसे स्वीकार किया गया। हिन्दी किसी-न-किसी रूप में भारत के अधिकांश भाग में बोली—नहीं तो समझी जाती थी। किसी-न-किसी रूप में ही सही। अतः सबसे आसान, भारतीयों के लिए, हिन्दी को ही अपनाना था और राजभाषा बनाने के बाद संविधान ने भारत सरकार के ऊपर एक दायित्व लाद दिया। हिन्दी को बढ़ाओ, इसी दायित्व के निर्वाह-स्वरूप भारत सरकार ने जो चेष्टाएँ थोड़ी-बहुत की हैं, उनमें से एक है अहिन्दी भाषियों को व्यापक, या कहें, सरकारी तौर पर हिन्दी पढ़ाने की बात।

हम हिन्दी पढ़ाने की जो चेष्टा करते हैं यह सोचने की बात है। नवसाक्षर युग में मालूम नहीं, आपमें से कितनों ने यह प्रयोग किया; लेकिन चूँकि मैंने यह स्वयं किया है इसलिए कह सकता हूँ अनुभूत बात—मैंने और मेरी पत्नी ने—इलाहाबाद में जहाँ हम रहते हैं, टैगोर नगर मुहल्ले में, वहाँ एक छोटा-सा स्कूल खोला और पास-पड़ोस के बँगलों में जो नौकर-नौकरानियाँ काम करते थे, ज्यादातर चमार-मेहतर—उनकी लड़कियों को, उनके छोटे-छोटे बच्चों को शाम के वक्त पढ़ाया। आश्चर्य, उल्लास, आनन्द न जाने कितने प्रकार के भाव मन में भर जाते थे, जब देखते थे कि उन छोटे बच्चों में कुछ इतनी तेज प्रगति करते थे कि आश्चर्य होता था और यह लगता था कि हम कितना बड़ा काम कर रहे हैं। और दो-चार वर्ष बाद जैसे ही जरा-से वे बड़े हुए कि माँ-बाप को ज़रूरत पड़ी कि इन्हें भी नौकरी में लगा दो, उनका नित्य प्रति सीखने का अभ्यास छूटा, छः महीने, एक बरस, इससे ज्यादा समय नहीं लगता था कि सब भूल जाते थे। 'यद्यत पठितं तद्‌तद् गुरवे निवेदितम्' सिद्धान्त के अनुसार सीखने के कुछ समय के बाद सब भूल जाते थे।

हिन्दी का जो-कुछ ज्ञान आप उन्हें दे सकेंगे, उसे जीवित रखने और बढ़ाने की प्रेरणा उनके मन में उत्पन्न हो—इसके लिए दोनों में से कोई एक चीज आवश्यक है—एक तो बाहर से कोई आकर्षण, कोई प्रेरणा मिले; अर्थ-करी बन जाए यह विद्या। सबसे बड़ी प्रेरणा तो सरकार ही दे सकती है। वह प्रेरणा हमारे बस की बात नहीं, सरकारों के बस की बात है। लेकिन एक चीज, जो हमारे-आपके बस की है, वह यह है कि उनके मन में हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति यदि कोई अनुराग-आदर का भाव उत्पन्न कर सकें तो इसकी आशा की जा सकती है कि सब नहीं तो कई उनमें से, अपने ही सहज अनुराग के कारण हिन्दी के अपने परिचय को निकट का और गहरा बनाने की चेष्टा करते रहेंगे। इसलिए जो खड़ीबोलीवाली बात थी अनुराग की, केवल खड़ीबोली की बात थी, मैं उससे घबराता हूँ। किन्तु स्पष्ट कहता हूँ कि मैं स्वयं खड़ीबोली में तुकबन्दी करता हूँ और कौन नहीं मानता, मैं स्वयं मानता हूँ, सब मानते हैं, कि खड़ीबोली ही हिन्दी है और हिन्दी रहेगी, और भविष्य में जाने क्या-क्या आनेवाला है उसमें। बनारस के हमारे हास्य महाकवि चच्चा ने कहा है हम भारतीयों के लिए कि या तो भूतकाल की बात करेंगे कि बड़े दाता थे, बड़े शूरवीर थे, बड़े पराक्रमी थे, ऐसे थे, बड़े तेजस्वी थे—कौन? सवैया है—अन्तिम कड़ी—"बाप के बाप के बाप के बाप के बाप के बाप के बाप हमारे" उसी प्रकार या तो वे बड़े थे या कौन होंगे बड़े कि बेटे, बेटे के भी बेटे…तो या तो हम बात करते हैं कई हजार वर्ष पीछे की या कई हजार वर्ष आगे की। तो कुछ इस तरह की बात ही सही, लेकिन हम लोगों की मान्यता है कि अगर हम

लोगों के मन में हिन्दी के प्रति अनुराग है तो निश्चय ही हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। इस समय लड़का वही पढ़ेगा जो आपके पास उपाय है। इस समय खड़ीबोली हिन्दी में आप उसे जो-कुछ पढ़ाएँगे उसमें वैविध्य के नाम पर, काव्यगत गम्भीरता के नाम पर आप उसे इतना न दे पाएँगे कि उसका सहज अनुराग सर्वव्यापक बन जाए जब तक कि आप तुलसी, सूर इनका सहारा नहीं लेते। यदि आप इसको अटूट परम्परा नहीं मानते, नहीं मानते तो मेरी दृष्टि में भूल करते हैं, यह अटूट परम्परा है, चन्द से अब तक, लेकिन जो अटूट नहीं भी मानते वह इस कारण ही सही कि सूर-तुलसी आदि के सहारे के बिना आप किसी भी अहिन्दी-भाषी हिन्दी पाठक को हिन्दी काव्य की गरिमा से प्रभावित-आकर्षित नहीं कर सकते। इसलिए एक ओर तो हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य भी है कि यदि कोई कठिनाई पड़े तो उसे हल किया जाए। कठिनाई आती है किस लिए, इसलिए कि उसे हल किया जाए, ताकि उनके हृदय में यह बात जम जाए कि जैसे उनसे यह बात कही नहीं जा रही, उनका मत स्वयं कहला रहा है, जो पढ़ रहे हैं। एक कवि को ही ले लीजिए—तुलसी को। वास्तव में हिन्दी में कोई दूसरा कवि ही न होता सिवा तुलसी के तो भी एक कवि के सहारे हम किसी भी बड़े-से-बड़े साहित्यकार के साहित्य की तुलना में अपना अनुदान दे सकते तो हमेशा गरूर होता, लेकिन एक तुलसी तो है नहीं। हम सब चेष्टा करें इस बात की कि इन सब का निकट परिचय हम हिन्दी-भाषी दे सकें, अपने विद्यार्थियों को और आज के हिन्दी साहित्य से उन्हें परिचित कराके छोड़ें।

एक बात है व्याकरण के सम्बन्ध में। अहिन्दी-भाषी विद्यार्थी की दृष्टि में हिन्दी-व्याकरण पहेली, अबूझ पहेली बनी है; उस विद्यार्थी को हिन्दी-व्याकरण सरल, सुबोध, सहज बनाकर कैसे पढ़ाएँ, इस पर भी गम्भीरता से सोचना होगा।

डॉ० भोलानाथ तिवारी

हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास

डॉ० तिवारी का जन्म ४ नवम्बर १९२३ को उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के हुसेनपुर गाँव में हुआ था। तिवारीजी का सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आदि कई संस्थाओं से बहुत निकट का रहा है। १९५६ में आप हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग के सहायक मन्त्री थे। वहाँ से दिल्ली विश्वविद्यालय में आए। आजकल सोवियत सरकार के निमन्त्रण पर ताशकन्द विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर के रूप में काम कर रहे हैं। डॉ० तिवारी ने अपना साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरम्भ किया। बाद में कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे। अन्ततः कोशविज्ञान एवं भाषाशास्त्र को अपना विषय बनाया। इनकी प्रमुख कृतियाँ 'भाषा-विज्ञान', 'तुलसी शब्दसागर', 'पर्यायवाची कोश', 'हिन्दी मुहावरा कोश', 'भाषाविज्ञान कोश' तथा 'शब्दों का जीवन' आदि हैं। 'हिन्दी नीतिकाव्य', 'कवि प्रसाद', 'महाकवि देव' आदि कुछ आलोचना-ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दी भाषा के कुछ रूप तो ईसा पूर्व, पालिभाषा में भी मिलते हैं, किन्तु, हिन्दी का वास्तविक उद्भव १००० ई० से पूर्व नहीं माना जा सकता। हिन्दी साहित्य के आरम्भ पर विचार करते हुए, इससे सम्बद्ध विभिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये गए है। राहुल सांकृत्यायन ने सरहपा को हिन्दी का आदि कवि माना है। सरहपा का काल ८वीं सदी है। इसका आशय है कि वे हिन्दी भाषा की उत्पत्ति ८वीं सदी या उससे भी पूर्व मानते हैं। बहुत-से लोग पूष (पुष्य, पुण्ड, या पुषी) को हिन्दी का आदि-कवि मानते हैं, किन्तु उनका भी काल १००० ई० से पूर्व ठहरता है। वस्तुतः इस प्रकार के मत, भाषा की वास्तविक स्थिति पर आधारित नहीं हैं। १००० ई० के पूर्व, किसी कवि की भाषा में कुछ रूप हिन्दी के मिल सकते हैं, किन्तु, केवल कुछेक रूपों के आधार पर उनकी भाषा को हिन्दी नहीं कह सकते। अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की भाँति हिन्दी का उद्भव भी ११वीं सदी में ही मानना समीचीन है। इस काल या इसके बाद के कवियों की भाषा ही वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी कही जा सकती है, जिसमें अपभ्रंश के रूप तो हैं, किन्तु उनका अनुपात हिन्दी रूपों से कम है।

भाषा की उत्पत्ति जीव-वैज्ञानिक ढंग की नहीं होती, जिसकी निश्चित तिथि बताई जा सके या जिसे घण्टा-मिनट में व्यक्त किया जा सके। भाषा का एक अविच्छिन्न प्रवाह चलता है, और उसमें भाषा-विशेष के तत्वों के आधिक्य के आधार पर ही, विशेष काल में विशेष नाम से इसे अभिहित करते हैं। हिन्दी की उत्पत्ति को चित्र-रूप में व्यक्त करना चाहें तो मोटे रूप से कुछ इस तरह रख सकते हैं :
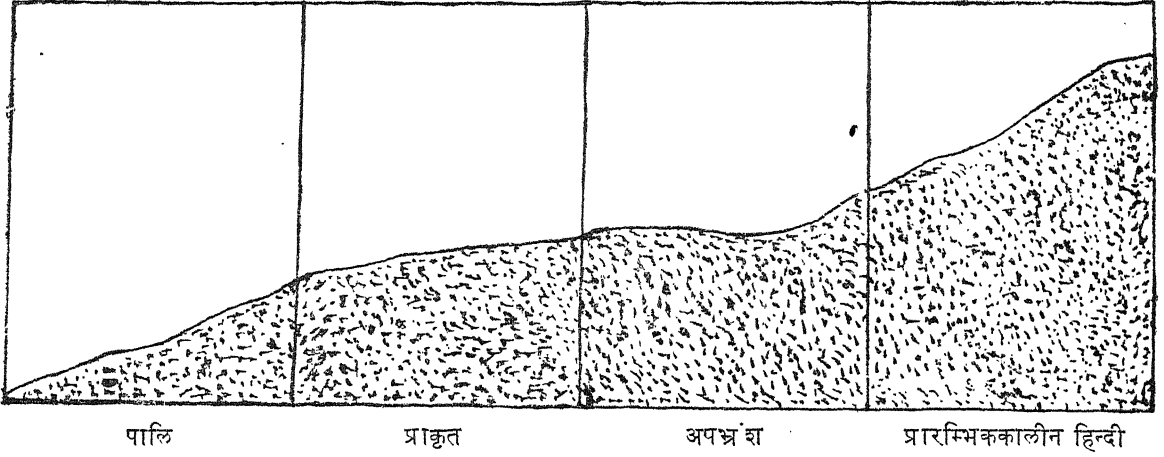
यहाँ बिन्दुओं द्वारा रंजित अंश हिन्दी हैं। हम देख रहे हैं कि पालि-काल में कुछ हिन्दी रूप आ गए थे, यद्यपि उनका अनुपात अत्यल्प था। प्राकृत-काल में वे कुछ और बढ़े तथा अपभ्रंश-काल में उनमें और भी वृद्धि हुई। अन्ततः अपभ्रंश-काल की समाप्ति पर हिन्दी रूपों का प्रतिशत पचास से अधिक हो गया। जहाँ से यह प्रतिशत पचास से ऊपर हो रहा है वहीं से भाषा की इस अविच्छिन्न धारा को हिन्दी नाम से अभिहित करते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि आदिकालीन हिन्दी में अपभ्रंश के रूप भी पर्याप्त थे, किन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, अपभ्रंश रूपों का अनुपात घटता गया और हिन्दी रूपों का अनुपात बढ़ता गया, और अन्ततः अपभ्रंश रूप समाप्तप्रायः हो गए एवं हिन्दी १५०० ई० के आसपास अपने पैरों पर खड़ी हो गई। यह जो हिन्दी का उद्‌भव काल है, उसे ११वीं सदी का मध्य कह सकते हैं।

उपर्युक्त चित्र में यह भी संकेतित है कि हिन्दी के पूर्व, इस क्षेत्र में, भाषा का जो रूप था, उसे अपभ्रंश कहते हैं। इसी बात को सामान्यतः यों भी कहते हैं कि हिन्दी की उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'उत्पत्ति' का ठीक वही अर्थ है; जो जीव या वनस्पति-विज्ञान में होता है।

हिन्दी का सम्बन्ध अपभ्रंश के किस रूप से है, इस पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना भी आवश्यक है कि 'हिन्दी' से आशय क्या है। वस्तुतः हिन्दी शब्द का प्रयोग १० से अधिक अर्थों में हुआ है। आज प्रमुखतः 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हो रहा है। 'हिन्दी-साहित्य' के इतिहास में बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दिल्ली और राजस्थान में प्रयुक्त सभी बोलियों में लिखा गया साहित्य समाहित है। यह 'हिन्दी' शब्द का विस्तृततम प्रयोग है। इस रूप में प्रयुक्त 'हिन्दी' शब्द मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, खड़ीबोली, ब्रज, कन्नौजी, बाँगरू, कुमायूनी, गढ़वाली, मारवाड़ी, मालवी आदि १७ बोलियों का एक सामूहिक नाम है। 'हिन्दी प्रदेश' में भी 'हिन्दी' शब्द का यही विस्तृततम अर्थ है।

'हिन्दी' शब्द का दूसरा अर्थ शुद्ध भाषावैज्ञानिक है। इस अर्थ में हिन्दी शब्द उपर्युक्त अर्थ की तुलना में कुछ संकुचित है। उपर्युक्त अर्थ में 'हिन्दी' के अन्तर्गत १७ बोलियाँ आती हैं, तो इस अर्थ में केवल ८; अवधी, बघेली छत्तीसगढ़ी ये तीन पूर्वी क्षेत्र की एवं बाँगरू, खड़ीबोली, ब्रज, कन्नौजी एवं बुन्देली ये पाँच पश्चिमी क्षेत्र की। इसी आधार पर हिन्दी की दो उपभाषाएँ 'पश्चिमी हिन्दी' और 'पूर्वी हिन्दी' मानी जाती हैं।

'हिन्दी' शब्द का तीसरा अर्थ संकुचिततम है। जब हम कहते हैं कि भारत की राजभाषा या राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' है, या शिक्षा का माध्यम 'हिन्दी' है, तो 'हिन्दी' शब्द केवल

'खड़ीबोली' पर आधारित 'परिनिष्ठित हिन्दी' का भाव व्यक्त करता है।

इस प्रकार हिन्दी शब्द प्रथम प्रयोग में १७ बोलियों का सामूहिक नाम है, दूसरे प्रयोग में ८ बोलियों का सामूहिक नाम है, और तीसरे प्रयोग में केवल एक का नाम है।

अपभ्रंशों से सम्बन्ध दिखलाने में प्रथम प्रयोग को सामने रखना ही समीचीन है, क्योंकि उसमें अन्य दो भी समाहित हैं। उसे स्पष्ट एवं विस्तृत रूप में यों रख सकते हैं :
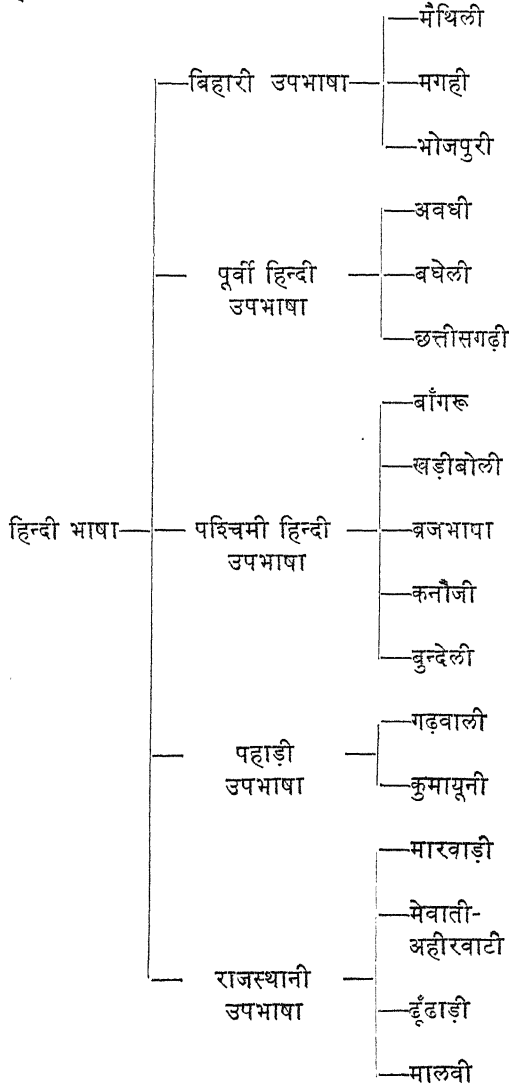
उपर्युक्त बोलियों से घिरा प्रदेश ही हिन्दी प्रदेश है। इस प्रदेश में हिन्दी के उद्भव के पूर्व, अपभ्रंश के मागधी, अर्धमागधी तथा शौरसेनी रूप प्रचलित थे। हिन्दी की बिहारी उपभाषा की उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से हुई, यद्यपि उस पर अर्धमागधी एवं कुछ अंशों तक शौरसेनी का भी प्रभाव पड़ा है। पूर्वी हिन्दी के सम्बन्ध में विवाद है। प्रायः लोगों ने इसे अर्धमागधी से जोड़ा है। डॉ० बाबूराम सक्सेना इसे पालि के समीप मानते हैं, और इस आधार पर वे, जैन अर्धमागधी के उस रूप से नहीं, जो प्राप्त है, बल्कि किसी प्राचीन रूप से अवधी का सम्बन्ध जोड़ते हैं। मैं समझता हूँ कि अपभ्रंश के एक भौगोलिक रूप में जब हम 'अर्धमागधी' नाम का प्रयोग करते हैं, तो वह ठीक वही भाषा या बोली नहीं होती, जो जैन धर्मग्रन्थों में मिलती है और जिसे जैन अर्धमागधी या अर्धमागधी कहा गया है। यह वस्तुतः अपभ्रंश का वह रूप है, जो १००० ई० के आसपास, उस क्षेत्र में बोला जाता था, जो मागधी तथा शौरसेनी क्षेत्रों के बीच में था तथा जहाँ वर्तमान पूर्वी हिन्दी उपभाषा का क्षेत्र है। इसे 'अर्धमागधी' कहा गया है और 'अर्धशौरसेनी' नहीं। इसी में इस बात का भी संकेत है कि यह भाषा मागधी एवं शौरसेनी-क्षेत्रों के बीच में होते हुए भी, शौरसेनी की अपेक्षा मागधी की ओर कुछ अधिक झुकी थी। यों इसमें शौरसेनी तत्व भी अवश्य थे। निष्कर्षतः पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध अर्धमागधी अपभ्रंश से ही मानना समीचीन है। यों यह अपभ्रंश कदाचित् परवर्ती पालि एवं शौरसेनी से प्रभावित था। पश्चिमी हिन्दी की बोलियों का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमोत्तर रूप से है। पहाड़ी उपभाषा की बोलियों को डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा बहुत से अन्य लोगों ने 'खस अपभ्रंश' से सम्बद्ध माना है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इनके सम्बन्ध-दर्शन के लिए 'खस अपभ्रंश' की कल्पना की गई है। किन्तु व्याकरणिक तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये बोलियाँ भी शौरसेनी से ही सम्बन्धित हैं। इन्हें शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से उद्भूत कह सकते हैं। यों इन पर पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी राजस्थानी एवं एकाक्षर परिवार की स्थानीय बोलियों का भी ऐतिहासिक एवं भौगो-

३५०० फारसी शब्द, २५०० अरबी शब्द तथा सौ से कुछ कम तुर्की शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं। ये प्रायः सभी इस काल तक आ चुके थे, और धीरे-धीरे उच्च से मध्यम और मध्यम से निम्न वर्ग में प्रवेश कर रहे थे। इस काल के उत्तरार्ध में यूरोप से भी हमारा पर्याप्त सम्पर्क हो गया, अतः १०० से कुछ कम पुर्तगाली, कुछ फ्रान्सीसी एवं डच और कुछ सौ अंग्रेज़ी शब्द भी हिन्दी में प्रविष्ट हो गए। धर्म की प्रधानता के कारण राम-स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-स्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य लिखा गया। यों दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खड़ीबोली में भी साहित्य-रचना हुई। आदिकाल में, ऊपर कहा गया है कि हिन्दी की विभिन्न बोलियों में बहुत स्पष्ट अन्तरों का विशेष विकास नहीं हुआ था। इस काल में यह कमी प्रायः पूरी हो गई। यद्यपि इस दिशा में आधुनिक काल में और अधिक विकास हुआ।

आधुनिक काल में हिन्दी का पूर्ण विकास हो गया है। हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ अब इतनी विकसित हो गई हैं, कि उनमें कुछ को उपभाषा या भाषा भी कहा जा सकता है। इस काल में अंग्रेजी भाषा से पर्याप्त शब्द आए हैं। सामान्य भाषा में उनकी संख्या लगभग ३ हजार है, किन्तु तकनीकी क्षेत्रों को मिला लें तो यह संख्या दूनी से भी अधिक है। शिक्षा के उचित प्रचार-प्रसार एवं सांस्कृतिक जागरण के कारण संस्कृत से इधर बहुत अधिक शब्द लिये गए हैं। बहुत से पुराने तद्भव एवं देशज शब्द, जो मध्यकाल में अच्छी तरह प्रचलित थे, अब या तो अप्रचलित हो गए हैं, या अपरिनिष्ठित मान लिये गए हैं। भारत की सगोत्रीय तथा अगोत्रीय दोनों ही भाषाओं से हिन्दी ने शब्द ग्रहण किये हैं। तकनीकी क्षेत्रों के लिए पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य भी चल रहा है, और बातचीत, साहित्य एवं पत्र-व्यवहार की भाषा अब धीरे-धीरे विज्ञान आदि अन्य क्षेत्रों के लिए एक सक्षम माध्यम बनती जा रही है। साहित्य के क्षेत्र में प्रमुखतः केवल खड़ीबोली का ही प्रयोग चल रहा है। राजनीति प्रधान युग होने के कारण दिल्ली के पास की हिन्दी को प्रमुखता मिलना स्वाभाविक ही है। परिनिष्ठित हिन्दी में इधर एक नई ध्वनि आ गई है। यह है ऑ। इसका प्रयोग 'ऑफिस', 'कॉलिज' जैसे अंग्रेजी शब्दों में हो रहा है। जिस प्रकार मध्यकाल में फारसी आदि के शब्दों के शुद्ध उच्चारण के प्रयास में, हिन्दी ने कई नए व्यंजन ग्रहण किए, उसी प्रकार आधुनिक काल में अंग्रेजी शब्दों के शुद्ध उच्चारण के प्रयास में यह स्वर-ध्वनि (ऑ) ग्रहण की गई है। ध्वनि की दृष्टि से कुछ और परिवर्तन भी दृष्टिगत हो रहे हैं। आदिकाल में हिन्दी ने दो संयुक्त व्यंजन 'ऐ', 'औ' अपनाये थे। किन्तु अब ये ध्वनियाँ धीरे-धीरे संयुक्त स्वर के स्थान पर मूल स्वर होती जा रही हैं। ऐसा लगता है कि निकट भविष्य में ये दोनों स्वर मूल स्वर हो जाएँगे।

भीमसेन 'निर्मल'

हिन्दी की सार्वदेशिकता

श्री भीमसेन 'निर्मल' मूलतः तेलुगु-भाषी हैं। इन्होंने क्रमशः हिन्दी और तेलुगु में एम० ए० किया और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के साहित्यरत्न भी हैं। विभिन्न सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इनके अनेक अनुशीलात्मक एवं गवेषणापूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। तेलुगु और हिन्दी भाषा एवं साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन यह पिछले कई वर्षों से कर रहे हैं। सम्प्रति हैदराबाद के उसमानिया विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में व्याख्याता हैं।

कन्याकुमारी से कश्मीर तक तथा पुरी जगन्नाथ से द्वारिकाधाम तक व्याप्त भारतीय संस्कृति की एकरूपता अतिप्राचीन काल से बनी हुई है। जीवन-विधान, विचार-धारा, वेशभूषा, भाषा आदि में प्रतिभासित होनेवाली बाहरी विभिन्नता के पीछे एक अखण्ड तत्व विराजमान है। इन विभिन्नताओं के सूक्ष्म एवं तुलनात्मक अध्ययन से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि ये सब एक ही तत्व की अनेक टीकाएँ अथवा अनेक परिभाषाएँ हैं। "ये सब एक अखण्ड और विराट सत्य पर विभिन्न दिशाओं से फेंके गए प्रकाश की किरणें हैं।" (श्रीमती महादेवी वर्मा।)

भौगोलिक तथा राजनैतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत की सांस्कृतिक एकता बनाए रखने में मध्यदेश की भाषा का प्रमुख स्थान रहा है। धर्मप्राण भारतीय जनता को एकसूत्र में बाँध रखने का कार्य, शतियों से संस्कृत भाषा द्वारा सम्पन्न होता आ रहा है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक भारत-जाति की मानसिक सन्तुष्टि एवं आध्यात्मिक तथा साहित्यिक विचार-विनिमय का साधन रही है संस्कृत भाषा। बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रचार तथा प्रसार के साथ-साथ पालि-प्राकृत की भी देश-भर में विशेष परिव्याप्ति रही होगी। धर्म के अतिरिक्त राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों के निर्वाह के लिए भी 'मध्यदेश' की भाषा अन्त:प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम रही है। 'मध्यदेश' की जनता के देश में चारों ओर फैलने के साथ-साथ उनकी भाषा भी देश-भर में फैल गई।

अंग्रेज़ी के आगमन के पूर्व तक संस्कृत की आत्मजा बनकर हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्राय: देश-भर में समझी जाती थी; अर्थात् प्रादेशिक भाषाओं के साथ हिन्दुस्तानी का अस्तित्व प्रत्येक प्रान्त में था। परन्तु अंग्रेज़ों के शासनकाल में प्रादेशिक भाषाओं के साथ अंग्रेज़ी को जोड़कर हिन्दुस्तानी की सार्वदेशिकता को मिटाया गया। इस तथ्य के कई प्रमाण मिलते हैं कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी, देश-भर में एक सामान्य भाषा का पद प्राप्त कर चुकी थी। व्यापारिक विचार-विनिमय के साधन के रूप में एवं सेनाओं के आवागमन के फलस्वरूप, हिन्दी का व्यवहार सर्वत्र अवश्य होता होगा। चारों धामों की यात्रा करनेवाले यात्री टूटी-फूटी हिन्दी में ही अपने विचार प्रकट करते होंगे। देश-भर के सन्त और भक्त जब-जब मेलों या उत्सवों के अवसरों पर मिलते थे, तब आपस में हिन्दी में ही बोलते होंगे।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध भक्त-कवि नामदेव एवं तुकाराम के हिन्दी भजनों से हिन्दी के प्रेमी सुपरिचित हैं। उस प्रान्त के 'ललित' (लडिते) नामक लोकगीतों में भी हिन्दी का प्रयोग हुआ है।[1] इनके अतिरिक्त दक्षिण में सुदूर

१. मराठी नाटकों में हिन्दी ललित : डॉ० विनयमोहन शर्मा का लेख; श्री विनायकराव अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३२६।

दक्षिण तक—१७वीं, १८वीं तथा १९वीं शतियों में अहिन्दी-भाषियों द्वारा रचित हिन्दी रचनाओं का पता चला है जिनसे उपरोक्त धारणा और भी पुष्ट होती है ।

संगीत और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान, उत्कृष्ट कवि और अनन्य आश्रयदाता के रूप में तेलुगु-साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय स्थान के अधिकारी भोसलवंशीय शाहजी महाराज ने, जिन्होंने सन् १६८४ से १७१२ तक तंजाऊर पर राज्य किया था, हिन्दी भाषा में दो यक्षगानों की रचना की है । उनकी मातृभाषा ठहरी मराठी, प्रादेशिक भाषा रही तमिल, फिर भी शाहजी महाराज ने तेलुगु भाषा की अनन्य सेवा की है । हाल ही में उनके द्वारा रचे गए दो हिन्दी यक्षगान तंजाऊर के 'सरस्वती महल पुस्तकालय' में मिले हैं । इनमें से एक का नाम 'राधा-वंशीधर विलास नाटक' है तो दूसरे का 'विश्वातीत विलास नाटक' । ये दोनों नाटक तेलुगु की विशिष्ट नाटक रचना-शैली 'यक्षगान' की पद्धति पर ही रचे गए हैं । गीतों से भरे इन नाटकों में गद्य का बहुत कम प्रयोग हुआ है । इन नाटकों की भाषा को सम्पादकों ने 'मालवी और राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा' माना है । भाषा के हिन्दी होने पर भी गीतों के राग-ताल कर्नाटक सम्प्रदाय के अनुकूल हैं । दक्षिण भारत के संगीत के साँचे में हिन्दी भाषा को ढालने का यह प्रथम एवं सफल प्रयास है, जो भावात्मक एकता का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है ।[1]

तिरुवितांकूर (केरल) के राजा गर्भश्रीमान स्वातितिरुनाल श्री रामवर्मा ने हिन्दी में 'पद्मनाभ' के उपनाम से लगभग ४० भजनों की रचना की है ।[2] श्री स्वातितिरुनाल का जन्म सन् १८१३ में हुआ था । इस भक्त-कवि ने संस्कृत, तेलुगु, मलयालम और हिन्दी में भजनों की रचना की है ।

लगभग सन् १८८० में श्री शिष्टु कृष्णमूर्ति और मंड कामय्या या नरहरि नामक दो महानुभावों ने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तेलुगु में सुन्दर काव्यानुवाद किया है । इस अनुवाद की विशेषता यह है कि अनुवादकों ने मूल हिन्दी छन्दों का ही प्रयोग किया है । अर्थात् दोहा, सोरठा, चौपाई आदि छन्दों में तेलुगु भाषा को ढाला गया है ।[3]

सन् १८८४ से ८६ में मछिलीपट्टणम के निवासी, तेलुगु और संस्कृत के विद्वान श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि ने हिन्दुस्तानी में एक-दो नहीं ३२ नाटकों की रचना की है । ये तत्कालीन रंगमंचीय नाटकों के अनुकरण पर लिखे गए हैं । तत्कालीन रंगमंचीय नाटक महाराष्ट्र की नाटक-मण्डलियों द्वारा अभिनीत होते थे । इन नाटकों की भाषा हिन्दी हुआ करती थी । इन हिन्दी नाटकों को देखकर, श्री पुरुषोत्तम कवि ने हिन्दी नाटकों की रचना की एवं स्वयं सूत्रधार बनकर कुछ नाटकों का अभिनय करवाकर महाराष्ट्र नाटक मण्डली के अधिनेता से यह प्रशंसा प्राप्त की कि आपके हिन्दी नाटक इतने अच्छे हैं कि अब हमें आन्ध्र देश में आने की आवश्यकता नहीं । श्री पुरुषोत्तम कवि ने अपनी हिन्दी रचनाओं को तेलुगु लिपि में ही लिखा था । इनमें से एक नाटक 'रामदास चरित्रम्' स्वयं लेखक द्वारा तेलुगु लिपि में ही सन् १९१६ में प्रकाशित किया गया था । किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि पुरुषोत्तम कवि की सभी रचनाएँ आज प्राप्त नहीं होतीं । ३२ में से केवल १४ नाटक तथा कुछ भजन ही उपलब्ध हैं ।[4]

१९वीं शती के अन्तिम चरण में पुरुषोत्तम कवि का प्रयत्न, अपने क्षेत्र में अकेला नहीं था । ज्ञात होता है कि उस समय अन्य कई लेखकों ने हिन्दी में अभिनेय नाटक रचे थे । किन्तु व्यावसायिक नाटक मण्डलियों के उपयोगार्थ लिखे जाने के कारण, ये रचनाएँ केवल नाम-मात्रावशिष्ट रह गई हैं । नाट्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० पसुमूर्ति यज्ञनारायण शास्त्री ने 'आन्ध्र नट प्रकाशक', (१८२०) नामक ग्रन्थ में, आन्ध्र-प्रान्त में हिन्दी में नाटक-रचना

१. विशेष परिचय के लिए लेखक का निबन्ध : 'हिन्दी के दो यक्षगान'—युगप्रभात (कोषिकोड), १६-११-६२ ।

२. 'युगप्रभात' के सम्पादक श्री रविवर्मा से साभार यह समाचार प्राप्त हुआ है ।

३. 'तुलसीदास रामायणमु—प्रथम तेलुगु अनुवाद'—श्रीमती निवेदिता; 'परिशोधना' (तेलुगु त्रैमासिक) मद्रास —जून-जुलाई ५६ ।

४. विशेष परिचय के लेखक का लेख 'हिन्दी के अज्ञात नाटककार पुरुषोत्तम कवि'; 'आजकल' (दिल्ली) दिसम्बर ६० ।

करनेवाले लेखक और उनके अभिनेताओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। शास्त्रीजी के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि आन्ध्र नाटक-साहित्य के प्रथम उत्थान काल में हिन्दी-हिन्दुस्तानी में पर्याप्त मात्रा में नाटक लिखे गए थे और उनका प्रदर्शन भी हुआ था।

नाटक की रचना तथा प्रदर्शन सामान्य जनता के लिए होता है। उस युग में, आन्ध्र देश में हिन्दी में इतने नाटकों की रचना तथा प्रदर्शन, इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि उस समय इस प्रान्त में हिन्दी पर्याप्त मात्रा में समझी जाती थी।

दक्खिनी का, जिसे हिन्दी की एक विशिष्ट बोली मान सकते हैं, प्रचुर साहित्य भी, इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि दक्षिण में हिन्दी का सर्वत्र प्रचार था।

सन् १९१५ में जब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आए तब उन्होंने देश की तत्कालीन परिस्थितियों का अवगाहन करने के लिए देश-भर में भ्रमण किया था। इस भ्रमण के बाद उन्हें यह अनुभव हुआ कि देश-भर में यदि कोई भाषा सब के लिए विचार-विनिमय का माध्यम बन सकती है तो वह हिन्दी ही है।

मैं केवल आन्ध्र प्रान्त और तेलुगु साहित्य से सम्बद्ध विषयों पर ही दृष्टिपात कर सका हूँ। यदि अन्य प्रान्तों के विद्वान भी इस दृष्टिकोण से प्रयत्न करें तो मेरा विश्वास है कि हिन्दी के सार्वदेशिक व्यवहार को सिद्ध करनेवाले कई तथ्य मिलेंगे।

स्मरण रखना चाहिए कि उपरोक्त अहिन्दी भाषियों की हिन्दी रचनाएँ उस काल की हैं जब 'हिन्दी प्रचार' के नारे का उद्भव तक नहीं हुआ था। अतः इन रचना-प्रयत्नों को किसी राजनैतिक प्रभाव की उपज न मानकर, रचनात्मक प्रतिभा का स्वाभाविक परिणाम मानना उचित होगा। इन तथ्यों के आधार पर यह मानने में कोई सन्देह नहीं होगा कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी मध्ययुग से ही भारत देश में अन्तःप्रान्तीय व्यवहार का माध्यम रही है।

डॉ० हरीश

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का एक उत्कृष्ट रहस्यवादी काव्य : पाहुड़ दोहा
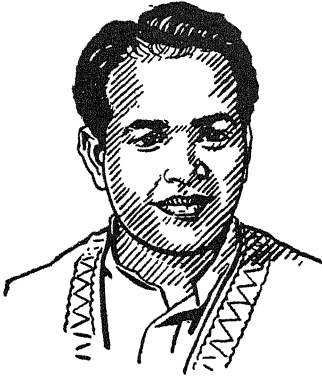
डॉ० हरीश का जन्म १९३३ में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एम० ए० (प्रथम श्रेणी) तथा डी० फिल० हैं। उनका शोध-प्रबन्ध था आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य। उनकी दो अन्य कृतियाँ 'कबीर : व्यक्तित्व और कृतित्व' तथा 'आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य ग्रन्थ' प्रकाशित हो चुके हैं। कई अन्य आलोचनात्मक कृतियाँ, कविता-संग्रह तथा एकांकी-संग्रह प्रकाशन के पथ पर हैं। आजकल एम० बी० कॉलेज, उदयपुर में हिन्दी के अध्यापक हैं।

'पाहुड़ दोहा, एक छोटी-सी रचना है, जिसके रचयिता मुनि रामसिंह हैं। इस छोटे-से ग्रन्थ का सम्पादन डॉक्टर हीरालालजी ने किया है। ग्रन्थ में कुल २२२ दोहे हैं। ग्रन्थ के साथ जो दोहा शब्द लगा है वह उसके छन्द का बोधक है। हमारे साहित्य में प्राकृत से लेकर अब तक दोहा छन्द की परम्परा चली आ रही है। बड़े-बड़े कवियों ने अपने उद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए इस सारपूर्ण छन्द को अपनाया है। मुनि रामसिंह इसी परम्परा के विदग्ध विद्वान एवं कवि हैं। 'पाहुड़ दोहा' का निश्चित काल-निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है। प्राप्त प्रमाणों—अन्त:साक्ष्य तथा बहि:साक्ष्य के आधार पर हम इसकी सम्भाव्य स्थिति की कल्पना अवश्य कर सकते हैं। हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वान आलोचकों ने इस रचना का काल-निर्धारण किया है। 'पाहुड़ दोहा' एक विशुद्ध मुक्तक रचना है, जिसमें किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक गन्ध नहीं है। १०वीं शताब्दी में जैन मुनियों की दो रचनाएँ—'परमात्म प्रकाश'[१] तथा मुनि रामसिंह का 'पाहुड़ दोहा'[२] ऐसी ही हैं। यद्यपि इन कवियों को सम्प्रदाय में रहना था फिर भी साम्प्रदायिक सीमाओं में ये कवि बँधे नहीं हैं तथा इन्होंने धर्म की शास्त्रीय रूढ़ियों और वाह्याडम्वरों के प्रतिकूल जीवन-मुक्ति तथा कैवल्य का असाधारण उपदेश दिया है। इस प्रकार उद्देश्य में व्यापकता और विचारों में सहिष्णुता होने के कारण इन मुनियों की पारिभाषिक पदावली और काव्य की शैली भी सहज सामान्य और लोक-प्रचलित हो गई।[३]

अपभ्रंश को हमारे आदिकाल के साहित्य का आधार मानते हुए भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन ग्रन्थों को निस्सन्देह उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। अत: उनके इस तथ्य का निराकरण आवश्यक है। अपने इतिहास में आचार्य शुक्लजी ने लिखा है :

"आदिकाल का नाम मैंने वीरगाथा-काल रखा है; उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं।

१. डॉ० आदिनाथ द्वारा सम्पादित जोइन्दु का 'परमात्म प्रकाश', सन् १९३७।
२. कारंजा सिरीज; सन् १९३३; डॉ० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित।
३. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग; डॉ० नामवर सिंह; पृ० २९५।

अपभ्रंश की और देश भाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्मतत्व-निरूपण-सम्बन्धी हैं, जो साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख यह दिखाने के ही लिए किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था। साहित्य की कोटि में आनेवाली रचनाओं में कुछ तो भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे हैं, जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती थी।"

इस प्रकार उस समय शुक्लजी द्वारा इन कई जैन-ग्रन्थों—कड़बक, दोहा-संज्ञक रचनाओं का निराकरण कर दिया गया था। पर समय की आवश्यकता तथा साहित्य की गवेषणा ने इन ग्रन्थों का मूल्यांकन कर अपनी श्रीवृद्धि की है। 'पाहुड़ दोहा' में देवसेन-कृत 'सावयव धम्म दोहा' के उद्धरण विद्यमान हैं, तथा 'पाहुड़ दोहा' के छन्दों को आचार्य हेमचन्द्र ने उद्धृत किया है। यद्यपि विषय की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों में कुछ स्थानों पर बड़ा अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है, किन्तु भाषा और शैली की दृष्टि से दोनों समान हैं। छोटी-छोटी उपमाएँ तथा उक्तियाँ तथा कहीं तो आदि-साम्य के अतिरिक्त पूरे-पूरे दोहे तक समान हो गए हैं।[1]

'श्रुतसागर' तथा उसकी टीका में भी 'पाहुड़ दोहा' के कुछ छन्द थोड़े से अन्तर के साथ उद्धृत हैं। उदाहरणार्थ हम दोनों में साम्य देख सकते हैं।[2]

सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ जिसका इसके साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, वह है, हेमचन्द्र का 'प्राकृत व्याकरण'। 'पाहुड़ दोहा' के कई दोहे हमें इसमें मिलते हैं तथा दोनों में पर्याप्त साम्य है। 'पाहुड़ दोहा' तथा इसका एक उदाहरण एतदर्थं पर्याप्त होगा।

सयलु विलोवि तड़प्फड़, सिद्धत्तणहु पणेण।
सिद्धत्तणपाविमह, चितहं णिम्मलएण॥[3]

(पा० दोहा)

साहु विलोउ तड़प्फइल, वड्टणहो तणेण।
वड्टप्पणु परिपाविमइ हत्थि मोक्कलडेण॥[4]

(हेम० व्याकरण)

इसी प्रकार जोइन्दु के 'परमात्म प्रकाश' का एक दोहा तो बिलकुल ही 'पाहुड़ दोहा' से मिलता है; देखिए:

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरउ वि मणस्सु।
वेहि वि समरस हूवरहं, पूज्ज चडावउ कस्स॥[5]

और 'पाहुड़ दोहा' में

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरह जि मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पूज्ज चडावउ कस्स॥[6]

परम प्राप्तव्य के सम्बन्ध में कहे गए इन दोनों दोहों में पर्याप्त साम्य है। इसकी व्याख्या डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने की है। 'मध्यकालीन धर्म-साधना' में उन्होंने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

जो भी हो इतना अवश्य निश्चित है कि इन प्रमाणों के आधार पर 'पाहुड़ दोहा' का समय-निर्धारण अनुमानतः ही किया जा सकता है। उक्त प्रमाण हमें इसके लिए काल-विशेष की एक निश्चित सीमा-रेखा पर पहुँचाते हैं।

अनेक विद्वानों ने इस साहित्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। जैन विद्वानों के नेतृत्व में हमारा आदिकाल कितना निर्मित हुआ है, इसकी कल्पना सहज सम्भाव्य तभी हो सकेगी।

'पाहुड़ दोहा' का काल-निर्धारण करते हुए लिखा गया है—

"पाहुड़ दोहा में देवसेन कृत 'सावयव धम्म दोहा' के उद्धरण हैं, अतः इनका समय देवसेन के समय

---

१. पाहुड़ दोहा, सं० ४३, २१५; सावयव धम्म दोहा, सं० १२९-३०; पाहुड़ दोहा, सं० १९-१४६; भाव पाहुड़ टीका गाथा सं० १०८-१६२।
२. देखिए डॉ० हीरालाल कृत पाहुड़ दोहा भूमिका, पृ० २२।
३. पाहुड़ दोहा (कारंजा सिरीज) सं० ८८।
४. देखिए मध्यकालीन धर्मसाधना; डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
५. परमात्म प्रकाश, दोहा सं० १, १२३, २।
६. पाहुड़ दोहा; डॉ० हीरालाल; दोहा सं० ४८।

(सं० ८६०) के बाद ही होगा। पुनः 'पाहुड़ दोहा' के छन्द आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा उद्धृत है। हेमचन्द्र का समय संवत् ११५७ है, मुनि रामसिंह का आविर्भाव सं० ८८० से ११५७ के बीच हुआ होगा। हेमचन्द्र के समय में अब कोई शंका नहीं है और क्योंकि हेमचन्द्र के व्याकरण के ११०३ और १२४३ के बीच में बनने के पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं, अतः सिद्ध होता है कि 'पाहुड़ दोहा' सन् ११०० ई० से पूर्व बना होगा। यों इसकी दो हस्त-प्रतियाँ सं० १७८४ की लिखी मिलती हैं।"

डॉ० हीरालाल मुनि रामसिंह का आविर्भाव काल सं० १०५७ के लगभग मानते हैं, अपने सम्पादित ग्रन्थ में उन्होंने एतदर्थ प्रमाण दिए हैं।

अद्यावधि इतने ही विचार मिलते हैं। क्योंकि 'पाहुड़ दोहा' से साम्य रखनेवाले ग्रन्थों यथा 'परमात्म प्रकाश', 'योगसारादि' का समय भी ठीक ज्ञात नहीं हो पाया है, अतः 'पाहुड़ दोहा' का समय शंका से परे नहीं कहा जा सकता। डॉ० हीरालाल ने इसे स्पष्ट किया है।

यह विषय शंकास्पद ही है। यदि इस सम्बन्ध में कोई बात निश्चयतः कही भी जाए तो उससे प्रस्तुत ग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभी तक योगीन्द्रदेव के समय का भी निर्णय नहीं हुआ है। जो भी हो एतदर्थ अनुसन्धान आवश्यक है। अब तक की प्राप्त सूचनाएँ संक्षेप में ऊपर दी जा चुकी हैं।

ग्रन्थ का नाम पढ़कर हम पाहुड़ शब्द पर विचार किये बिना नहीं रह सकते। ग्रन्थ के सम्पादक डॉ० जैन ने लिखा है कि जैनियों ने पाहुड़ शब्द का प्रयोग किसी विषय-विशेष के प्रतिपादक ग्रन्थ के अर्थ में किया है। कुन्दाचार्य के प्रायः सभी ग्रन्थ पाहुड़ कहलाते हैं, यथा—'समयसार पाहुड़', 'प्रवचनसार पाहुड़', 'भाव पाहुड़', 'बोध पाहुड़'।[1]

डॉ० नामवरसिंह ने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट किया है कि 'गोम्मटसार जीवकांड' की ३४१ की गाथा में इस शब्द का अर्थ अधिकतर बतलाया गया है। यथा—अधियारो पाहुडयं। उसी ग्रन्थ में आगे समस्त श्रुतज्ञात को पाहुड़ कहा गया है। इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त-संग्रह को पाहुड़ कहते थे।[2]

डॉ० हीरालाल ने यह भी लिखा है कि पाहुड़ का संस्कृत रूपान्तर पाभृत किया जाता है, जिसका अर्थ है उपहार। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रन्थ का अर्थ दोहों का उपहार, ऐसा ले सकते हैं।[3]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी इस ग्रन्थ के उक्त विचारों पर कोई शंका नहीं की है।

इस प्रकार दोहों के उपहार के रूप में हम 'पाहुड़ दोहा' से जीवन-मुक्ति का उपहार भी प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के नाम के पीछे पाहुड़ शब्द का ही प्रयोग है और क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य श्री कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ आध्यात्मिक भावों से भरे हुए हैं, 'पाहुड़ दोहा' में विशेष रूप से वही भाव पाए जाते हैं जो उनके 'भाव पाहुड़' में आए हैं। भाषा-रचना आदि में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। यथा, दोनों में सालिस्थि का वर्णन।[4] अतः यह ग्रन्थ इसी परम्परा के दृष्टिकोण से लिखा गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुनि रामसिंह ने परम्परागत दृष्टि का स्पष्ट ध्यान रख इस ग्रन्थ की रचना की हो, या यह दोहों का उपहार दिया हो।

ग्रन्थ के रचना-काल की भाँति इसके रचयिता का प्रश्न भी बहुत-कुछ सुलझा हुआ नहीं लगता। 'पाहुड़ दोहा' के एक दोहा प्रति सं० ५ में 'रामसिंह मुणि इम भणई'[5] आया है और जितनी प्रतियाँ इसकी मिलती हैं, उनमें एक प्रति सं० ६ जिसकी पुष्पिका में लिखा हुआ है 'इति श्री मुनि रामसिंह विरचिता पाहुड़ समाप्त'।[6] इससे इसके रचयिता

---

१. पाहुड़ दोहा, भूमिका; पृष्ठ १३।

२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग; डॉ० नामवरसिंह पृ० २३६,;

३. पाहुड़ दोहा (भूमिका), पृष्ठ १३।

४. देखिए 'भाव पाहुड़ गाथा' ८६ तथा 'पाहुड़ दोहा ५२, दोहा सं० ५; पाहुड़ दोहा, पृष्ठ ६४, दोहा सं० २११।

५. जो प्रति मिलती है वह नए मन्दिर की है; देखिए पृष्ठ ८, पाहुड़ दोहा, भूमिका।

६. जो प्रति एक गुटके की भाँति है; विवरण हेतु देखिए वही पृष्ठ १०।

वही रामसिंह मुनि लगते हैं परन्तु जब हम प्रति सं० ७ की मुक्ति पुष्पिका में 'इति श्री योगेन्द्रदेव विरचित दोहा या पाहुड़ नाम ग्रन्थ समाप्त' देखते हैं तो ग्रन्थ के कर्ता का निर्धारण थोड़ा कठिन-सा हो जाता है। पर एतदर्थ भी कोई सबल प्रमाण नहीं प्राप्त होते, अतः इस ग्रन्थ को योगोन्द्रदेव कृत मानना भी ठीक नहीं लगता। डॉ० हीरालाल ने निष्कर्षतः इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है: 'जब तक और अधिक प्रमाण इस सम्बन्ध में हमें नहीं मिल जाएँ तब तक प्रस्तुत दोहों का कर्ता, ग्रन्थ के भीतर निर्दिष्ट मुनि रामसिंह को ही मानना उचित है।'

रामसिंह राजस्थान के रहनेवाले थे। उनका यह ग्रन्थ उपदेश प्रधान है, अतः उपदेशात्मक वाणी में जीवन की सरल-सरस अनुभूति का समन्वय कर मुनिजी ने उसे और गूढ़ तथा सुन्दर बना दिया है। छन्द भी ऐसा छोटा चुना है कि जिसमें थोड़े शब्दों में बहुत-कुछ कहने की शक्ति समाविष्ट है। अतः यह उपदेश सरल और सरस दोहों में ही सँजोया गया है। छन्द की दृष्टि से हम ग्रन्थ का जब मूल्यांकन करते हैं तो कल्पना हो जाती है कि किस प्रकार इस छन्द में कवि ने अपने गम्भीर विचारों को तथा मानवीय दुर्बलताओं पर पूर्णतया विचार कर उपदेशों के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। कवि का भाव कभी भी अपने भाषा-ज्ञान या पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं रहा। स्पष्ट ही उन्होंने साधना की सीमा का निर्धारण हमारे सामने सरलतापूर्वक किया है।

भाषा की ओर जब हम देखते हैं तो अपभ्रंश की कठिनता का स्पष्ट अनुभव होने लगता है, पर जब ग्रन्थ का परिशीलन करते हैं तो यह कठिनाई नहीं लगती। अपभ्रंश का हिन्दी के विकास में पर्याप्त योग रहा है। आज जबकि हमारी भाषा प्रगति के कई सोपान पार कर चुकी है, उसके मूल में दृष्टिपात करने पर अपभ्रंश को ही इसका श्रेय प्रदान करना पड़ेगा। जिसे विद्वानों ने पुरानी हिन्दी कहा है, 'पाहुड़ दोहा' की भाषा वैसी ही है तथा पुरानी हिन्दी के निकट लगती है। यह सर्व-साधारण को अत्यन्त प्रिय जन-साधारण की बोल-चाल की एवं पूर्ण सरलता-प्रधान भाषा है। यद्यपि मुनिजी को परम्परा में चलना पड़ा है, अतः उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, परन्तु फिर भी एकाग्रता से मनन करने पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि जैनियों के ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' की भाँति यह भाषा अधिक जटिल और समास-बहुला नहीं है। हाँ, अवहट्ट की भाँति कुछ टकार का भान हमें होता है और स्थान-स्थान पर णित्व का प्रयोग मिलता है। भाषा पर विचार करते हुए एक आलोचक ने लिखा है, "भाषा समास-प्रधान एवं जटिल नहीं। अवहट्ट की भाँति टकार तथा णित्व-प्रधान है। इसकी भाषा सांकेतिक है और सांकेतिक में इनकी समानता, बौद्ध-सिक्खों के चर्या पदों और दोहा-कोषों-सी दिखलाई पड़ती है।[1]"

रामसिंह के अलंकारों पर अपना प्रादेशिक प्रभाव स्पष्ट है। उपमा उन्हें विशेष प्रिय है। एक विशेष सुन्दर बात इस विषय में यह है कि इन्होंने अन्य कवियों की भाँति चंचल मन की सभी उपमाओं को छोड़कर, मन की उपमा करहा से दी है। करहा शब्द का अर्थ होता है ऊँट, और क्योंकि ऊँट चलने में अत्यन्त चंचल होता है, अतः शायद मन की चंचलता का साम्य 'करहा' शब्द से ही अधिक उचित बैठा हो। डॉ० हीरालाल जैन ने लिखा है कि करहा की उपमा कवि को बहुत ही प्रिय है। बहुत-से दोहों से भी यह बात स्पष्ट है।[2]

करहा चरि जिणगुण थलिहिं तव विल्लडिय गाय।
विसमी भवसंसार गइ उल्लू रियहिण जाय॥

उपमाओं और रूपकों के खूब प्रयोग हैं। मन को करहा, देह को देवालय—'देहा देवलि जो बसइ सीत्तहिं सहियउ[3]; आत्मा को शिव[4] और इन्द्रिय-वृत्तियों की शक्ति कहकर अनेक बार सम्बोधन किया गया है।

कहीं-कहीं श्लेष और मार्मिक अन्योक्तियाँ भी परिलक्षित होती हैं। उदाहरणार्थ हम दोहा ११५, १४८,

१. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २३७।
२. पाहुड़ दोहा—दोहा सं० १११, ११२, ११३ पृ० ३४।
३. दोहा सं० ५३ पाहुड़ दोहा (कारंजा सिरीज)।
४. पाहुड़ दोहा; दोहा संख्या ५४; पृ० १६।

१५२ को देख सकते हैं। रामसिंह के दिए दृष्टान्त।[1]

सपिमुक्की कंचुलिय सं विसुतण मुएइ।
भोयहं भाउण परिहरई, लिंगहण करेइ॥

तथा दोहा ७१ भी एतदर्थ प्रस्तुत किया जा सकता है।

डॉ० हीरालाल ने लिखा है कि ग्रन्थकार ने कहीं-कहीं देह और आत्मा के संयोग का प्रेयसी और प्रेमी के रूप में वर्णन किया है।

हउँ सगुणी पिय णिगुणउ णिअक्खणु पति संगु।
एकहिं अंगि बसन्तयहं मिलिण अंगहि अंगु॥[2]

हमने 'पाहुड़ दोहा' की कुछ समस्याओं पर तथा उसके कलात्मक पक्ष पर विचार किया। अब थोड़ा उसके भाव-पक्ष का अध्ययन भी आवश्यक है। विद्वानों ने 'पाहुड़ दोहा' को एक विशुद्ध रहस्यवादी काव्य कहा है जब कि आचार्य शुक्ल ने इन रचनाओं को धार्मिक-मात्र तथा असाहित्यिक कहकर इनकी उपेक्षा की है। अतः 'पाहुड़ दोहा' की रहस्य-वाद को क्या देन है, इसका स्वरूप-दर्शन करने पर हम ग्रन्थ के रहस्यवादी स्वरूप का अध्ययन कर सकेंगे। यों रहस्यवाद तो जीवन की बोधमयी कल्पना के साथ ही हो जाता है। निःसन्देह मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा रहस्य है। अतः जो काव्य जीवन और मृत्यु की मँझधार में खेलता है, वह अवश्य ही रहस्यवादी कहा जाना चाहिए। पुरातन रहस्यवाद से लेकर आज तक के रहस्यवाद के मूल्यांकन में हमें उन सभी सीमाओं को लेना है, जिनकी उपेक्षा हमारे लिए इस युग में कर सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार' तथा 'पाहुड़ दोहा' तीन ग्रन्थों में एक रहस्यात्मक प्रवृत्ति पूर्णतया विद्यमान है, अतः डॉ० नामवरसिंह ने इस प्रवृत्ति को रहस्यवाद नाम देने में थोड़ी-सी हिचक प्रकट की है। उनका कहना है कि—

"इन कवियों की रचनाओं के लिए रहस्यवाद शब्द का प्रयोग किसी अधिक उचित शब्द के अभाव में ही किया जा रहा है। अंग्रेज़ी में इस तरह की रचनाओं के लिए 'मिस्टिक' और 'मिस्टिसिज़म' शब्दों के प्रयोग की परम्परा-सी चल पड़ी है। नाथ, सिद्ध और सन्त कवियों पर भी यही शब्द प्रयुक्त किया जाता है और आधुनिक रोमांटिक कवियों के लिए भी लागू होता है। व्यक्तिगत रूप से लेखक इस तरह के पुराने कवियों के लिए 'मिस्टिक' शब्द को अनुपयुक्त और भ्रामक समझता है।"[3]

जो भी हो, काव्य में रहस्यवादी भावों का पूर्ण समावेश है। उनका उपदेश विशेष तौर से उन मूर्ख व्यक्तियों के लिए है, जो बिना आत्म-संयम का अभ्यास किये और बिना आत्म-कल्याण के वास्तविक मार्ग को जाने संसार को त्यागकर योगी बन जाते हैं।

मुनि रामसिंह का उपदेश सरल और स्पष्ट होते हुए भी बड़ा गूढ़ है। उनका कहना है कि साधना से ही मनुष्य संसार-सागर को पार कर सकता है। अतः इसी भावना से कवि ने देह और आत्मा के संयोग का, प्रेयसी और प्रेमी के रूप में, वर्णन किया है।

इनके रहस्यवादी कवि होने के लिए पुष्ट प्रमाण डॉ० रामकुमार वर्मा के इतिहास द्वारा हमें मिल पाता है। वे लिखते हैं: 'मुनि रामसिंह जैन रहस्यवाद के एक बहुत बड़े कवि हुए हैं। इनकी विचारधारा बहुत-कुछ सिद्ध कवियों की विचारधारा से साम्य रखती है?'[4] उन रचनाओं को, जो आठवीं शताब्दी में पायी जाती हैं, और जिनके लिखनेवाले जैन-मर्मज्ञ हैं उनसे विदित होता है कि उनकी अपभ्रंश की प्रायः सभी रचनाओं में उस युग की सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो उस समय की बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों तथा तान्त्रिकों के ग्रन्थों में मिलती हैं। समाज की रूढ़ियों का खण्डन और मानवता के धरातल पर खड़े होकर समरसता, चित्त-शुद्धि आदि पर ज़ोर, बाह्याचार का विरोध, समरसी भाव से स्वसंवेद्य आनन्द का उपभोग तथा शिव, परमपद या कैवल्य की प्राप्ति आदि का प्रचार ही इन जैन साधनों का कार्य रहा है।

'पाहुड़ दोहा' के रहस्यवाद पर कुछ विचार हमें इस

१. पाहुड़ दोहा सं० १५ पृ०, १५।
२. देखिए पाहुड़ दोहा पृ० ३०; दोहा सं० १००।
३. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २३७।
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; डॉ० रामकुमार वर्मा; पृ० ८३।

प्रकार प्राप्त होते है, "इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित्-चित्, देह-देवल, शिव-शक्ति, संकल्प-विकल्प, सगुण, निगुण, अक्षरबोध, विबोध, वाम-दक्षिण-मध्य दो पथ, रवि, शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तान्त्रिक ग्रन्थों का स्मरण आये बिना नहीं रहता।" इस प्रकार 'पाहुड़ दोहा' योगियों के लिए लिखी हुई रचना है, पर इन जैन मुनियों के अतिरिक्त भी ऐसे ही उदार कवि व साधक हमें अन्य कई दिखाई पड़ते हैं।

रूढ़ियों और नवीन स्थिति का निर्माण करनेवाली प्रवृत्ति में बड़ा संघर्ष हमें इस काल में मिलता है। अत: इस काल को हम संघर्ष या संक्रान्ति-काल कह सकते हैं। वस्तुतः ये जैन मुनि साधना की उसी नवीन उत्क्रान्ति के निर्माता हैं। ये मुनि कट्टर विरोधी नहीं, तथा इनके भाव भी एक विश्वास के दृढ़ प्रणेता हैं। 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार' तथा 'पाहुड़ दोहा' में भी परमतत्त्व-जैसी प्रिय वस्तु के लिए भी अलग-अलग भाव हैं तथा उस परमतत्त्व के अनेक नाम हैं, फिर भी रामसिंह में और उनमें कुछ अन्तर है। रामसिंह प्रकाश को ही अपना गुरु मानते हैं। जबकि ये अन्य सब कवि प्रकाश जहाँ कहीं से प्राप्त हो उसे प्राप्त करना चाहिए, इस विचार के प्रणेता हैं। जोइन्दु ने तो उस परमात्मा की वन्दना सबसे पहले की है, जो नित्यरंजन ज्ञानमय है। अतः ये कवि संकीर्ण भावनाओं से परे होकर मानव-कल्याण के लिए साधना करते थे। अक्षर-ज्ञान का विरोध इसी धारणा को दृढ़ करने के मूल में रहा है।

देखिए—

धम्मुण पढ़ियइं होय बढ, धम्मुण पोत्था पिच्छियइं।[1]

इसी तरह 'पाहुड़ दोहा' के रचयिता ने भी इसी विरोध का समर्थन इन शब्दों में किया है :

बहु यदि पठियइं मूढ़ पर तालू सुक्कह जेण।
एक्कुजि अक्खरू तं पठहु शिवपुरी पाभइ जेण॥[2]

और क्योंकि उस समय अक्षर-ज्ञान और पढ़ने-लिखने की सुविधा जन-साधारण को नहीं थी, अतः ज्ञानानुगमन ही एकमात्र मार्ग रह गया था, जिस पर सामूहिक रूप से प्रयाण हो। अक्षर-ज्ञान, शास्त्र-ज्ञान आदि तो पंडितों के बेढंगे प्रचार, तथा धर्म-ध्वजियों के आडम्बरपूर्ण जीवन के प्रति एक तीखा दंशन था। अतः इससे पर उन्होंने कहा है है कि आत्मज्ञान व सामरस्य भाव ही अक्षर है, जिसके बाद जानना शेष नहीं रहता। आत्मा ही आत्मा को प्रकाशमय करती है।

आचार्य द्विवेदीजी ने लिखा है कि समरस्यभाव उस युग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। सभी साधन-मार्ग इस शब्द का व्यवहार करते हैं। उसके अलग-अलग तत्त्ववाद हैं। उन्हीं से इन व्याख्याओं का पोषण होता है, पर परिणाम में व्यवहारतः सब एक हैं।[3]

जोइन्दु के साथ-साथ मुनि रामसिंह ने भी लिखा है : 'मन जब परमात्मा से साक्षात्कार कर लेता है और परमात्मा का जब मन से मिलन हो जाता है तो दोनों का सामंजस्य या समरसी भाव हो जाता है। अत: ऐसी स्थिति में साधक को पूजा-उपासना की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। फिर पूज्य, पूजक या उपास्य और उपासक का सम्बन्ध समाप्तप्रायः हो जाता है। दोनों अभिन्न हो जाते हैं तो कौन किस की पूजा करे ? यही तो रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था है।

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरू जि मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चढ़ावउँ कस्स॥[4]

मुनि रामसिंह ने स्पष्ट किया है कि विषय-सुख नश्वर है और विनाश करनेवाला है। उससे हमारा हृदय दोषपूर्ण अथच मलिन हो जाता है। आत्मानुभव ही साधना का सबसे सुन्दर भाव है। मूर्ति में परमेश्वर नहीं है। अतः आत्मदर्शन की अत्यन्त आवश्यकता है और उसी आत्मदर्शन में कवि का रहस्यवाद निखरा है। वैराग्य और समरसी भावों का द्योतन प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक रहस्यों का

१. योगसार ४७।
२. पाहुड़ दोहा; पृष्ठ २०।
३. मध्यकालीन धर्म-साधना—श्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० ४५।
४. पाहुड़ दोहा : रामसिंह; पृ० १६, दोहा सं० ४८।

उद्घाटन करता है। इन प्रवृत्तियों का संक्षेप में परिशीलन करने पर सही विषय का सम्यक् चिन्तन हो सकेगा।

जिस प्रकार हम सिद्ध-साहित्य के साधकों के चर्यापदों को देखते हैं ठीक इसी प्रकार की विचारधारा मुनिजी के 'पाहुड़ दोहा' में हमें उपलब्ध होती है। इनका दृष्टिकोण शुद्ध रहस्यवादी है। मुनिजी ने कहा है: इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सबसे बड़ा सुख है। तीर्थों में स्नान करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती। वह तो राग-द्वेष आदि प्रवृत्तियों को रोकने से ही शुद्ध होती है। आत्मा शिव है तथा इन्द्रियाँ शक्ति।

इस प्रकार इनके रहस्यवाद पर विचार करते हुए विद्वान् सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन ने लिखा है:

> "यद्यपि उनका सामान्योपदेश सीधा और सरल है, किन्तु ग्रन्थ के स्थल-स्थल पर रहस्यवाद की छाप लगी हुई है। कर्त्ता के लिए देह देवालय है, जिसमें अनेक शक्तियों सहित देव अधिष्ठित हैं। उस देव की आराधना, उसमें तन्मय होना एक बड़ी गूढ़ क्रिया है, जिसके लिए गुरु के उपदेश और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।"[१]

बिना इन ग्रन्थों की सांकेतिक भाषा के अध्ययन के प्रयुक्त दोहों के पूरे रहस्य का उद्घाटन नहीं होता। कहीं-कहीं तो कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आता। कोरा शब्द-ज्ञान काम नहीं देता। जब कवि "णिम्मलिहोई गवेसु" कहकर चल देते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमें भ्रान्ति और धोखा देकर पलायन कर रहे हैं। जो भी हो, इतना अवश्य निश्चित है कि ये दोहे ब्राह्मण और बौद्धों की तान्त्रिक कविताओं की तरह रहस्य तथा गूढ़वाद से पूर्ण हैं, जिनमें परम्परागत दृष्टि होते हुए भी मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

रामसिंह मुनि ने प्रकाशदाता को ही अपना गुरु माना है, चाहे वह सूर्य से आता है, चाहे चन्द्र से या किसी ज्ञानी से—वही सब का भेद स्पष्ट करता है—'गुरुदिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ'[२]। वही समरसी भाव सिखाता है। शैव तथा नाथपन्थी भी इसी में विश्वास करते थे। समरसी भाव ही सार साधना है। जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है, वैसा ही यदि चित्त विलीन हो गया तो जीव समरस हो गया। इसके अतिरिक्त समाधि में क्या किया जाता है।

जिमि लोणु विलज्जइ पाणियंह तिन जइ चिन्तु विलिज्ज।
समरसि डूबइ जीवड़ा काइं समादि करिज्ज[३]॥

इसी भाव को कबीर ने "जो पिण्डे सोइ ब्रह्माण्डे" कहकर स्पष्ट किया है। यह मानव-देह ही साधना का सर्वोत्तम उपादान है। देवता कहीं बाहर नहीं है। जीव का शिव के साथ सम्बन्ध होते ही मन की भेद-बुद्धि एकदम तिरोहित हो जाती है। अतः कई यौगिक क्रियाओं से चित्त-शुद्धि अपेक्षित है—इसी चित्त-शुद्धि को जोइन्दु ने अपने 'परमात्म प्रकाश' में स्पष्ट किया है।[४]

गुरु के ज्ञान द्वारा ही मनुष्य कैवल्य प्राप्त कर सकता है। उसके उपदेश से बाहर के पदार्थों पर आश्रित रहना ठीक नहीं। उससे तो केवल दुःख और सन्ताप ही बढ़ेगा। यह मन करहा की भाँति चंचल है। अतः इसे जीतने से ही कैवल्य-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। विषयों से परांगमुख होकर जो आत्मा का ध्यान करते हैं, उन्हें असाधारण सुख मिलता है।

जंसुहु विषयपरंमुहउ णिय अप्पा आयंतु[५]।

मनुष्य को जरामरण देखकर ही भय नहीं खाना चाहिए। कैवल्य के लिए आराधना को ही अपना मानना चाहिए—जो अजरामर वन्तु परू सो अप्पाण मुणहि (दोहा ३३)।

सच्चा सुख इन्द्रियों पर विजय और आत्मचिन्तन में ही मिलता है। आत्म-शुद्धि के लिए तीर्थजल की आवश्यकता नहीं, केवल राग और द्वेष की प्रवृत्तियों को रोक-

१. पाहुड़ दोहा पृ० १८ (भूमिका भाग)।
२. पाहुड़ दोहा, सं० १; पृ० २।
३. पाहुड़ दोहा सं० ५४।
४. देखिए परमात्म प्रकाश, १।११८।
५. पाहुड़ दोहा, सं० ३।

कर आत्मानुभव की आवश्यकता है ।

परब्रह्म देह का कर्त्ता है । देह एक देवालय है—देहा देवल जो बसहिं सन्तिहि सहियउ देउ[1] : जिसमें अनेक शक्तियों सहित देव अधिष्ठित हैं, अतः योगियों को उसे पहचानना और उसमें तन्मय होना चाहिए । यह क्रिया बड़ी गूढ़ या रहस्यमयी है । इस भेद को ढूँढ़ना ही शिव या परब्रह्म की प्राप्ति है । जो न मरता है, न जीर्ण होता है तथा जो इन्द्रियों से परे, ज्ञानमय है, वही परब्रह्म है ।

जरइ ण मरइ ण सभवइ जो परिकोवि अणन्तु ।
तिहुवण सामिउ णाणमय सो सिवरेउ णिभन्तु[2] ।।

आत्मा परमात्मा का अंश है । देह की सम्पूर्ण विकृतियों से परे है । ज्ञानय आत्मा ही अपनी है और सब पराया है । अतः सब जीवों को उसके शुद्ध स्वभाव का ध्यान करना चाहिए—

अण्णाविमिल्लव णाणमउ अवरू पश्य भ.उ ।
सो छण्डेविणु जीव तुहु ज्ञावहि शुद्ध सहाउ ।।

जिससे यह जान लिया गया, उसके लिए जानने योग्य और कुछ भी नहीं रहा ।

बुज्जाह बुज्जहु जिण भणहिं को बुज्जाहु हपि अण्णु ।
अप्पा देहं णाणमउ छुडु बुज्झिय उ विभि खण्णु ।।

(पा० दो० ४०)

वही नित्य है, अक्षर है तथा ज्ञानमय है ।

इस प्रकार शैव या अन्य मतानुयायी साधकों के ग्रन्थों को देखने पर स्पष्ट होता है कि जैन-साधकों के ग्रन्थों में परमात्मा का वह अर्थ नहीं है जो उक्त मतानुयायियों के ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है ।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आत्मा पर प्रकाश डालते हुए जैन-साधकों के लिए लिखा है कि—

"जैन-साधक अगणित आत्माओं में विश्वास करते हैं । ये आत्मा मुक्त होने के बाद परमात्मा हो जाते हैं । परमात्मा अगणित हैं पर उनके गुण एक-से हैं, इसलिए वे एक कहे जा सकते हैं । यह पद ज्ञान से प्राप्त होता है और ज्ञान का साधन चित्त शुद्धि है । वस्तुतः चित्तशुद्धि बिना मोक्ष नहीं हो सकता । चाहे जीव कितने ही तीर्थों में नहाता फिरे और कितनी ही तपस्या करता फिरे । मोक्ष तभी होगा, जब चित्तशुद्ध होगा ।[3]

जोइन्दु ने अपने ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' में इसे पूर्णतया स्पष्ट किया है ।

जहि भावइ ताहें जाइ जिय जं भावइ करि तंजि ।
केम्बइ मोक्ख ण अत्थि पर चित्तइ शुद्धि पा जंजि ।।

शरीर के विषय में मुनिजी के विचार इस प्रकार हैं—शरीर नश्वर है । विषय-सुखों में यह तल्लीन है । वह अस्थिर है, मैला है, गुणहीन है । इसको खूब सुख से भी रखो तो यह निरर्थक है ।

उव्वलि चोप्पडि चिट्टकरि देहि सुमिट्ठाहार ।
सयलिवि देह णिरत्थ गय जिहि दुज्जण उवयार[4] ।।

कर्मों के वश में पड़कर अज्ञानी मनुष्य काम करता है—'कम्मई करई अयाणु' लेकिन मोक्ष का कारण एक ही है । "मोक्कह कारण एक्कु खणु णवि चिन्तई अप्पाणु ।"

पुत्र-कलत्र, घर-परिजन, इष्ट आदि सब व्यर्थ हैं । ये सब कर्म के आधीन जाल हैं ।

अण्णु म जाणहि अप्पणउ धरू परियणु तगु इट्ठ ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोईहिं सिहट्ठे[5] ।।

साधक को अपना अहंभाव छोड़ देना चाहिए । समस्त कर्मजाल प्रकट तुस या मुस को कूटने के समान है—मूढ़ा सयल्लु विकारी मउ मं पुहुतुंह तुस करिउ । अतः इससे दूर रहकर

हत्थ मुहट्ठ इं देवली, वालहं णहि पवेसु ।
सन्तु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मल होइ गवेसु[6] ।।

साढ़े तीन हाथ का जो छोटा-सा देवालय है, वहाँ बाल

१. पाहुड़ दोहा, सं० ५३ ।
२. रामसिंह मुनि, पाहुड़ दोहा, सं० ५४, पृ० १६ ।
३. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० ४७. ।
४. परमात्म प्रकाश, २,७० ।
५. देखिए पाहुड़ दोहा, सं० ८० ।
६. पाहुड़ दोहा, सं० ८ ६, पृ० ४ ।

का भी प्रवेश नहीं हो सकता और सन्त निरंजन वहीं निवास करता है, अतः निर्भय होकर गवेषणा कर।[1]

शारीरिक कष्टों से साधक शिवपद की प्राप्ति नहीं कर सकता। जिसके हृदय में जन्म-मरण से विवर्जित एक परमदेव निवास करता है, वह परलोक प्राप्त करता है।[2] केशलोचन—या शोषण व्यर्थ है। विषय-सुखों की अभिलाषा छोड़ना ही परमात्मा की प्राप्ति है।[3]

जो गुणु छंडिवि विषय सुह पुणु अहिलास करेइ।
लंचणु सोसणु सो सहंहि, पुणु संसार भम्मेहि॥

रामसिंह मुनि की इसी साधना-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है :

"सरहप्पा, गुंडरीपा, वीणापा, डोंदिपा के चर्या-पदों के दृष्टिकोण के समानान्तर ही मुनि रामसिंह ने पाहुड़ दोहा की रचना की। इनका रहस्यवादी दृष्टिकोण यही है कि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सबसे बड़ा सुख है। ऊपरी वेश भी अहंकार का उन्मूलन करता है; साधना का सबसे सरल उपाय आत्मानुभव है। इसलिए मुण्डन, केश-लुंचन, और वस्त्र-परित्याग से कोई संसार से विरक्त नहीं हो सकता। संसार-त्याग करने का सरल मार्ग तो प्रत्याहार द्वारा संसार के विषयों में मन को खींच लेना है। ईश्वर न तो मूर्ति में है और न मन्दिर में। ईश्वर तो हृदय के भीतर निवास करनेवाला है। इसलिए आत्मदर्शन की बड़ी आवश्यकता है। इसी आत्मदर्शन में ब्रह्म-सुख की अनुभूति होती है और इसी में कवि का रहस्यवाद पोषित हुआ है।[4]"

कवि ने साधना-मार्ग बड़ा कठिन बताया है। आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कि अकेला सूर्य एक निमिष में अन्धकार का नाश कर देता है।[5] उसी प्रकार—

अप्पाए वि विभावियइ णासइ पाउ खणेण।
सूरू विणासइ तिमि रहत एक्कलउ रिमिसेण॥

ग्रन्थों का पढ़ने से कुछ नहीं हो सकता। बोध विवर्जित हैं। जीव, तू विपरीत तत्व का अध्ययन कर रहा है। हे पण्डित! तूने कण को छोड़कर तुस को कूटा है। तू ग्रन्थ और उसके अर्थ से सन्तुष्ट है, किन्तु जब तक तू परमार्थ को नहीं जान लेता तब तक मूर्ख है।

पंडित पंडित पंडिया कणु छंडिवि तुस कांडिया।
अत्थे गन्थे तुहेसि परमत्थू न जाणहि मूढ़ोसि॥

इस प्रकार योगी जब परमपद प्राप्त करता है तो परमपुरुष परमात्मा के साथ समरसी भाव का अनुभव करता है। इस प्रकार जो जैन-साधक जब कहता है कि यह जीव ही परमात्मा है शरीर में ही उसका वास है, वह केवल जड़ है। जो शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी इस बात को नहीं समझ सकता तो वह शैव या वैष्णव साधकों की ही भाषा में बोलता है।

सत्थु पंठतु वि होइ वडु जोण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु विणिम्मलऊं णवि मराणइ परमप्पु॥

वस्तुतः विविध भाव से विषयीभूत तत्वों का सामरस्य ही वह संवेदन-रस है, जिसके अनुभव से बढ़कर आनन्द दूसरा नहीं है। आत्मा इसी स्वसंवेदन का अनुभव करके परम प्राप्तव्य को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार जो "परमप्पा सो जिहउं सो परमण्य" यही परमज्ञान की प्राप्त तथा परममोक्ष है।[6]

'पाहुड़ दोहा' के रहस्यवाद के सम्बन्ध में डॉ० नामवरसिंह के कथन से हम पूर्णतया सहमत हैं कि :

"आत्मा-परमात्मा की गूढ़ बात न समझते हुए भी इन दोहों को पढ़कर अथवा सुनकर साधारण आदमी जो शक्ति का अनुभव करता है, उसका यही रहस्य है कि वह शरीर को ही परमात्मा का निवास समझकर आत्म-

१. पाहुड़ दोहा, सं० ८४, पृ० ३८।
२. वही ग्रन्थ, दोहा सं० ७६।
३. वही ग्रन्थ, दोहा पृ० १६।
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा; पृ० ८४।
५. देखिए पाहुड़ दोहा, सं० ७५।
६. पाहुड़ दोहा (कारंजा सिरीज) दोहा सं० ८५, पृ० ८४।

गौरव अनुभव करता है। पूजा-पाठ का अवकाश मन्दिर-प्रवेश की अनुमति, तीर्थयात्रा के स्थान, शास्त्र-अध्ययन की सुविधा आदि न मिलने पर पवित्रता के द्वारा परम पद को पाने का सन्देश कितने बड़े आश्वासन का विषय हो सकता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इन मुनियों ने यही महान् संन्देश दिया था।[1]

जैन-ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् हम रस की दृष्टि से लगभग इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन-ग्रन्थों में अधिकतर शान्त-रस ही निष्पन्न हुआ है। निर्वेद की भावनाएँ 'पाहुड़ दोहा' में हमें सर्वत्र मिलती हैं। इस प्रकार इस रस की अनुभूति के द्वारा हम संसार के प्रति कुछ ऐसे मनोविकारों की निष्पत्ति अनुभव करने लगते हैं कि जिनसे हृदय शान्ति प्राप्त करता है तथा जो इस कोलाहल से दूर कहीं एकान्त में जाकर साधना करने पर हो सकता है।

वस्तुतः हमने 'पाहुड़ दोहा' के भाव व कला दोनों पक्षों पर विचार किया तथा साथ ही विषयगत कुछ समस्याओं को भी स्पष्ट करते हुए उनका संक्षेप में हल प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। रचना का काल, उसका रचियता, उसका दर्शन और उसके दोहों के गूढ़वाद का मूल्यांकन ज्यों-ज्यों अपभ्रंश ग्रन्थों का सम्यक अध्ययन होता जाएगा, अधिक प्रकाश में आ सकेगा। गूढ़वाद के कई दोहे जिनके लिए डॉ० हीरालाल जैन ने अस्पष्टता एवं असमर्थता प्रकट की है, पर्याप्त अध्ययन व अनुसन्धान के विषय हैं।

दोहों के इस उपहार का दर्शन अभी और सम्यक् दर्शन चाहता है। हिन्दी के आदिकाल को यदि जैन-मत के अध्ययन के आधार पर तथा इन रचनाओं को उनकी आधार-शिला मानकर देखा जाए तो आदिकाल की कई ग्रन्थियाँ सुलझाई जा सकेंगी। अपभ्रंश तथा जैन साहित्य ने हिन्दी के आदिकाल के निर्माण में जितना योग दिया है वह भी स्पष्ट हो सकेगा; अतः जैन-साधकों की रचनाओं का सम्यक् अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित है। 'पाहुड़ दोहा' से हमें यही सन्देश मिलता है।

१. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २४१।

आर० पी० तिवारी

सूफी काव्य पद्मावत में भारतीय चिन्ता-धारा

श्री आर० पी० तिवारी का जन्म १६ फरवरी १६३३ को सागर (म० प्र०) जिले के जमुनियाँ ग्राम में हुआ। शिक्षा नागपुर, बम्बई और दिल्ली में प्राप्त की। हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त आपने चित्र और मूर्त्तिकला तथा संगीत का भी गहन अध्ययन किया है।

भारतीय साहित्य-परम्परा का विकास स्पष्टतः ऋग्वेद से हुआ है। यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, सामयिक-तत्व-समन्वित ऋग् का विवर्त रूप हैं। काल-क्रम से, चिन्तन और अभिव्यक्ति का विकास होता गया। इस चिन्तन के फलस्वरूप मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ, सूर्यादि पाँचों सिद्धान्त-ग्रन्थ, चरक और सुश्रुत संहिताएँ, न्यायादि छहों दर्शन, सूत्र, प्रसिद्ध पुराण, रामायण और महाभारत के वर्तमान रूप, नाट्यशास्त्र, पातंजल महाभाष्य आदि अनेक कृतियाँ प्राप्त हुईं। आगे आनेवाली शताब्दियों में अश्वघोष, कालिदास, भद्रबाहु, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, कुमारिल, शंकर, दिङ्नाग, नागार्जुन आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने भारतीय चिन्ताधारा को अभिनव समृद्धि से समृद्ध किया। भारतीय चिन्ता-धारा की समृद्धि एक विशेष परिवेश में हुई। यह विशेष परवेश ही भारतीय है।

दूसरी बात जो कि निश्चित रूप से मान्य है 'पद्मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी, सूफी सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इन्होंने अ-इस्लामी जनता के बीच अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए, अपने सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने के लिए, काव्य-रचना की। सूफी सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध भारतीय धर्म और संस्कृति से न होकर इस्लाय धर्म से है, जो कि भारतीय नहीं है। इसकी चिन्ताधारा का मूल अरब देश है। इस सम्प्रदाय-विशेष का जन्म उस अवसर पर हुआ जबकि इस्लामी सत्ता में, व्यक्ति और समाज खून और मांस के टुकड़ों पर आनन्द मना रहा था। भीषण काण्डों से जनता में विरक्ति हुई और यह सूफी सम्प्रदाय इसी विरक्त भावना की देन है। इस सम्प्रदाय ने ईश्वर-प्रेम को महत्ता दी और सादा त्यागमय जीवन स्वीकार किया।

धीरे-धीरे शताब्दियाँ बीतती गईं। यह सम्प्रदाय भी एक देश से दूसरे देश में, इस्लाम धर्म के साथ, तात्कालिक प्रभावों को आत्मसात करता हुआ प्रसारित होता गया। उत्तर भारत में १०वीं-११वीं शताब्दी तक इस्लाम के अनुयायियों की सल्तनतें कायम हो गई थीं। इनके साथ ही सूफी सम्प्रदायी, अनेक भारतीय प्रभावों के साथ, उत्तरी

भारत में फैलकर, अपना प्रसार कर रहे थे। इस सम्प्रदाय-वालों ने, भारतीय लोक-प्रचलित प्रेम-गाथाओं को माध्यम बनाकर, अपने धर्म की, ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यंजना शुरू कर दी। मलिक मुहम्मद जायसी इसी परम्परा के कवि और 'पद्मावत' इसी विशेष चिन्ता-धारा की अभिव्यंजना है।

जायसी, सूफी-सम्प्रदाय के फकीर निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में शेख मोहिदी के शिष्य थे। वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु उन्होंने घूम-फिरकर ज्ञानार्जन किया था। इनका सम्बन्ध गोरखपन्थी, रसायनी, वेदान्ती हिन्दू साधुओं से रहा है जिनके सत्संग और व्यवहार से हिन्दू सभ्यता और संस्कृति की बहुत-कुछ बातों से ये परिचित हुए, जिसका कि उपयोग इन्होंने अपने सम्प्रदाय के मतों के प्रतिपादनार्थ अपनाई हुई रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम-कथा में किया, जो 'पद्मावत' में उपलब्ध है।

इस 'पद्मावत' की प्रेम-कथा के दो भाग किये जा सकते हैं—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में आई हुई कथा की घटनाएँ और चरित्र-विकास कल्पित है, जो सूफी सम्प्रदाय के अनुसार ईश्वर के प्रति जीव के प्रेम को व्यक्त करता है। इसमें जीव द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने तक की स्थितियाँ हैं। उत्तरार्ध में कथा की अधिकांश घटनाएँ, पात्र और चरित्र ऐतिहासिक जान पड़ते हैं जो कि प्रेम-कथा की सुन्दर रोचक अन्विति में सहायक हैं।

कथा में प्राप्त सूफी तत्व का मूल इस्लामिक सूफीवाद नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन तथा भारतीय चिन्ता-धाराओं का सम्मिश्रण है। नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन से तात्पर्य उस यूनानी दर्शन से है जो केवल तर्क-प्रधान था। तर्क-प्रधान दर्शन श्रद्धालु भक्त को सन्तुष्ट नहीं कर सकता था अतएव इस विचार को लेकर यूनानियों ने भारतीय रहस्यवाद से मिश्रित नव-अफलातूनी दर्शन की बुनियाद रखी। ठीक यही स्थिति जब इस्लाम की आई तो उन्होंने भी इसी सत्य का अनुसरण किया। ईसाई साधक, तथा हिन्दू-बौद्ध योगी उस समय भी मौजूद थे। इस्लामिक विचारक यह भी देख रहे थे कि ये योगी साधक कितनी सफलता के साथ भक्तों और दार्शनिकों, के श्रद्धा-भाजन हैं; इसलिए इस्लाम ने भी युद्ध-रक्त-त्रस्त विरक्त जनता की, सूफी सम्प्रदाय के नाम से, एक जमात को अस्तित्व में आने दिया। इस सम्प्रदाय के मूल में परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रभाव हैं। यदि तात्कालिक धार्मिक प्रभाव पर भौगोलिक दृष्टि डालें तो सातवीं और आठवीं शताब्दी तक सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेशों में बौद्ध धर्म था। सर्वप्रथम इस्लाम धर्म को किसी अन्य संस्कृति से संघर्ष करना पड़ा था, तो वह भारतीय बौद्ध संस्कृति थी। स्वयं मुहम्मद ने मक्का के युद्ध में कुरैशी मठों की ३६० मूर्तियों को खण्डित किया था। ये मूर्तियाँ हमारी भारतीय संस्कृति की प्रतीक हैं जो कि बौद्ध धर्म के माध्यम से यूनान पहुँची थीं। वहाँ से अरब में इनका प्रवेश हुआ।

जब दो संस्कृतियों में संघर्ष होता है, नाश और विध्वंस का कठोर क्रम शुरू होता है तब यह निश्चित रूप से सत्य है कि विजेय संस्कृति, विजित संस्कृति के कुछ गुणों को आत्मसात् कर लेती है, बहुत कुछ उसके प्रभावों को ग्रहण करती है। इस तरह से दो रूप सामने आते हैं। पहला तो वह जिसमें भारतीय तत्वों से प्रभावित तत्व ग्रहण किये गए हैं।

सूफी वे लोग हैं जिन्होंने सब-कुछ छोड़कर ईश्वर को अपनाया। इस दर्शन में जीव ब्रह्म का ही अंश है और जीव का ब्रह्मलीन होना ही उसका सर्वोच्च ध्येय है। इसमें जीव ही नहीं जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकर के ब्रह्म अद्वैतवाद और सूफियों के अद्वैतवाद में कोई अन्तर नहीं। जायसी ने इसी तत्व को बार-बार इस प्रकार कहा है:

> **"मनुस पेम भयउ बैकुण्ठी।**
> **नाहिं त काह छार एक मूंठी।"**

एक अन्य स्थल पर—

> **"छार उठाइ लीन एक मूठी।**
> **दीन्ह उठाइ पिरिथवी झूठी॥"**

यह शंकर का "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ना परा" का ही अद्वैतवादी सिद्धान्त इसकी अवचेतना में है। इस अद्वैत-वादी भावना का, जो सनातन से भारतीय चिन्ताधारा का उच्छलन है, अरब के सूफियों में, इसके आविर्भाव-काल में प्रवेश हुआ। इस्लाम के अनुसार यह भावना धर्म-विरुद्ध थी। आगे चलकर इसी एकत्व की भावना के कारण

'मन्सूर' आदि को मृत्यु-दण्ड भोगना पड़ा था। अतः बाद में, इसके स्थिर अस्तित्व के लिए, कुरान के कुछ ऐसे वाक्यों का सहारा लिया गया, जिनमें उक्त मत का समर्थन हो जाता था। जैसे—"वही आरम्भ एवं अन्त है, गुप्त एवं प्रकट है, वह सर्वज्ञाता है, जहाँ कहीं तुम जाओ वह तुम्हारे साथ है।" इत्यादि।

इस सिद्धान्त के दो पक्ष हैं—आत्मा और परमात्मा की एकता और दूसरा पक्ष ब्रह्म और जगत् की एकता। इन दोनों का एकीभाव "सर्वं खल्विदं ब्रह्मम्" है। जायसी ने इसका एक बिम्ब निम्न तरह से प्रस्तुत किया है जिसमें प्रकृति की समस्त विभूतियों में तथा मानव में एक ही प्रतिभासित सत्ता का प्रसार बताया है:

"सातौं दीप नवौं खण्ड आठों दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्माण्ड सो पिण्ड है हेरत अन्त न जाहिं॥"

भारतीय दर्शन में यह 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की तरह बारहखड़ी सदृश्य है। इस सिद्धान्त को जायसी ने अच्छी तरह ग्रहण किया है। जायसी ने हठयोग के नाद-तत्व को, जो कि आकाश का गुण है, स्वीकार किया है। आकाश ब्रह्माण्ड का पर्यायवाची है। योग-दर्शन के अनुसार हृदय में एक छोटी-सी जगह 'दहराकाश' नाम से शुद्ध आकाश व्याप्त है। इस 'दहराकाश' में भी नाद की सृष्टि, आकाश सदृश्य स्वतः अनवरत रूप से है। किन्तु यह कृच्छ-यौगिक-साधनाओं द्वारा ही सुना जा सकता है। इन साधनाओं से मन या चित्त पूर्वापर वृत्तियों, रागों से मुक्त होकर एक ऐसी विशेष भूमिका में पहुँच जाता है जहाँ वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती, वहाँ यह नाद श्रुतिगोचर होता है। पिण्ड में स्वतः उद्भूत नाद इतना मधुर है कि इसे एक बार श्रवण कर लेने के पश्चात्, जीव का मन किसी दूसरे विषय में नहीं लगता। यह जायसी को मान्य था। इसे उन्होंने 'नाद सुनै पै धूम' में स्पष्ट स्वीकार किया है।

सूफी मत में ब्रह्म आकाश में संवर्त-विवर्त ज्योति है। अल्लाह जिसे चाहता है, अपनी ज्योति की ओर अग्रसर करता है। वह सब मनुष्यों में रूपकों की भाषा में बोलता है। जायसी ने इस ज्योति की, नारी रूप में उपासना की है। पद्मावती ब्रह्म ही है। वह अपने विवर्त रूप में विश्व-व्यापी महाज्योति है तथा अनेक रूपों में ब्रह्माण्ड में स्थित है। चाँद, सूरज उस महाज्योति की प्रतिछाया हैं। पद्मावती को जायसी ने दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है।

वेदान्त में, "रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव" ऋग्वेद के (छठवे मण्डल के ४७।४८) अनुसार, प्रकृति की अव्यक्त अवस्था दर्पण है, जिसमें चैतन्य ज्योति का आभास पड़ता है। जायसी की अवतारणा "कीन्हेसि प्रथम ज्योति परगासू" इसी सत्य का परम्परा-प्रसून है। पद्मावती के रूप-चित्रण में ज्योति-रूप ब्रह्म का भास अनेक स्थलों पर है। जल-क्रीड़ा-काल में केश-राशि के उन्मुक्त होने पर "परी जगत छाहाँ" सारा जग केशों की छाया में आ जाता है। इसी तरह पद्मावती की अनुपस्थिति में "सरग पतार होइ अँधियारा" जगत् में अन्धकार की स्थिति आ जाती है। उसके अंगों की कान्ति में सूर्य-चन्द्र का प्रकाश है। उसकी दीप्ति पारस सदृश है—"धरती सरग भयउ सब सोना", जैसे कबीर के लाल की लाली में सब लाल हो जाते हैं। पद्मावती के सौन्दर्य से सारा जगत् सौन्दर्यमय हो जाता है। इस तरह ब्रह्म और ब्रह्म की छाया, अनन्त महाज्योति पद्मावती और उसकी प्रतिछायावत संसार है।

स्पष्टतः कवि ने पद्मावती को विशुद्ध महाज्योति के रूप में और महाज्योति की प्रतिछाया के रूप में, दोनों ही मूर्त-अमूर्त रूपों में प्रस्तुत किया है। विशुद्ध अमूर्त महा-ज्योति के रूप में पद्मावती रत्नसेन के हृदय में समा जाती है। इसके फलस्वरूप रत्नसेन स्वयं सूर्य बन जाता है और वह उस महाज्योति की छाया अर्थात् उसके मूर्त रूप की, जो कि अपने पंचभौतिक सौन्दर्य में चन्द्रमा है, की प्राप्ति, साधना-मार्ग से, हृदय की पूरी शक्ति से करता है। इसी सन्दर्भ में रत्नसेन की एक उक्ति है—"अब हौं सूरज चाँद वह छाया" दृष्टव्य है। सिद्धों में चाँद और सूरज के रूपक का बहुत प्रचार था। उसी को सूफियों ने स्वीकार कर बहुत बढ़ाया है।

वेदान्त के अनुसार हमारे भीतर चैतन्य का केन्द्र हृदय है। इसमें परम् ब्रह्म के अंश का वास है जिसे जीव, प्राण, आत्मा कहते हैं। नाथ मत में यही बिन्दु कहलाता है। रत्नसेन की साधना अर्थात् जायसी द्वारा प्रस्तुत साधना का स्वरूप योगीय और तान्त्रीय साधना से पुष्ट है। साधना-गत प्रयत्न एकात्म का प्रयत्न है। इसमें बिन्दु या जीव का

उद्भव निरोध बल से नाभि-स्थित निर्माण-चक्र में स्थिर करना पड़ता है। इस क्रिया का लक्ष्य बिन्दु को उद्बुद्धकर निर्माण-चक्र से उष्णीव कमल तक ले जाना है। बिन्दु का उद्बोध स्वशक्ति का जागरण है और यही गोरख शब्दा-वली में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण है। जिस क्षण इस शक्ति का जागरण होता है, उसी क्षण कपाल-कुहर स्थित चन्द्र-बिन्दु से अमृत-क्षरण प्रारम्भ होता है। वेदान्त में हृदय को सूर्य और मस्तिष्क को चन्द्र कहा गया है। इसका एकीभाव ही वस्तुतः महासुखराग का उदय या ब्रह्म-प्राप्ति है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि इस ऊर्ध्वोन्मुखी प्रक्रिया में जीव स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता हुआ क्रमशः तेजोमय होता जाता है। यह अपने अन्तिम रूप में केवल ज्योति-मात्र रह जाता है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ—यह कि सूफियों का ऐसा विश्वास है कि परमात्मा की प्राप्ति प्रकाश-पुंज के रूप में होती है। फलतः क्रमशः वह पृथ्वी, जल, वायु, के अवतरणों से गुज़रता हुआ अन्त में चित्त से मात्र शुद्ध ज्योति रूप में परिणित होकर उष्णीव कमल में स्थिर होता है। इसके साथ ही दिव्य-दृष्टि, दिव्यश्रुति तथा सर्वज्ञत्व और विभुत्व गुण का उदय होता है। यह स्थिति तुरीयावस्था है। यही अवस्था अपने उन्नति-क्रम में "चारि बसेरे सौं चढे, सत सौं उतरै पार" है। जायसी ने सूफी प्रेम-साधना के अन्तर्गत कुण्डली योग की सब परिभाषाओं को पद्मावत् में अंगीकार किया है।

सूफीमत के मूल में भारतीय तत्त्व हैं, इसके साथ ही, इसका प्रतिपादन भारत भूमि में जिसके द्वारा किया गया है, उसकी संवेदनशील-आत्मा भारतीय ही है। मलिक मुहम्मद जायसी भारतीय संस्कृति से अच्छी तरह परिचित थे। तत्कालीन जितने भी मत ब्रह्म-प्राप्ति के थे उनसे वे अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने प्रायः सभी मतों से सार ग्रहण किया और अन्त में अपने मत की प्रतिष्ठा की। उनके ही शब्दों में—"विधना के मारग हैं तेते, सरग नखत, तन रोवाँ जेते" दृष्टव्य है। इस स्वीकृति के पश्चात् "सै बड़ पन्थ मुहम्मद केरा" कहकर मुहम्मद के पन्थ की प्रतिष्ठा करते हैं।

निष्कर्षतः मेरा ऐसा विचार है कि वेग और दृष्टिकोण के मध्य में सम्भवतः जीवन का कोई-न-कोई ऐसा बिन्दु है, जहाँ से इसका तादात्म्य हो जाता है। व्यक्ति ने बहुत पाया है तो बहुत दिया भी है। ठीक यही धारणा पद्मावत के विषय में है। पद्मावत सूफी वेग और भारतीय जीवन का सम्मिलन है। जायसी ने लोक-जीवन से बहुत पाया तो बहुत दिया भी है। हम उनके आभारी हैं।

विजयेन्द्रकुमार माथुर

हिन्दी काव्य में ऐतिहासिकता

श्री विजयेन्द्र कुमार माथुर प्रयाग विश्वविद्यालय में भारतीय साहित्य में एम० ए० (प्रथम श्रेणी) हैं। इस समय ये केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय से सम्बन्धित वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शब्दावली के स्थायी आयोग में अधिकारी के रूप में कार्य कर रहे हैं। इन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास-भूगोल का एक बृहद स्थानकोश तैयार किया है जो शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है।

काव्य और इतिहास का अन्योन्य सम्बन्ध सदा से चला आया है। मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों की परिणति काव्य के रूप में होती है और मानव या मानव-समाज की बहिर्मुख गति-विधि का समग्र चित्रण ही इतिहास का मुख्य विषय है। दूसरे शब्दों में कहें तो इतिहास मानव की वैयक्तिक अथवा सामाजिक वृत्ति का बाह्य चित्र है और काव्य अन्त:चित्र। इतिहास में मानव जीवन की गंगा-यमुना का अविच्छिन्न प्रवाह प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है और काव्य में अन्त:सलिला सरस्वती के समान प्रच्छन्न रूप से। इस प्रकार इतिहास और काव्य दोनों ही में हमारे जीवन की कहानी निहित है; भेद केवल इतना ही है कि एक में तो यह कहानी वस्तुनिष्ठ ढंग से और दूसरे में आत्मनिष्ठ ढंग से कही जाती है। यह बात संसार के सभी महान इतिहास एवं काव्य-ग्रन्थों पर लागू होती है। हिन्दी काव्य में ऐतिहासिकता का कितना तत्व विद्यमान है, इसी की चर्चा यहाँ संक्षेप में की जाएगी।

सबसे पहले हम हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वमान्य काव्य 'रामचरितमानस' को ही लेते हैं, जिसमें ऐतिहासिकता के न्यूनतम अंश की सम्भावना हो सकती है। तुलसीदास ने इस महान ग्रन्थ की रचना मुगल-काल के स्वर्णयुग में की थी, जब अकबर और जहाँगीर की सत्ता की धाक भारत के बाहर सुदूर देशों में भी मानी जाती थी। अकबर के महान इतिहासकार और 'आईनेअकबरी' तथा 'अकबरनामा' के प्रतिष्ठित लेखक अबुलफ़ज़ल ने अपने ग्रन्थों में उस काल की राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था बल्कि सामान्य रूप से सभी प्रकार की गति-विधियों का यथातथ्य वर्णन किया है। अकबर-विषयक अतिरंजित वर्णनों को छोड़ देने के बाद अबुलफ़ज़ल की कृति में तत्कालीन इतिहास की ठोस आधारभूमि देखी जा सकती है। इसी काल के काव्य-रत्न 'रामचरितमानस' का क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है और वह काव्य, धर्म, नीति और दर्शन तक ही सीमित माना जा सकता है, क्योंकि उसमें अकबर या उसके मन्त्रियों, सम्राट् के युद्ध-अभियानों या अन्य राजनैतिक हलचलों का कहीं पता भी नहीं है। फिर भी इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशपुंज में उस विशिष्ट युग का सच्चा प्रतिबिम्ब झलकता है और स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी का 'मानस' केवल मुगल-काल की ही रचना हो सकती है। जिस प्रकार अबुलफ़ज़ल के ग्रन्थों में अकबर का चित्र जननायक के रूप में पूरा-पूरा उभरता है, उसी प्रकार, यद्यपि कहीं अधिक कलात्मक एवं भावात्मक सौन्दर्य के साथ, तुलसी के राम की अभिव्यंजना सम्राटों के सम्राट के रूप में हुई है। मुगल बादशाहों के दरबार की औपचारिकता

एवं शालीनता, मन्त्रियों और राजदूतों की कार्यकुशलता, मुग़लों की युद्ध-कला एवं राजनीति, राजदरबार में प्रार्थियों की दीनतापूर्ण फ़रियाद आदि का प्रतिरूप राम की चरित्र-कथा में तुलसी बहुत-कुछ अनजाने रूप में ही दर्शा गए हैं। 'विनयपत्रिका' में तो राम के पास अपनी प्रार्थना भेजने में तुलसी ने राम के सभी प्रियजनों—लक्ष्मण, हनुमान व सीता आदि का सहारा लिया है (कबहुँक अम्ब अवसर पाय, मोरि भी सुधि द्याइवो कछु करुण कथा चलाय)। ठीक वैसे ही जैसे बादशाही दरबार में फ़रियादी को पहुँचने में मध्यस्थों का सहारा लेना पड़ता था। राम के गरिमामय चरित्र के बारे में तुलसी की यह शब्दावली 'गई बहोरि गरीब निवाज़ू, सरल सबल साहिब रघुराज़ू' काफी मात्रा में दरबारी सभ्यता व शिष्टाचार की प्रतिध्वनि प्रस्तुत करती है, यद्यपि स्वयं तुलसी इस सभ्यता से कोसों दूर थे। उस समय की सामान्य जनता की, जो दरबारी प्रभावों से अछूती थी, दीनता तथा विवशता का चित्रण कितने मार्मिक ढंग से तुलसी ने बनवासियों के मुख से करवाया है—'पाप करत निसि वासर जाहीं, नहिं कटिपट नहिं पेट अघाहीं।' फिर भी यह बात उल्लेखनीय है कि तुलसी के काव्य में देश-काल की स्थिति का प्रतिबिम्ब केवल आनुषंगिक रूप में ही प्राप्य है। भारतीय जीवन का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य होने के नाते 'रामचरितमानस' की मुख्य काव्य-धारा स्थान और काल के बन्धनों या अन्य शब्दों में, इतिहास की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त होकर ऐसे धरातल पर बहती है जहाँ विश्व की सम्पूर्ण मानवता अपनी सर्वोत्कृष्ट ऊँचाइयों को छूकर धन्य हो जाती है।

इसी प्रकार हिन्दी साहित्य के अन्य युगों के काव्य में भी हमें ऐतिहासिकता के इसी रूप में दर्शन होते हैं। मध्यकालीन उत्तरी भारत की जागृत चेतना के प्रहरी और आध्यात्मिक तथ्यों और जीवन की सच्चाइयों को ऊँचा स्तर देने वाले युगदृष्टा कवि कबीर अपने समय के भी सच्चे प्रतिनिधि हैं। तत्कालीन भारतीय समाज में हिन्दू-मुसलमानों के आपस के झगड़े, धार्मिक कर्म-काण्डों और धर्म की ऊपरी बातों में जनता के झूठे विश्वासों, किन्तु साथ ही दक्षिण भारत से आकर उत्तर में प्रवाहित होने-वाली भक्तिवाद की गंगा—इन सभी का स्पष्ट और दृढ़ निर्देश कबीर की बानी में मिलता है। इसके अतिरिक्त १५वीं शताब्दी के जन-जीवन की अनेक बातों का भी कबीर के काव्य में स्थान-स्थान पर आनुषंगिक उल्लेख है—(कबिरा नौबत आपनी दो दिन लेहु बजाय, यह पुर पट्टन औ गली बहुरि न देखहु आय। नौबत का मध्य-कालीन सुलतानों के दरबारों से निकट का सम्बन्ध था)

१८वीं शती के उत्तर-मुगल-काल में जब मुगलों की ईरानी सभ्यता भारतीय जीवन में रच-पच गई थी, प्रसिद्ध शृंगारिक कवि बिहारी ने अपनी काव्य माधुरी से जन-हृदय को आप्लावित किया। इनके दोहों में तत्कालीन राजसी जीवन के अनेकों विशद चित्र मिलते हैं। यद्यपि अधिकांश में उनका प्रयोग उपमान, अन्योक्ति आदि के रूप में किया गया है, जैसे—

हरि छबि जल जब तैं परै, तब तैं छिन बिछरैन।
भरत ढरत डूबत तिरत रहत घरी लौं नैन॥
स्वारथ सुकृति न, श्रम वृथा देखु विहंग विचार।
बाज पराये पानि पर तू पंछीहि न मार॥
सहज सेत पचतोरिया पहरत अति छबि देत।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन ज्योति॥

इन दोहों में रहट-यन्त्र, बाज द्वारा किया जानेवाला पक्षियों का शिकार और राजमहलों में निर्मित झरनों की जलचादर के पीछे रखे हुए दीपकों की शोभा, (दिल्ली के लाल किले में बने हुए सावन-भादों नामक झरने को देखने से इसकी कुछ कल्पना की जा सकती है) आदि उपमानों में तत्कालीन दरबारी जीवन और सामान्य रहन-सहन की झलक मिलती है। साथ ही दूसरे दोहे की अन्योक्ति में औरंगज़ेब के सेनापति जयसिंह के हिन्दू नरेशों के प्रति युद्ध करने के विषय में व्यंग्योक्ति भी छिपी है। तीसरे दोहे में पाँच तोले के बराबर वज़नवाली साड़ी, (पंचतोरिया) जो ढाके की मलमल की बनती थी, का उल्लेख है।

हिन्दी साहित्य का वर्तमान युग १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से होता है। इस काल की नई चेतना व स्फूर्ति, जनजीवन का जागरण, धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति तथा राजनैतिक संघर्ष इन सभी की पूरी-पूरी छाप आधुनिक हिन्दी कवियों के साहित्य में मिलती है। भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला और दिनकर इस युग के

प्रतिनिधि कवि हैं। इनके काव्य में नई विचारधाराएँ और नए इतिहास की हलचल इतने स्पष्ट स्वरों में मुखरित है कि उदाहरण की भी आवश्यकता नहीं है।

काव्य और इतिहास के इस प्रच्छन्न संयोग के अतिरिक्त हिन्दी काव्य ग्रन्थों का एक अन्य वर्ग भी है जिसमें व्यक्ति-विशेष या काल-विशेष की कथा को प्रत्यक्ष रूप में ही कवि ने अपना आधार बनाया है। हिन्दी के पूर्व-मध्य काल अथवा चारण-युग की महान गाथाएँ पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, हमीरहठ, आल्हाखंड आदि ग्रन्थ काव्य तथा इतिहास की मिली-जुली रचनाएँ हैं—इनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों और प्रतापी नरेशों का जीवन-चरित्र तो है ही साथ ही अतिरंजित रूप में वीरों की रणसज्जा, उनकी सेना के अभियान से चतुर्दिक मचनेवाली हलचल, लोमहर्षक युद्धों की विकटता और इसी के बीच किसी अनिन्द्य सुन्दरी राजकुमारी की मधुर किन्तु दुर्दमनीय प्रणय-कथा—इन सभी विषयों के ताने-बाने को मनोहारी कविता के इन्द्रधनुषी रंगों में बुना गया है। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि वीर-काव्य के इन अनमोल हीरों में काव्य की गरिमा का समुचित प्रकाश तो है, किन्तु इनमें घटनाओं के प्रति पूरी-पूरी वफ़ादारी नहीं बरती गई है और इसी मात्रा में शुद्ध ऐतिहासिकता की कमी है। चन्द बरदाई की रासो इसका अच्छा उदाहरण है। अन्य अनेक घटनाओं के अतिरिक्त इसमें वर्णित पृथ्वीराज और गौरी का मृत्यु-सम्बन्धी कथानक का आधार भी काल्पनिक सिद्ध हो चुका है; यहाँ तक कि कुछ विद्वानों के मत में तो यह पूरा ग्रन्थ ही जाली है।

काव्य और इतिहास के अपूर्व संगम के लिए हिन्दी वीर-काव्य की दीर्घ परम्परा में महाकवि भूषण का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। ये छत्रपति शिवाजी और बुन्देला-नरेश छत्रसाल के समकालीन थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दशक' हमारे साहित्य के अनोखे रत्न हैं। भूषण के काव्य का यह विशेष गुण है कि उनके वर्णनों में काव्योचित अतिशयोक्ति होते हुए भी इतिहासप्रसिद्ध घटनाओं को कहीं भी झुठलाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। भूषण ने अपने समय के प्रसिद्ध व्यक्तियों, जैसे आदिलशाह, कुतुबशाह, जयसिंह, जसवन्तसिंह, रुस्तमखाँ, दिलेरखाँ आदि से सम्बन्धित युद्धों तथा अन्य घटनाओं का जीता-जागता एवं वस्तुतः सच्चा वर्णन किया है। सलहेरि की लड़ाई का जिसमें शिवाजी ने अपने शत्रु की सेना पर गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी, भूषण ने इस प्रकार उल्लेख किया है:

गतबल खानदलेल हुव खान बहादुर मुद्ध।
सिव सरजा सलहेरि ढिग क्रुद्धरि किय युद्ध॥

इसी प्रकार वीर छत्रसाल द्वारा मुगल सेनापति अब्दुल समद की सेना की घोर पराजय (बेतवा की लड़ाई) का बहुत ही प्रभावोत्पादक और आँखों देखा वर्णन भूषण ने किया है:

अत्र गहि छत्रसाल खिज्यौ खेत बेतवै के,
उतहैं पठाननहू कीन्हीं झुकि झपटैं।
भूषन भनत काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति जोरि जपटैं।
हिम्मत बड़ी कै, कबड़ी के खिलवारन लौं,
देत शै हजारन हजार बार चपटैं।
समद लौं समद की सेना त्यों बुंदेलन की,
सेलैं समसेरैं भई बाड़व की लपटैं।

इन वर्णनों की विशेषता इसी ~~बात~~ में है कि इनमें काव्य की अभिव्यक्ति ऐतिहासिकता की ठोस पृष्ठभूमि में हुई है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य में इतिहास के सत्य के साथ काव्य के शिव और सौन्दर्य के संगम की एक सुदीर्घ और पुष्ट परम्परा सदा से विद्यमान रही है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

शोध और समीक्षा

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का जन्म १६०६ में उन्नाव जिले के मगरैर ग्राम में हुआ था। बनारस विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे और आजकल सागर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (निबन्ध-संग्रह); जयशंकर प्रसाद (निबन्धावली); आधुनिक साहित्य (आलोचना); प्रेमचन्द (आलोचना); महाकवि सूरदास (आलोचना); नया साहित्य और नये प्रश्न (आलोचना)।

शोध और समीक्षा दो पृथक् शब्द हैं। दोनों के अर्थों में भिन्नता है। शोध के लिए अनुसन्धान और अनुशीलन आदि शब्द प्रचलित हैं। समीक्षा के लिए आलोचना, समालोचना आदि शब्द प्रयोग में लाये जाते हैं। शोध शब्द में किसी अज्ञात तथ्य को प्रकाश में लाने और प्रतिष्ठित करने का आशय निहित है। शोध में बिखरे हुए तथ्यों का संयोजन और समाहार भी किया जाता है। शोध के लिए उस समस्त सामग्री का संचय और संग्रह आवश्यक है जो उस वस्तु या विषय से सम्बन्धित है और इस समस्त संग्रह को सुव्यवस्थित रूप में सजाकर उसके आधार पर वस्तु-मूलक स्थापनाएँ की जाती हैं और निर्णय दिये जाते हैं। शोध में विषय से सम्बन्धित पूर्ववर्ती वक्तव्य भी दिये जाते हैं तथा उनके आधार पर नया अभिमत व्यक्त किया जाता है। शोध के लिए तर्क-सम्मत प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है और तभी किसी नये निष्कर्ष का उपस्थापन किया जा सकता है। फिर उस निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिए विरोधी अभिमतों का खण्डन और निराकरण कर नये निर्णय की प्रतिष्ठा की जाती है। यह नया निर्णय जब एक स्वतन्त्र विचार-सरणी के रूप में उपस्थित होता है, तब उसे 'थीसिस' या प्रबन्ध कहते हैं।

समीक्षा या आलोचना में किसी अज्ञात या अनुपलब्ध वस्तु की खोज की आवश्यकता नहीं होती। वह एक सुस्पष्ट और प्रायः सुप्रसिद्ध कृति के सम्बन्ध में दिया हुआ वैचारिक अभिमत होता है। समीक्षा में समीक्षक की अपनी दृष्टि और विचार भी प्रमुख रूप से आते हैं और उसमें समीक्षक की अपनी धारणाओं का प्राधान्य होता है। किसी कृति-विशेष के सम्बन्ध में व्यक्त किये गए सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित विचार ही समीक्षा है। उन विचारों के आधार पर कभी किसी सिद्धान्त का भी निरूपण और संस्थापन हो सकता है, नई समीक्षा-दृष्टि या शैली का विन्यास होता है। परन्तु इस प्रकार के विन्यास में लेखक की अपनी अभिरुचियाँ और संस्कार ही अधिक मात्रा में रहते हैं। इसीलिए समीक्षा अधिक व्यक्तिपरक वस्तु होती है, जबकि शोध में व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता।

शोध के आधार पर जिन तथ्यों और निर्णयों की स्थापना होती है वे जनसमाज और उसकी क्रमागत ज्ञान-भूमिका के लिए नये होते हैं। उससे किसी का पूर्व-परिचय नहीं हुआ रहता। पर समीक्षा के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। समीक्षा जिस कृति या वस्तु की की जाती है, उसे अध्येता-समाज पहले से ही जानता रहता है। उसके सम्बन्ध में उसका अपना मत तो रहता ही है, अन्य अनेक

समीक्षकों के अभिमत भी रह सकते हैं। अतएव उस समीक्षा-विशेष से उस अध्येता समुदाय को एक नई दृष्टि का परिचय मिल सकता है, किसी नवीन ज्ञान का नहीं। समीक्षा जन-समाज में प्रचलित अभिज्ञता का परिष्कार करती है तथा समीक्षक-विशेष की विचार-दृष्टि से उन्हें परिचित कराती है। वह एक प्रकार की निरन्तर ज्ञान और बोध-परिचारक प्रक्रिया है और उसका उपयोग सामाजिक जीवन में फैली हुई धारणाओं के ऊहापोह में किया जाता है। समीक्षा या आलोचना सामाजिक जीवन की बौद्धिक और कलात्मक अभिरुचियों का नित्य नया अध्याय कही जा सकती है। परन्तु शोध से निःसृत तथ्य और निष्कर्ष एक अभिनव विचारधारा का निर्माण करते हैं और नये ज्ञान की सृष्टि में सहायक होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शोध का सम्बन्ध नये तथ्य और सत्य के उद्-घाटन में है जबकि समीक्षा का सम्बन्ध प्रचलित धारणाओं और विचारों के उपबृंहण और विकास से है।

जब हम साहित्यिक शोध और साहित्यिक समीक्षा की चर्चा करते हैं तब यह देखते हैं कि शोध का लक्ष्य सत्योन्मुखी और आविष्कार-मूलक है तथा वह अधिक इतिवृत्तात्मक वस्तु है। जबकि समीक्षा का लक्ष्य हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक चेतना को व्यवस्था और विस्तार देने तथा समसामयिक साहित्यिक दृष्टिकोण के सुनियोजन में है। अतएव वह अधिक लोकाभिमुख, व्यावहारिक और विनिमेय वस्तु है। समीक्षा में व्यक्तिपरकता के लिए, समीक्षक की वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के लिए, अधिक अवसर रहता है जबकि शोध में इस प्रकार का अवसर कम-से-कम रहा करता है। समीक्षा साहित्य के अधिक समीप है, जबकि शोध ज्ञान के अधिक समीप है। इसी लिए समीक्षा की अनेक शैलियाँ और प्रकार हुआ करते हैं जबकि शोध में शैलियों के निर्माण की गुंजाइश नहीं होती। आलोचना या समीक्षा समाज के सार्वजनिक जीवन में अधिक सक्रिय, अधिक लोकप्रिय और अधिक प्रेरणाप्रद होकर क्रियाशील होती है, जबकि शोध प्रायः विशिष्टजनों का ध्यान ही आकृष्ट करता है और पुस्तकालयों में ऐसी निधि के रूप में सुरक्षित रहता है, जिसका उपयोग विशिष्ट पण्डित-मण्डली के लिए ही करणीय होता है। सामान्य रूप से हम देखते हैं कि समीक्षा की पुस्तकें शोध-ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक पढ़ी जाती हैं और दैनिक चर्चा का विषय बनती हैं। समीक्षा या आलोचना तात्कालिक प्रभाव में शोध की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त पदार्थ है, परन्तु शोध का परिणाम अधिक मौलिक और स्थायी हुआ करता है।

शोध और समीक्षा के स्वरूप, उसकी प्रक्रिया और लक्ष्यों के इस संक्षिप्त निर्देश के पश्चात् हम इन दोनों की स्वतन्त्र परम्परा का अवलोकन कर सकते हैं। साहित्य-समीक्षा की लम्बी परम्परा भारतीय और पश्चिमी देशों में पायी जाती है। सामान्यतः इसके सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दो भेद प्राप्त होते हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा काव्य-शास्त्रों में उपलब्ध होती है, जबकि प्रायोगिक समीक्षा अनेकानेक निबन्ध-पुस्तकों, समीक्षा ग्रन्थों और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में विकीर्ण रहती है। शास्त्र में निहित साहित्यिक सिद्धान्तों में यद्यपि एक समग्र और सम्पूर्ण साहित्यादर्श रहता है, परन्तु इस साहित्यादर्श के निरूपण को शोध-कार्य मानने की परिपाटी प्रचलित नहीं है। वह भी मूलतः समीक्षा ही समझी जाती है, यद्यपि उसमें स्वतन्त्र और समग्र विचार-संयोजन की भूमिका रही है, जो शोध के अधिक समीप है। इस प्रकार पश्चिम में भी समीक्षा-सिद्धान्तों की परम्परा है, जिसे शोध नहीं कहा जाता। उदाहरण के लिए वर्त्तमान युग में क्रोचे और काडवेल के सैद्धान्तिक निरूपणों को लें, तो उनके मूल में एक स्वतन्त्र 'थीसिस' की संस्थिति पायी जाती है परन्तु फिर भी उन्हें शोध-ग्रन्थ नहीं कहा जाता। इससे यह अनुमित होता है कि 'थीसिस' या स्वतन्त्र सिद्धान्त-निरूपण भी दो प्रकार के हो सकते हैं। एक शोधपरक और दूसरे समीक्षात्मक। शोधपरक थीसिस में उपलब्ध वस्तुओं के वस्तुमूलक विवेचन के आधार पर कोई निर्णय या निष्कर्ष दिया जाता है, जबकि समीक्षात्मक थीसिस की उपस्थापना में समीक्षक अपनी प्रातिभ शक्ति का अधिक विशिष्ट उपयोग करता है। इसी प्रकार प्रायोगिक समीक्षा के आधार पर निर्मित होने-वाले समग्र ग्रन्थ भी शोधात्मक कार्य नहीं माने जाते। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में ब्रैडले का 'शेक्सपीरियन ट्रेजेडी' अथवा हिन्दी में आचार्य शुक्ल के तुलसी, जायसी

और सूर-सम्बन्धी प्रबन्ध समीक्षा ग्रन्थों में ही परिगणित होते हैं, यद्यपि उनमें वैचारिक समग्रता का अत्यन्त विशद स्वरूप दिखाई देता है। इससे यह सूचित होता है कि साहित्य के क्षेत्र में अधिकांश वैचारिक विवेचन और स्थापनाएँ समीक्षा की सीमा में ही गृहीत होती हैं। उन्हें शोध का अभिधान नहीं दिया जाता। विशुद्ध शोधकार्य की सीमा में ऐसे ग्रन्थ परिगणित होते हैं, जो प्रायः अज्ञात और असंयोजित वस्तुओं का संयोजन कर उनके सम्बन्ध में एकदम नवीन तथ्यों और निर्णयों को प्रस्तुत करते हैं। अनेक बार ऐसे शोधग्रन्थ साहित्यिक विवेचन की सीमा को लाँघकर दार्शनिक स्तर पर पहुँच जाते हैं और इस प्रकार वे साहित्य की वस्तु न रहकर दर्शन की वस्तु बन जाते हैं। पश्चिम में साहित्यिक विवेचन को सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका पर ले जानेवाले ग्रन्थों को शोध के अधिक समीप समझा जाता है। हिन्दी साहित्य में भी अनेक बार शोध ग्रन्थ वे माने जाते हैं, जो साहित्यिक विवेचन से दूर रहकर साहित्य की ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमियों से अपना नाता जोड़ते हैं अथवा इन पृष्ठभूमियों पर साहित्य के परिचित और अपरिचित, ज्ञात और अज्ञात लेखकों की परिगणना कराते हैं, कृतियों की रचना-तिथियों के निर्देश में अधिक दिलचस्पी रखते हैं अथवा जो बहुत-कुछ यान्त्रिक पद्धति से साहित्यिक कृतियों की मोटी विशेषताओं का वर्गीकरण और विभाजन करते हैं।

शोध और समीक्षा की ऊपर निर्देश की गई परम्परा से दोनों सरणियों की पृथकता का आभास मिलता है, परन्तु केवल इतने आधार पर हम शोध और समीक्षा को दो दूरवर्ती और निरपेक्ष वस्तु नहीं मान सकते। पहले तो हमें यही देखना होगा कि शोध और समीक्षा के विभेद-सम्बन्धी जो सूत्र परम्परा से स्वीकृत हैं, उनमें यथार्थता और औचित्य कितना है। फिर हमें यह भी देखना होगा कि शोध और समीक्षा, दो पृथक् ज्ञान-विधाएँ या प्रस्थान है या ज्ञान की केवल दो पृथक् प्रणालियाँ-मात्र हैं, और अन्त में हम यह भी जानने का प्रयत्न करेंगे कि इन दोनों को संयोजित करनेवाली कोई मध्यवर्तिनी प्रक्रिया है या नहीं? इन तीनों प्रश्नों का हम एक-एक कर लेना चाहेंगे।

हमारा अपना मत यह है कि शोध और समीक्षा-सम्बन्धी प्रस्थान आंशिक रूप से ही भिन्न है। पर ये दोनों परम्पराएँ अतिरंजित और अनावश्यक रूप से अपना अन्तर बढ़ाती चली गई हैं, जिसके कारण एक ओर साहित्यिक शोध का जीवन्त पक्ष घटता गया है और दूसरी और समीक्षा में वैचारिक और तथ्यात्मक पक्षों की कमी होती गई है। हम दोनों को समीप न लाकर दोनों के अतिवादी छोरों का आग्रह करते रहे हैं, जिसके कारण शोध और समीक्षा दोनों को ही हानि पहुँची है। शोध और समीक्षा-सम्बन्धी परम्परागत धारणाओं में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। यदि शोध के स्वरूप को और भी यांत्रिक होने से बचाना है, तो शोध में समीक्षा का पुट अधिकाधिक जोड़ना होगा। आचार्य शुक्ल के समीक्षा-ग्रन्थों को शोधात्मक न मानकर हम शोध की सीमा संकुचित करते हैं। इसी प्रकार ब्रैडले, क्रोचे और काडवेल-जैसे पाश्चात्य विद्वानों की जिन समीक्षा-कृतियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उन्हें शोधात्मक कृति मानने में भी हमें कोई असमंजस नहीं होना चाहिए। इस प्रकार जब हम शोध और समीक्षा की परम्पराओं को एक-दूसरे में अन्तर्न्यस्त कर सकेंगे, तभी हमारा शोध कार्य नई ज्ञान-दीप्ति से दीपित हो सकेगा और तभी हमारी समीक्षा में वस्तुमता और विश्लेषणात्मक तत्व समाहित हो सकेंगे।

यदि हम ज्ञान की विकासात्मक भूमिका पर शोध और समीक्षा की दोनों विधाओं का समीकरण करना चाहें, तो कर सकते हैं। ज्ञान अखंड और अभिभाज्य है। उसके नवोन्मेष जीवन की सभी भूमियों को प्रभावित और परिवर्तित करते हैं, वैसी स्थिति में शोध और समीक्षा की सरणियों का एक-दूसरे से पृथक हो जाना उपादेय नहीं कहा जा सकता। 'शोध और समीक्षा के बीच शब्दार्थ की दृष्टि से भी एक स्वतन्त्र शब्द मिलता है जिसे हम 'अनुशीलन' रहते हैं। अनुशीलन में एक ओर शोध के तथ्य समाहित होते हैं, तो दूसरी ओर समीक्षात्मक विधियों और प्रकारों का भी समावेश होता है। अनुशीलन के इस स्तर पर शोध और समीक्षा की प्रणालियाँ एक-दूसरे के समीप आकर सहयोग की भूमिका पर प्रतिष्ठित हो सकती हैं।

ऊपर जिस अनुशीलन शब्द के अन्तर्गत शोध और समी-

क्षक के समीप आने की सम्भावना प्रकट की गई है और इस शब्द में शोध और समीक्षा के दुहरे तत्वों का जो संगम बताया गया है, उसका कुछ व्यावहारिक स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। विशुद्ध शोध में साहित्य और कला के व्यावहारिक विवेचन की कमी तथा उनके तात्विक पक्षों की खोज का जो उल्लेख किया गया है और उस ऊँची भूमिका पर न पहुँच सकने के कारण आज के शोधकार्य में वस्तु-संग्रह और वस्तु-संचय के जिन तथ्यों की प्रधानता होती जा रही है, उससे मुक्ति पाने और शोध की भूमिका को अधिक उर्वर बनाने के लिए ऐसे सम्मिश्रण की आवश्यकता है, जिसमें शोधात्मक और समीक्षात्मक तथ्य समाहित होकर एक-दूसरे को पुष्ट और शक्तिमान बनाएँ। अकसर शोधकर्त्ता तथ्य-निर्देशक होकर रह जाते हैं। वे वस्तु के साहित्यिक सौष्ठव और उसके अन्य प्रासंगिक पक्षों का उल्लेख नहीं करते। दूसरी ओर समीक्षा-प्रधान प्रबन्धों में सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक आधारों की कमी रहा करती है। इन दोनों को समाहित करने पर दोनों का उपकार होगा। परन्तु इससे भी बढ़कर लाभ यह होगा कि विश्वविद्यालयों में और अन्यत्र एक उच्चतर साहित्यिक चेतना का आविर्भाव और विकास हो सकेगा जिससे शोध और समीक्षा का न केवल मिलन होगा, बल्कि दोनों का युगपत उत्थान भी हो सकेगा। एक नई वैचारिक दृष्टि का अभ्युत्थान होगा, जिससे ज्ञान और कला की भूमियाँ एक-दूसरे के समीप आएँगी और दोनों के विवेचन के स्तर ऊँचे उठेंगे।

हिन्दी के वर्तमान शोधकार्य पर यदि थोड़ी-सी गम्भीरता से विचार किया जाए, तो यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार का अधिकांश कार्य संग्रह-मूलक होता जा रहा है। जहाँ कहीं सैद्धान्तिक स्तर का विवेचन होता भी है, वहाँ उस स्तर का आद्यन्त निर्वाह नहीं हो पाता। विषय ऐसे दिये जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण एकात्मता नहीं होती और शोधकर्ता को वैचारिक और सैद्धान्तिक गहराइयों में जाकर आद्यन्त अपने विषय का ऊहापोह करने का अवसर नहीं मिलता। विषयों के चयन में यह आवश्यक है कि अनुशीलनकर्ता को आरम्भ से अन्त तक सच्चे अर्थों में एक 'थीसिस' या समग्र विचार प्रस्तुत करने का आधार प्राप्त हो। ऐसा न होने पर प्रकीर्णक और बहुधा असम्बद्ध विचारों की भरमार हो जाती है।

अन्तिम प्रश्न यह शेष रहता है कि शोध और समीक्षा के इस उपयोगी सम्मिलन के तथ्य का निर्देश करने के पश्चात् भी क्या हम इन दोनों का अन्तर सम्पूर्ण रूप से मिटा सकते हैं और क्या इस प्रकार का विलीनीकरण आत्यन्तिक दृष्टि से सम्भव भी है? इस सम्बन्ध में हम यह अनुभव करते हैं कि शोध और अनुशीलन कार्य की विकसित स्थिति पर पहुँचने पर हमें फिर से इस प्रश्न पर विचार करना होगा और उस अवसर पर हम इस विषय में जिस किसी निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे, उसका आख्यान करेंगे। यह तो स्पष्ट ही है कि शोध और समीक्षा दो भिन्न अभ्यास और विषय हैं। दोनों की स्थितियाँ एकदम एकीकृत नहीं हो सकतीं। परन्तु वर्तमान समय में हिन्दी के शोधकार्य के उन्नयन के लिए इन दोनों अभ्यासों का संयोजन और समीकरण आवश्यक प्रतीत होता है।
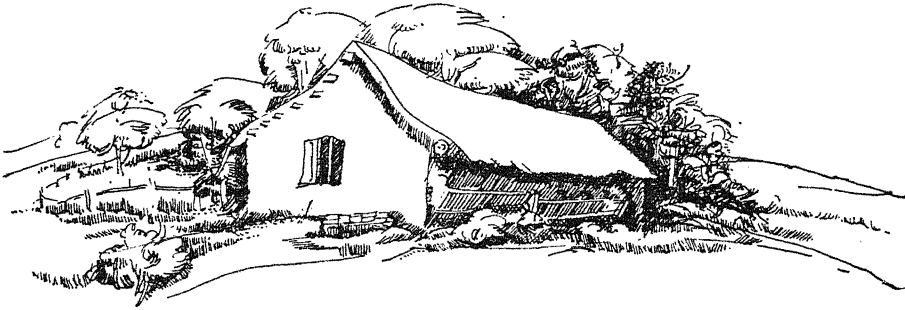
डॉ० रामरतन भटनागर

आज का आलोचना-साहित्य

डॉ० रामरतन भटनागर का जन्म १९१६ में रामपुर (उ० प्र०) में हुआ था। इन्होंने इलाहाबाद और लखनऊ विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की और एम० ए० तथा डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने ६० से अधिक पुस्तकें लिखी हैं; जिनमें प्रमुख हैं : अम्बपाली (उपन्यास), ताण्डव (कविताएँ), हिन्दी-साहित्य की कहानी (साहित्य-इतिहास), अध्ययन और आलोचना (निबन्ध-संग्रह) आदि। इस समय सागर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं।

आज के हिन्दी आलोचना-साहित्य के पीछे लगभग सौ वर्षों के विकास का इतिहास है और उसमें हमारे बौद्धिक वर्ग की सौन्दर्य-चेतना के नव-निर्माण का इतिहास ही गुम्फित नहीं है, पश्चिमी साहित्य के अध्ययन और आस्वादन से विकसित उसकी नई साहित्यिक दृष्टि का स्वरूप भी उसमें प्रतिफलित है। इसी लिए सामयिक समीक्षा के विवेचन के लिए ऐतिहासिक भूमिका अनिवार्य हो जाती है। यह स्पष्ट कर देना होगा कि हमारे साहित्य की तरह समीक्षा की सीमा-रेखा भी मध्यवर्ग ही है और उसी की चेतना में हमारा सौन्दर्य-बोध और रसास्वादन मूर्तिमान है। मध्यवर्ग में भी बौद्धिक और शिष्टजन ही हमारी साहित्यिक चेतना के केन्द्र में हैं और उन्हीं की प्रवृत्तियाँ हमारे साहित्यिक 'वादों' तथा सृजनात्मक प्रेरणाओं में मुखरित होती हैं।

प्रश्न यह है कि समीक्षा से हमने क्या समझा है और उसके हेतु तथा लक्ष्य क्या हैं ? समीक्षा क्या रसास्वादन है या मूल्यांकन ? क्या वह वादीय जीवनदृष्टि है या उसमें हम सीधे जीवन की साक्षात्कारी और सामीपी अनुभूति तक पहुँचते हैं ? मेरे विचार में पिछले तीस वर्ष हिन्दी-समीक्षा के स्वर्ण-युग का निर्माण करते हैं और इन वर्षों में हमने पुराने मार्गों को प्रशस्त ही नहीं किया है वरन् अपने लिए नई राहें भी खोज निकाली हैं। सामयिक समीक्षा का धरातल ही ऊँचा नहीं है, उसका स्वरूप और विन्यास भी भिन्न है और उसमें साहित्य तथा जीवन के सम्बन्ध में जिज्ञासा और समाधान के अनेक रूप दिखलाई देते हैं। समीक्षा के दो छोर हैं—एक छोर है अन्तर्ज्ञान, जो व्याख्या या सूचना तक सीमित हो सकता है। समीक्षा को वैज्ञानिक बनाकर हम उसके रसकोषों को क्षीण कर देते हैं। दूसरा छोर है रचना का रसास्वादन, परन्तु उसके साथ भी यह भय लगा हुआ है कि वह व्यक्तिगत और प्रभाववादी कोटि की वस्तु न बन जाए। सच तो यह है कि समीक्षा की मर्यादा इन दो अतिवादों के बीच में है और प्रकृत्या: मूल्यांकन और रसास्वादन में कोई असंगति भी नहीं है। रचना के आस्वादन के सम्बन्ध में हमारे पास अनेक मानदण्ड पश्चिमी सम्पर्क से पहले थे और पश्चिम के मानदण्डों को हमने नए समझौतों के द्वारा घर की चीज बना लिया है। प्रभाववादी आलोचना से आरम्भ कर आज हम विश्लेषणात्मक और मार्क्सवादी समीक्षा तक पहुँच गए हैं। आगे क्या है, यह कहना सम्भव नहीं है परन्तु यह स्पष्ट है कि आलोचना का सम्बन्ध जीवन की सम्पन्नता, प्रौढ़ता और विशिष्टता से है और उसके परिवर्तन के साथ समीक्षा का बदलना भी अनिवार्य है।

भारतीय नवजागरण पश्चिम के संघात का ही फल है। मध्ययुग की अगतिशील और रूढ़िवादी मनश्चेतना को पीछे छोड़कर ही भारतवर्ष आधुनिक युग में प्रवेश करता है और पूर्वीय मन पर पश्चिमी विचार और चिन्तन की क्रिया-प्रतिक्रया ही नवीन जीवन-चेतना को जन्म देती है। शक्ति और कर्म-चेतना से ओतप्रोत पश्चिम के मन के तारुण्य और उसकी दीप्ति ने भारतीय जीवन, कला और कला-चिन्तन पर गहरी छाप छोड़ी और उसे भीतर से उन्मुक्ति दी। फलस्वरूप घात-प्रतिघात की कई मंज़िलों को पार कर आज हम पश्चिम के साथ-साथ चल रहे हैं। मध्ययुग में हमारी साहित्य-चेतना जीवन के महत् उद्देश्यों और व्यापक भूमिकाओं को छोड़ बैठी और कला-साधना के गौण, सतही और आलंकरिक विन्यास ही हमारी आकांक्षा का विषय बने। हमने सामयिक अन्तर्दृष्टि को खो दिया। नायिका-भेद की कड़ियों में उलझकर हमने नारी के सौन्दर्य को वासना से कलुषित किया और अलंकारों की श्रेणियाँ बाँधकर समस्यापूर्ति के अखाड़े खड़े कर दिए। छविगृह में जलनेवाली अकम्पित दीपशिखा का स्थान वार-वनिता की चिरचंचल लावण्य छटा ने ले लिया। पश्चिमी संस्कृति के संघात से मध्यवर्ग के नेतृत्व में जो नया जीवन देश में विकसित हुआ उसके लिए साहित्य और कला के ये पैमाने एकदम छोटे थे। पश्चिमी साहित्य की लोकप्रियता के साथ पश्चिम की सौन्दर्यदृष्टि और कला-चेतना के प्रति भी हमारा आकर्षण बढ़ा और पश्चिमी आलोचकों के प्रश्न और समाधान हमारे चिन्तन और विवेचन के विषय बने। जहाँ पश्चिम के साहित्य-रूपों को अपना लिया गया वहाँ तो पश्चिम के सिद्धान्तों और मानदण्डों का आना अनिवार्य ही था, जैसे उपन्यास, निबन्ध, जीवनी और आत्मकथा के क्षेत्रों में, परन्तु काव्य और नाटक के हमारे चिरपरिचित क्षेत्रों में भी रचना-तत्व और शिल्प में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ जिसके लिए हमारा पश्चिमी साहित्य का अध्ययन ही उत्तरदायी था। फलतः इन क्षेत्रों में भी हमारी दृष्टि उधार की ही रही। आरम्भ में हम अरस्तू को भरत से बड़ा मानकर चले, परन्तु राष्ट्रीय आत्मसम्मान के तकाजे के साथ हमने शीघ्र ही इनमें पटरी बैठाने का प्रयत्न किया। अरस्तू की क्यों, आगे बढ़कर हमने कॉलेरिज और ऑरनाल्ड से रिचर्ड्स और इलियट तक की सारी ऐतिहासिक और विकासात्मक दूरी को कुछ ही दशकों में पार किया और साहित्य को रचनाकार, युग, शिल्प और भाषा के माध्यम से समझने के नए आयाम पश्चिम से प्राप्त किए। रसात्मक बोध की मनोवैज्ञानिक भूमिका के क्षेत्र में हमारे पास बहुत-कुछ और बहुत मात्रा में सूक्ष्म था, परन्तु वह कवि की व्यक्तिगत अनुभूति और पाठक की निजी आस्वादन-क्षमता से सम्बन्धित था। इन क्षेत्रों में भी हमने पश्चिम से पर्याप्त नवीन सामग्री प्राप्त की। तात्पर्य यह है कि आज का आलोचना-साहित्य पूर्व-पश्चिम की रसज्ञता और साहित्य-चेतना के आधार पर नई परम्परा का प्रवर्तक बना और उसके नए मूल्य बाज़ार में चलते सिक्के की मान्यता प्राप्त करने लगे।

छायावाद काव्य के साथ हिन्दी में आलोचना का एक स्वरूप विकसित हुआ जिसे सर्जनात्मक समीक्षा या प्रभाववादी समीक्षा कहा गया, परन्तु समीक्षा शब्द के भीतर जिस मूल्य-स्थापन और निर्णायकता का बोध सन्निहित है वह सन्तुलन की अपेक्षा रखता है। पूर्वी समीक्षा में सहृदय का पक्ष ही महत्वपूर्ण था; कवि, युग, शिल्प और भाषा की चर्चा कम हुई थी। काव्य और साहित्य के व्यक्तिगत पक्ष ने निर्वैयक्तिक और वैज्ञानिक तत्वों को दबा दिया था। पश्चिमी समीक्षा के सम्पर्क से साहित्य के आस्वादन का स्वरूप ही बदल गया। हमने कवि के विकास और रचना में उसके अन्तर्जगत् के उद्घाटन को पहली बार महत्व देना सीखा। परन्तु यह नई समीक्षा का एक पक्ष था। दूसरा पक्ष कवि अथवा साहित्यकार के परिवेश और युग से सम्बन्धित था, क्योंकि विषय ही नहीं, अनुभूति पर भी युग का रंग चढ़ना अनिवार्य बात है। तीसरा पक्ष साहित्य और काव्य के रूपविशेष और शिल्प का था। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध अपनी-अपनी मर्यादाओं के भीतर ही विशिष्ट बनते हैं और इनके शिल्प की विभिन्नता तथा विशिष्टता संवेदना की प्रकृति और उसकी गम्भीरता पर प्रभाव डालती है। अन्त में भाषा का भी एक पक्ष है क्योंकि उसमें बद्ध परम्परा को कवि अपनी सूझ-बूझ और प्रतिभा के द्वारा नवीनता की ओर मोड़ता है। विचार, संवेदन और अन्तर्बोध को बिम्बों,

प्रतीकों, ध्वनियों एवं संकेतों द्वारा साधारणीकृत करना भाषा की क्षमता का ही प्रमाण है। आधुनिक काव्य में प्रेषणीयता का प्रश्न अत्यन्त जटिल हो जाता है क्योंकि युग-जीवन के विभिन्न धरातलों की अभिव्यक्ति समान भाषा से नहीं हो सकती और भाषा को कवि या कलाकार के भावों का निकटतम प्रतिनिधित्व मिलना उतना ही आवश्यक है जितना उसका वर्गों की दरारें पाटना। जहाँ सब हाशिये पर ही रहते हैं वहाँ भाषा में 'हृदय की बात' कहकर केन्द्र को छूते रहना कम सार्थकता नहीं है। इसी से सामाजिक काव्य और कथा-साहित्य का एक वर्ग भाषा को ही निःशेष करता रह जाता है और 'भाषाई' समीक्षकों का एक दल भी पश्चिम में उठा है। जो हो, यह स्पष्ट है कि आधुनिक समीक्षा हमें दायरे के बाहर निकालकर कवि के मन और युग के केन्द्र में खड़ा कर देती है और हम भाषा तथा शिल्प के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक जागरूक हो जाते हैं।

साहित्य को युगों और प्रवृत्तियों में बाँटकर, उसमें राष्ट्रीय उपसर्गों की स्थापना कर, उसे कला के अन्य प्रकारों से स्वतन्त्र, निरपेक्ष और स्वावलम्बी बनाकर तथा साहित्य के विभिन्न रूपों के तुलनात्मक उत्कर्ष का पता लगाकर हमने पश्चिम की समीक्षा-पद्धति को ही अपनाया है। भारतीय काव्य और साहित्य की रसज्ञता के अवयव इनसे भिन्न थे। नई प्रजातन्त्री चेतना ने युग और जीवन को साहित्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया और कवि के अन्तर्मन के रहस्यमय और अनबूझे कोनों में प्रवेश कर प्रतीकों, बिम्बों और स्वप्नों के नए छायालोकों का पता लगाया। पश्चिमी साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों के प्रकाश में हमने अपने सांस्कृतिक दाय की नए सिरे से परीक्षा की। पूर्व-पश्चिम के आदान-प्रदान की प्रक्रिया अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में भी आज तक बराबर चल रही है और आधुनिक साहित्य और समीक्षा का विकासात्मक इतिहास हमारे आत्मसंकोच, समन्वय और स्वातन्त्र्य की क्रमिक प्रगति का सूचक है। अभी हम अपनी साहित्यिक और समीक्षात्मक चेतना को अपने राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप आत्मनिष्ठा नहीं दे सके हैं। जितनी सीमा तक हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व परिस्थितियों से दबा हुआ है उतनी ही सीमा तक हमारा सौन्दर्यबोध और रसास्वादन भी कुण्ठित है। पिछले तीस वर्षों में हम पश्चिम को ही अधिकाधिक आत्मसात् कर सके हैं और आज का आलोचना-साहित्य, वादीय भूमिकाओं को छोड़ने में उसी प्रकार असमर्थ है जिस प्रकार हमारी मध्यवर्गीय संस्कृति पश्चिम के रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा और आचार-विचार में जकड़ी हुई है। आधुनिकीकरण और प्रजातन्त्रीकरण की पश्चिमी प्रक्रियाओं ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को ही कीलित नहीं किया है, उन्होंने हमारे साहित्य-बोध को भी जकड़ रखा है।

परन्तु ऐसा सदैव नहीं रहा है। हमारे पश्चिम के सम्बन्धों ने अनेक मंज़िलें पार की हैं और हमारे नए रस-बोध और सौन्दर्यबोध की कहानियाँ भी बड़ी लम्बी हैं। आरम्भ में हम आत्महीनता से ग्रस्त हुए और भरत मुनि, भामह और आनन्दवर्द्धन-जैसे पण्डित और आचार्य विस्मृत कर दिये गए। हम अंग्रेज़ों से भी बड़ा अंग्रेज़ बनना चाहते थे। हमने साहित्य और कला-सम्बन्धी अपनी दृष्टि पश्चिम से ही उधार ली। शेक्सपियर और मिल्टन की तरह कॉलेरिज और आरनाल्ड से भी हमने नैकट्य का अनुभव किया। राजनीतिक जीवन की तरह पश्चिम हमारे सांस्कृतिक जीवन पर भी हावी हो गया और हमारा साहित्य-बोध भी बदला। परन्तु उसमें वास्तविकता नहीं थी, न पाठक को नई भावभूमि पर ले जाने की क्षमता ही थी। इस परिस्थिति को लेकर विद्रोह का भी जन्म हुआ और हम भरत मुनि और आनन्दवर्द्धन का जयघोष करने लगे। पश्चिम के बुद्धिवाद और उसकी ऐतिहासिक दृष्टि से हमें पता लगा कि हमारा साहित्यिक और समीक्षात्मक दाय अनेक प्रकार से महार्घ और महत्वपूर्ण है। पूर्व और पश्चिम दो दृष्टिकोणों के प्रतिनिधि दिखलाई पड़े, परन्तु पश्चिम की कर्मण्यता की चकाचौंध भी हमें लगी और हमने वहाँ से अनेक नए साहित्यिक मूल्यों का भी आयात आरम्भ किया। पश्चिमी समीक्षा के नए मोड़ पर हमें रिचर्ड्स, एम्पसन और 'नई समीक्षा' का भाषात्मक दृष्टिकोण भी मिला। इन दो जगतों का मिलन-बिन्दु हमें रस-सिद्धान्त में मिला जिसकी पुनर्व्यवस्था का प्रयत्न आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से आज तक बराबर दिखलाई देता है। अन्य प्राचीन सम्प्र-

दायों का भी सम्यक् अध्ययन हुआ। रस द्रष्टागत है, परन्तु विषय, शिल्प और भाषा की स्वतन्त्र सत्ता है और जीवन के व्याख्याता तथा नवसर्जक के रूप में हमारे आस्वादन की परिधि भी बढ़ जाती है। गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द की साहित्यिक दृष्टियों ने नए दृष्टिकोणों को भी जन्म दिया। तात्पर्य यह है कि पश्चिम का बहुत कुछ, कुछ वैसा ही, कुछ हमारे पुरातन सिद्धान्तों का छद्मवेष धारणकर हमारा अपना बना। कविता को कवि-दृष्टि ही नहीं, ऋषि-दृष्टि भी समझा गया। नैतिक मूल्यों को सौन्दर्य-चेतना का अविच्छिन्न अंग मानकर हम साहित्य और समीक्षा को जीवनधर्मी बना सके। प्रश्न यह है कि यह आदान-प्रदान, समन्वय और आत्मनिष्ठा आज के आलोचना-साहित्य में कहाँ और कितनी प्रतिफलित है ?

पिछले दिनों में इलियट की भाँति हमारे समीक्षकों को भी ऐसा लगा है कि हम काव्येतर भूमिकाओं और शास्त्रों के इन्द्रजाल में खो गए हैं और हमारी समीक्षा स्रोतों की ओर अधिक देखती है, रचना को अपरीक्षित ही छोड़ देती है। जहाँ पिछले खेवे के समीक्षक इतिहास के ऋणी थे, वहाँ आज के समीक्षक समाजशास्त्रीय अध्ययन को बहुमान्यता देते हैं। रचना का स्वतन्त्र, निरपेक्ष और निजी व्यक्तित्व हमारे लिए आज नई चुनौती बन गया है। मार्क्सीय और फ्रायडीय समीक्षा-पद्धतियाँ भी लागू की गई हैं और आज की हिन्दी समीक्षा पर इन वादों की गहरी छाप है, परन्तु मार्क्सवाद रचना के सामाजिक स्रोतों के विश्लेषण में तो सहायक हो सकता है वह उसके सौन्दर्य का समाधान नहीं बन सकता। इसी प्रकार फ्रायडवाद अवचेतन की सर्जनात्मक प्रक्रिया का तो उपयोग करता है परन्तु चेतन मन की अत्यन्त समर्थ और जागरूक अभिव्यक्तियों को छोड़ देता है। शास्त्रीय समीक्षाओं की इन एकांगिताओं से अब हम भली-भाँति परिचित हो गए हैं और अपने वैज्ञानिकता तथा शास्त्रीयता के आग्रह को थोड़ा ढीला करने लगे हैं।

पश्चिम की समीक्षा में काव्य का कोई ऐसा निरपेक्ष और शाश्वत मानदण्ड नहीं है जैसा भारतीय समीक्षा में 'रस'। अनुभूति की सापेक्षिकता और सामाजिक-बोध को ही वहाँ अधिक महत्व मिला है। फलतः काव्य में तरतमता का आग्रह है कि उसे जीवनधर्मी मानकर सन्तोष कर लिया जाए। तटस्थ, मूलभूत, अन्तरंगी और शाश्वत कोटि की चीज़ वहाँ काव्य नहीं है। काव्यानुभूति और रसास्वादन की पूर्णता की जो कल्पना रस में है वह 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहकर लोकोत्तर, विशिष्ट और पूर्णातिपूर्ण मान ली गई है, परन्तु पश्चिम उतनी दूर तक जाने का साहस नहीं करता। फलतः वह सापेक्षता, तरतमता और काव्यानुभूति के विश्लेषण में ही उलझकर रह जाता है। भारतीय समीक्षक के लिए व्यावहारिक और सापेक्षिक मान्यताओं से ऊपर उठकर शाश्वत सौन्दर्यबोध और आत्मानुभूति के उच्चतम शिखर तक पहुँचना अनिवार्य ही नहीं, सरल भी है क्योंकि उसके आध्यात्मिक और नैतिक संस्कार व्यक्तित्व की गहराइयों में उतरने के आदी हैं। यह ठीक है कि पश्चिम की सामाजिक और सापेक्षिक दृष्टि हमारे लिए मूल्यवान रही है क्योंकि उसने हमें निचले स्तरों पर अनेक जीवनसापेक्ष मानदण्ड दिये हैं, परन्तु वे हमारी रसदृष्टि के पूरक ही बन सकते हैं, उसका स्थान नहीं ले सकते।

१९२३ ई० में अपने एक निबन्ध 'द फ़ंक्शन आफ़ क्रिटिसिज़्म' में इलियट ने कलाकृतियों के स्पष्टीकरण और अभिरुचि के परिष्करण को समीक्षा का अन्तिम लक्ष्य माना है। उनके विचार में समीक्षक के अस्त्र हैं तुलना और विश्लेषण यद्यपि इनका उपयोग अलक्षित तथा अतिवादी ढंग से नहीं हो सकता। जहाँ समीक्षक धारणाओं, मतों तथा कल्पनाओं का आरोप करता है वहाँ युग की अभिरुचि कुण्ठित और विकृत होती है। जहाँ वह कलाकृतियों के स्पष्टीकरण में इतिहास, पुरातत्व, जीवनी-शास्त्र तथा मनोविश्लेषण को ही सब-कुछ समझ लेता है वहाँ वह समीक्षा के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। कहाँ तक समीक्षा साहित्य है और किस सीमा तक वह समीक्षा है, यह जानकर ही हम समीक्षा को साहित्य की मर्यादा दे सकते हैं। पच्चीस वर्षों बाद अपने दूसरे निबन्ध 'द फ्रण्टियर्स आफ़ क्रिटिसिज़्म' (१९५८) में इलियट ने शास्त्रीय समीक्षा की अतिवादिता का विरोध किया है और आस्वादन की परिपूर्णता को शाश्वत मानदण्ड बनाकर चलने की सुविधा की ओर इंगित किया है। वस्तुतः लोकधर्मी और लोकोत्तर संवेदनाएँ एक ही साहित्य-धर्म के दो पहलू हैं। उनमें तरतमता

का स्थापना व्यावहारिक ही है, मूलभूत नहीं क्योंकि शाश्वत जीवन-धर्म और युग-धर्म का कोई तात्विक विरोध नहीं है। कलाकार की मनोभूमि में युगसत्य आत्मधर्मी और संवेदनशील बनकर शाश्वत जीवन-बोध में बदलता रहता है। आवश्यकता इस बात की है कि पूर्व-पश्चिम के इस मिलन-बिन्दु को हम साहित्य-संगम का नया बोध दें। समीक्षा की सर्जनात्मकता और अभिरुचिमूलकता को सुरक्षित रखते हुए उसके व्याख्यात्मक, स्रोतमूलक और ऐतिहासिक अध्ययन को साहित्य की मर्यादा के भीतर उपयोग में लाना ही आज की आलोचना की सार्थकता कही जा सकती है। यह मध्यममार्गी स्थिति ही हमें द्विधाओं से उबार सकेगी। साहित्य-समीक्षा का लक्ष्य पाठकों के जीवन-बोध और आस्वादन को पुष्ट करता है, परन्तु यदि रचना उनकी अभिरुचि के अन्य क्षेत्रों को स्पर्श करती है तो उनसे वह अपने सन्दर्भों को पुष्ट भी कर सकता है। जीवन की समग्रगत चेतना में अनुभव, अनुभूति, संकल्प-विकल्प और आस्था सभी आ जाते हैं और प्रज्ञावादी मनुष्य के लिए उन्हें छोड़ना सम्भव नहीं है। परन्तु इस व्यापक भूमिका के निर्वाह में रचना के सम्यक् ज्ञान (बोधि) और रसानुभूति के पक्षों के आस्वादन का लक्ष्य बना रहना चाहिए। इन दोनों पक्षों में से हम एक को दूसरे से अधिक महत्त्व नहीं दे सकते। दोनों के सन्तुलन में ही समीक्षा-धर्म की चरितार्थता है।

इस पृष्ठभूमि में आज की हिन्दी आलोचना की क्या स्थिति है? क्या उसमें हमारी मनःस्फूर्ति का सर्वश्रेष्ठ आ सका है? क्या हमने पश्चिम के अनुकरण-अनुसरण और वादीय भूमिकाओं से ऊपर उठकर अपने स्वतन्त्र मानदण्डों का आविष्कार कर लिया है, या क्या इस प्रकार के स्वतन्त्र समीक्षा-शास्त्र की आवश्यकता भी है? उसकी दिशाएँ क्या हैं और सामयिक साहित्य के गत्यवरोध का उस पर क्या प्रभाव पड़ा है? ऐसे अनेक प्रश्न आज हमारे सामने हैं। ऐतिहासिक परिपार्श्व और विकास-क्रम से अलग होकर हमें समीक्षा के वर्तमान-धर्म का उद्घाटन करना होगा।

प्रभाववादी अथवा सृजनात्मक समीक्षा से हम बहुत आगे बढ़ आये हैं और पिछले ३०-३२ वर्षों में हमने वैज्ञानिक विश्लेषण, शास्त्रीय चिन्तन और ऊहात्मक विवेचना को अधिक प्रश्रय दिया है। छायावाद काव्य के आविर्भाव और विकास के साथ स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-शैली का भी जन्म हुआ और इस आन्दोलन की समाप्ति पर हमने प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) और फ्रायडवादी समीक्षा का भी विकास किया। पिछले बीस वर्षों में समीक्षा-क्षेत्र में इन दो विचारधाराओं और साहित्य-चिन्तनों की प्रधानता रही है। इन दोनों के साथ कुछ ऐसे समीक्षक भी हमारे बीच में हैं, जो साहित्य को इन दोनों वादों से अलग रखते हैं और उसके अपने निजी मानदण्ड चाहते हैं। ये मानदण्ड क्या हों, उनमें पूर्वी-पश्चिमी साहित्य-चिन्तन का कितना और कैसा समन्वय हो, इन प्रश्नों को लेकर मतभेद भी हो सकता है, परन्तु साहित्य को साहित्येतर मानदण्डों से परखना इस वर्ग को स्वीकार नहीं है। इसे हम सौन्दर्यवादी अथवा रसवादी समीक्षा कह सकते हैं। पाँचवीं कोटि की समीक्षा सौष्ठववादी या सर्वसंग्रही समीक्षा है, जो समीक्षा के विश्वविद्यालयीन स्तर का निर्माण करती है। उसमें आवश्यकता के अनुसार सभी दृष्टिकोणों का उपयोग होता है।

यह निश्चित है कि नई समीक्षा के विकास में साहित्य के उच्चस्तरीय अध्ययन का योग महत्त्वपूर्ण है। विश्वविद्यालयों की साहित्य-कक्षाओं में व्यावहारिक समीक्षा के रूप में जन्म लेकर नया समीक्षा-बोध बहुशास्त्रीय और सटीक बन गया है। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में शोध और समीक्षा का दौरदौरा चल रहा है। द्विवेदी युग में साहित्यिक पत्रकारिता ने पुस्तक-परीक्षा और समीक्षात्मक निबन्ध का विकास किया, परन्तु बाद में यह माध्यम अपर्याप्त सिद्ध हुआ। पिछली पीढ़ी के आलोचक अधिक व्यापक जनता के लिए लिखते थे, परन्तु आज गम्भीर पत्रों का पाठक-समाज अपेक्षाकृत छोटा हो गया है और समीक्षा विशेषज्ञता की वस्तु बन गई है। शोधात्मक समीक्षा शोधप्रबन्धों तक ही सीमित नहीं, वह बाजार का चलता सिक्का है क्योंकि प्रामाणिकता का ढोंग आज के वैज्ञानिक युग की अनिवार्यता बन गया है। दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र और अर्थविज्ञान को समीक्षा के क्षेत्र में लागू कर उसे पाण्डित्य का दर्प दे दिया गया है तो अध्यापक-समीक्षक की तटस्थ और सर्वग्राही समीक्षा ने उसके भीतर का डंक ही तोड़ दिया है। आज की आलो-

चना का सम्बन्ध साहित्य के रसास्वादन से उतना नहीं है जितना उसकी विविध सर्जनात्मक भूमिकाओं के उद्घाटन से। कला का दामन छोड़कर वह शास्त्र और विज्ञान की बैसाखियों पर टिक गई है।

इस स्थिति का समाधान क्या है? सच तो यह है कि समाधान है ही नहीं। विभिन्न मस्तिष्कों और पीढ़ियों को काव्य और साहित्य विभिन्न ढंग से ग्रहीत होंगे, चाहे वे सब समान रूप से क्षमतावान हों। काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त-वादिता और रसास्वादन में महान अन्तर है। पहले का सम्बन्ध सौन्दर्य-शास्त्र से है, दूसरे का समीक्षा-शास्त्र से। हिन्दी के लिए स्वतन्त्र समीक्षा-शास्त्र की आवश्यकता भले ही न हो, यह आवश्यक है कि हम नई और उत्कृष्ट रचनाओं से अपने संवेदन को तीक्ष्ण धार दे सकें और हमारी साहित्य की पहचान निरन्तर गहरी होती जाए। आवश्यकता नए और समर्थ सर्जन की है, जो यूरोप की क्लासिक कोटि की रचनाएँ हमें दे सके, जिनको केन्द्र बना-कर हम रचना-शिल्प और आस्वादन के नए रहस्यों का उद्घाटन कर सकें। प्रेमचन्द और निराला के बाद हमारा साहित्य पश्चिम के रंग में अधिक रँगता गया है और राष्ट्रीय जीवन तथा हिन्दी भाषा के अपने तत्त्व कम होते गए हैं। यह सत्य है कि साहित्य का उपजीव्य सार्वभौमिक मनुष्य है, परन्तु वह देशकाल और परम्परा में बँधकर ही मांसलता प्राप्त करता है। साहित्य का सत्य दर्शन का सत्य नहीं है, वह जीवन का सत्य है, जो रूप-रंग, आकांक्षा और स्वप्न के गहरे उच्छ्वासों से मण्डित है। वह व्यक्तित्व-वान होकर ही सम्पन्न बनता है। इसी राष्ट्रीय व्यक्तित्व को हमें अपने साहित्य में मूर्त्त करना है और समीक्षा के द्वारा उसके जीवन-मर्म तक पहुँचना है।

आज के आलोचना-साहित्य की विभिन्न दिशाएँ क्या हैं उसमें सिद्धान्त और व्यवहार की क्या स्थिति है, उसमें पश्चिम का आदान-प्रदान कहाँ और कितना है तथा उसमें हमारे नवोत्थित राष्ट्र की जागरूक बौद्धिकता और परि-ष्कृत सौन्दर्य-चेतना का निर्वाह किस रूप में हुआ है? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जो हिन्दी साहित्य के अध्येता को अनुप्राणित करते हैं। इस क्षेत्र में अपनी सीमाओं को जाने बिना हम सामयिक जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट नहीं कर सकते। साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या है तो समीक्षा साहित्य के माध्यम से जीवन की बौद्धिक विवेचना है। दोनों का उपजीव्य जीवन है और लक्ष्य उसका संस्कार तथा उन्नयन। ऐसी स्थिति में आज के आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह केवल साहित्य का ही समीक्षक न हो, जीवन को भी अपने कार्यक्षेत्र में ले। जैसे-जैसे मानव-जीवन संश्लिष्ट और जटिल होता जा रहा है, वैसे-वैसे उसका आर्थिक जीवन का संयोजन ही सब-कुछ होता जाता है और राज-सत्ता और राजनीति सर्वोपरि बन जाती है। परन्तु जीवन के प्रति सामग्रिक और अन्तर्बोधी दृष्टि साहित्य में ही पल्लवित होती है और इसी लिए हम साहित्य के अध्येता और आलोचक से यह आशा करते हैं कि वह एकांगी समाधानों के स्थान पर हमें ऋषि-दृष्टि-सम्पन्न मौलिक समीकरण दे।

इस पृष्ठभूमि में आज की हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में ऐसे समालोचक का अभाव बुरी तरह खटकता है जो साहित्य से आगे बढ़कर जीवन का समीक्षक हो और उसकी स्थापनाओं तथा मान्यताओं को हम अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों तथा समाजशास्त्रियों के सामने रख सकें। साहित्य से आरम्भ करना तो ठीक है परन्तु यदि हमारे वरिष्ठ समीक्षक उसी पर रुक जाते हैं और मानव-जीवन के सम्बन्ध में कोई व्यापक और मूलभूत दृष्टि हमें नहीं दे पाते तो यह हमारे लिए गर्व की बात नहीं हो सकती। पिछले तीन दशकों में साहित्य का अन्य शास्त्रों से गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ और आज हमारे आलोचक की दृष्टि रस-छन्द-अलंकार-मात्र से बँधी नहीं है। वह सौन्दर्यवेत्ता है परन्तु उसकी सौन्दर्य-चेतना साहित्य के माध्यम से और स्वतन्त्र भी सारे जीवन को दोनों भुजाओं में नहीं बाँध पाती। यह उसकी अक्षमता ही कही जाएगी। वह स्वयंभू तो है ही, उसे परिभूः भी बनना होगा। ऋषि की अन्तर्दृष्टि ही नहीं, उसकी कल्याणी लोकमंगल-साधना भी उसे चाहिए।

पिछले तीन दशकों में हमने यूरोप के ३०० वर्षों के समीक्षा-शास्त्र को विभिन्न पर्यायों के साथ अपनाया है। योगी अरविन्द ने तो ठीक ही लिखा है कि पश्चिम के

सम्पर्क ने ही हमें समीक्षा-दृष्टि दी और तर्क, विश्लेषण तथा स्थापना के अस्त्रों का प्रयोग हमने काल-स्थापना, तिथि-निर्णय, प्रवृत्तियों के अन्वेषण और कवियों के मूल्यांकन एवं तुलनात्मक ऊहापोह में किया। बौद्धिकता के आग्रह के साथ अन्तर्दृष्टि का भी परिष्कार हुआ और बँधी-सधी धारणाओं तथा साम्प्रदायिक दृष्टियों से बाहर निकलकर हम साहित्यालोचन के खुले आकाश के नीचे आये। इलियट ने आधुनिक समीक्षा का जन्म कॉलेरिज से माना है। जॉनसन से कॉलेरिज तक आधुनिक पश्चिमी समीक्षा के विकास की पहली सरणी है। कॉलेरिज ने दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र और मनोविज्ञान को साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में चालू किया और तब से किसी भी समीक्षक के लिए उसका अस्वीकार असम्भव हो गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में टेन ने युगधर्म, जातीय-चेतना तथा परिवेश को और सेंट बूव ने साहित्यकार के जीवन-वृत्त को रचना की कुंजी माना और इस प्रकार ऐतिहासिक समीक्षा का आरम्भ हुआ। पिछले वर्षों में समाजशास्त्र, भाषा-तत्व, अर्थविज्ञान और नृतत्वीय ज्ञान का भी आलोचना के क्षेत्र में व्यापक रूप से उपयोग हुआ है। नया साहित्य ज्ञान के इन सभी क्षेत्रों से अपने बिम्ब, प्रतीक और 'मिथ' ग्रहण करता है और आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह रचना के स्रोतों का गम्भीर अध्ययन करे। एक प्रकार से हम इन सारी प्रणालियों को स्रोतवादी समीक्षा कह सकते हैं। इसके विपरीत नव्य समीक्षा के नाम से अमरीका में इलियट, रिचर्ड्स, एम्पसन, एलन टेट आदि नए समीक्षकों ने विश्लेषणवादी समीक्षा को जन्म दिया है जो रचना को स्वतन्त्र और निरपेक्ष इकाई मानकर उसका भाषात्मक और बिम्बात्मक विश्लेषण करती है और स्रोतों को कवि के जीवन तथा उसके अध्ययन तक ले जाना आवश्यक मानती है। तात्पर्य यह है कि निर्णयात्मक और प्रभावात्मक समीक्षा-पद्धतियों के समकक्ष ऐतिहासिक अथवा स्रोतवादी और विश्लेषणात्मक अथवा वैज्ञानिक समीक्षा के नए अखाड़े आज समीक्षा-क्षेत्र के चलते सिक्के हैं। हिन्दी की सामयिक आलोचना सिद्धान्त-चर्चा के लिए इन सभी पद्धतियों को स्वीकार करती है और व्यवहार में इनमें से प्रत्येक का स्वतन्त्र अथवा सामाहारिक रूप से उपयोग करती है।

द्विवेदी-युग तक हमारा आलोचना-साहित्य पत्र-साहित्य था। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के ५० वर्ष हिन्दी आलोचना के जन्म के वर्ष हैं और पत्रकार ही समीक्षक के रूप में सामने आते हैं। पुस्तक-परिचय, लेख, निबन्ध, टिप्पणी आदि के रूप में इन पचास वर्षों में प्रचुर आलोचना-साहित्य हमें मिलता है परन्तु आज वह समय से बहुत पीछे पड़ गया है। १९२० के बाद पत्र-साहित्य के अतिरिक्त पुस्तक-साहित्य, पाठ्यपुस्तकों, शोध-ग्रन्थों और स्वतन्त्र समीक्षा-ग्रन्थों के रूप में हमें आलोचना का प्रसार मिलता है। उच्च शिक्षा की आवश्यकताओं ने हमारे साहित्य-समीक्षकों के मानदण्डों को बौद्धिक बना दिया और पाठशोध से लेकर व्यावहारिक समीक्षा तक की सारी सरणियाँ पार की गई। इसमें सन्देह नहीं कि शोध-ग्रन्थों और शोध-प्रबन्धों के रूप में आलोचना-साहित्य को उच्चस्तरीय मान्यता प्राप्त हुई है और विश्वविद्यालयीन समीक्षा का अपना स्थान निश्चित हो चुका है, परन्तु वह अधिकांश में रचना की आवश्यकता के अनुसार आलोचना के विभिन्न मानदण्डों को एक मर्यादा के साथ स्वीकार कर लेती है। उसे 'सौष्ठववादी' कहा गया है, परन्तु सच्चे अर्थों में उसे संस्थानिक (एकेडेमिकल) ही कहा जा सकता है। विश्वविद्यालय के भीतर और बाहर समीक्षा के कुछ निश्चित स्कूल भी चल रहे हैं, परन्तु पश्चिम के साहित्य-चिन्तन को किसी स्वतन्त्र दिशा में बढ़ाना हमारे लिए सम्भव नहीं हो सका है। क्यों नहीं हो सका, इसका कारण है। आधुनिक जीवन पश्चिम की ही देन है और वहीं के ज्ञान-विज्ञान से पुष्ट हो रहा है। पूर्व अभी सनातन मूल्यों और नयी जीवन-दृष्टियों में पटरी नहीं बैठा सका है और यह द्वैध की स्थिति साहित्य में ही नहीं, साहित्य-चिन्तन में भी बराबर देखी जाती है। अतीत और वर्तमान के इस संघर्ष से भागकर हम भविष्य में जीने लगते हैं अथवा अपने प्रति उत्तरदायित्व को भुलाकर समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को ही सब-कुछ मान लेते हैं। जीते हम वर्तमान में और आत्म में हैं, परन्तु इस जीने की अनुभूति को बहुत अंशों में अस्वीकार कर देते हैं। इसी लिए पारम्परिक सत्य और नए जीवन-मूल्यों में एकसूत्रता स्थापित करना हमारे लिए कठिन हो रहा है।

आज के आलोचना-साहित्य की जड़ें कितनी गहरी हैं, यह भी देखना है। साहित्य-सम्बन्धी नया चिन्तन ही पश्चिम से नहीं आ रहा है, वैविध्यपूर्ण, सप्राण और नव्यतम जीवन-प्रेरणा से ओतप्रोत रचनाएँ भी वहीं से आ रही हैं। साहित्य-चिन्तन के लिए श्रेष्ठ और सम्पन्न साहित्य का मूलाधार चाहिए। जहाँ जीवन की गति ही शिथिल है वहाँ साहित्य प्रगतिशील कैसे होगा! सामयिक साहित्य की ताथकथित प्रगतिशीलता केवल कुछ मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणात्मक तथ्यों के उपयोग अथवा यौन की नग्नता तक ही सीमित रह जाती है। इसे ही हमने आधुनिकता के नाम से प्रचारित किया है। पश्चिमी जीवन और संस्कृति को ह्रासोन्मुख मानकर भी उसकी अदम्य ऊर्जा से बचना हमारे लिए सम्भव नहीं है। पश्चिमी जीवन और साहित्य के प्रति इस आत्मसंकोच ने हमारी सौन्दर्य-चेतना और रसात्मकता को भी द्विधात्मक बना दिया है। हो सकता है, सुदूर भविष्य में हम पश्चिम से स्वतन्त्र अपना साहित्य और साहित्य-चिन्तन विकसित कर सकें, परन्तु तब तक हमें पश्चिम की ओर देखना आवश्यक होगा। हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व के निर्माण में हमारी नई सर्जनात्मकता और बौद्धिकता प्रतिफलित हो तो हमारा आलोचना-साहित्य व्यक्तित्वशील बने। सब के प्रति स्वीकार की उदारता और अपने प्रति निष्ठा हमें इस संक्रान्ति से पार लगाएगी।

हमारा आज का आलोचना-साहित्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा-दृष्टि का अनेकान्ती प्रसार है। राष्ट्रीय जीवन के नवोन्मेष में गांधी-युग ने हमें जहाँ प्रेमचन्द-जैसा समर्थ उपन्यासकार, निराला जैसा संवेदनशील कवि और प्रसाद जैसा उदात्त नाटककार दिया, वहाँ उसने हमारी आदर्शोन्मुख जीवन-चेतना और सौन्दर्यचेतस् साहित्यिक मनीषा को आचार्य शुक्ल-जैसा गम्भीर व्यक्तित्व भी दिया। साहित्य को धर्म, नीति और लोकजीवन की भूमिका देकर उन्होंने ऐतिहासिक और तात्विक साहित्य-चिन्तन की नई परिपाटी विकसित की, जो उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और 'रस-मीमांसा' नामक ग्रन्थों और 'चिन्तामणि' के निबन्धों तथा 'भूमिकाओं' में पूर्णतः पल्लवित होती है। समीक्षा के क्षेत्र में जिस समन्वयात्मक प्रवृत्ति का प्रवेश उनके द्वारा हुआ उसे प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी राष्ट्रीय संस्कृति तथा सौष्ठववादी विचारधारा के भीतर से विकसित करते हुए चले। 'बीसवीं शताब्दी' (१९४२) और 'कबीर' (१९४५) को हम इन दोनों वरिष्ठ समीक्षकों की प्रतिनिधि रचनाएँ मान सकते हैं। आलोचना के क्षेत्र में नव्यतम गतिविधि का परिचय अज्ञेय की रचनाओं 'त्रिशंकु' (१९४३) और 'आत्मनेपद' (१९६०), डॉ० धर्मवीर भारती की पुस्तक 'मानव-मूल्य और साहित्य' (१९६०), लक्ष्मीकान्त वर्मा की रचना 'नयी कविता के प्रतिमान' (१९५७), त्रैमासिक 'आलोचना, (१९५१-५९) और डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की पुस्तक 'हिन्दी नवलेखन' (१९६०) में मिलता है। ये नई साहित्य-रचना के तत्वों के उद्घाटन के साथ-साथ नूतन जीवन-मूल्यों के अनुसन्धान को भी अपनी विवेचना का विषय बनाते हैं। छायावाद के सभी प्रमुख कवियों को अपनी रचनाओं के स्पष्टीकरण के लिए विस्तृत भूमिकाओं तथा स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में बहुत-कुछ लिखना पड़ा और पिछले बीस वर्षों के काव्यालोचन का एक बड़ा भाग वही चीज़ है जिसे इलियट ने 'वर्कशाप क्रिटिसिज़्म' कहा है। यह स्पष्ट है कि नया कवि पाठकों से अपनी दूरी का अनुभव करता है और उनसे सीधी बातचीत कर इस व्यवधान को मिटाना चाहता है। वह अपनी रचनाओं का प्रणेता ही नहीं है, आलोचक भी है। इस दुहरे व्यक्तित्व ने उसकी रचनाओं को बौद्धिक, व्यक्तिमूलक तथा एकान्तिक बना दिया है। फलस्वरूप कवियों और समीक्षकों में खाई भी पैदा हो गई है क्योंकि समीक्षक के पास समीक्षा के लिए कुछ रह ही नहीं गया है। ऐतिहासिक और स्रोतवादी समीक्षा के साथ मार्क्सवादी और फ्रायडवादी समीक्षक भी चल रहे हैं, परन्तु '४०-५०' के दशक में उन्हें जो मान्यता प्राप्त थी वह अब शेष नहीं रही है। पिछला दशक (५०-६०) कवि-समीक्षकों की क्रियाशीलता और शोध-प्रबन्धों तथा उच्चस्तरीय संस्थानिक अथवा सौष्ठववादी समीक्षा का युग रहा है। तात्पर्य यह है कि आज का आलोचना-साहित्य वादगत या दृष्टिकोणगत न होकर समष्टिगत और व्यावहारिक है और उसमें सिद्धान्तों तथा मानदण्डों की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि का उपयोग ही मान्य होता जा रहा है। रचना की प्रकृति और रचना-प्रक्रिया

के भीतर से नए जीवन-बोध को पकड़ना ही आज की आलोचना का विषय है और प्रत्येक समृद्ध रचना आलोचना के नए क्षितिज उभारती है। आलोचना का यह अन्तरंगी तारल्य सभी 'वादों' और जीवन-भूमिकाओं से पुष्ट होता है, परन्तु उसकी सामर्थ्य उसका आत्म-स्वातन्त्र्य है। आलोचना को सर्जनात्मक बनाकर हम उसे कला और विज्ञान के द्वन्द्व से मुक्त कर रचना के केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हैं।

सच तो यह है कि पिछले कुछ वर्षों में समीक्षात्मक निबन्धों और सैद्धान्तिक अनुशीलनों ने दार्शनिक विवेचन की गम्भीरता प्राप्त कर ली है और भाषा-शैली का प्रौढ़तम रूप हमें इसी प्रकार के निबन्धों में मिलता है। समीक्षक आलोच्य विषय को पादपीठिका बनाकर साहित्य और जीवन-सम्बन्धी चिन्तन के नीलाकाश में उन्मुक्त विहार करता है। वह न व्यक्तिगत भूमिका ग्रहण करता है, न तथ्यों के विस्तार में जाता है। वह व्यक्तिगत अनुभवों और आलोच्य विषयों में से साहित्य और जीवन के सनातन सत्य निकालता है और उन्हें बड़ी-से-बड़ी सार्थकता देकर महान् कृतियों पर लागू करता है। सूक्ष्मतम और व्यापकतम में प्रवेश करने की क्षमता यहाँ भी विरल है, परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस आलोचनात्मक निबन्ध को चालीस वर्ष पहले वस्तुपरक चिन्तन से आरम्भ किया था वह आज सत्य का अन्वेषी और सौन्दर्य का उद्घाटक बनकर अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न आत्मविवृत्ति बन गया है। साहित्य और जीवन का यह अखण्डित एक्य नए समीक्षक के लिए ~~अत्यन्त~~ उत्साहप्रद है क्योंकि इससे उसकी विश्लेषणात्मक प्रतिभा को शरण मिलती है और उसकी प्रज्ञात्मक चेतना कृति के सहारे जीवन के सत्य में गहरी उतरती है। हम उसे एक स्वतन्त्र कला-कोटि मान सकते हैं।

हमारी आधुनिक हिन्दी समीक्षा यूरोपीय समीक्षा का ही अधिक अनुसरण कर रही है और पिछले ४० वर्षों में उसने अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी और अमरीकी साहित्य के अनुसरण के साथ इन्हीं देशों के विचार और अभिव्यंजना से अपना सम्बन्ध जोड़ा है। पश्चिमी देन के प्रकाश में वह अपनी पूर्व-परम्परा को समझने का भी उपक्रम करती है, परन्तु यूरोप के दाय को राष्ट्रीय निधि के रूप में बदलना अभी उसके लिए सम्भव नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारी आत्मनिष्ठा का पहला सोपान था, परन्तु जब तक हम शिक्षा और चिन्तन को प्रजातन्त्री बनाकर दूर तक नहीं ले जाते और अपनी विकासमान राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति उत्तरदायी नहीं बनते तब तक हमारा आलोचना-साहित्य प्रथम श्रेणी की वस्तु नहीं हो सकता। साहित्य को लोकोत्तरता और रहस्यमयता से नीचे उतारकर और उसे दैनन्दिन संवेदना तथा उपयोगिता की वस्तु बनाकर ही हम उसे आज के नए जीवन-मूल्यों से जोड़ सकते हैं। राजनीतिक चैतन्य हमारे आत्मस्वातन्त्र्य का प्रतीक है, परन्तु यह आत्मस्वातन्त्र्य पहले सर्जन के क्षेत्र में प्रकाशित होना चाहिए। तभी हम उसके आधार पर मौलिक साहित्य-चिन्तन की कल्पना कर सकते हैं। आधुनिक हिन्दी समीक्षा में साहित्य के नैतिक उत्तरदायित्व के प्रति सबसे प्रामाणिक स्वर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रहा है और बाद के आलोचना-साहित्य में इसी ने मानववादी विचारणा का रूप धारण कर लिया है, जिसके अनुसार साहित्य के मूल्य मूलतः नैतिक मूल्य हैं। परन्तु इस मानववादी समीक्षा-दृष्टि की सीमा यह है कि वह साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति को महत्व नहीं देती, व्यक्ति और समाज के जीवन पर उसके प्रभाव को ही अन्तिम सत्य समझ लेती है। मार्क्सवादी समीक्षा भी मानववादी समीक्षा की भाँति समसामयिक वस्तुस्थिति को महत्व देती है, परन्तु उसका आग्रह है कि वह साहित्य को वर्ग-संघर्ष के भीतर से ही देखे। मार्क्स और लेनिन के कला-बोध की दुहाई देकर नये साहित्य का मूल्यांकन एकदम असम्भव बात है। कुछ कलावादी समीक्षक भी हमारे बीच में हैं जो कलाकृति को परिपूर्ण अनुभव मानकर नैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा रचना के बाहर के अन्य समस्त क्षेत्रों के प्रति तटस्थ हो जाते हैं। उनके लिए साहित्य का सम्पूर्ण अर्थ रचना के शिल्प और सौष्ठव में ही अन्तर्निहित रहता है, परन्तु उसमें कलाकार की नैतिक जागरूकता की खोज नहीं की जा सकती। जो हो, यह स्पष्ट है कि हिन्दी का आलोचक अपने प्रति निष्ठावान है और सभी प्राथमिक मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन के लिए तैयार है। उसका विचार-स्वातन्त्र्य हमारी सांस्कृतिक निष्ठा का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना जा सकता है।

● ●

वासु वी० पुत्रन

हिन्दी और कन्नड़ का भक्ति-साहित्य : एक सिंहावलोकन

कन्नड़-भाषी श्री वासुदेव पुत्रन बम्बई के के० सी० कॉलेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। वे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के प्रमाणित प्रचारक और परीक्षक रह चुके हैं और स्वयं साहित्यरत्न हैं। हिन्दी में भी अकसर लिखते रहते हैं। इस समय वे 'हिन्दी और कन्नड़ के राम-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कर रहे हैं।

अनादि-काल से मानव-मानस में भक्ति की निर्मल धारा बहती आई है। इस 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा को लेकर अनेक विद्वानों ने पन्ने रँग डाले हैं। अतः हम पुनः इस झमेले में पड़ना नहीं चाहते। इतना तो सत्य है कि एक अव्यक्त सत्ता, जिसे ब्रह्म या भगवान की संज्ञा दी गई है, के प्रति मानव को अनादि-काल से विश्वास था। यह बात किसी देश-विशेष तक ही सीमित न रहकर समस्त मानव-समाज पर खरी उतरती है।

भारतीय दार्शनिकों ने अनादि-काल से इस सत्ता को निर्गुण और सगुण मानने का प्रयत्न किया है। अनेक तरह से उसकी पूजा भी की गई है। किसी ने द्वैतवाद के आधार पर तो किसी ने अद्वैतवाद के आधार पर ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध बताया; और किसी ने विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत के आधार पर अपना मत व्यक्त किया। किसी ने व्यक्त ब्रह्म को निराकार गुणातीत माना तो और किसी ने उसे सगुण साकार माना है। लेकिन इन सब वादों या तर्कों पर गहराई से सोचें तो ऐसा लगता है कि वास्तव में ये सब एक ही बात कहना चाहते हैं; उनका अपना-अपना मार्ग है लेकिन गन्तव्य एक है जहाँ वे सब पहुँचना चाहते हैं।

यहाँ हिन्दी और कन्नड़ के भक्त-कवियों की भक्ति-धारा के विविधांगों की एक झलक-मात्र प्रस्तुत की गई है; क्योंकि इस लघु लेख में इससे अधिक की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

जिस तरह उत्तर भारत में समय की माँग के रूप में मुगल शासन-काल में कबीर, तुलसी साहिब, गुरु नानक, दादूदयाल, मलूकदास आदि सन्त-कवियों ने निर्गुण राम को समाज के सम्मुख रखकर हिन्दू-मुसलमानों को, ब्राह्मण-शूद्रों को एक पृष्ठभूमि पर खड़ा करने एवं समाज की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया वैसे ही कर्नाटक के शिव-शरणों ने ऊँच-नीच की भावना से मुक्ति दिलाने का साहस किया। हाँ, उत्तर और दक्षिण की समस्याओं में अन्तर जरूर था। क्योंकि उत्तर में मुगल-साम्राज्य स्थापित हो चुका था और हिन्दू जनता, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति पर भारी कुठाराघात हो रहा था; मन्दिर गिराए जाते थे और मसजिदें खड़ी की जा रही थीं! हिन्दुओं पर अनेक तरह के अन्याय, अत्याचार चल रहे थे; अगणित करों से जनता त्रस्त थी! उनकी स्वतन्त्रता छीनी गई थी और उन्हें अनेक तरह की पाबन्दियों का सामना करना पड़ता था। अतः हिन्दू निराश तथा निरुपाय थे और मुसलमान विजयोल्लास में मदान्ध हो चुके थे।

ऐसी हालत में जब कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच द्वेष की गहरी खाई उत्पन्न हुई थी कबीरदास-जैसे समाज-सुधारक सन्तों के पास एकमात्र साधन था जिसके आधार पर वे फिर से हिन्दू-मुसलमानों को एक स्तर पर खड़ा

करते। वह साधन या निर्गुण ब्रह्म, जो हिन्दू-मुसलमान, गरीब-अमीर, राजा-रंक, स्त्री-पुरुष सब को जन्म देता है, सबका पालन करना है, और सबको अपने में विलीन कर लेता है, सबकी नस-नस में निवास करता है। उन्होंने राम और रहीम, ब्रह्म और अल्लाह को एक ही साबित किया; काशी और मक्का में समता स्थापित की; अज्ञान के घूँघट को हटाकर उस घट-घटव्यापी राम-रहीम के दर्शन कराने का प्रयत्न किया। इसी आधार पर सामाजिक विषमताओं को मिटाने में उनको बहुतांश में सफलता मिली। लेकिन उधर कर्नाटक की समस्या कुछ और ही थी; वहाँ हिन्दू-मुसलमानों की समस्या उत्पन्न नहीं हुई; हुई भी तो उसे लेकर साहित्य-क्षेत्र में कोई बड़ी क्रान्ति नहीं हुई। वहाँ की समस्या हिन्दुओं में ही ऊँच-नीच की भावना को लेकर खड़ी हुई थी; ब्राह्मण अपने को सब-कुछ समझते थे और अन्त्यजों को कोई स्थान ही न था। वे नीच और तुच्छ माने जाते थे और सब तरह के अधिकारों से वंचित रखे गए थे।

आज से आठ सौ वर्ष पहले, १२वीं शती तक, इस विषम-भावना से समस्त कर्नाटक दूषित था। इस जातीय भाव से विषाक्त क्षेत्र में शिवशरण कवियों (वचनकारों) ने आविर्भूत होकर उसे दूर करने का सफल प्रयत्न किया। जिस तरह उत्तर के सन्तों ने निर्गुण ब्रह्म को प्रस्तुत कर उसे 'है' और 'नहीं' तथा इस 'है' 'नहीं' के परे भी व्यक्त किया है, वैसे ही इन शिवशरणों ने अपने आराध्यदेव शिवजी ~~को~~ जगद्व्यापी मानकर उसके दिव्य-भव्य विराट रूप की आराधना, स्तुति, वन्दना का अधिकार छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष सबको समान रूप से दिया। जिस तरह हिन्दी के निर्गुण सम्प्रदाय में अधिकांश सन्त निम्न जाति के पाये जाते हैं वैसे ही कर्नाटक के वीरशैवों (शिवशरणों) में अधिकांश लोग निम्न कुल के हैं। उनमें २९ के लगभग महिलाएँ भी हैं।

राम का अस्तित्व

कबीर-जैसे सन्त सगुण-साकार राम को प्रस्तुत नहीं कर सके। इसका प्रयास करते भी तो उन्हें शायद निराशा ही हाथ लगती! कबीर का राम दाशरथी राम नहीं, केवल राम नाम है। उस समाज में साकार राम नहीं आ सकता था; आता भी तो लोगों को उस पर विश्वास नहीं होता। एक ओर मुसलमान उसे ठुकरा देते और दूसरी ओर हिन्दुओं का विश्वास उठ जाता। उन्होंने अपनी आँखों से देखा कि विधर्मी हिन्दू-देवालयों को तोड़ते हैं, भगवान की मूर्ति को चकनाचूर करते हैं, उसके भक्तों को सताते हैं; तब भी वह मौन है!! अतः कबीर ने ऐसे राम को हिन्दू-मुसलमानों के सामने रखा जो घट-घटव्यापी है, अवनि-अम्बर में और उसके परे भी उसका निवास है। गुरु नानक ने तो कहा था, 'दाशरथी राम, जो पत्नी के वियोग में रो सकता है उसको परब्रह्म कैसे मानें?' तुलसी ने प्रश्न किया था, जो राम साधारण मानव की तरह मृत्यु पाता है उसे परब्रह्म कैसे मानें? अन्य सन्तों ने भी इस तरह के प्रश्न उठाये थे।

वीरशैवों का भव्य आराध्य

कर्नाटक के वीरशैवों ने शिव को एकमात्र आराध्य-देव के रूप में प्रस्तुत किया। उनके आराध्य का भव्य रूप है। संसार-भर में दृष्टिगोचर होनेवाली समस्त चीजें उससे निर्मित होती हैं और समस्त जीवराशि में उसका अंश निवास करता है। उपनिषद् में परब्रह्म के भव्य रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अग्नि ही परमेश्वर का मस्तक है। चन्द्र और सूर्य दोनों उसके नेत्र हैं, दिशाएँ दोनों कान हैं, विस्तृत वेद ही वाणी है, वायु ही प्राण है, पृथ्वी पैर है; यही परमेश्वर समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परब्रह्म है। इसी विश्वास को शिवशरणों ने यूँ प्रस्तुत किया है: 'शिवजी के मुख से रुद्र का, भुजाओं से विष्णु का और जंघा से ब्रह्म का जन्म हुआ है। इन्द्र ने शिवजी के चरणों से, चन्द्रमा ने मन से और सूर्य ने चक्षु से जन्म लिया है। उसके मुख में अग्नि, प्राण में वायु, नाभि में अन्तरिक्ष, सिर में तैंतीस कोटि देवता और पदतल में भूमि का जन्म हुआ है। उसने कुक्षी में ही जग का निर्माण किया है। उसके अक्षय-अगणित शीश हैं और हजारों आँखें, हजारों हाथ-पाँव आदि हैं।"

कबीर आदि कवियों ने समय की माँग समझकर निराकार ब्रह्म को निरूपित किया था और यह सर्वमान्य

भी है कि उन्हें अपने कार्य में बहुतांश में सफलता भी मिली। लेकिन कुछ समय के पश्चात् उस ब्रह्म के प्रति निराशा जाग्रत हुई। क्योंकि जिस भगवान को लोगों ने देखा नहीं, जिसके न अंग है और न कोई कल्याणकारी उद्देश्य ही उससे मानव का क्या हित हो सकता था? लोग ऐसे भगवान् की प्रतीक्षा में थे जो उनकी पुकार को सुनकर हाथ में शस्त्र लिये दौड़कर आए, अन्यायियों को दण्ड दे और लोगों के मन-मन्दिर में आशा की ज्योति जलाए। इसी आधार को लिये हिन्दी के दो महान् कवि हमारे सम्मुख आए—सूरदास और तुलसीदास। एक ने 'यदा यदाहि धर्मस्य···सम्भवामि युगे-युगे' कहनेवाले कृष्ण को आराध्यदेव माना तो दूसरे ने राम को 'जब जब होइ धरम कै हानी···प्रभु धरि विविध शरीरा···' के सिद्धान्त के आधार पर प्रस्तुत किया। दोनों विष्णु के अवतारी पुरुष हैं। लेकिन जहाँ सूर का कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम है वहाँ तुलसीदास का राम मर्यादापुरुषोत्तम। यदि कृष्ण का जीवन बाललीला और कामलीला तक ही सीमित है तो राम का समस्त मानव को एक आदर्श पथ पर बढ़ानेवाला सम्पूर्ण जीवन है। तुलसीदास ने खुलकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म का खण्डन नहीं किया, लेकिन सूरदास, रत्नाकर आदि ने गोपियों के द्वारा इस कार्य को करवाया।

कर्नाटक के वैष्णव भक्त

उधर कर्नाटक में शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' कहकर जिस सिद्धान्त का प्रचार किया था उसकी आलोचना बड़े-बड़े पण्डितों, दार्शनिकों द्वारा हुई। सामान्य जनता के लिए तो यह सिद्धान्त लोहे का चना था। लोग इस संसार को मिथ्या मानने के लिए तैयार न थे। क्योंकि अगर सब मिथ्या है तो किस आशा से जिएँ? उसी समय मध्वाचार्यजी इस दार्शनिक भक्ति के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए, जिन्होंने मध्व-मत का प्रचार कर हरि-भक्ति-सुधा-रस बहाया, जिससे केवल कर्नाटक ही नहीं, अपितु पड़ोसी प्रदेश भी प्रभावित हुए। इस परम्परा में दासश्रेष्ठ पुरन्दरदास, कनकदास, गोपालदास, विट्ठलदास, विजयदास, श्रीनरहरितीर्थ, श्रीपादराय आदि दास कवि आते हैं, जिनका समूह 'दासकूट' कहा जाता है। इनकी कृतियों में राम को महत्व अवश्य मिला, लेकिन राम को लेकर किसी महाकाव्य की रचना नहीं हुई। इन्होंने कृष्ण को प्राधान्य दिया। लेकिन सूर के परवर्ती कृष्ण-भक्तों द्वारा चित्रित काम-केलि में लीन कृष्ण का रूप वहाँ मिलना कठिन है। उनका कृष्ण गीता का कृष्ण है, मुरलीधर है, मनोहर है, गिरिधर है, भक्तवत्सल है, दीनबन्धु है, असहायों का सहायक और निराधारों का आधार है। जहाँ हिन्दी में सूर-परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों ने भक्ति की आड़ लेकर उस विमल साहित्यधारा को कलंकित कर कुण्ठित किया वहाँ दास कवियों ने उसे अकलंकित छोड़ने का सफल प्रयास। उत्तर के सगुणवादियों में जिस माधुर्यभाव का अवलोकन किया जा सकता है उसका कर्नाटक में सर्वथा अभाव है और यदि एकाध मिल भी जाए तो गौण रूप में। यह भी स्मरण रहे कि कन्नड़ में 'भ्रमरगीत' और 'उद्धवशतक' की गोपियों के दर्शन नहीं होते।

मध्वाचार्यजी ने शंकराचार्यजी के अद्वैतवादी सिद्धान्त की कटु आलोचना की और भक्ति के लिए रामानुजाचार्यजी के विशिष्टाद्वैत को स्वीकारकर द्वैत मत की स्थापना की। शंकराचार्यजी ने ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना और रामानुजाचार्य ने भक्ति को ही। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में जो द्वैत और भक्तितत्व पाये जाते हैं उनका पूर्ण विकास मध्वाचार्य के द्वैत मत में हुआ, जिसका प्रचार कन्नड़ के दास कवियों ने किया।

निर्गुण सगुण ब्रह्म

अब प्रश्न है कि ब्रह्म निर्गुण निराकार है या सगुण साकार? ब्रह्म वास्तव में अपने मूलभूत में निर्गुण निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि है। वेदान्ती इसी पर जोर देते हैं, लेकिन अविद्या के कारण या उपासना के लिए हम ब्रह्म को सगुण, साकार, सविशेष और सोपाधि के रूप में समझते हैं या उन सब रूपों में समझने का प्रयास करते हैं। कबीर का निर्गुण राम त्रिगुणातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, भावाभाव विनिर्मुक्त है और है अलख अगोचर। वह समस्त वेदों से परे, भेदों से दूर, पाप-पुण्यों के पार, ज्ञान-ध्यान से भिन्न, स्थूल-सूक्ष्म से विवर्जित, डिम्ब और रूप से अतीत, अनुपम और विलक्षण परमतत्व है।

और कहीं तो ईश्वर से भी श्रेष्ठ माना है। कन्नड़ के बसवेश्वर, अक्का महादेवी, अल्लम प्रभु, पुरन्दरदास, कनकदास सर्वज्ञ आदि की और हिन्दी के कबीर, नानक, सूर, तुलसी आदि की कृतियों से अनेक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं। उनके मतानुसार गुरु अज्ञान को दूर करने वाला, ज्ञान-ज्योति जलानेवाला, मायापाश से मुक्त करनेवाला और सत्पथ पर आगे बढ़ानेवाला है; वह दयासिन्धु है, भवतारक है, मुक्तिदाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि दोनों साहित्य में निर्गुण सन्तों ने सगुण की अपेक्षा गुरु की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया, क्योंकि उनका अन्य कोई सजीव सक्रिय पथदर्शक नहीं था।

निर्गुणवादियों ने मूर्ति-पूजा की कटु आलोचना की। उन्होंने मूर्ति के भरोसे जीनेवालों के जीवन को अन्धकारमय बताकर सचेत किया। मोम की तरह पिघलनेवाली मूर्ति, अग्नि में स्वाहा होनेवाली मूर्ति और आवश्यकता पड़ने पर बेची जानेवाली मूर्ति मानव की क्या सहायता कर सकती है? पत्थर, मिट्टी और लकड़ी से निर्मित भगवान् किस काम आ सकता है? इसके उदाहरण दोनों भाषाओं के साहित्य में काफ़ी मिलते हैं।

सहज समाधि

दोनों भाषाओं के साहित्यों में सहज समाधि को महत्त्व देकर हठयोग का खंडन किया गया है। लेकिन इन दोनों में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य दृष्टव्य है। हिन्दी के निर्गुण सन्तों ने जहाँ सहज समाधि पर ज़ोर दिया वहाँ कन्नड़ के शिवशरणों ने शील और शुद्ध अनुभव पर जोर दिया। वैसे कबीरदासजी ने यदि—**आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ काया-कष्ट न धारूँ। खुले नयन से हँस-हँस देखूँ सुन्दर रूप निहारूँ"** कहा तो कन्नड़ के अल्लमप्रभु ने प्रश्न किया था कि यदि मैं पंचेन्द्रियों का उपभोग न करूँ तो ईश्वर द्वारा वे मुझे प्रदान ही क्यों की गई हैं? और बसवेश्वर ने कहा कि जिस रूप में भगवान से हमें जो तन-मन आदि मिले हैं उन्हें कम-से-कम उसी रूप में उसके चरणों में अर्पण करना चाहिए। कन्नड़ के वैष्णव भक्तों ने सहज-समाधि को महत्व देते हुए कहा कि भक्तों को चाहिए कि अपने शरीर को मन्दिर, शयन को दंडवत, अपने वचन को श्रीहरि का पूजामंत्र, उच्चरित शब्द को पुष्प, गति को नृत्य, पहने हुए कपड़ों को श्रीहरि का वस्त्र, पहने हुए आभूषणों को ही विद्याभरण, गूँथे हुए पुष्प ही फूलमाला, अचल बुद्धि ही आरती समझें। इस तरह दोनों इस क्षेत्र में एक साथ आगे बढ़ते हैं। लेकिन इतना स्वीकार किया जा सकता है कि हिन्दी के निर्गुण सन्तों की वाणी में सहजसाधना का जो रूप मिलता है वह शिवशरणों में नहीं मिलेगा।

ज्ञान और भक्ति

कन्नड़ और हिन्दी में ज्ञान और भक्ति की व्याख्या की गई है तुलसीदासजी द्वारा की गई ज्ञान और भक्ति की व्याख्या अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है। उनके मतानुसार ज्ञान और भक्ति में वही अन्तर है जो चकाचौंध करा देनेवाले प्रज्वलित प्रकाश और उज्ज्वलित रत्न में। एक अपने पास आनेवाले मोहित पतंगों को जला देता है तो दूसरा बिना मारे उन पतंगों को दूर भगाता है। सूरदासजी ने उद्धव-गोपिका संवादों में ज्ञान की अपेक्षा मुक्ति को श्रेष्ठ ठहराया है। तुलसीदासजी भेद को नहीं मानते। शिवशरणों के मतानुसार आत्मज्ञान के कारण ही जीव सारे बन्धनों से मुक्ति पा सकता है और एक बार जब उसे ज्ञान प्राप्त होता है तो वह अभय, द्वन्द्वातीत एवं निर्लिप्त हो जाता है तथा अनन्त सुख का अधिकारी बनता है। इसके साथ ही उन्होंने साधना के क्षेत्र में भक्ति को प्रथम स्थान दिया है। इनके अतिरिक्त शिवशरणों ने कायक (कार्य) को ही कैलास माना था। कर्म का अर्थ है अपने तथा समाज के विकास के लिए यथाशक्ति, परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का कार्य। उनके मतानुसार कायक मुक्ति दिला सकता है। कबीर ने भी कहा है—**"माँगन मरन समान है मत माँगो कोई भीख"** और रहीम का उद्गार था—**"रहिमन याचकता गहे बड़े छोट ह्वै जात..."** इस तरह दोनों साहित्यों में क्रिया, ज्ञान और भक्ति का त्रिवेणी-संगम इन प्रदेशों को सींचता है।

नारी

हिन्दी के निर्गुण सन्तों ने नारी को कोई स्थान नहीं दिया। जहाँ कहीं भी उसका वर्णन आया है वहाँ उसे

नरक ले जानेवाली माया, साँपिन आदि कहा। पलटू ने नारी को **नियत निकावे तन को मुए नरक लै जाय** कहा तो कबीर ने प्रश्न किया—**"नारी की छाया परी अन्धा होत भुजंग। कबिरा उनकी कौन गति नित नारी के संग?"** लेकिन कर्नाटक के शिवशरणों के बीच रहकर २८ स्त्रियों ने साहित्य-वृक्ष को सींचकर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया था।

नाम-महिमा

उभय साहित्यों के कवियों ने नाम-महिमा का अनेक स्थानों पर अनेक तरह से वर्णन किया है। कबीर के मतानुसार राम-नाम एक स्पर्शमणि है, अनुपम रसायन है और उसके सामने इन्द्रासन और वैकुण्ठवास भी तुच्छ हैं। सूर, मीर, सुन्दरदास, नानक आदि सन्तों ने भी नाम-महिमा गायी है। तुलसी ने बहुत आगे बढ़कर कहा कि राम-नाम निर्गुण ब्रह्म से बड़ा है ही, सगुण ब्रह्म से भी श्रेष्ठ है—**"मेरे मन बड नामु दुहूँ ते···कहो नाम बड ब्रह्म राम ते। निर्गुण ते येहि भाँति बड नाम प्रभाउ अपार कहउँ नाम बड राम ते···"** क्योंकि राम ने एक नारी का उद्धार किया है तो राम-नाम ने संसार के अगणित पतितों का उद्धार किया है; राम ने यदि शिव-धनुष को तोड़ा है तो उनके नाम ने भव-भय का ही नाश कर दिया है। श्रीराम ने कुछ राक्षसों को मारा है तो राम-नाम कलियुग के समस्त पापों का नाश करनेवाला है। कर्नाटक के हरिदासों ने नाम-महिमा को महत्व देकर उसे मुक्ति का साधन माना है। इसकी पुष्टि के लिए अनेक कवियों की रचनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि निर्गुण सन्तों की, समाज के लिए, क्या देन थी। सगुणवादी भक्त-सन्तों ने भी सामाजिक शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण पैदा कर दिया। इनके कारण लोगों का भगवान के प्रति विश्वास बढ़ा। दूसरी ओर इन सबने सरल सुलभ जन-भाषा का प्रयोग किया, जिसे जन-साधारण समझ सके। इन्होंने वेद-पुराण-शास्त्रों में संस्कृत में कही गई गूढ़ातिगूढ़ बातों को जनता की सरल भाषा में प्रस्तुत किया।

इस तरह इस बात का सिंहावलोकन किया गया कि कर्नाटक के शिवशरणों में और हिन्दी के निर्गुण सन्तों के सिद्धान्तों में तथा कन्नड़ और हिन्दी के वैष्णव सगुण कवियों के सिद्धान्तों में साम्य स्पष्ट प्रतीत होता है; यत्र-तत्र जो अन्तर दिखाई देते हैं वे गौण ही हैं।

डॉ० श्रीधर दत्तात्रय लिमये
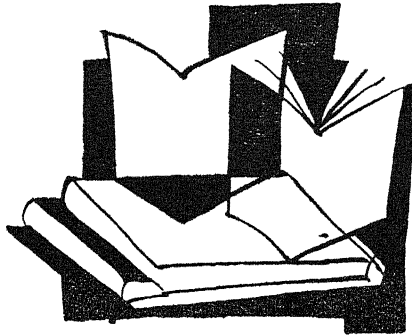
विज्ञान का साहित्य और हमारी भाषाएँ

डॉ० श्री० द० लिमये का जन्म १९१६ में हुआ। बम्बई विश्वविद्यालय के पी-एच० डी० और देसाई स्वर्ण-पदक विजेता हैं। ये रानडे इन्स्टीट्यूट (१९४२-४९) और रसायन मंदिर, पूना (१९५०-५७) के संचालक रह चुके हैं। इस समय केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के उपनिदेशक हैं। मराठी में इन्होंने दो पुस्तकें लिखी हैं: 'रसायनशास्त्र आणि-जीवन' और 'विज्ञान-विहार'। ये जर्मन और रूसी भाषाओं के भी विद्वान् हैं और अनेक अनुवाद कर चुके हैं।

'साहित्य समाज का दर्पण है।' विज्ञान का साहित्य कई तरह का हो सकता है। **अन्वेषणात्मक साहित्य** हमारी भाषाओं में निकलता ही नहीं। इसके कई कारण हैं। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि हमारे देश में आधुनिक विज्ञान का अध्ययन अन्य देशों की तुलना में बहुत बाद में चालू हुआ और अन्वेषण-कार्य भी दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत ही कम होता है। जो होता भी है वह मुख्यतः अंग्रेज़ी में ही छपता है। थोड़ा-बहुत अन्य देशीय पत्रिकाओं में प्रकाशित होता है। वह वहाँ की अर्थात् जर्मन, फ्रेंच-जैसी भाषाओं में होता है। भारतीय भाषाओं में सुनिश्चित परिभाषा का अभाव भी इसका एक कारण है। हमारे वैज्ञानिकों की सारी शिक्षा मुख्यतः अंग्रेज़ी के माध्यम से होने के कारण और वे जो वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते हैं उनके भी अंग्रेज़ी में होने के कारण, उनके लिए अपने कार्य का विवरण अंग्रेज़ी में ही प्रकाशित करना सुविधा-जनक होता है। और जिन पाठकों के लिए यह प्रकाशित होता है वे भी अंग्रेज़ी के ही अधिक अभ्यस्त रहते हैं। वास्तव में अब भारतीय भाषाओं में—कम-से-कम हिन्दी में—इन भारतीय वैज्ञानिकों के कार्य का सारांश प्रकाशित होना चाहिए। लेकिन दुर्भाग्य से वह दिन बहुत ही दूर लगता है जब कि भारतीय वैज्ञानिकों की मौलिक देन भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होगी। फिर भी हमारी आकांक्षा यह होनी चाहिए कि हम इतना मौलिक अन्वेषणात्मक कार्य करें कि भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने के कारण विदेश के वैज्ञानिकों को भी हमारी भाषाएँ सीखने की आवश्यकता प्रतीत हो, ठीक उसी प्रकार जैसे हमें अंग्रेज़ी के अतिरिक्त रूसी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाएँ भी सीखनी पड़ती हैं। जो भारतीय वैज्ञानिक अंग्रेज़ी के अतिरिक्त दूसरी भाषाएँ नहीं जानते हैं उन्हें आज भी उनमें प्रकाशित लेखों, निबन्धों के अनुवाद 'इन्सडॉक' (Insdoc) जैसी संस्थाओं से प्राप्त करने पड़ते हैं।

भारत आदि पूरब के देशों के स्वतन्त्र होने के कुछ ही समय बाद सर माल्कम हेले-जैसे कट्टर, ब्रिटिश साम्राज्य-वादियों ने भी वहाँ के युवकों को उपदेश देते हुए कहा था कि अब उनको प्राच्य भाषाएँ सीखनी ही पड़ेंगी, क्योंकि इन देशों का सारा व्यवहार अब उनकी भाषाओं में होने लगेगा। इससे स्पष्ट है कि विदेशियों की असुविधा की चिन्ता हमें करने की आवश्यकता नहीं है।

चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड आदि देशों में जो वैज्ञानिक अनुसन्धान-पत्रिकाएँ होती हैं उनमें उनकी भाषा में प्रका-

शित निबन्धों के साथ अन्य दो, तीन या कभी-कभी चार योरोपीय भाषाओं में सारांश देने की प्रथा है।

रूस में भी एक समय था जब जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं का वहाँ बहुत प्रभाव था। इसकी झलक हमें तुर्गेनेव के उपन्यासों में मिल जाती है। लेकिन आज रूसी में प्रकाशित होनेवाले अन्वेषणात्मक निबन्धों का अनुपात विश्व की अन्य भाषाओं के प्रकाशनों के साथ लगभग बीस प्रतिशत बैठता है। इसलिए अब अमरीका में रूसी वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं के समग्र अनुवाद का प्रबन्ध किया गया है। रूसी भाषा पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है, यहाँ तक कि दूरदर्शन (टेलीविजन) जैसे आधुनिक रूप-वाणी के साधनों को भी इस काम में प्रयुक्त किया जा रहा है। हमारे देश में रूसी साहित्यिक या वैज्ञानिक कृतियों का अनुवाद प्रायः ठेठ रूसी से न होकर अधिकांशतः अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से होता है। यह स्थिति कई दृष्टियों से वांछनीय नहीं है। क्योंकि जब तक अंग्रेजी अनुवाद हाथ नहीं लग जाता तब तक हम इन कृतियों से वंचित रहते हैं। हाल ही में रूसी वैज्ञानिक पुस्तकों के अनुवाद भारत में भी कम-से-कम अंग्रेज़ी में तो होने ही लगे हैं।

१९६० में राष्ट्रीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की ओर से भारतीय भाषाओं में प्रकाशित विज्ञान की पुस्तकों की प्रदर्शनी हुई थी जिनकी सूची (Indian Scientific and Technical Publications' Exhibition – A Bibliography) [1960] भी प्रकाशित हुई है। यद्यपि उसमें सारी पुस्तकें नहीं आ पायी थीं फिर भी उससे स्थिति का स्थूल रूप से आभास हो जाता है। प्रकाशित २९०८ पुस्तकों का भाषानुसार वर्गीकरण इस प्रकार था : आसामी (१५), बंगला (३४८), गुजराती (१९०), हिन्दी (८१४), मलयालम (१३०), कन्नड़ (१६१), मराठी (३५८), उड़िया (१३७), पंजाबी (४९), संस्कृत (११७), तमिल (२६८), तेलुगु (१४२), उर्दू (१७९)। इनमें से ८१८ पुस्तकें अर्थात् २५ प्रतिशत चिकित्सा-सम्बन्धी थीं और ४०८ खेती की। शुद्ध विज्ञानों में से भौतिकी पर १८९ और ज्योतिष पर १४८ पुस्तकें थीं। औद्योगिकी (टेक्नॉलाजी) की केवल ३६ किताबें थीं।

गत वर्ष (१९६२) दिल्ली में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की ओर से भारतीय भाषाओं में प्रकाशित वैज्ञानिक और तकनीकी पुस्तकों की प्रदर्शनी आयोजित की गई थी। इसमें लगभग दो हज़ार पुस्तकें आई थीं। इनमें से सबसे अधिक पुस्तकें हिन्दी की (८७०) थीं। सभी भाषाओं को मिलाकर सुगम साहित्य की २६३ और चिकित्सा की ४४३ पुस्तकें थीं।

निदेशालय के पुस्तकाध्यक्ष श्री महेन्द्रकुमार जैन ने भारतीय राष्ट्रीय ग्रन्थ सूची (Indian National Bibliography) के आधार पर परिश्रमपूर्वक जो आँकड़े प्राप्त किये हैं, उसका वर्गीकरण साररूप में यों है :

वर्ष	भारतीय भाषाओं में विज्ञान की पुस्तकें	हिन्दी में
१९५८	६४८	११५
१९५९	६०१	१६३
१९६०	४९७	९५
१९६१	५३५	९१

सन्दर्भ साहित्य

विज्ञान-विषयक सन्दर्भ साहित्य का भी हमारी भाषाओं में अभाव ही है। हाँ, विश्वकोश का प्रकाशन हिन्दी, तमिल, तेलुगु, बंगला, मराठी आदि भाषाओं में हुआ है या हो रहा है। फिर भी विज्ञान के स्वतन्त्र विश्वकोशों की आवश्यकता है। विश्वकोशों के अतिरिक्त हस्त-पुस्तकों (hand books) और अन्य सन्दर्भ साहित्य का भी महत्व कम नहीं। लेखकों, अध्यापकों, सम्पादकों तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों का काम इनके बिना चल नहीं सकता। सन्दर्भ साहित्य से किसी भाषा को स्थिरता प्राप्त होती है। दूसरे कई लेखन-प्रकारों में इनकी सतत उपयोगिता रहती है। विश्वकोश-जैसे ग्रन्थों का सम्पादन करनेवाले आगे चलकर दूसरे प्रकार के सन्दर्भ-साहित्य का काम अपने ऊपर लेकर उनको अच्छी तरह से निभा भी सकते हैं। उदाहरण के लिए मराठी ज्ञानकोश का प्रकाशन होने के पश्चात् मराठी में कई कोश प्रकाशित हुए, जिनमें ज्ञानकोश के सम्पादक-वर्ग के कई सदस्यों ने हाथ बटाया, जैसे प्राचीन चरित्र-कोश, अर्वाचीन चरित्र-कोश, मध्ययुगीन चरित्र-कोश, मराठी शब्दकोश (सात खण्डों में)

कहावतों का कोश (दो खण्डों में) और विश्वकोश। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने भी प्रयास किया है, जैसे व्युत्पत्तिकोश (कुलकर्णी), व्यावहारिक ज्ञानकोश (भिडे)। अब संस्कृतिकोश (महादेव-शास्त्री जोशी) भी प्रकाशित होने जा रहा है। एक काम से दूसरे कई कामों में प्रेरणा मिल जाती है। मराठी ज्ञानकोश का प्रकाशन स्वर्गीय डॉ० केतकर ने कई तरह की कठिनाइयों के होते हुए भी आज से तीस वर्ष पहले दूसरे विद्वानों के सहयोग से पूरा किया था। अब मराठी विश्वकोश महाराष्ट्र सरकार के तत्वावधान में बन रहा है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा भी हिन्दी विश्वकोश भारत सरकार की आर्थिक सहायता से प्रकाशित कर रही है। अब तक इसके दो भाग प्रकाशित हुए हैं और पाँच भाग बाकी हैं। विश्वकोशों में आज तक की ज्ञान-राशि संक्षेप में संचित रहती है और भावी प्रगति में वे बहुत ही उपोद्बलक होते हैं। The Great Encyclopedia of Universal Knowledge (1932, Odham, London) के सम्पादक अपने प्राक्कथन में लिखते हैं : "An encyclopedia in which in brief form is recorded the knowledge of man, is a milestone marking yet another stage in history.

वैज्ञानिक शब्दकोश

अंग्रेज़ी-जैसी प्रगल्भ भाषा में सामान्य शब्दकोशों के अतिरिक्त रसायन, भौतिकी, स्थापत्य, शिल्प, खेती, पशु-संवर्धन-जैसे विषयों के पारिभाषिक कोश भी मिलते हैं। भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के कोशों का अभाव ही है। विज्ञान-विषयक साहित्य और सुनिश्चित पारिभाषिक शब्दावली के अभाव में ऐसा होना क्रमप्राप्त ही था। सौभाग्य से अब अन्यान्य संस्थाओं, विश्वविद्यालयों प्रादेशिक शासन-विभागों तथा शिक्षा-मन्त्रालय के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की ओर से विज्ञान के अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दों के भारतीय पर्यायकोश निकले हैं। इनकी रचना में विशेषज्ञों तथा भाषाविदों का काफी सहयोग रहा है। इसके फलस्वरूप विश्वविद्यालयीन प्रथम उपाधि स्तर की पर्याप्त भारतीय शब्दावली उपलब्ध हुई है। इसके आधार पर पाठ्य-पुस्तकों और लोकप्रिय पुस्तकों का प्रकाशन भी हो रहा है। इनमें से कुछ रचनाएँ मौलिक हैं और कुछ अनुवादात्मक। इस प्रकार नवनिर्मित शब्दावली का प्रयोग होने पर भारतीय वैज्ञानिक शब्दकोशों की रचना आवश्यक होगी। इस दिशा में भी इधर हिन्दी निदेशालय की ओर से पिछले कुछ वर्षों से कार्य हो रहा है। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ हमारी भाषाओं में दिया जाएगा जिससे अध्यापकों, विद्यार्थियों तथा सामान्य पाठकों का बहुत लाभ होगा।

पारिभाषिक शब्दकोशों का विचार करते समय सर्वसामान्य शब्दकोश के स्वरूप, उपयोगिता या कोशकर्ता के कार्य-सम्बन्धी कुछ सूक्तियाँ सामने आती हैं। एक सूक्ति के अनुसार 'अच्छा शब्दकोश पत्नी या अभिन्न मित्र के समान निष्कलंक होना चाहिए।' तो सैम्युअल जॉन्सन का कहना है कि 'शब्दकोश घड़ियों की तरह होते हैं—सबसे अच्छी घड़ी भी प्रायः बिलकुल सही नहीं होती, लेकिन कुछ न होने से तो खराब घड़ी भी अच्छी ही है।' शब्दकोश रचयिता की दुरवस्था बताते हुए जॉन्सन ने कहा है, 'अन्य लेखक, कवि आदि तो प्रशंसा पाने की आशा कर सकते हैं, परन्तु शब्दकोशकार के लिए तो यही बहुत होता है कि लोग उसको तिरस्कृत न करें।' बेन जॉन्सन तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, 'नये शब्द बनाने में झंझट अधिक और लाभ नहीं के बराबर होता है, क्योंकि शब्द स्वीकृत हो जाता है तो भी रचयिता को प्रायः प्रशंसा नहीं मिलती; और यदि वह अस्वीकृत होता है तो रचयिता अवश्य ही उपहास का पात्र बनता है।'

अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दावली के भारतीय पर्याय देने में अनेक समस्याएँ सामने आती हैं। उनकी चर्चा मैंने अन्यत्र की है ('भाषा' नवम्बर १९६१, पृ० २४; जून १९६२, पृ० २७; मार्च १९६३, पृ० ३९); यहाँ केवल एक बात का उल्लेख करना है। विकसित भाषा के पारिभाषिक शब्दकोश-रचयिता के काम में और अविकसित भाषा के पारिभाषिक शब्दकोश-रचयिता के काम में महदन्तर होता है। वैसे तो विकसित भाषा का शब्दकोश बनाना भी कोई हँसी-खेल नहीं है। लेकिन इन कठिनाइयों के साथ-साथ अविकसित भाषाओं के शब्दकोश-रचयिता को शब्द-निर्माण का, उससे कई गुना अधिक कठिन, काम करना पड़ता है। इसलिए उसकी पल्लवग्राही आलोचना

करने की प्रवृत्ति को अनुदारता का ही द्योतक मानना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि किसी भी विदेशी भाषा को अपनाकर या उसकी पूरी-की-पूरी शब्द-सम्पदा को अपनाकर हमारा साहित्य समृद्ध नहीं हो सकता। यदि विज्ञान का प्रभाव हमारे सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन पर पड़ना है तो उस पर मुट्ठी-भर लोगों का एकाधिकार नहीं रह सकता। इसलिए ग्रीक-लैटिन आश्रित पाश्चात्य पारिभाषिक शब्दावली हम ज्यों-की-त्यों नहीं अपना सकते। हमें अपनी भाषाओं के मूलस्रोत संस्कृत पर आधारित शब्दावली से ही काम लेना होगा। इसलिए सामने आनेवाली शब्दावली में से कुछ कठिन शब्दों का हौवा बनाकर उसका विरोध करना लाभकर सिद्ध नहीं होगा। आगे चलकर इससे अधिक सरल, सार्थक और सुचारु शब्दावली बनने लगेगी और आज जितनी कठिनता प्रतीत होती है अभ्यास से वह भी स्थिति नहीं रहेगी। परकीय भाषा कितनी ही समृद्ध क्यों न हो, उसके शब्द विद्यार्थियों के लिए भार-स्वरूप ही होते हैं। उन्हें रटकर ध्यान में रखना पड़ता है। इसके विपरीत स्वकीय शब्दों को विद्यार्थी पचा सकता है और वे उसके व्यवहार्य शब्द-समूह (active vocabulary) का जीवन्त अंग बन जाते हैं। परकीय भाषा के पारिभाषिक शब्दों की दीवार हमारे विद्यार्थियों को विज्ञान की ज्ञानराशि से अलग रखती है। इसलिए उनका ज्ञान गहरा नहीं हो पाता। भाषा विचार-प्रक्रिया से अलग नहीं। वह जहाँ विचारों का वहन करती है वहाँ उनका प्रतिफलन भी है। स्वकीय भाषाओं को विज्ञान के प्रसार का साधन बनाने से हमारी जनता की विवेचन-शक्ति का विकास होगा, जो आगे चलकर हमारे समस्त राष्ट्रीय जीवन में प्रतिबिम्बित होगी।

पाठ्य-पुस्तकें

विज्ञान की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से देने के लिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता है। मैट्रिक परीक्षा तक की प्रायः सारी पाठ्य-पुस्तकें प्रादेशिक भाषाओं में मिलती हैं। हिन्दी में इण्टरमीडिएट स्तर की रसायन, भौतिकी, गणित आदि की पाठ्य-पुस्तकें थोड़ी-बहुत हैं। अब मुख्यतः प्रथम उपाधि स्तर की पुस्तकों की रचना बाकी है। इसके सम्बन्ध में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने योजना बनाई है जिसके अनुसार विश्वविद्यालयों तथा अन्यान्य संस्थाओं के सहयोग से हिन्दी पाठ्य-पुस्तकें लिखवाने या अनूदित करवाने का प्रबन्ध हो रहा है। विज्ञान और तकनीकी पुस्तकों के लिए कई पुरस्कार भी रखे गए हैं। इन सभी पुस्तकों में **'वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग'** द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग होगा। प्रकाशकों का सहयोग पुस्तकें तैयार करने की योजनाओं में लिया जा रहा है। और उसके लिए उचित अनुदान देने का भी आश्वासन दिया गया है। आशा है दूसरी प्रादेशिक भाषाओं में भी इसी प्रकार पुस्तकों का प्रकाशन होने लगेगा और मातृभाषाओं को बोधभाषा का स्वाभाविक स्थान मिलने के मार्ग में से एक मुख्य रुकावट दूर होगी।

सुगम साहित्य

विज्ञान के नये-नये आविष्कारों, उपकरणों, साधनों, यन्त्रों, औषधियों आदि के बारे में जनता में बहुत आकर्षण रहता है। इनकी जानकारी सरल भाषा में देना सुगम साहित्यकारों का काम है। सामान्यतया विज्ञान की पत्र-पत्रिकाओं या ग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों की भरमार रहती है। इस कारण सामान्य पाठक इनसे लाभ नहीं उठा सकता। प्राचीन काल में, जिस प्रकार संस्कृत भाषा का आध्यात्मिक ज्ञान-भण्डार प्राकृत भाषाओं में लाकर सन्तों ने जनता का बहुत ही उपकार किया, उसी प्रकार आज विज्ञान की जटिल परिभाषा में फँसा ज्ञान सामान्य जनता तक पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील रहना सुगम साहित्यकार का काम है। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के कई आधुनिक तुलसी-ज्ञानेश्वर सामान्य जनता की ज्ञान-लालसा तृप्त करते आए हैं। हमारी भाषाओं में भी इस प्रकार के फुटकर प्रयास हो रहे हैं। केन्द्रीय सरकार की ओर से भी ऐसे प्रयत्नों की सहायता होने लगी है।

विज्ञान-विषयक सुगम साहित्य की निर्मिति में कई तरह की अड़चनें हैं। सुनिश्चित पारिभाषिक शब्दावली का अभाव, पाठकों का निम्न स्तर, खरीदकर पुस्तकें पढ़ने की कम प्रवृत्ति आदि अड़चनों के साथ यहाँ और भी एक

कठिनाई है। भारतीय लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य के लेखक अधिकांशत: अध्यापक-वर्ग के होते हैं। दूसरे भी प्रकार के लेखक होते हैं जैसे समाचारपत्रों के सम्पादक या स्तम्भ-लेखक। भारत में स्वयं विज्ञान की प्रयोगशालाएँ अभी खुल रही हैं। इसलिए जीवन-भर वैज्ञानिक अन्वेषण में मग्न कार्यकर्ताओं की संख्या देश के विस्तार तथा जनसंख्या की तुलना में अत्यल्प है। जो थोड़े-बहुत विशेषज्ञ इस प्रकार के काम में व्यस्त रहते हैं उनको या तो सुगम साहित्य लिखने के लिए अवकाश नहीं मिल पाता, या उनकी इस ओर उतनी रुचि नहीं होती। कुछ की धारणा है कि यह काम उनके वस का नहीं है तो कुछ उसे अपने कार्यक्षेत्र के बाहर का मानते हैं। इन सभी दृष्टिकोणों में कुछ तथ्यांश हैं अवश्य। लेकिन इसका परिणाम यह होता है कि हमारी भाषाओं में प्रकाशित विज्ञान के सुगम साहित्य में कई खामियाँ आ जाती हैं। उसमें वस्तुतः व्यक्तिगत अनुभूति की वह झलक नहीं मिलती जो पाश्चात्य सुगम वैज्ञानिक साहित्य में मिलती है। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी पाश्चात्य साहित्यकार अन्वेषक या पहुँचे हुए वैज्ञानिक होते हैं या सभी ख्यातनामा वैज्ञानिक अच्छे सुगम साहित्यिक होते हैं। फिर भी कई पाश्चात्य विख्यात वैज्ञानिक अनेक तरह की व्यग्रताओं के होते हुए भी कर्तव्य-बुद्धि से सामान्य जनता के लिए सुगम साहित्य का निर्माण करते हैं। इसके अभाव में जहाँ हमारा सुगम साहित्य नीरस, निर्जीव और पर-प्रत्ययनेय स्वरूप का होता है, वहाँ उनका साहित्य सजीव, अनुभूति से ओत-प्रोत और अधिकृत होता है। उसमें कभी-कभी उस क्षेत्र की भावी प्रगति का निर्देशन मिलता है। अर्थात् जहाँ तक हमारी भाषाओं का प्रश्न है, एक दुष्ट चक्र-सा पैदा हुआ है—वैज्ञानिकों के अभाव में साहित्य नहीं और साहित्य के अभाव में विज्ञान की ओर लोगों का आकर्षण नहीं और यदि हो भी तो वह आकर्षण न तो स्थायी होता है और न किसी तरह की प्रेरणा दे पाता है। इस दुष्चक्र के फेरे से हमें बाहर निकलना ही होगा। इसलिए हरएक विषय पर जितना भी हो सके हमारे विज्ञान-शिक्षा-प्राप्त विद्वानों को लिखना ही चाहिए। **विशेषज्ञों की लोकाभिमुखता किसी भी देश की अनमोल धरोहर होती है।** इससे कई सुप्त शक्तियों को प्रेरणा मिल सकती है। कई विख्यात वैज्ञानिकों की जीवनियों से पता चलता है कि सुगम वैज्ञानिक साहित्य का उन पर संस्कार-क्षम आयु में काफी प्रभाव पड़ा है। पहाड़ों पर पड़कर अरबों क्यूसेक पानी समुद्र में बह जाता है। उसका दुर्लक्ष्य कर कितनी शक्ति हम खो बैठते हैं इसका अनुमान हमारे योजनाकार लगाते हैं। लेकिन युवकों के दुर्लक्षित सुप्त सामर्थ्य का अनुमान कौन और कैसे लगाए! वास्तव में यह सामर्थ्य देश के काम अच्छी तरह से आ सकता था। इस महान कार्य में सुगम वैज्ञानिक साहित्यकारों को हाथ बँटाना चाहिए।

अनुवादों का स्थान

अपनी भाषाओं के साहित्य का सिंहावलोकन करने पर दिखाई देता है कि अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने पर जैसे-जैसे पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से हमारा परिचय बढ़ता गया वैसे-वैसे हमारे साहित्य में भी उसका प्रतिबिम्ब पड़ता गया। साहित्य में नई-नई विधाएँ (forms) आने लगीं। पाश्चात्य साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद होने लगे। आरम्भिक अवस्था में इन अनुवादों का अनुपात काफी अधिक रहा और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। अनुवादों से हमें दूसरी भाषाओं की उत्तमोत्तम कृतियों का रसास्वादन करने की कुछ सुविधा होती है, जिसके बिना हम दूसरी भाषा न जानने के कारण उस आनन्द से वंचित रहते। फिर भी हमें मानना होगा कि अन्त में हमारे साहित्य का मूल्यांकन या उसकी उपयोगिता इस बात पर निर्भर करेगी कि इस कृतित्व में भारतीय आत्मा या अस्मिता का आभास कितना मिलता है। ठीक यही बात वैज्ञानिक साहित्य पर भी लागू होती है। लोकप्रिय या सुबोध शास्त्रीय साहित्य में तो विशेषतया इसका महत्व और भी अधिक है। पाश्चात्य लेखकों के सामने जो पाठक रहता है उसकी सामाजिक, वैज्ञानिक और वाङ्मयीन पृष्ठभूमि हमारे पाठक की पृष्ठभूमि से सर्वथा भिन्न होती है। उसका बौद्धिक स्तर भी अलग होता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य भाषाओं का तथाकथित 'सुगम वैज्ञानिक साहित्य' कभी-कभी किसी विशिष्ट क्षेत्र के विशेषज्ञों द्वारा दूसरी शाखा के विशेषज्ञों के लिए लिखा होता है, न कि विज्ञान से अनभिज्ञ सामान्य जनता के लिए। अन्यथा आत्यन्तिक

विशिष्टीकरण के इस युग में ये विशेषज्ञ दूसरी आनुषंगिक (सम्बद्ध) शाखाओं की नवीनतम अन्वेषणात्मक प्रगति के सामान्य रूप से भी परिचित नहीं रह सकते। एक तरह से उन्हें हम 'अज्ञ विशेषज्ञ' कह सकते हैं। इसलिए हमारे पाठकों की दृष्टि से पाश्चात्य भाषाओं के सुगम वैज्ञानिक साहित्य की उपयोगिता वास्तव में सीमित ही होती है। साथ-साथ हम भूल नहीं सकते कि हमारी दौड़ समय के विरुद्ध है। इस क्षेत्र में हमारे मानदण्ड (norms) अभी तक प्रस्थापित नहीं हुए हैं। ऐसी स्थिति में परकीय स्रोतों से, चाहे वे अंग्रेज़ी हों या जर्मन, फ्रेंच, रूसी या जापानी हों, उनसे अपनी साहित्य-सरिता को समृद्ध करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। यद्यपि प्रारम्भिक या संक्रमण की अवस्था में यह मार्ग अपनाया जाएगा, फिर भी स्वयं स्पष्ट है कि अन्तिम दृष्टि से अनुवाद या रूपान्तर मौलिक रचनाओं का स्थान कभी भी नहीं ले सकते। विदेशी ग्रन्थकारों की लोकप्रिय कृतियों का अनुवाद करने में और भी एक खतरा हो सकता है। वह यह कि हम समझ-बूझ-कर या अनजाने में सैद्धान्तिक, राजनीतिक या वैज्ञानिक आविष्कारों के मतभेदों या झगड़ों में उलझ जाएँ। विदेशी संस्थाओं (agencies) द्वारा प्रकाशित लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य का अनुवाद या रूपान्तर सधन्यवाद करते हुए हमें इस तरह के सभी झगड़ों से या उसमें होनेवाले प्रच्छन्न या आदर्शवादी प्रचार से भी बचकर चलना होगा।

भारतीय भाषाओं में प्रकाशित वैज्ञानिक साहित्य का विहंगावलोकन ऊपर प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि संसार के समुन्नत देशों के समकक्ष होने के लिए अभी हमें बहुत काम करना है। फिर भी उषा की लालिमा मन्द ही होती है। उसमें मध्याह्न की प्रखरता कहाँ? भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक साहित्य प्रभात की देहली पर खड़ा है और धीरे-धीरे पूरब में ज्ञान-सूर्य की किरणें अन्धकार मिटाकर आकाश को प्रकाशित कर रही हैं। अतः हम आशा कर सकते हैं कि **'विद्यापीठ'** की **स्वर्ण-जयन्ती** के अवसर पर वैज्ञानिक साहित्य का सिंहावलोकन करते समय इसका अधिक तेजोमय चित्र हमारे सम्मुख आएगा।

विष्णु प्रभाकर

हिन्दी : विदेशियों की दृष्टि में
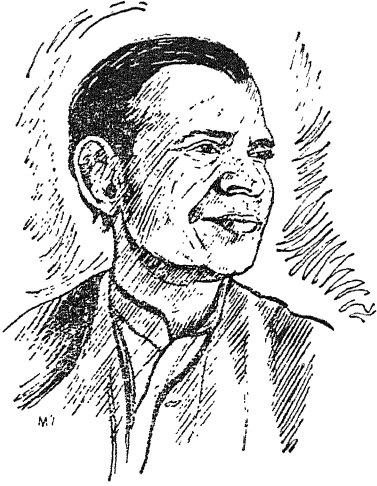
श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म २१ जून १९१२ को उत्तर प्रदेश के मुजफ्फर नगर जिले के मीरापुर कस्बे में हुआ था। शिक्षा हिसार में हुई। पंजाब विश्वविद्यालय से बी० ए०, प्रभाकर और प्राज्ञ किया। नाटक और साहित्य की ओर रुचि बचपन से ही रही। पहली कहानी 'अलंकार' १९३४ में छपी। १५ वर्ष नौकरी करने के बाद सन् १९४४ में त्याग-पत्र देकर पूरा समय साहित्य-सृजन में लगा रहे हैं। देश-विदेश में काफी भ्रमण कर चुके हैं। उत्कृष्ट मानवी मूल्यों का उद्‌घाटन इनके साहित्यकार का मूल ध्येय है। 'निशिकान्त' (उपन्यास) : 'डॉक्टर' (नाटक), होरी (नाटक), 'प्रकाश और परछाईं' और 'बारह एकांकी' (एकांकी संकलन) 'धरती अब भी घूम रही है, और 'संघर्ष के बाद' (कहानी-संग्रह) इनकी कुछ प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। आजकल दिल्ली में निवास करते हैं।

हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, वे उसको प्यार करते हैं। उस प्यार का आधार विवेक इतना नहीं है जितना स्वभाव। अपनी माँ को सभी प्यार करते हैं और इसलिए प्यार करते हैं कि वह उनकी माँ है। माँ में कोई दोष हो सकता है, यह उनके मन में कभी आ ही नहीं सकता। इसी तरह हिन्दी है। हिन्दी भाषा-भाषी लोग यह कहते कभी नहीं थकते कि हिन्दी संसार की सरलतम भाषा है, सबसे अधिक वैज्ञानिक है, इत्यादि-इत्यादि।

हम इस दावे को चुनौती देना नहीं चाहते। न किसी पर दोषारोपण करना चाहते हैं। केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि दोष-गुण का निर्णय तभी हो सकता है जब दूसरी भाषाओं के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पूर्ण हो। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भाषातत्वविद् हिन्दी को अपेक्षाकृत सरल और वैज्ञानिक मानते हैं। इसका अर्थ है कि हिन्दी भाषा में भी दोष हैं। उसको सीखने में भी कठिनाइयाँ हो सकती हैं। उन दोषों और कठिनाइयों पर हिन्दी भाषा-भाषी की दृष्टि नहीं जाती, जाना सम्भव भी नहीं है। जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं हैं, केवल वे ही उन कठिनाइयों को जान सकते हैं और जानते हैं।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा मान ली गई है, इसलिए राजनैतिक विरोधों के बावजूद अन्य भाषा-भाषी इसे सीख रहे हैं। दूसरे देशों के लोग भी इसे सीख रहे हैं, क्योंकि देश की आत्मा को समझने के लिए उसकी भाषा को समझना अनिवार्य है। पश्चिम के देश भी इस ओर अग्रसर हैं। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड सभी जगह हिन्दी पढ़ाई जाती है। जो राजनीतिक सम्बन्धों में पारंगत होना चाहते हैं, वे तो पढ़ते ही हैं जो देश को समझना चाहते हैं वे भी पढ़ते हैं। पश्चिम के देशों से रूस आदि देश और भी अधिक सजग और क्रियाशील हैं। रूस में हिन्दी के लिए जो कुछ हो रहा है वह सचमुच अद्‌भुत है। लेकिन आज हम केवल चैकोस्लोवाकिया की ही चर्चा करेंगे।

प्राहा विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० विन्त्सेन्त्स पोरीज़्का अपने देशवासियों को हिन्दी पढ़ाने के लिए एक पाठ्य-पुस्तक तैयार कर रहे हैं। उसको तैयार

करने में उनके सामने जो कठिनाइयाँ आ रही हैं उनके सम्बन्ध में वह भारत के कई व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार करते रहते हैं। पिछले ६ वर्षों में मुझे भी उन्होंने अनेक पत्र लिखे। तभी मुझे उनकी दृष्टि से हिन्दी को परखने का अवसर मिला। मैंने उसकी शक्ति और दुर्बलता को पहचाना। उन लोगों की जिज्ञासा, सही बात को पकड़ने की व्यग्रता और अध्यवसाय को देखकर चकित रह जाना पड़ा। अंग्रेजी का एक शब्द है 'निकर'। हिन्दी ने उसको स्वीकार कर लिया है, लेकिन अराजकता देखिए कि हर लेखक उसको अपनी ही दृष्टि से लिखता है। डॉ० पोरीज़्का ने लिखा, "वीर राजेन्द्र ऋषि रूसी-हिन्दी शब्दकोष में लिखते हैं, 'खेलने की निकर', कृष्णचन्द्र (मेरे दोस्त का बेटा, पृष्ठ ४७) और ख्वाजा अहमद अब्बास (अवध की शाम, पृष्ठ ७८) और नागार्जुन (बलचनमा, पृष्ठ ३६) लिखते हैं 'नेकर'। इनमें कौन ठीक है ?" एक और पत्र में उन्होंने पूछा, "उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक बार लिखते हैं, 'मेज की बाईं ओर', दूसरी बार 'मेज के बाईं ओर', अज्ञेय लिखते हैं, 'आँगन के दाईं ओर', कौन-सा प्रयोग शुद्ध है ? सेठ गोविन्ददास लिखते हैं, 'खिड़की के एक ओर एक कुर्सी पड़ी है', क्या यह प्रयोग शुद्ध है ?"

'और कोई', 'कोई और', 'और कुछ', 'कुछ और', इनका अंग्रेजी में शुद्ध अनुवाद क्या हो सकता है ? यह जानने के लिए उन्होंने जे० टी० प्लाट्स, टी० ग्राहम बेले, एस० एन० शर्मा और एस० एच० कैलौग द्वारा लिखित कोश और व्याकरण देखे और सब में अन्तर पाया। हिन्दी शब्द सागर में 'दिखाई' शब्द का अर्थ है, 'देखने या दिखाने का काम।' लेकिन प्लाट्स के कोश में इस शब्द का अर्थ है, 'दीखने का भाव और दिखाने का काम।'

इनमें कौन सही है और कौन गलत ? क्या कभी हम लोग भी इस दृष्टि से हिन्दी का अध्ययन करते हैं ?

साधारणतया वे लोग हिन्दी, उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएँ मानते हैं। यह समझने में उन्हें कठिनाई होती है कि बहुत-से शब्द दोनों भाषाओं में समान रूप से चलते हैं। बहुत वर्ष पूर्व एक दूसरे चैक मित्र ने मुझसे पूछा था, 'किवाड़, आकाशवाणी, कोठड़ी लिखें या दरवाजा, रेडियो और कमरा ? हिन्दी में नदी, आकाश और सूर्य-जैसे सुन्दर शब्द हैं। फिर दरिया, आसमान और आफ़ताब का प्रयोग क्यों किया जाए ?'

बोलचाल और साहित्य की भाषा का अन्तर भी उनकी समझ में नहीं आता। क्या हम जानते हैं कि हिन्दी में साहित्यिक और बोलचाल की भाषा में जितना अन्तर है उतना हमारे ही देश की दूसरी भाषाओं में भी नहीं। हिन्दी-उर्दू के शब्दों को लेकर विदेशों में जो कठिनाई होती है उसका कारण स्वयं हम भी हैं। जब कोई मुस्लिम सज्जन बाहर जाते हैं तो उनका आग्रह फ़ारसी शब्दों के प्रयोग पर रहता है और हिन्दू सज्जन का संस्कृत के शब्दों पर। इस विग्रह को हमने अपने देश तक ही सीमित नहीं रखा है, बाहर भी फैलाया है और उन लोगों को गुमराह किया है; अब भी कर रहे हैं। इसीलिए डॉ० पौरीज़्का ने अपनी पाठ्य-पुस्तक में 'नमस्ते' के साथ-साथ 'आदाब अर्ज़' शब्द का प्रयोग भी बिना किसी विवेक के किया है।

उच्चारण की समस्या भी उन लोगों को बहुत परेशान करती है। 'निकर', 'नेकर', 'नीकर' की चर्चा अभी हमने की। यह विदेशी शब्द है लेकिन 'छ' तो हमारा अपना शब्द है। उसका सही उच्चारण क्या है, 'छ' या 'छह' या 'छः' इसका निर्णय हम भी नहीं कर पाये हैं। वर्तनी की समस्या आज भी हमारे लिए समस्या बनी हुई है। कल्पना की जा सकती है कि वे लोग कितने परेशान होते होंगे ! 'सिंह' 'और' 'कैसा' आदि शब्दों के उच्चारण भी उनकी समझ में आसानी से नहीं आते।

वाक्य-रचना को लेकर भी वे अनेक प्रश्न पूछते रहते हैं। कुछ बातें उनकी समझ में नहीं आतीं, जैसे, 'दुपट्टा गले पर' या 'गले में' 'अँगुठियाँ अँगुलियों पर' या 'अँगुलियों में'। मैंने उन्हें लिखा था कि यहाँ 'मैं' शब्द का प्रयोग ठीक है। उन्होंने फिर तर्क किया, " 'गले में' का अर्थ होगा 'गले के भीतर', दुपट्टा गले के भीतर नहीं होता।"

एक और पत्र में उन्होंने पूछा, " 'मेरा जी कुछ नहीं चाहा', 'मेरा जी चाहा कि यहाँ से चल दूँ', क्या ये वाक्य ठीक हैं ? नहीं तो क्यों ?" ऐसी गलतियाँ या भ्रान्तियाँ 'ने' प्रत्यय के कारण होती हैं। यह प्रत्यय दक्षिणावासियों को भी बहुत परेशान करता है। नमूने के कुछ और वाक्य देना चाहूँगा। 'तुम **किस** पर या **काहे** पर लिखते हो',

'**मलेरिया** या **मलेरिये** का खतरा', 'पूरब **में** या पूरब **से**', 'एक चिट्ठी **लिखनी** या **लिखना**', 'बच्चे **के** बिना या बच्चे बिना', 'कितनी **दफे** या कितनी **दफा**', '**रिक्शा** में या **रिक्शे** में', '**अच्छा सस्ता** सिगरेट या **अच्छी सस्ती** सिगरेट', 'डाकिया चिट्ठियाँ **डाकघर में** या **डाकघर** ले जाता है', 'थैले **स्टेशन** या **स्टेशन पर** भेज दिये जाते हैं', 'तुम भी **मुझ** जैसी या **मेरी** जैसी या **मेरे** जैसी गँवारिन हो', '**क्रोध में भर कर** कहा, या **क्रोध** में कहा या **क्रोध से** कहा', 'एक रुपये **के** या एक रुपये **में** सौ नये पैसे होते हैं', 'मनुष्य के शरीर के मुख्य भाग **कौनसे** हैं या **कौनसे होते हैं** या **कौनसे मुख्य भाग** हैं', दिल्ली **किस** या **कौनसी** नदी के किनारे बसी हुई है', 'हम जाने **के लिए** या जाने **को** ।'

बहुत से शब्द हम कई प्रकार से क्यों लिखते हैं, यह भी उनकी समझ में नहीं आता। 'छ' की चर्चा हमने ऊपर की है। 'दर्जन' एक और शब्द है जिसमें हम कभी तो पूरा 'र' लिखते हैं या कभी आधा 'र' ऊपर चढ़ा देते हैं। ऐसे ही 'गिलास' या 'ग्लास', 'बहन' या 'बहिन', 'पहला' या 'पहिला', 'मेह' या 'मेंह' । उर्दू शब्द उनके लिए भी समस्या हैं, जैसे 'तालिब इल्म' का सही रूप 'तालिब इल्म है या तालिबे इल्म', 'ख्वाह' को क्या 'खाह' भी लिखा जाता है ?

व्याकरण में भी बहुत-सी बातें उनको समझ में नहीं आतीं। उन्होंने पूछा, "क्या हिन्दी में भौगोलिक नाम, स्वीडन, लन्दन आदि पुल्लिग होते हैं। 'नेकर' स्त्रीलिंग है या पुल्लिग। इसी तरह 'आय', 'क्रिकेट', 'हाकी', 'मिल', 'तौलिया', 'जनवरी', 'फरवरी', 'मई', 'जुलाई', 'स्क्रीन', 'माचिस', 'गिलास', 'बोतल' इनका सही-सही लिंग क्या है ?" अपने ही देश में जब हम 'दही' को दोनों लिंगों में प्रयुक्त करते हैं तो उनसे क्या कहें ? 'ड्रामा' का बहुवचन 'ड्रामों' होगा या 'ड्रामाओं' यह भी वे नहीं समझ पाते। 'नहीं' के स्थान पर 'न' का प्रयोग करें तो क्या अर्थ में कुछ अन्तर हो जाएगा ? इस तरह के प्रश्न भी अकसर उनको परेशान करते हैं। 'और कुछ', 'कुछ और', 'और कोई', 'कोई और' भी इसी प्रकार के शब्द हैं।

इन प्रश्नों और समस्याओं का कोई अन्त नहीं है। केवल उदाहरण के रूप में ही कुछ प्रश्न और कुछ समस्याएँ यहाँ प्रस्तुत की गई हैं। इनमें से कुछ का उत्तर भी बड़ी आसानी से दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हर भाषा में इस प्रकार की विषमताएँ और विशेषताएँ होती हैं। हम यह भी मानते हैं कि हमारा देश बहुत बड़ा है। इसके अनेक भागों में हिन्दी के अनेक रूप हमारे सामने आएँगे, लेकिन जिसको हम राष्ट्रभाषा या राजभाषा कहकर पुकारेंगे उसका कोई-न-कोई मान हमें स्थापित करना ही होगा। और वही मान हम विदेशियों के सामने रख सकेंगे। अब तक रख देना चाहिए था। लेकिन अब तक जो नहीं हो सका, वह आगे भी नहीं होगा यह हम क्यों मानें ?

विदेशी लोग कितनी अटपटी और प्यारी भाषा लिख लेते हैं इसका उदाहरण अनुपयुक्त न होगा; जैसे, "आपकी पुस्तकें ३० तारीख को मिलीं, शायद कल्पना भी आप नहीं कर सकते हैं, जिस तरह प्रसन्न होता हूँ। यह मेरे लिए कैसे सौभाग्य की बात है।" "सैनिक सेवा से लौटकर अब मेरा गम्भीर अविराम अध्ययन शुरू होता है।" इन वाक्यों में प्रारम्भिक अटपटापन है, लेकिन शब्दों का चयन करने की दृष्टि इनमें है। दूसरे मित्र काफ़ी दिन से प्रयत्नशील हैं इसलिए उनकी भाषा काफी मँज गई है, जैसे, "अत्यन्त कार्य-व्यस्त हूँ इसलिए पत्र लिखने में देर हुई। इस विलम्ब के लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ। "श्रीमती वेनश्किोवा हमारे राष्ट्रीय संसद की सदस्या हैं और चेकोस्लोवाक लेखक-सम्मेलन में भी प्रभावशाली पदाधिकारिणी हैं। आशा है कि चेकोस्लोवाक लेखक सम्मेलन के अतिथि होकर आप शीघ्र वीज़ा प्राप्त कर लेंगे।" "'सत्यमेव जयते' यह सिद्धान्त आजकल के संकटों में स्मरण आता है तथापि विजयी होने के लिए बलवान भी होना चाहिए, नहीं तो लड़ते-लड़ते और सत्याग्रह करते-करते वर्ष-के-वर्ष बल्कि शताब्दियाँ लगती हैं।" "अपने शोभायमान अन्तर्जगत की ज्योति से आप अपने पाठकगण की आत्मा तथा हृदय को उज्ज्वल करते रहें यही मेरी इच्छा है।"

केवल भाषा ही नहीं, भारतीय साहित्य का अध्ययन भी वे करते हैं, इसका प्रमाण ये दो उद्धरण हैं : किसी व्यक्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा, "जो व्यक्ति एक बात में झूठ बोलता है वह दूसरी बात में भी झूठ बोलेगा। वह आपसे खुशामद की बातें जरूर बोलेगा, लेकिन

"भयदायक खल के प्रिय बानी,
जिमि अकाल के कुसुम भवानी।"

एक और पत्र का आरम्भ उन्होंने इस प्रकार किया है:

"ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते शस्या इह भूतले।
आगच्छन्ति गृहे येषाम् कार्यार्थं सुहृदो जनाः॥"

"मेरे उदारचेता सखा,

"मैंने बड़े उत्साह के साथ आपके पत्र का स्वागत किया।"

अन्त में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि यद्यपि हमें हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में निराश होने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन उसका रूप सुस्थिर करने के लिए अभी कठोर परिश्रम और जागरूकता की आवश्यकता है। क्या यह चुनौती हम स्वीकार करेंगे?
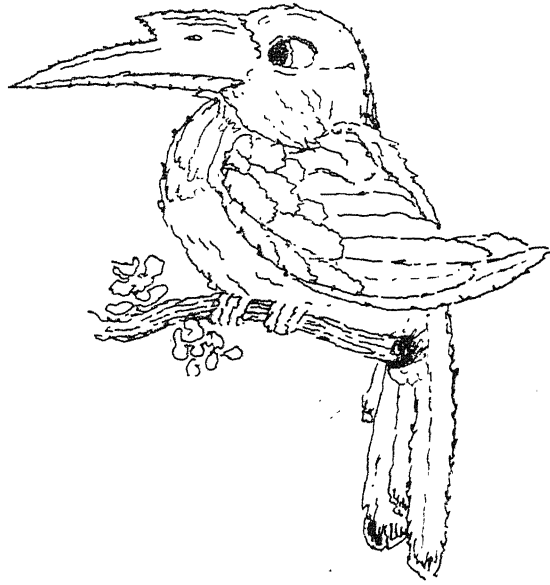
यशपाल जैन

पुस्तक-उद्योग की एक महत्वपूर्ण समस्या

श्री यशपाल जैन का जन्म १ सितम्बर १६१२ को अलीगढ़ में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा वहीं हुई। बी० ए० और एल-एल० बी० प्रयाग से किया। लिखना १६३१ से आरम्भ कर दिया था। १६३८ में 'निराश्रिता' उपन्यास दिल्ली के मासिक 'जीवन-सुधा' में धारावाहिक प्रकाशित हुआ। अब तक कई कहानी-संग्रह और यात्रा-विवरण, अनूदित और सम्पादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'मधुकर' और 'जीवन-सुधा' के सम्पादक रह चुके हैं। देश और विदेश में अनेक स्थानों का भ्रमण कर आए हैं। इनकी कृतियों में मानवीयता की प्रमुखता रहती है। 'मैं मरूँगा नहीं', 'एक थी चिड़िया', 'जय अमरनाथ', 'रूस में छियालीस दिन' आदि इनकी प्रसिद्ध मौलिक कृतियाँ हैं। सम्प्रति 'जीवन-साहित्य' के सम्पादक और सस्ता साहित्य मण्डल के व्यवस्था-मण्डल में हैं। स्थायी रूप से दिल्ली में निवास करते हैं।

किसी भी राष्ट्र के निर्माण में उसके साहित्य का बड़ा हाथ होता है। अत: स्वाभाविक था कि भारत के स्वतन्त्र होने पर यह अपेक्षा की गई कि भारतीय साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलेगा। मानना होगा कि पिछले सोलह वर्षों में साहित्य का सृजन अच्छे परिमाण में हुआ है, पर उसकी खपत की समस्या आज भी उतनी ही गम्भीर बनी हुई है। पाठ्य-पुस्तकों तथा दो-चार विशेष ग्रन्थों को छोड़कर शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो, जिसकी लाखों तो क्या, हज़ारों भी प्रतियाँ निकली हों। सबसे अधिक उपन्यास बिकते हैं, लेकिन यदि लेखा-जोखा लिया जाए तो मुश्किल से दस-पाँच उपन्यास ऐसे मिलेंगे, जिनकी बीस-पच्चीस हजार से अधिक प्रतियाँ खपी हों। यह समस्या प्राय: सभी भारतीय भाषाओं की है, लेकिन हिन्दी को लेकर यह चिन्तनीय बन जाती है, क्योंकि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है और उसके बोलनेवालों की संख्या बीस-बाईस करोड़ है। इतना ही नहीं, उसके विषय में अन्य देशों की गहरी अभिरुचि है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसकी लोकप्रियता तथा प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं।

पुस्तक-व्यवसाय की यह समस्या वैसे तो बराबर गम्भीर बनी हुई है, लेकिन चीन के आक्रमण से उत्पन्न परिस्थिति ने उसे और भी विचारणीय बना दिया है। पुस्तकों की खरीद का बहुत बड़ा साधन केन्द्रीय तथा राज्यीय सरकारें थीं। पर अब पुस्तकों की मद का अधिकांश रुपया देश की सुरक्षा की मद में जा रहा है। जहाँ तक आम बिक्री का सम्बन्ध है, वह पहले से ही कम रही है। अब करों तथा महँगाई के बढ़ते बोझ के कारण वह और भी समाप्त होती जा रही है। कहने का तात्पर्य यह कि सरकारी तथा सार्वजनिक, दोनों ही क्षेत्रों में पुस्तकों की बिक्री पर इतना प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है कि उस बारे में गम्भीरता से सोचना आवश्यक है।

इस सवाल के कई पहलू हैं। मैं सबसे पहले प्रकाशक को लेता हूँ। जब से हमारा देश आज़ाद हुआ है और सरकार ने पुस्तकों की खरीद का रास्ता खोला है, तब से हर प्रकाशक सरकार का दरवाज़ा खटखटाता आ रहा है।

इससे प्रकाशक का रास्ता कुछ आसान ज़रूर हुआ है, पर साथ ही एक कठिनाई भी पैदा हो गई है और वह यह कि सार्वजनिक क्षेत्र में उसके प्रयास जितने सघन होने चाहिए थे, उतने नहीं हो पाए। मैं अन्य भारतीय भाषाओं की बात नहीं जानता, पर हिन्दी में अभी तक पुस्तकें खरीदकर पढ़ने की व्यापक वृत्ति पाठकों में उत्पन्न नहीं हुई है। पहले तो लोग पढ़ते ही कम हैं, पर जो पढ़ते हैं, वे पुस्तकें माँगकर अपना काम चला लेते हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, किसी भी प्रकाशक ने पाठकों में पुस्तकें पढ़ने की रुचि पैदा करने और उसे बढ़ाने का संजीदगी से प्रयत्न नहीं किया।

दूसरी बात यह है कि प्रकाशकों के लिए पुस्तकों का उद्योग मुनाफा कमाने का धन्धा बन गया है। बहुत-से प्रकाशक पुस्तकों को उल्टा-सीधा छापकर और बेहिसाब दाम रखकर कमीशन के ज़ोर पर खपाने का यत्न करते हैं। कुछ समय पहले मैं कलकत्ता गया था। वहाँ पुस्तकों की दुकानों पर मुझे एक सामान्य प्रकाशक द्वारा निकाली शरत की पुस्तकें भरी हुई दिखाई दीं। जब मैंने दुकानदारों से इसका कारण पूछा, तो मालूम हुआ कि वे पुस्तकें पचास-साठ प्रतिशत कमीशन पर बिकने के लिए मिली थीं। रुपया साल-भर बाद लिया जानेवाला था, अनबिकी पुस्तकें वापस ली जाने की सुविवा भी थी। उन पुस्तकों का मूल्य इतना अधिक था कि शायद पाँच सौ प्रतियाँ बिक जाने पर ही पूरी लागत निकल आती।

प्रकाशकों ने कभी मिलकर नहीं सोचा कि वे प्रकाशन के स्तर को ऊँचा करें, हल्की पुस्तकें न निकालें, अच्छा कागज़ लगाएँ, मूल्य ठीक रखें, उन्हें ऐसा छापें कि जन-सामान्य का ध्यान उनकी ओर स्वतः ही आकर्षित हो और उन्हें मिल-जुलकर बेचें। हमारे बाजार में बहुत-सा विदेशी साहित्य आता है। हमारे अनेक प्रकाशकों ने उसकी नकल करने की तो कोशिश की है, लेकि उन्होंने कभी इस बात का विश्लेषण नहीं किया कि हमारे यहाँ की परिस्थिति में किस प्रकार का साहित्य लोक-हितकारी होगा। कुछ प्रकाशक हैं, जिन्होंने इस युग-प्रवाह के विरुद्ध तैरने का प्रयास किया है, पर उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है।

प्रकाशकों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के बारे में तो जो न कहा जाए सो थोड़ा है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि यदि सरकार की निगाह में प्रकाशक 'बेईमान और शोषक' है तो इस धारणा को पैदा करने का श्रेय मुख्यतः प्रकाशकों को ही है। वे एक-दूसरे को गिराने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रयत्न में वे स्वयं तो नीचे गिर ही जाते हैं, पुस्तक-उद्योग को भी बदनाम कर देते हैं।

रिश्वतखोरी कसकर चल रही है। एक बार एक प्रदेश में 'मण्डल' की सौ से ऊपर पुस्तकों की सरकार ने खरीद की सिफारिश की, पर खरीदी एक भी पुस्तक नहीं गई। पता लगाने पर मालूम हुआ कि आर्डर देनेवाले का दस प्रतिशत कमीशन बँधा हुआ था। किसी और प्रकाशक की सारी स्वीकृत पुस्तकें खरीद ली गईं, क्योंकि उनके पीछे दस प्रतिशत कमीशन का ज़ोर था। जब हमने शिक्षा-मन्त्री का ध्यान इस ओर खींचा तो उन्होंने कहा, "मुझे मालूम है, रिश्वत चलती है, लेकिन जब तक उसका प्रत्यक्ष प्रमाण न हो, मैं क्या कर सकता हूँ?"

जहाँ तक लेखकों का सम्बन्ध है, उनकी अपनी मर्यादाएँ हैं। मौलिक लेखक अपने ऊपर कोई बन्धन स्वीकार नहीं करते : जो जी में आता है, लिखते हैं। पाठकों की विशेष चिन्ता उन्हें नहीं होती। उन्होंने पुस्तक लिखी और पाण्डुलिपि प्रकाशक को सौंप दी। आगे उनका जितना आग्रह रायल्टी का रहता है, उतना आग्रह न पुस्तक की छपाई के बारे में रहता है, न सस्ते मूल्य के सम्बन्ध में। रूसी लेखक कर्नेचकोव्स्की की अवस्था ७० से ऊपर होगी। अपने मास्को-प्रवास में मैंने उन्हें स्वयं अपनी पुनर्मुद्रित होती पुस्तक के प्रूफ पढ़ते देखा। मेरे यह पूछने पर कि प्रूफ आप क्यों देख रहे हैं। उन्होंने कहा, "जनाब, मैं अपनी पुस्तक में एक भी गलती सहन नहीं कर सकता।" पाठकों को आश्चर्य होगा कि उनकी एक पुस्तक की तीन करोड़ प्रतियाँ निकली थीं। इतनी मेहनत करनेवाले लेखक हमारे यहाँ कितने हैं?

सस्ते पेशेवर लेखकों के बारे में मुझे कुछ नहीं कहना। वे तो प्रकाशक के इशारे पर नाचते हैं और सस्ती लोक-रुचि का लाभ लेते हैं। दुर्भाग्य से हमारे यहाँ बहुत ही कम गम्भीर लेखक हैं, जो अपनी पुस्तकों के व्यापक प्रचार एवं प्रसार में प्रकाशकों का विधिवत रूप से हाथ बँटाते

हों। वे तो यह मानते हैं कि बिक्री का काम प्रकाशक का है और अपनी प्रतिभा का उपयोग उन्हें ऐसे छोटे काम में नहीं करना चाहिए।

तीसरा वर्ग, जिस पर बिक्री की सीधी जिम्मेदारी आती है, पुस्तक-विक्रेता का है। वह अपनी दुकान पर सब तरह का माल रखता है और मुख्यतः पाठकों की माँग पर चलता है। प्रायः सभी स्थानों पर ऐसे पुस्तक-विक्रेता हैं, जो अधिक कमीशनवाली पुस्तकों को प्राथमिकता देते हैं, भले ही उनका मूल्य लागत से कितने ही गुना अधिक क्यों न हो। अच्छी, कम मूल्यवाली पुस्तकें वे जान-बूझकर बहुत थोड़ी रखते हैं। उनका तर्क होता है, ग्राहक को समझाने में समय तो लगता ही है। यदि अधिक मूल्यवाली पुस्तक को खपाने की कोशिश करेंगे तो उस पर हमें अधिक कमीशन की गुंजाइश होगी। मैं पूछता हूँ, आज कितने ऐसे पुस्तक-विक्रेता हैं, जिनकी दुकान उत्तम साहित्य का केन्द्र हो?

इस प्रकार पुस्तक-व्यवसाय की तीनों प्रमुख इकाइयाँ अपना-अपना स्वार्थ देखती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि एक-दूसरे के पूरक बनकर उन सबका अधिक लाभ हो सकता है।

मेरी राय में पुस्तकों की व्यापक खपत के लिए इन तीनों में सामंजस्य होना बहुत ही आवश्यक है। वे मिल-कर बिक्री के प्रश्न पर सामूहिक हित की दृष्टि से सोचें और एक-दूसरे को पूरा सहयोग दें।

दूसरी बात यह है कि पुस्तकों के प्रचार के लिए ठोस कदम उठाये जाएँ। पुस्तकों की विस्तृत निष्पक्ष समा-लोचना जरूरी है, पर आज के युग में वह सम्भव कहाँ है? अधिकांश समालोचक मुलाहिजे के शिकार होते हैं। पुस्तकों के गुण-दोष के आधार पर समालोचना नहीं करते। यही कारण है कि समालोचना का पाठकों पर कोई खास असर नहीं पड़ता। बड़ी पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर उसकी सम्यक् समीक्षा करने के लिए कम-से-कम एक सप्ताह का समय चाहिए। इतना समय किस समालोचक के पास है? फिर इतनी मेहनत के लिए मिलता क्या है? कोई-कोई पत्र तो समीक्षा के लिए एक पैसा भी पारिश्रमिक नहीं देता। कुछ देते हैं तो पुस्तकें वापस माँग लेते हैं। पुस्तक-व्यवसाय के हित में आवश्यक है कि विभिन्न विषयों के योग्य समीक्षक हों, जो ईमानदारी से समीक्षा करें और अपने श्रम का उचित एवज पाएँ।

पुस्तकों की बिक्री की व्यवस्था मुख्यतः शहरों अथवा बड़े-बड़े कस्बों में है। उस दिन हमारे उपराष्ट्रपति डॉ० ज़ाकिर हुसैन पूछ रहे थे कि गाँवों और छोटे कस्बों में पुस्तकों के प्रचार के लिए क्या अब तक किसी ने कोई प्रबन्ध किया है? इसका जवाब हम क्या देते? किसी ने कुछ किया होता तो उन्हें बताते।

मेरी राय में पुस्तकों की खपत बढ़ाने के लिए ये बातें आवश्यक हैं:

१. लेखक, प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता में सुमेल हो, अर्थात् वे एक-दूसरे के पूरक हैं, यह भावना विक-सित हो।

२. प्रकाशन का स्तर ऊँचा उठे और सरकार या जनता किसी को भी यह मानने का अवसर न रहे कि प्रकाशक अनुचित रूप से अपनी जेब भरने के लिए पुस्तकें निकाल रहे हैं।

३. कमीशन आदि के बारे में सारे प्रकाशकों के एक-से नियम होने चाहिए। विशेष परिस्थिति में उनमें थोड़े-बहुत अपवाद हो सकते हैं, पर इतने नहीं कि उनसे होड़ पैदा हो।

४. प्रकाशकों की अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता तत्काल बन्द हो जानी चाहिए। दूसरे को रावण कहकर अपने को राम सिद्ध करने की दूषित मनोवृत्ति को एकदम रोक देना जरूरी है।

५. टेण्डर-पद्धति को मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। जितनी गन्दगी इस टेण्डर-पद्धति ने फैलाई है, उतनी शायद ही और किसी ने फैलाई। इसलिए जहाँ कहीं टेण्डर की माँग हो, प्रकाशकों को उसे अस्वीकार कर देना चाहिए।

६. स्थान-स्थान पर सहकार के आधार पर पुस्तकों की बिक्री की व्यवस्था होनी चाहिए। अकेले एक प्रकाशक पर व्यवस्था का बोझ अधिक पड़ जाता है। दूसरे, उसे अच्छे प्रकाशक अपनी पुस्तकें बहुत समय के लिए उधार पर नहीं देते। सामूहिक व्यवस्था में ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी। इसका आरम्भ पहले बड़े-बड़े नगरों में

करना चाहिए।

७. इन सहकारी केन्द्रों के संयुक्त सूचीपत्र प्रकाशित और वितरित होने चाहिए।

८. प्रमुख ग्रन्थों के जन्म-दिन मनाने की परिपाटी पुस्तकों के प्रचार में विशेष सहायक होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। कम खर्च की छोटी-छोटी गोष्ठियाँ समय-समय पर होती रहनी चाहिए।

९. पुस्तकों की समीक्षा विभिन्न विषयों के जानकार समीक्षकों से कराने की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक प्रकाशक के पास समीक्षकों का एक ऐसा समुदाय रहे, जो नई पुस्तकों के आते ही उनकी विस्तृत समीक्षा कर दे। जरूरी नहीं कि सब समीक्षाएँ लम्बी ही हों, पर वे संयत भाषा में होनी चाहिए।

रूस में जब-तब बाल-साहित्य के लेखकों, प्रकाशकों तथा प्रबुद्ध पाठकों की सभाएँ होती रहती हैं। इन सभाओं से सभी को लाभ होता है। पाठक बड़ी निर्भीकता से पुस्तकों के गुण-दोषों की आलोचना करते हैं और इस प्रकार लेखकों को अपनी कृतियों की अच्छाइयों के साथ त्रुटियाँ भी मालूम हो जाती हैं। इस प्रथा को अपने यहाँ चालू करना हितकर होगा।

११. सरकार से पोस्टेज आदि की सुविधाएँ प्राप्त करना जरूरी है। हमारे देश में अभी तक शिक्षा की बड़ी कमी है और साक्षरता के फैलाने के लिए आवश्यक है कि पुस्तकों का व्यापक प्रसार हो। यदि पुस्तक-व्यवसाय शुद्ध भूमिका पर संचालित होगा तो कोई कारण नहीं कि सरकार अपेक्षित सुविधाएँ न दे।

१२. व्हीलर आदि के स्टालों पर आज भी जासूसी उपन्यास आदि हल्का साहित्य बिकते देखा जाता है। यात्री ऐसे साहित्य को खरीद लेते हैं और इस प्रकार हल्का साहित्य सहज ही प्रचारित हो जाता है। ऐसे साहित्य की बिक्री को यथासम्भव रुकवाने का प्रयत्न होना चाहिए। रेलवे आदि के इन स्टालों पर केवल स्वस्थ साहित्य की बिक्री होनी चाहिए।

१३. स्थान-स्थान पर स्वाध्याय-मण्डलों का होना अत्यावश्यक है। इन मण्डलों में व्यक्तिगत अध्ययन का सामूहिक लाभ पाठकों को मिले। इससे अच्छी पुस्तकों के प्रचार में बड़ी सहायता मिलेगी।

१४. एक दिन पूज्य विनोबाजी से पुस्तकों की बिक्री के बारे में बात हो रही थी। उन्होंने कहा, "किसी भी पुस्तक की दस हजार प्रतियों के संस्करण के निकलने में दो घण्टे से अधिक नहीं लगने चाहिए।" उनकी बात मेरी समझ में नहीं आई। मेरे पूछने पर उन्होंने समझाते हुए बताया कि जिस प्रकार कांग्रेस का ऊपर प्रान्त से लेकर नीचे की इकाई तक का संगठन है, वैसा ही संगठन पुस्तकों की बिक्री के लिए होना चाहिए। प्रकाशक का काम इतना रहे कि पुस्तक के छपकर आते ही दो घण्टे में सारी प्रतियों को अपने संगठनों को भेज दे। विनोबाजी का यह सुझाव बड़ा महत्वपूर्ण है। इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

१५. समय-समय पर सामूहिक चिन्तन होता रहे। उससे और भी बहुत-सी रचनात्मक चीजें निकल आएँगी।

इस समस्या की अब अधिक उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। विश्व का इतिहास बताता है कि विभिन्न देशों की क्रान्तियों के पीछे साहित्य का बड़ा योगदान रहा है। रूसो और वाल्टेयर के साहित्य ने फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रेरित किया तो टॉल्स्टॉय के साहित्य ने रूस में नये मूल्य प्रस्थापित करने में सहायता दी। मेरी स्टो की एक पुस्तक 'टॉमकाका की कुटिया' ने अमरीका में गुलामी की प्रथा पर इतनी करारी चोट की कि वह प्रथा मिटकर ही रही। अन्य स्वाधीन-चेता राष्ट्रों में भी ऐसे साहित्य की कमी नहीं है।

हमारा देश विदेशी सत्ता से मुक्त हुआ है, पर उसे सच्चे अर्थों में स्वाधीन होने के लिए अभी लम्बी, बहुत लम्बी, मंजिल पार करनी है। लोक-चेतना को प्रबुद्ध बनाने में साहित्य का विशेष योग हो सकता है। पर यह तभी सम्भव है, जबकि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के यहाँ उत्तमोत्तम पुस्तकें हों और वह प्रतिदिन कुछ-न-कुछ समय गम्भीर अध्ययन में अवश्य लगाए।

● ●

डॉ० के० द० व्रीसे

अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का अध्ययन

डॉ० के० द० व्रीसे इस समय एम्सटर्डम विश्वविद्यालय, नीदरलैण्ड में भाषा-विज्ञान संस्थान के अध्यक्ष हैं। एशियाई भाषा-परिवारों के विषय में इनका अध्ययन विशिष्ट है। प्रस्तुत लेख इनके उस निबन्ध का संक्षिप्त रूपान्तर है, जो उन्होंने एम्सटर्डम विश्वविद्यालय के आधुनिक भारतीय भाषा एवं साहित्य विभाग के प्राध्यापक-पद को ग्रहण करते समय पढ़ा था।

भारतीय उपमहाद्वीप के दक्षिणी भागों में ईसाई मत-प्रचारकों के प्रथम दल के आगमन के साथ पश्चिम में भारतीय भाषाओं के अध्ययन में दिलचस्पी ली जाने लगी; इस प्रकार यह अध्ययन १६वीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश जितना पुराना है। उन दिनों आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रथम परिचय-मात्र से, और आगे काफी दीर्घ-काल तक, इन भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव भी न था। एक ओर आवश्यक भाषा-तात्विक सामग्री अत्यन्त अल्प थी और दूसरी ओर, यह विचित्र धारणा कि इस पूरे उपमहाद्वीप में संस्कृत के अतिरिक्त बोलचाल की एक सामान्य भाषा समान रूप से प्रचलित है और उस राष्ट्र-भाषा का नाम मलय है, वैज्ञानिक अध्ययन के विकास के मार्ग में काफी समय तक बाधक बनी रही। अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में रुचि को अधिक वैज्ञानिक शोध की दिशा में ले जाने की सम्भावना तब पैदा हुई, जब विभिन्न लिपियों में शोध के फलस्वरूप उपरोक्त एकता की भ्रामक धारणा को तिलांजली दे दी गई और भाषा-तात्विक सम्बन्धों के विषय में स्पष्टतर ज्ञान प्राप्त किया गया। इस प्रकार आज की भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारम्भ हुआ। उसी समय संस्कृत सीखने का यत्न हो रहा था; विलियम जोन्स इस मामले में अग्रणी थे। लेकिन फिर भी आधी शताब्दी और बीत जाने के बाद ही इस अध्ययन की नींव पड़ सकी, जिसका श्रेय है रावर्ट काल्डवेल को, जिन्होंने 'द्रविड़ भाषा का तुलनात्मक व्याकरण या भाषाओं का दक्षिण भारतीय परिवार' नामक पुस्तक लिख-कर न केवल द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन की नींव डाली, बल्कि इस रीति से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के प्रथम वैज्ञानिक ज्ञान को पुष्ट किया।

इस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं में दिलचस्पी काफी पुरानी है और वैज्ञानिक रूप से उनका ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न भी एक शताब्दी पुराने हैं, फिर भी यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उपलब्धियाँ बड़ी विशिष्ट रही हैं। यह सही है कि वैज्ञानिक अध्ययन से पूर्व के काल में और उसके बाद, भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इस दिशा में बड़े पैमाने पर काम किया और कुछ कृतित्व सचमुच बड़ा समृद्ध था। आधुनिक भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक ज्ञान के आरम्भिक काल के विषय में यह बात कही जाए तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। स्वयं उस काल के भारत में, विदेशी प्रभुत्व के प्रभाव के कारण, भाषाओं का अध्ययन उपेक्षित रहा; सन् बीस के आसपास के स्वदेशी आन्दोलन तथा आगे चलकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त ही इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। एक दूसरा

कारण यह भी था कि संस्कृत ज्ञान के विपरीत, इस महाद्वीप की जीवित भाषाओं में वैज्ञानिक दिलचस्पी यूरोप में नहीं उत्पन्न हुई—वह इस महाद्वीप में ही पैदा हुई और काफ़ी समय बाद पश्चिम में पहुँची। काल्डवेल की 'तुलनात्मक व्याकरण' के बीस वर्ष बाद भी हम रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर को बम्बई विश्वविद्यालय की विल्सन अर्थशास्त्रीय व्याख्यानमाला में यह कहते सुनते हैं, "आधुनिक भारतीय भाषाएँ यूरोप के विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर करने में सफल नहीं हुई हैं।" अन्ततः, एक कारण यह भी था कि संस्कृत के अध्ययन के प्रति जो आकर्षण सदा बना रहता है, उसके फलस्वरूप भी इस अध्ययन में बाधक प्रभाव पड़ा और आधुनिक भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर से ध्यान बँटता रहा। अब भारत की स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक भाषाओं के पक्ष में परिवर्तन अवश्य हुआ है।

भारतीय भाषाओं के अध्ययन के प्रारम्भिक काल की बाधाओं के विषय में उपरोक्त कारण गिनाये जा सकते हैं, किन्तु बाद के काल में कोई ऐसे सुसंगत कारण न थे। अगर हम यह ध्यान दें कि भारतीय-पाकिस्तानी उपमहाद्वीप भाषातत्व की दृष्टि से विस्तृत और जटिल क्षेत्र है—इसलिए नहीं कि यहाँ इतनी अधिक भाषाएँ हैं; यह बात आंशिक रूप से ही सही है; बल्कि इसलिए कि यहाँ की भाषाएँ अनेक भाषा-परिवारों की हैं—तब हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होगा कि अध्ययन की प्रगति अपनी अवधि के अनुपात में असन्तुलित है। अगर हम बुरुशास्की भाषा को छोड़ दें, जिसको भारत की मूल भाषाओं का अवशेष माना जाता है, तो भारत और पाकिस्तान की भाषाओं को चार विभिन्न भाषा-परिवारों में बाँटा जा सकता है, जिनमें से कभी किसी ने और कभी किसी अन्य ने इस उपमहाद्वीप के भाषागत इतिहास में अपनी भूमिका अदा की है।

इन भाषा-परिवारों या इनके उपपरिवारों के विषय में जो भी वैज्ञानिक दिलचस्पी पैदा हुई, वह अब तक लगभग एकान्तिक रूप से भारतीय आर्यभाषाओं तक ही सीमित रही है क्योंकि भारतीय संस्कृति और भा-यूरोपीय भाषाशास्त्र के सन्दर्भ में इन भाषाओं का महत्व है। दूसरी ओर द्रविड़ भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में इतना सारा काम किये जाने के बावजूद, उसका अध्ययन अभी शैशवावस्था में ही है। अन्य उपपरिवारों में से केवल मुण्डा भाषाओं में ही किंचित् व्यवस्थित ढंग से शोध-कार्य किया गया है और तिब्बती-बर्मी भाषा-समूह का अध्ययन तो नहीं के बराबर हुआ है। उपमहाद्वीप की सीमाओं के अन्तर्गत ईरानी भाषाओं के अध्ययनकर्ता भी बहुत कम हैं। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में किसी हद तक मन्द गति है। इस स्थापना के समर्थन में अगर किसी प्रमाण की आवश्यकता हो तो इस तथ्य को पेश किया जा सकता है कि द्रविड़ भाषाओं के जैसे तुलनात्मक शब्दकोश की माँग काल्डवेल ने एक शताब्दी पहले की थी और तीन-चौथाई शताब्दी बाद जिसकी माँग जूल्स ब्लोख ने की थी, उसका प्रकाशन जान बरो और मुरे एमीनो के संयुक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप अब जाकर घोषित किया गया है।

जो प्रश्न पूछा जाना चाहिए वह यह नहीं है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन बहुत हुआ है या कम, तीव्र हुआ है या मन्द, बल्कि यह पूछा जाना चाहिए कि क्या यह अध्ययन काफी कहा जा सकता है। इस सिलसिले में एक और तत्व के कारण, निस्सन्देह ही, पूर्ण अध्ययन में बाधा पड़ी है। वैज्ञानिक अध्ययन के प्रारम्भिक काल में हेनरी टामस कोलब्रुक-जैसे प्रकाण्ड पण्डितों ने इस क्षेत्र में सर्वांग रूप से सर्वेक्षण किया और क्रिश्चियन लासेन भी अनेक भाषाएँ जानते थे। किन्तु भाषा-शास्त्र के गुणों के अपने अवगुण हैं और जैसे-जैसे तथ्य बढ़ते गए, अध्ययन के लिए अधिकाधिक विशेष ज्ञान की आवश्यकता होने लगी, जिससे एकांगी होने का खतरा भी पैदा हो गया। काल्डवेल की 'द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण' और बीम के 'आर्य भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण' में इस विकास-प्रक्रिया के प्रथम और असंदिग्ध लक्षण दिखाई देते हैं। इसी प्रक्रिया के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पिछली शताब्दी के अन्त में 'भारत का भाषातात्विक सर्वेक्षण' जैसा प्रयत्न दिखाई देता है, लेकिन उस सर्वेक्षण को भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों का संग्रह बनाने का उद्देश्य न था; वह तो भाषातात्विक तत्वों का संकलन-मात्र था,

जिसमें यह उद्देश्य निहित था कि भाषाओं का अलग-अलग विवेचन किया जाए: इसमें भी एकांगी हो जाने का खतरा सन्निहित था। इससे आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन की वह लीक बनी जिस पर चलकर विकास होना था।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि एकांगिता की इन प्रवृत्तियों से, जो गत शताब्दि के मध्यकाल में प्रकट होने लगी थीं, आधुनिक भारतीय भाषाशास्त्र के विकास पर कुप्रभाव पड़ा है। आधुनिक भारतीय-आर्य भाषा-समूह के शोधकों ने जिस प्रकार द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन की उपेक्षा की है, उससे विशेषत: वैज्ञानिक रूप से संगत भाषा-अध्ययन को क्षति पहुँची है। द्रविड़ भाषाओं का ऊपरी ज्ञान प्राप्त करके भी, अगर गत कुछ दशकों में प्रकाशित किसी भारतीय-आर्य भाषा-सम्बन्धी शोध-ग्रन्थ के पृष्ठ उलटे जाएँ तो इस हानिकारक उपेक्षा के दुष्परिणाम स्पष्ट हो जाएँगे।

दूसरी ओर, आप मुझे यह विडम्बना प्रकट करने की आज्ञा दें, कि सीमाओं का भी दूर तक पालन नहीं किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा-सम्बन्धी अन्वेषण करने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि तत्भाषा-सम्बन्धी उन सभी प्राचीन विकास-चरणों का सर्वांग अध्ययन किया जाए जो आधुनिक भाषाओं का उद्गम हैं। यह सच है कि मुंडा भाषाओं के क्षेत्र में, जिनकी परम्पराएँ मौखिक ही हैं, और तिब्बती-बर्मी भाषाओं के क्षेत्र में, जिनमें से नेवाडी और मनीपुरी को छोड़कर अन्य किसी में किसी भी प्रकार का साहित्य नहीं है, इस कार्य-पद्धति से काम नहीं चल सकता। उधर द्रविड़ भाषाओं के क्षेत्र में, जिनमें साहित्यिक परम्परा रही है, यह पद्धति अपनाई ही नहीं गई और आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं की ओर भी नाकाफी ध्यान दिया गया, हालाँकि उनमें साहित्यिक परम्परा की अटूट शृंखला है।

यहाँ जो समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, उनके सन्दर्भ में मुझे ऐसा लगता है कि इस उपमहाद्वीप के भाषातात्विक प्रागैतिहासिक निष्कर्षों से काफ़ी लाभ नहीं उठाया गया। मेरा ख़याल है, सिलवाँ लेवी पहले विद्वान थे जिन्होंने बताया कि उस समय तक भारत को एकमात्र भा-यूरोपीय दृष्टिकोण से परखा जाता था और इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप पुराने भारतीय-आर्य भाषाशास्त्र को एक बिलकुल नया ही स्वरूप प्राप्त हुआ। अगर इस उपमहाद्वीप की भाषाओं के प्राचीनतम इतिहास के प्रति यह दृष्टिकोण अपनाना सही है—और इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता—तो हमें भविष्य के लिए भी इससे निःसृत परिणामों को ध्यान में रखना चाहिए। एकताबद्ध करनेवाली प्रवृत्तियाँ, जो युग-युगान्तर के सह-अस्तित्व के फलस्वरूप प्रागैतिहासिक काल में विशिष्ट एकता का निर्माण करती रहीं, ऐतिहासिक काल में भी अपना प्रभाव डालती रहीं और उसके फलस्वरूप इस उपमहाद्वीप की आज की भाषाओं में कुछ ऐसी विशेषताएँ पैदा हो गई हैं जिन्हें समान भारतीय विशेषताएँ कहा जाना चाहिए।

आधुनिक भारतीय भाषाओं का जो चित्र उपस्थित होता है, उसमें प्राचीनतर और नवीनतर पहलुओं को एक साथ देखा जा सकता है। शब्दांशों के न्यूनाधिक ज़ोर के साथ उच्चारण का सिद्धान्त, प्रत्यावक्र उच्चारण की क्रिया, तुलना-स्तर का निर्माण, नाम-शब्दों के साथ उपसर्गों का प्रयोग, क्रिया-व्यवस्था का ढाँचा, संयुक्त क्रियाओं का मुहावरेदार उपयोग, निरपेक्ष पदों, श्लिष्ट पदों और प्रतिध्वन्यात्मक शब्दों की उपलब्धि और अप्रत्यक्ष अभिव्यंजकता का अभाव—ये सभी समान पहलू, वंशगत विवेकों के बावजूद, इस उपमहाद्वीप की भाषाओं को एकसमान विशेषता प्रदान करते हैं और उन्हें एक सूत्र में पिरो देते हैं, जो संस्कृत के एकताकारी प्रभाव के कारण और भी सुदृढ़ हुए हैं।

प्राचीन काल से ही इस महाद्वीप की भाषाओं में एकताकारी प्रवृत्तियों की प्रधानता हमें तब भी दिखाई देती है जब हम उन भाषाओं का निकटतर निरीक्षण करते हैं जिनके बोलनेवालों या अन्य लोगों के स्थानान्तरण के फलस्वरूप वे भाषाएँ अकेली पड़ गई थीं और आसपास के द्विजातीय वातावरण से प्रभावित होने की स्थिति पैदा हो गई थी। ईरानी बलूचिस्तान में द्रविड़ ब्राहुई भाषा, द्रविड़ मद्रास में भारतीय-आर्य-वंश की सौराष्ट्र भाषा, भारतीय-आर्य बिहारी और बँगला भाषा के क्षेत्र के अन्दर द्रविड़ राजमहली भाषा और आस्ट्रेलियाई-एशियाई सन्थाली भाषा के उदाहरण से भिन्न शब्दगत वातावरण का प्रभाव

स्पष्ट देखा जा सकता है। एकताकारी प्रवृत्तियों की क्रिया कितनी दूर तक जा सकती है, इसको सिंहली के उदाहरण से देखा जा सकता है; यह भारतीय-आर्य भाषा प्राचीन काल में महाद्वीप को पार करके सिंहल द्वीप पहुँची और द्रविड़ भाषा क्षेत्र में बस गई। इस भाषा के व्याकरणीय ढाँचे से देखा जा सकता है कि किस प्रकार उसका द्राविड़ीकरण हो गया और इस प्रकार सिद्ध होता है कि भाषा के क्षेत्र में एकताकारी प्रवृत्ति से सजातीयता उत्पन्न होती है।

इस उपमहाद्वीप की प्राचीन और अर्वाचीन भाषातात्विक स्थिति को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं पर सारे भाषा-क्षेत्र की पृष्ठभूमि में विचार किया जाना चाहिए और किसी भी भाषा-समूह का अध्ययन अन्य भाषा-समूहों के अध्ययन के बिना नहीं किया जा सकता तथा किसी भी एक भाषा का अध्ययन उसके आसपास की भाषाओं के ज्ञान के बिना नहीं किया जा सकता। लेकिन इस बात को आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्येताओं ने नहीं समझा और जहाँ समझा भी, वहाँ उस पर अमल नहीं किया गया। अतः, अगर हम यह प्रश्न पूछें कि क्या आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में तथ्यों से प्रकट होनेवाले निष्कर्ष निकाले गए हैं, तो इसका उत्तर 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। जब काल्डवेल ने द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण लिखा था तो उनका कोई इरादा नहीं था कि वे आधुनिक भारतीय भाषाओं के विज्ञान की नींव डालें—हालाँकि अन्य कारणों से उन्हें इसका संस्थापक माना जाना चाहिए। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, उनका उद्देश्य था, द्रविड़ भाषाओं को व्यवस्थितकर उनके वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहित किया जाए और साथ ही वे इन भाषाओं को अपनी भाषागत एकान्तिकता से मुक्त करना चाहते थे। आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण लिखते समय बीम्स ने आधुनिक भारतीय भाषा-शास्त्र की रचना का ध्यान नहीं रखा था। किसी बोप या ग्रिम के अभ्युदय की प्रतीक्षा करते हुए वे अध्येताओं के सम्मुख वैज्ञानिक रूप से संगत कृति प्रस्तुत करना चाहते थे ताकि ये अध्येता उन गलत व्याख्याओं और शब्द-व्युत्पत्ति-सम्बन्धी बातों से दिग्भ्रमित न हों जो उन दिनों प्रकाशित व्याकरणों और शब्दकोशों में भारी संख्या में सुलभ थीं। होर्नले की 'गौड़ीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' और बीम्स का व्याकरण भी—जो समस्त भारतीय-आर्य भाषाओं की शोध की नींव थे—इस दृष्टिकोण से नहीं रचे गए थे, बल्कि वे कृतियाँ पूर्वीय हिन्दी व्याकरण लिखने की मूल योजना के परिणामस्वरूप रची गई थीं। यहाँ तक कि 'भारत का भाषातात्विक सर्वेक्षण' भी 'भारत की भाषाओं के विचारपूर्ण और व्यवस्थित सर्वेक्षण' की नीयत से ही जन्मा था और यह बात उसके पहले आयोजित वियना सम्मेलन के प्रस्ताव में स्पष्ट कर दी गई थी। अनुसन्धाताओं में आधुनिक भारतीय भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन का दृष्टिकोण कितना कम था, वह उनके काम की एकांगीयता और खण्ड-खण्ड अध्ययन-पद्धति से प्रकट होता है। अगर इस बात से प्रारम्भिक काल के शोध की निर्बलता का कारण स्पष्ट हो जाता है तो इस तथ्य से कि आगे चलकर इस स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ, यह सिद्ध होता है कि इस समस्या पर अनुसन्धाताओं ने कितना समय खो दिया।

मेरा खयाल है, अब इस बात के लिए कोई प्रमाण पेश करने की आवश्यकता नहीं कि यदि उपरोक्त पहलुओं के कारण भाषाओं का अध्ययन मेरी परिकल्पना के अनुसार किया जाए तो संगत होगा। हम आगे देखेंगे कि अगर इस दृष्टिकोण से समस्याओं को हल न किया गया तो अधिकांशतः विफलता ही हाथ लगती है, इसलिए यह संगति एक आवश्यकता बन जाती है। इस क्षेत्र में प्रथम स्थान स्थायी रूप से, भारतीय-आर्य भाषाओं को ही देना पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इस महाद्वीप की सीमाओं के अन्दर उसका अत्यन्त महत्व है। इस सिलसिले में उनका एक और भी महत्व है। भारतीय-यूरोपीय भाषाशास्त्र में उनका प्रधान स्थान होने के कारण ही वे प्राथमिक रूप से महत्वपूर्ण नहीं हैं—जैसा कि उन्हें माना जाता रहा है—बल्कि इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि ऐतिहासिक काल में भारतीय भाषाओं के इतिहास-निर्माण में उनकी विशेष भूमिका रही है। यह भूमिका थी अनवरत विस्तार, प्रभाव, पृथक्करण और पुनः-स्थानपूर्ति की। यह बात दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं में संस्कृत शब्दावली के व्यापक प्रभाव

से—जिससे दूर रहने के प्रयत्नों के बावजूद तमिल भी नहीं बच सकी—वैसे भी स्पष्ट हो जाती है। तेलुगु का संस्कृत-करण तो इस सीमा तक हुआ है कि इस भाषा के भाषी अपनी भाषा के द्रविड़ चरित्र को भी अस्वीकार कर बैठते हैं। यह स्वाभाविक तो है, किन्तु गलत है, उसी प्रकार जैसे फारसी-कृत उर्दू के भारतीय-आर्य स्वरूप को न माना जाए। इस प्रक्रिया का मुण्डा भाषाओं तथा आदिवासियों की अन्य भाषाओं के सतत वृद्धिमान आर्य-स्वरूप में भी देखा जा सकता है, जिससे अधिकाधिक पैमाने पर उनके विलुप्त होने का खतरा पैदा हो गया है। किन्तु, अब यह संदिग्ध नहीं रहा कि जिन अनार्य भाषाओं ने इस उपमहाद्वीप की भाषाओं के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, उनमें सर्वप्रथम हैं द्रविड़ भाषाएँ, जिन्होंने ऐतिहासिक काल में भारतीय-आर्य भाषाओं को प्रभावित किया।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में ऐसी समस्याएँ हैं जिनको अभी तक हल नहीं किया जा सका और जिनको भाषा-विशेष की व्यवस्था के अध्ययन-मात्र से नहीं समझा जा सकता। इन सब में मिश्रित क्रिया की समस्याएँ प्रमुख रूप से अध्ययन-योग्य हैं। निरपवाद रूप से सभी भारतीय-आर्य भाषाओं में यह ध्यान देने योग्य बात है कि विशिष्ट अर्थ की अभिव्यञ्जना के लिए एक ऐसी क्रिया का उपयोग किया जाता है जिसके साथ दूसरी क्रिया भी जुड़ी होती है, जैसे हिन्दी में **देना, लेना, जाना**। यह प्रयोग न तो वैदिक भाषा में मिलता है और न संस्कृत में तथा न प्राकृत और पालि में ही; ये प्रयोग मध्ययुग से आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के संक्रमण-काल में उस समय आ गए जब मध्यम ध्वनियाँ विलुप्त होने लगीं और पूर्वानुगामी क्रियापद ध्वनि-परिवर्तन के कारण अपना मूल स्वरूप खोने लगे और तब इन क्रियाओं ने स्थानपूर्ति का कार्य सम्पन्न किया।

इस आधार पर, मेरी राय में, यह अनुमान सहज है कि उनका मूल विजातीय है और चूँकि द्रविड़ भाषाओं में मिश्रित क्रियापद होते हैं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उनका स्रोत द्रविड़ है। फिर भी रामचन्द्र नारायण वाले ने अपनी कृति 'भारतीय-आर्य भाषाओं में क्रिया-रचना' में इस मामले में द्रविड़ भाषाओं के योग की स्थापना को अस्वीकृत किया है और इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने 'सामान्य मानव मनोविज्ञान' के क्षेत्र का सहारा लिया है और इस प्रकार मिश्रित क्रिया-रचना को द्रविड़ात्मक मानने के बजाय भारतीय-आर्य की जातिगत विशेषता माना है। इस रीति से उन्होंने न केवल इस शब्द-रचना के विशिष्ट पहलुओं की अवहेलना की है, बल्कि आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं की उत्पत्ति के इतिहास की पूर्ण उपेक्षा भी। यह तथ्य विवाद योग्य नहीं कि भारतीय-आर्य भाषाओं में मिश्रित क्रियापद द्रविड़ात्मक हैं। इस समस्या का हल इस तथ्य से होता है कि द्रविड़ भाषाओं के मिश्रित क्रियापद अपेक्षाकृत पुराने हैं जिसको सिद्ध किया जा सकता है, और रचना-व्यवस्था की दृष्टि से भाषागत हैं, जब कि भारतीय-आर्य भाषाओं में इनका उपयोग तभी सामने आता है जब पूर्व-क्रियापद और मध्यम ध्वनि-समूह का लोप होने लगता है; उनका उपयोग धीरे-धीरे बढ़ता है और पदुमावती की रचना तक उनका उपयोग पूर्णतया होने लगता है। इसके समर्थन में प्रमाण मिलता है पुरानी पालि में जिसमें मिश्रित क्रियापद विजातीय तत्व के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जिस चिह्न से विजातीय तत्व का ठोस ज्ञान होता है, वह शब्द है **आदाय**, जिसको अन्य शुद्ध शब्दों के साथ निरर्थक रूप में जोड़ दिया जाता था और जो आधुनिक तमिल के **कोन्तु** जैसे उपयोग के समान था।

मिश्रित क्रियापद, जिनके द्रविड़ मूल के विषय में मैंने अभी बताया, भारतीय-आर्य भाषा की एकमात्र समस्या नहीं है, आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में ऐसे अनगिनत तत्व हैं जिनका स्पष्टीकरण भारतीय-आर्य भाषाओं के आधार पर नहीं, किया जा सकता, इसके विपरीत द्रविड़ दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या की जा सकती है। गुजराती भाषा का प्रत्यय **थी** और बंगला का **हइते** दोनों ही संस्कृत की पाँचवीं विभक्ति का काम देते हैं, लेकिन उनको तभी समझा जा सकता है जब हम द्रविड़ भाषाओं के अवलोकन से प्रारम्भ करें। पंजाबी प्रत्यय **सी** और सिन्धी प्रत्यय **सिउ**, जिनका मूल प्राचीन भारतीय-आर्य **सीमा** में बताया जाता है, तमिल के **मत्तु** के प्रतिपादित स्वरूप हैं। कोंकणी प्रत्यय **गेर** और बंगला **घर** को, जिनका

मूल भारतीय-आर्य **गृह** शब्द में है, सिंहली के **गे** और **गेन** के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है, जिनकी रचना तमिल **इल** के अनुसार हुई है। विजातीय तत्व को प्रकट करनेवाले चिह्न अकसर दिखाई दे जाते हैं जैसा कि हमने पालि के **आदाय** के विषय में देखा। ऐतिहासिक काल में द्रविड़ भाषाओं ने आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं को उससे अधिक प्रभावित किया जितना कि अनुमान लगाया जाता है और यह सम्भावना अपभ्रंश और उत्तरार्द्ध की संस्कृत में किन्हीं द्रविड़ प्रभावों से देखी जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि **जातमात्रा** जैसे मुहावरे का मूल—जिससे शुद्ध समकालीनता अभिव्यक्त होती है—द्रविड़ में मिलता है, जिसमें वह भाषा की रचना-व्यवस्था के अनुकूल है; इसी प्रकार **क्व-क्व** जैसे पूर्ण असंगतता और असमानता प्रकट करनेवाले शब्द हैं, जिनकी तरह की विशेषता द्रविड़ भाषाओं में मिलती है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में द्रविड़ भाषाओं की तुलना में मुण्डा और तिब्बती-बर्मी भाषाओं की भूमिका बहुत पीछे पड़ जाती है। द्रविड़-भाषियों की तुलना में इन भाषाओं के भाषियों ने भारतीय संस्कृति की रचना में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दिया। मुण्डा भाषाओं ने भारतीय-आर्य भाषाओं पर शब्द-सम्बन्धी प्रभाव सचमुच छोड़ा है। जब हिन्दी के शब्द-भण्डार पर विचार किया जाता है तो यह धारणा बने बिना नहीं रहती कि उसका काफी बड़ा भाग मुण्डा से लिया गया है, लेकिन मुण्डा-भाषियों ने ऐतिहासिक काल में जितनी कम भूमिका अदा की है, उससे हम यह अनुमान करने के लिए बाध्य होते हैं कि यह शब्द-सम्बन्धी प्रभाव प्राचीन काल का है। फिर भी, अगर व्याकरणीय पक्ष पर मुण्डा के प्रभाव को बिलकुल अस्वीकार किया जाता है तो वह संगत नहीं होगा। एकाधिक समीपीय भारतीय-आर्यभाषा के व्याकरणीय ढाँचे पर कभी-कभी मुण्डा का प्रभाव पड़ा है, इसको देखना पड़ेगा। मैथिली और मगही की जटिल क्रिया-व्यवस्था का स्पष्टीकरण इसी प्रकार हो सकता है। इस तथ्य को कि इन दोनों भाषाओं में क्रियापद के अन्तर्गत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर्म कारकों का समन्वय होता है, पड़ोसी सन्थाली के प्रभाव को देखकर ही समझा जा सकता है। यह अंगीकरण हाल की ही घटना है, इसका प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि हमें मैथिली की जो पुरानी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जैसे चौदहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध का 'वर्णरत्नाकर', उनमें इससे कहीं अधिक सरल क्रियापद प्रयोग किये गए हैं। यह परिकल्पना कि मैथिली में हमें एक ऐसा प्राचीन उपस्तर मिलता है जिसे प्राकृत में जान-बूझकर दबा दिया गया, स्वीकार योग्य नहीं है, क्योंकि प्राकृत ही ऐसी भाषा है जिसमें प्राचीनतर भाषातत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। तुलना करके यह भी पता लगाना होगा कि तिब्बती-बर्मी भाषाओं ने क्या और किस हद तक भारतीय-आर्य भाषाओं पर प्रभाव डाला है। क्रियापदों में नपुंसक जातीय रचना का मूल, **भावे प्रयोग**, उचित आधार पर ही तिब्बती-बर्मी भाषाएँ मानी गई हैं और यही बात समूह-बोधक संज्ञाओं द्वारा बहुवचन बनाने की संश्लिष्ट पद्धति के विषय में कही जा सकती है; लेकिन इस बात को तभी सिद्ध किया जा सकता है जब हम भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के विषय में काफी तथ्य प्राप्त कर लें।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के अनुसार अलग-अलग भाषाओं के सम्बन्ध में जितना ज्ञान होगा उसके आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है कि ये भाषाएँ अपने अन्दर ऐसी अनेक विशेषताएँ छिपाये हुए हैं जिनका स्पष्टीकरण उनकी अपनी सीमाओं के अन्दर ही हो सकता है। जैसा कि मैं प्रारम्भ में कह चुका हूँ, यही सीमाएँ हैं जिनके अन्दर शोध विस्तृत रूप से नहीं हुआ। द्रविड़ भाषाशास्त्र के विकास में जितनी सम्भावना है या मुंडा और तिब्बती-बर्मी भाषाओं के अध्ययन-सम्बन्धी तथ्यों में जितनी गुंजाइश है, उसके आधार पर फिलहाल पूरी तरह शोध असम्भव भी हो, तब भी भारतीय-आर्य भाषाओं के क्षेत्र में हम ऐसी स्थिति में हैं कि पिछली कुछ शताब्दियों में प्रकाशित भाषा-सम्बन्धी दस्तावेजों के आधार पर उनके विकास की रूपरेखा ज्यादा स्पष्ट रूप से तैयार कर सकेंगे। किन्तु इन भाषाओं के विषय में किन्हीं भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन आवश्यक है। इनमें से एक भ्रम यह रहा है कि मध्ययुगीन भारतीय-आर्य भाषाओं की विवेचना संस्कृत की दृष्टि से ही की गई और इस बात पर ध्यान बहुत कम दिया गया कि यह

एक नया भाषा-युग था जिसके अपने नियम थे और अपना विकास था। दूसरी भ्रान्त धारणा यह थी कि मध्ययुगीन और आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के बीच की विलुप्त शृंखला खोजते समय साहित्यिक परम्परा के सापेक्ष महत्व पर काफी ध्यान नहीं दिया गया; और न उन तत्वों की खोज की गई जिसके कारण मैंने अधकचरे भाषा-अध्ययन के नमूने के अनुसार उसको भ्रष्ट भारतीय-आर्य भाषा अध्ययन करने का सुझाव दिया था। इन भ्रान्त धारणाओं के अतिरिक्त, जिनसे आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के विकास के अध्ययन की सूझबूझ कुण्ठित हुई, अन्य अनेक दृष्टिकोणों की परीक्षा भी तथ्यों के आधार पर करनी पड़ेगी। इनमें से एक है **अकर्मक के सकर्मक प्रयोग का सिद्धान्त** जिसको वेबर का अनुसरण करके पिश्खेल ने प्रतिपादित किया था; यह सिद्धान्त मध्ययुगीन भारतीय-आर्य भाषाओं के लिए खोजा गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृत और अपभ्रंश में अकर्मक वाच्य का सकर्मक वाच्य के रूप में प्रयोग सम्भव है; यह सिद्धान्त न केवल भारतीय-आर्य भाषाओं की प्रकृति के बिलकुल विपरीत है, बल्कि निरर्थक भी है, क्योंकि सुलभ तथ्यों की सूक्ष्म परीक्षा करने से यह सिद्ध होता है कि इस समस्या को **इच्छासूचक अर्थाभिव्यञ्जना** की सीधी-सादी समस्या के रूप में देखा जा सकता हैं, जो आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं में क्रियापदों के विकास के विषय में हमारे ज्ञान के अनुरूप है। आधुनिक सिन्धी में कुछ क्रियाएँ, जो अर्थ में अकर्मक नहीं है, अब तक अकर्मक समझी जाती रही हैं जिनका स्पष्टीकरण इसी प्रकार किया जा सकता है।

किन्तु अलग-अलग भाषाओं के विकास की समीक्षा करते समय हमें सजग रहना पड़ेगा और कभी-कभी सीमाओं के अतिक्रमण से बचना असम्भव होगा। यह बात मराठी के प्रत्यय **वरी** (तक) की समस्या से स्पष्ट है जिसका मूल पहले तो प्राचीन भारतीय-आर्य शब्द **उपारी** (ऊपर) में माना गया और बाद में आर० वी० जागीरदार ने इसको प्राचीन कन्नड़ **वर** (सीमा) से निःसृत सही ही सिद्ध किया।

प्रत्येक विद्वान् का कर्तव्य है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र में प्रस्तुत समस्याओं-मात्र पर ही नहीं, उन विशेष समस्याओं पर भी विचार करे जो सामान्यतः उसके विषय के विकास और उन्नति के सन्दर्भ में उपस्थित होती हैं। यह बात आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन-जैसी ज्ञान-शाखा के लिए और भी आवश्यक है, क्योंकि जैसा कि हम प्रारम्भ में देख चुके हैं, यह ज्ञान-शाखा हाल ही में नहीं जन्मी है, बल्कि कई तत्वों के कारण उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। भारत-पाकिस्तानी उपमहाद्वीप की भाषाएँ विभिन्न भाषा-परिवारों की हैं, जो अंशतः सभी प्रकार से प्रागैतिहासिक काल में एक तादात्म्य विकसित कर चुकी थीं और ऐतिहासिक काल में न केवल अपने स्वाभाविक विकास से गुजर चुकी हैं, बल्कि एक-दूसरे को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित करती रही हैं। इन परिस्थितियों से भी इस अध्ययन का एक अपना ही स्वरूप बन गया है। आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन भाषाविद् के लिए स्वयं उनके अपने अध्ययन का विषय हो सकता है; या जिन भाषा-परिवारों से उनका सम्बन्ध है, उनके अध्ययन का विषय हो सकता है। जो व्यक्ति इन भाषाओं का अध्ययन नये भारतीय भाषाशास्त्र की दृष्टि से करता है, उसके लिए स्थिति आमूल बदल जाती है। पश्चिम में आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन काफी समय तक आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के अध्ययन का पर्याय बना रहा और उसको संस्कृत के अध्ययन का उपविषय या भा-यूरोपीय भाषाशास्त्र का अंग समझा गया। इस प्रकार आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं की एकता की चेतना पृष्ठभूमि में ही पड़ी रह गई। भारत में, जहाँ संस्कृत का एकताकारी प्रभाव कभी नहीं मिट सका और जहाँ विभिन्न भाषाओं का अध्ययन अकसर अपनी संस्कृति में दिलचस्पी के कारण किया जाता रहा, वहाँ एकता सचमुच स्वयं प्रमाणित मानी जाती रही है और मानी जाती है; किन्तु इससे भाषा-सम्बन्धी पर्याप्त अध्ययन नहीं हो पाता। आर्य भारतीय की श्रेष्ठता-सम्बन्धी पुरानी भावना इस काम में निश्चय ही विस्मयकारी नहीं है। फिर भी, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय संस्कृति, धर्म और साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ पहले किया गया है, वही काम आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन में किया जाना है। इससे हाथ खींचकर अध्येता भाषाशास्त्र को क्षति ही पहुँचाएगा। ● ●

डॉ० सुरेश अवस्थी

हिन्दी कोश-रचना : व्यवहार और समस्याएँ

डॉ० सुरेश अवस्थी का जन्म १९२० में उत्तरप्रदेश के उन्नाव जिले के रावतपुर नामक स्थान में हुआ। शिक्षा उन्नाव, कानपुर और लखनऊ में हुई। लखनऊ विश्वविद्यालय से ही एम० ए० और पी-एच० डी० किया। शोध-प्रबन्ध का विषय था 'हिन्दी नाटकों का रूप-विधान'। रंगमंच-सम्बन्धी विषयों पर हिन्दी एवं अंग्रेजी में पिछले ५-६ वर्षों से नियमित रूप से लिख रहे हैं। दस वर्ष तक लखनऊ और दिल्ली के रेडियो स्टेशनों पर विभिन्न प्रकार के दायित्व निभाते रहे। १९५२ से केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय में हैं। आजकल इसी मन्त्रालय के अधीन केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में उपनिदेशक के पद पर काम कर रहे हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में हिन्दी के सृजनात्मक साहित्य के विकास के साथ-साथ सामाजिक विद्याओं और ज्ञान-साहित्य की विविध शाखाओं में भी बहुमुखी विकास हुआ और उच्च कोटि के ग्रन्थों के निर्माण के साथ-साथ एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि विभिन्न विषयों की विशिष्ट शब्दावली का निर्माण हुआ और धीरे-धीरे यह शब्दावली प्रामाणिक और अर्थरूढ़ होकर प्रचलित हो रही है; साथ-ही-साथ वैज्ञानिक साहित्य की रचना के लिए एक विशिष्ट शैली का विकास भी हो रहा है। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ हिन्दी में कोश और सन्दर्भ ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ है और धीरे-धीरे सन्दर्भ साहित्य के निर्माण के सिद्धान्त और व्यवहार निर्धारित हो रहे हैं तथा उनका स्तर भी ऊँचा हो रहा है। विद्यार्थियों, अनुवादकों, पर्यटकों, बहुत बड़ी संख्या में भाषा सीखनेवालों तथा भाषाविदों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पिछले आठ-दस वर्षों में कई एकभाषी, द्विभाषी तथा बहुभाषी कोशों का और विशिष्ट शब्दावलियों का निर्माण हुआ है। शब्द-कोशों के अतिरिक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय सन्दर्भ-ग्रन्थ 'हिन्दी विश्वकोश' है जिसका निर्माण नागरी प्रचारिणी सभा के अधीन केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की आर्थिक सहायता से हो रहा है और जिसके दस प्रस्तावित खण्डों में से दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं तथा तीसरा खण्ड मुद्रित हो रहा है। इसके अतिरिक्त कई और विशेष प्रकार के सन्दर्भ-ग्रन्थों और विश्वकोशों के निर्माण का काम विभिन्न हिन्दी संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों में हो रहा है। आशा है कि दस-पाँच वर्षों में इन नए प्रयत्नों और योजनाओं के फलस्वरूप हिन्दी का कोश और सन्दर्भ साहित्य बहुत सम्पन्न हो जाएगा।

हिन्दी के नए एकभाषी और द्विभाषी कोशों में जहाँ इस दृष्टि से विकास हुआ है कि उनमें अनेक नए शब्दों और नए अर्थों और प्रयोगों का समावेश किया गया है, वहीं उनमें अब भी कई प्रकार की त्रुटियाँ हैं, और कोश-रचना का कोई वैज्ञानिक स्वरूप उनके द्वारा विकसित नहीं हो रहा है। इसका बहुत बड़ा कारण शायद यह है कि कोश-निर्माता नए-नए कोशों में केवल पुराने कोशों की ही सामग्री सम्पादित करके प्रस्तुत कर देते हैं और नए शब्दों, प्रयोगों तथा अर्थों की खोज के लिए न तो आधुनिक और समसामयिक साहित्य का ही अध्ययन किया जाता है और न क्षेत्रीय सर्वेक्षण ही किये जाते हैं। पुराने कोशों का अनुकरण और उनकी सामग्री का सम्पादन भी नितान्त सतही रूप से किया जाता है और उसमें किसी प्रकार की

आधुनिक और मौलिक भाषा-दृष्टि का सर्वथा अभाव रहता है। यही कारण है कि नए-से-नए कोशों में भी हमको बीस-तीस वर्ष पहले तैयार किये गए कोशों के दोष और कमज़ोरियाँ मिल जाती हैं।

एकभाषी कोशों में तो सबसे मूल बात यह है कि अर्थों की संख्या और उनके क्रम का ही अभी तक कोई भाषा-वैज्ञानिक आधार निर्मित नहीं हो पाया। शब्दों की प्रयोग-बहुलता और उनके क्षेत्र-विस्तार का विचार किये बिना मनमाने ढँग पर उनके अर्थ दिये जाते हैं और अर्थों को किसी सुनिश्चित क्रम में नहीं रखा जाता। इसके अतिरिक्त अभी तक हिन्दी कोशों में संक्षिप्त वैज्ञानिक और तथ्य-निष्ठ परिभाषाएँ देने की कला का भी बिलकुल ही विकास नहीं हुआ है। अनेक शब्दों की ऐसी उलझी हुई और प्रायः लम्बी परिभाषाएँ दी जाती हैं जिनसे किसी विदेशी को अथवा अन्य भाषा-भाषी को उस वस्तु अथवा विचार और संकल्पना का पूरा-पूरा और ठीक-ठीक बोध नहीं हो सकता। परिभाषाओं के निर्माण में अभी तक कोशकार यह साधारण-सी बात नहीं सीख सके कि परिभाषा देने में कुछ विशिष्ट और मूल लक्षणों का ही निर्देश किया जा सकता है और गौण तथा कम महत्ववाले लक्षणों को छोड़ देना होगा। परिभाषाएँ देने का कार्य सामान्य और अवैज्ञा-निक शब्दावली से कहीं अधिक कठिन विशिष्ट और वैज्ञानिक शब्दावली में है, और ऐसी शब्दावली की परि-भाषाएँ अभी तक हिन्दी कोशों में बहुत ही अविकसित और अनगढ़ अवस्था में हैं। तीसरा सामान्य दोष हिन्दी के नए एकभाषी कोशों में यह है कि उनमें हिन्दी से इतर अन्य भाषाओं के जो शब्द सम्मिलित किये जाते हैं, उनके प्रायः वे अर्थ दिये जाते हैं जिन अर्थों में वे शब्द हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं और जिनका कभी भी उन अर्थों में प्रयोग नहीं हुआ है। हिन्दी के कोशकार प्रायः हिन्दी में प्रचलित दूसरी भाषाओं के शब्दों के अनेक अर्थ उन शब्दों की भाषाओं के कोशों में किये गए अर्थों से लेते हैं और हिन्दी में प्रचलित उनके अर्थों और प्रयोगों की विशिष्टताओं, उनके अर्थ-विस्तार और अर्थ-भिन्नताओं आदि का बिलकुल ध्यान नहीं रखते। इस प्रकार के अप्रचलित अर्थ न केवल कोश का आकार बढ़ाते हैं और प्रयोगकर्ता के लिए उन कोशों की कोई उपयोगिता नहीं रहती, बल्कि वे काफी सीमा तक भ्रामक भी होते हैं और भाषा में भ्रष्ट प्रयोगों को प्रोत्सा-हन देते हैं।

आज जबकि कोश-कला इतनी विकसित हो गई है और कोश में सम्मिलित किये गए अर्थ केवल शब्दों के अर्थ और प्रयोग ही नहीं देते बल्कि उनके सम्बन्ध में अन्य प्रकार की आवश्यक सामग्री, जैसे व्याकरणिक तथ्य और शब्दों का इतिहास भी दिया जाता है, तब तो नए कोश-कार पर और भी बहुत बड़ा दायित्व आ जाता है। हिन्दी के नए कोशों में यद्यपि शब्दों की व्याकरण-सम्बन्धी सूचनाएँ और उनकी व्युत्पत्ति दी जाती है, लेकिन अभी तक यह कार्य बहुत प्रामाणिक और वैज्ञानिक ढँग पर नहीं हो रहा है, और इस प्रकार की सामग्री अब भी बहुत हद तक अप्रामाणिक तथा विवादास्पद है। वास्तव में अभी तक हिन्दी के कोशकारों ने शब्दों की व्युत्पत्ति के निर्धारण की खोज का कार्य पूरी गम्भीरता के साथ नहीं किया है, और शब्दों की व्युत्पत्ति की खोज में संस्कृत, प्राकृत और पालि के मध्ययुगीन कोशों तथा उन भाषाओं के कोशों और साहित्य का अध्ययन नहीं किया है जिनके शब्द हिन्दी शब्दावली का अभिन्न अंग बन गए हैं। वास्तव में इस प्रकार के विदेशी शब्दों की व्युत्पत्ति की खोज का कार्य, जो अनेक भारतीय भाषाओं में घुल-मिल गए हैं, अखिल भारतीय अथवा सम्बन्धित भाषाओं के आधार पर क्षेत्रीय स्तर पर किए जाने की आवश्यकता है। इसी प्रकार कुछ महत्वपूर्ण शब्दों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सूचनाएँ देने और एकत्र करने का महत्वपूर्ण कार्य भी हिन्दी कोशकार को करना है। इस सम्बन्ध में भी बहुत-सी महत्वपूर्ण सामग्री अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के कोशों में बिखरी पड़ी है, जिसे पुनरीक्षण और सम्पादित करके तथा जिसको नई सूचनाओं के आधार पर अद्यतन बनाकर हिन्दी कोशों में समाविष्ट करने की तुरन्त आवश्यकता है।

कोश-निर्माण के विविध पक्षों से सम्बन्धित इन दोषों के अतिरिक्त आज भी हिन्दी के एकभाषी कोशों में यह दोष रहता है कि उनमें सम्मिलित किये जानेवाले शब्दों का कोई निश्चित और प्रयोजनशील आधार नहीं रहता। किसी भी कोश का निर्माण करते समय उसके विशिष्ट

प्रयोजन और उसके प्रयोगकर्ताओं के वर्ग का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि यही वह मूल आधार है जिस पर कोशकार शब्दों का चुनाव तथा उसमें दिए जानेवाले अर्थों की संख्या तथा क्रम आदि के सम्बन्ध में निर्णय करता है। आज भी हिन्दी के नए कोशों में अन्य भाषाओं के सैकड़ों ऐसे शब्द सम्मिलित कर लिये जाते हैं जिनका हिन्दी में कभी भी प्रयोग नहीं हुआ अथवा जिनका प्रयोग बहुत ही कम और सीमित हुआ है। यह कठिनाई संस्कृत और उर्दू के शब्दों के सम्बन्ध में विशेष रूप से होती है। सभी एकभाषी कोशों में संस्कृत और उर्दू के सैकड़ों ऐसे शब्द मिल जाएँगे जिनका हिन्दी साहित्य में कभी भी प्रयोग नहीं हुआ। ऐसे शब्दों के सम्बन्ध में एक बड़ी भारी भूल कोशकार यह करते हैं कि वे इन शब्दों का पहला और कभी-कभी दूसरा और तीसरा अर्थ भी देते हैं, और वह अर्थ प्रायः ऐसा होता है जिसमें हिन्दी में कभी भी प्रयुक्त नहीं किये जाते। हिन्दी की प्रचलित और जीवित शब्दावली एक मिश्रित शब्दावली है, जिसमें अनेक भाषाओं के शब्द घुल-मिल गए हैं, तथा बहुत बड़ी जनपदीय शब्दावली भी है जो इस साहित्यिक शब्दावली का अंग बन गई है। इसके अतिरिक्त मध्ययुगीन साहित्य में प्रयुक्त बहुत बड़ी शब्दावली है जिसे अभी तक हिन्दी कोशों में स्थान नहीं मिला और जिनके कोश-अर्थ निर्धारित और निश्चित नहीं हो सके। हिन्दी की इस व्यापक, विशाल और मिश्रित शब्दावली को हिन्दी के नए कोशों में स्थान मिलना चाहिए और उनका चुनाव वैज्ञानिक दृष्टि और निश्चित प्रयोजन तथा प्रयोगकर्ताओं की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए।

हिन्दी में द्विभाषी कोश अब भी संख्या में बहुत ही कम हैं और जो थोड़े से हैं भी उनका स्तर बहुत ही नीचा है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं, विशेषकर दक्षिण भारतीय भाषाओं के कुछ बहुत ही सामान्य छोटे-छोटे व्यावहारिक कोश दक्षिण भारत की विभिन्न हिन्दी प्रचार संस्थाओं ने, विशेषकर दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने १५-२० वर्ष पहले तैयार किये थे। ये सारे कोश अब पुराने पड़ गए हैं और इनके नये संशोधित और परिवर्द्धित संस्करणों के निकालने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अब भी हिन्दी तथा अन्य कुछ भारतीय भाषाओं के द्विभाषी कोश नहीं हैं। इस कोटि के द्विभाषी कोशों के निर्माण का काम अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में काम करनेवाली हिन्दी की संस्थाओं को अपने हाथ में तुरत लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह बहुत ही आवश्यक है कि ऐसे कोशों के निर्माण में हिन्दी के विद्वानों और कोशकारों का भी पूरा सहयोग प्राप्त किया जाए, जिससे कि शब्दों के पर्याय निर्धारित करने में उनके प्रचलित प्रयोगों और अर्थों की पूरी-पूरी रक्षा हो सके।

अंग्रेज़ी-हिन्दी और हिन्दी-अंग्रेज़ी कोशों की तो आज बहुत बड़ी आवश्यकता है, केवल कुछ भाषा सीखनेवालों और भाषाविदों के लिए ही नहीं, बल्कि बहुत बड़ी संख्या में काम करनेवाले नये अनुवादकों के लिए भी। यह खेद की बात है कि हिन्दी में एक भी अच्छा और प्रामाणिक हिन्दी-अंग्रेज़ी कोश नहीं है। इस प्रकार के कोशों के अभाव की पूर्ति का नितान्त असन्तोषजनक कार्य भंडारी और भार्गव के कोश पिछले २०-२५ वर्षों से करते आ रहे हैं। इन कोशों के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हुए भी इनकी कमियों की ओर से आँख नहीं मूँदी जा सकती। ऐसी स्थिति में अच्छे और प्रामाणिक हिन्दी-अंग्रेज़ी कोश की बहुत बड़ी आवश्यकता है, और यह कार्य किसी भी विश्वविद्यालय के हिन्दी और अंग्रेज़ी विभाग सम्मिलित रूप से सन्तोषजनक रीति से कर सकते हैं।

पिछले वर्षों में एक-दो अंग्रेज़-हिन्दी कोश तथा कई अंग्रेज़ी-हिन्दी पारिभाषिक शब्दावलियाँ प्रकाशित हुई हैं। अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों में डॉ० हरदेव बाहरी के कोश का उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि इस कोश में कई प्रकार की कमज़ोरियाँ हैं और कोश इसके निर्माता के भाषा-सम्बन्धी पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है, जिनके कारण शब्दों के प्रचलित अर्थों और प्रयोगों तथा भाषा और शब्दावली की सहज प्रकृति और प्रवृत्तियों की अवहेलना हुई है। इस कोश में अनेक अंग्रेज़ी शब्दों के तो पहले और तीसरे ऐसे पर्याय दिये गए हैं, जो या तो ऐसे संस्कृत शब्द हैं, जिनका हिन्दी में कभी भी प्रयोग नहीं हुआ है अथवा कोशकार द्वारा या किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था द्वारा ऐसे नये गढ़े हुए शब्द हैं, जो कि अभी तक प्रयोग द्वारा रूढ़

नहीं हो सके हैं। शब्दों के पर्यायों को उनके अर्थ के प्रचलन के आधार पर किसी निश्चित क्रम में भी नहीं रखा गया है। प्रायः तो एक ही अर्थ में पर्यायों का जमघट लगा दिया जाता है, जिनमें उपयुक्त पर्याय ढूँढ़ निकालना प्रयोगकर्त्ता के लिए कठिन होता है। हिन्दी में अब धीरे-धीरे पर्याय-वाची शब्दों में भी प्रयोग में अर्थभेद स्थिर हो रहे हैं, किन्तु अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों में भाषा और शब्द-प्रयोगों की इस नई प्रवृत्ति की सर्वथा अवहेलना हो रही है। कोशकार के अपने भाषा-सम्बन्धी विचारों और पूर्वाग्रहों का प्रभाव हम दूसरे कोशों में भी देख सकते हैं। वास्तव में कोशकार का कार्य और उसका अधिकार केवल इतना ही है कि वह सच्चाई, निष्ठा और निष्पक्षता के साथ भाषा के शब्द-भण्डार और उसके अर्थों और प्रयोगों का अभिलेखन कर दे और इसमें उसे बराबर प्रामाणिक सामग्री का ही आधार लेना होगा; उसे इस कार्य में किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है, और न वह भाषा के सन्दर्भों और प्रयोगों से निरपेक्ष होकर अपनी धारणाओं का आरोपण ही कर सकता है।

कोश-रचना के सिद्धान्तों, व्यवहारों तथा उसकी समस्याओं पर विचार करते समय हमें यहाँ इस बात का उल्लेख प्रासंगिक लगता है कि अभी तक इस दिशा में भी कोई प्रयत्न नहीं किये गए कि हम कोश-निर्माण की अपनी परम्पराओं के आधार पर कोश-कला के एक विशिष्ट शास्त्र का निर्माण करें। अतः इस बात की तुरत आवश्यकता है कि हिन्दी संस्थाएँ तथा विश्वविद्यालय कोश-रचना-कला के विविध पक्षों और समस्याओं पर विचार करने के लिए विचार-गोष्ठियों और सम्मेलनों का आयोजन करें तथा ऐसे विचार-विमर्श और निष्कर्षों द्वारा कोश-कला के कुछ सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करें, जिससे कि हिन्दी में कोश-निर्माण की मौलिक और स्वस्थ परम्परा का विकास हो सके। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि विदेशों में कोश-रचना-शास्त्र का पिछले कुछ वर्षों में बहुत ही विकास हुआ है और महत्त्वपूर्ण सम्मेलन और विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया गया है। यहाँ पर मैं नवम्बर १९६० में इण्डियाना युनिवर्सिटी में आयोजित केवल एक कोश-कला-सम्बन्धी सम्मेलन की चर्चा करना चाहूँगा, जिसकी रिपोर्ट 'माउटन एण्ड कम्पनी' से 'प्राब्लम्स इन लेक्सीकोग्राफी' के नाम से हाल ही में प्रकाशित हुई है। इस सम्मेलन में कोश-निर्माण के विभिन्न पक्षों पर विशेषज्ञों द्वारा प्रबन्ध पढ़े गए और उन पर सामूहिक चर्चा हुई। सम्मेलन में जो-कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये गए और निष्कर्ष निकाले गए उन्हें संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है :

१. कोशों का निर्माण विशिष्ट वर्ग के प्रयोगकर्त्ताओं तथा उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

२. कोशों में सम्मिलित किये जानेवाले सभी शब्द ढूँढ़ने पर सहज ही मिल जाने चाहिए; अप्रामाणिक शब्द-रूप या तो अपने पूरे रूप में दिये जाने चाहिए या कम-से-कम मूल शब्द-रूप के साथ उनका प्रतिनिर्देश किया जाना चाहिए। यदि सम्भव हो तो मुहावरे अंगभूत शब्द के साथ दिये जाने चाहिए। यह भी विचार प्रकट किया गया कि यद्यपि व्युत्पत्ति की दृष्टि से परस्पर-सम्बद्ध शब्दों को एक साथ दिया जाना अधिक वैज्ञानिक है, लेकिन ऐसा करने में शब्द अपने वर्ण-क्रम पर न रहेंगे और उनको खोजने में समय का अपव्यय होगा।

३. प्रत्येक शब्द के साथ उससे सम्बद्ध आवश्यक वाक्य-रचना-सम्बन्धी और व्याकरणिक सूचना दी जानी चाहिए। उसके लिए प्रतीक निश्चित कर लेने चाहिए। शब्दों के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और स्तरों (जैसे कि शिष्ट-प्रयोग, साहित्यिक प्रयोग, बोलचाल की भाषा का प्रयोग, अशिष्ट अथवा भद्दा प्रयोग आदि) का जहाँ तक सम्भव हो संकेत कर दिया जाना चाहिए।

४. शब्दों के अर्थ-विकास का पूरा-पूरा विवेचन कोश में आवश्यक है, और जहाँ शब्दों के बारे में पूरी जानकारी है, वहाँ उनके पर्याय, विपर्यय आदि का भी संकेत संक्षेप में आवश्यक है। लेकिन कोश-निर्माण के इस पक्ष में अभी अनुसन्धान की बहुत बड़ी आवश्यकता है। वास्तव में, प्रत्येक प्रकार के कोश के निर्माण में शब्दों के अर्थ निर्धारित करने में बहुत बड़े क्षेत्रीय सर्वेक्षण और अध्ययन की आवश्यकता है।

५. सम्मेलन में कोश के आकार के सम्बन्ध में भी

विचार किया गया, और एक मत यह प्रकट किया गया कि सामान्य रूप से कोश में १०,००० शब्द होने चाहिए और बड़े कोशों में ५०,००० तक हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में इस पर सभी एकमत थे कि छोटे कोश तो विशिष्ट प्रयोजन को ध्यान में रखकर बनाये जाने चाहिए और बड़े कोश सामान्य प्रयोग के लिए।

६. कोश में नितान्त साधारण शब्दों को सम्मिलित करने या न करने के सम्बन्ध में सम्मेलन में दो मत थे—एक तो यह कि ऐसे शब्दों को कोश में न सम्मिलित किया जाए, क्योंकि जो भी व्यक्ति कोश देखने की योग्यता रखता है वह ऐसे शब्दों को जानता ही है; और दूसरा यह कि ऐसे शब्दों को भी कोश में रखा जाए क्योंकि यह जानना बहुत कठिन है कि कोश के प्रयोगकर्ता किन शब्दों को जानते हैं और किन को नहीं।

७. कोश में नामवाची शब्दों (ऐतिहासिक, साहित्यिक और भौगोलिक आदि) को सम्मिलित करने अथवा न करने के सम्बन्ध में भी दो मत प्रकट किये गए—एक तो यह कि ऐसे शब्द कोश में न सम्मिलित किये जाने चाहिए क्योंकि उनका स्थान वास्तव में विश्वकोश है न कि शब्दकोश; और दूसरा मत यह था कि कुछ नितान्त आवश्यक और सीमित नामवाची शब्द भी कोश में सम्मिलित किये जाने चाहिए।

८. कोश में उदाहरणमूलक वाक्य देने के सम्बन्ध में भी दो मत थे—एक तो शब्दों के सूक्ष्म अर्थ-भेदों को स्पष्ट करने के लिए ऐसे वाक्य देने के पक्ष में था, और दूसरा इस दृष्टि से इसके विपक्ष में था कि ऐसे वाक्य निरर्थक ही कोश का आकार बढ़ाते हैं और प्रायः वे असंगत और असहायक होते हैं। इस प्रश्न पर कुछ और अधिक विचार किये जाने के बाद यह निर्णय किया गया कि कुछ थोड़े से छोटे-छोटे वाक्य देना शायद उपयोगी हों, यदि वे संक्षिप्त हों और अर्थभेद स्पष्ट कर सकें।

हिन्दी कोश-रचना के इन व्यवहारों और समस्याओं के सन्दर्भ में हमको नए सिरे से और अधिक गम्भीरता के साथ कोश-निर्माण का कार्य करना है और कई प्रकार के कोश रचने है। लोक-जीवन में प्रचलित कलाओं, शिल्पों और घरेलू उद्योगों की विशिष्ट और अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्दावलियों के पूर्ण और वैज्ञानिक संस्करण निकालने की इस समय बहुत बड़ी आवश्यकता है, जबकि हम नई वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का निर्माण कर रहे हैं, और वैज्ञानिक साहित्य की रचना का कार्य करने जा रहे हैं। इसी प्रकार से विभिन्न वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावलियों के प्रकाशन की भी आवश्यकता है जिनमें स्पष्ट और संक्षिप्त परिभाषाएँ दी गई हों जिससे कि अनेक वैज्ञानिक वस्तुओं और संकल्पनाओं की जानकारी सामान्य-जन को भी हो सके और इस तरह से व्यापक रूप से वैज्ञानिक चेतना का विकास हो। इसी प्रकार की परि-भाषा-सहित ऐसी विशिष्ट शब्दावलियों के प्रकाशन की भी आवश्यकता है जिनमें प्राचीन और मध्ययुगीन कला और साहित्य-सम्बन्धी शब्दावली का संकलन किया जाए। अभी तक संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला-सम्बन्धी विशाल पारिभाषिक शब्द-भण्डार ग्रन्थों में ही दबा पड़ा है। यदि यह तमाम शब्दावली परिभाषाओं के सहित हिन्दी पाठक को उपलब्ध हो जाए तो सहज ही इन कलाओं के सम्बन्ध में साधारण जनता का ज्ञान बढ़ेगा। विशिष्ट शब्दावलियों के अतिरिक्त एक ऐसे विशेष कोश की परम आवश्यकता है जिसमें समस्त मध्ययुगीन साहित्य के शब्दों के प्रामाणिक अर्थ और उनकी व्युत्पत्तियाँ दी गई हों। इस समय स्थिति यह है कि तुलसी, सूर और जायसी के द्वारा प्रयुक्त सैकड़ों शब्द हिन्दी कोशों में नहीं मिलते और उनके मनमाने अर्थ विद्यार्थी और अध्यापक लगा लेते हैं।

कोश-निर्माण के क्षेत्र में सबसे बड़ी आवश्यकता एक बृहत् कोश की है, जिसका निर्माण भाषा के ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए, और उसमें शब्द के प्रयोग का काल-निर्देश और उसके अर्थ और स्वरूप के विकास का साहित्यिक प्रयोग दिया जाना चाहिए। इस कोश में हिन्दी की पारिभाषिक, वैज्ञानिक और कला-शिल्प सम्बन्धी शब्दावली का भी समावेश होना चाहिए। इसी प्रकार इसमें कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तिवाची नाम और भौगोलिक नामों का भी परिचय मिलना चाहिए। अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विदेशियों ने हिन्दुस्तानी, उर्दू और हिन्दी के कई महत्वपूर्ण कोशों का निर्माण किया है, जिनके शब्दों की छानबीन

करने की और उनमें से जीवित शब्दों को ऐसे बृहत् कोश में सम्मिलित करने की आवश्यकता है। पिछले दो सौ वर्षों में जो हिन्दी का नया गद्य और पद्य-साहित्य निर्मित हुआ है, तथा समाचारपत्रों का साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसमें प्रयुक्त शब्दों की भी पूरी-पूरी सूची तैयार करने और ऐसे बृहत् कोश में सम्मिलित करने की आवश्यकता है। इस बृहत् कोश से भी अधिक बड़ी नितान्त तात्कालिक आवश्यकता है अंग्रेज़ी-हिन्दी और हिन्दी-अंग्रेज़ी द्विभाषी कोशों की जिनके अभाव में अनुवादकों का काम बहुत कठिन हो रहा है।
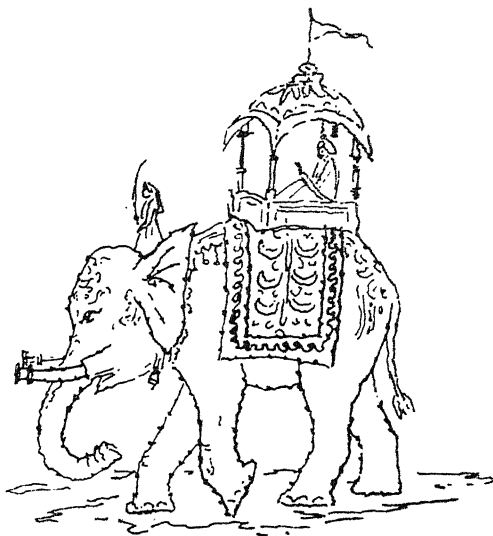
श्याममोहन श्रीवास्तव

हिन्दी में निरुक्ति-कोश की आवश्यकता

श्री श्याममोहन श्रीवास्तव का जन्म १२ अप्रैल, १९३५ को जौनपुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ। शिक्षा-दीक्षा प्रयाग में हुई और वहीं से एम० ए० एल्-एल्० बी० किया। प्रयाग के 'नये पत्ते' मासिक, त्रैमासिक 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका' और अर्द्धवार्षिक 'निकष' का सम्पादन-कार्य किया। 'भारत' और 'अमृत पत्रिका' दैनिकों के सहायक-सम्पादक भी रहे। १९६१ में दिल्ली, भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में आये और त्रैमासिक 'भाषा' के सम्पादकीय विभाग से सम्बद्ध रहे। आजकल इसी निदेशालय में सहायक शिक्षा अधिकारी हैं।

हिन्दी में कोई निरुक्ति-कोश नहीं है। निरुक्ति-सम्बन्धी कुछ-एक पुस्तकें प्रकाश में अवश्य आई हैं, किन्तु वे विषय का आभास-मात्र देती हैं। कुछ शब्दकोशों में शब्दों की व्युत्पत्ति भी देने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह अपर्याप्त है। व्युत्पत्तियों की दृष्टि से एक वृहद् कोश के निर्माण की आज बहुत आवश्यकता है।

हिन्दी भाषा में प्रचलित शब्दों की निरुक्ति का यदि वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह अत्यन्त रोचक विषय सिद्ध होगा। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक शब्द के उद्गम की दिशा में शोध किया जाए, जो केवल संस्कृत तक ही सीमित न हो वरन् उसका मूल उत्स भारोपीय भाषाओं में भी ढूँढ़ा जाए। यह कार्य अत्यन्त गुरुतर है और इसके लिए गम्भीर अनुसन्धान की आवश्यकता होगी। साथ ही हिन्दी तथा संस्कृत के प्राचीन साहित्य का मन्थन भी करना होगा। हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति से सम्बन्धित सामग्री का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, क्योंकि संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, देश्य भाषा, अरबी, फ़ारसी, पश्तो, पहलवी, दक्षिण की द्रविड़ भाषाएँ, इन अनेक स्रोतों से हिन्दी में शब्द आए हैं। अभी तक हिन्दी के कोशों में, भाषा के इतिहास-विषयक ग्रन्थों में तथा फुटकर निबन्धों में व्युत्पत्ति से सम्बन्धित जो सामग्री आई है, वह सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। व्युत्पत्तियों के सम्बन्ध में सभी अपने-अपने व्यक्तिगत अनुमानों के आधार पर स्थापनाएँ करते रहे हैं। अब समय आ गया है कि प्रामाणिक ग्रन्थों के अनुसन्धान के आधार पर ध्वनि-शास्त्र के नियमों के अनुसार शब्दों की व्युत्पत्तियों की पहचान की जाए और उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए।

प्रत्येक शब्द के विकास के पीछे एक दीर्घ ऐतिहासिक परम्परा निहित होती है और यदि शब्दों के जीवन का अध्ययन किया जाए तो देश, काल, परिस्थिति और संस्कृति पर प्रकाश पड़ सकता है। उदाहरण के लिए 'चाय' शब्द को ही लीजिए। यह चीनी शब्द है। बारहवीं शताब्दी के एक अभिलेख में चीन की 'चा' का उल्लेख मिलता है। उसके बाद के अभिलेखों से हमें पता चलता है कि किस प्रकार यह सुस्वादु पेय विदेशों में गया। अंग्रेज़ 'चा' को 'Tcha' लिखते थे। मूर्द्धन्य ध्वनि-प्रधान भाषा होने के फलस्वरूप अंग्रेज़ी में 'Tcha' का 'ch' धीरे-धीरे लुप्त हो गया और 'T' प्रमुख हो गया। अन्ततोगत्वा 'Tcha' शब्द 'Tay' में परिणत हो गया और 'Tay' शब्द 'Tea'

में बदल गया।[1] किन्तु हिन्दी में 'चा' शब्द में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ, वह 'चाय' मात्र होकर रह गया, ठीक वैसे ही जैसे चीनी शब्द 'लूसुन' हिन्दी में 'लहसुन' होकर रह गया। चीनी शब्द 'लीची' तो हिन्दी में ज्यों-का-त्यों मौजूद है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने तो पाणिनि की अष्टाध्यायी में आये हुए शब्दों के आधार पर तत्कालीन भारत का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन ही प्रस्तुत कर दिया है। इस ग्रन्थ में नदी, वन, पर्वत, जनपद, नगर, ग्राम, वर्ण एवं जाति, विवाह, मिथुन, शिक्षा, संस्थाएँ, भोजन, पेय, यज्ञ, व्यवसाय, चिकित्सा, ज्योतिष, ऋतु, वस्त्र, अलंकार, मनुष्यों के नाम, त्योहार, वाणिज्य-व्यापार, साहित्य, कला, दर्शन, सेना, शासन इत्यादि सैकड़ों विषयों से सम्बन्धित असंख्य शब्दों की निरुक्ति पर प्रकाश पड़ता है। यदि हिन्दी में कोई निरुक्ति-कोश बने तो बहुतेरे प्रचलित शब्दों की पहचान करने में उससे मूल्यवान सहायता मिलेगी। उदाहरण के लिए हिन्दी में एक शब्द है 'कमेरा' जो अनसीखे मजदूरों के लिए चलता है। अंग्रेज़ी में इन्हें 'अनस्किल्ड लेबर' कहते हैं। पाणिनि ने 'अष्टाध्ययी' में 'कर्मकर' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है।[2] 'कर्मकर' से 'कमेरा' शब्द बन गया : कर्मकर > कम्मयर > कम्महर > कमेरा। इसी प्रकार 'शतद्रु' से 'सतलज', 'विपाशा' से 'व्यास', 'चर्मकार' से 'चमार', 'स्वर्णकार' से 'सुनार' इत्यादि शब्दों की व्युत्पत्ति का पता चलता है।

वैज्ञानिक पद्धति से व्युत्पत्तियों का निर्णय न होने से 'हिन्दी शब्द सागर' में अनेक अशुद्ध व्युत्पत्तियाँ दे दीं गई हैं और इस सम्बन्ध में आगे अनुसन्धान न होने के कारण भ्रान्त व्युत्पत्तियाँ ही चली आ रही हैं। उदाहरण के लिए 'अपाहिज' शब्द 'हिन्दी शब्द सागर' के अनुसार प्राकृत 'अपहंज' से आया है, पर यह सही नहीं मालूम पड़ता। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार इसका मूल संस्कृत के 'अपाथेय' शब्द में है : अपाथेय > अपाहेज्ज > अपाहिज्ज > अपाहिज। अपाथेय का अर्थ है, जो पथ में यात्रा के अयोग्य हो।[3] इसी प्रकार 'आँय बाँय साँय' को 'शब्द सागर' में अनुकरणात्मक कहा गया है किन्तु वस्तुतः यह 'आतिपात्यशान्ति' से आया है। जैन ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग नित्य के जीवन में अनजाने होनेवाली हिंसा के लिए हुआ है।[4] 'आतिपात्यशान्ति' अपभ्रंश में 'आइ बाइ साँइ' और हिन्दी में 'आँय बाँय साँय' हो गया। 'हिन्दी शब्द सागर' में 'ढिंढोरा' की व्युत्पत्ति अनुकरणात्मक ढम+ढोल से मानी गई है, किन्तु श्री अग्रवाल ने इसे अशुद्ध मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द डिंडम पटह' से मानी है जो ज्यादा ठीक मालूम पड़ती है : डिंडम पटह > डिंडिवँवडअ > डिंडिउरा > डिंडउरा > डिंडोरा > ढिंढोरा।

हिन्दी के निरुक्त-कोश का निर्माण शब्दों के ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए। हिन्दी एक मिश्रित भाषा है और विभिन्न जातियों के सम्पर्क के कारण इसमें अनेक देशी और विदेशी भाषाओं के शब्द ठीक वैसे ही आ मिले हैं जैसे समुद्र में नदियाँ आकर मिलती हैं। उदाहरण के लिए इंजन, ड्राइवर, मोटर, रेल, स्टेशन, रेडियो, पेट्रोल, अस्पताल, डॉक्टर, कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सिनेमा, मास्टर, सिगरेट, मैच, क्लर्क, पोस्टकार्ड, बक्स, नोट इत्यादि अंग्रेजी शब्द; थर्मस, थ्योरी, प्रोग्राम, फिलासफी, टेलीफोन इत्यादि ग्रीक शब्द; ऑपरेटर, कैलेंडर, डेलीगेट, मिशन इत्यादि लैटिन शब्द; इंजीनियर, कण्ट्रोल, टूरिस्ट, टैक्सी, फार्म, ब्लाउज, लेफ्टिनेण्ट, इत्यादि फ्रेंच शब्द; किण्डरगार्टन, निकल, फैरनहाइट, होमियोपैथी इत्यादि जर्मन शब्द; कोको, चाकलेट, टमाटर इत्यादि स्पैनिश शब्द; अनन्नास, अलमारी, कनस्तर, चाबी, तम्बाकू, तौलिया, गमला, गोभी, बालटी, सन्तरा, बोतल, काकातुआ, मेज, पादरी, काजू, गिरजा, इस्त्री, पीपा, पिस्तौल, फीता, नीलाम इत्यादि पुर्तगाली शब्द; तुरुप, बम (गाड़ी का) इत्यादि डच शब्द तथा आका, उजबक, बावर्ची, बीबी बेगम, दारोगा, तमगा, गलीचा, कोर्मा, बहादुर, लाश

१. 'दि बुक ऑफ टी', ले० काकुजो ओकाकुरा; केंक्यूश टोकियो, पृ० ६।
२. 'पाणिनिकालीन भारत', ले० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।
३. 'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, अंक २-३, सं० २००६।
४. 'पाइय सद्द महण्णव', सेठ हरगोविन्ददास, पृष्ठ ४-५।

इत्यादि तुर्की शब्द धीरे-धीरे किस प्रकार हिन्दी में घुल-मिलकर सुपरिचित शब्दों के रूप में व्यवहृत होने लगे इसका उत्तर भारत के इतिहास पर दृष्टि डालने पर हमें अनायास ही मिल जाता है। हिन्दुस्तान के गजनी, गोर और गुलाम आदि आरम्भ के वंशों के मुसलमानी बादशाहों और भारतीय मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की मातृभाषा मध्य एशिया की तुर्की भाषा थी। हिन्दी में प्रचलित तुर्की शब्दों का यही रहस्य है। अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी में प्रचलित होने का कारण बताने की तो आवश्यकता ही नहीं। जहाँ तक अन्य यूरोपीय भाषाओं के शब्दों का प्रश्न है वे अधिकतर अंग्रेजी के माध्यम से ही आए हैं। किन्तु यह भी सम्भव है कि उनमें से बहुत-से शब्द उस समय प्रचलित हुए हों जबकि उनके देशों की कम्पनियाँ भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी से प्रतिस्पर्द्धा कर रही थीं।

हिन्दी के सर्वांगपूर्ण निरुक्ति-कोश के निर्माण के लिए हमें सभी विषयों के प्रामाणिक ग्रन्थों से सहायता लेनी होगी। अभी तक हिन्दी के जितने कोशों का निर्माण हुआ है तथा व्युत्पत्ति-सम्बन्धी जितनी भी पुस्तकें या लेख प्रकाश में आए हैं उनसे लाभ उठाने के साथ-साथ हमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी की विभिन्न बोलियों के शब्दकोशों, उर्दू, अरबी, फारसी के शब्दकोशों तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दकोशों का भी उपयोग करना होगा। शब्दों का मूल खोजने के लिए ऋग्वेद आदि प्राचीन ग्रन्थों का सहारा भी लेना होगा और विभिन्न प्रयोगों और शब्दों के विकास-क्रम को जानने के लिए विभिन्न युगों में रचित प्रत्येक विषय के ग्रन्थों की जाँच करनी होगी। यदि ऐसा करते समय शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन पर ध्यान दिया जाए तो यह कोश और भी वैज्ञानिक और उपयोगी हो सकेगा। कई ऐसे शब्द हैं जो विदेशी होते हुए भी संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं से एकदम मिल जाते हैं। इसी प्रकार अनेक भारतीय भाषाओं के शब्द विदेशी भाषाओं के शब्दों से अद्भुत ढंग से मेल खाते हैं। फारसी के बहुत-से शब्दों का सम्बन्ध तो मूल संस्कृत के साथ मिलता है, जैसे, 'मयखाना' में शराबवाची 'मय' शब्द फारसी को 'मद्य' की परम्परा से प्राप्त हुआ था। हिन्दी में प्रचलित 'बरफ' शब्द फारसी 'बरफ' से तो आया ही है, पर उससे भी पीछे उसके स्रोत की खोज करने पर हम पाएँगे कि ईरानी 'बफर' और संस्कृत 'बप्र' तक उसकी परम्परा चली गई है। 'कन्या' शब्द का संस्कृत में अर्थ है कुमारी। यह शब्द √कन् धातु से निकला है जिसका अर्थ है चमकना; किन्तु भारोपीय शब्द 'ken' का अर्थ है 'ताजा निकलना', तथा लैटिन शब्द 'recens' का अर्थ है 'नई'। इसी प्रकार 'कृष्ण' शब्द √कृष् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'घसीटना'। यह शब्द 'निकृष्ट' का समानार्थक है क्योंकि काला रंग निकृष्टतम समझा जाता था। इस शब्द की परम्परा भारोपीय शब्द 'qrs' (=रंग, विशेषतः काला रंग) तक तथा प्रशियन शब्द 'krisnan' (=काला) तक चली गई है।

इस प्रसंग में यास्क के 'निरुक्त' का उल्लेख आवश्यक है। यास्क भारत के सब से बड़े निरुक्तिकार माने जाते हैं। स्कोल्ड जैसे आधुनिक लेखक निरुक्तिकार के रूप में यास्क को महान् मानते हैं। "......हम यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि (यास्क के) निरुक्त में इतनी सुन्दर और सही व्युत्पत्तियाँ दी हुई हैं।"[1] इसी प्रकार, डॉ० सरूप के अनुसार "यास्क सर्वप्रथम ऐसे निरुक्तिकार हैं जिन्होंने वैज्ञानिक आधार पर यह कार्य किया और निरुक्ति-शास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की।"[2] डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्क के निरुक्तों को विभिन्न कोटियों में विभाजित करके उनकी व्याख्या की है और अनेक शब्दों का मूल विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में भी खोजा है।[3] इस तुलनात्मक अध्ययन के कारण निरुक्ति की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान हो गया है। उदाहरण के लिए 'बन्धु' शब्द को लीजिए। यह शब्द ऋग्वेद में आया है (बन्धुः ऋ० वे० १,१६४,३३), इसका अर्थ है—सम्बन्धी। यह √बन्ध् से आया है, जिसका अर्थ है बाँधना। डॉ० वर्मा इसकी तुलना भारोपीय शब्द 'bhend'-(=बाँधना) तथा

१. **'दि निरुक्त', ले० स्कोल्ड, पृष्ठ १८१।**

२. **'दि निघंटु ऐंड दि निरुक्त', ले० डॉ० सरूप, भूमिका, ऑक्सफ़ोर्ड, १९२०, पृ० ५४।**

३. **'दि एटीमालोजीज़ ऑफ़ यास्क', ले० डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा।**

आंग्ल सेक्सन शब्द 'bindan' (=बाँधना) से करते हैं। इसी प्रकार 'अन्न' शब्द संस्कृत की √अद् धातु से बना है जिसका अर्थ है खाना; डॉ० वर्मा इसकी तुलना यूनानी शब्द 'edomai' (=मैं खाता हूँ) से करते हैं। इसी प्रकार 'चन्द्र' शब्द जिसका शाब्दिक अर्थ 'चमकदार' है वस्तुतः √चन्द् धातु से बना है जिसका अर्थ है चमकना। डॉ० वर्मा इसकी तुलना भारोपीय शब्द quand-(=चमकना) से तथा लैटिन शब्द 'candeo' (=मैं चमकता हूँ) से करते हैं। ऐसे सैकड़ों अन्य उदाहरण उक्त पुस्तक में हमें सुलभ हैं, जिनसे निरुक्ति-कोश बनाते समय सहायता ली जा सकती है।

मोनियर विलियम्स-कृत संस्कृत कोश, आप्टे का संस्कृत कोश तथा बार्टलिंक और रौथ-कृत संस्कृत कोश हिन्दी के निरुक्ति-कोश के निर्माण के लिए अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध होंगे। चार्ल्स और स्टीड के दोनों पालि कोश तथा मुनि रतनचन्द-कृत 'अर्द्ध मागधी कोश' भी हिन्दी व्युत्पत्तियों की खोज की दृष्टि से अथाह रत्नाकर के समान हैं। सेठ हर-गोविन्ददास-कृत 'पाइय सदद महण्णव' (प्राकृत-शब्द-महार्णव) मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार १९३४ में एशियाटिक सोसायटी बंगाल से प्रकाशित ग्रियर्सन-कृत 'प्राकृत धात्वा-देश' का भी बहुत महत्व है, जिसमें हेमचन्द्र, वररुचि, क्रमदीश्वर, रामशर्मन्, तर्कवागीश और मार्कण्डेय इत्यादि प्राकृत के वैयाकरणों द्वारा वर्णित १५९० धातुओं का अकारादि क्रम से वर्णन है। संस्कृत में प्रचलित अपभ्रंश शब्दों के अध्ययन की दृष्टि से फ्रैंकलिन एजर्टन-कृत बौद्ध संस्कृत का बृहद् कोश, 'ए डिक्शनरी आफ़ हाईब्रिड बुधिस्ट संस्कृत' भी उल्लेखनीय है। बंगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में प्रकाशित हार्नले का 'हिन्दी धातुओं की व्युत्पत्ति' विषयक लेख भी इस सम्बन्ध में उपादेय है। आगरा के हिन्दी विद्यापीठ की पत्रिका 'भारतीय साहित्य' में उसका अनुवाद प्रकाशित हुआ है। ज्योतिरीश्वर ठक्कुर-कृत 'वर्णरत्नाकर' मध्यकालीन शब्दों का अथाह सागर है। 'वर्णक समुच्चय' तथा माणिक्यचन्द्र सूरि-कृत 'पृथ्वीचन्द्र चरित' (विक्रम सं० १४७८) नामक प्राचीन गुजराती ग्रन्थों में भी प्राचीन हिन्दी के असंख्य शब्द मिलते हैं। ठक्कुर फेरू के 'द्रव्य परीक्षा' नामक ग्रन्थ में कई सौ मध्यकालीन सिक्कों का वर्णन मिलता है। डॉ० बाबूराम सक्सेना कृत 'इवोल्यूशन ऑफ़ अवधी' नामक ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। अवधी शब्दों के विकास पर इससे अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक कोई दूसरी पुस्तक नहीं है। हिन्दी ध्वनियों, क्रियाओं, कारकों पर एक संक्षिप्त अध्ययन हमें डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नामक पुस्तक में भी मिलता है। संस्कृत में द्रविड़ शब्दों की व्युत्पत्ति के विषय में श्री टी० बरो के अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए हैं (ट्रैनज़ैक्शन्स ऑफ़ दि फ़ाइलोलॉजिकल सोसायटी (१९४५) 'सम ड्रेवीडियन वर्ड्स इन संस्कृत' पृ० ७९-१२०)। हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' नामक पुस्तक देश्य शब्दों के लिए दृष्टव्य है। उदाहरण के लिए इसमें धोबी के अर्थ में 'परिअट्ट' शब्द का उल्लेख मिलता है। धोबी के अर्थ में प्रचलित अवधी शब्द 'बरैठा' की व्युत्पत्ति इससे समझ में आ जाती है।

हिन्दी शब्दों की निरुक्ति की दृष्टि से मेदिनी, वैज-यन्ती, अभिधान चिन्तामणि, कल्पद्रुम-कोश, विश्वप्रकाश-कोश इत्यादि अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे। क्योंकि ये मध्यकालीन कोश हैं जिनका निर्माण प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के समय में हुआ था; अतः इनमें तत्कालीन संस्कृत में प्रचलित प्राकृत तथा अपभ्रंश शब्द बहुतायत से मिलते हैं, जिनकी सहायता हिन्दी के निरुक्ति-कोश के निर्माण में ली जा सकती है। निरुक्ति-कोश के निर्माण में मध्यकालीन कोशों से सहायता लेना इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि बहुत से देशज शब्द अधिक प्रचलित हो जाने के कारण संस्कृत में उचित परिष्कार के साथ ले लिये गए थे और आज उनके विषय में लोगों को यह भ्रम है कि वे मूलतः संस्कृत के शब्द हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन संस्कृत साहित्य में कहीं भी 'उज्जयिनी' का उल्लेख नहीं मिलता। कालिदास के ग्रन्थों में 'अवन्तिका' का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः 'उजैणी' शब्द मालवे का मध्यकालीन देशज शब्द था, जिसे परिष्कृत करके 'उज्जयिनी' के रूप में संस्कृत में अपना लिया गया। स्वयं 'उजैणी' शब्द भी वस्तुत: 'उगैणी' शब्द से निकला था। मालवे तथा राजस्थान में 'ऊँगना' का अर्थ है सूर्योदय होना; 'उँगैणी' का अर्थ हुआ वह देश, जहाँ

सूर्योदय हो। मालवे तथा राजस्थान में 'आँथूणी' शब्द पश्चिम के लिए तथा 'ऊँगाणी' शब्द पूर्व के लिए प्रचलित है। उज्जैन में तो वहाँ के सूर्योदय के अनुसार 'दूसरा पंचांग ही प्रचलित है। यदि मध्यकालीन कोशों तथा उपयोगी साहित्य की अच्छी तरह छानबीन की जाए तो इस प्रकार के अनेक शब्दों के वास्तविक मूल उत्स पर प्रकाश पड़ सकता है।

महाराष्ट्र शब्दकोश की प्रस्तावना के अन्त में लगभग सवा दो सौ मध्यकालीन संस्कृत-कोशों की सूची दी हुई है। वे सब-के-सब निरुक्ति-कोश के निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध होंगे। पं० उमेशचन्द्र-कृत 'वैद्यक शब्द-सिन्धु', शालिग्राम-कृत 'निघंटु', शिवदत्त-कृत 'शिव-कोश' तथा 'रूप-निघंटु' आदि ग्रन्थों में औषध, वनस्पति आदि से सम्बन्धित शब्दों का भण्डार मिलता है। वाट-कृत 'डिक्शनरी ऑफ़ इकनॉमिक प्रोडक्ट्स' भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

अरबी, फ़ारसी, पहलवी, तुर्की और पश्तो से अनेक शब्द हिन्दी में आकर प्रचलित हो गए हैं, उदाहरण के लिए 'झागल' (छागल) शब्द पैर के एक आभूषण के लिए प्रचलित है। यह पश्तो से आया है। शेरशाह सूरी तथा अन्य अफ़ग़ान बादशाहों के शासन-काल में पश्तो शब्दों का व्यवहार बढ़ा और फलतः पश्तो के अनेक शब्द हिन्दी में घुल-मिल गए। यवन भाषाओं के शब्दों की निरुक्ति के लिए स्टाइनगास की बृहत् अरेबिक डिक्शनरी और पर्शियन डिक्शनरी, रेवर्टी की पश्तो डिक्शनरी, रेडहाउस की बृहत् तुर्की डिक्शनरी, काँगा, भरूचा आदि के पहलवी के कोश, जहाँगीर के समय में संकलित 'फ़हंग-ए-पहलवीक', बार्थोलोमाय-कृत प्राचीन ईरानी कोश, अब्दुल हक़ द्वारा आठ जिल्दों में सम्पादित 'फ़हरंग-ए-इस्तलाहात' इत्यादि उपयोगी होंगे।

अंग्रेज़ी-हिन्दुस्तानी शब्द-कोशों में जो शब्द-कोश इस प्रसंग में उल्लेख्य हैं उनमें प्रमुख हैं: 'ए ग्लॉसरी आफ़ इण्डियन जुडीशियल एण्ड रेवेन्यू टर्म्स एण्ड आफ़ यूज़फ़ुल वर्ड्स अकरिंग इन आफ़िशियल डाक्युमेंट्स रिलेटिंग टु दि गवर्नमेंट आफ ब्रिटिश इण्डिया', कारनेगी-कृत 'कचहरी टेक्निकैलिटीज़' विलियम क्रुक का 'ए रूरल एण्ड एग्रीकल्चरल ग्लॉसरी फ़ार दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ एण्ड अवध', जे० आर० रीड का 'आज़मगढ़ ग्लॉसरी', जाँविए, रेवरेंड न्यूटन आदि का 'लुधियाना पंजाबी डिक्शनरी' इत्यादि। काशी की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (सं० २०१५) में श्री अम्बाप्रसाद 'सुमन' का एक शोधपूर्ण लम्बा लेख 'ग्रामीण गाड़ियाँ और उनसे सम्बन्धित शब्दावली', शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जो इस विषय से सम्बन्धित शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी है। नगेन्द्रनाथ वसु द्वारा सम्पादित 'भारतीय हिन्दी विश्व-कोश' का भी उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा। इसमें आवश्यकतानुसार शब्दों की व्युत्पत्तियों तथा उनकी ऐतिहासिक परम्परा पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही उनसे सम्बन्धित प्राचीन साहित्य से उद्धरण आदि भी प्रस्तुत किये गए हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से जो हिन्दी विश्व-कोश तैयार हो रहा है वह इससे भी अधिक विस्तृत रूप में होगा और निरुक्ति-कोश बनाने में उससे भी अमूल्य सहायता प्राप्त होगी। यहाँ पर डॉ० हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनुवादित रिचर्ड पिशल-कृत 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', श्री शालिग्राम उपाध्याय द्वारा अनुवादित 'आचार्य हेमचन्द्र का अपभ्रंश व्याकरण' तथा डॉ० उलनर की 'ऐन इंट्रोडक्शन टु प्राकृत' भी उल्लेखनीय हैं। श्री विजयेन्द्र-कुमार माथुर का 'भारत की नदियों के नाम' शीर्षक लेख तथा डॉ० हेमचन्द्र जोशी का हाल ही में 'सरस्वती' में प्रकाशित शब्दकोश-सम्बन्धी लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं।

अंग्रेज़ी शब्दों की व्युत्पत्ति पर स्कीट आदि-कृत 'एटीमालोजिकल डिक्शनरी' के समान यदि हिन्दी में निरुक्ति-कोश का निर्माण हो सके तो यह हिन्दी के लिए परम सौभाग्य की बात होगी। 'हिन्दी निरुक्त' (श्री किशोरीदास वाजपेयी) इत्यादि जो प्रयास अभी तक हुए हैं, वे नितान्त अपर्याप्त हैं और इस विषय पर कार्य अभी नहीं के बराबर हुआ है। इंग्लैंड की 'इंग्लिश डाइलेक्ट सोसायटी', 'फ़ाइलोलॉजिकल सोसायटी' तथा 'प्लेसनेम सोसायटी' आदि की भाँति भारत में भी 'हिन्दी बोलियों की अध्ययन-समिति', 'भाषा वैज्ञानिक समिति' तथा 'स्थान-नाम-समिति' आदि की स्थापना होनी चाहिए। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ६३, अंक १, संवत् २०१५)

में 'हिन्दी भाषा के कोश-निर्माण की कुछ समस्याएँ' नामक एक गवेषणात्मक लेख लिखकर हिन्दी कोश-निर्माण की समस्याओं और तत्सम्बन्धी सुझावों की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित किया था तथा अनेक उपयोगी कोशों और ग्रन्थों के नाम गिनाए थे, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस लेख में भी हुआ है। अब समय आ गया है कि इस दिशा में कार्य कर हिन्दी के कोश-निर्माण के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की जाए। वस्तुतः इतना बड़ा कार्य किसी एक व्यक्ति के वश का नहीं है। यह कार्य तो गण्यमान्य संस्थाओं द्वारा ही सुचारु रूप से सम्पन्न किया जा सकता है। कार्य बहुत विशाल है, किन्तु असम्भव नहीं। इसके पूरा होने पर एक बहुत बड़े यज्ञ की सम्पूर्ति मानी जाएगी।

['भाषा' के सौजन्य से]
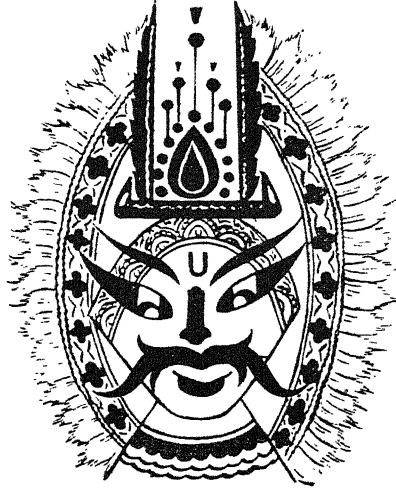
यशपाल

प्रगतिवादी दृष्टिकोण

यशपालजी का जन्म ३ दिसम्बर, १६०३ को जिला काँगड़ा के एक गाँव में हुआ। पिता की मृत्यु बचपन में ही हो गई। शिक्षा-दीक्षा और लालन-पालन माता के द्वारा हुआ। गुरुकुल काँगड़ी में पढ़ते रहे। फिर क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आये और शीघ्र ही क्रान्तिकारियों के नेता बन गए। अमर शहीद भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, राजगुरु आदि आपके साथी थे। पत्रकारिता और लिखने का शौक बचपन से ही था। सांडर्स बम-केस में आजीवन कारावास की सजा पाकर जेल गए तो वहाँ अपना सारा समय पढ़ने-लिखने में लगाने लगे। 'पिंजड़े की उड़ान' कहानियाँ वहीं लिखी गईं। १६३८ में छूटकर आये और पूरे समय लेखन-कार्य करने लगे। 'विप्लव' नाम का मासिक पत्र आरम्भ किया, जिसकी उन दिनों बड़ी धूम थी। हिन्दी-कहानीकारों में प्रेमचन्द के बाद आपका ही नाम सबसे पहले लिया जाता है। मार्क्सवादी विचारधारा के दृढ़ समर्थक हैं। 'दादा कामरेड', 'दिव्या', 'मनुष्य के रूप' और 'झूठा-सच' आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। सम्प्रति लखनऊ में रहते हैं।

साहित्य में दृष्टिकोण और वादों के भेद का आधार यही हो सकता है कि साहित्य को किन उद्देश्यों और आदर्शों के प्राप्त करने का साधन माना जाए। व्यक्तियों और समूहों के उद्देश्य और आदर्श जीवन के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं और महत्वाकांक्षाओं के अनुरूप होते हैं। जैसे समाज के जीवन की धारा और प्रक्रिया के नियमित होने में समाज के लक्ष्यों और आदर्शों का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही समाज के साहित्य में प्रतिबिम्बित उसकी मान्यताएँ और आदर्श समाज के भावी जीवन को रूप देने में और उसकी व्यवस्था निश्चित करने में सहायक होते हैं। साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में मतभेद हैं; परन्तु साहित्य के समाज का दर्पण होने की उसकी परिभाषा के सम्बन्ध में शायद ही मतभेद हो। साहित्य की यह परिभाषा ही उसके सप्रयोजन होने का प्रमाण है। मतभेद इसी बात में है कि साहित्य से किस प्रयोजन को प्राप्त किया जाए।

साधारण दर्पण का उपयोग उसके इस गुण के कारण होता है कि दर्पण के सामने किसी भी वस्तु के लाये जाने पर वस्तु का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ जाता है। दर्पण में अपनी प्रतिच्छाया देखकर हम भावशून्य या निष्क्रिय नहीं रह जाते। अपने में कोई भी विकार देखकर उसका निराकरण करने का या अपने विचार में अपने व्यक्तित्व को अधिक सँवारने का हम प्रयत्न अवश्य करते हैं। साधारण दर्पण में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब और प्रतिच्छायाएँ क्षणिक होती हैं; परन्तु साहित्य-रूपी दर्पण में पड़नेवाली छायाएँ चिरस्थायी बन जाती हैं। साहित्य के दर्पण में संचित समाज की प्रतिच्छायाओं की शृंखला ही समाज की साहित्यिक निधि होती है। अपनी साहित्यिक निधि में समाज केवल अपना वर्तमान रूप ही नहीं, अपनी परम्परा का विकास भी देख पाता है। अपनी अतीत की असफलताओं और निर्बलताओं के कारणों का विश्लेषण कर पाता है और साहित्य के माध्यम से अपने भावी जीवन की महत्वाकांक्षाओं को भी रूप देता है।

यह विश्वास किया जा सकता है कि किसी रूपवती के लिए किसी समय दर्पण में अपनी छवि देखने का प्रयोजन

केवल अपने रूप के गर्व से आत्मतोष या स्वान्तःसुख अनुभव करना ही हो। परन्तु ऐसी स्थिति किसी भी व्यक्ति के लिए शाश्वत अथवा सदा बनी रहनेवाली अवस्था नहीं हो सकती। कम-से-कम हमारे वर्तमान समाज की रूपश्री स्वान्तःसुखाय का प्रयोजन पूरा नहीं कर सकती।

स्वान्तःसुखाय साहित्य और कला की बात आज प्रगतिशीलों को मान्य नहीं हो सकती। परन्तु यदि कोई साहित्यिक इतने मनीषी हैं कि उन्होंने अपने अहं को जन-कल्याण के साथ एकसात कर लिया है तो उनका कला और साहित्य से स्वान्तःसुखाय प्राप्त करना स्वयं ही जन-कल्याण का अर्थात् साहित्य का स्वाभाविक मार्ग बन जाएगा। परन्तु 'केवल कला के लिए कला' की बात प्रगतिशीलों का समाधान इसीलिए नहीं करती कि साहित्यिक की दासता के विरोध में जिस समय यह बात कहने का साहस किया गया था, वह समय बदल चुका है। अतीत का साहित्य इस बात की गवाही है कि एक समय साहित्य देवताओं की स्तुति का, दूसरे समय शासक-वर्ग की प्रशस्ति का और फिर सन्तों का साहित्य संसार से पलायन का प्रबल साधन रहा है। जिस कलाकार ने कला को इन तीनों बन्धनों से मुक्त करके अपना ही उच्छ्वास बताने का साहस किया, वह अवश्य अपने समय का उदारचेता और प्रगतिवादी था। उस क्रान्तिकारी कलाकार की परम्परा को पूरा करने के लिए अगला कदम उठाना भी आवश्यक है; अर्थात् साहित्य को देवता स्थानीय शासक-वर्ग की सेवा से निकालकर कलाकार के अपने वर्ग, जनगण की अनुभूति और महत्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति का साधन बनाया जाए। यही प्रगतिशील लेखक की माँग है। समाज के अतीत लम्बे इतिहास में ऐसे बहुत अधिक समय नहीं आये जब समाज आत्मतुष्ट रहा हो। साहित्य ने सदा ही समाज में विचार करने के लिए उत्साह जगाकर और आचार के आदर्श उपस्थित करके समाज के कल्याण के लिए व्यवस्था की स्थापना और रक्षा के प्रयत्न में योगदान दिया है। आज जो लोग सचेत और जागरूक होकर अपने विश्वास के अनुसार समाज के आर्थिक और राजनीतिक कल्याण के लिए साहित्य के साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं, वे अपने-आपको प्रगतिशील पुकारते हैं। कुछ लोगों की भावना के अनुसार आजकल का प्रगतिवाद और प्रगतिशीलता एक विशेष राजनीतिक पक्ष का अनर्गल प्रचार होने के कारण विडम्बना का ही व्यंजक है। आधुनिक प्रगतिवाद को, और उसके दृष्टिकोण और साहित्यिक कार्य की विडम्बना करने के लिए अथवा उसका सफल विरोध करने के लिए भी प्रगतिशीलों की बात को सुन और समझ लेना उपयोगी हो सकता है।

प्रगतिवादियों की सबसे बड़ी माँग यह है कि वर्तमान साहित्य के रूप और उसकी भावनाओं को समाज की वर्तमान आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुकूल रूप दिया जाए और साहित्य का प्रयोजन जनगण की पराधीनता समाप्त करके उनके लिए आर्थिक और राजनीतिक आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त करना माना जाना चाहिए। साहित्य को आत्मिक और मानसिक आनन्द का ललित साधन-मात्र माननेवालों को ऐसी माँग साहित्य की हिंसा ही जान पड़ती है। प्रगतिशीलों की यह माँग साहित्य की हिंसा की भावना से पूर्ण है या नहीं, वे साहित्य का अनुचित प्रयोग कर रहे हैं या नहीं, इस बात की जाँच के लिए साहित्य की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए हमें अपनी उत्कृष्ट साहित्यिक निधि पर एक नज़र डाल लेनी होगी। अर्थात् साहित्य को समाज का दर्पण मानते हुए यह भी याद रखना होगा कि क्या आदिपुरुष मनु से लेकर कांग्रेस राज तक हमारे समाज का रूप और विधान एक-सा ही रहा है, क्या हमारे अमूल्य साहित्य में संरक्षित समाज के सब प्रतिबिम्बों का रूप एक-सा ही है और हमारे अति उत्कृष्ट अतीत साहित्य ने तत्कालीन व्यवस्थाओं के आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति कैसा व्यवहार किया था।

आजकल के उपेक्षा-योग्य प्रगतिवादियों के तर्कों की अपेक्षा कवि-कुल-गुरु कालिदास का उदाहरण ही अधिक मान्य होना चाहिए। रघुवंश के उन्नीसवें सर्ग में राजा अग्निमित्र के व्यवहार का शब्दचित्र कालिदास इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि राजमहलों से दिन और रात वीणा-मृदंग और नूपुरों की ध्वनि सुनाई देती रहती थी। मद्य की गन्ध से बसी मद्यशालाओं में राजा युवतियों को लेकर इस प्रकार प्रवेश करता था जैसे कमलिनियों से भरे सर में हाथी प्रवेश करता है। वह राजा महीनों राजप्रासाद से बाहर न निकलता। राजकर्मचारी और प्रजा राजा के

व्यक्तिगत सम्पत्ति बन रही थी, जिस समय कर की प्रणाली जन्म ले रही थी और व्यापार के आरम्भ के साथ ऋण की संस्था चालू होने लगी थी और अपने से पहले की व्यवस्था में विश्वास करनेवाले लोग उस समय प्रगति के इन कदमों का विरोध कर रहे थे, सत्य-हरिश्चन्द्र के आख्यान ने नई नैतिकता के प्रति आस्था जमाने में बहुत बड़ा काम किया होगा। ऐसी अवस्था में यदि प्रगतिशील लेखक अपने अनुभव से विवश होकर यह कहता है कि जीवन के सत्य और आदर्श शाश्वत नहीं परिवर्तनशील हैं, आज हमें नये सत्यों और आदर्शों को मान्यता देने के लिए साहित्य के साधन का उपयोग करना चाहिए, तो वह किस प्रकार अपराधी माना जा सकता है!

साहित्य को प्रचार का साधन बनाने की प्रगतिवाद की धृष्टता के उदाहरण हमारे सम्पूर्ण उत्कृष्ट साहित्य में नैतिकता और सद्विचारों को मान्यता देने की सुकृति के रूप में उपस्थित हैं। सामन्तवादी व्यवस्था के नैतिक मूल्यों को जनता की भावना और विश्वास में जमा देने के वे प्रयत्न कला में बोझल नहीं जान पड़ते, क्योंकि वे आदर्श हमारे संस्कारों में गहरी जड़ें पकड़कर हमारे लिए आदि और मौलिक नैतिकता का रूप ले चुके हैं। परन्तु जनवादी नैतिकता के लिए दुहाई देना कोरा प्रचार ही जान पड़ता है। उदाहरणतः आज भी पन्ना दाई की कहानी शाश्वत कला और सौन्दर्य का आदर्श मान ली जा सकेगी, परन्तु तनखाह कम कर दी जाने पर मालिक के दरवाजे पर प्रदर्शन करनेवाली दाई की कहानी प्रोपेगैण्डा मान ली जाएगी। सावित्री-सत्यवान की कहानी आज भी कला का आदर्श है, परन्तु पति के दुराचार के कारण तलाक की उपदेशिका बन जानेवाली आधुनिक युवती की कहानी प्रचार के सिवा और क्या होगी? परन्तु क्या इसमें कोई सन्देह किया जा सकता है कि सावित्री-सत्यवान के आख्यान ने पातिव्रत-धर्म की जड़ें जमाने में जो काम किया वह मनुस्मृति नहीं कर सकी होगी।

प्रगतिवाद को खूब अच्छी तरह से पहचानने के लिए उसे आदर्शवाद की तुलना में रखकर देखना आवश्यक है। आदर्शवाद की मान्यता है कि सत्य और आदर्श शाश्वत हैं। शाश्वत सत्य को प्राप्त करना और उन शाश्वत आदर्शों के अनुसार चल सकना मनुष्य के जीवन और समाज का लक्ष्य होना चाहिए। व्यावहारिक भाषा में यों कहा जा सकता है कि आदर्शवाद विचारों को जीवन के मार्ग का निर्णायक मानता है। इसलिए वह शाश्वत सत्य और सौन्दर्य की कल्पना और आराधना कर सकता है। आदर्शवादी साहित्यिक समाज और व्यक्तियों के स्थूल जीवन की उपेक्षा करके भी साहित्यिक प्रेरणा द्वारा समाज के जीवन को सुधार की ओर ले जाने की आशा करता है। वह जनता के चरित्र-निर्माण द्वारा देश के आर्थिक और राजनीतिक उत्थान की बात कर सकता है। प्रगतिवाद मनुष्य-समाज के विचारों को स्वतन्त्र रूप से जीवन का मार्ग निश्चय करनेवाला नहीं मान सकता। उसकी विचार-धारा का क्रम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। वह मनुष्य के विचारों को उसके समाज के भौतिक जीवन की प्रक्रिया और अनुभवों का परिणाम मानता है; इसलिए उसका विश्वास है कि परिवर्तन की जैसी परम्परा मनुष्य-समाज के भौतिक जीवन में रही है, परिवर्तन की वैसी ही परम्परा उसके सत्य और नैतिकता-सम्बन्धी विचारों और विश्वासों में भी रही है। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य किन्हीं अनादि और अपौरुषेय आदर्शों को प्राप्त करना नहीं है। आदर्शों और विचारों का प्रयोजन मानव-जीवन को विकास और पूर्णता की ओर ले जाना है। प्रत्येक समाज का दर्शन और विचार-धारा उसके भौतिक ज्ञान और साधनों के अनुपात में ही विकसित होते हैं। शिकार से जीवित रहनेवाले, अग्नि और जल को भाग्य-विधाता मानकर इनकी पूजा के लिए बलि चढ़ानेवाले समाज से अद्वैतवाद के सिद्धान्तों और निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए प्रगतिवाद समाज की बदल चुकी परिस्थितियों में मनुष्य-समाज द्वारा प्राप्त ज्ञान और अनुभव के आधार पर साहित्य को नये आदर्शों और नैतिकताओं को मान्यता देने और उन्हें प्राप्त करने का साधन बनाने में नहीं हिचकता।

इतिहास और मनुष्य-समाज के अनुभव इस बात के गवाह हैं कि भिन्न-भिन्न समाजों के सत्य, न्याय और उनकी नैतिकताएँ उनकी विशेष अवस्थाओं से उत्पन्न होती रही हैं और उनका प्रयोजन समाज द्वारा स्वीकृत व्यवस्था के प्रति आस्था बनाए रखना ही होता है। आदिम समाजों

में सम्पूर्ण भूमि और उत्पादन के साधनों को साझी सम्पत्ति माना जाता था और उनकी दृष्टि में उत्पादन के साधनों को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाने की इच्छा पाप थी । कुल या समाज के व्यक्तियों के समान अधिकार उस व्यवस्था का आधार थे । वेदों में आपको ऐसे अनेक मन्त्र मिलेंगे जो इस प्रकार की नैतिकता का उपदेश देते हैं । सामन्तवादी काल में दास-प्रथा का ईश्वरीय विधान माना जाना और अनेक छोटे-छोटे राजाओं की प्रतिद्वन्द्विता से व्याकुल समाज का बड़े-बड़े सम्राटों के शासन को अपने कल्याण के लिए आदर्श व्यवस्था समझना और सम्राट को ईश्वर का प्रतिनिधि मान लेना दूसरे समय का शाश्वत सत्य और मौलिक न्याय था । इसके पश्चात् व्यापार द्वारा औद्योगिक विकास के युग में मनुष्य-मात्र की समता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को उनका जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया जाना इस बात का प्रमाण है कि शाश्वत सत्य और नैतिकता के आधार समाज के मौलिक हितों को प्राप्त करना ही होता है ।

हम यह भी नहीं भूल सकते कि समाज के लिए उपयोगी सत्यों, न्यायों और नैतिकताओं के निरूपण का अधिकार भी उसी वर्ग के हाथ में रहता है, जो समाज की व्यवस्था निश्चित करता है । समाज की व्यवस्था निश्चित करने का अधिकार समाज के निर्वाह के लिए आवश्यक उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से होता है । इसी ऐतिहासिक परिस्थिति का यह परिणाम है कि जैसे महाराज विक्रमादित्य, भोज और अकबर अपने दरबार के नवरत्नों को लेकर देश की नैतिक और राजनीतिक व्यवस्था कर सकते थे, बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के राष्ट्रपति अपने से पूर्व के सभी शासकों से विस्तृत भूखंड के वैधानिक शासक होते हुए भी नहीं कर सकते । वैसे ही इस युग का लेखक सम्राटों के एकाधिकार, वंशानुक्रम के राज्य, और उत्तराधिकार के ईश्वरीय विधानों का गुण-गान नहीं कर सकता और न ही उनकी आनुषंगिक सामाजिक नैतिकताओं, राजा-प्रजा और स्वामी-सेवक के सम्बन्धों की पवित्रता और शाश्वतता का गीत गा सकता है । साहित्य में प्रगतिवाद जनतन्त्र और जनवाद के युग की उपज है । इसलिए प्रगतिवाद और प्रगतिशील लेखक का यह जन्म-धर्म है कि वह जनवाद के सिद्धान्तों और प्रणाली को सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के क्षेत्र में भी बढ़ाए, क्योंकि समाज की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के मूल उसकी आर्थिक व्यवस्था में ही रहते हैं ।

साहित्य में सौन्दर्य की पूजा करनेवालों का प्रगतिशील लेखकों के प्रति यह आरोप है कि उन्होंने साहित्य को सौन्दर्य की अपेक्षा विरूपता और उबकाई पैदा करनेवाली सामग्री ही दी है । जिस साहित्य में कमल-वनों, कमलामुखियों, भव्य प्रासादों और दिग्विजयों का वर्णन रहता था, उस साहित्य को प्रगतिशील लेखकों ने वस्त्रहीन क्षुधा-पीड़ितों की रोटी के लिए हाय-हाय से भर दिया है । कालिदास और भवभूति जहाँ मद से भूमती और आसव से गन्धाती नारियों के नीवि-बन्धन खुल जाने का और विरह के उच्छ्वासों का वर्णन करते थे, वहाँ प्रगतिशील लेखक वैधव्य से सताई और लादे गए संयम से क्षुब्ध युवती के गुप्त व्यभिचार का दर्शन कराता है । जहाँ प्राचीन कलाकार सम्राटों के अश्वमेध कर सभी राजाओं के राज्य जीतकर, केवल उनका यश ही शेष रखकर उनके राज्य लौटा देनेवाले राजाओं की कीर्ति के गीत गाता था, वहाँ आज का प्रगतिशील कलाकार चोरबाजारी के शिकार, भूख से तड़पते मध्यम और निम्नवर्ग का वर्णन करता है । प्राचीन साहित्य के आदर्शों और मान्यताओं की कसौटी के अनुसार ऐसा अनुचित है । तत्कालीन साहित्यिक आदर्शों के अनुसार साहित्य के लिए नायक का देव-पुरुष, राजा या धीरोदात्त होना उचित था । तत्कालीन कलाकार के लिए ऐसे आदर्श उचित थे क्योंकि वह कलाकार समाज के स्वामी धीरोदात्त शासक-वर्ग का ही पुरोहित और चारण था । उन्हीं की तृप्ति के लिए वह साहित्य की रचना करता था । आज का कलाकार, विशेषकर प्रगतिशील कलाकार, उस धीरोदात्त समाज का नहीं बल्कि मज़दूरी के लिए मिल के फाटक पर गिड़गिड़ानेवाले, भूमि के लिए छटपटानेवाले और फुटपाथ की सेज पर रमण करनेवाले समाज का वकील और चारण है । वह अपने समाज की ही समस्याओं का चित्रण करेगा, उनकी सन्तोष और आत्म-निर्णय का अधिकार पाने की महत्त्वाकांक्षाओं की ही वकालत करेगा । प्राचीन कलाकार का काम अपने समाज के शासन और अभियोग के अधिकारी की रक्षा करनेवाली मान्यताओं

को बैठाना था, आज के कलाकार का काम जनगण अथवा इतर जन के जीवित रह सकने के अवसर और अधिकार के लिए संघर्ष करना है। क्या हमारे आदर्शवादी साहित्यिक पक्ष को आज भी प्राचीन कलात्मक धारणाएँ मान्य हैं? 'साहित्य-दर्पण' के अनुसार साहित्य में उपले थापनेवाली का वर्णन अथवा चरखे का वर्णन ही ग्राम्यदोष था। बलिहारी है समय की और इस देश के राष्ट्रपिता की, कि वह चरखा ही इस देश की राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के संग्राम का प्रतीक बन गया। और कम-से-कम कहने को तो दरिद्रनारायण की पूजा की महिमा अश्वमेध-यज्ञ की महिमा से बड़ी मान ली गई। प्रश्न यही है कि साहित्य और कला हैं किसके लिए? जिस समय ये वस्तुएँ दरबार और रंगशाला की सीमा के भीतर की ही चीज़ें थीं, वे गमले में यत्न से पोसे गए गुलाबों की भाँति हो सकती थीं; परन्तु जब वे जंगल और मैदान की अथवा जन-साधारण की वस्तु बन रही हैं तो उनमें मौलसिरी और बबूल दोनों की ही कुछ-कुछ सादृश्यता आएगी। इसके लिए प्रगतिशील कलाकार को दोष देकर उसे अपने धर्म से च्युत करने का यत्न व्यर्थ है।

प्रगतिशील कलाकार पर एक भयंकर आरोप यह है कि वह अपनी संस्कृति और दर्शन की परम्परा की उपेक्षा कर विदेशी विचार-धारा और भावना की ओर आकर्षित हो रहा है। वह विदेशी विचार-धारा और संस्कृति की कलमें इस पुण्यभूमि के सांस्कृतिक उद्यान में लगा देना चाहता है। वह आध्यात्मिक शान्ति की केसर की क्यारी में द्वन्द्व और भौतिकता के धतूरे बो रहा है। यदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का अथवा उसके परिणामस्वरूप समाजवादी जीवन-प्रणाली का विरोध इसलिए किया जाए कि उससे समाधान नहीं होता तो यह विरोध उचित है, क्योंकि यह व्यक्ति का न केवल विचार-स्वतन्त्रता का अधिकार है, बल्कि समाज के प्रति विचारक का यह कर्त्तव्य भी हो जाता है कि सामर्थ्य-भर सत्य को पाने में योग दे। परन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और समाजवादी जीवन-प्रणाली और संस्कृति का विरोध केवल उसे विदेशी बताकर करना आत्मघाती संकीर्णता और मूढ़ता का हठ है। ज्ञान, दर्शन और संस्कृति को भौगोलिक सीमाओं में बाँटना और बाँधना समाज के विकास के ऐतिहासिक क्रम की अवज्ञा करना है। संसार के सभी समाजों और देशों में पाया जानेवाला ज्ञान किसी भी देश की पूर्ण रूप से अपने ही देश के भीतर की सीमाओं की उपज नहीं है। मानव-संस्कृति के सोपान की भिन्न-भिन्न सीढ़ियों को भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न देशों ने पूरा किया है। रूप-रंग के कुछ स्थानीय भेदों के बावजूद सम्पूर्ण संसार की संस्कृति सम्पूर्ण मानवता की साझी सम्पत्ति है। इस समय देश ने द्वीप-द्वीपान्तर तक अपने ज्ञान की सम्पत्ति उदारता से बाँटी थी और इस देश का पूरा अधिकार है कि जिस संस्कृति की वृद्धि में इसने योगदान दिया है, उसका पूरा भाग यह भी पाए। संस्कृति है क्या? संस्कृति है जीवन की प्रणाली और उससे सम्बन्धित विचारधाराएँ। किसी भी देश की जीवन-प्रणाली और संस्कृति अपरिवर्तनशील नहीं रही। वाल्मीकि, कालिदास, हर्ष, जायसी, तुलसी के साहित्य में प्रतिबिम्बित हमारे समाज के चित्र हमारी आज की जीवन-प्रणाली से भिन्न होने पर भी हमारी परम्परा की नींव-रूप हैं। इन परिवर्तनों का कारण रहा है हमारे जीवन-निर्वाह के साधनों और सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आ जाना। जीवन-निर्वाह के साधन ही भिन्न-भिन्न युगों में अर्थात् आदिम समाज, सामन्तवादी समाज और पूँजीवादी समाज में समाज की जीवन-प्रणाली और संस्कृति का रूप निश्चित करते रहे हैं। यन्त्र-प्रधान युग की संस्कृति को किसी देश-विशेष की या पश्चिमी संस्कृति न कहकर औद्योगिक या यान्त्रिक संस्कृति कहना ही उचित है। इसी प्रकार पूँजीवादी प्रजातन्त्र की संस्कृति को इंग्लैंड या अमरीका की संस्कृति और समाजवादी प्रजातन्त्र की संस्कृति को, जिसमें पैदावार के साधन का स्वामित्व भी सार्वजनिक हो जाता है, रूस या चीन की बपौती नहीं कहा जा सकता। कोई भी देश अपने भौतिक साधनों और चेतना के विकास के अनुसार किसी एक संस्कृति की अवस्था को पार करके दूसरी को अपना सकता है। एक देश दूसरे देश का अनुकरण नहीं करता, परन्तु सभी देश दूसरे देशों के अनुभव से सीखते जरूर हैं। सीखना-सिखाना, ज्ञान का आदान-प्रदान सांस्कृतिक विकास का आवश्यक और अनिवार्य मार्ग हैं। अपनी संस्कृति के गर्व में हम आज खड़ाऊँ पहनकर

और धनुष-बाण का सन्धान करके आत्म-रक्षा के लिए भरोसा नहीं कर सकते। यदि हम एटम के विज्ञान और साधनों को अपनाने की बात सोचेंगे तो हमारा जीवन और विचार-प्रणाली चकमक पत्थर और तकली पर भरोसा करनेवाले समाज-जैसी नहीं रह सकेगी, न हम सहस्रों युवतियों से रमण करनेवाले राजाओं के चरित्र पर मुग्ध हो सकेंगे। जब हम पैदावार के काम को सामूहिक और सामाजिक रूप में करेंगे पैदावार के साधनों के सामाजिक स्वामित्व की बात भी उठेगी। सार्वजनिक चुनावों के आधार पर प्रजातन्त्र द्वारा शासन चलाते समय या बनियाराज कायम करते समय हमें यह भय नहीं लगा कि हम पश्चिमी संस्कृति द्वारा दब रहे हैं तो उससे अगला कदम उठाते समय हम विदेशी संस्कृति का बवंडर क्यों खड़ा कर रहे हैं!

सभी समाज जीवन को अधिक सफल और सशक्त बना सकने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण जीवन-निर्वाह के साधनों के विकास को अपनाते जाते हैं। हम अपने समाज में भी आज राष्ट्रीय समस्याओं के लिए औद्योगीकरण की पुकार सुनते ही हैं। ऐसा भी होता है कि संस्कार और परम्परा के मोह के कारण हम नये की निन्दा करते हुए भी जीवन की आवश्यकता के कारण अचेत रूप से पुराने को छोड़कर नये को अपनाते जाते हैं। प्रगतिशील लेखक का सुझाव है कि हमारे समाज में होनेवाली यह प्रगति उलझन और भटकन से भरे अचेत ढंग से न होकर सुव्यवस्थित सचेत ढंग से हो। हम यह जानते हैं कि समाज अपने ज्ञान के विकास से ऐसे साधनों का विकास कर चुका है जिनसे मनुष्य-मात्र को सुविधा से सन्तोष पाने का अवसर मिल सकना चाहिए, परन्तु पुरानी पड़ चुकी पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था समाज को उन साधनों के समुचित उपयोग का अवसर नहीं देती, बल्कि पारस्परिक होड़ और दूसरों को मिटाकर स्वयं जीवित रहने के मार्ग पर चल रही है। यह व्यवस्था मनुष्य-समाज को संकट में फँसा रही है और समाज के विकास की शक्ति को नष्ट कर रही है। इसलिए प्रगतिशील लेखक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह साहित्यिक साधनों द्वारा समाज का विनाश करनेवाली प्रवृत्तियों के प्रति सतर्कता और विरोध पैदा कर शान्तिपूर्वक विकास और निर्माण की भावना को प्रोत्साहित करे। साहित्य में प्रगतिशील लेखक का यही दृष्टिकोण है।

प्रगतिशील साहित्यिक के अपने लक्ष्य का ध्यान रखने और साहित्य को उस प्रयोजन के लिए उपयोग में लाने का यह अर्थ नहीं है कि वह साहित्य को सामाजिक उन्नति का नुसखा और नारा ही बना दे। अपने लक्ष्यों की दृष्टि से प्रगतिशील लेखकों के वही कर्त्तव्य हैं जो समाज के किसी भी दूसरे व्यक्ति के होने चाहिए, परन्तु साहित्यिक होने के नाते उसका कर्त्तव्य साहित्य की कलात्मकता और श्री-वृद्धि में योग देना भी है। यदि वह अपने इस कर्त्तव्य की उपेक्षा करता है तो वह अपने साधन की शक्ति को खोकर कर्त्तव्य-रूपी संग्राम के मैदान में निहत्था और बेकाम हो जाता है। प्रगतिशील साहित्यिक अपने इस कर्त्तव्य के प्रति बे-खबर तो नहीं है, परन्तु उसके प्रयत्नों को गलत कसौटियों पर कसकर उसके प्रति विडम्बना की धारणा बना ली जाती है।

उदयशंकर भट्ट

एकांकी नाटक साहित्य

श्री उदयशंकर भट्ट का जन्म जिला बुलन्दशहर के एक गाँव करनवास में ३ अगस्त १८९८ को हुआ था। अनेक वर्षों तक आप लाहौर में अध्यापन-कार्य करते रहे। भगतसिंह आदि कई चोटी के क्रान्तिकारियों को आपने पढ़ाया है। साहित्य की आराधना लाहौर से ही आरम्भ हुई जो अब तक अबाध गति से चलती जा रही है। भट्टजी की नाटक, एकांकी, कविता और उपन्यास में एक-सी गति है। आपका पहला एकांकी नाटक-संग्रह 'अभिनव एकांकी नाटक' के नाम से सन् १९४० में प्रकाशित हुआ था। तब से आपके कई एकांकी प्रकाशित हो चुके हैं। भट्टजी सामाजिक वैषम्य के अन्तर्निहित विषाद का मर्मस्पर्शी चित्रण करने में बड़े सिद्ध-हस्त हैं। 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य', 'क्रान्तिकारी', 'पर्दे के पीछे,' 'सागर लहरें और मनुष्य','एक नीड़ दो पंछी' आदि आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। आजकल दिल्ली में निवास करते हैं।

मनुष्य के असीम जीवन में साँस के प्रादुर्भाव होने के साथ-साथ सुख-दुःख, इच्छा-आकांक्षा आदि जो अरूप रूप उत्पन्न हुए, उनके साथ ही मनुष्य के निहित वाङ्मय ने प्रस्फुटित होने का मार्ग खोजा। वह वाङ्मय सुख-दुःख, राग-द्वेष की अभिव्यक्ति-मात्र था। वही अभिव्यक्ति धीरे-धीरे प्रौढ़ होती हुई जीवन में साँस के समान साहित्य बनकर प्रकट हुई। साहित्य ने जहाँ कर्म, आचार, मर्यादा का उद्घोष किया वहाँ उसने मनुष्य के राग, द्वेष, कपट को भी व्यक्त किया। एक तरह से साहित्य भी मनुष्य के जीवन का प्रतिचित्रित रूप होकर विकसित हुआ। मेरा विचार है, इस अभिव्यक्ति का प्रेरणा-स्रोत हमारे जीवन का नाटक है। जो कुछ हमारे भीतर था, जब बाह्य रूप से प्रकट हुआ और उसकी प्रतिकृति या अनुकृति ने अपना मार्ग खोजा, तभी से नाटक की उत्पत्ति हुई। इस दृष्टि से नाटक गीत और काव्य-सृष्टि से भी प्राचीन कहा जा सकता है, क्योंकि नाटक जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति थी, जब कि गीत-तत्त्वों के लिए विशेष प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता थी।

एकान्त क्षणों में, काम करके थककर लौटने के बाद, मनुष्य ने जब सुख या आनन्द की प्राप्ति के लिए पहले-पहल कुछ सोचा होगा, वह उद्गार निश्चय ही नाटक और गीत की मूल प्रेरणा बना होगा। यह कहना कठिन है कि नाटक के बाद में गीत-तत्त्व विकसित हुआ कि पहले। हो सकता है कि इन दोनों का प्रेरणा-स्रोत एक ही हो और एक ही मूल उद्गम से इनका प्रादुर्भाव हुआ हो। फिर भी इतना मानना ही पड़ेगा कि नाटक के तत्त्व जीवन की अनुकृति से प्रारम्भ हुए हैं, वही अनुकरण छन्द के माध्यम से नाटक-रूप में विकसित हुआ। कदाचित् इसीलिए संस्कृत-साहित्य में कवि को ही नाटककार माना गया है।

आज से सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक-काल में भी नाटक पूर्ण रूप से हमारे देश में विद्यमान था। किन्तु नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका सर्वप्रथम विवरण भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में ही मिलता है। भारत के 'नाट्य-शास्त्र' में पहले ही अध्याय में नाट्योत्पत्ति की कथा इस प्रकार दी गई है :

एक दिन नाट्य का मर्म जाननेवाले भरत पूजा-पाठ समाप्त करके पुत्र-पौत्रों से घिरे हुए छुट्टी मना रहे थे। उसी दिन आत्रेय आदि तपस्वी और बुद्धिमान लोग उनके पास आये और पूछने लगे, 'ब्रह्मन्, आपने जो वेद-सम्मत

नाट्य वेद का सम्पादन किया है वह क्यों, किस लिए और किसके लिए रचा गया था, उसके कितने अंग हैं, उसके क्या-क्या प्रमाण हैं और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है ? ये सब बातें आप हमें पूरी-पूरी बताने की कृपा कीजिए।' उन मुनियों की बात सुनकर भरत मुनि ने नाट्य वेद के उत्पन्न होने की कथा इस प्रकार कही, 'ब्रह्माजी ने अन्य वेदों को बनाया है, उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह आप सुनें : स्वयम्भू मनु का सतयुग बीतने और वैवस्वत मनु का त्रेतायुग आरम्भ होने के समय संसार में ऐसी अव्यवस्था हो गई कि सभी लोग बुरे कार्य करने लगे और काम, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध आदि में फँसे हुए जिस किसी प्रकार सुख-दुःख में जीवन बिताने लगे। इसी बीच लोक-पालों से पाले जानेवाले इस जम्बू द्वीप पर देव, दानव, यक्ष और नागों ने धावा बोल दिया और वे यहाँ आकर बस गए। उन्हीं दिनों इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर कहा, "हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं जो सुना भी जा सके और देखा भी जा सके; अतः आप एक ऐसा पाँचवाँ वेद बनाइए, जिसमें सब वर्ण के लोग उसमें आनन्द ले सकें।" यह प्रस्ताव स्वीकार करके और इन्द्र को विदा देकर तत्वज्ञ ब्रह्मा ने समाधि लगाकर चारों वेदों का स्मरण किया। स्मरण करके उन्होंने संकल्प किया कि मैं इतिहास से युक्त ऐसा नाट्य नाम का वेद बनाता हूँ जिसमें धर्म, अर्थ और यश मिलेगा, जिसमें सुन्दर उपदेश भरे होंगे, जिसके द्वारा आगे आनेवाले संसार के सब कार्यों का रूप दिखाया जा सकेगा, जिसमें सभी शास्त्रों का ज्ञान भरा होगा और जिसमें संसार की सब कलाओं का प्रदर्शन हो सकेगा। इस संकल्प के अनुसार सब वेदों का स्मरण करते हुए ब्रह्मा ने चारों वेदों से उत्पन्न 'नाट्य वेद' बनाया। उन्होंने ऋग्वेद से पढ़ने या बोलने का अंश लिया, साम वेद से गीत लिये, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से शृङ्गार आदि रस लिये। इस प्रकार ब्रह्मा ने वेद और उप-वेदों से सम्बन्ध रखनेवाले, सभी पूर्णताओं से युक्त इस 'नाट्यवेद' का निर्माण किया।

लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में 'भावप्रकाशनम्' के रचयिता शारदातनय ने अपने गुरु नाट्यशालाधिपति दिवाकर से जितने प्रकार के नाट्य-शास्त्र सीखे थे, उनका कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख करते हुए वे ग्रन्थ के आरम्भ में ही कहते हैं :

"सदाशिव, शिव, पार्वती, गौरी, वासुकि, सरस्वती, नारद, अगस्त्य, व्यास, हनुमान तथा भरत और उनके शिष्यों के जितने नाट्य-सम्बन्धी मत थे, उन सबके साथ पूरा नाट्य-वेद उन दिवाकर ने प्रसन्न होकर अपने शिष्य शारदातनय को सिखाया।"

आगे संगीत की उत्पत्ति की कथा देते हुए 'भावप्रकाशनम्' के दशम अधिकार में कहा है :

"अत्यन्त प्राचीन काल में मानवीय जगत के स्वामी स्वयंभू मनु ने अपने पिता सूर्य से कहा, 'आप कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे राज्य की चिन्ताओं में पड़ा हमारा मन बहले।' इस पर सूर्य ने कहा, 'सृष्टि का सृजन कर चुकने पर ब्रह्मा भी यही प्रार्थना लेकर महाविष्णु के पास गये थे, महाविष्णु ने उन्हें शिव के पास भेज दिया, शिव ने अपने गण नन्दी को बुलाया, जिसने पहले ही शिवजी से गन्धर्व विद्या सीख ली थी। शिव ने उसे आज्ञा दी कि गन्धर्व वेद के सब तत्त्व ब्रह्मा को बता दो। ब्रह्मा जब सब-कुछ सीखकर लौटे तो उन्होंने एक नट की कल्पना की। तत्काल पाँच शिष्यों के साथ एक मुनि वहाँ आकर प्रकट हो गए। सरस्वती वहाँ बैठी हुई थीं। ब्रह्मा ने मुनि और उनके शिष्यों से कहा कि आप लोग यह नाट्य-वेद ग्रहण कर लीजिए। उन्होंने सांगोपांग नाट्य-वेद सीखकर गीत और रसों से भरे हुए अनेक नाटक दिखाकर ब्रह्मा को प्रसन्न किया। नाट्य-वेद के प्रति उनकी रुचि और भक्ति को देखकर ब्रह्मा ने उन्हें वरदान दिया कि आप लोग तीनों लोकों में 'भरत' कहलाएँगे और नाट्य-वेद भी तुम्हारे ही नाम पर 'भरत' कहलाएगा।

"अपने पिता सूर्य से यह कथा सुनकर स्वयंभू मनु ने ब्रह्मा से नाट्य-वेद के लिए प्रार्थना की। ब्रह्मा ने उन भरतों को आज्ञा दी कि तुम लोग मनु के साथ भारतवर्ष में चले जाओ। भारतवर्ष में आकर उन लोगों ने अयोध्या में डेरा डाला। देवताओं की रंगशाला में जिन देवताओं की कथाओं के नाटक खेले जाते थे, वे सब उन्होंने अयोध्या में खेले। इन्हीं भरतों के शिष्यों ने धीरे-धीरे भारत के विभिन्न प्रदेशों में नाट्यशास्त्र का प्रचार किया। तब मनु

के कहने से इन भरतों ने नाट्य-वेद का सारांश दो ग्रन्थों में एकत्र करके रखा। इनमें एक है 'द्वादस-साहस्री' और दूसरा है 'षट्-साहस्री'। इन दोनों ग्रन्थों में से 'षट्-साहस्री' वही है जो भरत का 'नाट्य-शास्त्र' कहलाता है।"

इन सब विवरणों से इतनी बातें सिद्ध होती हैं :

१. नाट्य का जन्म संसार की चिन्ताओं को भुला देने के उद्देश्य से हुआ।

२. ब्रह्मा इसके आदि-सृष्टा या आदि-प्रचारक हैं।

३. वेदों के तत्त्व मिलाकर ही नाट्य की सृष्टि की गई है।

४. आदि-नाट्य के पाठ्य, गीत, अभिनय और रस ये चार अंग होते हैं।

५. नाटक का द्वार सबके लिए खुला था।

इस तरह नाटक का प्रचार और प्रसार प्राचीन वैदिक-काल से लेकर संस्कृत-काल तक होता रहा। संस्कृत-काल का नाटक बड़ा प्रौढ़ और महान रहा है। इस काल में प्रायः सभी प्रकार के नाटक खेले जाते थे। यदि एक ओर राजनीति, समाज-नीति और धर्म-नीति को आधार मानकर नाटकों की रचना होती थी, तो दूसरी ओर मनोरंजन, उपदेश, जन-नीति और वास्तविक रस-सृष्टि ही नाटकों का उद्देश्य रहा। भास के नाटकों में ही हमें ये सब प्रकार प्राप्त हो सकते हैं। इसके साथ-साथ कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष के नाटकों की परम्परा एकदम मनोरंजन-प्रधान और धार्मिक वातावरण को सुरक्षित मनाती चली आई है। इसके बाद 'मृच्छकटिक', 'मुद्राराक्षस', 'वेणी-संहार' आदि नाटकों ने उपर्युक्त परम्परा को तोड़कर नई शैली, नई अभिव्यक्ति दी, जो आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है। संस्कृत में एकांकी नाटक था। नाटक के भेदों में अंक, भाण व वीथी आदि इस प्रकार के नाटक थे जो एकांकी नाटक भी कहे जा सकते हैं।

वस्तुतः संस्कृत के वे नाटक आगे चलकर लुप्त हो गए या उनका प्रचार एकदम समाप्त हो गया। आज उन नाटकों के कहीं केवल लक्षण ही मिलते हैं; अतः संस्कृत के कुछ प्रमुख नाटकों को छोड़कर उसके सम्पूर्ण नाटक साहित्य का न जाने कैसे लोप हो गया। मेरा मत है कि हमारे नाटक साहित्य के ह्रास के कारण हैं विजातीय आक्रान्ताओं द्वारा नाटक साहित्य को नष्ट करना, क्योंकि बाहर से आनेवाली जाति के साहित्य में नाटक नहीं था; और यह असम्भव था कि वे पराजित जाति को, अपने धर्म में वर्जित, नाटक खेलने या अभिनीत करने देते। इस तरह जो कुछ शेष बचा वह गुरु-शिष्य परम्परा से पढ़े जाने या घर में सुरक्षित रखने के कारण रहा। साधारण नाटक, जिनके 'साहित्य-दर्पणकार' ने बावन भेद किये हैं, लुप्त हो गए। फिर भी हमें मानना चाहिए कि हमारे यहाँ नाटक-परम्परा संसार-भर के नाटक-साहित्य से श्रेष्ठ रही है। आज भी हमारे यहाँ नाटक खेलनेवाली नट, शैलूष, नायक, नर्तक, कत्थक आदि कई जातियाँ हैं जो वास्तविक नाटकों के अभाव में दूसरे तरह के खेल करके अपना जीवन-निर्वाह करती हैं।

एकांकी नाटक का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। कुछ लोग इसे संस्कृत साहित्य की तथा अन्य लोग पाश्चात्य साहित्य की देन मानते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि संस्कृत-साहित्य में नाटक का पूर्ण रूप से विकास हो चुका था। इसके सम्बन्ध में भरत के 'नाट्य-शास्त्र' तथा 'अग्नि-पुराण' में विस्तार से लिखा गया है। संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में भी नाटक और उसके भेद-उपभेदों का काफी वर्णन मिलता है। ज्ञात होता है कि संस्कृत नाटक नियमों में बँधकर लिखे गए हैं; नाटकों के विस्तार के अनुसार नियम नहीं बने हैं। फिर उन नियमों का इतना फैलाव है कि प्रायः प्रत्येक प्रकार के नाटक उन नियमों में बँध जाते हैं। निश्चय ही प्रारम्भ में जो नाटक अभिनीत होते थे उन्हीं की सम्भावनाओं को आधार मानकर भरत-जैसे नाट्याचार्य ने नियमों का निर्माण किया होगा।

संस्कृत नाटकों को प्रायः 'रूपक' संज्ञा दी गई है। इस 'रूपक' का अर्थ है रूप धारण करना। चार प्रकार से रूप धारण किया जाता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। **आंगिक** का अर्थ है, अंग की चेष्टाओं द्वारा अभिनय करना; आंगिक तीन प्रकार का है—शरीर से अभिनय करना, मुख से अभिनय करना, तथा वैसी चेष्टा बनाकर। सिर, हाथ, पार्श्व, कमर, पैर चलाकर जो अभिनय किया जाता है वह आंगिक अभिनय कहलाता है। दूसरा है **वाचिक**—वाणी द्वारा। वाणी में क्रोध, ईर्ष्या,

प्रेम, पौरुष प्रकट करके जो अभिनय किया जाता है वह वाचिक अभिनय कहलाता है। **आहार्य** से तात्पर्य वैसी ही सौन्दर्यानुभूति से है। **सात्त्विक** में स्वाभाविक रूप-विकारों से अभिनय किया जाता है।

साधारणतया संस्कृत साहित्य में नाटक के दस भेद हैं : नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी, प्रहसन; और अठारह उपरूपक, अर्थात् छोटे नाटक, नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, पंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश, भाणिका। इनमें अंक, भाण, वीथी, व्यायोग ऐसे नाटक हैं जिन्हें हम एकांकी का नाम दे सकते हैं। **अंक** का स्थायी करुण रस होता है, जिसमें स्त्रियों का व्यापार, उनका विलाप, इतिहास-प्रसिद्ध कथा द्वारा प्रयुक्त होता है। **भाण** धूर्तों के चरित्र को आधार मानकर लिखा जाता है। इसमें अकेला विट अपनी चतुराई से रंगभूमि पर दूसरों की बातों को बतलाता रहता है। बातचीत आकाशभाषित द्वारा चलती है। **वीथी** में एक कल्पित नायक आकाशभाषित द्वारा बातचीत करके प्रेमी की व्यथा को प्रकट करता रहता है। **व्यायोग** इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होता है। इसमें स्त्री पात्र कम होते हैं।

प्रहसन भी एकांकी में लिखे जाते थे, इन्हें **संकीर्ण प्रहसन** भी कहते हैं। इसके पात्र निम्नकोटि के तथा इसमें हास्य रस प्रधान होता है। **गोष्ठी, नाट्य रासक, उल्लाप्य, काव्य, पेंखण, श्रीगदित, विलासिका** भी कुछ उलट-फेर के साथ एकांकी नाटकों की श्रेणी में आ जाते हैं। **गोष्ठी** का साधारण अर्थ गप्प मारनेवालों का समूह है। जहाँ पाँच-छ: व्यक्ति बैठकर साधारण ढंग से किसी प्रेमी की नकल, उसकी विरह-व्यथा का वर्णन करते हैं। **नाट्य रासक** में **उल्लाप्य** नाटक में कथा देवताओं की होती है, हास्य, शृङ्गार तथा करुण रस प्रधान होते हैं।

काव्य नाटक में हास्य रस तथा एक ही अंक होता है। **पेंखण** नायिका-विहीन नाटक है। मुख और निर्वहण सन्धियों से युक्त एकांकी नाटक को **रासक** कहते हैं। इसमें नायक मूर्ख और नायिका चतुर होती है। **श्रीगदित** की कथा प्रसिद्ध होती है। इसके नायक और नायिका भी प्रसिद्ध हैं। **विलासिका** शृङ्गार-लय-युक्त नाटिका कहलाती है। **हल्लीश** में आठ-दस स्त्रियाँ तथा एक पुरुष होता है। ये सब थोड़े-बहुत उलट-फेर के साथ संस्कृत नाटक में एकांकी नाटक के ही रूप हैं।

ज्ञात होता है इन दिनों जितने भी रूपों में नाटक खेले जाते थे उन्हीं सबको आचार्यों ने लक्षणों में बाँध दिया और आगे चलकर उनका विकास रुक गया। निश्चय ही इस देश में कुछ काल तक तो नाटकों की परम्परा जीवित-जाग्रत रही है। कालिदास, भवभूति, अश्वघोष आदि महा-कवियों ने काव्य के साथ नाटक-रचना को भी प्रधानता दी। कदाचित् प्रत्येक कवि से यह आशा की जाती थी कि वह काव्य के साथ-साथ नाटक लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दे। राजशेखर ने विद्वानों, राजसभाओं, कवि-गोष्ठियों के जो रूप दिखाए हैं, उनसे उस समय की नाटक-प्रियता और लोक-रुचि का दर्शन होता है। आगे चलकर कुछ तो नाटकों के लक्षणों में बँध जाने और कुछ देश में शान्ति न रहने के कारण नाटकों का प्रणयन बन्द हो गया। फिर भी हमें मानना पड़ेगा कि हमारे यहाँ नाटक का काफी विकास हुआ है।

नाटक वस्तुत: संघर्ष-प्रधान होता है उसमें किसी-न-किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व होना आवश्यक है। संघर्ष या द्वन्द्व चाहे चरित्र-प्रधान हो या स्थिति-प्रधान। मूलत: नाटक सदा द्वन्द्व से उभरता है। द्वन्द्व दो विरोधी विचारों के पात्रों, घटना की विषमताओं, वातावरण की टकराहट पाकर अपनी मूल स्थिति में नई प्रतिक्रिया उत्पन्न करके जीवन को ऊँचा उठाता या गिराता है।

हिन्दी में नाटक साहित्य के प्रेरणा-स्रोत संस्कृत और विदेशी भाषाओं से आए हैं। बहुत-से घटना-प्रधान नाटकों और गीति-नाटकों की परम्परा हमारे यहाँ संस्कृत से आई है, जब कि विदेशी साहित्य से भी हमने कम नहीं लिया है। विदेश से रोमांटिक नाटक का प्रभाव कहीं सीधा और कहीं बंगला के द्वारा हिन्दी पर पड़ा है। यही कारण है कि नान्दी, सूत्रधार, विष्कम्भक-जैसे संस्कृत के नियमों की आवश्यकता नाटक के लिए उपयुक्त नहीं रही। संस्कृत में नाटक-वैविध्य होते हुए भी 'मृच्छकटिक' को छोड़कर प्राय: सभी नाटकों की धारा एक-सी बही है, क्योंकि नाटकों का

जहाँ धर्म से सम्बन्ध रहा, वहाँ उसमें एक मूल उद्देश्य कला द्वारा मनोरंजन भी था। पौराणिक आधार पर लिखे गए संस्कृत कवियों के ये नाटक जीवन की गहराई का उतना चित्रण नहीं करते जितना उस समय की स्थिति और राजाओं के आदर्श तथा उनके विलास का चित्र उपस्थित करते हैं। इनमें एकमात्र क्रान्तिकारी नाटक 'मृच्छकटिक' कहा जा सकता है, जो जनता का प्रतिनिधित्व करता है।

विदेशी प्रभाव

हिन्दी में विदेशी प्रभाव के कारण नाटक-रचना में मूल प्रेरणा सोद्देश्यवादी हो गई। हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चेतना में विषमता आ जाने के कारण यह परिवर्तन हुआ। जैसे सम्पूर्ण साहित्य का प्रयोजन बदल गया और उसमें जन-हित की भावना का प्राधान्य हुआ, उसी प्रकार हिन्दी में नाटकीय चेतना ने एक नई करवट ली। साहित्य का यह प्रयोजन और उद्देश्य परिस्थितिजन्य था। इधर यूरोप के कुछ नाटककारों इब्सन और शॉ के प्रभाव से हमने जीवन की वास्तविकता के प्रति दृष्टिपात किया और यह अनुभव किया कि हमारे नाटकों में दैनन्दिन जीवन की सजीव और सच्ची व्याख्या होनी चाहिए; वर्तमान के सुख-दुःख, स्थिति-परिस्थिति का चित्रण करना ही नाटक का मूल उद्देश्य होना चाहिए। हमारे सामने जो प्रतिदिन की समस्याएँ हैं, उनको अधिक-से-अधिक जागरूक रूप में हमें जनता के सामने रखना चाहिए। कल्पनालोक एवं आदर्श का चित्रण उतना ही अपेक्षित है जितने से मूल वस्तु कला से ढक न जाए। ये सब बातें थीं, जिन्होंने हिन्दी के नाटककार को नाटक की टेकनीक के सम्बन्ध में अपने उद्देश्य के प्रति परिवर्तन करने को बाध्य किया और यही कारण था कि सम्पन्न होते हुए भी हम संस्कृत नाटक से बहुत-कुछ नहीं ले पाए। जहाँ तक आदर्श का प्रश्न है, वह हिन्दी के कुछ नाटकों में भारतीयता के आधार पर ही हुआ।

नाटकों की आधार-भूमि

हमारे नाटकों की आधार-भूमि सांस्कृतिक चेतना का पुनर्जागरण है। प्रसाद ने इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर नाटक-साहित्य का सृजन किया है। उन्होंने अपने नाटकों में प्राचीन वातावरण की सृष्टि करके उस समय के गौरव की ओर इशारा ही नहीं हमारा ध्यान भी आकृष्ट किया। अपने पात्रों के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चरम उत्कर्ष की अवतारणा की है। यह कदाचित् इसलिए कि हम अपने प्राचीन अतीत को देखें और उसके गौरव की ओर आकृष्ट हों। जैसे कूदनेवाला व्यक्ति पीछे की ओर हटकर आगे कूदता है, उसी प्रकार हमारे लिए भी यह आवश्यक था कि हम प्राचीन गौरव की पूर्णता लेकर आगे बढ़ें। यह स्वाभाविक है और उचित भी कि हम अपने गौरव और आदर्श से प्रेरणा लेकर नए जीवन का सृजन करें। प्रसाद तथा अन्य नाटककारों ने यही किया। इस प्रकार के साहित्य-सृजन के लिए प्रारम्भ में प्रसाद-जैसे सूक्ष्म-द्रष्टा की आवश्यकता थी। उनके सम्पूर्ण साहित्य में यही भावना ओतप्रोत है। प्रसाद ने इस आदर्श को उपस्थित करने के लिए ही चरित्र-प्रधान नाटक लिखे। उनके नाटकों में जहाँ जीवन के तत्त्वों को सुलझानेवाले सत्य-द्रष्टा आचार्य हैं, वहाँ संघर्ष में जूझनेवाले आदर्शवादी क्षत्रिय भी, राजनीति के प्रकाण्ड विद्वान कूटनीतिज्ञ भी और अपने उद्देश्य के लिए मर मिटनेवाली राजरानियाँ भी।

ऐतिहासिक, सामाजिक और समस्या नाटक

एक तरह से हमारे नाटकों का वर्गीकरण इसी दृष्टि से हुआ है। ऐतिहासिक नाटक, सामाजिक नाटक और समस्या नाटक, इन तीनों प्रकार की तथाजन्य भावभूमियों पर हिन्दी में नाटकों का सृजन हुआ। ऐतिहासिक नाटक लिखने का उद्देश्य सांस्कृतिक चेतना को जगाना-भर है और इनका आधार सम्पन्न भारतीयता का दिग्दर्शन भी तथा सेवा और प्रेम द्वारा चिर-शान्ति और चिर-कल्याण की कामना भी। एक दूसरा उद्देश्य यह भी हो सकता है कि प्राचीन द्वारा नवीन जीवन की खोज की जाए, अतः इन नाटकों का धरातल प्राचीन जीवन की खोज है; सामाजिक नाटकों के द्वारा वर्तमान समस्याओं के समाधान की ओर एक प्रयत्न है। जो कुछ वर्तमान है वह असन्तोष और अभाव में ग्रस्त होने के कारण वास्तविकता के विपरीत है। यही कारण है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन नए भविष्य के

प्रति उन्मुख है ।

समस्या-प्रधान नाटकों का आविर्भाव उस सामाजिकता को और भी गहन बनाने के लिए आवश्यक हुआ । साधारणतया यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक, सामाजिक और समस्या-प्रधान नाटकों का उद्देश्य एक ही है और वह है परिस्थिति और विवशता में पोसे हुए जीवन को उठाने का प्रयत्न । एक तरह से यों कहना होगा कि इन नाटकों का उद्देश्य जन-जीवन की नैतिक चेतना को जगाना है, जिसमें आदर्श और सुधार के सूक्ष्म सत्यों का विवेचन हो । परिणामस्वरूप इस प्रकार के नाटकों में राष्ट्रीयता, देश-भक्ति, एकता और कर्त्तव्य-पालन का दिग्दर्शन हुआ और इस तरह के नाटक हमारे साहित्य में लिखे गए ।

पश्चिम के एकांकी नाटक

वर्तमान एकांकी नाटकों की मूल प्रेरणा हमें संस्कृत से नहीं, पाश्चात्य नाटक-साहित्य से मिली है, ऐसा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । उसका कारण यह है कि हिन्दी में एकांकी जिस रूप में आया है, उसमें संस्कृत नाटक की छाया दिखाई नहीं देती और संस्कृत के उन नाटकों के अभाव में हम निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकते । वैसे हमारा विश्वास है कि हिन्दी का एकांकी नाटक एकदम नए भारतीय रंग-ढंग से भारत के रंगमंच पर प्रविष्ट हुआ और वह उसका भारतीय रूप होते हुए भी पश्चिमी अनुकरण, प्राण, स्फूर्णा लेकर आया । फलतः हिन्दी एकांकी नाटक पाश्चात्य-साहित्य की प्रेरणा है ।

पश्चिम में भी एकांकी नाटक को पैदा हुए सत्तर-अस्सी साल से अधिक नहीं हुए । अंग्रेज़ी के प्रारम्भिक नाटक 'मिरेकिल्स' और 'मिस्ट्रीज़' धारावाहिक थे; परन्तु वे एक तरह से अपने में पूर्ण थे । इटली व फ्रान्स में 'कमेडिया डेल्ला आर्त' के सुन्दर दृश्य भी एकांकी के ही मूल बीज थे । यूरोप के गाँवों में उत्सवों के अवसरों पर 'पैंटोमाइम' नाटक भी प्रायः एकांकी के रूप में ही खेले जाते थे । उन्नीसवीं सदी के अन्तिम काल में यूरोप और अमेरिका में एकांकी नाटक लिखे गए । प्रोफ़ेसर बैंकन का कथन है कि "एकांकी नाटक का सूत्रपात अठारहवीं शताब्दी में बड़े नाटकों के साथ जनता के मनोरंजन के लिए हुआ और उसीसे एकांकी नाटक भिन्न-भिन्न शैलियों एवं रूपों में प्रकट हुए ।"

प्रारम्भ में एकांकी नाटक 'कर्टनरेजर' के नाम से पुकारा जाता था । नाट्य-गृह में जल्दी पहुँचनेवाले दर्शकों के लिए कुछ मनोरंजन सामग्री के रूप में जो-कुछ दिया गया वही एकांकी नाटक का स्रोत है । अंग्रेज़ी साहित्य में सर जेम्स मैथ्यू बेरी नाम के सबसे पहले नाटककार थे, जिन्होंने अभिनीत होनेवाले एकांकी नाटकों की रचना की । इन नाटकों की श्री-वृद्धि तथा उपयुक्तता के लिए यूरोप में दो प्रकार के जिन नाट्य-गृहों का निर्माण हुआ उनके नाम हैं—'रिपोर्टर थियेटर' और 'लिटिल थियेटर' । अंग्रेज़ी एकांकी नाटकों के एक संकलनकर्ता ने एक जगह कहा है कि सन् १८३३ में 'ब्रिटिश ड्रामा लीग' और 'स्काटिश कम्युनिटी ड्रामा एसोसियेशन' द्वारा संचालित नाट्य-गृहों में एकांकी नाटक खेले गए । प्रायः सभी प्रसिद्ध नाटककारों ने एकांकी नाटक लिखे हैं । येजैनीयो नील और जॉन मिलिंगटन इंगे-जैसे नाटककारों की प्रतिभा का विकास एकांकी नाटक में ही हुआ है । टी० एच० डिक्टिग्सन् का कहना है कि "एकांकी नाटक का सृजन और उसका विस्तार नाटककारों के कलात्मक अन्वेषणों का परिणाम है । इसमें उनका परिश्रम पूर्ण रूप से विकसित हुआ है ।" वस्तुतः एकांकी नाटक की सफलता में यूरोप के सभी लेखकों, कलाकारों, थियेटर के संचालकों, रंगमंच के प्रबन्धकों और शैलीकारों का हाथ है, जिन्होंने नाटक को वर्तमान रूप देकर उसे साहित्य का प्राणवान अंग बना दिया है । आज एकांकी नाटक पाश्चात्य देशों में साहित्य के अन्य अंगों की तरह महान् बन गया है ।

परिभाषा और तत्त्व

हिन्दी में एकांकी नाटक की कला नई होने पर भी पर्याप्त उन्नत है । उसके सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं । सेठ गोविन्ददास ने एक स्थल पर कहा है, "उपन्यास और कहानी की लेखन-पद्धति में जो अन्तर है वही फर्क पूरे नाटक और एकांकी की लेखन-पद्धति में ।

"पूरे नाटक के लिए 'संकलन त्रय', जो नाट्यशाला के विकास की दृष्टि से बड़ा भारी अवरोध है, वही संकलन

त्रय कुछ फेरफार के साथ एकांकी नाटक के लिए ज़रूरी चीज़ है। 'संकलन त्रय' में 'संकलन द्वय' अर्थात् नाटक एक ही समय की घटना तक परिमित रहना तथा एक ही कृत्य के सम्बन्ध में होना तो एकांकी नाटक के लिए अनिवार्य है। जो यह समझते हैं कि पूरे नाटक और एकांकी नाटक का भेद केवल उसकी बड़ाई-छोटाई है, मेरी दृष्टि में वे भूल करते हैं। एकांकी नाटक छोटे ही हों, यह ज़रूरी नहीं है; वे बड़े भी हो सकते हैं। एकांकी नाटक में एक से अधिक दृश्य भी हो सकते हैं, पर यह नहीं हो सकता कि एक दृश्य आज की घटना का हो और दूसरा दृश्य पन्द्रह दिनों के बाद की घटना का, तीसरा कुछ महीनों के पश्चात् का और चौथा कुछ वर्षों के अनन्तर। यदि किसी एकांकी में एक से अधिक दृश्य होते हैं तो वे उसी समय की लगातार होनेवाली घटनाओं के सम्बन्ध में हो सकते हैं। 'स्थल-संकलन' ज़रूरी नहीं है, पर 'काल-संकलन' होना ही चाहिए। किसी-किसी एकांकी नाटक के लिए 'काल-संकलन' भी अवरोध हो सकता है। ऐसी अवस्था में 'उपक्रम' या उपसंहार की योजना होनी चाहिए। कभी-कभी 'काल-संकलन' रहते हुए भी इनका उपयोग हो सकता है।

"एक ही विचार (idea) पर एकांकी नाटक की रचना हो सकती है। विचार के विकास के लिए जो संघर्ष (conflict) अनिवार्य है, उस संघर्ष के पूरे नाटक में कई पहलू दिखाए जा सकते हैं, परन्तु एकांकी में कथन के एक पहलू को लिया जा सकता है—एकांकी में तो मुख्य और गौण दोनों ही पात्रों की संख्या परिमित होनी चाहिए।"[1]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने 'पृथ्वीराज की आँखें' नामक एकांकी-संग्रह में इस प्रकार की व्याख्या की है, "एकांकी नाटक में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है, उसमें एक ही घटना होती है, और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए 'चरम-सीमा' (climax) तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता···विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं।"

वर्माजी ने 'रेशमी टाई' में 'मेरा अनुभव' लिखा है और उसमें इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है :

"संस्कृत नाटकों में चरम सीमा (climax) के लिए कोई स्थान नहीं है, यद्यपि कौतूहल और जिज्ञासा की सबसे बड़ी शक्ति उनमें निवास करती है—जब नायक की विजय के सिद्धान्त को लेकर नाटक चलता है तब चरम सीमा (climax) के लिए कोई स्थान ही कहाँ रह जाता है, जिसमें एक-एक भावना नायक को मृत्यु या पराजय के मुख में ढकेल सकती है।

"पश्चिम के नाट्य-शास्त्र के अनुसार उसमें अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं का घात-प्रतिघात प्रमुख है, उसमें विषम परिस्थितियों की अवतारणा प्रमुख स्थान रखती है। दो विभिन्न परिस्थितियाँ अपने सम्पूर्ण सत्य के साथ लड़ती हैं और यह संघर्ष पद-पद पर व्यंजना के साथ आशा और निराशा की ओर झुकता है। इसलिए नाटक की सीमा अपने समस्त वेग से एक बिन्दु में सधी रहती है।

"साधारणतः नाटक की कथा-वस्तु यही रूप धारण करती है, किन्तु एकांकी नाटक में साधारण नाटक से भिन्नता होती है। उसके कथानक का रूप तब हमारे सामने आता है जब आधी से अधिक घटनाएँ बीत चुकी होती हैं, इसलिए उसके प्रारम्भिक वाक्य में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करती है। कथानक क्षिप्र गति से आगे बढ़ता है और एक-एक भावना घटना को घनीभूत करते हुए गूढ़ कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है। समस्त जीवन एक घण्टे के संघर्ष में और वर्षों की घटना एक मुस्कान और आँसू में उभर आती है, वे चाहे सुखान्त रूप में हों या दुखान्त रूप में। इस घनीभूत घटनावरोह में चरम सीमा विद्युत की भाँति गतिशील होकर आलोक उत्पन्न करती है और नाटककार समस्त वेग से बादल की भाँति गर्जन करता हुआ नीचे आता है।"

श्री सद्गुरु अवस्थी का कथन है, "हम कला की परम्परा वाली, मन उबा देनेवाली परिपाटी कभी भी अधिक काल तक स्वीकार नहीं कर सकते। दीर्घकाय नाटकों के लम्बे-लम्बे कथोपकथन इनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यों की सजावट की अतिशयता, विषयान्तर तथा वर्णन-बाहुल्य, कथा-विकास तथा चरित्र-विकास की लपेट में काव्य-विकास

का लम्बा प्रयोग और औत्सुक्य, प्रधानता के लिए उलझी कल्पनाएँ, सब बातें युगों से सबको परेशान किये हैं। एकांकी नाटक में हम इनकी छाया भी देखना पसन्द नहीं करते।"

इन तीनों विद्वानों के मत में साम्य है, फिर भी वे भिन्न दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। अवस्थीजी ने आकार-प्रकार को सामने रखकर एकांकी की व्याख्या की है, उन्होंने इस दृष्टि से ये तत्त्व आवश्यक माने हैं :

सुनिश्चित, सुकल्पित, एक लक्ष्य।

सेठ गोविन्ददासजी ने एकांकी के 'संविधान' को दृष्टि में रखकर परिभाषा की है। 'संकलन त्रय' में से 'संकलन द्वय' एकांकी के लिए आवश्यक है। वे हैं :

१. एक ही समय की घटना, २. एक ही कृत्य। ३. स्थल-संकलन ज़रूरी नहीं।

आगे चलकर उन्होंने काल-संकलन से बचने का उपाय 'उपक्रम' या 'उपसंहार' के रूप में बताया है। इस प्रकार सिद्धान्ततः 'काल-संकलन' की भी आवश्यकता उनकी दृष्टि में नहीं रही। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' के द्वारा 'काल-संकलन' का संहार करके सेठजी ने एकांकी के केवल मुख्य अंशों में उसकी अनिवार्यता पर ज़ोर दिया है।

सेठजी ने संघर्ष के एक ही पहलू को एकांकी के लिए आवश्यक माना है। अवस्थीजी ने संघर्ष का उल्लेख नहीं किया। अवस्थीजी ने 'ऊँची चिन्तना' आवश्यक बताई है। सेठजी ने नाटकों में आनेवाले संघर्ष का रूप स्पष्ट नहीं किया।

वर्माजी की परिभाषा में एक तीसरी ही दृष्टि है। वे नाटक के तन्त्र या टेकनीक पर निर्भर करते हैं। इसके आवश्यक तत्त्व वर्माजी ने ही चित्र द्वारा बहुत स्पष्ट किए हैं; वे लिखते हैं : "एक घटना विविध गतियों से तरंगित होती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है और फिर वहीं समाप्त हो जाती है।"

डॉ० नगेन्द्र का कथन इस तरह है : "स्पष्टतया एकांकी एक अंक में समाप्त होनेवाला नाटक है और यद्यपि इस अंक के विस्तार के लिए कोई विशेष नियम नहीं है, फिर भी छोटी कहानी की तरह उसकी एक सीमा तो है ही। परिधि का यह संकोच कथा-संकोच की ओर इंगित करता है...और एकांकी में हमें जीवन का क्रम-विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्त्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा..."

उसके लिए एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य है...किसी प्रकार का वस्तु-विभेद उसे सह्य नहीं। एकाग्रता में आकस्मिकता की झकोर अपने-आप आ जाती है और इस झकोर से स्पन्दन पैदा हो जाता है। विदेश के संकलन-त्रय का निर्वाह भी इस एकाग्रता में काफ़ी सहायक हो सकता है, पर यह सर्वथा आवश्यक नहीं। प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही, लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किये बिना भी सफल एकांकी की रचना हो सकती है और प्रायः होती है। उन्होंने आगे उदाहरण देते हुए कहा है, " 'उस पार' अथवा 'एक ही कब्र में' जैसे एकांकी स्थान और समय का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते। यहाँ समय में वर्षों का अन्तर है और स्थान में सैकड़ों मीलों का।"

डॉ० नगेन्द्र का मत सेठ गोविन्ददासजी से मिलता है, जब वे कहते हैं कि इसमें (एकांकी में) विस्तार की सीमा कहानी-जैसी; जीवन का एक पहलू; एक महत्त्वपूर्ण घटना; एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण; एकता, एकाग्रता, आकस्मिकता अनिवार्य; संकलन-त्रय उतना अनिवार्य नहीं; प्रभाव और वस्तु की एकता अनिवार्य; स्थान और काल की एकता अनिवार्य नहीं।

प्रोफ़ेसर अमरनाथ ने एकांकी के सम्बन्ध में निम्न निर्देश दिए हैं :

१. एकांकी की समाप्ति एक ही बैठक में अनिवार्य है। यह एक ही बार और एक ही समय में समाप्त होने वाली कृति है।
२. बिजली की रफ्तार-सी ही उसकी गति है।
३. उसका विषय एक ही होता है।
४. सहायक विषयों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं।
५. एकांकी फ़ौरन प्रारम्भ हो जाता है।
६. शीघ्र ही बिन्दु तक उसे पहुँचना होता है और अन्त भी उसी प्रकार आकस्मिक होता है।
७. क्षेत्र संकुचित पर प्रभाव-साम्य अनिवार्य है।

८. सहायक घटनाएँ कभी-कभी आ सकती हैं, किन्तु वे मुख्य घटनाओं से अलग न जान पड़ें। मुख्य घटना, जो चुम्बक के सदृश उसका ध्यान आकर्षित करती है, अनिवार्य है। आगे लेखक यह भी कहता है कि सहायक घटनाएँ, चाहे उनका कितना ही सफल प्रतिपादन हुआ हो, एकांकी में बाधा-स्वरूप ही पड़ती हैं।

९. एकांकी का विषय एक घटना ही है।

१०. कथावस्तु जटिल नहीं होती।

११. ऐक्य एकांकी का आवश्यक अंग है।

१२. एकांकी ज़रूरी नहीं कि छोटा ही हो, अकसर यह छोटा ही होता है क्योंकि ऐक्य उसका ध्येय होता है।

१३. विषय और समय की किफ़ायत में ही कल्याण है।[1]

मैं मानता हूँ कि एकांकी नाटक अपने में पूर्ण होता है। वह अपने से बाहर किसी की अपेक्षा नहीं रखता। उसमें जीवन की एक छोटी-सी घटना का रूप-दर्शन होता है, जो पात्र या पात्रों द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ पराकाष्ठा को पहुँचता है। मैंने हिन्दी-जगत् में सबसे प्रथम हिन्दी एकांकी नाटक-संकलन 'आधुनिक एकांकी नाटक' की भूमिका में लिखा था कि एकांकी नाटक एक गतिमान ध्येय लेकर चलता है। वह बाण से चिड़िया की आँख बेधनेवाले अर्जुन की तरह एकाग्रता, तन्मयता का ध्येय लेकर चलता है। नाटककार आरम्भ में आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करके चरित्र-चित्रण को संवाद, चेष्टा, भावभंगी के सहारे पुष्ट करता है और बीच अथवा अन्त में एक ऐसी अवस्था आकर उपस्थित कर देता है जहाँ घटना तीव्र वेग से गतिमान होने लगती है और एक धक्के की तरह या तो रुक जाती है, जिसे देखकर दर्शक अभिभूत हो उठता है या फिर वह और आगे चलती है और परिणाम दिखाकर समाप्त हो जाती है। फिर भी इसमें केवल संवादात्मक एकांकी को, जिसमें कोई संघर्ष न हो, कोई घटना-चमत्कार या अन्तर्द्वन्द्व न हो, मैं नाटक के उपयुक्त नहीं मानता। निश्चय ही नाटक में संवाद सहायक रूप में आते हैं; वह साधन है साध्य नहीं, अतः नाटक में अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य है। प्रत्येक कुशल नाटककार की इस सम्बन्ध में अपनी टेकनीक होती है, इसलिए यह कहना कठिन है कि चरमोत्कर्ष (climax) कहाँ आना चाहिए। 'क्लाइमेक्स' प्रायः मेरे नाटकों के आखिर में आता है, कुछ नाटकों के बीच में भी आया है। कहीं-कहीं नाटककार बिना 'क्लाइमेक्स' के भी नाटक लिखते हैं; उनमें निरन्तर तारतम्य रहता है इसलिए नाटक शिथिल नहीं हो पाता। फिर भी साधारणतया नाटक में वक्र गति का होना अनिवार्य है। एकांकी नाटक में क्षिप्र गति के साथ संवाद की तीक्ष्णता तथा यथार्थ का होना आवश्यक है। एकांकी नाटक में इधर-उधर की बातों के लिए कतई गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि काल का व्यवधान सदा ही उसे ध्येय की ओर चलने को बाधित करता रहता है। पात्र के चेतना-तन्तु व्यापक होकर निर्दिष्ट दिशा विशेष की ओर भागते हैं। संवाद की तीव्रता के साथ मतलब की बात ही एकांकी नाटक का मूल बीज है। जो नाटक जितना ही गतिमान होगा वह उतना ही रोचक एवं आकर्षक होगा। फिर भी केवल गति ही नाटक में नहीं होती। गति को बनाए रखने के लिए संवाद, घटना, वस्तु एवं पात्रों में एकीकरण होना आवश्यक है। सभी घटनाएँ, सभी वस्तुएँ नाटक का विषय नहीं बन सकतीं। उनमें काल की एकता का भी होना आवश्यक है। जब तक परिणाम की तीक्ष्णता लेखक की दृष्टि में पारदर्शिता नहीं ग्रहण करती, तब तक घटना-वस्तु का रूप मिल जाने पर भी वह नाटक नहीं कहला सकता, यद्यपि उन्होंने अपनी उन कृतियों को नाटक का नाम दिया है। दुर्भाग्य से बहुत-से आलोचक भी नाट्य कला की ठीक दृष्टि न रखने के कारण नाटक और नाटकाभासों में भेद नहीं कर पाते। उन्होंने प्रायः सभी ऐसी कृतियों को, जो रूप में नाटक दिखाई देती हैं, नाटक कह डाला है। एकांकी नाटक में अंक का अर्थ पूर्णता है, इसलिए साधारणतया एकांकी एक दृश्य में समाप्त हो जाना चाहिए। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ समझना चाहिए कि नाटककार बाध्य होकर कई दृश्यों में उसकी परिसमाप्ति करना चाहता है। फिर भी एकांकी की सफलता एक ही दृश्य में है, यह प्रायः

१. हिन्दी एकांकी : डॉ० सत्येन्द्र।

व्यापक सत्य है। मैं तो समझता हूँ कि कई दृश्य देकर नाटक न समाप्त करने पर उसे द्विअंकी-त्रिअंकी नाटक कहना उपयुक्त होगा। जैसे प्राचीन संस्कृत नाटकों में एक अंक का अर्थ दृश्य था, वही हमें आज भी मानना चाहिए, नहीं तो अंक का अर्थ पूर्ण नहीं होता।

हिन्दी में कुछ लोगों ने दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के नाटक लिखे हैं। ऐसे नाटक उस समय ही सफल हो सकते हैं, जब वे अपने में पूर्ण तथा कसे हुए हों, अन्यथा रंगमंच पर उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। मैं जानता हूँ, दस, पन्द्रह या बीस मिनट के एकांकी यदि प्रहसन हों तो अधिक सफल होते हैं। रोमांटिक, समस्या एवं चरित्र-प्रधान नाटक कम-से-कम पचास मिनट या एक घण्टे का होना चाहिए।

एकांकी नाटक के प्रकार

पश्चिम में कई प्रकार के एकांकी नाटक लिखे गए : १. समस्यात्मक अर्थात् समस्या-प्रधान नाटक; इन्हें 'प्राब्लेम प्ले' कहा जाता है; इनमें किसी-न-किसी एक समस्या को लेकर पात्रों द्वारा हल की ओर इंगित रहता है। २. ऋतु सम्बन्धी नाटक 'फेण्टेसी'। ३. प्रहसन। ४. गम्भीर नाटक, जैसे : मोरिस मैटरलिंक का 'इंट्रयुडर'। ५. ऐसे नाटक जिनमें लेखक का ध्येय समाज के किसी चरित्र या रीति-रिवाज पर व्यंग्य करना है। ६. मेलोड्रामा। ७. कामेडी (सुखान्त)। ८. ऐतिहासिक। ९. व्यंग्यात्मक एकांकी। यद्यपि इनमें बहुत भेद एक-दूसरे में अन्तर्निहित हो जाते हैं, परन्तु यही मोटे प्रकार हैं जो यूरोप में प्रचलित हैं। हिन्दी में ये सब रूप आजकल प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त रेडियो ड्रामा, संगीत रूपक, ऑपेरा, रिपोर्ताज आदि कुछ ऐसे नाटक हैं जो एकांकी नाटकों के अन्तर्गत ही आते हैं।

इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं कि हिन्दी एकांकी नाटकों का जन्मदाता कौन है? कुछ विद्वान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को तथा दूसरे विद्वान जयशंकर प्रसाद को हिन्दी नाटकों का प्रादुर्भावक मानते हैं। मुझे इस सम्बन्ध में कोई दिलचस्पी नहीं है, परन्तु एक बात निश्चित है कि उलट-फेर से दोनों ही नाटककारों के विशेष नाटकों में एकांकी के बीज मिलते हैं और पूर्ण रूप से उक्त दोनों का एक भी नाटक ऐसा नहीं है जिसे एकांकी कहा जा सके।

हिन्दी में एकांकी नाटकों की विधि एवं उनका विस्तार

वस्तुत: हिन्दी नाटककारों में इस बात पर बड़ा मत-भेद है कि नाटक का ध्येय क्या होना चाहिए—केवल मनोरंजन या कोई उद्देश्य? मैं मानता हूँ कि जैसे साहित्य का ध्येय जीवन के उद्देश्य को प्रतिबिम्बित करना है, उसे उन्नत बनाना है, उसमें जीवन के उन तत्त्वों को इंगित करने की क्षमता का प्रदर्शन करना है, ठीक उसी प्रकार नाटक का ध्येय भी गोर्की और चेखव के मत की तरह मनुष्य की त्रुटियों की ओर तीव्र इंगित करना है। नाटक को भी साहित्य के अन्य अंग की तरह जीवन की व्याख्या करनी चाहिए, और इस व्याख्या में नाटक साहित्य का ऐसा अंग है जो जनता के अधिक निकट है; अर्थात् साहित्य के अन्य अंग केवल शिक्षित व्यक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं और नाटक पढ़े, बेपढ़े, अधपढ़े, सभी के लिए ज्ञान, शिक्षा और मनोविकार देने की क्षमता रखता है। वह नयन-श्रवण द्वारा मानस-तरंगों को अस्फालित और आलोड़ित करता है।

हिन्दी साहित्य में वैसे यह तो नहीं कहा जा सकता कि सभी नाटक सोद्देश्य लिखे गए हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि उनमें अधिकतर नाटक किसी विशेष उद्देश्य को लेकर लिखे गए हैं। उसका एक कारण यह है कि दासता और रूढ़ि-प्रधान देशों में निर्माण की आवश्यकता होती है, और वह निर्माण ही साहित्य का अंग बन जाता है। यही कारण है कि हमारा पिछला सम्पूर्ण साहित्य निर्माण-काल का साहित्य है। उसकी प्रवृत्तियों का मूल उद्देश्य मनुष्य में नियति से संघर्ष करके मनुष्य को ऊपर उठाना है, उसे अपनी वास्तविकता को पहचानने की क्षमता प्रदान करना है। साहित्य का यह प्रयोजन उन देशों के लिए अधिक लागू होता है जो अपने सम्पूर्ण वैभव में लिप्त नहीं हैं। ग्रीक और रोमन साहित्य और भारत के मध्य-युग स्वर्ण-काल का साहित्य इसके अपवाद हैं; फिर भी मैं मानता हूँ कि साहित्य की सोद्देश्यवादी धारा में

कला का बिलकुल ह्रास नहीं हो जाता, वह संघर्ष से उद्दीप्त होकर, अभावों से प्रताड़ित होकर जीवन के रस और सुरभिमय लक्ष्यों की ओर संकेत करती है और अभिव्यक्ति का नया परिधान पहनती है। ऐसी दशा में कला उदासीन और प्रमादी (lethargic) नहीं रहती।

हिन्दी में भी प्राचीन परम्परा के अनुसार कुछ नाटक ऐसे हैं जिनमें नायक और प्रतिनायक के द्वारा संघर्ष उत्पन्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरे नाटक हैं जो नायक और गौण नायक के द्वारा कथा समाप्त करते हैं। तीसरे प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें नायक, प्रतिनायक और साधारण पात्रों के द्वारा कथा की अन्विति होती है। किन्तु ये हिन्दी नाटक के आवश्यक अंग नहीं हैं। प्रतिनायक के विना भी नाटक चल सकता है। केवल नायक के उद्देश्य को पूर्ण करने लिए किसी भी पात्र की सृष्टि होनी चाहिए, किन्तु इतना निश्चित है कि वे सब पात्र कथा की पूर्णता में गतिमान और सहायक हों।

हिन्दी नाटकों और एकांकियों में मूलतः कथावस्तु, पात्र और संवाद मुख्य रूप से ये ही तीन वस्तुएँ हैं।

संवाद

१. संवादों का निर्माण एकांकी की कथावस्तु के अनुसार होना चाहिए। यदि हम ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटक लिखें तो उनकी भाषा भी वैसी ही होनी चाहिए।
२. संवाद संक्षिप्त, सामयिक, मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण और मनोरंजक होने चाहिए।
३. संवाद चरित्रों को आगे बढ़ानेवाले हों।
४. यथासम्भव लम्बे, वाद-विवाद से रहित संवाद उपयुक्त होते हैं, किन्तु सिद्धान्त-प्रदर्शन के हेतु लिखे गए नाटकों में वाद-विवाद ही मुख्य होता है। आजकल के प्रगतिशील नाटक, जो केवल सिद्धान्त-पुष्टि के लिए लिखे जाते हैं, उनमें वाद-विवाद प्रधान हो जाता है, फिर भी उनमें वाक्य-चमत्कार होना परमावश्यक है।

रंग-संकेत

रंग-संकेत द्वारा पात्र की रुचि-अरुचि एवं अभिरुचि का प्रदर्शन होता है। हिन्दी के नाटकों में कुछ लेखक रंग-संकेत देने में बड़े कुशल हैं; यही नहीं, वे रंगमंच की सामग्री, अलमारी में रखी हुई पुस्तकें और उनके लेखकों के नाम भी देना नहीं भूलते। रंग-संकेत का तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि दर्शक पात्रों एवम् कथावस्तु की मनोवैज्ञानिक आधार-भूमि को समझ सकें।

अब इस पर विचार करें कि एकांकी के आवश्यक तत्त्व क्या हैं, जो सब मिलकर उसे पूर्ण करते हैं। एकांकी नाटकों में जीवन की एक घटना या एक रूप रहता है। पात्रों की संख्या सीमित होना परमावश्यक है। अनावश्यक कथावस्तु, संवाद, शैली का बहिष्कार और कथातत्त्व का तीव्रता के साथ चरम परिणति की ओर बढ़ना एवम् घटनाओं का चरम विन्दुओं में प्रवेश—यही कुछ आवश्यक तत्त्व हैं जो एकांकी के आवश्यक अंग हैं।

साधारणतया आलोचकों ने नाटक का वर्गीकरण यों किया है: १. प्रकार की वृद्धि से, २. मूल वृद्धि के आधार पर, ३. विषय के अनुसार, ४. वादों के आधार पर।

इनको लक्ष्य में रखकर जिन नाटकों की रचना होती है उनमें मुख्य ये हैं: १. सामाजिक, २. ऐतिहासिक, ३. राजनीतिक, ४. चरित्र-प्रधान और ५. तत्त्व-दर्शक।

इनके विश्लेषण की आवश्यता नहीं है। हिन्दी में ये सभी प्रकार के नाटक लिखे जा रहे हैं। केवल तत्त्व-दर्शक नाटकों के सम्बन्ध में मैं इतना कह देना चाहता हूँ कि इस नाटक का अंग समस्या-प्रधान नाटकों से मिलता-जुलता हैं। इसमें हमारे समाज की राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित होता है। इन्हीं को हम भिन्न शैलियों की दृष्टि से इस प्रकार बाँट सकते हैं: १. साधारण शैली के नाटक, २. व्यंग्यात्मक, ३. हास्यपूर्ण, ४. गम्भीर, ५. बौद्धिक तत्त्वों से युक्त, ६. समस्या-मूलक, ७. सुखान्त या दुखान्त।

हिन्दी में अधिकतर पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठी शैली के एकांकी नाटक मिलते हैं। हास्यपूर्ण नाटकों का प्रणयन अभी बहुत कम हुआ है। व्यंग्यात्मक शैली के नाटक काफी हैं। गम्भीर बौद्धिक तत्त्वों से पूर्ण और समस्यामूलक शैली के नाटक हिन्दी की अपनी विशेषताएँ लिये हुए हैं।

यह तो मैं नहीं कह सकता कि हिन्दी का नाटक-साहित्य इतना उन्नत हो गया है फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पिछले दशक में हिन्दी में सभी प्रकार के नाटक लिखे गए। उसका कारण यह है कि देश के अन्य साहित्यकारों की भाँति हिन्दी को अपनी सत्ता के लिए अपने विचारों के प्रचार के लिए संघर्ष करना पड़ा है। उसकी आधार-भूमि जहाँ दूसरे वर्गों और दूसरे समाज में अपने-आपको व्यापक बनाने की ओर रही है, वहाँ उसे साम्प्रदायिकता से भी संघर्ष करना पड़ा है। उसे जीवित रहने के लिए दुमुही युद्ध करने पड़े हैं। नाटक के क्षेत्र में बड़े-बड़े रंगमंचों के न होने से भी हिन्दी को छोटे हिन्दी स्टेज का निर्माण करना पड़ा है। स्कूलों, कालेजों तथा उत्सवों पर नाटक खेलने की प्रथा बढ़ती जा रही है।

हिन्दी का नाटक आज कई दिशाओं में, कई भागों में परिव्याप्त है। यह इसलिए कि उसे संघर्ष से सामना करना पड़ रहा है। जीवन की आलोचना, समाज की निरंकुशता का प्रभाव, हमारी अभाव-संकुचित मनोवृत्ति और अविवेकपूर्ण चिन्तन आदि से बचने और इन पर प्रहार करने के लिए हिन्दी एकांकी नाटकों का जन्म हुआ। इन पिछले दस-बारह वर्षों में एकांकियों की बाढ़-सी आ गई है, फिर भी उनमें कुछ ऐसे नाटक अवश्य हैं जिन्हें हम सर्वश्रेष्ठ नाटकों में गिन सकते हैं। नाटकों की यह सर्वश्रेष्ठता केवल संवाद या कथावस्तु के कारण ही नहीं, किन्तु ध्येय के कारण भी है। हिन्दी का एकांकीकार अपने यथार्थवादी ध्येय के प्रति जागरूक है। वह मानता है कि इस दिशा में उसका प्रयत्न साहित्य के उन्नत लक्ष्य के लिए होना चाहिए। वह आज जीवन की परिस्थिति की तीव्र आलोचना भी करता है, सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करता है और मुख्य प्रश्न का विवेचन भी, किन्तु सबसे अधिक बात जो मैं आवश्यक समझता हूँ वह है जीवन की नई व्याख्या। जैसे हर मनुष्य सुबह उठते ही अपने-आपको नई परिस्थिति में पाता है, नए पृष्ठ उसके सामने आकर खुल जाते हैं, ठीक इसी प्रकार साहित्य भी नई बीमारी का नया इलाज खोजता है। यही कारण है कि काल, देश और अवस्था के अनुसार साहित्य की प्रवृत्ति, शैली और अभिव्यक्ति का निर्माण होता है।

आरम्भ

जैसा मैंने पहले कहा, हिन्दी नाटक भी पश्चिमी नाटकों से प्रभावित होने के कारण उसी गति से चलते हैं जिस प्रकार अंग्रेजी के, फिर भी प्रत्येक देश की अपनी-अपनी समस्याएँ और अपना-अपना इतिहास होने के कारण वैशिष्ट्य और विभिन्नताएँ अपरिहार्य हैं। हाँ, काल के व्यवधान समाप्त-प्राय होने के कारण जीवन की गति और उसकी समस्याएँ प्रायः एक-सी हैं। अतः नाटक की वस्तु भिन्न होते हुए भी उनका निर्वाह प्रायः एक-सा ही होता है। प्रत्येक एकांकी नाटक का प्रारम्भ, मध्य और अन्त उसकी वस्तु, घटना तथा शैली का निर्माण करता है। यह नाटककार का अपना दृष्टिकोण है कि वह उसका प्रारम्भ कैसे करता है। फिर भी नाटक की वस्तु के अनुसार उसका प्रारम्भ होता है। कभी-कभी स्टेज के वर्णन के द्वारा, कभी पात्रों का चरित्र दिखाकर बातचीत से ही और कभी दरवाजा खट-खटाकर या गीत गाते हुए, जैसे भी नाटक के प्रारम्भ की आवश्यकता जान पड़े और जिस तरह भी जम जाए। फिर भी उसका प्रारम्भ आकर्षक ढंग से और बिलकुल एकदम मतलब की बात से होना चाहिए।

मध्यभाग

नाटक का मध्यभाग वह हिस्सा है जहाँ से नाटक प्रारम्भिक रूप को पूर्ण करके आगे के लिए बढ़ता है। उस अवस्था में प्रारम्भ की बातचीत को समझने के लिए शेष कुछ भी नहीं रह जाता; किन्तु वहाँ भी रुकता नहीं। प्रत्येक क्षण गतिशील बना रहता है।

चरमोत्कर्ष

प्रत्येक घटना में चरमोत्कर्ष का एक समय होता है। प्रायः सभी नाटककार चरमोत्कर्ष दिखाकर नाटक का अन्त कर देते हैं या दूसरे शब्दों में यह कि नाटक अपनी सम्पूर्ण परिणति में जाकर समाप्त हो जाता है। यह परि-णति ही नाटक की जान है। इसके बिना इसमें पूर्णता नहीं आती। यह पूर्णता या परिणति समन्वित होकर चरमोत्कर्ष का रूप ग्रहण करती है। किन्तु ऋतुओं के नाटकों में यह आवश्यक नहीं है। जीवन-सम्बन्धी सभी नाटकों में, जिनमें भावों का संघर्ष होता है, 'क्लाइमेक्स' का होना अनिवार्य

है। 'क्लाइमेक्स' के बीज वैसे तो नाटक में वर्तमान ही रहते हैं, किन्तु कभी-कभी अदृश्य रूप से सहायक होकर चमत्कार उत्पन्न करते हैं। नाटक का जैसा गठन होगा क्लाइमेक्स की उसी के अनुरूप परिणति होगी।

अन्त

नाटक में अन्त का बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः नाटककार की कला का चमत्कार उसके नाटक के अन्त में प्रतिलक्षित होता है, क्योंकि नाटक का प्रभाव उसके निर्वाह पर निर्भर रहता है। जैसे कहानी का अन्त यदि साधारण ढंग से होता है तो वह अच्छी-से-अच्छी होते हुए भी पाठक को रसविभोर नहीं कर सकती, ठीक इसी तरह नाटक का अन्त भी चमत्कारिक ढंग से होना चाहिए। जैसा कि मैंने पहले कहा है, प्रायः नाटककार चरमोत्कर्ष में ही नाटक को समाप्त कर देते हैं। वहीं उसका अन्त होता है।

रेडियो नाटक

इधर रेडियो के प्रचार और प्रसार के कारण नाटक ने एक नवीन दिशा ग्रहण की है। रेडियो का नाटक केवल श्रव्य होता है। उसका अभिनय, भाव-भंगी, क्रोध, ईर्ष्या केवल वाणी द्वारा प्रकट होते हैं। उसमें दृश्यत्व नहीं, केवल श्रवणीयता होती है। इसी लिए रेडियो नाटक में निर्देशन केवल वाणी द्वारा ही होता है। बस, यही मुख्य अन्तर है दृश्य और श्रव्य नाटकों में। नाटक के अतिरिक्त रूपक, फीचर, रेडियो की अपनी विशेषताएँ हैं। इसने काल और स्थान दोनों की एकता नष्ट कर दी है। यह एक ही समय में वैदिक काल से लेकर आज तक के चित्रों का प्रदर्शन करने की क्षमता रखता है। फीचर रेडियो का प्रिय अंग है, और दृश्य-विधान की सरलता होने के कारण उसका रूप और भी सर्वप्रिय हो गया है। हिन्दी में रेडियो रूपक बहुत अधिक संख्या में लिखे जा रहे हैं।

रिपोर्ताज

इसका प्रयोग वस्तुतः नया ही है। इसका आरम्भ प्रायः रूस में हुआ है। रिपोर्ताज को हम रिपोर्ट भी कह सकते हैं। किन्तु यहाँ रिपोर्ट से तात्पर्य साधारण रिपोर्ट से नहीं है। रिपोर्ताज नाटक में एक ही व्यक्ति उनके कालों का समन्वय करता है। वह संजय की तरह सम्पूर्ण महाभारत का वर्णन करता है, वहाँ के दृश्य, उसकी भीषणता, भयंकरता, जय-पराजय सबका ब्योरेवार वर्णन करता चलता है। रिपोर्ताज में दृश्यों का वर्णन भी सूत्रधार ही करता है। हिन्दी में प्रगतिशील लेखकों ने रिपोर्ताज लिखने का प्रयास किया है, किन्तु वे नाटक न होकर वस्तुस्थिति के वर्णनात्मक चित्र बन गए हैं।

मूकाभिनय : पैण्टोमाइम

यह भी नाटक की एक नई दिशा है। इसमें पूर्ण रूप से मूक अभिनय नहीं होता, किन्तु नेपथ्य में एक व्यक्ति खड़ा होकर वर्णनीय बात पद्य या गद्य में कहता रहता है। और रंगमंच के पात्र तदनुरूप अभिनय करते हैं। यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं, फिर भी कई जगह इसके प्रयोग काफी सफल हुए हैं। इस प्रक्रिया में वर्ण्य-विषय के अनुसार अभिनय होने पर एकरसता, सौन्दर्य तथा रस-परिपाक होता है। मूकाभिनय में प्रायः पद्य-प्रधान रोमांटिक नाटक ही सफल होते हैं।

हिन्दी में एकांकी लिखनेवालों की संख्या यद्यपि अब काफी हो गई है फिर भी ऐसे लेखक थोड़े हैं जिन्होंने सफल एकांकी नाटक लिखे हैं। इस समय एकांकी नाटककारों में डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, भगवतीचरण वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र विष्णु प्रभाकर, आदि मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक एकांकीकार की अपनी विशेषता है।

हिन्दी एकांकी नाटक का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा है जब मराठी, गुजराती, बंगला, तमिल, मलयालम आदि समुन्नत भाषाओं के कुशल लेखक उसे अपनाकर अपनी अभिव्यक्ति देकर, उसे सच्ची राष्ट्रभाषा बना देंगे। क्योंकि हिन्दी आज किसी एक देश की, एक प्रान्त की नहीं है, वह सबकी है।

● ●

प्रो० अ० का० प्रियोलकर

गोआ की भाषा-समस्या

श्री अ० का० प्रियोलकर का जन्म १८९७ में गोआ में हुआ था। आप मराठी स्नातकोत्तर और शोध-संस्थान, बम्बई के निदेशक हैं। आप १० पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें प्रमुख हैं : 'रावबहादुर दादोबा पाण्डुरंग (जीवनी)', 'रघुनाथ पण्डित का दमयन्ती स्वयंवर', 'महाराष्ट्र भाषा का व्याकरण', 'सन्त एन्तोनी की जीवनी', 'मुक्तेश्वर का महाभारत आदिपर्व' इत्यादि।

गोआ प्रदेश की भाषा आज विकट समस्या बन गई है। इसे समझने के पहले 'गोआ' शब्द को समझना उचित होगा। मराठी में गोआ शब्द का अर्थ होता है 'झमेला' या 'उलझन'। इस दृष्टि से यह नाम आजकल बड़ा ही सार्थक प्रतीत हो रहा है। अचरज की बात तो यह है कि हमारे राजनीतिक कार्यकर्ता एवं नेता भी वहाँ पहुँचकर अपने भाषणों द्वारा इस समस्या को अधिक पेचीदा बना रहे हैं।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोआ प्रदेश पर मुसलमानों की हुकूमत थी और वे वहाँ के हिन्दुओं को काफी तकलीफ़ पहुँचाते थे। इसलिए निमोजा तथा मलराव नामक दो हिन्दू नेताओं ने अल्फान्सो दि अल्बुकर्क की सहायता लेकर सन् १५१० में गोआ पर हमला करके हज़ारों मुसलमानों को मौत के घाट उतारा और गोआ पर कब्जा कर लिया। उन दिनों गोआ छोटे-छोटे द्वीपों का समूह-मात्र था। सन् १५१५ में अल्बुकर्क की मृत्यु के बाद सन् १५४१ से ही गोआ-निवासी हिन्दुओं पर किये गए धार्मिक अत्याचारों की कहानी आरम्भ होती है। हिन्दू देवताओं एवं मन्दिरों को तोड़कर उन्हें ईसाइयों के गिरजाघरों का रूप दिया गया, हजारों हिन्दुओं को बलात् ईसाई बनाया गया। सन् १५४३ में फिरंगियों ने गोआ के पास स्थित सासष्ट एवं बारदेस प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित किया, जो सन् १७६३ तक यहीं तक सीमित रहा। सन् १५६० में गोआ में 'इन्क्विजिशन' नाम की एक बड़ी अत्याचारी संस्था की स्थापना हुई और उसने अपनी दानवों-जैसी क्रूरता के सहारे इस प्रदेश में वह चीज़ पैदा की जिसे आजकल 'स्वतन्त्र व्यक्तित्व' (distinctive individuality) कहा जाता है।

सन् १७६३ के मई में सम्भाजी द्वारा बनवाए गए मर्दनगढ़ नाम के किले के साथ-साथ आज के फोंड़ा, केपें, सांगें तथा काणकोण नामक जिलों पर भी अपना राज्य स्थापित करने में फिरंगियों को सफलता मिली। आगे चलकर सावन्तवाड एवं कोल्हापूर के शासकों के कलह में सावन्तवाड के अधिपतियों को प्रदत्त सहायता की बदौलत सन् १७८८ में जो सुलह-प्रस्ताव हुआ उसके अनुसार पेडणें, डिचोली एवं सत्तरी पर भी उनका आधिपत्य स्थापित हुआ। इस प्रकार विद्यमान गोआ प्रदेश उन भूभागों के कारण विशाल हो गया जो मूल रूप में अल्बुकर्क द्वारा विजित गोआ द्वीप में समय-समय पर जोड़े गए। सोलहवीं शताब्दी में फिरंगियों द्वारा पाये गए गोआ, सासष्ट (वर्तमान समय में इसे दो विभागों में—सासष्ट एवं मार्मागोआ—में विभाजित किया गया है) एवं बारदेस तालुकों को 'पुरानी काबीजादी' (old conquests) और अठारहवीं शताब्दी में विजित (फोंड़ा, केपें, सांग, काणकोण, पेडणें,

डिचोली एवं सत्तरी) प्रदेशों को 'नई काबीजादी' (new conquests) की संज्ञा दी जाती है। धार्मिक अत्याचार 'पुरानी कावीजादी' में ही चरम सीमा तक पहुँचे। इन्हीं प्रदेशों में ईसाई धर्म के नाम पर देश के निवासियों को बलात् कृष्ण-वर्ण फिरंगी बनाया गया। भारतीयों के फिरंगीकरण के उपर्युक्त कार्य को ही आज 'स्वतन्त्र व्यक्तित्व' की संज्ञा दी जा रही है। नई काबीजादी में उक्त नीति को अपनाने में वे असमर्थ हो उठे। इसका कारण है सन् १७३९ में मराठों द्वारा उत्तर अपरान्त में वसई पर कब्जा कर लेना। धर्म-प्रसार की अत्याचारपूर्ण नीति को अपनाये जाने से नवीन रूप में प्राप्त प्रदेशों को खोने के साथ-साथ गोआ सासष्ट एवं बारदेस आदि पुराने भूभागों से भी हाथ धोने का खतरा फिरंगियों के लिए खड़ा हो गया; इसीलिए सन् १७६३ में फोंड़ा आदि नवीन प्रदेशों पर शासन स्थापित होने के बाद उन्होंने तुरन्त नई प्रजा को नाममात्र की आज़ादी देने का ऐलान किया। इसके आधार पर दो बातें सिद्ध होती हैं। पहली यह कि विद्यमान गोआ असल में सन् १५१० में अल्बुकर्क द्वारा विजित प्रदेश के साथ, बाद में समय-समय पर उसमें जोड़े गए प्रदेशों को मिलाकर, बना है; उसे स्वतन्त्र एवं अखण्ड भूभाग नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि फिरंगीकरण की नीति विद्यमान गोआ के ११ तालुकों में से सिर्फ गोआ, सासष्ट, मुरगाँव एवं बारदेस नामक चार इलाकों में यानी 'पुरानी कावीजादी' में ही हुआ। यहाँ पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उक्त चार इलाकों में से राजधानी गोआ के साथ-साथ बारदेस में ही आज बहुसंख्यक हिन्दू बसे हुए हैं। सन् १९६० की जनगणना के अनुसार गोआ प्रान्त की कुल आबादी ५,९५,५९६ है और उसमें हिन्दुओं, कैथोलिकों एवं मुसलमानों की संख्या क्रमशः ३,५५,६१५; २,२८,३४४ तथा ११,५२९ है। इनमें से कैथोलिक शायद फिरंगियों के प्रभाव में आए होंगे। किन्तु धर्म, भाषा एवं संस्कृति का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक बहुसंख्यक हिन्दू तो निश्चित रूप से महाराष्ट्र के निवासियों की ही तरह सौ-फीसदी भारतीय हैं। इस दशा में गोआ के 'स्वतन्त्र व्यक्तित्व' की बात उठाना वास्तव में उसे पुर्तगाल का समुद्री अंश मानना एवं उस पर पुर्तगाल के सालाज़ार द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक अधिकार (matrimonio historico) को मान्यता प्रदान करना है।

गोआ के 'स्वतन्त्र व्यक्तित्व' की ही तरह उसकी भाषा को मराठी से भिन्न कोंकणी मानने की कल्पना भी भ्रममूलक है। इस कल्पना के पहले उद्भावक हैं अनुसन्धानकर्ता डॉ० कुंज रिव्हार, जो सन् १८५५ से लेकर १८७० तक गोआ सरकार के मुख्य सचिव के पद पर नियुक्त थे। गोआ पधारने के बाद उन्हें सत्रहवीं शताब्दी में मुद्रित एवं हस्तलिखित साहित्य मिला, जो स्थानीय भाषा में लिखा गया था। अपने को पुर्तगाली कहनेवाले स्थानीय ईसाई व्यक्तियों द्वारा उक्त साहित्य का तिरस्कार होते देखकर ये उदाराशय बड़े ही विस्मित हो उठे और उसकी ओर लोगों का ध्यान खींचने के उद्देश्य से उन्होंने सन् १८५८ में 'कोंकणी भाषा पर ऐतिहासिक निबन्ध' नाम की अपनी पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उन्होंने अपने मतानुसार कोंकणी साहित्य की सोदाहरण जानकारी देकर पोर्तुगाली सरकार द्वारा स्थानीय व्यक्तियों की भाषा को नष्ट करने का जो प्रयत्न हुआ उसका इतिहास प्रमाणों के साथ उपस्थित किया है। बानगी के तौर पर उक्त साहित्य के कुछ अंश यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

फादर टॉमस स्टिफन्स (सन् १५४९-१६१९) नाम के अंग्रेज जेजुईट मिशनरी सन् १५७९ में भारत आये थे। उन्होंने स्थानीय भाषा में बाइबिल का अनुवाद किया, जो सन् १६१६ में प्रकाशित हुआ। ईसाइयों का कहना है कि उसकी भाषा कोंकणी है। इसका एक नमूना निम्नानुसार है :

परम शास्त्र जगीं प्रघटावेया।
बहुतां जनां फळसिधी होवावेया।।
भासा बांधोनि मराठिया।
कथा निरोपिली।।
जैसी हरळां माजि रत्न किळा।
की रत्नामाजि हिरा निळा।।
तैसी भासांमाजि चोखाळा।
भासा मराठी।।
जैसी पुस्पांमाजि पुस्प मोगरी।
कीं परिमळां माजि कस्तुरी।।

तैसी भासां माजि साजिरी ।
मराठिया ।।
पखियां मधें मयोरु ।
कुखिआं मधें कल्पतरु ।।
भासां मधें भानु थोरु ।
मराठियेसि ।।
तारां मधें बारा रासी ।
सप्र वारां माजि रवी ससी ।।
यां दिपिचेआं भासां मधें तैसी ।
बोली मराठिया ।।

उक्त अंश पढ़कर मराठी से तनिक भी परिचय रखनेवाले व्यक्ति विस्मित होकर कह उठेंगे, 'स्वयं कवि अपने ग्रन्थ को मराठी भाषा में लिखित मानते हैं, अब इसे कोंकणी कैसे कहा जाए ?' बात बिलकुल सही है । लेखक अपनी भूमिका में भी स्पष्ट रूप से कहते हैं : 'हें सर्व मराठीये भासेन लिहिलें आहें' (मतलब, 'यह सब मराठी भाषा में लिखा गया है') लेकिन हमारे निवासियों को इसमें विश्वास कहाँ ? 'दि ओरिजिन आफ बाम्बे' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक डॉ० जर्सन द कुन्हा (Dr. Jerson de Cunha) उपर्युक्त पुराण के सम्बन्ध में पृष्ठ १६४ पर लिखते हैं :

"He wrote a life of Jesus in Portuguese and then translated it in 1614 into Konkani, which language he called *Lingua Marasta* Brahmana."

कोंकणी को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने के उद्देश्य से बम्बई की 'गोआ यूनियन' नाम की संस्था ने सन् १९०५ में एक समिति नियुक्त की थी, जिसका कार्य-विवरण सन् १९०६ में प्रकाशित हुआ । इसमें स्टिफन्स कृत उपर्युक्त पुराण के सम्बन्ध में लिखा गया है :

"Fr. Stephen's famous work The Concani Purana...Many learned philologists pronounce the language of this Purana to be Marathi, the reason being that in the 17th Century the elevated literary Concani and the literary Marathi were very similar."

फादर स्टिफ़न्स कृत पुराण 'कोंकणीपुराण' के रूप में ही प्रसिद्ध है और महाराष्ट्र की तरह कोंकण (अपरान्त) की ग्रन्थ-निविष्ट भाषा वास्तव में मराठी ही है और इसलिए उपर्युक्त पंक्तियों में कोई गलती हुई हो सो बात नहीं है । बम्बई के सेंट झेवियर कालेज के प्रोफेसर स्वर्गीय फ़ादर हेरास से मैंने स्टिफ़न्सकृत पुराण की भाषा के सम्बन्ध में एक बार प्रश्न पूछा था, तब उन्होंने झट उत्तर दिया था, 'वह तो साफ-सुथरी एवं मँजी हुई (elegant) कोंकणी है ।' 'मँजी हुई कोंकणी' का ही मतलब मराठी है । वास्तव में मराठी को कोंकणी कहने में न कोई गलती है, न ऐसा कहने से गोआ की भाषा-समस्या का निर्माण होता है । समस्या तो तब पैदा होती है जब कोंकणी को मराठी से अलग भाषा मानने का दावा किया जाता है ।

सन् १५४० में पोर्तुगालियों ने गोआ के हिन्दू मन्दिरों को धराशायी किया, उनमें स्थित मूर्तियों को तोड़कर हिन्दुओं के ग्रन्थों को जला दिया और हजारों हिन्दुओं को बलात् ईसाई धर्म की दीक्षा दी । बाद में सासष्ट एवं बारदेस पर अधिकार प्राप्त होते ही वहाँ पाशविक अत्याचारों की राक्षसी लीला शुरू हुई । इससे कई हिन्दू नाम की दृष्टि से ईसाई बने अवश्य, लेकिन इसी से वे ईसाई धर्म को भला कैसे समझ पाते ? सचाई यह रही कि ये ऊपरी तौर से ईसाई होने का दावा भले ही करने लगे हों, आचारों एवं विचारों के क्षेत्र में हिन्दू ही रहे; हिन्दू देवताओं का भजन-पूजन चलता रहा । अतः सन् १५६० में 'इन्क्विजिशन' के नाम से गोआ में धार्मिक न्यायालय की स्थापना की गई, जिसका कर्तव्य था हिन्दू आचार-विचारों का पालन करनेवाले तथाकथित ईसाइयों पर अभियोग चलाकर या तो जुरमाना करना या उन्हें जला देना । यह निर्णय तो हो चुका, लेकिन सवाल था 'आखिर कितने लोगों को दण्डित करें ? और जलाएँ भी कितने लोगों को ?'

अन्ततोगत्वा कुछ विचारकों को यह प्रतीत हुआ कि नवागत ईसाइयों को ईसाई धर्म की शिक्षा प्रदान करना ही अधिक लाभदायक है । अतः सन् १५८५ में धर्माधिकारियों की तीसरी सभा आयोजित हुई, जिसमें ईसाई-धर्मतत्व पर पहले पोर्तुगाली भाषा में प्रश्नोत्तरों की सूची तैयार करके बाद में उसे भारत की अन्यान्य भाषाओं में

अनूदित कराने का प्रस्ताव मंजूर हुआ। इसके अनुसार गोआ की भाषा में एक पुस्तक तैयार करने का काम शायद फादर स्टिफ़ेन्स को सौंपा गया था। गोआ में रहनेवाली कौमों में उन दिनों विभिन्न बोलियाँ प्रचलित थीं, एक समूह की बोली दूसरे समूह की समझ में आसानी से नहीं आती थी। स्टिफ़ेन्स के सामने प्रश्न था, "उक्त अनुवाद के लिए किसी एक बोली को अपनाएँ या पुस्तकीय भाषा को ?" मालूम होता है कि अन्त में उन्होंने अपने अनुवाद में सासष्ट के ब्राह्मणों की बोली का उपयोग करना उचित समझा। यह पुस्तक 'दौत्रीन' के नाम से प्रसिद्ध थी। नवागत ईसाइयों को यही पढ़ाई जाती थी और गिरजाघर में बच्चों को भी यही पढ़ाई जाने लगी। लेकिन इससे उन शिक्षित व्यक्तियों का समाधान नहीं हो पाया जो मराठी में लिखित प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थ पढ़ने के आदी थे। फादर स्टिफ़ेन्स अपने क्रिस्तपुराण के लिखे जाने का कारण यों बतलाते हैं :

"एक धर्मभ्रष्ट ब्राह्मण मेरे पास आए और कह उठे :

पण है दौत्रिनी वांचोनि आन।
कांहीं येक आगळें शास्त्रपुराण।।
जरी आमा करविते पठण।
तरी होतें चांग।।१३४।।
....
....
तुमीं तरी वारिलीं मागिलीं पुराणें।।
तरि प्रतिपुस्तकें आमाकारणें।
कैसीं न करिती तुमीं।।१४३।।
जरी मराठिये भासेचीं काहीं।
शास्त्रपुराणें होतीं आमां ठाईं।।
तरी लोकांचा मनोरथु पाहीं
पूर्ण होता।।१४५।।

उपर्युक्त अंश से पुर्तगालियों के शासन के पहले गोआ में प्रचलित धर्मग्रन्थों की भाषा का अनुमान आसानी से किया जा सकता है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने अपनी सुविदित ज्ञानेश्वरी संवत् १२१२ यानी सन् १२९० में लिखी। इसके बाद सन् १३४८ से लिखित कई ताम्रपट एवं शिलालेख गोआ प्रान्त में पाये गए हैं। उनकी भाषा महाराष्ट्र में अन्यत्र पाये जानेवाले उत्कीर्ण लेखों से ठीक मिलती-जुलती यानी मराठी ही है। सन्त एकनाथ ने भागवत के एकादश स्कन्ध पर अपनी प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय व्याख्या (भावार्थ रामायण) सन् १५७३ में लिखी, लेकिन इसके पहले सन् १५२६ में भागवत के दशम स्कन्ध पर सामराज विरचित व्याख्या की पाण्डुलिपि हाल ही में गोआ में प्राप्त हुई है, जिससे गोआ के साथ मराठी के प्राचीन सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। आज जिसे कोंकणी की संज्ञा दी जा रही है उस बोली में पोर्तुगाली शासन के पहले लिखा हुआ एक भी लेख या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उनके शासन की स्थापना के उपरान्त फादर स्टिफ़न्सकृत क्रिस्तपुराण मराठी में लिखा गया, इसे तो हम पहले ही बतला चुके हैं। इसके साथ-साथ और कुछ मराठी पुराण एवं ईसा मसीह के आत्मोत्सर्ग का वर्णन करनेवाले कुछ काव्य योरोपीयों तथा देश के अन्य निवासियों द्वारा लिखे गए हैं। एतियेन द ला क्रुवा नाम के पादरी ने हिन्दू देवों की निन्दा करते हुए लगभग पन्द्रह हजार ओवियों में (एक मराठी छन्द) सेंट पीटर के चरित्र पर एक पुराण लिखा है, जो सन् १६२९ में रोमन लिपि में मुद्रित हुआ। उन्होंने उसकी भूमिका गद्य में लिखी, जिसमें अपने ग्रन्थ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :

"भास-मराठी, घडित वोवियाचें अभाषिक कोंकणे जेंतिय (हिंदु) लोकु सां० पेद्रु प्रति प्रस्टनुं करितां, आणी भग्तु तेयांसि प्रति उत्तर देतां, शास्त्रवेवादु मांडोनि कोंकणेत्वाचें (हिंदुधर्माचें) छेदन करताए।"[1]

सेंट ऐंन्थनी नाम के ईसाई सन्त के चरित्र पर फादर आन्तोनियु सालदांज द्वारा रचित ओवीबद्ध मराठी पुराण भी रोमन लिपि में सन् १६५५ में मुद्रित हुआ, जिसका देवनागरी रूप प्रस्तुत लेखक के द्वारा ही सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ है। इनके अलावा ईसा मसीह के आत्मोत्सर्ग पर आधारित मराठी भाषा में लिखित दो काव्य भी प्रकाशित करने का अवसर प्रस्तुत लेखक को प्राप्त हुआ

१. **इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्रस्तुत लेखक द्वारा सितम्बर १९६० के बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल (क्रम-संख्या २९) खण्ड २ में लिखित लेख में मिलेगी।**

है। विदेशी पादरियों ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि गोआ की देशीय भाषा (vernacular) मराठी ही है।[1]

सच बात तो यह है कि गोआ में कोंकणी नाम की कोई निश्चित भाषा या बोली विद्यमान ही नहीं है। पादरी हिन्दुओं को 'कोंकणे' कहकर पुकारते थे, आज भी ईसाई उसी संज्ञा का उपयोग करते हैं। शायद इसी से उनकी याने कोंकणे लोगों की भाषा का नाम कोंकणी हो गया। सत्रहवीं शताब्दी में स्थानीय बोलियों में कुछ पुस्तकें लिखी गईं, जिनकी भाषा का निर्देश करते हुए पादरियों ने उसे 'ब्राह्मणी', 'कानारी' (किनारे पर रहनेवालों की) या 'चालू' (current) की संज्ञा दी है। जातियों एवं स्थलों के परिवर्तन के अनुसार गोआ प्रदेश में विभिन्न बोलियाँ अवश्य बोली जाती हैं, लेकिन सावन्तवाडी के शासकों से पाये गए तीनों इलाकों की बोली गोआ प्रदेश की अन्य बोलियों की ही तरह 'कुडाली' है। ईसाई लोगों की बोलियों पर पोर्तुगाली भाषा का इतना अत्यधिक प्रभाव पड़ा है कि 'गोआनीज़' बोलियों को मराठी कहने के बजाय पोर्तुगाली बोली कहना ही अधिक समीचीन होगा। हिन्दुओं की 'गोमन्तकी' तथा ईसाइयों की 'गोआनीज़' में जो भिन्नता है वह हिन्दी और उर्दू के बीच के भेद से भी अधिक है। इसलिए बिना विशेष सम्पर्क के एक बोली बोलनेवाले दूसरी को समझ नहीं पाते। हाल ही में प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक गोआ में पहुँचा था। उस समय इतिहास के सुविदित अनुसन्धानकर्ता एवं गोआ सरकार के इतिहास-विभाग के सेवानिवृत्त डाइरेक्टर डॉ० पांडुरंग पिसुर्लेकर ने अपने अनुभव की जो बात कही वह निम्नानुसार है :

> "गोआ में स्थित रायतूर में पादरियों के कार्य की दीक्षा देनेवाला एक मदरसा है। उसके मुख्याध्यापक एक बार उच्च कक्षाओं के उन विद्यार्थियों को लेकर पणजी आये जिन्हें निकट भविष्य में ही पादरियों के कार्य की दीक्षा देना तय हुआ था। उन्होंने पोर्तुगालियों के शासन के पूर्व गोआ की स्थिति पर विद्यार्थियों के सामने 'कोंकणी' में बोलने की मुझसे प्रार्थना की, जिसे मैंने मंजूर किया। बाद में नियत समय पर मेरा व्याख्यान शुरू हुआ। दस मिनटों के बाद दो विद्यार्थी खड़े होकर कहने लगे, 'अब तक हम लोग कुछ भी समझ नहीं पाए।' मैं दंग रह गया। आखिर मैंने पोर्तुगाली भाषा में बोलना शुरू किया तभी वे समझ सके।"

गोआ की भाषा-विषयक समस्या का यही असली रूप है। हिन्दी के विरोध में उर्दू यानी फारसी लिपि का पक्ष लेकर जो व्यक्ति बाजी हार गए वे ही आज 'कोंकणी' का जोर-शोर के साथ समर्थन कर रहे हैं। संस्कृत के सुभाषितकार ने उचित ही कहा था—'स्वभावो दुरतिक्रमः।'

गोआ के निवासियों को कृष्णवर्ण पोर्तुगाली बनाना हो गोआ के विदेशी शासकों का उद्देश्य था। इसमें स्थानीय भाषा की उनकी जानकारी बाधाएँ उपस्थित करती थी। इसी लिए वाइसराय कोंद द आलू वोर ने सन् १६८४ में स्थानीय भाषा को हटाने का वह कानून पास कराया जिसके अनुसार तीन वर्षों की अवधि में पोर्तुगाली भाषा में बोलना गोआ के निवासियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया और व्यवहार में पोर्तुगाली भाषा का उपयोग न करनेवाले व्यक्ति को दण्डनीय घोषित किया गया। इसके फलस्वरूप लोगों का पुस्तकीय भाषा का अध्ययन धीरे-धीरे कम होता गया। निम्न वर्गों के अशिक्षित व्यक्ति पोर्तुगाली भला कैसे बोल सकते थे ? उनसे व्यवहार करने के लिए 'बोली' के ही माध्यम को अपनाना आवश्यक हो उठा। इतना होने पर भी यह ध्यान देने योग्य है कि पुस्तकीय भाषा यानी मराठी पूरी तौर से नष्ट नहीं हो पाई। सन् १७७६ तक गोआ की चर्चों में स्टिफ़न्स कृत 'क्रिस्तपुराण' का वाचन होता रहा जैसा कि २८ अप्रैल १७७६ में बेजा पोर्तुगाल के धर्माध्यक्ष को गोआ के सर्वप्रधान ईसाई धर्माध्यक्ष (Archbishop) दों फ्रांसिस्कु दा आसुंसांव द्वारा लिखे गए पत्र से स्पष्ट है। उपर्युक्त पत्र में गोआ के आर्चबिशप लिखते हैं, "हर गुरुवार को मराठी (Marastta) ग्रन्थों के परिच्छेद पढ़कर उन्हीं के सहारे प्रचलित (vulgar) भाषा में प्रवचन करने की प्रथा यहाँ के गिरजाघरों में विद्यमान थी, जिस पर मैंने खास आदेश निकालकर रोक

१. देखें प्रस्तुत लेखक की पुस्तक The Printing Press in India, page २०२।

लगाई।" इससे स्पष्ट है कि पोर्तुगाली शासक ईसा मसीह के धर्म का प्रचार करने-भर से सन्तुष्ट नहीं थे, वे यहाँ की भाषा को भी पोर्तुगाली बनाना चाहते थे। इसी नीति का आगे चलकर यह असर हुआ कि गोआ के निवासी धीरे-धीरे स्वधर्म के साथ-साथ स्वभाषा से भी वंचित हुए और पोर्तुगाली को ही निजी भाषा मानकर स्वभाषा से घृणा करने लगे। 'कोंकणी' भाषा के आद्यजनक डॉ० रिव्हार कोंकणी भाषा पर लिखित प्रवन्ध, जिसका उल्लेख हो चुका है, में कहते हैं :

> "......इस प्रबन्ध को लिखते समय (१८५८) 'कोंकणी' में लिखित पुस्तकें पाना हमारे लिए दूभर हो उठा है क्योंकि कई व्यक्ति उन्हें छिपाते हैं और उन्हें अपने पास रखने की बात बतलाते तक नहीं। उनकी अपनी भाषा में लिखित ग्रन्थों को अपने पास रखने एवं पढ़ने की बात कहने पर उनके मन पर अपनी हँसी उड़ाये जाने या निरे गँवार कहे जाने का भय छाया रहता है।"[1]

माना कि 'कोंकणी' भाषा की परिषदें बीच-बीच में बुलाई जाती हैं, लेकिन यह भी सच है कि इनके अधिकांश अध्यक्ष महोदय भी अपना भाषण 'पोर्तुगाली' या 'अंग्रेज़ी' में लिखने पर बाध्य होते हैं, वे उसे 'कोंकणी' में नहीं लिख पाते। सन् १९४७ में हमें आज़ादी मिलने के मौक़े तक इन गोआनीज़ सज्जनों के नाम 'टाइम्स आफ़ इण्डिया डिरेक्टरी' में बम्बई के योरोपीय निवासी के रूप में दर्ज किये जाते थे। पोर्तुगाली शासन में सरकार का पूरा समर्थन इन्हें प्राप्त था, फिर भी अपने बच्चों की शिक्षा के लिए उन दिनों इन्होंने एक भी कोंकणी का मदरसा नहीं खोला, यह एक सौ-फी-सदी सचाई है। हाँ, हिन्दुओं ने अपने बच्चों के लिए लगभग तीन सौ या चार सौ मराठी के मदरसे खोले थे और उनका संचालन वे स्वयं अपने खर्चे से करते थे।

अब रही बात कुछ हिन्दुओं द्वारा 'कोंकणी' की स्वतन्त्रता के समर्थन की। गोआ की भाषा के रूप में 'कोंकणी' का समर्थन करनेवाले हिन्दुओं में स्वर्गीय वामनराव वालावलकर ही सर्वप्रथम हैं। इन्होंने स्वयं लिखा है, "मैं मराठी को ही गोआ की जन्मभाषा मानता था, लेकिन लगभग सन् १८९९ में थोमास मोराव नाम के इंडो-पोर्तुगाली सज्जन ने 'गोआ की भाषा कोंकणी है, मराठी नहीं' इसे स्पष्ट रूप से समझाया और बाद में मुझे भी वह बात उचित मालूम हुई।" स्वर्गीय वामनरावजी के उपर्युक्त कथन पर विश्वास करना सम्भव नहीं है, क्योंकि उक्त इंडो-पोर्तुगाली महाशय स्वयं मराठी के बड़े अभिमानी थे, वे अपने खर्च से 'देशसुधारणेच्छु' नामक मराठी साप्ताहिक का संचालन करते थे। हिन्दुओं के लिए उन्होंने मराठी में 'रामविजय' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित किया था और स्पष्ट रूप से यह उल्लेख पाया जाता है कि उनकी राय में उचित तो यही था कि बोलचाल में गोआ के हिन्दू मराठी का ही उपयोग करें।

सच बात तो यह थी कि श्री वालावलकर चित्पावन एवं कर्‌हाडे ब्राह्मणों पर नाराज थे और यह नाराजी ही उनके कोंकणी-प्रेम का कारण हुई। कोंकण में रहनेवाले ब्राह्मण तीन प्रकार के हैं: सारस्वत, चित्पावन एवं कर्‌हाडे। इन तीनों की अपनी-अपनी बोलियाँ हैं, जो पुस्तकीय मराठी से भिन्न हैं। कोंकण के निवासी चित्पावन एवं कर्‌हाडे ब्राह्मण गत शताब्दी के मध्य में बम्बई आए। स्थानान्तरण के कारण उन्हें अपनी बोलियों का त्याग करना पड़ा। लेकिन गोआ के सारस्वत वहीं रहे, उनकी बोली भी कायम रही। दूसरी बात थी मत्स्याहार की। तीनों में मांस-भक्षण निषिद्ध माना गया था; किन्तु सारस्वतों में मत्स्याहार के लिए कोई परहेज नहीं था। उक्त दोनों कारणों से बम्बई की बड़ी-बड़ी इमारतों में रहनेवाले चित्पावन एवं कर्‌हाडे वहाँ सारस्वतों को निम्न कोटि

---

1. "...Now at the moment (1858) when we are writing this, we find great difficulty in discovering any of these (Concani) books for many individuals hide them and even deny their possession, with the fear that they may be objects of mockery and derision and be branded as rude, if perchance they acknowledge that they possess and read these monuments of their language."

का मानकर उनकी कोंकणी की खिल्ली उड़ाते थे। श्री वालावलकर जब बम्बई पहुँचे तब उन्हें इसका पर्याप्त अनुभव हुआ और एक ठेस-सी लगी। गोआ में सारस्वत 'ब्राह्मण' कहलाते हैं और कर्‌हाडों, चित्पावनों एवं देशस्थों को 'भट' की संज्ञा दी जाती है। बम्बई में आकर गोआ के ये भट अपनी स्थानीय बोलियों का त्याग एवं पुस्तकीय मराठी को अंगीकार कर वहाँ के ब्राह्मणों की पवित्रता का तिरस्कार करने लगे; इतना ही नहीं उन्हें अछूत मानने की सीमा तक जा पहुँचे। इसी से श्री वालावलकर के मन में चित्पावनों एवं कर्‌हाडों के प्रति एक डाह पैदा हुई। धीरे-धीरे यह डाह एवं द्वेष-भावना उनकी भाषा यानी पुस्तकीय मराठी तक फैल गई, जैसा कि उनके निम्नलिखित उद्‌गारों से स्पष्ट है : "विद्यमान मराठी वास्तव में वह भाषा है, जो चित्पावनों एवं कर्‌हाडों द्वारा सर्वथा भ्रष्ट हो चुकी है।"

'कोंकणी' का प्रबल समर्थन करनेवालों में आभिजात्य के गर्व से प्रेरित इन सारस्वत ब्राह्मणों के सिवा मेरी राय में और कोई हिन्दू शायद ही मिले। कोंकणी एवं मराठी के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया' के सुविदित लेखक सर जॉर्ज ग्रियर्सन का कथन ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है :

> "कोंकणी मराठी की वह बोली है, जो बहुत पहले प्राकृत से निकलकर अलग हो गई। इसी वजह से दोनों में आजकल कुछ भिन्नता दिखाई देती है। पुराने उच्चारण के विकास की कुछ कड़ियों की कोंकणी ने सुरक्षा की है और साहित्यिक मराठी की तुलना में उसकी क्रियाओं के रूपों में विविधता अधिक पाई जाती है। कई रूप 'कोंकणी' बोली के अपने हैं, तो कुछ रूपों के अर्थ मराठी के सदृश रूपों के अर्थों से बिलकुल भिन्न हैं। परम्परा के अनुसार शेणवी गोआ के निवासी ब्राह्मणों को परशुराम त्रिहोत्र से (तिरहुत से) ले आये और इसी आधार पर गोआ के लेखक कोंकण को मराठी से अलग एवं तिरहुत में बोली जानेवाली सारस्वती बलभाषा से उत्पन्न मानते हैं और कोंकणी में ह्रस्व 'अ' के 'ओ' की तरह होनेवाले उच्चारण को इसके प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं। गोआ एवं मंगलौर के ईसाई मिशनरी—जिनकी कृपा से हम 'कोंकणी' से परिचित हो सके हैं—भी कोंकणी को मराठी से अलग बोली मानने के पक्ष में हैं सही; लेकिन उक्त दृष्टिकोण 'बोली' के संकीर्ण अर्थ पर आधारित होने के कारण मेरी राय में गलत है। बोली को यदि स्वतन्त्र भाषा का अलग एवं बिगड़ा हुआ रूप ही मान लें, तो कोंकणी की तरह भारत की कई बोलियाँ भाषाओं का स्थान ग्रहण कर सकेंगी। माना कि भाषा एवम् बोली में विभाजक रेखा खींचना मुश्किल है, फिर भी जहाँ तक मराठी एवं कोंकणी का सम्बन्ध है, सन्देह के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। दोनों एक ही प्राकृत से निकली हैं और एक ही भाषा की बोलियाँ हैं। हम इस भाषा को 'कोंकणी' के बजाय 'मराठी' इसलिए कहते हैं कि पूना एवं सातारा की उत्तरी बोलियों में मराठी का समूचा साहित्य लिखा गया है; कोंकण की बोलियों में नहीं।"[1]

ईसाई लोगों को भय है कि मराठी सीखने से सभी ईसाई हिन्दुओं के मराठी में लिखित ग्रन्थ पढ़ने लगेंगे, इसीलिए उनके द्वारा कोंकणी का समर्थन किया जाता है, लेकिन इससे बचने के लिए मेरी राय में यही इच्छा है कि वे (ईसाई) सीधे हिन्दी को ही स्वीकार करें।

(अनुवादक : डॉ० मो० दि० पराडकर)

---

1. Linguistic Survey of India, Vol. VII, 1905, p. 164.

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

हिन्दी-कविता को महिलाओं की देन

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' का जन्म सितम्बर १९१६ में मेरठ जिले के बाबूगढ़ नामक ग्राम में हुआ था। आप गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक हैं। अनेक वर्षों तक पत्रकारिता करने के उपरान्त आजकल साहित्य अकादमी के प्रकाशन विभाग में कार्य कर रहे हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं : 'मल्लिका', 'बन्दी के गान', 'कारा' (काव्य), 'साहित्य विवेचन', 'हिन्दी साहित्य : नये प्रयोग' आदि। कई संग्रहों का सम्पादन भी किया है। दिल्ली में रहते हैं।

साहित्य का अत्यन्त समृद्ध अंग कविता है। जहाँ विश्व की अन्य बहुत-सी भाषाओं के साहित्य का प्रारम्भ कविता से हुआ, वहाँ हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ भी कविता के प्रणयन से ही हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य के आदिकाल में नारियों ने काव्य-प्रणयन में उतना योगदान नहीं दिया, जितना आधुनिक काल में। वीरगाथा-काल, भक्ति-काल और रीति-काल में यद्यपि महिलाओं का साहित्य-रचना में कोई विशेष उल्लेखनीय और सक्रिय योग नहीं था, तथापि उन दिनों जितनी भी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ रची गईं उन सबका प्रेरणा-स्रोत नारियाँ ही थीं। यहाँ तक कि वीरगाथा-काल और रीति-काल में रचित काव्य-ग्रन्थों में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका मुख्य केन्द्र-बिन्दु नारी ही है। रीति-काल में तो नारी-जीवन के विभिन्न पक्षों और अंगों को आधार बनाकर ही बहुत-से काव्य-ग्रन्थों की सृष्टि हुई। वीरगाथा-काल में जहाँ बहुत-से कवियों ने नारी को पारस्परिक युद्धों और समस्याओं का कारण मानकर अपने काव्यों की सृष्टि की, वहाँ रीति-काल में नायक-नायिका-भेद-जैसे विषयों का पर्यालोचन भी नारी को मुख्य आधार बनाकर ही किया गया।

हिन्दी-साहित्य के उन्नयन तथा प्रणयन में नारियों ने जहाँ उल्लेखनीय प्रेरणा का काम किया, वहाँ वह साहित्य-रचना में भी पीछे नहीं रहीं। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम उन्होंने अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में 'कविता' को ही अपनाया। कविता और नारी का सम्बन्ध इतना अन्यो-न्याश्रित है कि उनमें से किसी को भी एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में भारतीय नारियों की सामाजिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे खुलकर इस क्षेत्र में आतीं। उन दिनों हमारे समाज का गठन ही ऐसा था कि सब ओर से नारियों की उपेक्षा की जा रही थी। तत्कालीन समाज और उसके नियन्ता पुरुष-वर्ग की ओर से उस पर नाना प्रकार के ऐसे बन्धन थे कि वह खुलकर साँस भी नहीं ले सकती थी। ऐसे समाज में यदि कोई नारी काव्य-प्रणयन और साहित्य-रचना में प्रवृत्त

हुई तो वह उसका एक क्रान्तिकारी निश्चय ही कहा जा सकता है।

हिन्दी की आदिकवयित्री **मीरा** ने समाज के इस बन्धन को तोड़ा और अपनी पीड़ा को भगवद्-प्रेम के माध्यम से इतनी तन्मयता से चित्रित किया कि उनकी रचनाओं में समग्र नारी-जाति की विवशता, वेदना और आत्म-पीड़ा अत्यन्त सजीव रूप में प्रतिफलित हुई। उन्होंने अपनी रचनाओ में जहाँ नारी-जीवन की अथाह पीड़ा का अंकन किया, वहाँ 'परकीया नायिका' का सर्वोच्च आदर्श भी हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। मीरा से परवर्ती हिन्दी के जा कवि नारी को मात्र विलास-सामग्री के रूप में अंकित करने में ही अपने कवि-कौशल की महत्ता समझते थे, उन्हें इस बात की कल्पना तक भी नहीं होगी कि अपने भक्ति-रस से परिपूर्ण पदों के माध्यम से मीरा किस प्रकार 'गिरधर नागर' की दासी हो सकती है।

मीरा के बाद यद्यपि **प्रवीणराय, ताज, शेख, रसिक बिहारी, सहजोबाई, दयाबाई, सुन्दर कुँवरिबाई, बणी-ठणी, छत्र कुँवरिबाई, प्रताप कुँवरिबाई, बाघेली विष्णु-प्रसाद कुँवरि, चन्द्रकला, गिरिराज कुँवरि, श्री जुगलप्रिया, रामप्रिया, रानी रघुवंशकुमारी, सरस्वती देवी, चम्पादे रानी** आदि अनेक कवयित्रियों ने हिन्दी-काव्य की समृद्धि में अनुपम योग दिया तथापि वे मीरा के प्रभाव से अछूती नहीं रहीं। प्रायः इन सभी कवयित्रियों की रचनाओं में मीरा की पीड़ा की झलक पाई जाती है। कहीं-कहीं अध्यात्म-प्रेम के अतिरिक्त लौकिक प्रेम की पीड़ा भी इनकी रचनाओं में उभरकर आई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में हिन्दी की ये सभी कवयित्रियाँ राज-दरबारों और राज-घरानों से ही सम्बन्धित थीं। कोई यदि रानी थी, तो कोई राज-दरबार की परिचारिका। वास्तव में आधुनिक काल से पूर्ववर्ती समय में साधारण परिवारों की नारियाँ साहित्य-रचना की ओर अग्रसर ही नहीं हुई थीं। इसका सम्भवतः एक कारण यह भी हो सकता है कि हमारा समाज उन दिनों तत्कालीन परिस्थितियों और बन्धनों से इतना आबद्ध था कि साधारण घरानों की महिलाएँ केवल अपने पारिवारिक कार्यों तक ही सीमित रहती थीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन के साथ हिन्दी साहित्य में एक नवीन युग का उदय हुआ और हमारी नारियाँ घर के परकोटे को लाँघकर जहाँ सामाजिक कार्यों के अन्य क्षेत्रों में अग्रसर हुईं, वहाँ काव्य-रचना की दिशा में भी उन्होंने अभूतपूर्व योग-दान दिया। यह वह समय था जबकि मुग़लों की सल्तनत ख़त्म हो गई थी तथा हमारा देश ब्रिटिश नौकरशाही के अनेक अत्याचारों से आक्रान्त था और यहाँ के विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीय चेतना अँगड़ाई ले रही थी। ऐसे समय में हमारे साहित्य में राष्ट्रीय रचनाओं का प्रणयन होना स्वाभाविक ही था। इस युग में जिन कवयित्रियों ने अपनी रचनाओं से हिन्दी-काव्य की अभिवृद्धि में योग दिया उनमें राजरानी देवी, गुजराती बाई उपनाम 'बुन्देला बाला', गोपालदेवी, कीरतिकुमारी, तोरनदेवी शुक्ल 'लली' और सुभद्राकुमारी चौहान आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-कविता के क्षेत्र में 'भारतेन्दु' बाबू हरिश्चन्द्र के द्वारा जो नवोदय हुआ था, उसका प्रभाव महिलाओं पर भी पड़े बिना न रहा। **श्रीमती राजरानी देवी** (जन्म सन् १८७०) उनसे प्रभावित आधुनिक काल की पहली कवयित्री हैं। इनकी रचनाओं में समाज-सुधार तथा राष्ट्र-प्रेम के साथ-साथ नारी-जागरण का प्रबल उद्घोष गुंजित है। कदाचित् हमारे बहुत कम पाठक यह जानते होंगे कि राजरानीजी हिन्दी की रहस्यवादी धारा के प्रमुख कवि डॉक्टर रामकुमार वर्मा की माता थीं। उनकी 'प्रमदा प्रमोद' और 'सती संयुक्ता' नामक कृतियाँ प्रमुख हैं। अपनी 'सती संयुक्ता' नामक कृति में उन्होंने नारियों को देशभक्ति का जो उद्बोधनपरक सन्देश दिया है, वह हमारी तत्कालीन परिस्थितियों का ज्वलन्त दर्पण है :

देवियो ! क्या पतन अपना देखकर,
नेत्र से आँसू निकलते हैं नहीं ?
भाग्यहीना क्या स्वयं को लेखकर,
पाप से कलुषित हृदय जलते नहीं ?
नेत्र-गोपन का चिबुक-चुम्बन जहाँ,
प्रेम की विधि का अनूप विधान है।
मातृ-भू के त्राण की गाथा वहाँ,
पापियों के पुण्य-गान समान है॥

किंकिणी का नाद असि-झंकार है,
भ्रू-चपलता है ललित कौशल जहाँ।
वीर रस होता जहाँ शृंगार है,
देश-गौरव की शिथिलता है वहाँ।।

श्रीमती **गुजरातीबाई** उपनाम बुन्देला बाला (जन्म : सन् १८८३) हिन्दी के प्रख्यात कवि लाला भगवानदीन की धर्मपत्नी थीं। इनकी रचनाओं पर लाला भगवानदीन का काफी प्रभाव पड़ा था। जिस प्रकार लालाजी ने 'वीर पंचरत्न' नामक कृति का सृजन किया, उसी प्रकार गुजरातीबाई भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहीं। उन्होंने अपनी देशभक्तिपूर्ण रचनाओं से भारतीय युवकों में शौर्य तथा वीरता का जो भैरव मन्त्र फूंका, वह अत्यन्त उल्लेखनीय है। भारत की महिमा का बखान करते हुए उन्होंने अपनी 'माता और पुत्र की बातचीत' नामक रचना में पंजाब का वर्णन इस प्रकार किया है :

बेटा, यह पंजाब देश है,
पुण्यभूमि सुख-शान्ति-निवास।
सर्व प्रथम इस थल पर आकर,
किया आर्यों ने निज वास।।
कहीं-गान-ध्वनि, कहीं वेद-ध्वनि,
कहीं महामन्त्रों का नाद।
यज्ञ-धूम से रहा सुवासित,
यह पंजाब सहित-आह्लाद।।

गोपालदेवीजी (जन्म : सन् १८८३) 'शिशु' नामक बालोपयोगी पत्र (अस्तंगत) के ख्यातनामा सम्पादक और बाल साहित्य के सफल प्रणेता श्री सुदर्शनाचार्य बी० ए० की धर्मपत्नी थीं और स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में इन्होंने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया था। इन्होंने बहुत समय तक 'गृह-लक्ष्मी' नामक एक महिलोपयोगी पत्र का सम्पादन भी अत्यन्त सफलतापूर्वक किया था। 'गृहलक्ष्मी' के माध्यम से इन्होंने भारतीय नारियों में जहाँ नई चेतना उत्पन्न की वहाँ उन्हें साहित्य-लेखन की ओर भी प्रेरित किया। इनके पति बाल-साहित्य के प्रणयन और प्रकाशन में विशेष रुचि लेते थे, अतः यह स्वाभाविक ही था कि गोपालदेवी भी उसी दिशा में अग्रसर होतीं। उन्होंने ऐसी अनेक बालो-पयोगी कहानियों को पद्यबद्ध किया, जिन्हें पढ़कर बच्चे मनोरंजन के साथ-साथ कुछ शिक्षा भी ग्रहण कर सकेंगे। उनकी ऐसी रचनाओं में 'चमगीदड़', 'धोबी और गधा', 'भेड़ और भेड़िया', तथा 'मौत और घसियारा' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

श्रीमती **'कीरतिकुमारी'** (जन्म : सन् १८९५) का वास्तविक नाम 'पनिहारिन माँ साहिबा' था। वे रीवा राज्य की राजमाता थीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में कृष्ण और राधा के प्रेम का अंकन ही प्रमुख रूप से किया है। उनकी भाषा में फारसी और उर्दू के शब्दों का बाहुल्य देखने को मिलता है। निम्न पद्य में जहाँ राधा का कृष्ण के प्रति उपालम्भ दृष्टिगत होता है, वहाँ उर्दू और फारसी के शब्दों का प्रयोग भी उल्लेखनीय है :

वादा करके मेरे श्याम दग़ा दी तूने,
ग़ैरों के रहके सारी रात गमा दी तूने।
शाम से रात तसव्वर में गुज़ारी मैंने,
क्या बिगाड़ा था मेरी जान सज़ा दी तूने।
जान जाती है मेरी तुझको मज़ा आता है,
वादा करके भी मुहब्बत को घटा दी तूने।
तुम मिलो, या न मिलो, मैं तुम्हें भूलूँगी नहीं,
मिल गए गर तो, 'कीरति' को बना दी तूने।

उन्होंने खड़ीबोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी सफल रचनाएँ की थीं। उनकी निम्न रचना ब्रजभाषा की प्रौढ़ कविता का उज्ज्वल उदाहरण है :

लीला के करैया नेकु माखन चुरैया,
दूध, दधि के लुटैया रास-मंडल रचैया हैं।
गिरि के धरैया ब्रज बूड़त बचैया,
गर्व इन्द्र के हरैया, वस्त्र गोपिन चुरैया हैं।
बृषासुर दुष्ट अघ बक के बधैया,
प्राण दासन रखैया घट-घट के रमैया हैं।
सोई दीनानाथ आज 'कीरतिकुमारी' गृह,
जनम लिवैया, दुख-दारुण हरैया हैं।

कीरतिकुमारी के बाद हिन्दी-कविता के क्षेत्र में जितनी भी महिलाएँ उन दिनों आईं, उनकी रचना की धारा दूसरी ही थी। उन दिनों 'राष्ट्रीय जागरण' का भैरव नाद समग्र देश में बज चुका था और भारत के आबालवृद्ध नर-नारी राष्ट्रीय संग्राम में जूझने के लिए छटपटा रहे थे। **श्रीमती**

तोरनदेवी शुक्ल 'लली' ऐसी कवयित्री थीं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा का सदुपयोग देशभक्तिपूर्ण रचनाओं के लेखन में किया। राष्ट्रीय जागरण की पावन वेला में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के निमित्त हँस-हँसकर अपने प्राणों को होम देने वाले असंख्य वीरों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए, उन्होंने जो रचना की थी, वह वास्तव में उनके पावन उद्देश्य की परिचायक है। उन्होंने लिखा था :

सादर, सस्नेह प्रणाम आज, उन चरणों में शत कोटि बार !
माता के लाल लड़ैते थे,
भगिनी के वीर बाँकुरे थे,
सौभाग्यवान जीवन के वे,
जीवन थे, प्राण पियारे थे।
वे सबकी भावी आशा थे, थे जन्मभूमि के होनहार !
सादर, सस्नेह प्रणाम आज, उन चरणों में शत कोटि बार !

खड़ी बोली की आधुनिक कवयित्रियों में 'लली' जी ऐसी महिला थीं, जिनकी 'जागृति' नामक काव्य-कृति पर अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'सेकसरिया पुरस्कार' प्रदान किया था।

श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल 'लली' की रचनाओं द्वारा राष्ट्रीयता का जो शुभारम्भ हुआ, उसे श्रीमती **सुभद्राकुमारी चौहान** ने और भी परिपुष्ट तथा समृद्ध किया। उनकी 'त्रिधारा' तथा 'मुकुल' नामक काव्य-कृतियाँ इसकी साक्षी हैं। अपनी राष्ट्रीय जागरण-सम्बन्धी रचनाओं के कारण सुभद्राजी का नाम हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनकी 'झाँसी की रानी' शीर्षक अकेली ही रचना ऐसी है, जिसने भारतीय जन-मानस में नई चेतना और उत्साह का अभूतपूर्व संचार किया है। उनके पति स्व० ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान भी हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ और सुकवि थे। सुभद्राजी की रचनाओं से पाठकों को देश की तात्कालिक राजनीतिक अवस्था का विशद परिचय मिलता है। 'झाँसीवाली रानी' के अतिरिक्त उनकी 'जलियाँवाला बाग में वसन्त' तथा 'राखी' आदि अनेक ऐसी राष्ट्रीय रचनाएँ हैं, जो आज भी हमारे देश की तरुणाई को रण में जूझ जाने का आमन्त्रण देती-सी प्रतीत होती हैं।

सुभद्राजी की रचनाओं में जहाँ राष्ट्रीयता का रंग देखने को मिलता है वहाँ उनकी कृतियों में भारतीय नारी के अन्तर्द्वन्द्व, पीड़ा तथा वेदना का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। अपने आराध्य के प्रति उन्होंने जो भावनाएँ व्यक्त की हैं, वे उनकी भावनाएँ न होकर समग्र नारी-जाति का प्रतिनिधित्व करती-सी लगती हैं। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो।
मैं उन्मत्त प्रेम की लोभिन, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है, बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ।
चरणों पर अर्पित है इसको, चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो।

अपने जीवन से निराश प्रेमिका का जो चित्र सुभद्राजी ने अंकित किया है, वह भी उनकी कल्पना-प्रवणता का द्योतक है। वे लिखती हैं :

यह मुरझाया हुआ फूल है, इसका हृदय दुखाना मत।
स्वयं बिखरने वाली इसकी, पंखुड़ियाँ बिखराना मत।
गुज़रो अगर पास से इसके, इसे चोट पहुँचाना मत।
जीवन की अन्तिम घड़ियों में, देखो इसे रुलाना मत।
अगर हो सके तो ठंडी बूँदें टपका देना प्यारे।
जल न जाय सन्तप्त हृदय, शीतलता ला देना प्यारे॥

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के बाद हिन्दी-कविता के क्षेत्र में जिन कवयित्रियों ने पदार्पण किया, प्रायः वे सब रहस्यवादी कविता की ओर उन्मुख हुईं और उन्होंने अपनी पीड़ा को समष्टि रूप देकर ऐसी रचनाएँ कीं, जिनमें मानवात्मा विश्वात्मा से मिलने के लिए उद्विग्न दिखाई देती है। इस काल का प्रायः सारा ही काव्य 'रहस्यवादी' विचार-धारा से प्रभावित परिलक्षित होता है। हिन्दी के पुरुष कवियों में जयशंकर 'प्रसाद' की रचनाओं से जिस प्रकार की काव्य-परम्परा का सूत्रपात हुआ था, उसी परम्परा की एक कड़ी के रूप में **श्रीमती महादेवी वर्मा** का उदय हुआ। देवीजी ने अपने जीवन की वेदना के विष को अध्यात्म का पुट देकर इस प्रकार चित्रित किया कि उसमें भारतीय नारियों की पीड़ा, वेदना, कसक, कराह, आँसू, रुदन, मिलन, विछोह आदि का सजीव चित्र हमारे समाज के सामने आ गया। कहीं-कहीं जहाँ नारी की पीड़ा

अत्यन्त गहनता की सीमा को छू गई, वहाँ ऐसा आभास होने लगा कि आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए छटपटा रही है। वास्तव में नारी की उस पीड़ा में आध्यात्मिकता का पुट कम और सांसारिकता की आकुल छटपटाहट अधिक दिखाई देती है। ऐसी कवयित्रियों में महादेवी वर्मा के अतिरिक्त तारा पाण्डेय, रामेश्वरी गोयल, रामेश्वरी देवी 'चकोरी', होमवती, पुरुषार्थवती, विद्यावती 'कोकिल' और सुमित्राकुमारी सिनहा आदि के नाम विशेष परिगणनीय हैं।

महादेवी वर्मा की रचनाओं की विशेषता उनकी कोमल शब्दावली, मर्म को छूनेवाली पीड़ा और अन्तरतम के वे उच्छ्वास हैं, जो सहज ही मानव-मन पर अपना अधिकार कर लेते हैं। उनकी रचनाओं में समाविष्ट पीड़ा को पाठक अपनी ही पीड़ा समझने लगते हैं। यही उनके काव्य की सार्थकता है। नारी-जीवन की विवशता का चित्रण करने में इन्हें जो सफलता मिली है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी उन्हें हुआ। यदि यथार्थ की पृष्ठभूमि में उनकी अनुभूतियाँ अंकुरित न हुई होतीं तो कदाचित् पीड़ा का इतना सजीव अंकन उनकी रचनाओं में न हो पाता। उनकी निम्न पंक्तियों में नारी का सही चित्र प्रतिफलित हुआ है :

मैं नीर-भरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली !
मैं नीर-भरी दुख की बदली !

यही नहीं कि वे नारी की पीड़ा का ही वर्णन करती हों। उन्होंने अपने आराध्य से अनेक प्रतारणाएँ पाकर भी उसी के मन्दिर की प्रतिमा बनने की पावन अभिलाषा प्रकट की है। इससे नारी की अनन्य निष्ठा और साधना का परिचय मिलता है। वे लिखती हैं :

शून्य मन्दिर में बनूँगी, आज मैं प्रतिमा तुम्हारी !
अर्चना हो शूल भोले
क्षार दृग-जल अर्घ्य होले
आज करुणा-स्नात उजला दुःख हो मेरा पुजारी !
शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी !

अपने आराध्य के सपने पलकों में पालने का जो भाव उनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है वह वास्तव में भारतीय नारी के उज्ज्वल आदर्श का प्रतीक है। अपने प्रियतम की याद में आँसू बहाने को भी वह प्यार का पवित्र उपादान मानती हैं। तभी तो उन्होंने यह लिखा है :

जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तम की उलझन में खोई
धूममयी वीथी-वीथी में,
लुक-छिपकर विद्युत-सी रोई
मैं कण-कण में ढाल रही अलि,
आँसू के मिस प्यार किसी का !
मैं पलकों में पाल रही हूँ,
यह सपना सुकुमार किसी का !

महादेवी वर्मा ने नारी की पीड़ा के अंकन का जो माध्यम अपनी गीति-रचनाओं द्वारा प्रस्तुत किया था, उसी पर चलकर **श्रीमती तारा पांडे** ने भी अनेक रचनाएँ कीं। उनके 'सीकर', 'वेणुकी', 'शुकपिक', 'रेखाएँ', 'आभा', 'गोधूलि', 'अन्तरंगिणी', 'विपंची', और 'काकली' नामक काव्य-संकलन इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। सन् १९४१ में इन्हें 'आभा' नामक काव्य-संग्रह पर अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'सेकसरिया' पुरस्कार प्रदान किया गया था।

तारा पांडे की रचनाओं में नारी के मानस की भावनाएँ सहज भाव से रूपायित हुई हैं। दूरागत परदेशी के प्रति नारी की भावनाएँ कैसी रहती हैं, इसका परिचय आपको उनके 'दूर किसी ने वेणु बजाई' नामक गीत से मिल सकता है। अनजाने पथिक को गाने के लिए प्रेरित करती हुई वे कहती हैं :

गाओ हे अनजान विदेशी
बने आज तुम क्यों परदेशी
किसकी सुधि से होकर आकुल
बड़ी-बड़ी आँखें भर आईं
दूर किसी ने वेणु बजाई !

जब वे अपने आराध्य से परोक्ष रूप से किसी प्रकार की अनुभूति का आश्रय पाती हैं तो उनकी संवेदना और

भी सहज भाव से यों मुखरित हो उठती है :

आज मेरे गान में स्वर भर गया कोई मनोहर !
स्वप्न से ही भर गया अलि,
आज मेरा जीर्ण अंचल
वेदना की वह्नि में तप,
हो उठे हैं प्राण उज्ज्वल
दे गया वह सजनि मुझको, जन्म का वरदान सुन्दर !
आज मेरे गान में स्वर भर गया कोई मनोहर !

स्व० रामेश्वरी गोयल हिन्दी के ख्याति-प्राप्त प्रगतिशील आलोचक प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त की धर्मपत्नी थीं । अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में उन्होंने छायावाद के प्रभाव में जो रचनाएँ की थीं, उनका संग्रह 'जीवन का सपना' नाम से प्रकाशित हो चुका है । नारी की सहज उपालम्भ की भावना उनकी रचनाओं में दिखाई देती है । एक समय ऐसा भी आता है जबकि उसे गायक का गाना भी नहीं सुहाता । वह असीम की लय में विलीन होने के लिए कितनी आतुर व उत्सुक है इसका परिचय उनकी इन पंक्तियों से मिलता है :

सोने दे, हँसने दे मुझको,
स्वप्न-मन्त्र के अभिनय में
गाने दे उर के तारों पर
मिलने दे उस लय में
जहाँ कूजती क्षण-भर भी तो, हृदय-विजय की तान !
गायक, यहाँ न छेड़ो तान !

स्व० रामेश्वरी देवी 'चकोरी' की रचनाएँ इस बात की साक्षी हैं कि नारी अपनी पीड़ा को किसी दूसरी सखी में किस प्रकार आरोपित करती है । उसके प्रियतम की निष्ठुरता का इंगित करती हुई मानो वह अपने ही आराध्य की असहृदयता को इस प्रकार व्यंजित करती है :

अपना हास्य सहर्ष लुटाना,
वैभव-सुख खो दिया, न जाना ।
सजनि ! अन्त में दीना-हीना—
हो पथ में आँसू बरसाना !
कोई सहृदय द्रवित न होगा,
है असारता इस रोने में !
भग्न हृदय के किस कोने में !

'चकोरी'जी की रचनाओं में पीड़ा का अथाह सागर लहराता-सा लगता है । खेद है कि बहुत थोड़ी आयु में ही इनका देहावसान हो गया । इनकी कविताएँ 'मकरन्द' और 'किंजल्क' नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं ।

स्व० होमवतीजी को असमय के वैधव्य ने कवयित्री बना दिया । प्रियतम से मिलने की ललक, उसके बिछोह की वेदना और नारी-सुलभ पीड़ाओं की अद्भुत त्रिवेणी उनकी रचनाओं में सहज रूप से प्रवाहित हुई है । उनके 'उद्‌गार', 'अर्घ' और 'प्रतिछाया' नामक काव्य-संग्रह इसके साक्षी हैं । अपनी कविता के सम्बन्ध में उनका यह कथन वास्तव में हमारे सामने उनकी आन्तरिक स्थिति को प्रकट कर देता है :

उर में उमड़ा पीड़ा-वारिधि,
जीवन में बरसे अंगार ।
जीवन-धन को खोकर मैंने,
पाया कविता-धन उपहार ।।

जीवन के आराध्य-देव के अभाव का अनुभव करके उन्होंने अपनी पीड़ा को अपने ही अन्तर में समोने का जो एकनिष्ठ व्रत लिया था, वास्तव में वह समग्र नारी-समूह को प्रेरणा का सन्देश देनेवाला है । वे कहती हैं :

गाने दो यदि खग गाते हैं,
गीत मुझे अब कब भाते हैं ?
रहने दो चुपचाप मुझे, मैं भार हृदय-पीड़ा का ढो लूँ ।
मुसकाती ऊषा के सम्मुख, कैसे गीली पलकें खोलूँ ?
किसको मानूँ अपना जग में
साथी जो था, भूला मग में
किसके हित अब मृत प्राणों में, मैं जीवन-भर जागृत हो लूँ ।
किस आशा के उजियाले में, मन के मनके बैठ पिरो लूँ ।

स्व० पुरुषार्थवतीजी हिन्दी के ख्यातिप्राप्त कहानीकार और 'सारिका'-सम्पादक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की पत्नी एवं हिन्दी-कहानी-लेखिका श्रीमती सत्यवती मलिक की छोटी बहन थीं । आर्यसमाजी परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी रचनाओं में 'रहस्यवादी' विचार-धारा का अद्भुत परिस्फुटन हुआ है । उनकी रचनाएँ उनके देहान्त के बाद 'अन्तर्वेदना' नाम से प्रकाशित हुई हैं । प्रकृति के किसी भी उपादान को माध्यम बनाकर अपनी बात कहने

की जो अभूतपूर्व प्रतिभा उनमें थी, वह प्रायः कम ही देखने में आती है। नारी की अवसादजनित पीड़ा के कारण जो आँसू बरबस वह निकलते हैं उनको लक्ष्य करके पुरुषार्थवतीजी ने जो रचना की है, वह उनकी इस विशेषता को व्यंजित करती है। वे लिखती हैं :

लुढ़क कपोलों पर जब आते,
लूट-लूट धन, दिल बहलाते
बिरला कोई बूझे—कैसे खोटे और खरे हैं ?
कौन जान सकता है, इनमें कितने भाव भरे हैं ?

श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' की रचना प्रारम्भ में लौकिक प्रेम की अनुभूतियों से परिपूर्ण होती थी। किन्तु धीरे-धीरे उनकी कविता की धारा अध्यात्म की ओर उन्मुख हो गई और अपने अभीष्ट आराध्य की प्राप्ति के लिए उनका मन-प्राण अकुलाने लगा। किसी अदृश्य छाया के पीछे भागने का उनका स्वभाव-सा हो गया और अन्त में उन्हें यह लिखने को विवश होना पड़ा :

परिवर्तन की झंझाओं से, गई सदा झकझोरी ,
और परिस्थिति की दौड़ों में बेशुमार हूँ दौड़ी ,
अपने ही आदर्शों से .मैं फिर-फिर गई ठगी हूँ !
मैं जड़ता की अन्ध गुफा में उड़ती एक खगी हूँ !
कोई, परछाईं है उसके पीछे भाग रही हूँ
आकारों से अपनी धरी धरोहर माँग रही हूँ
प्रेम में किसी अनदेखे के मैं भरपूर पगी हूँ !
मैं जड़ता की अन्ध गुफा में, उड़ती एक खगी हूँ !

एक स्थिति ऐसी भी हो जाती है कि 'कोकिल' जी का ज्ञान भजन बन जाता है और वे अपने आराध्य में ही लीन हो जाती हैं। अपनी इस प्रकार की भावनाओं को उन्होंने यों लिपिबद्ध किया है :

मेरा ज्ञान भजन बन जाता
सब इतिहास प्रकृति बन जाते
सब भूगोल निरंजन काया;
मेरी सत्य लगन के आगे-
सब दर्शन जीवन बन जाता।
मेरा ज्ञान भजन बन जाता !

धीरे-धीरे प्रियतम की साधना के पथ पर चलते-चलते 'कोकिल' जी को अपनी मुक्ति मिल गई है। इसका संकेत उन्होंने अपनी एक कविता में इस प्रकार किया है :

दुनिया के बल आकर मुझको, डिगा नहीं अब पाते
रुक-रुककर मेरे अन्तर में, उलटे फिर जन्माते
मुझको मेरी परम अचंचल शक्ति मिल गई है।
मुझको मेरी मुक्ति मिल गई है !

यही नहीं कि वे इस मुक्ति में स्वयं आनन्द का अनुभव करती हों प्रत्युत अपनी दूसरी सखियों (यहाँ तक कि समस्त संसार को) को भी उसी में आकण्ठ डूबने को आमन्त्रित करती हैं। उनकी इस प्रकार की भावना इन पंक्तियों में प्रकट होती है :

मेरा तो सखि अँग-अँग डूबा, तुम भी डूबो हे,
देश और देशान्तर डूबो, डूबो जन-जन हे,
आओ देखो यहाँ तुम्हारी, तृप्ति मिल गई है।
मुझको मेरी मुक्ति मिल गई है।

इनके 'अंकुरिता', 'माँ', 'सुहागिन' और 'आरती' नामक काव्य-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं।

विद्यावती कोकिल' के बाद **श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा** ऐसी कवयित्री हैं, जिन्होंने अपनी पीड़ा को अत्यधिक तल्लीनता और मुखरता से व्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में नारी-जीवन की अनन्य साधना जिस रूप में प्रस्फुटित हुई है, वह अपनी अलग विशेषता रखती है। अपनी कोमलकान्त शब्दावली, दिल को छूनेवाली, भावुकता तथा वेदना से ओत-प्रोत उनकी रचनाएँ नारी-सुलभ भावनाओं का सच्चा चित्र उपस्थित करती हैं। आपकी 'विहाग', 'आशा पर्व', 'पन्थिनी', 'आँगन के फूल' तथा 'बोलों के देवता' आदि काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। 'विहाग' नामक काव्य-संग्रह पर आपको अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से 'सेकसरिया पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है।

आपने अपनी रचनाओं के माध्यम से जहाँ आज की नारी की गहन अनुभूतियों को चित्रित किया है वहाँ प्रकृति के मनोहारी चित्र भी इनकी रचनाओं में प्रतिफलित हुए हैं। इनकी ऐसी काव्य-चातुरी का प्रमाण इन पंक्तियों से मिलता है :

शिशिर निशा में जग की मूँदी—
पलकों पर सपने सोते थे।

दिग्पथ पर तारों के दीपक—
ज्योति-भरे जगमग होते थे।
तभी छलककर नभ से धरती—
पर बसन्त मधु आया होगा!
तुमने ही मुसकाया होगा।

बसन्त की मादकता में भी श्रीमती सिनहा ने अपने प्रियतम की मुसकान की कल्पना की है। उनकी रचनाओं में प्रियतम के गुण-गान के अतिरिक्त जीवन की जिन अनुभूतियों को चित्रित किया गया है, वे उनकी न होकर समग्र नारी-जाति की पीड़ा का दर्पण बन गई हैं।

अपने आराध्य को प्राप्त करने के लिए यदि उन्हें दर-दर भटकना पड़ा है तो उसमें भी उनकी अनन्य निष्ठा ही झलकती है। इसका परिचय आप उनकी निम्न पंक्तियों से प्राप्त कर सकते हैं:

मैं हर मन्दिर के पट पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ,
भगवान् एक पर मेरा है!
मन्दिर-मन्दिर में भेद न कुछ मैं पाती
है सिद्धि जहाँ, साधना वहीं पर आती
मन की गरिमा जिसके आगे झुक जाती
वाणी वर का अभिषेक वहीं पर पाती
मैं हर पूजन-अर्चन पर शीश झुकाती हूँ,
अभिमान एक पर मेरा है!
मैं हर मन्दिर के पट पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ,
भगवान् एक पर मेरा है!

श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा के साथ-साथ इस काल में जिन कवयित्रियों ने हिन्दी-कविता को नया शृंगार प्रदान किया उनमें राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी', हीरादेवी चतुर्वेदी, सूर्यदेवी दीक्षित 'उषा', शकुन्तला खरे, रामकुमारी चौहान, दिनेशनन्दिनी डालमिया और कमला चौधरी प्रमुख हैं।

इन कवयित्रियों के उपरान्त हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में जो-जो कवयित्रियाँ आईं उन्होंने अपनी रचनाओं में जहाँ नारी सुलभ पीड़ाओं का अंकन अत्यन्त निकटता के किया है वहाँ उनकी रचनाओं में जीवन की अन्य बहुत-सी पारिवारिक अनुभूतियों का चित्रण भी मिलता है। छायावाद और रहस्यवाद की प्राचीरों को लाँघकर जहाँ हिन्दी-कविता यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आई वहाँ उसकी अनुभूतियों के चित्रण में भी एक नया निखार आया। ऐसी कवयित्रियों में श्रीमती चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', विद्यावती मिश्र, शान्ति सिंहल, शकुन्तला सिरोठिया, स्नेहलता 'स्नेह', तथा शैल रस्तोगी आदि के नाम अन्यतम हैं।

श्रीमती चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' का उदय हिन्दी-काव्य-जगत् में किसी समय एक घटना माना जाता था। उनकी कविताओं में जीवन का चिर अभाव साँसों के साथ गीत बनकर अनजाने-अनचाहे ही सहसा फूट पड़ा है। उनकी पीड़ा जीवन के किसी विशेष क्षण में किसी विशेष घटना का सहारा पाकर गीत बनकर सजीव हो उठी है। 'पराग' और 'वन्दना' नाम से इनके गीतों के संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। 'सुधा' जी के आगमन से हिन्दी-कविता में जो ताजगी और मोहकता आई, उसका परिचय उनकी इन दोनों कृतियों से भली-भाँति मिल जाता है। रहस्यवाद और छायावाद की शब्दावली और अनुभूतियों से दूर इस कवयित्री ने भारतीय परिवारों की नारी का सही चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। इनके गीतों के सम्बन्ध में महाकवि निराला की यह उक्ति अक्षरशः सही कही जा सकती है—"इनके गीत सरल, हृदयग्राही, छन्दोबहुल और रागमय हैं। ऐसी सीधे हृदय तक पहुँचनेवाली गीतियाँ खड़ी बोली में कम हैं। इन सुगन्ध भाव-पुष्प-गीतों का प्रचार प्रथम कण्ठों में अनिवार्य है और प्रसार अकुण्ठ, इसमें हमको सन्देह नहीं।"

निरालाजी के ये शब्द वास्तव में सुधाजी की कविता के लिए 'आशीर्वचन' ही हैं। इनकी रचनाओं में पग-पग पर पीड़ा का जो अंकन हुआ है, उससे जहाँ पाठक अभूतपूर्व प्रेरणा प्राप्त करते हैं वहाँ उनकी सहानुभूति कवयित्री के साथ बरबस हो जाती है। उनकी निम्न पंक्तियों में व्यथा की कथा को इस प्रकार अंकित किया गया है:

मैं व्यथा की हूँ पुजारिन, विरह मेरी साधना है।
मैं मिलन के मधुर क्षण में, विरह-बीज लगा चुकी हूँ
और दुःख के भाग सोये, जान-बूझ जगा चुकी हूँ,
वेदना मैं पास अपने-आप स्वयं बुला चुकी हूँ
साथ ही सुख-स्वप्न अपने हाथ साज सुला चुकी हूँ

आत्मा का ही समर्पण अर्चना, आराधना है !
मैं व्यथा की हूँ पुजारिन, विरह मेरी साधना है !

व्यथा की पूजा और विरह की साधना में 'सुधा' जी इतनी तल्लीन हुईं कि वे अपने प्रियतम से इसकी आकांक्षा-आशा करने लगीं कि वे उनके प्राणों की पीर को छूकर प्रीत का रूप धारण कर लें । वे कहती हैं :

छूकर प्राणों की पीर प्रीत बन जाओ !
जो कुछ सुलझी थी, आज उसे उलझा दो
जो कुछ उलझी थी, आज उसे सुलझा दो
मेरे आँसू के सावन आज सुखा दो
मैं चाह रही थी, मुझको आज दुखा दो
नयनों के नेही, स्नेह-नीति बन जाओ !
छूकर प्राणों की पीर, प्रीत बन जाओ !

श्रीमती **विद्यावती मिश्र** को असमय के वैधव्य ने कवयित्री बना दिया । उनकी रचनाओं में मध्यवर्गीय भारतीय नारी की सांस्कारिकता का जो पुट दिखाई देता है, उससे उनकी नारी-सुलभ वेदना तथा पीड़ा कुन्दन की भाँति निखरकर सामने आती है । आपकी 'ज्योति', 'प्रतीक्षा', 'श्रद्धा' तथा 'मुक्ति' आदि काव्य रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं । इनके पितृ-वंश और ससुराल के सभी लोग विद्या-व्यसनी हैं, इस कारण आपकी रचनाओं में अध्यात्म-दर्शन और साधना का भी सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है । केवल अपनी पीड़ा को प्रकट करने की भावना से ही इन्होंने रचनाएँ नहीं कीं, प्रत्युत उनमें उनकी अहर्निश साधना की ज्योति जगमगाती-सी लगती है ।

भगवान् के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा को प्रकट करके कवयित्री जब उनसे यह याचना करती है तो वास्तव में एक नई उद्भावना का उदय होता है :

अब मेरे भगवान् न बदलो !
वीणा मेरी एक, एक ही तरह
सधी उँगली पड़ती है
फिर क्यों अविकल राग-रागिनी
टूट-टूट स्वर में अड़ती है
वही अधर है, वही बाँसुरी,
गायक अपने गान व बदलो !
अब मेरे भगवान् न बदलो !

विद्यावतीजी की रचनाओं की एक विशेषता यह भी है कि वे अत्यन्त सादगीपूर्वक निराडम्वर भाव से अपने कथ्य को प्रस्तुत करती हैं । जहाँ वे भगवान् से न बदलने का अनुरोध-आग्रह करती हैं वहाँ अपनी पूजा के उत्साह तथा प्रिय मन्दिर की राह को भी सदा-सर्वदा एक ही रस तथा प्रेम से देखने की ललक रखती हैं । उनकी निम्न पंक्तियाँ इसकी साक्षी है :

प्रिय मन्दिर की राह न बदले !
इस जग का कण-कण बदले, पर
प्रिय मन्दिर की राह न बदले !
पूजा का उत्साह न बदले !
यह अर्चन के फूल, सुकोमल—
अक्षत, शुचि वन्दन, अभिनन्दन !
श्वासों की टोली आँसू की—
अंजलि, प्राणों का आमन्त्रण !
मन्दिर का कण-कण बदले, पर
मेरे प्रभु की चाह न बदले !
प्रिय मन्दिर की राह न बदले !

शान्ति सिहल ने पहले अपनी रचनाओं में रहस्यात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति की और बाद में उनका झुकाव जीवन की सुख-दुःखमयी अनुभूतियों को ज्यों-का-त्यों निराडम्बर भावना से अभिव्यक्त कर देने की ओर हो गया । इनके 'बिखरे प्रसून', 'ऊर्म्मिमाला' और 'अलका' नामक काव्य-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं । अपनी रचनाओं में जहाँ उन्होंने अपने आराध्य के प्रति अनुहार-मनुहार की है, वहाँ वे उसे उपालम्भ देने में भी पीछे नहीं रहीं । 'अपने जब तुम्हीं अनजान बनकर रह गए, विश्व की पहचान लेकर क्या करूँ' नामक गीत में उन्होंने अपने मन की पीड़ा को इस प्रकार उँडेला है :

जब न तुम से स्नेह के दो कण मिले
व्यथा कहने के लिए दो क्षण मिले
जब तुम्हीं ने की सतत अवहेलना,
विश्व का सम्मान लेकर क्या करूँ ?
जब तुम्हीं अनजान बनकर रह गए,
विश्व की पहचान लेकर क्या करूँ ?

शान्तिजी को अपने भावों के सहज और निश्छल रूप

से अभिव्यक्त करने में जो सफलता मिली है, वह बहुत कम कवयत्रियाँ प्राप्त कर सकी हैं। उनकी ऐसी बहुत-सी रचनाएं हैं जिनमें उनकी अपने आराध्य में समा जाने की ललक दृष्टिगत होती है।

श्रीमती **शकुन्तला सिरोठिया** ने कविता के क्षेत्र के अतिरिक्त बाल-साहित्य-निर्माण में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। उनकी बालोपयोगी रचनाएँ भी पद्यबद्ध कहानियों के रूप में हैं। इनकी कविताओं के संकलन 'दीप', 'सुधि के स्वर' तथा 'चाँद इतना हँसा' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। प्रियतम की याद, अपने विरह का निवेदन, सांसारिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मुखरित हुआ है। उनकी इन पंक्तियों में नारी की सहज भावना साकार हो उठी है :

घुमड़ती घटाएँ, अँधेरा डराता,
कहीं का पथिक पन्थ भी भूल जाता,
किसी के नयन अश्रु बरसात लाते!
मुझे प्राण, तब तुम बहुत याद आते!

श्रीमती **स्नेहलता 'स्नेह'** की रचनाओं में तो माधुर्य, पीड़ा, कसक और नारी-जीवन की वेदनाओं का सागर लहराता-सा लगता है, वह वास्तव में पठनीय है। उनकी रचनाओं को पढ़कर पाठक की सहज सहानुभूति कवयित्री के साथ हो जाती है। यह विधाता का वरदान ही समझना चाहिए कि 'स्नेह' जी की रचनाओं में निहित पीड़ा की जो कसक-कहानी जन-साधारण को आकर्षित करती-सी लगती है, उनके कण्ठ ने भी उसमें पर्याप्त सहयोग दिया है। 'स्नेह'जी जितना सुन्दर लिखती हैं, उससे अधिक तन्मयता से कविता-पाठ भी करती हैं। उनकी रचनाओं का प्रकाशन 'रजनीगन्धा' नाम से हो चुका है। अपनी 'मैं तुम्हारी याद को अपना बना लूँ' शीर्षक रचना में वे अपने आराध्य को इस प्रकार सम्बोधित करती हैं :

सुबह-सी मुसकान, चन्दन-सा हृदय धन,
ओस-सा पावन नयन का नीर ढाला;
सुमन को सौरभ, भ्रमर को गूँज देकर,
स्वयं को छलती रही, पी मदिर हाला;
तुम सजा दोगे कभी बिखरे सपन को,
में तुम्हारी नींद को अपना बना लूँ!
तुम मिलोगे ही कभी सुधि की डगर में,
मैं तुम्हारी याद को अपना बना लूँ!

हिन्दी-कविता में जिस प्रकार छायावाद के उपरान्त यथार्थवाद और प्रगतिवाद की धारा बढ़ी उसी प्रकार हमारी कवयित्रियाँ भी बाद में दो धाराओं में विभक्त हो गईं। कुछ कवयित्रियाँ गीत के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को चित्रित करने में ही अपनी प्रतिभा का सदुपयोग करने लगीं और कुछ इधर से छिटक गईं। ऐसी कवयित्रियों ने छन्द की राह को छोड़कर सहज भाव से अपनी अनुभूतियों को अतुकान्त छन्दों में चित्रित किया और उस कविता को 'नई कविता' का नाम दिया गया। पहले इसे 'प्रयोगवादी' कविता कहा जाता था। इस काल में जो कवयित्रियाँ हमारे काव्य-गगन में उदित हुई उनमें श्रीमती शकुन्तला शर्मा, शकुन्त माथुर, शान्ति मेहरोत्रा, रमा सिंह, कीर्ति चौधरी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन कवयित्रियों में **श्रीमती शान्ति मेहरोत्रा** ने पहले-पहल अपनी अनुभूतियों को अपनी 'निष्कृति', 'मरीचिका', 'रेखा', 'विदा', 'पग ध्वनि' तथा 'पंच प्रदीप' आदि कृतियों में बड़ी ही सहज तथा भावमयी शैली में चित्रित किया। अपने 'आराध्य' के प्रति उनकी यह भावनाएँ उल्लेखनीय हैं :

प्रतिमा में और पुजारी में,
थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा
नीरव नयनों में अधरों में,
थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा
कुछ अन्तर तो होता ही है,
अभिव्यक्ति और अनुभव में भी—
फिर सत्य कल्पना में भी तो
थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा
मैं सीमित हूँ तुमको असीम
रखने में ही अभिमान मुझे,
संसार बसा सकने वाले,
बस स्वयं न तुम संसार बनो!
आराध्य न अब साकार बनो!

शांतिजी की रचनाओं में नारी की सहज सरल अनुभूतियाँ पूर्णतः रूपायित हुई हैं।

श्रीमती शकुन्तला शर्मा की रचनाएँ 'अंजलि' नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी पीड़ा और वेदना में नये युग की नारी की अनुभूतियाँ पूर्णतः मुखर हो उठी हैं। शकुन्तला जी की रचनाएँ अपनी पूर्ववर्ती कवयित्रियों से जरा हटकर हैं। इनमें जहाँ गीत-तत्व की प्रधानता है वहाँ लोक-तत्व का पुट भी पर्याप्त रहता है। इनकी 'कौन वह पुकार गई' नामक रचना में व्यंजना की जो नवीनता लक्षित होती है, वह वास्तव में उनकी काव्य-कला की विशेषता है। अपनी 'याद आई रे' नामक रचना में उन्होंने प्रिय की याद को कितनी उन्मुक्तता से चित्रित किया है :

> **पलकों से आज कोई सोम-सुधा पी आए**
> **अलसाके गीतों की बगिया में सो जाए**
> **जैसे दबी बाँहों पर रेख उभर आई रे !**
> **याद आई रे !**

श्रीमती शकुन्तला ने जहाँ अपनी रचनाओं में नारी की पीड़ा का सहज अंकन किया है, वहाँ उन्होंने आंचलिक पृष्ठभूमि में कुछ ऐसे गीत भी हिन्दी-कविता को दिये हैं, जिनमें उनका प्रकृति से तादात्म्य-सा लगता है। आंचलिक शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से जहाँ उनकी कविता जन-जीवन के अधिक निकट आई, वहाँ नारी के कोमल-कण्ठ से स्नेह में पगी ऐसी शब्दावली भी हिन्दी-कविता को मिली जिसे सुनकर वज्र-हृदय भी सहज भाव से पिघल सकता है। उनकी 'कौन वह पुकार गई' नामक रचना में नारी की कोमल अभिव्यक्ति बड़ी ही सहायता से मुखरित हुई है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

> **कौन वह पुकार गई ?**
> **अँधियारे आँगन में दिवरा-सा बार गई !**
> **सूखे दो तिनकों में गुम-सुम-सा बैठा है**
> **पाँखों में ढाँपे मुख जीवन से रूठा है**
> **नीड़ विटप टूठा है।**
> **ऐसे मन-सुगना को चुगना-सा डार गई ;**
> **दिवरा-सा बार गई !**
>
> **ऐसी फूलचुग्गी को पाना-भर जीवन है**
> **बैठे जिस डाली पर उसमें ही कम्पन है**
> **गीतों का नन्दन है।**
> **मुट्ठी में बाँधो तो पारे-सी पार गई।**
> **कौन वह पुकार गई ?**

इस कविता में नारी के मन को 'सुगना' (तोता) और नारी को 'फुलचुग्गी' (कोमलांगी) की उपमा देकर आंचलिक शब्दों से नवीनता का कौतूहल उत्पन्न किया गया है।

यहाँ तक ही बात रहती तो ठीक होता। किन्तु प्रयोगवादी धारा का कविता में इस प्रकार प्रचलन हुआ कि हमारी नारी कवयित्रियाँ उससे अछूती न बच सकीं। हमारी ऐसी मान्यता है कि कविता का मार्दव और सरल संवेदन उसके छन्दबद्ध होने में ही है। जिस कविता को सुनकर या पढ़कर संवेदनशील पाठक झूम न उठें और कविता में व्यंजित भावनाओं से पूर्ण तादात्म्य न अनुभव कर सकें, वह कविता नहीं कही जा सकती। फिर नारी तो काव्य की अधिष्ठात्री देवी है, छन्दों की रानी है, पीड़ा की सजीव प्रतिमा है, उसके द्वारा अतुकान्त छन्दों में बे-सिर-पैर की बातें लिखी जाना शोभा नहीं देता। हमारा यह दृढ़ मत है कि यदि हिन्दी-कविता में से पीड़ा, वेदना तथा कसक-कराह से भरे गीतों को निकाल दिया जाय तो वह कविता नहीं रह जायगी। उसे कोरा गद्य ही कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। जिन नारियों ने जीवन की कसक-कराह-भरी सजल अनुभूतियों से युक्त हिन्दी-गीति-काव्य के बिरवे को अपने आँसुओं से सींचा है, निश्चय ही हिन्दी-साहित्य उनका ऋणी रहेगा।

आज जो हिन्दी-कविता पद्य (छन्द) की राह से भटककर गद्य की ओर उन्मुख हो गई है, उसका एक-मात्र कारण यह है कि हमारा जीवन अध्यात्म और सहज संवेदन से हटकर भौतिक उपादानों की अर्चना में लग गया है। खेद है कि यह संक्रामक रोग हिन्दी-कवयित्रियों में भी तेजी से फैलता जा रहा है। आज तो स्थिति यह है कि जो लोग छन्दमयी रचना लिखते हैं, उन्हें 'परम्परा-वादी' कहकर उनका मखौल उड़ाया जाता है। 'नई कविता' के क्षेत्र में जिन कवयित्रियों ने अपनी रचनाओं से साहित्य की अभिवृद्धि की है उनमें श्रीमती शकुन्त माथुर, कुमारी रमा सिंह, कीर्ति चौधरी, स्नेहमयी चौधरी, शान्ता सिनहा और इन्दु जैन के ऐसे नाम हैं, जिनमें उक्ति-

वैचित्र्य तथा काव्यगत वैशिष्ट्य की कुछ झलक मिल जाती है; किन्तु बहुत अधिक नहीं। मात्र रमा सिंह की रचनाएँ ही ऐसी कही जा सकती हैं, जो प्रेषणीयता की कसौटी पर खरी उतर सकें।

श्रीमती शकुन्त माथुर हिन्दी के प्रख्यात प्रयोगवादी कवि (और भूतपूर्व गीतकार) श्री गिरिजाकुमार माथुर की सहधर्मिणी हैं। आपकी रचनाएँ 'दूसरा सप्तक' तथा 'चाँदनी और चूनर' में संकलित हैं। अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को उन्होंने 'नई कविता' के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

गर्मी भर
पापड़ बेले
मँगौड़ी बड़ी बना
वर्ष-भर की छुट्टी पा ली
नींबू का शरबत
दही की लस्सी
आइसक्रीम मशीन की
कुलफी
मन भर-भरकर खिलाई
जाड़ों में साथ-साथ
अँगीठी से हाथ तापे
ओले गिरे
काँटे-सी हवा चली
कड़कती सर्दी में
गरम आलू के पराँठे, मूँग के बड़े
कचौरी पिट्ठी की खिलाई
अब मैं भर पाई
मैके की याद आई
पहुँचा दो
भाई मेरा दो बार लौट गया
पूरा बरस बीत गया।

इसे आप कविता कहेंगे क्या ? यदि श्रीमती शकुन्त अपनी इन अनुभूतियों को गद्य में रूपायित करतीं तो कदाचित् अधिक प्रभावशाली ढंग से वे अपने कथ्य को प्रकट कर सकती थीं। खुदा जाने यह नई कविता हमें कहाँ ले जायगी ?

कुमारी रमा सिंह की कविताएँ (जैसा मैं पहले कह चुका हूँ) 'नई कविता' की शैली में तो अवश्य लिखी गई हैं, किन्तु फिर भी उनमें 'छन्द' की कुछ 'गन्ध' अवश्य है, और जहाँ छन्द नहीं है, वहाँ भी ऐसा नहीं लगता कि पाठक को उनमें कोई बात न मिली हो और वह उसकी अनुभूतियों में न डूबा हो। उनकी रचनाएँ 'समुद्र-फेन' नामक काव्य-संग्रह में संकलित हैं। तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे। पहला उदाहरण छन्द-गन्धी :

बात सच है सिन्धु को अब तक न कोई थाह पाया
है न गोताखोर जिसने ढूँढ़ रत्नों को चुकाया !
है बहुत गहरा, बड़ा सम्पन्न, विस्तृत भी बहुत है—
यह समुद्री फेन लेकिन व्यंग बनकर उभर आया !
थी कमी वह कौन, जिसने मथ दिया, लहरें उठाईं
एक छोटा प्रश्न, यह गहराइयों को नाप लाया !

इस अंश में ऐसी कोई भी कमी नज़र नहीं आती जो पाठक को चौंकाने वाली हो। कवयित्री ने सहज भाव से 'समुद्र फेनों' को एक 'व्यंग' का रूप बतलाया है। साथ ही उन्हें गहराइयों को नापने वाले की भी संज्ञा दी है।

अब दूसरा गद्य-गन्धी उदाहरण लीजिए :

एक दिन यह और बीता—
सोच मन घबरा रहा है
जिन्दगी का नाम चलना
चल रही दुनिया बराबर
श्वास की बूँदें लुटाकर
चरण गति की डोर में बँध
पंथ की लीकें बनाये
छोर मंजिल के कुहासे—
में लिपटते दूर जाते,
किस नदी का जल यहाँ—
रुककर भला ठहरा रहा है ?
एक दिन यह और बीता—
सोच मन घबरा रहा है !

'गद्य-गन्धी' यह उद्धरण भी ऐसा नहीं है, जिसे पाठक कविता न कह सकें और जिसका अभिप्रेत उन पर प्रकट न हो सकता हो। जिन्दगी का एक दिन बीत जाने की बात को कवयित्री ने ऐसे नवीन ढंग से व्यंजित किया है

जिससे उसकी नश्वरता का इंगित मिलता है।

'शहरी सुबह' शीर्षक उनकी कविता 'नई कविता' कही जा सकती है, और निश्चय ही वह 'नई कविता' का विशेषण पाने की अधिकारिणी है। उसमें उक्ति-वैचित्र्य भले ही हो, किन्तु वह 'कविता' की संज्ञा से अभिहित होने की कितनी क्षमता रखती है, इसका निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

ऊँची-ऊँची पक्की छतों के रास्ते से
सूरज आया
किसी संगीत का समा बँधा !
मिल के भोंपू ने
स्वागत का गीत गुनगुनाया,
दूकानों के खुलते हुए शटर
और लोहे के दरवाजों ने
लहरा बजाया,
बाहर के शो-केस और
काँच की अलमारियों ने
अपना-अपना मेक-अप सँवारा
घूमती हुई सड़कों ने थाप दी,
चाँदी और सोने के नूपुरों में—
ध्वनि आई
पूरा-का-पूरा बाजार गर्म हुआ—
दिन के राजा का स्वागत था।

'नई कविता' के इस घटाटोपी अन्धकार में भी कुछ कवयित्रियाँ गीत-काव्य के माध्यम से अपनी साधना का दीप अक्षुण्ण भाव से जलाये चल रही हैं, यह प्रसन्नता की ही बात है। ऐसी कवयित्रियों में प्रकाशवती, कुसुमकुमारी सिनहा, कुमारी मधु, सुदर्शन पुरी, पुष्पा पुरी, सरला तिवारी, सुमंगला मिश्र, श्यामा 'सलिल' और पुष्पा सक्सेना आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-कविता को नारियों की क्या देन है, इसका लेखा-जोखा इस संक्षिप्त-से लेख में प्रस्तुत करना सर्वथा कठिन है। लेकिन इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जब तक गीति-काव्य के क्षेत्र में हमारी देवियों का सक्रिय सहयोग रहेगा तब तक 'नई कविता'-जैसी चीज़ भारतीय साहित्य में अपने पैर न जमा सकेगी।

रमाप्रसन्न नायक

शिक्षा तथा प्रशासन के लिए राजभाषा का विकास

श्री रमाप्रसन्न नायक का जन्म मध्य प्रदेश के रायपुर नगर में हुआ था। शिक्षा-दीक्षा रायपुर और नागपुर में हुई और नागपुर विश्वविद्यालय से ही आपने एम० ए० किया। शिक्षा के उपरान्त शासकीय प्रतियोगिता परीक्षा में सम्मिलित हुए और इंडियन सिविल सर्विस में निर्वाचित होकर पुराने मध्य प्रदेश के शिक्षा सचिवालय में कार्य-भार सँभाला। १९५७ तक नये मध्य प्रदेश में शिक्षा सचिव रहे। १९५७ के अन्त में केन्द्रीय सूचना मन्त्रालय दिल्ली में उपसचिव बनकर आये। १९५८ में शिक्षा-मंत्रालय में पहले संयुक्त शिक्षा सलाहकार और तत्पश्चात् संयुक्त-सचिव पद पर नियुक्त हुए। सम्प्रति शिक्षा मन्त्रालय में संयुक्त सचिव के रूप में कार्य कर रहे हैं। रमाप्रसन्नजी संस्कृत और हिन्दी के बड़े अच्छे विद्वान, सुलेखक और हिन्दी के उत्थान एवं प्रसार के लिए सतत प्रयत्नशील रहने वाले व्यक्ति हैं। भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की अनेक हिन्दी योजनाओं के आप प्रणेता और यशस्वी संचालक हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विभिन्न भारतीय भाषाओं के विकास का प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण हो गया है। इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि विदेशी शासन-काल में भी इन भाषाओं के साहित्य में बहुत प्रगति हुई, किन्तु अन्य दिशाओं में इनकी उन्नति और विकास की गति यदि पूर्णतः नहीं तो आंशिक रूप से अवश्य रुद्ध हो गई थी। इसका कारण यह था कि अब से लगभग तीस साल पहले तक अधिकांश शिक्षा अंग्रेज़ी के माध्यम से दी जाती थी और प्रशासन में, विशेषतः उसके उच्च स्तरों पर भारतीय भाषाओं का प्रयोग नहीं किया जाता था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि देशी भाषाएँ ठीक उसी प्रकार निर्जीव हो गईं जैसे शरीर के अंगों से यदि काम न लिया जाए तो वे बेकार हो जाते हैं। किन्तु अब वे प्रशासनिक भाषाओं के रूप में अपना उचित स्थान पाने की दिशा में विकास कर रही हैं। प्रश्न उठ सकता है कि सर्वसाधारण की किसी विशेष राजभाषा के विकास में रुचि ही क्या हो सकती है, क्योंकि प्रायः अभिलेखागारों में ही बन्द पड़े रहने योग्य सामग्री का अम्बार बढ़ाने में प्रशासक कौन-सी भाषा का प्रयोग करते हैं; इस बात का उनके लिए क्या महत्त्व हो सकता है। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि राजभाषा उस प्राचीन युग में भी जनता के सामान्य जीवन पर प्रभाव डालती रही है जब जन-जीवन में शासन का प्रभाव बहुत व्यापक नहीं था। आज तो मानव-जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिससे सरकार का किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध न हो। महत्त्वपूर्ण मामलों में लोग प्रायः प्रतिदिन सरकार के कार्यांग, विधानांग तथा न्यायांग के सम्पर्क में आते हैं। इतना ही नहीं, काफ़ी हद तक सरकार शिक्षा का नियन्त्रण करती है और अब धीरे-धीरे संस्कृति तथा साहित्य के क्षेत्रों में भी उसका प्रवेश होने लगा है। सरकार रेलवे, डाक तथा तार और संचार के अन्य बड़े-बड़े साधनों का ही नियन्त्रण नहीं करती, अपितु उद्योग तथा वाणिज्य के क्षेत्रों में भी उसका प्रवेश हो गया है। इस प्रकार राजभाषा का प्रभाव जन-साधारण पर बहुत बढ़ गया है।

प्रश्न यह है कि जब हमने आज तक अंग्रेज़ी भाषा की सहायता से सब दिशाओं में इतनी प्रधिक प्रगति की है, तो इन भाषाओं के विकास की आवश्यकता ही क्या है? और फिर यह कार्य ऐसे समय में क्यों किया जाए जब राष्ट्र को अपनी पूरी शक्ति पंचवर्षीय आयोजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में लगानी चाहिए। अंग्रेज़ी भाषा विश्व की अत्य-

धिक समृद्ध भाषाओं में से है और कुछ वर्षों से उसने विश्व-भाषा का स्थान भी प्राप्त कर लिया है। इस भाषा में विज्ञान तथा उद्योग-विद्या-सम्बन्धी साहित्य का विशाल भण्डार भी मिलता है और इन क्षेत्रों में होनेवाली नित नवीन प्रगति के साथ यह क़दम मिलाकर चलती है। इन सबसे बढ़कर, अंग्रेज़ी इस देश के विभिन्न भाषा-भाषियों के लिए समान रूप से अभिव्यक्ति का माध्यम रही है और इस प्रकार अंग्रेज़ी ने भारत की राष्ट्रीय एकता में भी योगदान किया है। इस प्रकार के तर्क प्रस्तुत करनेवाले व्यक्तियों के कथनानुसार अंग्रेज़ी भाषा को बनाए रखने के और भी बहुत-से लाभ हैं। अतः क्या यह उचित है कि देश-प्रेम के भावावेश में मोतियों को भी कौड़ियाँ समझकर फेंक दें? इन व्यक्तियों को एक शब्द में यह उत्तर दिया जा सकता है कि वे भ्रम-ग्रस्त हैं। कोई भी नहीं चाहता कि अंग्रेज़ी भारत में बिलकुल न रहे। हम केवल यह चाहते हैं कि अंग्रेज़ी को ही शिक्षा का मुख्य अथवा एकमात्र माध्यम तथा देश के प्रशासन की मुख्य भाषा न रहने दिया जाए। निस्सन्देह माध्यमिक स्तर पर अन्य भाषाओं की तरह अंग्रेज़ी का भी अध्ययन होता रहेगा ताकि विश्व के ज्ञान-विज्ञान के लिए भारत का द्वार खुला रहे और विश्व-सरिता की मुख्य धारा से भारत अलग न हो जाए। यह बात आवश्यक भी है, ताकि एक ओर प्रशासक तथा शिक्षित वर्ग और दूसरी ओर जन-साधारण के बीच जो अन्तर आ गया है वह मिट जाए और इस प्रकार इस देश में वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना हो सके। खेर आयोग के शब्दों में, "केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही हम जन-साधारण की सेवा के लिए अभिप्रेत अपने राष्ट्रीय जीवन का वह व्यापक पुनरुत्थान करने में सफल हो सकते हैं, जो संविधान में उल्लिखित राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धान्तों, मूल अधिकारों, वयस्क मताधिकार, निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा, सामाजिक न्याय के विस्तार और सब के लिए समान रूप से अवसर सुलभ करने के लक्ष्य पूरे करने के लिए आवश्यक है।"

प्रश्न केवल भावना का ही नहीं है। अंग्रेज़ी भाषा के अधिकतर हिमायती यह भूल जाते हैं कि भारत की लगभग एक प्रतिशत जनता ही अंग्रेज़ी जानती है और पढ़े-लिखे प्रत्येक छः व्यक्तियों में से केवल एक को अंग्रेज़ी की जानकारी है। ६ से ११ वर्ष तक आयु के बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा आरम्भ हो जाने पर इस अनुपात में और भी कमी होगी। दूसरी ओर अधिकतर राज्यों की सरकारें लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण की नीति अपना रही हैं, जिससे प्रशासन बहुत सीमा तक स्वयं जन-साधारण के हाथ में आ जाएगा। स्पष्ट है कि वे अपनी भाषा के अतिरिक्त किसी और भाषा में उतनी कुशलता से कार्य नहीं कर सकेंगे और इसके लिए यह अनिवार्य है कि भाषाओं का विकास हो ताकि वे अपने ऊपर आनेवाले नए दायित्व सँभाल सकें। अधिकतर राज्य सरकारों ने इस कार्य के लिए भाषाओं के शब्द-भण्डार और साहित्य को अधिक सम्पन्न बनाना आरम्भ भी कर दिया है। उनको जितना अधिक काम में लाया जाएगा उनका विकास उतनी ही तेज़ी के साथ हो सकेगा।

इसके साथ-ही-साथ हमें एक ऐसी आम भाषा की आवश्यकता है जो संघ की राजभाषा बनकर केन्द्र तथा राज्यों और एक राज्य तथा दूसरे राज्य के पारस्परिक व्यवहार का माध्यम बन सके और आगे चलकर विद्वानों तथा जन-साधारण के बीच अभिव्यक्ति का समान माध्यम, या दूसरे शब्दों में एक 'संयोजक भाषा' बन सके, जिसकी राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से नितान्त आवश्यकता है। राजभाषा का स्थान कोई भारतीय भाषा ही पा सकती है। इसके अनेक कारण हैं।

यों तो इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भारत की कोई भी भाषा उपयुक्त हो सकती थी, किन्तु विकल्पों के इस जंजाल में से किसी एक विकल्प को चुनना आवश्यक था। हिन्दी का चुनाव इस कारण नहीं किया गया कि कुछ लोग इसे भारत की सबसे समृद्ध या सर्वोत्तम भाषा मानते हैं, बल्कि इसका कारण तो यह है कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी बोलने और समझनेवाले व्यक्तियों की संख्या सबसे अधिक है। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के बाहर भी हिन्दी समझी जाती है और यह बहुत समय से बड़े-बड़े नगरों के बाज़ारों तथा तीर्थस्थानों की भाषा रही है। उत्तरी भारत की अधिकतर भाषाओं के यह बहुत निकट है। इस प्रकार यहाँ यह कहना अप्रा-

संगिक न होगा कि संघ की राजभाषा तथा राज्यों की भाषाओं के बीच किसी प्रकार की होड़ का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक भाषा को अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट कार्य करना है।

हिन्दी का विकास किस प्रकार किया जाए, इसका स्पष्ट उल्लेख भारत के संविधान के अनुच्छेद ३५१ में कर दिया गया है।

प्रश्न यह है कि इस निदेश को कार्यरूप किस प्रकार दिया जाए। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारा सम्बन्ध एक जीती-जागती भाषा से है किसी निर्जीव पदार्थ से नहीं, जिसे इच्छानुरूप बनाने के लिए चाहे जैसे मरोड़ा या नये सिरे से ढाला जा सकता हो। यह कार्य धीरे-धीरे, बहुत कष्ट उठाने के बाद एक लम्बे अरसे में पूरा होगा और इसमें प्रत्येक भारतीय को यथाशक्य सहयोग देना होगा। भाषाएँ न तो रातों-रात बदली जा सकती हैं और न इस दिशा में सरकारी आदेश के चमत्कार से ही कुछ हो सकता है।

विभिन्न भारतीय भाषाओं को परस्पर निकट लाने के लिए तथा संविधान के अनुच्छेद ३५१ के निदेशानुसार हिन्दी का विकास करने के लिए और भारतीय भाषा-शास्त्र, भाषा-विज्ञान और तत्सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन तथा अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने के लिए एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना अवश्य की जा सकती है। किन्तु यह तो विभिन्न भाषाओं को परस्पर निकट लाने का केवल एक उपाय होगा। अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि किसी एक प्रायोजना से नहीं होगी। इसके लिए तो भविष्य में इसी व्यापक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सभी सम्बन्धित कार्यकलापों को प्रोत्साहन देना होगा ताकि जो भी कार्य साहित्य अकादमी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग (जिसकी स्थापना भारतीय भाषाओं की वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली की जाँच और मूल्यांकन के लिए की जानेवाली है) द्वारा किये जाएँ वे सब एक ही भावना से प्रेरित हों, अर्थात् इस भावना से कि विभिन्न भारतीय अधिकाधिक एक-दूसरे के निकट लाये जाएँ और हिन्दी में जो भी सामग्री तैयार की जाए वह इस प्रकार तैयार हो कि हिन्दी धीरे-धीरे और अप्रत्यक्ष रूप से एक प्रान्तीय भाषा की सीमा से ऊपर उठकर तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रचलित शैलियों, रूपों तथा वाक्यांशों को अपनाकर अभिव्यक्ति का वस्तुतः अखिल भारतीय माध्यम बन सके। किसी एक अकादमी या प्रायोजना से यह काम पूरा नहीं हो सकता और न ही उसके लिए कोई लक्ष्यतिथि निर्धारित की जा सकती है। वस्तुतः यह काम तो एक धार्मिक विश्वास के समान उन सभी लोगों को अपनाना होगा जो विभिन्न भारतीय भाषाओं के विकास और प्रसार के कार्य में लगे हैं और किसी भी स्तर पर उनका प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में उन लोगों से भी सहायता मिलेगी जिनकी मातृभाषा हिन्दी से भिन्न है, क्योंकि जब वे संघ की भाषा को काम में लाएँगे तो उनके द्वारा लिखी जानेवाली हिन्दी पर उनकी अपनी मातृभाषा के मुहावरों आदि का रंग चढ़ना अनिवार्य ही है। इस दिशा में सबसे अधिक योगदान लेखकों तथा साहित्यकारों का होगा, क्योंकि केवल वे ही अपने सृजन-कार्य के एक अंग के रूप में भाषा को नये सिरे से ढालने की सामर्थ्य रखते हैं।

किन्तु अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा सबसे अधिक इसी (साहित्यकारों की सहायता) का अभाव है। भारत की अधिकतर भाषाएँ दो मुख्य स्रोतों से निकली हैं और उनमें से अधिकांश पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है। परन्तु बोली जानेवाली भाषा में देश और काल के अन्तर से परिवर्तन होता रहता है और इस तरह विभिन्न भाषाएँ एक-दूसरे से बहुत दूर हो गई हैं। मुद्रणालय ने उन्हें और भी अधिक निर्जीव बना दिया है। संचार तथा परिवहन के साधनों में जो क्रान्ति उत्पन्न हो गई है उसको देखते हुए तथा राष्ट्रीय एकता के लिए भी यह आवश्यक हो गया है कि विभिन्न भाषाओं की अपनी मूल प्रकृति तथा स्वाभाविक विकास में बाधक हुए बिना उन्हें परस्पर निकट लाने का प्रयत्न किया जाए।

इसलिए एक राष्ट्रीय भाषा अकादमी की स्थापना के सुझाव के अतिरिक्त इस काम के लिए एक वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दावली आयोग की भी स्थापना की जा रही है। इसका काम ऐसे ढंग से वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करना होगा, जिससे कि विभिन्न भारतीय भाषाओं की शब्दावली में यथासम्भव अधिक-से-अधिक एकरूपता आ

सके। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को या तो ज्यों-का-त्यों और या अपनी भाषा के अनुकूल बनाकर स्वीकार कर लेना होगा ताकि भारत विश्व-धारा से कट-कर अलग न हो जाए। यह सच है कि संकल्पनामूलक शब्दों को इस प्रकार ग्रहण करना सम्भव नहीं है और प्रत्येक भाषा को उनके समानार्थी शब्द बनाने होंगे। किन्तु ऐसे शब्दों में भी संस्कृत के आधार पर एकरूपता लाने का प्रयत्न किया जा सकता है, क्योंकि इनमें से अधिकतर भाषाएँ बहुत समय से संस्कृत से ही जीवन-शक्ति प्राप्त करती रही हैं। यहाँ चेतावनी के रूप में एक बात कह देना अप्रासंगिक न होगा। इस सम्बन्ध में नीति यह है कि जो पारिभाषिक शब्द बनाए जाएँ वे स्पष्ट, ठीक-ठीक और सरल हों। ऐसा करते समय भाषा की शुद्धता को आधार बनाकर कोई सैद्धान्तिक आग्रह नहीं किया जाना चाहिए। जो शब्द हमारी भाषाओं में घुल-मिल गए हैं उन्हें चुन-चुनकर निकाला न जाए, चाहे उनका स्रोत कुछ भी रहा हो। इस काम में बड़ी कठि-नाइयाँ हैं, क्योंकि एक ही शब्द किसी एक मनुष्य के लिए सरल हो सकता है तो दूसरे के लिए कठिन। सम्भव है कि किसी एक जनपद में समझा जानेवाला शब्द किसी दूसरे जनपद में न समझा जा सके, और फिर संस्कृत के आधार पर बने पारिभाषिक शब्द यदि अधिकतर प्रादेशिक भाषाओं में आसानी से समझ भी लिये जाएँ तब भी इस तरीके का यह परिणाम हो सकता है कि एक ऐसे जनसमूह से भाषा दूर जा पड़े जिसके कभी वह बहुत निकट थी। कुछ भी हो, अपनी नवीनता के कारण इस प्रकार के शब्द जबरस्ती लादे गए अथवा आडम्बरपूर्ण जान पड़ते हैं, यद्यपि पारिभाषिक शब्द-समूह बनाने के लिए किसी संस्कृत धातु का आश्रय लेना आवश्यक भी हो सकता है। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी दृढ़-संकल्प होने पर अभिव्यक्ति का एक ऐसा माध्यम ढूँढ़ा जा सकता है जो यथार्थ भी हो और भव्य भी। इसके साथ-साथ उसे अन्य भारतीय भाषाओं द्वारा (यदि हो सके तो कुछ विश्व-भाषाओं द्वारा भी) प्रदत्त शब्दों से समृद्ध बनाना चाहिए ताकि उसकी व्यापकता के कारण हमें वास्तव में अभिव्यक्ति का एक अखिल भारतीय माध्यम उपलब्ध हो जाए।

पारिभाषिक शब्दावली के बारे में भी हम धर्म-संकट में हैं। यदि आरम्भ में ही पारिभाषिक शब्द निश्चित न कर दिये गए तो भाषा-सम्बन्धी अराजकता उत्पन्न हो सकती है; किन्तु पारिभाषिक शब्द आदेश-मात्र से ही तो नहीं गढ़े जा सकते और गढ़ भी लिये गए तो उन्हें प्रचलित नहीं किया जा सकता। उनका प्रयोग करना बहुत आव-श्यक है। तभी वे प्रचलित होकर भाषा की लोकप्रिय शब्दावली में स्थान पाते हैं। शब्द का अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं होता, शब्द तो प्रसंगानुसार ही अर्थग्रहण करते हैं और उनका अर्थ-वैभव तो तभी बढ़ता है जब विभिन्न व्यक्ति अलग-अलग परिस्थितियों में लगातार उनका प्रयोग करते रहें। विश्व की अधिकतर भाषाओं को विकसित होने में बहुत अधिक समय लगा है और वे साहित्य-सृजन द्वारा सम्पन्न बनी हैं, शब्दकोश बनाकर नहीं। किन्तु वैज्ञानिक साहित्य तो मानक पारिभाषिक शब्दावली के अभाव में तैयार हो ही नहीं सकता। हमारे देश में इस बात का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि जिस काम में अन्य देशों ने सैकड़ों वर्ष लगाए हैं उन्हें यहाँ कुछ ही दशकों में पूरा करना है। ऐसा करना कुछ अनुचित भी नहीं है जैसा कि मारिया पेई ने किसी और प्रसंग में कहा है, "एक घोड़े की स्वाभा-विकता की तुलना में एक मोटर गाड़ी कृत्रिम ही है, लेकिन कृत्रिमता इस बात की अभिव्यक्ति हो सकती है, और आम-तौर पर है भी, कि मनुष्य ने उद्देश्य-विशेष के लिए अपनी बुद्धि द्वारा प्रकृति में किस सीमा तक सुधार कर लिया है।" यह बात आवश्यक है कि जो पारिभाषिक शब्द बनाये जाएँ उनका प्रयोग किया जाए और जिन शब्दों में जीवित रहने की क्षमता न हो उन्हें नष्ट हो जाने दिया जाए। इस प्रकार इस क्षेत्र में यह अनिवार्य है कि शब्द बनाये जाएँ, उन्हें मानक रूप दिया जाए, उनका प्रयोग हो और प्रयोगों के आधार पर उनका पुनः मानकीकरण किया जाए।

पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग का प्रश्न सरकारी काम-काज से सम्बन्धित तथा अन्य प्रकार के साहित्य-निर्माण से सम्पृक्त है। विधि-विषयक साहित्य में यथार्थता की आव-श्यकता बहुत अधिक होती है। इसलिए विधि-विषयक शब्दावली और साहित्य तैयार करने के लिए विधिवेत्ताओं

का एक आयोग स्थापित करने का विचार है।

अदालतों में, लेखा-परीक्षा और लेखा-सम्बन्धी मामलों में और लोकसेवा आयोगों के काम में (जिनमें उन प्रतियोगिता परीक्षाओं का आयोजन भी शामिल है जिनमें सबको समान रूप से अवसर देना आवश्यक होता है) हिन्दी के उपयोग के सम्बन्ध में हमारे सामने विशेष समस्याएँ आती हैं। स्पष्ट है कि यद्यपि उपर्युक्त प्रयोजनों के लिए भारतीय भाषाएँ बहुत विकसित हो चुकी हैं, किन्तु समन्वय और सहज परिवर्तन की दृष्टि से आवश्यक है कि जल्दबाजी से बचा जाए।

वर्तमान पीढ़ी ने अनेक वर्षों के प्रयास द्वारा अंग्रेजी के माध्यम से काम करने की शिक्षा पाई है। ऐसी दशा में इस पीढ़ी के लोगों से यह आशा ही नहीं की जा सकती कि वे भारतीय भाषाओं में भी अपना काम उतनी ही अच्छी तरह कर सकेंगे जिस तरह वे अंग्रेजी में करते हैं। किन्तु इसके साथ ही हमारा भविष्य अवश्य ही आशामय है,, क्योंकि भारत के अधिकतर माध्यमिक स्कूलों में अब शिक्षा का माध्यम या तो मातृभाषा है या प्रादेशिक भाषा और त्रिभाषी सूत्र के अनुसार भारत के सभी राज्यों में अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी भी अनिवार्य अथवा स्वैच्छिक विषय के रूप में अवश्य पढ़ाई जाने लगी है। इस प्रकार नई पीढ़ी को प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से काम करने में कोई कठिनाई नहीं होगी और चूँकि उनमें से लगभग सभी लोग हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाएँ पढ़ चुके होंगे, इसलिए विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच विचार-विनिमय के अवरुद्ध हो जाने की जो आशंका कुछ लोगों को इस समय है वह निर्मूल सिद्ध होगी।

संघ की भाषा, प्रादेशिक भाषा और अंग्रेजी के बीच कोई विरोध भी नहीं रहेगा, क्योंकि इनमें से प्रत्येक भाषा का अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट कार्य होगा। ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है जिन्हें इस बात का भय है कि तीन भाषाएँ सीखने से विद्यार्थी पर अनावश्यक बोझ पड़ेगा। किन्तु फ्रेडरिक बोडमर ('दि लूम ऑफ लेंगुएज') के शब्दों में, "शायद ही कोई व्यक्ति किसी तर्क-संगत आधार पर यह विश्वास कर सकता है कि वह जन्म से ही भाषाविद् बनने के अयोग्य है। फिर भी यदि भाषा-विषयक भय विद्यमान है तो वह निश्चित रूप से औपचारिक शिक्षा अथवा सामाजिक वातावरण के किन्हीं अन्य पक्षों के कारण है।"

इस देश के भावी शिक्षित नागरिकों को अपनी प्रादेशिक भाषा, संघ-भाषा और एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अवश्य सीखनी पड़ेगी। जिन लोगों की भाषाओं के प्रति विशेष रुचि है उनकी बात दूसरी है; वे तो एक श्रेण्य भाषा भी सीख सकते हैं। भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने के लिए यह आवश्यक है कि इन भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें तथा अन्य सहायक साहित्य उपलब्ध हो। अभी इस प्रकार का साहित्य उल्लेखनीय मात्रा में उपलब्ध नहीं है। अंग्रेजी के सभी वैज्ञानिक, प्राविधिक तथा अन्य प्रकार के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद करना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही है। जो लोग इन विषयों का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन करना चाहेंगे वे इन ग्रन्थों को अवश्य पढ़ सकते हैं क्योंकि उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान होगा। फिर भी प्रादेशिक भाषाओं में इस प्रकार का साहित्य सुलभ करना आवश्यक है, क्योंकि इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि बहुत-से विद्यार्थी अध्ययन के क्षेत्र में इसी लिए प्रगति नहीं कर पाते कि अंग्रेजी भाषा न समझ पाने के कारण उन्हें दोहरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। एक तो नया ज्ञान अर्जित करने की कठिनाई और दूसरे ऐसे माध्यम से ज्ञान अर्जित करने की कठिनाई जो उनके लिए बहुत कठिन है।

संक्रान्ति-काल में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती ही हैं और उनसे बचा नहीं जा सकता। पर उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है और परिवर्तन की इस प्रक्रिया को अधिक सहज बनाया जा सकता है। हो सकता है कि इस परिवर्तन काल में प्रशासकों और शिक्षकों, दोनों को ही मिली-जुली भाषा अपनानी पड़े और इस प्रकार उसी प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़े जिसने कभी हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के वर्तमान रूपों को जन्म दिया था। इस बात में भी सन्देह नहीं है कि जिन लोगों ने शुरू में इस नई भाषा को अपनाया होगा उनके प्रति बहुत-से लोगों ने नाक-भौं सिकोड़ी होंगी, किन्तु विकास और पारस्परिक आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया सम्भव ही नहीं सुगम भी हो गई, क्योंकि उस समय छापेखाने का अनुशासन नहीं था। अब तो भाषाओं पर छापेखाने का अनुशासन-चक्र चला

हुआ है और प्राचीन काल में वैयाकरण पाणिनि ने जो-कुछ संस्कृत के लिए किया था वही काम आधुनिक भाषाओं के लिए छापेखाने द्वारा किया जा रहा है। बाजारों में, कक्षाओं में, कार्यालियों में, कारखानों में और इन सबसे अधिक घरों में जो भाषा बोली जाती है वह प्रादेशिक भाषा और अंग्रेजी अथवा संघीय भाषा और अंग्रेजी की खिचड़ी है। लेकिन जब इस भाषा को सार्वजनिक रूप से बोलने या लिखने की बात आती है तो लेखक या वक्ता प्रत्येक विदेशी शब्द को अपनी भाषा से चुन-चुनकर इस भय से निकालने का प्रयत्न करते हैं कि कहीं उन पर भाषा को गँवारू बनाने का आक्षेप न किया जाए।

[‘भाषा’ के सौजन्य से]

ए० के० जैन

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा हिन्दी का प्रचार व प्रसार कार्य

श्रीयुत ए० के० जैन हिन्दी के अनन्य प्रेमी और अनेक वर्षों तक भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय में हिन्दी के अनुसचिव रहे हैं। केन्द्रीय पुरस्कार योजनाओं के सफल संचालन का अधिकांश श्रेय आपको भी है।

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा हिन्दी को भारतीय संविधान की ३५१ धारा में राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाने के उपरान्त हिन्दी का प्रचार व प्रसार-कार्य पंचवर्षीय योजनाओं के निश्चित क्रमानुसार किया जाने लगा। प्रथम पंचवर्षीय योजना में आरम्भ किये गए प्रचार व प्रसार-कार्यों को द्वितीय पंचवर्षीय योजना में आगे बढ़ाने के साथ-ही-साथ नवीन योजनाओं को भी कार्य-सूची में सम्मिलित किया गया। इस तरह समय के साथ हिन्दी का प्रचार व प्रसार-कार्य योजनाओं में सम्मिलित होता रहा। इसके साथ ही इस मन्त्रालय ने राष्ट्रभाषा की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के प्रति अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए, विदेशों में हिन्दी के प्रचार व प्रसार-कार्य की योजनाओं को भी अपने कार्य में सम्मिलित किया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्रामाणिक और समान वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दावली को हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के लिए गढ़ने की योजना शिक्षा मन्त्रालय द्वारा प्रतिष्ठापित केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली परिषद् के पर्यवेक्षण में, सन् १९५० में प्रारम्भ हुई। दो वर्ष के भीतर इस परिषद् में विभिन्न विषयों के आधार पर लगभग २० विशेषज्ञ समितियाँ कार्य करने लगीं। प्राप्त आधारों पर सितम्बर १९५९ के अन्त तक १,७७,६१६ वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हुआ, जिनमें ने अधिकांश शब्दावली को भारत सरकार ने अन्तिम रूप में स्वीकार करके तात्कालिक उपयोग के लिए अन्य मन्त्रालयों, राज्य-शासनों, अनुसन्धान-संस्थाओं और उच्च-स्तरीय संस्थाओं को भेजा।

संविधान के अनुच्छेद ३४४ के अनुसार १९५५ में राजभाषा आयोग की नियुक्ति हुई। यह आयोग राज्य-सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा विद्वद्-संस्थाओं के पूर्ण सहयोग व समर्थन से हिन्दी के प्रचार व प्रसार-कार्य में प्रवृत्त रहा।

शिक्षा मन्त्रालय ने वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण-कार्य को अधिक सुचारु रूप से चलाने तथा बनाई गई शब्दावली पर विभिन्न भाषाविदों तथा विद्वानों के विचार जानने एवं नई शब्दावली के निर्माण के लिए उनके विचारों का लाभ उठाने के लिए, एक नई योजना का सूत्रपात किया। इस योजना के अन्तर्गत विभिन्न विद्वान् इकट्ठे बैठकर निर्मित शब्दावली के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करते हैं। इस योजना को शब्दावली कार्य-गोष्ठी नाम दिया गया है। ये कार्य-गोष्ठियाँ (वर्कशाप्स) शिमला

और जयपुर में प्रतिष्ठापित हुई। इनमें गणित, रसायन तथा भौतिकी की शब्दावलियों को संशोधित तथा परिवर्धित करने के सम्बन्ध में कार्य किया गया है। निश्चित कार्य-योजनानुसार अन्य विषयों पर भी इस तरह की कार्य-गोष्ठियों की नियोजना है।

शिक्षा मन्त्रालय के अमित परिश्रम के फलस्वरूप १६६२ में 'पारिभाषिक शब्द संग्रह' का प्रकाशन दो खण्डों में हुआ, जिसमें प्रथम खण्ड में 'ए' से 'के' तक के अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय शब्दकोश के रूप में प्रकाशित हुए तथा दूसरे खण्ड में 'एल' से लेकर 'जेड' तक के अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय दिये गए हैं। इन दोनों संग्रहों में लगभग तीन लाख अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय प्रकाशित हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में द्विभाषी और बहुभाषी शब्दकोशों का निर्माण-कार्य भी सम्मिलित था। इस सन्दर्भ में शिक्षा मन्त्रालय ने हिन्दुस्तानी कल्चरल सोसायटी, इलाहाबाद को, 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' के आधार पर प्रामाणिक अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश के निर्माण का कार्यभार १६५३ में सौंपा। इस कार्य को सम्पन्न करने के हेतु इस संस्था को एक लाख रुपयों का आर्थिक अनुदान दिया। इसी तरह हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश के निर्माण-कार्य को सम्पन्न करने के हेतु आर्थिक अनुदान दिया, जो कि आज महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'शासन शब्दकोश' तथा 'मानक हिन्दीकोश' पहला भाग के रूप में प्रकाशित है।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने 'हिन्दी शब्द सागर' के पुनर्संशोधित प्रकाशन का कार्य शिक्षा मन्त्रालय के एक लाख रुपयों के अनुदानिक सहयोग से १६५४-५५ में प्रारम्भ किया था जोकि समय के भीतर सम्पन्न हो चुका है। बहुभाषी शब्दकोशों की योजना को शिक्षा मन्त्रालय ने १६५४ से प्रारम्भ किया। इसके अन्तर्गत भारतीय संविधान में स्वीकृत अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों के हिन्दी पर्याय के शब्दकोश का निर्माण-कार्य था। इस सन्दर्भ में हिन्दुस्थानी हिन्दी सभा, हैदराबाद ने हिन्दी, अंग्रेजी, बँगला, मराठी, तमिल, तेलुगु और उर्दू, इन सात भाषाओं के 'बहुभाषी शब्दकोश' का कार्य शिक्षा मन्त्रालय के आर्थिक सहयोग से १६५५ में आरम्भ किया जो कि अभी अपनी अन्तिम अवस्था में है। इन कार्य-योजनाओं के ही समानान्तर शिक्षा मन्त्रालय की ओर से १६५४ से भारत की ग्यारह प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों के हिन्दी पर्याय के शब्दकोशों के निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ जो कि प्रायः पूर्ण हो चुका है।

शिक्षा मन्त्रालय ने ११.६ लाख रुपयों की लागत का विश्वकोश, जो कि दस भागों में प्रकाशित होगा, के निर्माण का कार्य १६५६ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा को सौंपा। इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के हेतु विशेषज्ञों की सलाहकार समिति का संगठन किया गया। अभी तक सभा ने तीन खण्डों का प्रकाशन पूर्ण किया है। प्रत्येक खण्ड में पाँच सौ पृष्ठ हैं। सम्भवतः यह कार्य चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के उत्तर पक्ष में समाप्त होगा।

१६५५ में भारत सरकार ने शिक्षा मन्त्रालय तथा अन्य मन्त्रालयों के सहयोग से, हिन्दी टाइपराइटर के कुंजी-पटल और टेलीप्रिंटर को प्रामाणिक रूप देने के लिए समिति की स्थापना की। इस समिति की सहायता से विभिन्न टाइपराइटर बनानेवाली कम्पनियों एवं भाषाविदों के परामर्श से इस समस्या के सम्भावित हल को १६६२ में भारत सरकार ने अन्तिम रूप में स्वीकार कर, कुंजी-पटल को निश्चित कर दिया। इस तरह राष्ट्रभाषा के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी जुड़ गई। इसके समाधान के साथ ही टेलीप्रिंटर की समस्या भी प्रायः सुलझ गई और उसके निर्माण का कार्य हिन्दुस्थान टेलीप्रिंटर लिमिटेड को सौंप दिया गया।

शिक्षा मन्त्रालय ने १६५५ में शीघ्रलिपि संकेतों को प्रामाणिक और अन्तिम रूप देने के लिए तथा सभी भारतीय भाषाओं के उपयुक्त एकरूपता को बनाए रखने के लिए एक समिति बनाई। इस समिति ने इस कार्य को प्रान्तीय भाषाओं के आधार पर प्रान्तीय विश्वविद्यालयों को भाषा और ध्वनिगत विश्लेषण के लिए सौंपा। यह कार्य अभी उड़िया और मलयालम भाषाओं के कार्य की शिथिलता के कारण निर्माण-समय-सीमा में विस्तार पा गया।

अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रचार में प्रयुक्त होनेवाली वैज्ञानिक ढंग की पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के

लिए १९५६ में हिन्दी शिक्षा-समिति का संगठन किया गया, जिसके परिश्रम के फलस्वरूप पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गई। इस कार्य के समानान्तर ही अहिन्दी-भाषियों के लिए प्रारम्भिक हिन्दी व्याकरण की पुस्तकों के कार्य को सम्पन्न किया गया। इस कार्य को और सुगम बनाने के लिए प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सिखाने के लिए १२ भाषाओं के द्विभाषी वर्णमाला चार्ट सचित्र रूप में प्रकाशित किये गए। इस प्रकाशित प्रचार-साहित्य को सभी राज्य सरकारों, मन्त्रालयों, प्रमुख कार्यालयों तथा हिन्दी प्रचार संस्थाओं को निःशुल्क भेजा गया।

१९५२ से हिन्दी में प्रकाशित योग्य पुस्तकों को विभिन्न वर्ग-बद्ध प्रतियोगिताओं के आधार पर पुरस्कारों की योजना को प्रारम्भ किया गया। इसमें मौलिक हिन्दी रचना, इतर भाषा से हिन्दी में अनुवादित रचना पर, काव्य, नाटक, उपन्यास और उत्तम कोटि के सामान्य साहित्य को पृथक्-पृथक् पुरस्कृत करने का उपक्रम है। अन्य दो वर्गों में उन हिन्दी रचनाओं को रखा गया जिनमें अन्तर्प्रान्तीय वातावरण तथा समस्याओं का विश्लेषण किया गया हो और चौथे वर्ग में पारिभाषिक व तकनीकी विषयों पर हिन्दी में लिखित पुस्तकों को समाहित किया गया।

हिन्दी को बढ़ावा देते हुए भारत सरकार ने प्रकाशकों के सहयोग से विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं की लोकप्रिय पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित करने की योजना की घोषणा की है। इस योजना के अन्तर्गत प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में सरकार द्वारा तैयार की गई शब्दावली का प्रयोग किया जाता है और प्रत्येक पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक शब्दों की अंग्रेजी-हिन्दी सूचियाँ दी जाने की व्यवस्था है। इस योजना में सभी पुस्तकों की भाषा सरल, सुगम और मुहावरेदार रखी जाती है और हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हैं उनका प्रयोग भी किया जाता है। इस योजना का उद्देश्य सर्वसाधारण में मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, इंजीनियरी, टेकनालॉजी, समाजशास्त्र इत्यादि विषयों के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करना है।

इस योजना में विश्वविख्यात ग्रन्थों, बाल-साहित्य और सामान्य ज्ञान की पुस्तकों को अनूदित कर प्रकाशित किया जाता है। पुस्तकों का मूल्य यथासम्भव कम रखने के लिए सरकार ने प्रकाशकों और अन्य क्षेत्रों से विचार-विमर्श करके यह निर्णय किया है कि पुस्तकों का मूल्य किसी भी दशा में लागत के ढाई गुने से कम या तीन गुने से अधिक न रखा जाएगा। जो प्रकाशक उपर्युक्त शर्तों के अनुसार सरकार द्वारा अनुमोदित पुस्तकें प्रकाशित करते हैं, सरकार उनसे २५ प्रतिशत घटौत्री से १००० पुस्तकें क्रय कर, विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों एवं महत्त्वपूर्ण शिक्षण-संस्थाओं को भेंट रूप में प्रदान करती है।

शिक्षा मन्त्रालय ने १९५२ से केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के निमित्त हिन्दी कक्षाओं को प्रारम्भ किया तथा इस शिक्षण की सुचारुता के लिए इसे प्रबोध, प्रवीण, प्राज्ञ इन तीन स्तरों में विभक्त किया है। इन परीक्षाओं में नियमित रूप से अध्ययन करनेवाले कर्मचारी तथा निजी तौर पर अध्ययन करके भी कर्मचारी सम्मिलित हो सकते हैं।

अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी विषय उच्च माध्यमिक शालाओं के लिए निर्धारित करते हुए शिक्षा मन्त्रालय ने १९५० में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की स्थापना की। इसके साथ ही अहिन्दी क्षेत्रों में तीन भाषाओं की विधा को कार्यान्वित करने की नियोजना की तथा ऐसा ही अन्दमान निकोबार के लिए भी स्वीकृत किया। इसके साथ ही शिक्षा मन्त्रालय ने दक्षिण के विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागों की स्थापना की योजना को राज्य-सरकारों तथा विश्वविद्यालयों के परामर्श से क्रियान्वित करना प्रारम्भ किया। ठीक इसके विपरीत उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में दक्षिण की भाषाओं को मिलमा पढ़ाई के रूप में प्रचलित किया तथा मराठी, गुजराती, पंजाबी, बंगला भाषाओं को विशेष विषय के रूप में अनुमोदित कर प्रचलित किया। इस तरह की शिक्षा-व्यवस्था को सर्वप्रथम दिल्ली विश्वविद्यालय ने अपनाया, जिसमें कि उसे छात्रों की अभिरुचि के साथ ही अत्यधिक प्रोत्साहन एवं सफलता प्राप्त हुई।

हिन्दी-प्रचार व प्रसार के लिए शिक्षा मन्त्रालय ने अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों से हिन्दी-भाषी-क्षेत्रों में तथा हिन्दी-

भाषी-क्षेत्रों से अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों में विभिन्न लेखकों तथा भाषाशास्त्रियों की व्याख्यान-मालाएँ आयोजित कराने की योजना को प्रारम्भ किया। इस योजना के सन्दर्भ में सर्वश्री गुरुनाथ जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', के० आर० नान्जुवन, डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० भोलानाथ तिवारी, श्री राम-मूर्ति रेनु आदि विद्वानों की अन्तरप्रादेशीय यात्राएँ सम्पन्न हुईं।

इसी तरह अहिन्दी तथा हिन्दी-भाषी-क्षेत्रों के हिन्दी शिक्षकों की संगोष्ठियों के आयोजनों के द्वारा उन्हें परस्पर पास आने के अवसरों को बढ़ावा देने की योजना को प्रारम्भ किया। इस तरह की शिक्षक संगोष्ठियों में हिन्दी-शिक्षण की समस्याओं पर विचार किया गया। इन संगो-ष्ठियों का प्रथमतः ग्वालियर और बनारस में आयोजन किया गया। हिन्दी के प्रचार व प्रसार में सेवा-कार्य करने वाली संस्थाओं ने अपने प्रचारकों की संगोष्ठियों का आयो-जन किया। राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा, गुजरात विद्या-पीठ, अहमदाबाद तथा अन्य अनेक संस्थाओं ने इन संगोष्ठियों को सम्पन्न किया।

साथ ही शिक्षा मन्त्रालय ने विश्वविद्यालयों और उच्च शालाओं के छात्रों में परस्पर हिन्दी के प्रति विचार-विमर्श तथा वाक्-प्रतियोगिताओं की योजना को प्रचलित किया। इस योजना के अन्तर्गत अहिन्दी-भाषी विश्व-विद्यालयों में हिन्दी व अहिन्दी-भाषी-क्षेत्रों के छात्रों को, होनेवाली वाक्-प्रतियोगिताओं में आमन्त्रित किया गया। इस तरह के आयोजन असम, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, मद्रास, मैसूर और केरल में सम्पन्न हुए।

इन सबके अनन्तर शिक्षा मन्त्रालय ने हिन्दी का प्रचार व प्रसार का सेवाकार्य करनेवाली संस्थाओ को हिन्दी के विकास-कार्य के लिए समय-समय पर आर्थिक सहयोग अनुदान के रूप में दिया है। अहिन्दी-भाषी छात्रों को हिन्दी में उच्च अध्ययन के लिए प्रदेशानुसार छात्रवृत्ति देने की योजना को भी प्रारम्भ किया गया। विश्वविद्या-लयों और राज्य-सरकारों के माध्यम से हिन्दी-भाषी छात्रों के हिन्दी अध्ययन के लिए अल्प आर्थिक सहयोग दिया गया।

विदेशों में हिन्दी के लिए भारत सरकार उदारतापूर्वक प्रचारात्मक योजना को व्यवहार में लाई है। इस योजना के अन्तर्गत, ब्रिटिश वेस्ट इंडीज़, ब्रिटिश ग्वाइना, ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका, जामाईका, फ़ीजी द्वीप-समूह, मारीशस को हिन्दी के उत्तम सरल सुगम ग्रन्थों के अनेक सेट वहाँ के विभिन्न स्कूलों, विश्वविद्यालयों एवं पुस्तकालयों को भेंट में दिये गए। सीलोन विश्वविद्यालय में हिन्दी के उत्कृष्ट अध्ययन के लिए, निधि और पुरस्कार दोनों का ही नियो-जन किया गया। ऑक्सफोर्ड, डरहम, केम्ब्रिज आदि विश्व-विद्यालयों को लगभग दस हजार रुपये मूल्य के हिन्दी के उत्तम ग्रन्थ भेंट-स्वरूप भेजे गए। इस तरह की अन्य अनेक भेंटें पूर्वी द्वीप-समूहों के देशों को दी गईं। जापान का इस सम्बन्ध में भारत से अधिक सम्पर्क रहा। जापान में हिन्दी की शिक्षा का सराहनीय प्रबन्ध है तथा इसको बढ़ावा देने के लिए प्रतिवर्ष वहाँ के दो हिन्दी शिक्षा पानेवाले छात्रों को भारत की यात्रा पुरस्कार-स्वरूप करने की सुविधा प्रदान की गई। ऐसे ही व्यवहार की सुविधा मंगोलिया पूर्वी द्वीप-समूह आदि देशों के छात्रों को दी गई है।

यूरोपीय देशों में प्रायः जर्मनी, पोलैण्ड, चेकोस्लो-वाकिया, आस्ट्रिया, इटली तथा अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में हिन्दी के अध्ययन को सुगम बनाने के हेतु हिन्दी के स्वयं-शिक्षक अंग्रेजी तथा उनकी भाषा में तैयार कराये गए, जोकि इन देशों के स्कूलों, विद्यालयों, विश्व-विद्यालयों और पुस्तकालयों को हिन्दी के उत्तम ग्रन्थों के सेट के साथ भेंट में दिये गए। भारत सरकार की अनुमति से प्रतिवर्ष इन देशों के हिन्दी शिक्षा पाने वाले दो छात्रों को भारत की यात्रा पुरस्कार-स्वरूप शिक्षा मन्त्रालय प्रदान करता है।

हिन्दी शिक्षकों तथा अध्यापकों एवं प्राध्यापकों को विदेश के विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्या-पन के लिए भेजा गया। इसमें जर्मनी, इटली, अमरीका, रूस आदि देशों के विभिन्न विश्वविद्यालयों में भारतीय प्राध्यापकों की द्विवर्षीय, त्रिवर्षीय काल के लिए नियुक्तियाँ हिन्दी के अध्यापन-कार्य को सम्पन्न करने के हेतु हुईं। विशेषकर रूस के विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के भारतीय विद्वानों एवं प्राध्यापकों को अपने यहाँ हिन्दी के अध्यापन-

कार्य के लिए आमन्त्रित किया। इनमें डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री डी० एन० शर्मा, श्री के० सी० सिनहा, आदि १९५८ में गये और अध्यापन-अवधि के बाद भारत वापस लौट आए। डॉ० भोलानाथ तिवारी, १९६२ मे तीन वर्ष के लिए रूस के ताशकन्द विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापन-कार्य कर रहे हैं।

शिक्षा मन्त्रालय ने विदेशी छात्रों को हिन्दी की शिक्षा देने के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शिक्षण की व्यवस्था की है, जिसके अन्तर्गत, रूस, जर्मनी, अफ्रीका तथा अन्य देशों के छात्र हिन्दी की शिक्षा पाते हैं। आजकल विदेशों में हिन्दी का प्रचार व प्रसार का कार्य वैज्ञानिक सांस्कृतिक अनुसन्धान मन्त्रालय करता है।

हिन्दी के प्रचार व प्रसार के साथ ही शिक्षा मन्त्रालय ने इसकी जननी संस्कृत के प्रति भी अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए उसके कार्यों के लिए उदारतापूर्वक अनुदान व बढ़ावा दिया है। अभी इसी बीतते हुए वर्ष में लगभग दो लाख रुपयों से संस्कृत प्रचार-संस्थाओं की सहायता की है और सवा लाख रुपयों का अनुदान देश के विभिन्न संस्कृत-पाठित गुरुकुलों को दिया है। संस्कृत के प्रकाशित ग्रन्थों को क्रय करके विश्वविद्यालयों और शिक्षण-संस्थाओं को भेंट रूप में दिया।

शिक्षा मन्त्रालय ने अपने विभाग की हिन्दी की प्रचार-प्रसार-गत आयातित उठी समस्याओं के तथा अपनी नीति को हिन्दी के सुविज्ञ पाठकों तक पहुँचा सकने के लिए 'भाषा' नामक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन अगस्त १९६१ से डॉ० नगेन्द्र, डॉ० कोठारी, श्री जीवन नायक आदि आठ सदस्यों के सफल सम्पादन में प्रारम्भ किया है।

श्याममोहन श्रीवास्तव

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की हिन्दी के प्रसार एवं विकास की विविध योजनाएँ

हिन्दी के विकास तथा प्रसार के लिए शिक्षा मन्त्रालय की एक शाखा के रूप में हिन्दी निदेशालय की स्थापना की गई है।

सरकार ने शब्दावली-निर्माण, हिन्दी के विकास तथा प्रसार, विदेशी अनुबन्ध-पत्रों के अनुवाद, मानक ग्रन्थों एवं महत्त्वपूर्ण सरकारी प्रकाशनों और मैनुअल और कार्यालय के नियम-विनियम आदि के प्रकाशन तथा कोश आदि के निर्माण के सम्बन्ध में जो योजनाएँ हाथ में ली थीं उनकी क्रियान्विति के लिए निदेशालय को उत्तरदायी बनाया गया।

वैज्ञानिक कृतियों के अनुवाद

निदेशालय के तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय-स्तर के मानक ग्रन्थों के अनुवाद की योजना प्रारम्भ की गई। यह कार्य विभिन्न विश्वविद्यालयों, शैक्षिक संस्थाओं तथा सुयोग्य विद्वानों को सौंपा गया। इसी योजना के अन्तर्गत वैज्ञानिक कृतियों के क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद का कार्य भी प्रारम्भ किया गया। इस योजना में उन अनुवाद करनेवाली संस्थाओं आदि को ५० प्रतिशत आर्थिक सहायता भी देने का विधान है, जो अनुवाद और प्रकाशन के लिए स्वयं पुस्तकों के नाम प्रस्तावित करती हैं और जिनको बाद में सरकार अनुमोदन देती है। इस काम के लिए मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा गुजरात में केन्द्रीय समन्वय समितियाँ भी स्थापित की जा चुकी हैं।

अनुवाद के लिए इस योजना के अन्तर्गत २०० पुस्तकें प्रारम्भ में चुनी गई थीं। उनके अतिरिक्त अब ३०० और पुस्तकों का भी चुनाव कर लिया गया है। ये पुस्तकें विभिन्न अनुवाद-संस्थाओं को अनुवाद के लिए दे दी गई हैं। इन अनुवाद-संस्थाओं को अनुवाद-कार्य के लिए समुचित धन और कर्मचारी दिये गए हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय, बनारस विश्वविद्यालय तथा मध्य प्रदेश राज्य सरकार में अनुवाद-शाखाओं की स्थापना की जा चुकी है।

विभिन्न राज्यों में इस प्रकार की ३० अनुवाद एजेन्सियाँ काम कर रही हैं, जिनमें से प्रत्येक ने औसतन पाँच पुस्तकों का अनुवाद प्रारम्भ कर दिया है, जोकि अगले वर्ष तक पूरी हो जाएँगी। लगभग २०० पुस्तकों का कापीराइट प्राप्त किया जा चुका है और विभिन्न भारतीय एवं विदेशी कापीराइट के स्वामियों को रायल्टी के रूप में लगभग तीन लाख रुपये दिये जा चुके हैं।

निदेशालय द्वारा जिन २० पुस्तकों के अनुवाद और प्रकाशन का कार्य हाथ में लिया गया है, उनमें से ६ प्रेस में जा चुकी हैं और शेष पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चल रहा है।

प्रकाशकों के सहयोग से अनुवाद तथा प्रकाशन की योजना

इस योजना के अन्तर्गत विभिन्न प्रकाशकों द्वारा ५०० पुस्तकें प्रस्तावित की गई थीं, जिनमें से १२० पुस्तकों को प्रकाशकों के सहयोग से अनुवादित और प्रकाशित करने के लिए अनुमोदन किया जा चुका है। प्रत्येक पुस्तक के निर्माण में कितना खर्च आएगा और उनकी क्या कीमत होनी

चाहिए, इन सब बातों पर विस्तार से विचार किया गया और उनकी वास्तविक लागत की ढाई गुना क़ीमत रखने का निश्चय किया गया और साथ ही प्रत्येक पुस्तक के ३००० के संस्करण में से सरकार १००० प्रतियाँ खुद २५ प्रतिशत डिसकाउण्ट पर खरीद लेगी ।

वैज्ञानिक शब्दावली

प्रारम्भ में शिक्षा मन्त्रालय ने वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली-निर्माण के लिए जो बोर्ड स्थापित किया था उसके स्थान पर अब वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का स्थायी आयोग स्थापित कर दिया गया है। इस आयोग की देख-रेख में शब्दावली के निर्माण, और साथ ही पुनरीक्षण एवं समन्वय का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है।

३१ दिसम्बर, १९६० तक विभिन्न तकनीकी और मानव-विज्ञान-सम्बन्धी विषयों की जो भी शब्दावलियाँ निर्मित हो गई थीं उन्हें एक जिल्द में 'पारिभाषिक शब्द संग्रह' शीर्षक से प्रकाशित कर दिया गया है। इसकी कीमत १२ रुपये रखी गई है। इसकी प्रतियाँ प्रबन्धक, प्रकाशन शाखा, सिविल लाइन्स, दिल्ली-८ से प्राप्त की जा सकती हैं। एक हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द-संग्रह भी तैयार किया जा रहा है और उसे प्रकाशित करने के पूर्व उसके पुनरीक्षण का कार्य इस समय चल रहा है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का आयोग अभी तक ३ सेमीनार आयोजित कर चुका है। इनमें से पहले सेमीनार में भौतिकी, रसायन-शास्त्र तथा गणित-सम्बन्धी शब्दावली का पुनरीक्षण किया गया और उन्हें अन्तिम रूप दिया गया। दूसरे सेमीनार में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से विचार-विनिमय किया गया तथा तीसरे सेमीनार में वनस्पति-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, जैविकी तथा भूगोल-सम्बन्धी शब्दावली का पुनरीक्षण किया गया तथा उन्हें अन्तिम रूप दिया गया। इन वैज्ञानिक विषयों के जो शब्द अन्तिम रूप से इस आयोग के तत्त्वावधान में स्वीकृत किये गए उनकी कुल संख्या ३०,००० है।

पदनाम-सम्बन्धी शब्दावली

पुनरीक्षण तथा समन्वय समिति ने विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों के सहयोग से अब तक पदनाम-सम्बन्धी कुल ७७२ शब्दों को अन्तिम रूप दिया गया है।

अभी तक निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित तकनीकी शब्दावली की सूचियाँ भी प्रकाशित की जा चुकी हैं :

रसायनिक-विज्ञान, दर्शनशास्त्र, सामान्य प्रशासन, धातुविज्ञान, भौतिकी, राजनय, इंजीनियरी तथा राजनीतिशास्त्र।

कोश तथा विश्वकोश

भौतिकी, रसायन-शास्त्र, गणित, वनस्पति-शास्त्र तथा कृषिविज्ञान के वैज्ञानिक कोश तैयार किये जा चुके हैं, जिनमें पूर्व-स्नातक स्तर की शब्दावली संकलित की गई है। अब इन्हें प्रकाशित करने के पूर्व दोहराया जा रहा है। एक और हिन्दी-अंग्रेज़ी कोश रोज़मर्रा के व्यवहार में आनेवाली शब्दावली का भी तैयार किया जा चुका है, और अब उसके प्रकाशन की व्यवस्था हो रही है।

हिन्दी के विकास से सम्बन्धित योजनाएँ

१. हिन्दी आशुलिपि : विशेष रूप से हिन्दी तथा सामान्य रूप से अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की प्रकृति को देखते हुए एक वैज्ञानिक आशुलेखन प्रणाली की रचना के उद्देश्य से समस्त भारतीय भाषाओं के ध्वनिशास्त्रीय विश्लेषण की योजना हाथ में ली गई है। विश्लेषण का यह कार्य विभिन्न विश्वविद्यालयों को सौंपा गया है। हिन्दी, मराठी तथा गुजराती में यह कार्य पूरा हो चुका है।

२. हिन्दी टाइपराइटर : हिन्दी टाइपराइटर के लिए एक मानक कुंजीपटल को अन्तिम रूप दिया जा चुका है और अब उसके अनुसार हिन्दी टाइपराइटर के निर्माण का कार्य प्रगति पर है।

३. हिन्दी परीक्षाओं को मान्यता : विभिन्न स्वैच्छिक हिन्दी संस्थाओं द्वारा जो हिन्दी की परीक्षाएँ संचालित की जाती हैं उन्हें मान्यता १९५९-६० में दी गई। १९६२-६३ में विभिन्न स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा संचालित कुछ और परीक्षाओं को भी मान्यता प्रदान की गई।

४. तकनीकी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन : भारतीय भाषाओं में व्यवहृत तकनीकी शब्दावली के तुल-

नात्मक अध्ययन का कार्य दैनिक समाचारपत्रों तथा आकाशवाणी से प्रसारित होनेवाली समाचार-बुलेटिनों के आधार पर तैयार किया जा चुका है।

५. अन्य विकास-योजनाएँ : उपर्युक्त योजनाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य योजनाएँ भी हाथ में ली गई हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों एवं लेखकों की कृतियों की कुछ शब्दानुक्रमणिकाएँ तथा कुछ हिन्दी लेखों के सर्व-संग्रह संस्करण (आम्नीबस वॉल्यूम) भी तैयार हो चुके हैं।

प्रसार-सम्बन्धी योजनाएँ

१. द्विभाषी प्राइमर तथा रीडर : इस योजना के अन्तर्गत तेलुगु, तमिल, मलयालम और कन्नड़ भाषाओं को स्वयं सीखने के लिए सेल्फ-टाट सीरीज़-जैसी पुस्तकें तैयार कराई जा रही हैं।

२. हिन्दी सीखनेवालों के लिए प्राइमर और रीडर : इस योजना के अन्तर्गत अहिन्दी-भाषी भारतीयों तथा विदेशियों के हिन्दी सीखने के लिए वैज्ञानिक ढंग के प्राइमर और रीडर तैयार कराने का कार्य प्रारम्भ किया गया है।

३. द्विभाषी वर्णमाला चार्ट : समस्त क्षेत्रीय भाषाओं में वर्णमाला चार्ट एक निजी फर्म द्वारा हिन्दी निदेशालय के तत्त्वावधान में तैयार कराये गए हैं, जिनका उद्देश्य विभिन्न भारतीय भाषा-भाषियों को अपनी लिपि की सहायता से हिन्दी वर्णमाला का ज्ञान कराना है।

४. अन्य प्रसार-सम्बन्धी योजनाएँ : उपर्युक्त प्रसार योजनाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रसार-योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं, जैसे हिन्दी अध्यापकों के सेमीनार, बाद-विवाद की टीमें, व्याख्यान, दौरे तथा वैज्ञानिक और तकनीकी पुस्तकों की प्रदर्शनियाँ।

ग्रन्थ

१. अंग्रेज़ी में बुनियादी हिन्दी व्याकरण प्रकाशित किया जा चुका है, जिसका हिन्दी संस्करण तैयार हो रहा है।

२. भाषा : निदेशालय द्वारा भारतीय भाषाविज्ञान से सम्बन्धित 'भाषा' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया है, जिसमें भारतीय भाषाओं तथा उनके तकनीकी साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर विचार-विनिमय होता है। इस पत्रिका के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच विचारों का आदान-प्रदान तथा सद्भावना बढ़ाने का महत् कार्य सम्पन्न हो रहा है। इस पत्रिका के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच आदान-प्रदान तथा सद्‌भावना का कार्य हो रहा है। अभी तक इस पत्रिका के ६ अंक प्रकाशित हो चुके हैं।

३. मैनुअल : विभिन्न वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित दीपिकाएँ (मैनुअल) भी निदेशालय के तत्त्वावधान में तैयार हो रही हैं, जिनमें निदेशालय द्वारा निर्मित शब्दावली का व्यवहार किया जा रहा है। इसमें से रसायनविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, औषधिविज्ञान, शिक्षाशास्त्र तथा मनोविज्ञान की दीपिकाएँ तैयार हो चुकी हैं।

४. द्विभाषी शब्द-संग्रह : अभी तक विभिन्न भारतीय भाषाओं के १२ द्विभाषी शब्द-संग्रह निदेशालय द्वारा प्रकाशित किये जा चुके हैं।

रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी में वैज्ञानिक कार्य
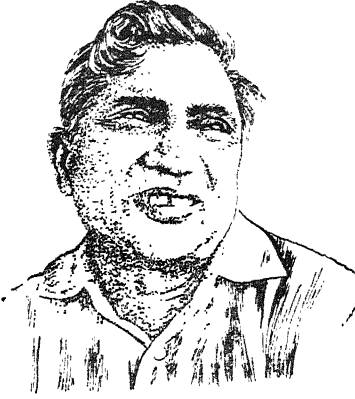
रामचन्द्र तिवारी का जन्म सन् १९१० में इलाहाबाद जिले के समदरिया-दुबे का पुरवा नामक ग्राम में हुआ था। आपने शिक्षा सहारनपुर, वृन्दावन में पाई; दिल्ली विश्वविद्यालय से रसायनशास्त्र में बी० एस-सी० किया। श्री तिवारीजी ने साहित्यिक जीवन आलोचक के रूप में प्रारम्भ किया। बाद में कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। उपन्यास के क्षेत्र में श्री तिवारीजी की 'सागर, सरिता और अकाल', 'नवजीवन', 'कमला' तथा 'सोना और नर्स' नामक कृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं। आजकल श्री तिवारी वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् में 'विज्ञान प्रगति' के सम्पादन-कार्य से सम्बद्ध हैं। भावात्मक साहित्य में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक विषयों में सरसता लाना आपकी अपनी विशेषता है।

विज्ञान किसी विषय में सम्बन्धित ज्ञान की ऐसी सुयोजित व्यवस्था है जिसमें एक ओर उस विषय से उद्भूत विभिन्न बातों की सूक्ष्मतम व्याख्या खोजने का सतत प्रयत्न होता है; और दूसरी ओर उसके आधार पर तत्सम्बन्धी घटनाओं की सही भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं। ज्ञान का कोई खण्ड जिसमें ये दोनों लक्षण नहीं होते अत्यन्त उपयोगी और लाभकारी हो सकता है, पर इससे वह विज्ञान नहीं बन जाता। ज्ञान जब गत्यात्मकता से अनुप्राणित होता है तो विज्ञान की सृष्टि होती है। विज्ञान दर्शनशास्त्र के उस पहलू का नाम है जिसमें अनुभव के आधार पर भौतिक तत्त्वों के विविध रूपों और उनमें होनेवाले परिवर्तनों का अध्ययन और विवेचन किया जाता है।

आगमन

भारत के स्कूल-कॉलेजों में विज्ञान का अध्यापन अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रथम दशक में आरम्भ हुआ। यह विज्ञान न भारतीय दार्शनिक चिन्तन से उत्पन्न हुआ था और न यह भारतीय अनुभवों का पंजीकरण था। यह यूरोप से आया था। मुख्य उद्देश्य यह था कि इसके सम्पर्क से भारतीय मस्तिष्क को विस्तार मिले। ज्ञान की इस शाखा के, जिसके पीछे यूरोप में हजारों विद्वान् पागल थे, अध्ययन से भारतीय विद्यार्थी के व्यक्तित्व में ग्रंथित अन्धविश्वासों का निराकरण करने और वास्तविकता के प्रति उसकी आस्था जगाने में सहायता मिले; और भारत में जो मशीनें तथा यन्त्र आने लगे थे, उनको चलाना तथा चालू रखना सम्भव हो सके। निस्सन्देह इस सम्पर्क ने भारतीय मस्तिस्क को स्फूर्त किया और देश ने उन कुछ महान वैज्ञानिकों को उत्पन्न किया जिन्होंने भारत को संसार के वैज्ञानिक मानचित्र पर स्थान दिलाया, और जिनके नाम आज हम गौरव के साथ लेते हैं।

यहाँ शब्दों के सम्बन्ध में एक भ्रम उत्पन्न हुआ, जो कहीं कम कहीं अधिक, अब भी चला जा रहा है। अकसर लोग विज्ञान की व्यावहारिक उपज, यन्त्रशास्त्र को ही विज्ञान समझने लगे और उसे ही विज्ञान के नाम से पुकारने लगे। इसके कारण 'विज्ञान' का वास्तविक अर्थ धुँधला

पड़ गया। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आजकल 'शुद्ध विज्ञान', 'सैद्धान्तिक विज्ञान' और 'बुनियादी विज्ञान' नामों का उपयोग किया जाता है।

वैज्ञानिक शब्दावली

विज्ञान की, विशेषतया उसके व्यावहारिक पक्ष की, उपयोगिता समझने में भारतीयों को देर न लगी। यह अनुभव किया गया कि देश की उन्नति के लिए ज्ञान की इस उपयोगी शाखा का अधिकाधिक प्रसार किया जाना चाहिए। पर इसके साथ ही लोग इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि देश में विज्ञान की जड़ें उसी समय गहरी पैठ सकती हैं जब लोगों को वैज्ञानिक ज्ञान उनकी अपनी मातृभाषा द्वारा सुलभ हो। इसके साथ ही भारतीय भाषाओं के साहित्य-सृष्टाओं की अभिलाषा भी आ मिली। वे चाहते थे कि अंग्रेजी की भाँति भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी वैज्ञानिक अंग की नींव पड़े और वह समृद्धिशाली हो। देशभक्ति की भावना से इस विचार, आकांक्षा और कार्य को बल मिलता गया।

पिछली शती के अन्तिम दशक में लगभग समस्त देश में इस कार्य के आरम्भ का वातावरण बन गया, और कुछ आगे-पीछे प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में इस ओर प्रयत्न आरम्भ हो गए। क्योंकि देश के भीतर विज्ञान का स्रोत नहीं था और सब वैज्ञानिक साहित्य बाहर से अनूदित होना था, इसलिए सबसे पहला काम यह समझा गया कि अंग्रेज़ी के वैज्ञानिक शब्दों के लिए भारतीय भाषा में पर्याय शब्द निश्चित किये जाएँ, और वैज्ञानिक शब्दावली के कोश तैयार किये जाएँ। यह कार्य प्रायः विज्ञान के अध्यापकों और भाषाशास्त्रियों के सहयोग से विभिन्न संस्थाओं और कुछ व्यक्तियों द्वारा किया गया। पहले किये गए प्रयत्नों का या तो काफी प्रचार नहीं होता था, अथवा वे सीमित होते थे, अथवा उनसे दूसरों का मतभेद होता था। जिसके कारण नये-नये प्रयत्न किए जाते रहे और अधिक स्वीकार्य पर्यायों की संख्या में वृद्धि होती गई। हिन्दी भाषा में वैज्ञानिक शब्दावली बनाने के प्रयत्नों में अकसर उत्तर भारत के अन्य भाषा-भाषियों का भी सहयोग लिया गया।

यद्यपि बड़ौदा के प्रो० त्रिभुवन कल्याणदास गज्जर ने हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण के क्षेत्र में सबसे पहले कदम उठाया था, पर औपचारिक रूप से पहला सुसंगठित प्रयत्न श्रीश्यामसुन्दरदास के सम्पादकत्व में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने १८९८ में आरम्भ किया। यह कोश १९०६ में प्रकाशित हुआ। इसमें भूगोल, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, गणित और भौतिकी के लगभग पाँच हज़ार शब्द सम्मिलित थे। इसका दूसरा संस्करण १९३० में किया गया। १९०० में स्थापित गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार ने हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया। उसने अपने लिए हिन्दी वैज्ञानिक शब्दावली निश्चित की और अपनी पाठ्य-पुस्तकों में उसका उपयोग किया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विज्ञान के अध्यापकों और छात्रों ने इस शती के प्रथम चरण में विज्ञान-परिषद की स्थापना की और उसके तत्त्वावधान में वैज्ञानिक शब्दावली तैयार की तथा अपने प्रकाशनों में उसका उपयोग किया। इस परिषद के प्रकाशनों का प्रभाव हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के लेखन पर बहुत गम्भीरता से पड़ा। अजमेर के श्री सुखसम्पत्तिराय भण्डारी ने अपनी विशाल इंगलिश-हिन्दी डिक्शनरी पर कार्य आरम्भ किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद और बिहार की हिन्दुस्तानी कमेटी ने भी इस प्रकार का काम अपने हाथ में लिया। विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के एक संगठन, भारतीय हिन्दी परिषद ने भी इस कार्य में रुचि दिखाई।

गांधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में हिन्दी को भारत का प्रतीक बनाया था। यह काम गैर-सरकारी था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक हिन्दी में जो कार्य किया गया वह स्वेच्छा से भाषा-प्रेम और देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर किया गया। पर जब संविधान सभा ने हिन्दी को भारतीय संघ की भावी भाषा का पद प्रदान किया तो स्थिति में एक बड़ा परिवर्तन आ गया। हिन्दी पर एक उत्तरदायित्व आ पड़ा। नये लोग इस कार्य की ओर आकर्षित हुए, और हिन्दी की वैज्ञानिक शब्दावली के क्षेत्र में काम करनेवाली संस्थाओं में बड़े ज़ोर-शोर से काम आरम्भ हो गया।

इस समय की महत्त्वपूर्ण घटना इस क्षेत्र में डॉ० रघुवीर का आगमन है। उनके निदेशन में हज़ारों वैज्ञानिक

शब्दों के बहुत सुन्दर पर्यायवाची संस्कृत में बनाये गए। उनके इन शब्दों की योजना इतनी पूर्ण है कि उसकी सहायता से प्राय: सभी प्रकार का वैज्ञानिक साहित्य हिन्दी में अनूदित किया जा सकता है। पर इस शब्दावली में पिछले ३०-४० वर्षों से हिन्दी में प्रचलित अनेक शब्दों को भी स्वीकार नहीं किया गया है, और सम्पूर्ण शब्दावली वर्तमान हिन्दी तथा विज्ञान के वर्तमान प्रशिक्षण और उपयोग के सन्दर्भ में इतनी दुरूह है कि पिछले वर्षों में उसके विरुद्ध एक छोटा-सा आन्दोलन खड़ा हो गया था। डॉ० रघुबीर मानो विज्ञान का पूर्ण भारतीयकरण करना चाहते थे। यह प्रवृत्ति कुछ स्थानों पर, यद्यपि बहुत कम मात्रा में, अब भी दिखाई दे जाती है। पर वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता और सहयोग के युग में, जब भारत विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी की छोटी-छोटी जानकारियों तथा अगणित यन्त्रों और प्रविधियों के लिए विदेशों का मुखापेक्षी है, इस प्रवृत्ति के लिए विशेष अवकाश हो भी नहीं सकता है।

अनुसन्धान व्यवसाय

इस बीच में एक घटना और हुई। विज्ञान की शिक्षण संस्थाओं से पृथक् देश में विज्ञान और औद्योगिकी के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान करने के लिए अनेक बड़ी-बड़ी विज्ञान-शालाएँ बनाई गईं। वैज्ञानिक अनुसन्धान जो पिछले दिनों तक प्राय: विश्वविद्यालय की उपाधियाँ प्राप्त करने के लिए किया जाता था, अब एक व्यवसाय बन गया है और देश में विज्ञान के अध्यापकों से अलग वैज्ञानिकों के एक वर्ग का उदय हो गया है, जिसका उद्देश्य विज्ञान की नवीनतम प्रगतियों को उपयोगी बनाना और उपयोग के लिए नवीन ज्ञान की खोज करना है। इससे देश के वैज्ञानिक विदेशों के सम्पर्क में और भी घनिष्टता के साथ आये हैं और वस्तु-स्थिति अधिक स्पष्ट हुई है। परिस्थिति की वास्तविकता से यह सुझाव निकला है कि हिन्दी की वैज्ञानिक शब्दावली ऐसी रखी जाए कि उससे वैज्ञानिकों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में किसी प्रकार की बाधा न पड़े और इस क्षेत्र में पारस्परिक लेन-देन सुचारु रूप से होता रहे।

पारिभाषिक शब्दकोश

सरकार ने इस परिस्थिति की जटिलता का अनुभव किया। उसने शब्दावली के निर्माण का कार्य अपने हाथ में ले लिया और शब्द के विकास के लिए नीति निर्धारित कर दी। इस नीति की एक मुख्य बात यह है कि शब्दावली में अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों और संकेतों का हिन्दी में रूपान्तरण नहीं किया जाना चाहिए, वरन् उन्हें वैसा ही अपना लेना चाहिए। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय शब्द से उन वैज्ञानिक शब्दों और संकेतों का तात्पर्य है जो संसार-भर के वैज्ञानिकों के संगठन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय घोषित कर दिये जाते हैं। इस नीति के अनुसार तत्त्वों, यौगिकों, भौतिक इकाइयों और स्थिरांकों तथा गणितीय क्रियाओं का हिन्दी अनुवाद नहीं किया जाता। यह कार्य अब केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के हिन्दी निदेशालय द्वारा वैज्ञानिक शब्दावली आयोग के अध्यक्ष डॉ० डी० एस० कोठारी के, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भी अध्यक्ष हैं, नेतृत्व में किया जा रहा है। पिछले वर्ष इस निदेशालय ने वैज्ञानिक और गैर-वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित १३७० पृष्ठों का एक कोश प्रकाशित किया है। इससे अब विज्ञान-लेखन की हिन्दी को एक स्थिर स्वरूप प्राप्त हो सकेगा।

लेखन

आजकल संसार में लाखों मनुष्य वैज्ञानिक कार्यों में लगे हुए हैं। विज्ञान-व्यवसाय के लोग स्कूलों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों और टैकनिकल संस्थाओं मे अध्यापन का काम करते हैं, विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुसन्धान करते हैं, विभिन्न उद्योगों में उत्पादन प्रक्रमों की देखभाल करते हैं और उनमें आनेवाली अड़चनों को दूर करते हैं। स्पष्ट ही इन लोगों के उपयोग के लिए विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक साहित्य की आवश्यकता होती है। यह साहित्य सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों के रूप में हो सकता है, सन्दर्भ पुस्तकों के रूप में हो सकता है अथवा वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं के रूप में हो सकता है। इस साहित्य के पाठक विज्ञान की शाखा-विशेष में रुचि रखनेवाले विद्यार्थी या विशेषज्ञ होते हैं।

इस विशिष्ट वैज्ञानिक-लेखन के साथ-साथ वैज्ञानिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग जन-वैज्ञानिक-लेखन है। यह

विभिन्न स्तरों पर लिखा जाता है। जिसके पाठक नन्हें बालकों से लेकर ऊँचे दर्जे के विज्ञानवेत्ता तक हो सकते हैं। जबकि विशिष्ट वैज्ञानिक लेखन पाठकों को वैज्ञानिक सूचना देकर ज्ञान के प्रसार और वृद्धि में सहायता देता है, जन-वैज्ञानिक-लेखन वैज्ञानिक उपलब्धियों को संस्कृति में उतारता है, विज्ञान के उपयोग से समाज में प्रस्फुटित होनेवाले नवीन मूल्यों पर विचार करता है और विज्ञान का मानवीकरण करके उसके शुष्क तर्कमय स्वरूप को सरस बनाता और हृदय के निकट लाता है।

पुस्तकें

विज्ञान का जो भाग बिलकुल निश्चित और स्थायी समझा जाता है उसको पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जाता है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में प्रारम्भिक और मिडिल स्कूलों की सामान्य विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकें दशकों से हिन्दी में लिखी जा रही हैं। हायर सेकण्डरी स्तर पर भी अब काफी पाठ्य-पुस्तकें, मुख्यतया अनूदित, मिलती हैं, यद्यपि उनकी संख्या इतनी नहीं कि उनमें से विषय के विवेचन की दृष्टि से कोई चुनाव किया जा सके। कालिज स्तर पर अभी काफी पुस्तकें प्राप्य नहीं हैं। उच्च स्तर की पुस्तकों का नितान्त अभाव है। कुछ प्रौद्योगिक विषयों पर कतिपय पुस्तकें लिखी गई हैं। रसायनशास्त्र, भौतिकी, वनस्पतिशास्त्र और जन्तुशास्त्र की जो सन्दर्भ-पुस्तकें अंग्रेज़ी में हैं और इन विज्ञानों के व्यवसायी पग-पग पर जिनका उपयोग करते हैं उनका किसी प्रकार का रूपान्तर हिन्दी में नहीं हुआ है।

हिन्दी जन-वैज्ञानिक पुस्तकें नीचे स्तर पर काफी प्रकाशित हो रही हैं। ये प्राय: सभी अंग्रेज़ी की प्रकट अथवा छद्म अनुवाद हैं। इनका सम्बन्ध विज्ञान के रोचक तथ्यों से अधिक और विज्ञान के विवेचन से कम है। यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह है कि वे वैज्ञानिक जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी है इस ओर विशेष प्रयत्नशील नहीं जान पड़ते। इसलिए इस क्षेत्र में ऐसे काफी लोग काम कर रहे हैं जिनका मुख्य क्षेत्र साहित्य है और जिन्हें विज्ञान का, जितना होना चाहिए उतना ज्ञान नहीं है। इसका प्रभाव इस साहित्य के अनुवाद पर भी पड़ा है। क्योंकि मूल में वाक्यों की रचना और भावों का गुम्फन लेखक की परि-स्थितियों के अनुसार होता है इसलिए ये अनुवाद हिन्दी-भाषी के लिए सच्चे अर्थ में जन-वैज्ञानिक साहित्य नहीं बन पाते।

इनके अतिरिक्त हिन्दी में मिस्त्रियों और उद्योग-धन्धों में लगे हुए लोगों के लिए पिछले दशकों में निरन्तर साहित्य प्रकाशित होता रहा है। यह साहित्य नितान्त व्यावहारिक होता है। इसकी भाषा सरलतम रखी जाती है। इसमें टेकनिकल शब्द वही रखे जाते हैं जो विशेषज्ञों द्वारा बोले जाते हैं अथवा अंग्रेज़ी की पुस्तकों में दिये हुए होते हैं। इस प्रकार के साहित्य की जितनी माँग होती है उतनी पूरी हो जाती है।

पत्र-पत्रिकाएँ

विज्ञान के साहित्य में पत्र-पत्रिकाओं का स्थान पुस्तकों की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जो नवीन अनुसन्धान होते हैं उनके नतीजे जिन लेखों में दिए जाते हैं वे संसार की वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होते हैं। इन पत्रिकाओं की संख्या आज ५० हजार से ऊपर है। क्योंकि किसी विषय में कार्य करनेवाले किसी व्यक्ति के लिए इन सबको देखना सम्भव नहीं है इसलिए प्रत्येक विषय पर प्रकाशित लेखों के सारों का संग्रह एब्स्ट्रैक्ट या सक्षिप्तियों के नाम से प्रकाशित किया जाता है। एक वर्ष में प्रकाशित होनेवाले लेखों की संख्या २० लाख से ऊपर पहुँच गई है। भारत में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की जो पत्रिकाएँ अंग्रेज़ी में प्रकाशित होती हैं उनकी संख्या लगभग ४०० है। इस क्षेत्र में हिन्दी में अभी केवल दो पत्रिकाएँ हैं जिनमें प्रकाशित मौलिक अनुसन्धान लेखों की संक्षिप्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय एब्स्ट्रैक्स में सम्मिलित की जाती हैं। ये हैं विज्ञान परिषद, इलाहाबाद की त्रैमासिक 'विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका' और वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की मासिक 'विज्ञान प्रगति।' इनके अतिरिक्त जन-वैज्ञानिक-पत्रिका के रूप में इलाहाबाद के 'विज्ञान' का और औद्योगिक पत्रिका के रूप में नागपुर के 'उद्यम' और इंस्टीट्यूशन आफ़ इंजीनियर्स (इण्डिया) के हिन्दी जरनल के नाम लिये जा सकते हैं। कुछ सरकारी विभाग भी अपनी तकनीकी

सूचनाएँ लोगों तक पहुँचाने के लिए हिन्दी पत्रिकाएँ निकालते हैं। ऐसी पत्रिकाओं में खाद्य-विज्ञान, खेती, किसानी समाचार, बागवान, भारतीय तेलहन पत्रिका आदि का उल्लेख किया जा सकता है। संसार के वैज्ञानिक क्षेत्र में हिन्दी की स्थिति देखते हुए हमें स्व० हरिऔध के शब्द याद आते हैं : 'है पड़ा मैदान कोसों का यहाँ, दो डग अभी हमने धरे तो क्या किया !'

पर ये दो डग बहुत दृढ़ता के साथ धरे गए हैं। और मैदान में आगे बढ़ने की हमारी इच्छा अदम्य है। विश्वास है कि निकट भविष्य में हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य इस प्रकार विकसित होगा कि वह एक ओर देश की आवश्यकता की पूर्ति करेगा और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों की अनिवार्यताओं के साथ अपने स्वरूप को समंजित कर सकेगा।

पी० के० केशवन नायर

केरल के हिन्दी-प्रचार की प्रगति की एक झाँकी

आचार्य श्री पी० के० केशवन नायर दक्षिण के बड़े पुराने और अनुभवी हिन्दी प्रचारक हैं। सन् १९२४ में ये हिन्दी प्रचार आन्दोलन में आये और तब से ३९ वर्ष हो गए हिन्दी प्रचार कार्य कर रहे हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के ये सबसे पुराने कार्यकर्ताओं में हैं। मूल निवासी केरल के और मातृभाषा मलयालम है। हिन्दी के प्राध्यापक ही नहीं बहुत अच्छे लेखक भी हैं। केरल राज्य में हिन्दी के विशेषाधिकारी, और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की केरल शाखा के अध्यक्ष रह चुके हैं। इन दिनों केरल विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं और 'दक्षिण के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का समीक्षात्मक इतिहास' लिख रहे हैं। 'हिन्दी मलयालम कोश', 'हिन्दी मलयालम स्वबोधिनी' आदि कई पुस्तकें भी लिख चुके हैं।

तीर्थस्थानों में हिन्दी

इतिहास से पता चलता है कि केरल के तीर्थस्थानों में वर्षों पूर्व ही से हिन्दी-हिन्दुस्तानी का व्यवहार होता रहा है। उत्तरभारतीय तीर्थाटक अथवा साधु-संन्यासी केरल के तीर्थस्थानों के पुरोहितों तथा वहाँ की धर्मशालाओं के संचालकों से हिन्दी-हिन्दुस्तानी में ही परस्पर विचार-विनिमय करते थे। आज भी उन तीर्थस्थानों में पुरानी पुरोहित-परम्परा के लोग उत्तर भारतीयों से बातें करने के लिए हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान रखते हैं।

उस ज़माने में यहाँ के लोग हिन्दी-हिन्दुस्तानी को 'गुसाईं-भाषा' या 'तुर्कभाषा' कहते थे। हिन्दी के विरोधी लोग आज भी हिन्दी को 'गुसाईं-भाषा' कहकर उसकी हँसी उड़ाया करते हैं। पहले यहाँ कोच्चिन और ट्रावनकोर रियासतों की ओर से उत्तर भारतीय तीर्थयात्रियों के ठहरने के लिए सरायें अथवा धर्मशालाएँ स्थापित थीं, जिनमें से एक-आध आज भी सुरक्षित है। उत्तर भारतीय तीर्थयात्री उन दिनों 'गुसाईं' कहलाते थे और उन धर्मशालाओं को लोग 'गुसाईं मठ' कहते थे।

गुसाईं मठों में ठहरनेवाले गुसाइयों को रियासती सरकार की ओर से खाने-पीने की चीज़ें मुफ्त में दी जाती थीं। उनकी सुख-सुविधा की देख-रेख के लिए हिन्दी जाननेवाले द्विभाषी भी नियुक्त होते थे। द्विभाषियों के लिए हिन्दी में बातचीत करने की पर्याप्त योग्यता रखना अनिवार्य समझा जाता था।

द्विभाषी बनने के लिए लोग स्वयं हिन्दी का अध्ययन करते थे। उत्तर भारतीय तीर्थयात्रियों के सम्पर्क में रहकर भी वे बोलचाल की हिन्दी आसानी से सीख लेते थे। मलयालम-लिपि में लिखी हुई 'हिन्दी-स्वबोधिनी', 'हिन्दी-उस्ताद', 'हिन्दुस्तानी-टीचर' आदि पुस्तकें भी उनमें प्रचलित थीं। दक्षिण के तीर्थयात्री भी, जो काशी, मथुरा, हरिद्वार, हृषीकेश आदि तीर्थस्थानों में जाने के इच्छुक रहते थे, ऐसी हिन्दी स्वबोधिनियों के सहारे हिन्दी का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेते थे।

राजघरानों में हिन्दी

तिरुवितांकूर (ट्रावनकोर) और कोच्चिन के राजघरानों में भी वर्षों पहले ही से हिन्दी-हिन्दुस्तानी का व्यवहार होता रहा है। उन दिनों, राजदरबारों में उत्तर-भारतीय विद्वान नियुक्त होते थे। उनसे दैनिक सम्पर्क

रखने के कारण राजघराने के लोगों के लिए हिन्दी का सामान्य-ज्ञान प्राप्त करना एक प्रकार से अनिवार्य-सा हो जाता था।

रियासती पलटन में हिन्दी

पहले केरल (ट्रावनकोर, कोच्चिन और मलबार) के अन्तर्गत छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य थे। वहाँ के शासकों की फ़ौज में मराठा, राजपूत और पठान-वंश के सिपाही नियुक्त होते थे। उनकी व्यावहारिक भाषा हिन्दुस्तानी थी। उनसे निकट सम्पर्क रखनेवाले व्यापारी, कारीगर, मज़दूर, नाई, धोबी आदि भी हिन्दुस्तानी का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना अपने लिए बहुत ज़रूरी समझते थे।

टीपू सुलतान और उर्दू

भारत में मुग़ल सल्तनत क़ायम हो जाने पर दक्षिणी राज्यों की फौज के उच्च कर्मचारी प्रायः हिन्दुस्तानी का ही व्यवहार करते थे। जब हैदरअली और टीपू ने केरल के प्रदेशों पर चढ़ाई की तो उनके ज़रिये उन प्रदेशों में भी थोड़ी-बहुत मात्रा में उर्दू का प्रचलन हुआ। उन दिनों लोग मुसलमानों को 'तुर्क' कहते थे और इसी लिए उनकी उर्दू भाषा 'तुर्कभाषा' कहलाती थी। उर्दू का प्रभाव दक्षिणी भाषाओं पर पड़े बिना नहीं रह सका। सैकड़ों अरबी और फ़ारसी के शब्द दक्षिणी भाषाओं में घुल-मिल गए। आज भी उनके तत्सम और तद्भव रूप दक्षिणी भाषाओं में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए तकरार, करार, बाकी, ज़मीदार, बाज़ार, सरकार, नकल, मामूल, हाज़र आदि सैकड़ों शब्द हम मलयालम से ले सकते हैं।

राजघराने में उर्दू-उस्ताद

टीपू के आक्रमण के बाद कोच्चिन के राजा और टीपू में एक सन्धि हुई थी। सन्धि की एक शर्त यह थी कि कोच्चिन के राजा अपने घराने के लोगों को उर्दू सिखाने के लिए उर्दू-उस्ताद नियुक्त करेंगे। इस वजह से राजा ने अपने परिवार के लोगों को उर्दू सिखाने के लिए उर्दू-उस्ताद रखना मंजूर किया। उर्दू-उस्ताद उन दिनों यहाँ उर्दू-मुंशी कहलाता था। सन् १९३० तक इस प्रकार कोच्चिन-राजघराने में 'उर्दू-मुंशी' समय-समय पर नियुक्त होते रहे हैं। राजपरिवार के लोग उनसे फ़ारसी लिपि में उर्दू का अध्ययन करते रहे। लेकिन जब १९३० के बाद कोच्चिन में भी दक्षिण के हिन्दी-प्रचार आन्दोलन की लहर उठी तो राजघराने में उर्दू-मुंशी नियुक्त करने की शर्त सदा के लिए समाप्त हो गई और उस पद पर 'हिन्दी पण्डित' नियुक्त किये जाने का क्रम जारी हो गया। आज भी यह क्रम चालू है।

बन्दरगाहों तथा व्यापारी केन्द्रों में हिन्दी

केरल के प्रमुख बन्दरगाहों (कालिकट, आलप्पी, कन्नौर कोच्चिन आदि) में तथा अन्य मुख्य-मुख्य व्यापारी केन्द्रों में वर्षों से मारवाड़ी, गुजराती और उत्तर भारतीय मुसलमान व्यापार के लिए आते-जाते रहे हैं। उनमें से कुछ लोग वहाँ बस भी गए। वे जब अपनी टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी में बातें करने लगे तो वहाँ के लोग भी हिन्दुस्तानी सीखने के लिए विवश हुए। आज भी उन केन्द्रों में ऐसे सैकड़ों लोग पाये जाते हैं जो उस पुरानी 'खिचड़ी हिन्दुस्तानी' से अपना काम चला लेते हैं।

स्वाति तिरुनाल महाराजा के हिन्दी-गीत

केरल के स्वाति तिरुनाल महाराजा (श्री रामवर्म राजा) अपनी संगीत-कला-कुशलता के लिए प्रसिद्ध हो गए हैं। आपने संस्कृत, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु और हिन्दी में सैकड़ों गीत रचे हैं। उनके हिन्दी गीत सूरदास और मीराँ के पदों की भाँति अत्यन्त मधुर एवं भक्तिपूर्ण हैं। दक्षिण की गायक-मण्डली में उनके गीतों का बड़ा मान है। हिन्दी में रचा हुआ उनका एक गीत उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत है :

भैरवी—आदि ताल

रामचन्द्र प्रभु, तुम बिन प्यारे, कौन खबर ले मेरी।
बाज रही, जिनके नगरी में, सदा धरम की भेरी।
जाके चरण कमल की रज से, तिरिया तलक फेरी।
औरनकूँ कछु और भरोसा, हमें भरोसा तेरी।
पद्मनाभ प्रभु फणि पर शायी, कृपा करो क्यों देरी॥

उपर्युक्त तथ्यों से यह बात सिद्ध होती है कि केरल के धार्मिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक क्षेत्रों में वर्षों पूर्व ही

हिन्दी-हिन्दुस्तानी का प्रचलन होता रहा है। प्रायः उन दिनों दक्षिण के सभी प्रदेशों में इस प्रकार न्यूनाधिक मात्रा में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का व्यवहार होता रहता था।

जन-जागरण और हिन्दी

राजनीतिक पुनरुत्थान के तत्त्वावधान में राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित होकर सन् १९२२ में ही केरलीय जनता ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी पढ़ना-लिखना आरम्भ किया। यद्यपि सन् १९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के तत्त्वावधान में महात्मा गांधी के आशीर्वाद के साथ, उनके सुपुत्र देवदास गांधीजी द्वारा मद्रास में हिन्दी प्रचार का श्रीगणेश किया गया तो भी करीब चार-पाँच वर्ष के उपरान्त ही केरल में हिन्दी का प्रचार-कार्य शुरू हो सका। हिन्दी-शिक्षकों का अभाव ही इसका प्रमुख कारण था।

प्रारम्भ काल

सन् १९२२ से १९२७ तक पाँच वर्ष का समय केरल के हिन्दी-प्रचार आन्दोलन का प्रारम्भिक काल माना जा सकता है। इस अल्पकाल में हिन्दी के प्रचार में सन्तोष-जनक प्रगति नहीं हुई। लेकिन इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन पाँच वर्षों में हिन्दी की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट हो सका। व्यापक क्षेत्र में हिन्दी के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने में तात्कालिक जनजागरण ही सहायक रहा।

जब सन् १९२७ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सम्बन्ध विच्छेद करके 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' स्वतन्त्र संस्था बन गई तब सभा के अधीन केरल में कुल छः प्रचारक ही काम कर रहे थे। सैंकड़ों केन्द्रों से हिन्दी-शिक्षकों की माँगें आ रही थीं। लेकिन हिन्दी प्रचार सभा जनता की माँग पूरी करने में असमर्थ रही। क्योंकि सभा के पास तो अल्प संख्या में ही प्रचारक थे। सभा उनको आदेश देती थी कि वे अपने-अपने केन्द्रों के अड़ोस-पड़ोस के गाँवों में भी जाकर भरसक हिन्दी का प्रचार करें। इस आदेश के पालन में काफ़ी कठिनाइयाँ थीं। आवागमन की असुविधा, मार्ग-व्यय की समस्या, समय का अभाव, ये सब उस मार्ग के रोड़े थे। फिर भी उत्साही हिन्दी-प्रचारक इन विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए निकटस्थ गाँवों में भी पैदल जाकर हिन्दी का प्रचार करने में तत्पर रहते थे।

जब केन्द्र में हिन्दी विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती और अकेले काम सँभालना प्रचारकों के लिए कठिन हो जाता तब वे अपने सुयोग्य विद्यार्थियों की सेवाएँ भी इस कार्य में लेते थे। प्राथमिक या मध्यमा तक की योग्यता रखनेवाले विद्यार्थी जब हिन्दी प्रचारक बनकर काम करने लगे तो उनके द्वारा विद्यार्थियों की संख्या तो बढ़ती गई। किन्तु नतीजा यह हुआ कि पढ़नेवालों की हिन्दी की योग्यता का स्तर घटता गया। इससे सभा के कार्य को बड़ी क्षति पहुँची।

नवोत्थान

सन् १९२७ से १९३२ तक का समय केरल के हिन्दी प्रचार आन्दोलन का नवोत्थान काल माना जा सकता है। इन पाँच वर्षों में हिन्दी-प्रचार की गति-विधि में काफ़ी परिवर्तन हुआ। सुयोग्य प्रचारकों की संख्या बढ़ी। सैंकड़ों नये केन्द्र खुले। लोगों का उत्साह भी बढ़ा। स्कूल-कालेजों में हिन्दी को प्रविष्ट कराने की दिशा में भी संस्था तथा देश के गण्यमान्य नेताओं की ओर से प्रयत्न शुरू हुए। राष्ट्रीय आन्दोलन में ज्यों-ज्यों तीव्रता और व्यापकता आती गई, हिन्दी-प्रचार-जैसे रचनात्मक कार्यों की ओर भी जनता अधिकाधिक आकृष्ट होती गई।

केरल प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के तत्त्वावधान में कोच्चिन तथा ट्रावनकोर में सन् १९३२ तक हिन्दी प्रचार सभा की शाखा-समितियाँ कायम हो चुकी थीं। श्री ए० चन्द्रहासन तथा श्री देवदूत विद्यार्थी उन समितियों का सफल संचालन कर रहे थे। सन् १९३४ में उक्त दोनों समितियों का समन्वय करके 'केरल प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा' स्थापित की गई। श्री देवदूतजी इसके प्रथम मन्त्री नियुक्त हुए। सन् १९३५ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विधान के अनुसार प्रान्तीय सभा का विधान बना और तदनुसार प्रान्त का कार्य-संचालन होने लगा।

नेताओं का भ्रमण

दक्षिण के हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन को मज़बूत बनाने के लिए समय-समय पर देश के महान् नेता दक्षिण के विभिन्न केन्द्रों में भ्रमण करते रहे हैं। उन भ्रमणों के सिलसिले में सैकड़ों सार्वजनिक सम्मेलन हुए। नेताओं के भाषणों का अच्छा प्रभाव जनता पर पड़ा। इस कारण हिन्दी-प्रचार के कार्य में पूर्वाधिक स्फूर्ति और शक्ति आ गई। भ्रमणों के समय सभा के लिए धन-संग्रह का कार्य भी हुआ। भ्रमणों के सिलसिले में किये गए भाषणों से प्रादेशिक भाषावाद की भ्रामक धारणाएँ भी कुछ हद तक दूर हो गईं। इस प्रकार हिन्दी-प्रचार की प्रगति में महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय, श्री राजगोपालाचारी, पं० जवाहरलाल नेहरू, आचार्य काका कालेलकर, आचार्य कृपलानी, श्री जमनालाल बजाज, स्वामी सत्यदेव आदि महान् नेताओं का भ्रमण अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ।

प्रारम्भ के प्रचारक

केरल के सर्वप्रथम हिन्दी-प्रचारकों में सर्वश्री दामोदरन उण्णि, के० केशवन नायर, शंकरानन्द, पी० के० नारायणन नायर, पी० के० केशवन नायर (लेखक), के० वी० नायर, चन्द्रहासन, वेलायुधन, वासुदेवन पिल्लै, गोपालकृष्णन, जी० एन० नायर, पी० जी० वासुदेव, एब्रहाम, वेंकिटेश्वरन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लोग आज भी हिन्दी की सेवा में लगे रहते हैं। सन् १९३५ तक दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा द्वारा संचालित हिन्दी प्रचारक विद्यालयों में अध्ययन करके कई एक प्रचारक केरल के विभिन्न केन्द्रों में काम पर लगे। दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के इतिहास में सन् १९३५ के बाद का समय अत्यन्त प्रगतिशील माना जाता है। हिन्दी-प्रचार आन्दोलन के सर्वतोमुखी विकास में उस समय की जन-जागृति भी बहुत ही सहायक रही।

कोच्चिन के हाईस्कूलों में हिन्दी

सन् १९२८ में कोच्चिन के हाइस्कूलों में हिन्दी ऐच्छिक विषय के रूप में स्थान पा सकी। स्व० डा० मथाई (तत्कालीन डायरेक्टर, शिक्षा विभाग, कोच्चिन) तथा स्व० श्री इग्नेशियस (प्रचार मन्त्री, हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास) की सेवाएँ इस विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही हैं।

उन दिनों ट्रावनकोर के हाइस्कूलों में हिन्दी को अनिवार्य विषय के तौर पर स्थान दिलाने का भी प्रयत्न हो रहा था। श्री पट्टमताणु पिल्लै (वर्तमान राज्यपाल, पंजाब) के सफल नेतृत्व में ट्रावनकोर की धारा सभा में हिन्दी-सम्बन्धी एक प्रस्ताव भी सन् १९३२ में पास हुआ। तदनुसार सन् १९३५ में ऐच्छिक विषय के रूप में वहाँ के स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान प्राप्त हो गया।

प्रमुख केन्द्र

सन् १९३५ तक केरल के सभी प्रमुख केन्द्रों में हिन्दी का प्रचार तेज़ी से बढ़ा। हज़ारों लोग हिन्दी पढ़ने लगे। सभा की विभिन्न परीक्षाओं में बड़ी संख्या में विद्यार्थी बैठने लगे।

मलाबार में सन् १९३० तक हिन्दी प्रचार का कार्य बहुत ही मन्द गति से होता रहा। प्रचारकों की कमी इस विषय में बड़ी बाधक रही। ब्रिटिश साम्राज्य का प्रशासित प्रदेश होने से हिन्दी प्रचार के लिए वहाँ ट्रावनकोर और कोच्चिन की अपेक्षा सुविधाएँ कम प्राप्त होती थीं। लेकिन सन् १९३० के बाद वहाँ की दशा बदली। राष्ट्रीय जागृति के उस जमाने में भला मलाबार अकेला ही हिन्दी प्रचार के आन्दोलन से कैसे अछूता रह सकता था? वहाँ भी कई हिन्दी प्रचारक तैयार हुए। सर्वश्री वी० नारायण मेनोन, वासु मेनोन, वासु अच्चन, नाणप्पा, गोविन्दन, पी० वी० नारायणन नायर, राम कुरुप, गोविन्दन नंपीशन, पी० राघवन, कृष्ण कुरुप आदि प्रथम गणनीय हैं। आज भी उनमें से अधिकांश बड़ी लगन से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं।

कार्य-बिस्तार

कहा जा चुका है कि सन् १९३५ के बाद का समय केरल के हिन्दी प्रचार आन्दोलन में अत्यन्त प्रगतिशील रहा है। विभिन्न दिशाओं में हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार उसी काल में हुआ। सभा के वैतनिक तथा अवैतनिक प्रचारक केरल के कोने-कोने में पहुँच गए। सभी केन्द्रों में

सभा की शाखा-समितियाँ, हिन्दी-प्रेमी-मण्डल तथा पुस्तकालय एवं वाचनालय स्थापित हुए। केन्द्रीय सभा की ओर से प्रचारकों को तैयार करने के लिए समय-समय पर प्रमुख केन्द्रों में प्रचारक विद्यालय भी चलते रहे। स्थान-स्थान पर हिन्दी प्रचार सम्मेलन किये गए। हिन्दी-सप्ताह मनाये गए, सभा की ओर से हिन्दी प्रचारक-संगठक नियुक्त हुए। फलतः केरलीय जनता के हृदय में हिन्दी की जड़ जम गई।

प्रशिक्षण विद्यालय

जब दक्षिण के स्कूलों में हिन्दी अध्यापकों की नियुक्ति होने लगी तब द० भा० हि० प्रचार सभा ने उन अध्यापकों को हिन्दी-शिक्षण की ट्रेनिंग देने के लिए चारों प्रान्तों में प्रशिक्षण-विद्यालय खोले। इस आयोजना के अनुसार केरल के प्रमुख केन्द्रों में भी ऐसे विद्यालय खुले। आज भी ट्रिवेंड्रम में हिन्दी प्रचार सभा की ओर से एक प्रशिक्षण-विद्यालय चल रहा है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की ओर से ट्रिच्चूर में भी हिन्दी अध्यापकों के लिए एक प्रशिक्षण-कालेज खुला है जिसमें हाइस्कूलों के अध्यापक ट्रेनिंग पा रहे हैं।

हिन्दी परीक्षाएँ और हिन्दी परीक्षार्थी

केरल में आरम्भ से लेकर आज तक दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाएँ चलती रही हैं। सन् १९२३ से १९६३ तक करीब चार लाख विद्यार्थी सभा की विभिन्न परीक्षाओं में बैठे हैं। इसके अतिरिक्त मद्रास तथा केरल के विश्वविद्यालयों की 'हिन्दी विद्वान', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की 'विशारद' और 'साहित्यरत्न' हिन्दी शिक्षा परिषद, आगरा की 'पारंगत' तथा केरल हिन्दी प्रचार सभा (पहले की ट्रावनकोर हिन्दी प्रचार सभा) की पहली, दूसरी, प्रवेश और भूषण परीक्षाओं में प्रतिवर्ष हज़ारों विद्यार्थी बैठा करते हैं।

ट्रावनकोर हिन्दी प्रचार सभा की सेवाएँ

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की केरल शाखा के अलावा 'ट्रावनकोर हिन्दी प्रचार सभा' नाम की एक और संस्था भी हिन्दी के प्रचार में अपनी सेवाएँ अर्पित करती रही है। इन दिनों वह 'केरल हिन्दी प्रचार सभा' नाम से रजिस्टर्ड हुई है। उक्त संस्था के अधीन ट्रावनकोर और कोच्चिन में सैकड़ों हिन्दी विद्यालय चल रहे हैं। उनमें हज़ारों की तादाद में हिन्दी विद्यार्थी विभिन्न परीक्षाओं के लिए अध्ययन करते हैं। उस संस्था की 'भूषण' परीक्षा के लिए सरकारी मान्यता प्राप्त है। स्व० के० वासुदेवन पिल्लै इस संस्था के संस्थापक एमं संचालक थे। इस संस्था की परीक्षाएँ बहुत ही लोकप्रिय हैं।

छः हज़ार हिन्दी अध्यापक और एक लाख S. S. L. C. परीक्षार्थी !!

केरल के स्कूलों में दूसरे फार्म से लेकर छठे फार्म (S. S. L. E.) तक हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जा रही है। S. S. L. C. परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए ३५ प्रतिशत अंक पाना आवश्यक है। केरल-भर के तमाम स्कूलों में आज छः हज़ार के लगभग हिन्दी-अध्यापक नियुक्त हैं। पिछली S. S. L. C. (मार्च १९६३) की परीक्षा में हिन्दी लेकर करीब एक लाख विद्यार्थी बैठे हैं।

कालेजों में हिन्दी : १६ हज़ार विद्यार्थी !

आज केरल विश्वविद्यालय के अधीन केरल-भर में ४७ कालेज हैं, जिनमें पार्ट II में हिन्दी दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है। पदवी-पूर्व तथा बी० ए०, बी० एस-सी० की कक्षाओं में कुल मिलाकर हिन्दी को दूसरी भाषा के तौर पर लेनेवाले विद्यार्थियों की संख्या करीब १६ हज़ार है। पार्ट चार में भी हिन्दी को मुख्य विषय के रूप में पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त है। उस विभाग में करीब १०० विद्यार्थी हिन्दी का विशेष अध्ययन कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त तीन कालेजों में हिन्दी में एम० ए० का कोर्स भी चल रहा है जिसमें करीब ५० विद्यार्थी हिन्दी की उच्च शिक्षा पा रहे हैं। प्राइवेट तौर पर एम० ए० की परीक्षा देनेवालों की संख्या भी काफ़ी है।

शोध-कार्य

केरल विश्वविद्यालय ने हिन्दी में शोध-कार्य करने की सुविधा भी कर दी है। इन दिनों करीब २५ विद्यार्थी पी-एच० डी० तथा एम० लिट्० के लिए हिन्दी में शोध-ग्रन्थ लिख रहे हैं।

केरल के कालेजों में १५० से अधिक हिन्दी-प्राध्यापक और हिन्दी प्रोफ़ेसर हैं। कालेजों के पाठ्यक्रम में हिन्दी को समुचित स्थान दिलाने के प्रयत्न में श्री डा० के० भास्करन नायर (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, केरल विश्व-विद्यालय) तथा श्री ए० चन्द्रहासन (सेवा-निवृत्त प्राचार्य महाराजा कालेज एरनाकुलम) का नेतृत्व रहा है।

केरल के कालेजों में काम करनेवाले हिन्दी अध्यापकों में कुछ लोग पी-एच० डी० डिग्रीधारी हैं। श्री डॉ० भास्करन नायर (यूनिवर्सिटी कालेज), डॉ० विश्वनाथ अय्यर (यूनिवर्सिटी कालेज), डॉ० गोविन्द शेणाय (यूनि-वर्सिटी कालेज), डॉ० प्रसाद (श्रीनारायण कालेज, कोयि-लोण), डॉ० जार्ज आदि उनमें प्रमुख हैं। दक्षिण के किसी भी प्रान्त में इतनी अधिक संख्या में हिन्दी में शोध-कार्य करनेवाले तथा शोध-डिग्री पाये हुए विद्वान नहीं हैं। केरल के लिए यह गर्व की बात है कि हिन्दी की साहित्यिक प्रगति में भी यहाँ के हिन्दी अध्यापक तथा हिन्दी विद्यार्थी अग्रसर रहते हैं।

सरकारी शिक्षा-विभाग और हिन्दी

केरल सरकार के शिक्षा-विभाग में हिन्दी के 'विशेष अधिकारी' (हिन्दी स्पेशल अफ़सर) नियुक्त हैं। श्री चन्द्र-हासन तथा श्री केशवन नायर (लेखक) कुछ समय तक उस पद पर हिन्दी की सेवा करते रहे हैं। अब श्री के० एस० मणि उक्त पद पर कार्य कर रहे हैं। हिन्दी के प्रचार में केरल सरकार की नीति उत्साहवर्धक है।

स्वतन्त्र विद्यालय—एक हज़ार !

केरल के कोने-कोने में स्वतन्त्र हिन्दी विद्यालय चल रहे हैं। उनकी संख्या करीब एक हज़ार है। उन विद्या-लयों में निजी तौर पर हज़ारों विद्यार्थी अध्ययन करके हिन्दी प्रचार संस्थाओं तथा केरल तथा मद्रास विश्वविद्य-लय की परीक्षाओं में हर साल बैठते हैं।

हिन्दी-वाचनालय तथा पुस्तकालय

केरल के सभी हिन्दी प्रचार-केन्द्रों में हिन्दी पुस्तकालय एवं वाचनालय स्थापित हुए हैं। इन पुस्तकालयों को समुचित रूप से सरकारी सहायता प्राप्त नहीं होती। यदि केन्द्रीय सरकार का ध्यान इस ओर जाए तो केरल-भर में ऐसे हज़ारों पुस्तकालय तथा वाचनालय सुसंगठित और सुव्यवस्थित रूप से चल सकते हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

केरल से कई हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती रही हैं। उनमें अधिकांश आर्थिक कठिनाई के कारण अल्पायु रहीं। इन दिनों 'युगप्रभात' (मातृभूमि-प्रकाशन) 'केरल-भारती' (दक्षिण भारत हि० प्र० सभा की केरल शाखा का प्रका-शन) 'केरल पत्रिका' (हिन्दी उपाधिकारी संघ-प्रकाशन) और 'ग्रन्थालोकम्' (केरल ग्रन्थशाला संघ-प्रकाशन) पत्रिकाएँ हिन्दी की सेवा कर रही हैं। केरल के हिन्दी विद्यार्थियों की साहित्यिक रुचि को बढ़ाने में उक्त पत्रि-काओं का सहयोग सराहनीय है।

महिलाओं का योगदान

केरल के हिन्दी प्रचार की प्रगति में केरलीय महि-लाओं का योगदान भी अत्यन्त महत्त्व का रहा है। आरम्भ से लेकर आज तक हिन्दी प्रचार-जैसे रचनात्मक कार्यों में पुरुषों की अपेक्षा यहाँ की स्त्रियाँ ही अधिक संख्या में सहायता पहुँचाती रही हैं। हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं में बैठनेवालों में भी अधिक संख्या स्त्रियों की ही रही है।

हिन्दी-विरोध

केरल में हिन्दी का विरोध नाम-मात्र के लिए भी नहीं है। हाँ, इतना ज़रूर है कि अंग्रेज़ी के कुछ अन्ध-भक्तों के प्रलाप समाचारपत्रों में कभी-कभी प्रकाशित होते रहते हैं। लेकिन प्रगतिशील केरलीय जनता उन पर कान नहीं देती। यहाँ के अधिकतर समाचारपत्र हिन्दी का ही समर्थन करते हैं। हिन्दी के क्रमिक विकास में उन समा-चारपत्रों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा है।

उपर्युक्त बातों से यह बात स्पष्ट होती है कि हिन्दी की श्रीवृद्धि में अभी तक केरलीय जनता अग्रसर रही है और आगे भी रहेगी।

● ●

श्री एस० महालिंगम

मद्रास राज्य की हिन्दी सेवा

श्री एस० महालिंगम दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के साहित्य-मंत्री हैं। दक्षिण में हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रसार और प्रचार-कार्य से इनका अनेक वर्षों से घना सम्बन्ध रहा है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का साहित्यिक गति-विधियाँ का अधिकांश श्रेय महालिंगमजी को ही है। तमिल-भाषी होते हुए भी हिन्दी पर इनका अधिकार प्रशंसनीय है।

महात्मा गांधी ने देश के विकास और उन्नति के लिए जनता के सामने जो रचनात्मक कार्यक्रम रखा, उसमें हिन्दी-प्रचार को विशेष प्रधानता दी। शुरू-शुरू में, उन्होंने हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में कहा, "भारत-भर में मद्रास ही एक ऐसा प्रान्त है, (उस समय सारा दक्षिण 'मद्रास प्रान्त' के नाम से पुकारा जाता था) जहाँ हिन्दी बोली या समझी नहीं जाती। अतः अगर मद्रास प्रान्त में हिन्दी का प्रचार हो जाए, तो हिन्दी के देश-भर की आम ज़बान बन जाने में कोई दिक्क़त नहीं होगी। भारत की एकता को मज़बूत करने में इससे बड़ी मदद मिलेगी।"

इसी ध्येय से, पूज्य बापूजी ने सन् १९१८ में दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य शुरू किया। मद्रास शहर में भारत सेवा संघ (इण्डिया सर्विस लीस) नामक संस्था उस समय समाज-सेवा में डटकर लगी हुई थी। बापू की प्रेरणा से उस संस्था के तत्त्वावधान में हिन्दी का पहला वर्ग गोखले हॉल में, सन् १९१८ के मई महीने में शुरू किया गया। इसके लिए आयोजित उत्सव के अध्यक्ष थे श्री सी० पी० रामस्वामी ऐयर और वर्ग का उद्घाटन श्री एनी बेसेण्ट ने किया था। हिन्दी अध्यापक थे बापू के सबसे छोटे पुत्र श्री देवदास गांधी। आप ही दक्षिण में प्रथम हिन्दी प्रचारक थे। इस वर्ग में मद्रास के कई प्रमुख व्यक्तियों ने सम्मिलित होकर हिन्दी सीखी।

कुछ समय बाद स्वामी सत्यदेवजी मद्रास आये और श्री देवदास गांधी के साथ वे भी हिन्दी सिखाने लगे।

तिरुनेलवेली जिला के युवक श्री हरिहर शर्मा सन् १९१५ से बापू के आश्रम में रहते थे। उन्होंने दक्षिण के हिन्दी प्रचार-कार्य में योग देने की अपनी इच्छा बापू के समक्ष प्रकट की। बापू ने उनको मद्रास भेजा। वे मद्रास से श्री क० म० शिवराम शर्मा को साथ लेकर प्रयाग गए और राजर्षि टण्डन और कविवर रामनरेश त्रिपाठी के मार्गदर्शन में हिन्दी का अध्ययन करके विशारद परीक्षा पास की। उसके बाद वे मद्रास आये और बापू के आदेशानुसार दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कार्य हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में करने लगे।

बापूजी सदा ही इस विचार के थे कि हिन्दी-प्रचार का काम अहिन्दी-भाषी लोगों को ही अपनाना चाहिए। इसके अनुसार उन्होंने सन् १९२४ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की और साहित्य-सम्मेलन की

तरफ़ से तब तक जो काम हो रहा था, उसे इस सभा के सुपुर्द कर दिया। गांधीजी स्वयं इस सभा के अध्यक्ष बने। उस हैसियत से, उन्होंने सभा के काम की निगरानी करने और सभा के संगठन को मज़बूत बनाने का भार राजाजी को सौंपा। राजाजी के प्रयत्न से यह संस्था खूब फूली, फली और आज तक वह जो सफलता और साधन-सम्पन्नता पा सकी है, उसका अधिकतर श्रेय राजाजी को ही है।

दक्षिण में हिन्दी प्रचार-कार्य को मज़बूत करने के लिए सभा ने कई कार्यक्रम बनाये। उनमें से मुख्य था योग्य हिन्दी प्रचारक तैयार करना। इसके लिए तमिलनाडु के करीब बीचोंबीच स्थित ईरोड नामक छोटे-से शहर में सन् १९२० में सभा ने हिन्दी प्रचारक विद्यालय खोला। इस सभा में दक्षिण के विभिन्न भागों के ३० युवकों ने एक वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त किया। इस विद्यालय के संचालन में श्री ई० वी० रामस्वामी नायकर और उनके भाई श्री ई० वी० कृष्णस्वामी नायकर की बड़ी सहायता सभा को मिली।[1] ईरोड के उस हिन्दी विद्यालय का उद्घाटन पं० मोतीलाल नेहरू के हाथों हुआ। बाद को, उस विद्यालय की लोकप्रियता तथा सफलता के फलस्वरूप राजमहेन्द्री, मद्रास आदि स्थानों में हिन्दी विद्यालय चलाये गए, जो जनता में खूब हिन्दी-प्रचार करने में सफल साबित हुए।

सभा का सदर मुकाम मद्रास में खुला और शुरू में वह किराये के मकानों में रहा। सन् १९३५ में मद्रास निगम (कारपोरेशन) ने करीब ५ एकड़ ज़मीन लागत दाम पर सभा को दी। सन् १९४६ में महात्माजी ने सभा की रजत-जयन्ती के अवसर पर ढाई लाख रुपये वसूल कर सभा को दिये। उसी रकम से सभा के आज के आलीशान भवन बने हैं।

सभा के संचालन में शुरू से ही दक्षिण भारतियों का हाथ अधिक रहा है। दक्षिण भारत की जनता ने सभा के कार्य में बड़ी दिलचस्पी ली और अपना पूरा सहयोग दिया। इसी का फल है कि आज दक्षिण के गाँव-गाँव तक सभा का नाम और काम फैल गया है।

सभा के कर्णधारों में दक्षिण के निम्नलिखित नेता चिरस्मरणीय हैं:

सर्वश्री राजाजी, स्व० डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या (कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष), का० नागेश्वर राव ('आन्ध्र पत्रिका' के संस्थापक), स्व० रंगस्वामि ऐयंगार (सम्पादक, हिन्दू), स्व० सत्यमूर्ति, स्व० एस० श्रीनिवास ऐयंगार (कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष), बी० गोपाल रेड्डी, के० पी० माधवन नायर, रा० रा० दिवाकर, दासप्पा, स्व० के० भाष्यम ऐयंगार (भूतपूर्व मन्त्री, मद्रास राज्य), स्व० आर० श्रीनिवास ऐयर, स्व० पी० एस० जी० गंगा नायुडु, एन० एम० आर० सुब्बरामन, स्व० सरदार वेदरत्नम् पिल्लै, डॉ० नंजप्पा, स्व० टी० प्रकाशम पंतुलु, स्व० डॉ० मलया, स्व० रामदास पंतुलु, स्व० संजीव कामत, स्व० ए० वैद्यनाथ ऐयर, स्व० डॉ० राजन, बी० जगन्नाथदास (उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश) इत्यादि।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दक्षिण का हिन्दी प्रचार कार्य मुख्यतः दक्षिण भारत के लोगों की सहायता से ही आगे बढ़ा है। महात्माजी भी यही चाहते थे। कभी-कभी सुनने में आता है कि दक्षिण भारत पर उत्तर भारतीयों द्वारा हिन्दी ज़बरदस्ती थोपी जा रही है। ऊपर के विवरण से साफ़ मालूम होगा कि यह कथन कितना निराधार है। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार जो विकास और बिस्तार पा सका है एवं पा रहा है, वह शत-प्रतिशत दक्षिण भारतीयों की सम्मति, सहायता, सौजन्य तथा सहयोग से ही सुलभ-साध्य हो रहा है। यह है उसके क्रमागत विकास की एक झाँकी:

संगठन

हिन्दी प्रचार-कार्य के स्तम्भ हैं हिन्दी के प्रचारक-गण। इन प्रचारकों का संगटन करने के लिए सभा ने 'प्रमाणित प्रचारक' योजना बनाई है। आज सारे दक्षिण में करीब ४६०० प्रमाणित प्रचारक कार्य कर रहे हैं। अपनी योग्यता, लगन तथा शुद्ध राष्ट्रीय भावना के द्वारा इन हिन्दी प्रचारकों ने दक्षिण भारत के जन-समुदाय में

१. **यह जानी हुई बात है कि कुछ वर्ष पूर्व श्री ई० वी० रामस्वामी नायकर ने ही हिन्दी के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन चलाया था।**

अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। हिन्दी-प्रचार आन्दोलन ने भी जनता में अपना एक निजी तथा प्रभावशाली स्थान प्राप्त कर लिया है। वह सिर्फ़ राष्ट्र-भाषा तथा राष्ट्रीय संस्कृति का ही आन्दोलन नहीं, बल्कि समाज-सेवकों का एक ज़बरदस्त संगठन भी है।

प्रकाशन और बिक्री-कार्य

सरल और रोचक तरीकों से भाषा सिखाने के लिए वैज्ञानिक ढंग से लिखी हुई पुस्तकों की जरूरत है। पुस्तक-प्रकाशन का यह कार्य सभा के पुस्तक प्रकाशन विभाग के द्वारा किया जाता है। इस विभाग के द्वारा अब तक ३१५ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें अक्षर-बोध से लेकर विविध कोशग्रन्थ तक शामिल हैं। हिन्दी सिखाने की पुस्तकों के अलावा दक्षिण भारत की भाषाएँ—तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ को हिन्दी माध्यम द्वारा सीखने के लिए चार 'स्वयं शिक्षक' भी सभा ने प्रकाशित किये हैं।

अपने प्रकाशनों तथा हिन्दी के अन्य प्रकाशकों की उपयोगी पुस्तकों को दक्षिण भारत के कोने-कोने तक पहुँचाकर, हिन्दी सीखने-सिखानेवालों की सहायता करने का काम सभा का पुस्तक बिक्री-विभाग कर रहा है। अब तक इस विभाग के द्वारा २ लाख ७५ हज़ार रुपये से अधिक मूल्य की पुस्तकों का वितरण हुआ है।

परीक्षा

हिन्दी प्रचार-कार्य को संगठित तथा शिक्षण को क्रमबद्ध और स्थायी बनाने के उद्देश्य से सभा सात क्रमबद्ध परीक्षाएँ चलाती है। इसमें बिना उम्र या जातिभेद के हज़ारों स्त्री-पुरुष बैठते हैं। अब तक इन परीक्षाओं में कुल १८ लाख परीक्षार्थी बैठ चुके हैं। परीक्षा-केन्द्रों की संख्या १३२६ है तथा परीक्षकों की संख्या लगभग २००० है।

परीक्षाओं के प्रति साधारणतया जो स्वाभाविक चिढ़ रहती है, उसके विपरीत हिन्दी परीक्षाओं में बैठने में लोग बड़ी उत्सुकता दिखाते हैं। दक्षिण भारत में आप किसी भी परिवार में जाइए, वहाँ इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण कोई-न-कोई सदस्य अवश्य मिलेंगे।

प्रथम तीन—प्राथमिक, मध्यमा और राष्ट्रभाषा—प्रारम्भिक परीक्षाएँ हैं। प्रवेशिका, विशारद और प्रवीण उच्च परीक्षाएँ हैं। 'विशारद' उपाधि परीक्षा है, जिसे विभिन्न राज्यों की सरकारों ने अध्यापक बनने के लिए आवश्यक योग्यता के तौर पर मान्यता दी है। परीक्षा-सम्बन्धी सारा कार्य सभा के परीक्षा-विभाग के अन्तर्गत है। यह विभाग विश्वविद्यालयों के ढंग पर अपना कार्य चलाता है।

पुस्तकालय

सभा के अन्तर्गत एक हिन्दी पुस्तकालय चलता है, जिसमें करीब २३,००० ग्रन्थ भिन्न-भिन्न विषयों पर उपलब्ध हैं। इसमें हिन्दी की सभी श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाएँ मँगाई जाती हैं। दक्षिण भारत-भर में हिन्दी का इतना बड़ा एकमात्र यही पुस्तकालय है। मद्रास शहर के निवासी यहाँ से हिन्दी पुस्तकें घर पर ले जाकर पढ़ते हैं। सदस्यों के घर पर पुस्तकें भेजने की भी व्यवस्था है। हाल ही में, केन्द्रीय सरकार से इस पुस्तकालय के लिए दस हज़ार रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ है।

छापाखाना

सभा की सारी छपाई उसके निजी छापाखाने में होती है। छापेखाने का नाम है 'हिन्दी प्रचार प्रेस'। इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, मराठी और संस्कृत की छपाई का प्रबन्ध है। छपाई की सुन्दरता और सफ़ाई के लिए यह प्रेस मशहूर है। यहाँ कई रंगों में भी छापने की सुविधा है। भारत सरकार से इस प्रेस को कई मौकों पर विशेष पुरस्कार भी प्राप्त हुए हैं। इसमें करीब पचहत्तर लोग काम करते हैं। इस प्रेस की शाखा हैदराबाद में भी है।

आदान-प्रदान

आज पैंतालीस वर्षों से सभा अपने कार्यकलापों के द्वारा दक्षिण भारतीयों को हिन्दी-साहित्य से तथा उत्तर भारत की कलाओं से परिचित कराती आ रही है। फलतः

दक्षिण को उत्तर भारत के बारे में काफ़ी जानकारी है। लेकिन दक्षिण के साहित्य, दक्षिण की कला आदि से उत्तर उस अनुपात में परिचित नहीं हुआ है। इसलिए उत्तर और दक्षिण के बीच में साहित्य के पारस्परिक विनिमय के लिए सभा ने अपनी रजत-जयन्ती के अवसर पर स्वीकृत आयोजना के अनुसार दिल्ली में एक शाखा खोली है। इस शाखा में साहित्यिक आदान-प्रदान के अलावा तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ भाषाएँ सिखाने का प्रबन्ध किया जा रहा है।

सभा अपनी गति-प्रगति का परिचय देने तथा परीक्षार्थियों के उपयोगार्थ 'हिन्दी प्रचार समाचार' नामक मासिक पत्रिका चला रही है और साहित्यिक आदान-प्रदान के लिए 'दक्षिण भारत' नामक द्विमासिक भी सभा की ओर से निकाला जा रहा है।

मद्रास राज्य की हिन्दी सेवा की चर्चा करते समय हमें मद्रास की पत्र-पत्रिकाओं की सहायता को नहीं भूलना चाहिए। मद्रास के प्रसिद्ध दैनिक 'स्वदेशमित्रन्', 'इण्डियन एक्सप्रेस', 'आन्ध्र पत्रिका' आदि शुरू से ही इस आन्दोलन को अमूल्य सहायता पहुँचाते आये हैं। आज से चालीस वर्ष पूर्व स्व० एनी बेसेण्ट ने अपने 'न्यू इण्डिया' पत्र में, हिन्दी के लिए अलग स्तम्भ देकर दक्षिण के घर-घर तक हिन्दी का सन्देश पहुँचाया।

श्री हरिहर शर्मा सन् १९३७ तक सभा का कार्य प्रधान मन्त्री की हैसियत से सँभालते रहे। तदनन्तर, राजाजी के आदेशानुसार श्री मोटूरि सत्यनारायण इस सभा के प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए। सभा के बहुमुखी विकास का श्रेय आपको ही है। आपके अथक परिश्रम के कारण ही सन् १९४६ में सभा की रजत-जयन्ती बहुत बड़े पैमाने पर मनाई गई, जिसके अध्यक्ष स्वयं महात्माजी थे। श्री सत्यनारायण की हिन्दी प्रचार-सम्बन्धी सेवा के सम्मानस्वरूप भारत सरकार ने उनको 'पद्मभूषण' की पदवी देकर गौरवान्वित किया। सन् १९६१ से श्री सत्यनारामणजी के अवकाश-ग्रहण के बाद श्री रामचन्द्र शास्त्री सभा के प्रधान मन्त्री बने।

आज सभा ने जो सर्वमान्य प्रतिष्ठा एवं प्रगति की है उसका श्रेय न केवल हिन्दी प्रचारकों को है; अपितु, पूर्वोक्त हिन्दी-प्रेमी नेताओं, मार्गदर्शक महानुभावों एवं हितचिन्तक पत्र-पत्रिकाओं को भी है। मुख्यतया राजनीतिक वातावरण में मुँह से कहीं कुछ विरोध करने पर भी, हृदय में प्रेम को अक्षुण्ण रखकर, आश्रय देनेवाली दाक्षिणात्य जनता ही दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की जड़, चेतन, सम्बल—सब-कुछ है।

मैसूर राज्य के प्रशासन एवं शिक्षण विभाग में हिन्दी का स्थान

बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के इस रजत-जयन्ती-ग्रन्थ के लिए यह सूचनात्मक लेख विशेषरूप से मैसूर सरकार की ओर से प्राप्त हुआ है।

मैसूर राज्य में हिन्दी का प्रचार बहुत दिनों पहले से हो रहा है। आज हिन्दी के प्रचार में न प्रतिकूल परिस्थिति है और न विरोध भाव, किन्तु शिक्षण विभाग में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हैं। ये कठिनाइयाँ मैसूर राज्य के नवनिर्माण के बाद हुई हैं, क्योंकि मैसूर राज्य के साथ बम्बई कर्नाटक, हैदराबाद कर्नाटक, मद्रास कर्नाटक, कोडगू और उत्तर कर्नाटक के अन्यान्य जिलों का विलीनीकरण हुआ है। यह सर्वविदित है कि इन विभिन्न जिलों में हिन्दी शिक्षण के स्तर की एकरूपता अथवा समानता नहीं है। यदि समूचे जिलों के लिए एक पाठ्य-पुस्तक निर्धारित की जाए तो वह किसी भाग के विद्यार्थियों के लिए अनुकूल होगी तो दूसरे भाग के विद्यार्थियों के स्तर से ऊँची या नीची होगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मैसूर राज्य शिक्षा विभाग के शिक्षा अन्वेषण कार्यालय द्वारा राज्य के समस्त भागों के हिन्दी के स्तर को ध्यान में रखते हुए पाठ्य-पुस्तकों की रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ है। आशा है कि इस प्रयास से स्तर-वैषम्य-सम्बन्धी उपरोक्त कठिनाई बहुत जल्द दूर हो जाएगी।

महात्मा गांधीजी की इस घोषणा के पश्चात् कि केवल हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है, अहिन्दी प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता गया। तदनुसार मैसूर राज्य की माध्यमिक पाठशालाओं के पाठ्य क्रम में हिन्दी को वैकल्पिक विषय के रूप में स्थान दिया गया। यह सन् १९३८ की बात है। व्यावहारिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से यह मैसूर सरकार का प्रथम प्रयास था। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी प्रचार की गति दुगनी-तिगुनी हो गई। माध्यमिक शालाओं के अतिरिक्त प्रौढ़-शालाओं में भी हिन्दी को स्थान दिया गया। द्वितीय भाषा तथा वैकल्पिक विषय इन दोनों रूपों में उसका प्रवेश हुआ। किन्तु कुछ समय के बाद उसे द्वितीय भाषा के पद से हटाना पड़ा। इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि प्रौढ़-शालाओं में हिन्दी अनिवार्य विषय बना दी गई। पहले जहाँ हजार-दो हजार विद्यार्थी हिन्दी का अध्ययन करते थे अब उनकी संख्या अत्यधिक बढ़ गई। और केवल एस० एस० एल० सी० परीक्षा में ही विद्यार्थियों की संख्या लगभग पचास हजार थी। परन्तु कुछ शालाओं में प्रयत्न करने पर भी हिन्दी अध्ययन की उचित व्यवस्था न होने के कारण इस विषय को विवशतावश परीक्षा से छूट दी गई, लेकिन उपरोक्त स्थिति कुछ गैर-सरकारी शालाओं में ही पाई जाती है। ये पाठशालाएँ शिक्षा-निदेशक के सीधे नियन्त्रण में न थीं। इसीलिए विद्यार्थियों के हित को दृष्टिगत रखकर यह छूट देना आवश्यक समझा गया। आज यह स्थिति भी बदल गई है। सन् १९६३ से हिन्दी को परीक्षा के विषय का महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस निर्णय के साथ ही प्रान्तीय सरकार का उत्तरदायित्व बढ़ जाना भी स्वाभाविक है। राज्य सरकार में सरकारी और

गैर-सरकारी सब मिलाकर ८०० से अधिक प्रौढ़शालाएँ हैं। इन सब पाठशालाओं में हिन्दी अध्यापकों की नियुक्ति परमावश्यक है। अन्यथा हमारी समूची योजना ठप्प हो जाएगी। वैसे कुछ बड़े शहरों और जिलों में हिन्दी अध्यापक मिल जाएँगे। किन्तु ग्रामीण प्रदेशों की प्रौढ़शालाओं के लिए हिन्दी अध्यापक कहाँ से जुटाएँ, यह एक जटिल समस्या है। इस समय हिन्दी अध्यापकों की संख्या बढ़ाने के साथ-साथ हम इस प्रयत्न में भी हैं कि उन्हें प्रशिक्षण भी दिया जाए। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए जहाँ मैसूर में एक ओर 'विद्वान् कालेज' खोला गया तो दूसरी ओर प्रशिक्षण देने के लिए दो 'हिन्दी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय' भी खोले गए। केन्द्रीय सरकार के अनुदान से अब गुलबर्गा और बागलकोट में दो प्रशिक्षण महाविद्यालय खोले गए हैं। विश्वास है कि इस प्रबन्ध से मैसूर राज्य में कुशल हिन्दी अध्यापकों की कमी दूर हो जाएगी और ग्रामीण प्रदेशों में भी ऐसे कुशल अध्यापकों का अभाव अब नहीं रहेगा।

इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त हिन्दी को सर्वसाधारण के बीच जनप्रिय बनाने के लिए कुछ रचनात्मक योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं। जैसे—(१) वयस्क शिक्षण शिविर, (२) पुस्तकालय, (३) हिन्दी रंगमंच, (४) निःशुल्क हिन्दी वर्ग और (५) साहित्य रचना।

वयस्क शिक्षण शिविर के अन्तर्गत प्रौढ़ व्यक्तियों को हिन्दी सिखाने की व्यवस्था की गई है। निःशुल्क वर्गों के अन्तर्गत विद्यार्थियों को न केवल हिन्दी की उच्च परीक्षाओं की उचित शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया है अपितु उनकी सुविधा के लिए वहीं पुस्तकालय भी खोले गए हैं। हिन्दी एकांकी नाटकों के प्रचार के लिए विभिन्न सभा-समितियों को आर्थिक अनुदान देने का प्रबन्ध है। साहित्य-रचना के अन्तर्गत हम चाहते हैं कन्नड़ भाषा का उत्कृष्ट साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हो, जिससे भारती का साहित्य भण्डार गौरवान्वित हो सके।

इन सब कामों का निरीक्षण करने और समय-समय पर शिक्षा विभाग के प्रमुख अधिकारी को परामर्श देने के लिए एक विशेष हिन्दी अफ़सर की नियुक्ति की गई है।

मैसूर राज्य में सरकार के अलावा कुछ स्थानीय संस्थाएँ भी हैं, जो कर्नाटक में हिन्दी का प्रचार कर रही हैं। ये संस्थाएँ मैसूर सरकार द्वारा मान्य हैं और इन्हें अनुदान भी दिया जाता है—(१) मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति, बेंगलूर, (२) मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद्, बेंगलूर (३) मैसूर हिन्दी साहित्य परिषद्, बेंगलूर (४) कर्नाटक हिन्दी महिला सेवा समिति, बेंगलूर (५) कर्नाटक प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा, धारवाड़ (६) दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास (७) कर्नाटक हिन्दी प्रचार सभा, गुलबर्गा।

उपर्युक्त संस्थाएँ हिन्दी की प्रारम्भिक और उच्च परीक्षाएँ लेती हैं। इनकी उपाधि परीक्षाएँ सरकार द्वारा मान्य हैं। इन संस्थाओं के स्नातकों को प्रौढ़ शालाओं में हिन्दी अध्यापक के तौर पर नियुक्त किया जाता है। इन परीक्षाओं के अतिरिक्त बड़े-बड़े नगरों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, बम्बई हिन्दी विद्यापीठ, बम्बई राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा आदि संस्थाओं के केन्द्र हैं और उनकी परीक्षाएँ होती हैं।

मैसूर सरकार द्वारा मान्य विभिन्न हिन्दी उपाधि परीक्षाओं का स्तर एवं पाठ्यक्रम भिन्न-भिन्न है। उसमें समानता का होना आवश्यक है। इसी विचार से राज्य द्वारा आयोजित 'हिन्दी बोर्ड ऑफ़ स्टडीज़' समिति ने प्रारम्भिक से लेकर उपाधि तक परीक्षाओं को स्वयं चलाने का परामर्श दिया है, जो अब सरकार के निर्णयाधीन है। यदि यह योजना स्वीकृत हो गई तो हिन्दी का स्तर सन्तोषजनक होगा। उस स्थिति में ये विभिन्न संस्थाएँ शिक्षण केन्द्र का काम करेंगी।

पंचवर्षीय योजना के अनुदान के अन्तर्गत राज्य के सभी भागों में हिन्दी प्रचार की व्यवस्था की गई है। तृतीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर राज्य में हिन्दी प्रचार भी एक निश्चित लक्ष्य तक पहुँच जाएगा। यह हर्ष की बात है कि गत दो वर्षों से मैसूर विश्वविद्यालय में भी हिन्दी विषय में एम० ए० के वर्ग खुल गए हैं। इसी वर्ष हिन्दी एम० ए० का एक सत्र समाप्त हुआ है। सरकार एवं स्थानीय संस्थाओं के प्रयत्न से राज्य के घर-घर में हिन्दी का प्रचार हो रहा है। हिन्दी जनप्रिय होती जा रही है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक संख्या में हिन्दी सीखने और सिखाने के कार्य में तत्पर हैं। अब वह समय

दूर नहीं जब अहिन्दी प्रदेश में हिन्दी के मौलिक कवि और लेखक जन्म लेंगे।

साहित्य का आदान-प्रदान उतना नहीं हो पाया है जितना कि होना चाहिए था, अतः साहित्य अकादमी एवं अन्य साहित्यिक प्रकाशन संस्थाओं को चाहिए कि वे इस दिशा में अधिक रुचि दिखलाएँ। इससे निस्सन्देह देश-भर में स्नेह और सौहार्द का वातावरण निर्मित होगा।

वह दिन अब दूर नहीं जबकि यहाँ की हिन्दी का स्तर किसी भी उत्तर भारतीय प्रान्त से ऊँचा नहीं तो उसके समकक्ष तो रहेगा ही।

सीतादेवी

आन्ध्र-प्रदेश की हिन्दी-सेवा

श्रीमती कु० वा० सीतादेवी का जन्म आन्ध्र प्रदेश के गुंटुर जिलान्तर्गत चेब्रोल नामक गाँव में हुआ। हिन्दी की ओर रुचि बचपन से ही रही। अपनी मातृ भाषा तेलुगु के अतिरिक्त तमिल, हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषा की बहुत अच्छी जानकार हैं। तेलुगु भाषा और साहित्य में एक कहानी-लेखिका के रूप में इनकी पर्याप्त ख्याति है। १९५१ से १९५४ तक हिन्दी-प्रचारक विद्यालय, मद्रास में प्राध्यापिका रह चुकी हैं। हिन्दी से तेलुगु और तेलुगु से हिन्दी में अनेक प्रसिद्ध कृतियों के अनुवाद किये हैं। प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' का तेलुगु में इन्होंने अनुवाद किया। सम्प्रति आन्ध्र प्रदेश में नारी-कल्याण विभाग में अधीक्षक के पद पर कार्य कर रही हैं।

आज आन्ध्र प्रदेश की संज्ञा जिस भूखंड को प्राप्त है उसमें, विशाखपट्टण, पूर्व-पश्चिम गोदावरी, श्रीकाकुलम, कृष्णा, गुंटूर, नेल्लूर, चित्तूर, कडपा, कर्नूल और अन्तपुर जिलों का आन्ध्र प्रान्त तथा हैदराबाद, मेदक, वरंगल, नलगोंडा, निज़ामाबाद, खम्मम, महबूबनगर, आदिलाबाद, करीमनगर इन जिलों से बना तेलंगाणा सम्मिलित है। आन्ध्र प्रान्त में तेलुगु बोली जाती है। तेलंगाणे में बहुसंख्यक तेलुगु-भाषियों के साथ उर्दू-भाषी मुसलमान तथा अल्प-संख्यक हिन्दी, मराठी तथा कन्नड़-भाषी भी हैं। १९४९ की पुलिस कार्रवाई के पूर्व तेलंगाणा निजामशाही मुसलमान राजाओं के अधीन था। 'विशालान्ध्र' का निर्माण नवम्बर १९५६ में हुआ और आज यह समूचा प्रदेश आन्ध्र प्रदेश के नाम से विख्यात है। इस समस्त क्षेत्र में हिन्दी सेवा-कार्य दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, आन्ध्र तथा हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद नामक संस्थाओं के प्रयास से सम्पन्न हुआ।

आन्ध्र की जनता स्वभाव से उत्साही तथा किसी भी कार्य के लिए सर्वप्रथम आगे कदम रखने का हौसला रखती आई है। स्वाधीनता का आन्दोलन और हिन्दी-सेवा-जैसे कार्य में दक्षिण में तो इसका कोई सानी नहीं रख सकता। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम में हिन्दी प्रचार को प्रधानता दी। कारण, बापू जानते थे कि विभिन्न भाषा-भाषी होने पर भी भारत एक है और उसका हृदय तथा विचार एक हैं। इसी कारण भाषाओं में पारस्परिक एकता लाने तथा इन विभिन्न भाषा-भाषियों को एक राष्ट्रीय झंडे के नीचे खड़ा करने के लिए गांधीजी ने हिन्दी का प्रचार आवश्यक माना। हिन्दी को राष्ट्रभाषा की मान्यता उन्होंने इसलिए दी कि इसके बोलनेवालों की संख्या आसेतुहिमाचल पाई जाती है और यह बोलने तथा समझने में सरल है।

वह था सन् १९१८। इलाहाबाद साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन इन्दौर में सम्पन्न हुआ था। पूज्य बापूजी ने अध्यक्षासन ग्रहण किया था। अधिवेशन में निर्णय हुआ कि दक्षिणापथ और उत्तरापथ को मिलाकर अखंड भारत के निर्माण के लिए दक्षिण में हिन्दी प्रचार-कार्य किया जाए। बापूजी के अदेशानुसार उनके सुपुत्र स्वर्गीय श्री देवदास गांधी प्रथम हिन्दी प्रचारक बनकर मद्रास गए। उनके आधिपत्य में मद्रास, आन्ध्र, केरल तथा कर्नाटक प्रान्तों में हिन्दी प्रचार-कार्य आरम्भ हुआ। आरम्भ में हिन्दी वर्ग चलाये गए। हिन्दी प्रेमी-मंडलियाँ बनाई गईं। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी प्रचार-कार्य भी पनपने और वृद्धि पाने लगा।

१९२७ में मद्रास की केन्द्रीय संस्था 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के नाम से रजिस्टर कराई गई और

बापू इसके आजीवन अध्यक्ष मनोनीत हुए। १९३६ में आन्ध्र राष्ट्र हिन्दी प्रचार संस्था की स्थापना हुई जो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की शाखा-मात्र है।

आन्ध्र में हिन्दी प्रचार-कार्य इस संस्था की स्थापना से पूर्व ही होने लगा था। इस पूर्व-पीठिका का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए हम उन महान व्यक्तियों को नहीं भुला सकते जिन्होंने अपने घर-बार छोड़ सुदूर उत्तर से आकर केवल हिन्दी प्रचार के सेवा-कार्य का व्रत लिया और आन्ध्र के गाँव-गाँव में प्रचार आरम्भ किया। विशाल सौध का निर्माण करने के लिए नींव रखना बड़ा ही कठिन होता है। आरम्भ में झाड़-झंखाड़ और पथरीली भूमि को ठीक करके रास्ता बनानेवाले व्यक्तियों की तपस्या और साधना ही प्रशंसनीय होती है। इस इतिहास को प्रस्तुत करनेवाले उन व्यक्तियों का परिचय आरम्भ में देकर हम उनके प्रति गौरवांजली समर्पित करेंगे और तत्पश्चात् आन्ध्र-सेवियों का परिचय देंगे।

श्री के० हनुमन्तराव की इच्छानुसार १९१८ में बापूजी ने **पंडित हृषीकेशजी शर्मा** को 'आन्ध्र जातीय-विद्यालय, मचिलीपट्टाम में हिन्दी सिखाने के लिए बन्दर भेजा। इन के डाले बीज ने ही आज महान् वृक्ष बनकर अपनी विशाल शाखाओं का सारे आन्ध्र प्रान्त में विस्तार किया है। शर्माजी के पूर्वज आन्ध्र ही थे जो नर्मदा नदी के किनारे जा बसे थे। इनके पिता श्री हरिकृष्णजी शास्त्री नागपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक थे। हृषीकेशजी को इसी कारण हिन्दी और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने गांधीजी के सेवा-तत्व को ग्रहणकर 'हिन्दी प्रचार' अपने जीवन का लक्ष्य माना। ए० वी०सुब्रह्मण्यम्, श्री गुरुमूर्ति मट्टूरि अन्नपूर्णय्या आदि के सहयोग से इन्होंने हिन्दी प्रचार विद्यालय की स्थापना की। यह आन्ध्र प्रान्त का सर्वप्रथम हिन्दी विद्यालय था। शर्माजी में कई ऐसे गुण थे जिससे उनके प्रति आन्ध्र के युवकों में श्रद्धा हो आई और वे उन्हें अपना गुरु मानने लगे। इस प्रकार हिन्दी प्रचार कार्य की परम्परा आन्ध्र में कायम हुई। इन्होंने न केवल तेलुगु सीखी प्रत्युत तेलुगु-हिन्दी स्वबोधिनी लिखकर कई आगामी ग्रन्थों के मार्गदर्शक बने। विवाह-सूत्र द्वारा भी आदान-प्रदान कर हिन्दी प्रचार कार्य के लिए योग दिया। १९२४ से ३४ तक मद्रास के केन्द्रीय कार्यालय में कार्य किया और अन्त में फिर नागपुर लौट गए। अब करीब वे ७१ वर्ष की आयु के हैं। इतने वृद्ध होने पर भी 'राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, वर्धा' में प्रमुख कार्यकर्ता की हैसियत से आज भी हिन्दी प्रचार-कार्य कर रहे हैं।

पंडित रामानन्द शर्मा बिहार-निवासी हैं। आप बड़े ही भावुक और कवि-हृदय हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से ये १९२१ में हिन्दी प्रचारक बनकर गुंटूर आये और कार्यारम्भ किया। इनको इस कार्य के प्रसार में श्री गोल्लपूडि सीताराम शास्त्री और श्री कोंडा वेंकटप्पय्या का सहयोग मिला। अंग्रेजी सरकार की शिक्षा-नीति से असन्तुष्ट हो विश्वविद्यालय का अध्ययन छोड़कर बाहर आये व्यक्तियों का इन्होंने संगठन किया। उन्हें हिन्दी पढ़ाकर 'प्रचारक' बनाने में रात-दिन अनुपम लगन व उत्साह तथा निष्ठा से कार्य कर ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया। शारदा निकेतन में अध्यापक रहकर उस संस्था के कार्य में सहयोग दिया। इन्होंने तेलुगु सीखकर श्री उन्नव लक्ष्मीनारायणजी लिखित, गांधी दर्शन पर आधारित 'माल पल्लि' तेलुगु उपन्यास का अनुवाद किया और उसे पत्रिकाओं में प्रकाशित किया। बिहार से अपने बन्धुओं, मित्रों व हिन्दी प्रचारकों को बुलाकर, आन्ध्र के ग्राम-ग्राम में उनके द्वारा हिन्दी-केन्द्र स्थापित कराये और हिन्दी का प्रचार व प्रसार किया। इन्होंने हिन्दी-प्रचार के साथ-साथ अपने हृदय की भावुकता और स्नेह भी अपने विद्यार्थियों में बाँटा। इनके अधिकतर विद्यार्थी आज साहित्य-प्रेमी व कलाकार हैं। उनके विद्यार्थियों के हृदय में पंडितजी का स्नेह और सौहार्द सदैव प्रतिबिम्बित होता रहता है। १९४३-४५ में गुंटूर जिले के चन्नोल ग्राम में एक हिन्दी विद्यालय की स्थापना कर महिलाओं को तथा विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाने का कार्य भी आपने किया। आन्ध्र की कम्मा जाति की महिलाओं ने जोकि चिरकाल से सामाजिक रूढ़ियों में बँधी पर्दानशीन थीं और घर की चहारदीवारी को नहीं लाँघ सकती थीं, उन्होंने सामाजिक बन्धनों का विरोध किया और रामानन्दजी के पास हिन्दी का अध्ययन

किया। हिन्दी की शिक्षा ही इस गाँव में महिला-शिक्षा की पहली सीढ़ी हुई। कई महिलाओं को शिक्षा देकर रामानन्द जी ने महिलाओं को प्रोत्साहित किया जो आज कई क्षेत्रों में राष्ट्रीय तथा साहित्यिक कार्य कर रही हैं। प्रस्तुत लेखिका को भी पंडितजी के प्रोत्साहन से ही अपने रूढ़िगत बन्धनों को तोड़कर सामाजिक क्षेत्र में आने का प्रोत्साहन तथा बल मिला है। पंडित रामानन्दजी शर्मा चन्नोल में अपना कार्य सम्पन्न कर मद्रास आये और कुछ वर्ष पूर्व वापस बिहार लौट गए।

श्रीरामभरोसे श्रीवास्तव उत्तर-प्रदेश के निवासी हैं। १९२० में प्रचार-केन्द्र चलाकर इन्होंने नेल्लूर में कार्यारम्भ किया। समस्त आन्ध्र के व्यवस्थापक रहकर हिन्दी प्रचार-कार्य का विस्तार करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनसे शिक्षा पाकर हिन्दी प्रचार-कार्य में प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का परिचय देनेवाले व्यक्ति श्री मोटूरि सत्यनारायणजी हैं। अपनी कार्य-कुशलता, मृदु भाषण और सुहृद व्यवहार के कारण ही श्रीवास्तवजी लोगों को आकर्षित कर सके। चार-पाँच वर्ष आन्ध्र में कार्यकर श्रीवास्तवजी अपने प्रान्त लौट गए।

पंडित अवधनन्दनजी बिहार-निवासी हैं। साहित्य सम्मेलन ने १९२१ में इनको हिन्दी प्रचार कार्यार्थ आन्ध्र प्रान्त भेजा। इन्होंने बरहमपूर (पूर्वान्ध्र प्रान्त में सम्मिलित) हिन्दी प्रचार केन्द्र की स्थापना कर प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। कुछ दिन तक ऋषिवाली (मदनपल्ली) में हिन्दी प्रचार का कार्य कर केन्द्रीय हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास को अपनी सेवाएँ समर्पित कीं। इनका आन्ध्र में सेवाकाल कम ही रहा, फिर भी सच्ची लगन तथा सेवाभाव के कारण आन्ध्र प्रदेश इनका ऋणी है।

भालचन्द्र आप्टे, महाराष्ट्र में जन्म लेने पर भी इन्होंने अपने जीवन का अधिक काल आन्ध्र को समर्पित किया है आन्ध्र हिन्दी प्रचार सभा के ये संयुक्त मंत्री रहे। आजकल दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के दिल्ली केन्द्र में कार्य कर रहे हैं। हिन्दी, मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी के साथ तेलुगु, तमिल, कन्नड, मलयालम भाषाओं को बोल सकने के कारण आप यहाँ के लोगों में घुल-मिल गए हैं। प्रचारक विद्यालयों को चलाने में आप अत्यन्त कुशल हैं। इनके शिष्य आज सारे दक्षिणापथ में हजारों की संख्या में पाये जाते हैं। मुझे हिन्दी प्रचारिका बनाने का श्रेय श्री आप्टेजी को ही है। अल्लूरि सत्यनारायण राजू, भूत-पूर्व आन्ध्र मंत्री, तथा आज के अन्य कई प्रमुख राजनैतिक तथा सामाजिक कार्यकर्ता कभी इनके शिष्य थे। नमक सत्याग्रह में ये नज़रबन्द किये गए तो जेल में इन्होंने आन्ध्र-केसरी प्रकाशम् पन्तुलु आदि कई देशभक्तों तथा नेताओं को हिन्दी सिखाई। कोई भी कार्य हाथ में लेकर उसके पूरा न होने तक दम न लेनेवाला व्यक्तित्व है इनका। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रमुख स्तम्भों में से आप एक हैं। आप तेलुगु इतनी अच्छी बोलते हैं कि तेलुगु-भाषियों को भ्रम होने लगता है कि कहीं आप तेलुगु-भाषी तो नहीं हैं!

१९३६ में विजयवाड़ा में, केन्द्रीय सभा ने आन्ध्र की शाखा की स्थापना की। इसके बाद आन्ध्र के हिन्दी प्रचार-क्षेत्र में नूतन अध्याय का आरम्भ हुआ। स्वर्गीय देशभक्त **कोंडा वेंकटप्पय्या** इस संस्था के अध्यक्ष हुए और **पीसपाटि वेंकटसुब्बाराव** मंत्री बने। आन्ध्र सभा के अध्यक्ष रहकर श्री वेंकटप्पय्या ने हिन्दी की जो सेवा की वह प्रशंसनीय है। १९२३ में काकिनाडा कांग्रेस के अवसर पर आपने हिन्दी में ज़ोरदार भाषण देकर लोगों को मुग्ध कर उनमें हिन्दी सीखने का उत्साह भर दिया। इनके स्वर्गस्थ होने के बाद १९४४ से १९५४ तक आन्ध्रकेसरी स्वर्गीय **टंगुटूरि प्रकाशम् पन्तुलु** अध्यक्ष रहे। उनके बाद १९५४ से भूतपूर्व केन्द्रीय सूचना व प्रसार मंत्री **वेजवाडा गोपाल रेड्डी** आन्ध्र प्रदेश हिन्दी प्रचार सभा के अध्यक्ष हैं। आप हिन्दी के प्रति विशेष अभिरुचि और आदर रखते हैं। आप ही के प्रयत्न के कारण केन्द्रीय सरकार की ओर से इस संस्था को ३ लाख २७ हज़ार रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ है।

हिन्दी प्रचार-कार्य के इतिहास में **श्री मोटूरि सत्यनारायण** का स्थान विशेष महत्त्व रखता है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की अभिवृद्धि के लिए किये गए अपने प्रयत्नों के परिणामस्वरूप आपने बापूजी, स्वर्गीय राजेन्द्र बाबू तथा अन्य लोगों का आदर प्राप्त किया। आपने हिन्दी प्रचार-कार्य की नींव मजबूत ही नहीं की अपितु उसे राष्ट्रीय स्वरूप देने में अविरल और अथक

परिश्रम किया। श्री सत्यनारायणजी की बहुमुखी प्रतिभा व प्रज्ञा तथा अद्वितीय कार्य-कुशलता के कारण उधर मद्रास की केन्द्रीय सभा तथा इधर प्रान्तीय सभा दोनों ने ही सर्वांगीण उन्नति की और आज अगर ये संस्थाएँ इतनी लोकप्रियता पा सकी हैं तो इसका समस्त श्रेय आप ही को है। हिन्दी प्रचार के क्षेत्र में ही नहीं सत्यनारायणजी आज प्रमुख साहित्यिकों एवं राजनैतिक कार्यकर्ताओं में गिने जाते हैं। इधर हाल ही में आपकी सेवाओं के फलस्वरूप आपको पद्मभूषण की उपाधि से विभूषित किया गया है।

श्री पीसपाटि के बाद **उन्नव राजगोपाल कृष्णय्या** हिन्दी प्रचार सभा, आन्ध्र के मंत्री नियुक्त हुए। १९३१ में आपने हिन्दी प्रचार-कार्य को आदर्श मानकर आन्ध्र देश के कई केन्द्रों में प्रचार कार्य किया और हिन्दी अध्यापक भी रहे।

श्री वेमूरि आंजनेय शर्मा १९३५ से हिन्दी प्रचार-कार्य में आये और आन्ध्र हिन्दी सभा के कार्यकर्ता, प्रधानाध्यापक, परीक्षा व्यवस्थापक व हैदराबाद हिन्दी शाखा के मंत्री एवं दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, आंन्ध्र प्रदेश के मंत्री के पदों पर कार्य करते हुए आन्ध्र में हिन्दी प्रचार के लिए अत्यधिक कार्य किया। आन्ध्र राष्ट्र हिन्दी प्रचार सभा की ओर से हैदराबाद हिन्दी प्रचार शाखा को चलाने के लिए आप अकेले ही हैदराबाद आए और अनेक कठिनाइयों का सामान करते हुए भी अपनी अपूर्व कार्य-कुशलता, व्यक्तित्व तथा सूझ-बूझ के कारण शीघ्र ही इस संस्था को हैदराबाद की अन्य प्रमुख संस्थाओं की श्रेणी में ला खड़ा किया। फिलहाल आप 'केरल भारती' नामक हिन्दी पत्रिका के सम्पादक बनकर केरल में हिन्दी प्रचार-कार्य कर रहे हैं। आन्ध्र में हिन्दी प्रचार-कार्य के प्रमुख कार्यकर्ताओं में **श्री डा० श्रीनिवास अभ्यंगार श्री शीर्ल वह्मय्या, श्री चि० लक्ष्मीनारायण शर्मा** आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

आज आन्ध्र में हिन्दी प्रचार-कार्य तथा तत्सम्बन्धी संस्थाओं का कार्य केवल परीक्षा चलाने, हिन्दी सिखाने तथा अध्यापकों को तैयार करने तक ही सीमित नहीं प्रत्युत यह हिन्दी भाषा द्वारा भावात्मक एकता के कार्य को भी सम्पन्न कर रहा है। उसके लिए हिन्दी-प्रेमी-मंडलियाँ स्थापित कर, प्रचारक सम्मेलन कर, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गोष्ठियाँ आयोजित कर तथा पत्र-पत्रिकाएँ निकालकर आन्ध्र-भाषी व्यक्तियों को हिन्दी-भाषा में आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रेरित किया जा रहा है। हिन्दी से तेलुगु और तेलुगु से हिन्दी में भाषान्तर के कार्य को भी काफी बड़े पैमाने पर किया जा रहा है।

नाटकों का योग

आन्ध्र में हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन आन्ध्र के हिन्दी प्रचार-कार्य में विशेष महत्व रखता है। आन्ध्र के अनेक नगरों में हिन्दी नाटकों के प्रदर्शनों ने हिन्दी भाषा के प्रचार व प्रसार की दिशा में विशेष प्रभाव डाला है और इस प्रकार जनता में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न किया है। प्रायः सभी हिन्दी-प्रेमी-मंडलियों के द्वारा नाटकों के प्रदर्शन किये जाते हैं।

विद्यार्थी और प्रचारक

आन्ध्र राष्ट्र हिन्दी प्रचार सभा ने अब तक तीन लाख पचास हजार हिन्दी विद्यार्थियों और दो हजार पाँच सौ हिन्दी प्रचारकों को तैयार किया है। अभी हाल ही में इसने अपनी रजत जयन्ती मनाई है।

तेलंगाणे में हिन्दी प्रचार

हम आरम्भ में कह आये हैं कि तेलंगाणा में बहुसंख्यक तेलुगु-भाषियों के साथ उर्दू-भाषी मुसलमान, अल्पसंख्यक मराठी कन्नड व हिन्दी-भाषा भी हैं और इस क्षेत्र पर बहुत अरसे तक निजामशाही रही है। इस क्षेत्र में हिन्दी प्रचार व प्रसार शासकों की उस शिक्षा-नीति का परिणाम था जिसके कारण अल्पभाषी असन्तुष्ट थे। हैदराबाद राज्य में हाईस्कूल में अंग्रेजी, उर्दू, मराठी आदि पढ़ाने की व्यवस्था थी, लेकिन हिन्दी की पढ़ाई का कोई प्रबन्ध नहीं था। **श्री विश्वेश्वरनाथ गुप्त** नामक नवयुवक की मातृभाषा हिन्दी पढ़ने की इच्छा थी, लेकिन उनकी इच्छा के विपरीत प्रधानाध्यापक न उन्हें संस्कृत लेने पर विवश किया। इस परिस्थिति का इस नवयुवक के हृदय पर तीव्र प्रभाव पड़ा और वह सोच में पड़ गया कि सरकारी प्रबन्ध न होते हुए हिन्दी-भाषी विद्यार्थी हिन्दी कैसे पढ़ें। उधर

मद्रास में हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना और हिन्दी प्रचार-कार्य की वृद्धि हैदराबाद के युवकों को आकर्षित करने लगी। फलस्वरूप विश्वेश्वरनाथ गुप्त और उनके साथियों ने मद्रास से पत्र-व्यवहार कर हैदराबाद में परीक्षा केन्द्र की स्थापना की और प्रथम सत्र में २० विद्यार्थियों ने परीक्षा दी। दूसरे सत्र तक हैदराबाद की पुलिस ने इन हिन्दी-प्रेमियों के हर कार्य पर कड़ी नजर रखना शुरू कर दिया और कहा गया कि ये निज़ाम के शासन के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। शासन की ओर से बाधाएँ डाली जाने लगी। विद्यार्थियों और हिन्दी-प्रेमियों को पुलिस थाने में बुलाकर धमकाया जाने लगा।

इसी समय **श्री रामगोपाल संघी** नामक एक सज्जन ने विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ सुनकर उन्हें यह सलाह दी कि वे एक संस्था के रूप में संगठित हो जाएँ और इस संस्था में नगर के प्रतिष्ठित नागरिकों को भी ले लिया जाए। तदनुसार १९३५ में नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक बैठक बुलाकर इस संस्था के उद्देश्य बनाये गए और संस्था की स्थापना हुई। आरम्भ में इस संस्था के संस्थापकों ने तेलंगाणे में बसे हिन्दी-भाषियों को हिन्दी पढ़ाने तक ही अपने उद्देश्य को सीमित रखा जोकि उत्तर-प्रदेश से आकर बस गए थे। लेकिन धीरे-धीरे हिन्दी के संगठन में सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त होता गया। हैदराबाद के बहुत-से प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने सदस्य बनकर तथा अन्य प्रकार से सभा को सहयोग दिया जिनमें **श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त** का काम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री रामगोपाल संघी संयुक्त मंत्री बनाये गए और श्री विश्वेश्वरनाथ गुप्त परीक्षा कार्य संभालने लगे। प्रचार-कार्य हरिलाल वाघ्रे करते थे। इस अवधि में परीक्षा चलाने के साथ-साथ, कार्यकर्ताओं ने जनता के सामने सभा का उद्देश्य रखकर जनमत को तैयार किया। साल बीतते-बीतते इस संस्था ने अच्छी ख्याति पा ली और साथ-ही-साथ जनता का सहयोग भी। वर्गों और परीक्षार्थियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लोग घर-घर जाते और केवल पढ़ाते ही नहीं प्रत्युत हिन्दी पढ़ाने के लिए प्रेरित भी करते थे।

आरम्भ में महिलाओं ने इसमें अधिक रुचि दिखाई। परन्तु धीरे-धीरे पुरुषों की संख्या में भी वृद्धि होने लगी। सभा ने केवल हिन्दी पढ़ाना ही नहीं प्रत्युत यह कोशिश भी की कि हैदराबाद में हिन्दी के अच्छे लेखक व कवि उत्पन्न हों और सुयोग्य अध्यापक व अध्यापिकाएँ तैयार हों। इसके लिए साहित्य समारोह, साहित्य अनुशीलन सभाएँ आदि आयोजित होने लगीं और साथ-साथ सांस्कृतिक कार्यक्रम भी रखे जाने लगे। संस्था के अन्तर्गत एक साहित्य विभाग खोलकर उसका संयोजक **श्री गयाप्रसाद शास्त्री** को बनाया गया और हिन्दी-भाषी प्रतिष्ठित विद्वानों व लेखकों को उनकी प्रतिभा का विकास करने का अवसर मिला।

सभा इस दिशा में बराबर प्रयत्न कर रही थी कि हाईस्कूल तक हिन्दी-भाषी बालक को अपनी मातृभाषा के माध्यम से पढ़ने की सुविधा मिले; लेकिन निजामशाही सरकार इसके लिए बिलकुल तैयार नहीं थी। सभा ने इसके लिए अपना शिक्षा-विभाग खोला और हिन्दी शिक्षण-मंडल की स्थापना कर, प्राइमरी कक्षाओं के लिए पाठ्य पुस्तकें और नियमावली बनाकर राज्य के शिक्षा-सचिव से अनुरोध किया कि कम-से-कम हिन्दी माध्यम द्वारा संचालित हाईस्कूल स्थापित करने की अनुमति दी जाए। हैदराबाद हिन्दी प्रचार सभा के शिक्षा-विभाग तथा आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने मिलकर इस दिशा में आन्दोलन किया जिसके परिणामस्वरूप हाईस्कूल ही नहीं विश्वविद्यालय तक के विद्यार्थियों को हिन्दी माध्यम से परीक्षा देने का अधिकार प्राप्त हुआ।

आज यह संस्था अपनी अलग परीक्षाएँ चलाती है तथा कई हिन्दी स्कूलों का संचालन करती है। यह पूरे तेलंगाणे में हिन्दी प्रचार-कार्य कर रही है। इस प्रकार आन्ध्र-प्रदेश की हिन्दी सेवा का इतिहास अत्यन्त उज्ज्वल तथा प्रशंसनीय है।

● ●

१. 'कल्पना'	मासिक
२. 'अर्चना'	वार्षिक
३. 'हिन्दी मिलाप'	साप्ताहिक
४. 'आन्ध्र प्रदेश'	मासिक
५. 'ज्योति'	मासिक
६. 'स्रवन्ती'	मासिक
७. 'अजन्ता'	मासिक
८. 'आरसी'	मासिक

इन पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्रत्येक विश्वविद्यालय के वार्षिक जनरलों में भी हिन्दी के शोधपरक लेख प्रकाशित होते हैं। ये सभी पत्रिकाएँ मुख्यतः साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समृद्ध स्तर की हैं।

प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ

राज्य एवं केन्द्रीय सरकारों ने भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। हिन्दी पढ़नेवाले योग्य छात्रों को अधिकाधिक छात्रवृत्तियाँ दोनों ही सरकारों द्वारा दी जाती हैं। ये छात्रवृत्तियाँ बी० ए०, एम० ए० और रिसर्च स्तर पर ही नहीं हैं अपितु छोटी-से-छोटी कक्षा के प्रतिभावान् छात्रों के लिए भी हैं। इन छात्रवृत्तियों के कारण यहाँ योग्य एवं पर्याप्त छात्र प्राप्त करने में सुविधा होती है।

साहित्यिक आदान-प्रदान

किसी भाषा के साहित्य (समृद्ध) द्वारा ही हम उसे कहीं जमा सकते हैं। यहाँ भी हिन्दी की अनेक कृतियाँ अनूदित होकर आ गई हैं। प्रेमचन्द एवं शरत की समस्त कृतियों का, प्रसाद की 'कामायनी' का, शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' का, यशपाल के प्रसिद्ध उपन्यास 'दिव्या' का तथा भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' का तेलुगु भाषा में अनुवाद हो चुका है।

इधर तेलुगु और हिन्दी-साहित्य का शोध-स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन भी चल रहा है।

'नारायणराव' नामक प्रसिद्ध पुस्तक का तेलुगु से हिन्दी में अनुवाद हो चुका है।

तिरुपति विश्वविद्यालय में हिन्दी शोध-विभाग के अन्तर्गत हिन्दी और तेलुगु व्याकरण का व्यापक अध्ययन भी हो रहा है, जो शीघ्र ही एक विशालकाय ग्रन्थ का रूप धारण करेगा।

शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएँ

प्रदेश को हिन्दी के सुयोग्य शिक्षक मिल सकें, इसके लिए यहाँ के कई नगरों में शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाएँ भी चल रही हैं। इन संस्थाओं द्वारा हाईस्कूल-स्तर के छात्रों के लिए हिन्दी के योग्य अध्यापक मिल जाते हैं।

इन बहुमुखी प्रयत्नों के अतिरिक्त यहाँ की हिन्दुस्तानी बोलनेवाली मुसलमान जनता, व्यापारी-वर्ग, यात्री-वर्ग, शिक्षित-वर्ग, होटल-चालक, राजकीय कार्यालय एवं हिन्दी के चलचित्रों और गीतों के द्वारा भी हिन्दी जनता के अधिकाधिक निकट आ रही है। यही इस प्रदेश की हिन्दी-सेवा का लघु किन्तु आशाप्रद एवं महत्त्वपूर्ण इतिवृत्त है।
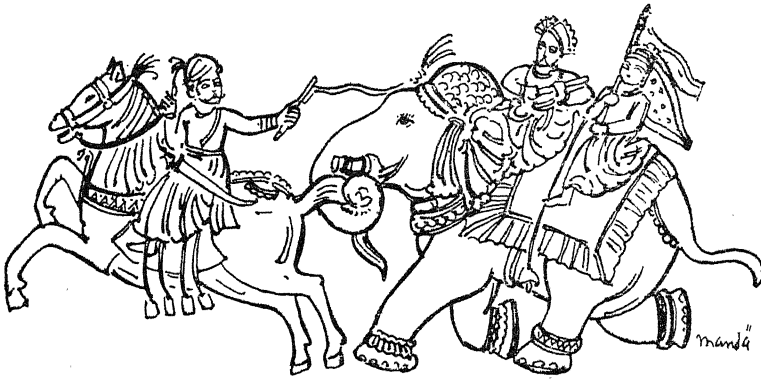
भास्कर गणेश जोगलेकर

बम्बई में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार

श्री भास्कर गणेश जोगलेकर उन गिने-चुने सेवा-भावी व्यक्तियों में हैं जो एक महत् आदर्श के लिए अपने जीवन को उत्सर्गित किये रहते हैं। जोगलेकरजी ने अपने जीवन, जीवन की आकांक्षाएँ और चरम सुख, सभी कुछ को हिन्दी के प्रसार, प्रचार और संवर्द्धन पर उत्सर्ग कर दिया है। बम्बई नगरी के सर्वप्रथम हिन्दी-प्रचारकों में इनका नाम सम्मान के साथ लिया जाता रहेगा। १९३० से अब तक हिन्दी के कितने ही वर्ग चलाये और अनगिनत छात्र-छात्राओं को हिन्दी भाषा और साहित्य की शिक्षा दी। बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के आद्य-संस्थापकों में जोगलेकरजी भी हैं। मराठी माध्यम से हिन्दी सिखाने के लिए इन्होंने कई पुस्तकें और सुबोधिनियाँ लिखीं। इन दिनों बम्बई में ही रहते हैं और हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन के प्रमुख स्तम्भों में हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना की भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति का इतिहास। वैसे ही क्या भारत में और क्या बम्बई नगरी में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के बीज बोने का श्रेय जितना आर्यसमाज, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि, नागरी लिपि युक्त हिन्दी भाषा को देश-भर में फैलानेवाली अन्यान्य संस्थाओं को दिया जा सकता है, उतना ही वह भारत की राष्ट्रीय महासभा को भी दिया जाना उचित है।

राष्ट्रीय महासभा का ध्येय शुरू-शुरू में तो भारत में चलाये जानेवाले अंग्रेजी शासन के दोष हटाकर उसे सुशासन बनाना ही था। लेकिन देश में जैसे-जैसे जागृति निर्माण होकर अपनी परावलम्बिता के सम्बन्ध में तिरस्कार उत्पन्न होने लगा, वैसे-वैसे यह ध्येय बदलने लगा और भारत में जन-जागरण-निर्माण करनेवाले नेताओं के हृदय से यदा कदा 'सुराज्य' के स्थान पर 'स्वराज्य' की ध्वनियाँ प्रस्फुटित होने लगीं।

भारत की राष्ट्रीय महासभा के मंच से सर्वप्रथम स्वाधीनता का नारा बुलन्द हुआ स्व० राष्ट्र पितामह दादाभाई नौरोजी के मुख से महासभा के सन् १९०५ के कलकत्ता अधिवेशन में। और एक बार जब राष्ट्रीय महासभा का ध्येय 'स्वराज्य की प्राप्ति' कायम हुआ, तब उसे प्राप्त करने के उपाय भी ढूंढ़े जाने लगे। हिंसापूर्ण अवैधानिक मार्ग अपनाना न तो राष्ट्र की उस समय की परिस्थिति में उचित था, न वह राष्ट्र के उन्नायकों को पसन्द ही था। फलतः उनकी नजर वैध, शान्तिपूर्ण किन्तु सद्यः फलदायी मार्गों की खोज की ओर झुकी। यह फलदायी और सबसे अधिक परिणामकारक मार्ग था, स्वदेशी का अंगीकार और विदेशी का बहिष्कार! इसी स्वदेशी एवं बहिष्कार की नीति ने 'राष्ट्रोद्धार की चतुःसूत्री' को जन्म दिया, जिसमें विदेशी मालों का बहिष्कार, जातीय एकता, राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी वस्तुओं के अपनाये जाने आदि का अन्तर्भाव होता था। इसी चतुःसूत्री के राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धान्त में 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' ने स्थान पाया।

भारतवासी जब भी अपने एक राष्ट्र होने का दावा पेश करते, उन्हें विदेशियों के सम्मुख दो बातों के सम्बन्ध में शर्म से सिर झुकाना पड़ता था। एक तो यह कि यदि भारत एक देश या राष्ट्र है, तो उसका प्रतीकस्वरूप झंडा कौन-सा है? और दूसरे उसकी अपनी सर्व-साधारण जनता की भाषा कौन-सी है? इन्हीं दो प्रश्नों के फलस्वरूप राष्ट्रीय प्रतीक-रूप अशोक चक्र चिह्नांकित तिरंगे झंडे का

और राष्ट्रभाषा हिन्दी का उदय हुआ। राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान अब धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा हिन्दी के उद्धार की ओर जाने लगा। आर्यसमाज के संस्थापक श्री मद्‌यानन्द सरस्वती ने तो अपने सम्प्रदाय के प्रसारार्थ हिन्दी ही का माध्यम अपनाया और वह सर्वत्र लोकप्रिय भी हो रहा था। अब तो हिन्दी का प्रचार करने के लिए विभिन्न संस्थाएँ भी कायम हुईं। सन् १९०७ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा कायम हुई, सन् १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जन्म हुआ और सन् १९१५ में सम्मेलन ने अपनी एक परीक्षा-प्रणाली भी शुरू की।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-विकास

सन् १९१५ के पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रधान लक्ष्य भाषा तथा साहित्य का विकास, उसका संस्कार, अनुसन्धान-कार्य एवं साहित्यिक ग्रन्थों के प्रकाशन तक ही सीमित रहा और उसका कार्यक्षेत्र भी युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल तक ही सीमित था। किन्तु इसके बाद सम्मेलन की दृष्टि मध्यप्रदेश और मध्यभारत की ओर भी झुकी। लगभग इसी समय उसे प्रसिद्ध देशभक्त हिन्दी-प्रेमी बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन का सहयोग प्राप्त हुआ और सम्मेलन उन्नति करने लगा।

सन् १९१६ में महात्मा गांधी, जो अब तक दक्षिण अफ्रीका में चलाये गए सत्याग्रह के आन्दोलन के कारण बहुत ख्याति प्राप्त कर चुके थे, हमेशा के लिए भारत लौट आए। गांधीजी शुरू से ही स्वदेशी, 'स्वभाषा और राष्ट्रभाषा के प्रबल समर्थक थे। अतः सन् १९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर के अष्टम अधिवेशन का सभापतित्व उनको सौंपा गया। इस अधिवेशन ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जीवन में एक नया अध्याय शुरू किया। सम्मेलन की व्यापकता का विस्तार करने के लिए जो नये-नये मार्ग इस अधिवेशन में खोजे जाने लगे, उसमें दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार करने-सम्बन्धी निर्णय से एक तरह से सम्मेलन को काफी बल प्राप्त हुआ। कई उत्साही नवयुवकों के उत्साह और लगन के कारण इस कार्य में आशातीत सफलता देखते-देखते प्राप्त हुई। सन १९१५ में सम्मेलन की परीक्षाओं में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या जहाँ केवल २०, और परीक्षा-केन्द्र जहाँ केवल ८ थे वहाँ सन् १९३७ तक परीक्षार्थियों की संख्या लगभग ३२०० और केन्द्र-संख्या ५३५ तक पहुँच गई।

इन दिनों दक्षिण भारत में चलाई जानेवाली प्रचार परीक्षाओं को छोड़ जिन परीक्षाओं का आयोजन किया जाता था उनके नाम इस प्रकार थे : १—साहित्य प्रथमा, २—साहित्य मध्यमा, ३—साहित्य उत्तमा, ४—सम्पादन कला प्रवेशिका, ५—वैद्य विशारद, ६—कृषि विशारद, ७—मुनीमी, ८—अरायज़नवीसी। इन परीक्षाओं के साथ परीक्षा-केन्द्रों का विस्तार होता गया। अन्यान्य स्थानों पर सम्मेलन की शाखाएँ भी परीक्षा समेत सभी कार्यों को बढ़ावा देने के लिए खोली गईं। सम्मेलन के साथ-साथ हिन्दी भाषा एवं नागरी लिपि के प्रसारार्थ नागरी प्रचारिणी सभा की शाखाएँ भी उत्तर-भारत के संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार आदि सभी प्रान्तों में और उनके प्रमुख शहरों में स्थापित हुईं; किन्तु परीक्षाएँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ही जारी रहीं।

साहित्य सम्मेलन की स्थापना से लेकर सन् १९३६ तक सम्मेलन के पच्चीस अधिवेशन हुए, जिनमें पं० मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, बाबू श्यामसुन्दर दास, महात्मा गांधी, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, डा० भगवानदास, पं० माधवराव सप्रे, डा० गौरीचन्द हीराचन्द ओझा, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० किशोरीलाल गोस्वामी, स्व० बड़ौदा नरेश सर सयाजीराव गायकवाड तथा भूतपूर्व राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद सभापति रह चुके हैं। इन्हीं अधिवेशनों की मालिका में एक अधिवेशन सन् १९१९ में बम्बई में भी स्व० महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में हुआ था। बम्बई नगरी को राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार की प्रथम प्रेरणा इसी अधिवेशन से मिली। पर राष्ट्रभाषा-प्रचार के कार्य का सूत्रपात कुछ देर बाद ही हो सका।

बम्बई नगर में राष्ट्रभाषा हिन्दी का शुभारम्भ

सन् १९२० के राष्ट्रीय महासभा के नागपुर अधि-वेशन के बाद महासभा के सूत्र महात्मा गांधीजी के हाथों में आए। असहकारिता आन्दोलन और रचनात्मक कार्य-

क्रमों के द्वारा उन्होंने क्या बूढ़ों और क्या बच्चों सब में नया जोश भर दिया। विभिन्न भाषाओं के आधार पर लगभग २१ प्रान्तों में देश को विभाजित कर उनमें इन कार्यों को चलाने के लिए प्रान्तीय, जिला तथा तहसील महासभा समितियाँ ही नहीं, बल्कि ग्राम समितियाँ भी बनीं। बम्बई तथा उपनगर को भी एक प्रान्त का दर्जा दिया गया। रचनात्मक कार्यक्रमों में चर्खा, खादी, राष्ट्रीय शिक्षा, जातीय एकता आदि कार्यों के साथ-साथ हिन्दी भाषा की पढ़ाई का भी अन्तर्भाव हुआ।

स्थानीय विट्ठलभाई पटेल रोड (पुराना गिरगाँव बेक रोड) स्थित महासभा (कांग्रेस) भवन के अहाते की कीर्ति बिल्डिंग में हिन्दी पढ़ाई के लिए महासभा की ओर से एक वर्ग अप्रैल सन् १९२१ में खोला गया जिसके प्रथम विद्यार्थी थे स्व० श्री विट्ठलभाई पटेल के भतीजे श्री ईश्वरभाई पटेल। अलबत्ता यह वर्ग किसी भी परीक्षा-प्रणाली को चलाने के हेतु शुरू नहीं किया गया था। उसका आरम्भ केवल इसी उद्देश्य से किया गया था कि अहिन्दी-भाषी गुजराती या महाराष्ट्रीय छात्रों को यह विश्वास हो कि वे इच्छा रहते बोलचाल की हिन्दी भाषा को आसानी से अपना सकते हैं। इस वर्ग की पढ़ाई का कार्यभार उस समय के महासभा के एक उत्साही नवयुवक श्री कृष्णलाल वर्मा ने सँभाला। आगे चलकर इसी उद्देश्य को लेकर सर्व-साधारण के लाभार्थ श्री वर्माजी ने श्री शिवमूर्ति उपाध्याय की सहायता से स्थानीय डालमिया मिल के अहाते में एक वर्ग खोला। इन वर्गों के कारण पढ़ने-पढ़ानेवालों के दिलों में हिन्दी-सम्बन्धी रुचि, आत्मविश्वास और उत्साह की वृद्धि हुई।

नगर निगम की पाठशालाओं में हिन्दी का प्रवेश

सन् १९२४ की जनवरी का महीना था। बम्बई के नगर-निगम के सूत्र बम्बई महासभा समिति के हाथों में थे। स्व० विट्ठलभाई पटेल नगर निगम के सभापति थे। इस अनुकूल वातावरण में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि बम्बई नगर निगम के नेतृत्व में चलाई जानेवाली प्राथमिक पाठशालाओं में प्रायोगिक तौर पर हिन्दी भाषा की पढ़ाई शुरू कर दी जाए। प्रयोग की अवधि एक वर्ष की रखी गई। मुख्य समस्या थी, बम्बई की मिश्रित भाषा-भाषी पाठशालाओं के लिए मराठी, गुजराती, हिन्दी एवं अंग्रेज़ी इन चारों भाषाओं का सम्यक् ज्ञान रखनेवाले अध्यापक पाने की। इसके लिए अर्जियाँ मँगवाई गईं। श्री ईश्वरभाई पटेल की प्रेरणा से श्री कृष्णलाल वर्मा ने भी अर्ज़ी भेजी। उन दिनों नगर निगम की पाठशाला समिति (म्युनिसिपल स्कूल्स कमेटी) के मन्त्री थे श्री डी० जी० पाध्ये। उनकी विशेष सिफारिश के कारण महासभा समिति के कुछ प्रमुख कार्यकर्ताओं द्वारा विरोध किये जाने पर भी श्री वर्मा की अर्ज़ी मंज़ूर हुई और फरवरी १९२४ से नगर निगम की पाठशालाओं में हिन्दी ने प्रवेश पाया और लगभग ८-१० पाठशालाओं में पढ़ाई शुरू हुई।

इस तरह पाठशालाओं में हिन्दी दाखिल तो हुई, किन्तु अब ऐसा आयोजन करना भी आवश्यक था कि विद्यार्थियों और पाठशालाओं में हिन्दी अध्ययन-अध्यापन में रुचि बढ़े। अतः जिन पाठशालाओं में अधिक-से-अधिक विद्यार्थी पढ़ते हों उन्हें तथा हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों में जो अधिक-से-अधिक अंक प्राप्त करें उन्हें विजय-चिह्न के रूप में ढाल, तमगे आदि पुरस्कार एवं मिठाई बाँटने का एक आयोजन प्रतिस्पर्धाओं के रूप में किया गया। इस आयोजन के लिए आवश्यक आर्थिक भार स्थानीय मारवाड़ी सम्मेलन ने उठाया। प्रथम वर्ष की प्रतिस्पर्धा में विजय-चिह्न (ढाल) लेमिंग्टन रोड कन्या-शाला को मिला। इस स्पर्धा-परीक्षा से म्युनिसिपल पाठ-शालाओं में हिन्दी की जड़ें मजबूत होती गईं। आगे भी सन् १९२५,२६ और २७ में प्रतियोगिता परीक्षाएँ हुईं, जिनमें चार-पाँच सौ तक छात्र-छात्राएँ सम्मिलित होने लगीं और अब हिन्दी की पढ़ाई प्रायोगिक न रहकर स्थायी हो गई।

किन्तु इससे अब नया सवाल उठ खड़ा हुआ। अब तक केवल श्री कृष्णलाल वर्मा ही हिन्दी अध्यापन का कार्य करते थे और कार्य का क्षेत्र भी सीमित था। परन्तु अब तो कुलाबा से कुर्ला की खाड़ी तक की सीमा में फैली हुई सारी प्राथमिक पाठशालाओं में हिन्दी पढ़ाना था। इतने विशाल और व्यापक क्षेत्र के लिए आवश्यक हिन्दी शिक्षक आएँ, तो कहाँ से? आखिर अकेला चना तो भाड़ फोड़

नहीं सकता। अतः नगर निगम के अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं को शाम की छुट्टी के बाद हिन्दी पढ़ाने की योजना तथा उनके अनुकूल आसान पाठ्यक्रम भी बनाया गया। इन वर्गों में पढ़कर हिन्दी अध्यापन का कार्य सँभालने की शर्त को स्वीकार करनेवाले अध्यापकों को वेतन-वृद्धि का आश्वासन भी मिला। इन वर्गों में पढ़ाने के लिए श्री वर्माजी ने वाचन पाठमाला की दो पुस्तकें तथा वाक्य-रचना का अभ्यास कराने के लिए एक पुस्तक लिखी। कुछ स्वलिखित नाट्य संवाद तथा कुछ हिन्दी के विख्यात नाटकों के यथावत अंश एवं कुछ अंशों के रूपान्तर करके उसकी एक पुस्तक प्रकाशित कराई, जिसका पाठशाला के वार्षिक पुरस्कार वितरणोत्सवों में अच्छा उपयोग होने लगा। इन सारे प्रयत्नों का सफल होना स्वाभाविक ही था। इन प्रयत्नों के कारण नगर निगम के पास हिन्दी पढ़ाने की अच्छी योग्यता प्राप्त अध्यापक-अध्यापिकाओं का एक सुसंगठित दल निर्मित हुआ जिसके बलबूते पर नगर निगम की पाठशालाओं में अब तक हिन्दी पढ़ाई का कार्य अखंडित रूप से चल रहा है। उसका दायरा अलबत्ता प्राथमिक पाठशालाओं तक ही सीमित रहा।

हिन्दी प्रचार वर्गों का सूत्रपात

सन् १९३० के नमक सत्याग्रह आन्दोलन के समय बम्बई में जन-जागरण का ज्वार जोरों से लहराने लगा। लोग रास्ते चलते हाथों में तकली सँभाले, सूत कातते नजर आने लगे। सवेरे प्रभात फेरियाँ निकलने लगीं। सत्याग्रहियों के दल आये दिन नमक सत्याग्रह के लिए अपने मोर्चों पर जाने लगे। जहाँ-तहाँ हर मुहल्ले में ध्वजवन्दन के कार्यक्रम आयोजित होने लगे। घर-घर, गली-गली हिन्दुस्तानी सेवादल के स्वयंसेवक अपनी खाकी वर्दी पहने किसी-न-किसी पूर्व-नियोजित कार्यक्रम के आयोजन में मग्न-से दीख पड़ने लगे। गली-गली में जुलूस, लाठी-हमले, पुलिस द्वारा सत्याग्रहियों की धर-पकड़ के दृश्य दिखाई देने लगे। सारी नगरी नवजीवन के जोश से जैसे उत्फुल्ल हो उठी। अखबारों में दिल को फड़कानेवाले ही नहीं, धड़कानेवाले समाचार भी लोग दिलचस्पी से पढ़ते हुए नज़र आते थे। आये दिन चौपाटी या आज़ाद मैदान पर विराट सभाएँ होतीं।

इस जन-जागरण का हिन्दी प्रसार के कार्य पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। चौपाटी तथा आज़ाद मैदान की सभाओं में पं० मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, अबुल-कलाम आज़ाद, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू आदि के भाषण प्रायः हिन्दी ही में हुआ करते और उनको सम्पूर्ण रूप से समझने में लोगों को प्रायः कठिनाई महसूस होती। बम्बई की बहुभाषी जनता में परस्पर के साथ प्रचलित समस्याओं पर बहस-मुबाहिसे करने की इच्छा भी जागृत हुई और उसका समाधान एक ऐसी भाषा के ज्ञान के बिना हो नहीं सकता था, जिसके सीखने में आसानी हो तथा जिसे आत्मसात करने से विभिन्न भाषा-भाषी जनता के साथ बातचीत की जा सके। हिन्दी की उन्हें शरण लेनी पड़ी और उसे सीखने की इच्छा प्रबल होने लगी। राष्ट्रीय महासभा एवं हिन्दुस्तानी सेवादल के स्वयंसेवकों का सारा कार्य हिन्दी भाषा के माध्यम से ही चलता था। अतः उनके लिए भी इस भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करना ज़रूरी था। फलतः ज्योंही गांधी-इर्विन समझौते के फलस्वरूप सन् १९३० के अन्त में जेल-मुक्ति हुई, हिन्दुस्तानी सेवादल के संस्थापक डॉ० ना० सू० हर्डीकर की प्रेरणा से सेवादल के स्वयंसेवकों के लिए हिन्दी वर्ग चलाने का निर्णय किया गया। पहले-पहल यह वर्ग स्थानीय वल्लभभाई पटेल रोड पर (पुराना नाम सेंडहर्स्ट रोड) सर्वेण्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसायटी के अहाते में स्व० श्री चितलियाजी के कमरे में खोला गया। वर्ग में पढ़ाई के लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का पाठ्यक्रम निर्धारित हुआ। पढ़ाने का कार्य-भार उन दिनों 'स्वाधीन-भारत' नामक हिन्दी पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करनेवाले इस लेख के लेखक को, जो सेवादल का स्वयं-सेवक भी था, सौंपा गया।

हिन्दुस्तानी सेवादल के स्वयंसेवकों का हिन्दी वर्ग स्थापित हुआ, लगभग उसी वक्त या कुछ महीने बाद ६ नवम्बर १९३१ को शहर के बीस प्रतिष्ठित सज्जनों के हस्ताक्षर से एक सभा मारवाड़ी चेम्बर ऑफ़ कामर्स के सभागृह में बुलाई गई और नियमावली आदि बनाकर हिन्दी प्रचार सभा दिसम्बर में स्थापित हुई जिसके अध्यक्ष वेलजी लखमसी नप्पू और वैतनिक मन्त्री श्री रा० शंकरन्

कायम हुए। इस सभा की कक्षाओं में भी दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का ही पाठ्यक्रम चलाया जाने लगा। इसके बाद तुरन्त ही फिर सत्याग्रह आन्दोलन की धरपकड़ की वजह से इस सभा के अनेक संयोजक गिरफ़्तार हुए और सभा के संचालन का आर्थिक भार श्री वेलजी भाई नप्पू को ही वहन करना पड़ा।

इस तरह यद्यपि मेरा तथा श्री शंकरन् का कार्य लगभग एक ही समय शुरू हुआ, तो भी हम दोनों में प्रत्यक्ष सम्पर्क जनवरी सन् १९३२ के पूर्व प्रस्थापित नहीं हो पाया। इस सम्पर्क के बाद ही हम दोनों ने मिलकर कार्य करने का निश्चय किया और यूथ लाज थियोसोफिकल सोसायटी का स्थान गिरगाँव में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का एक केन्द्र घोषित हुआ, जिसमें सन् १९३२ की फरवरी की परीक्षाओं में महाराष्ट्र के विख्यात नाटककार मामा वरेरकर की पुत्री माई वरेरकर (अब श्रीमती माया चिटनिस) सम्मिलित और उत्तीर्ण हुई। इसके बाद सन् १९३३ के मई महीने में हिन्दी प्रचारक सभा के सूत्र श्री गोविन्दलालजी पित्ती के हाथों में हस्तान्तरित हुए। किन्तु यह प्रबन्ध भी एक तरह से अस्थायी ही रहा। प्रचार-कार्य अखण्डित रूप से चलाने के लिए स्थायी प्रबन्ध करने की आवश्यकता थी। इसके लिए सन् १९३४ में अच्छा अवसर उपस्थित हुआ।

उन दिनों हिन्दी के विख्यात साहित्यकार उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द अपने किसी उपन्यास के फिल्मीकरण के हेतु बम्बई में पधारे थे। उन्हीं के हाथों क्रॉनिकल के सम्पादक स्व० अब्दुल ब्रेलवी के हाथों नप्पू हाल के छात्रों को प्रमाण-पत्र वितरित किये गए। संयोग से इसी समय स्व० सेठ जमनालाल बजाज बम्बई आये हुए थे। नेपियन सी रोड के पास बिड़ला भवन में वे टिके हुए थे। इसे सुअवसर समझकर श्री शंकरन के साथ मैं प्रेमचन्दजी से मिलने गया। उस समय उनके साथ जो बातचीत हुई उसके फलस्वरूप सन् १९३५ में बम्बई में हिन्दी प्रचार सभा कायम हुई जिसकी मंत्रिणी स्व० श्रीमती पेरिनबहन कप्तान नियुक्त हुईं। अन्य पदाधिकारी तथा सदस्य इस प्रकार थे : अध्यक्ष—स्व० सेठ जमनालाल बजाज़, उपाध्यक्ष—श्री वेलजीभाई नप्पू, कोषाध्यक्ष—श्री केशवदेवजी नेवटिया, सदस्य—स्व० अवन्तिकाबाई गोखले, श्रीमती सुव्रतादेवी, रामनारायण रूइया आदि। वर्गों में पाठ्यक्रम दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाओं का ही जारी रहा। सभा का कार्यालय पहले-पहल ह्यू जेज़ रोड स्थित मोटर हाउस, उसके बाद क्वीन्स रोड स्थित एडनवाला बिल्डिंग में और तत्पश्चात् चौपाटी-सी फेस पर एडनवाला मेन्शन में रहा।

परीक्षा-प्रणाली और पाठ्यक्रम में नया मोड़

केवल बम्बई ही में नहीं वरन् सारे भारत-भर में इस तरह हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने की अभिरुचि बढ़ रही थी और राष्ट्रीय एकता के लिए भारतीय नेताओं को इसकी अब आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी थी। इसलिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सन् १९३६ के अधिवेशन में यह निर्णय किया गया कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ही की तरह भारत के समस्त अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी प्रचार करने के हेतु एक पृथक राष्ट्रभाषा प्रचार समिति बनाई जाए और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार का क्षेत्र केवल दक्षिण भारत के आन्ध्र, तमिलनाड, केरल और कर्नाटक तक ही सीमित रहे। इस कार्य के लिए एक समिति बाबू राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में बनी, जो नागपुर अधिवेशन के अध्यक्ष थे। समिति का मंत्रीपद दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा से श्री मो० सत्यनारायण को बुलाकर कुछ काल के लिए सौंपा गया और परीक्षा-मंत्री बने श्री हरिहर शर्मा। परीक्षा-प्रणाली तथा संगठनात्मक कार्य करने का भार आचार्य श्री काका साहब कालेलकर को सौंपा गया। कुछ ही महीनों में परीक्षा-प्रणाली कायम हुई और सभी अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में समितियों की स्थापना कर कार्यान्वित करने के लिए भेजा गया।

बम्बई की हिन्दी प्रचार सभा ने अखिल भारतीय स्वरूप के इस नये आयोजन का दिल खोलकर स्वागत किया। सभा की मंत्रिणी श्रीमती पेरिनबहन कप्तान तो नई परीक्षा-प्रणाली की जबर्दस्त समर्थक रहीं। प्रचारक बन्धु-भगिनियों का काफ़ी अच्छा समर्थन प्राप्त हुआ। आगे के चार-पाँच वर्षों में प्रचार-कार्य का विकास इस तरह रहा :

साल	शिक्षा-केन्द्र	प्रचारक	परीक्षा-केन्द्र	परीक्षार्थी
१९३८	२२	५२	७	११४०
१९३९	४०	६५	८	२१०८
१९४०	४२	६८	८	२२४४
१९४१	५५	८२	१०	३३२५
१९४२	५८	८७	१०	१७३९

ऊपर के अंकों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन पाँचों वर्षों में शिक्षा-केन्द्र, प्रचारक, परीक्षा-केन्द्र आदि की संख्या में यद्यपि वृद्धि होती रही, तो भी सन् १९४० तथा १९४२ में परीक्षार्थी संख्या में वृद्धि के स्थान पर कमी ही हुई। सन् १९४२ में विद्यार्थी संख्या घटने का मुख्य कारण सन् '४२ की अगस्त क्रान्ति था, जिसके कारण परीक्षा का एक ही सत्र हो सका। दूसरे कारण हैं, स्थानीय प्रचार-कार्य में उठ खड़ी हुई दो आँधियाँ; जिनमें सन् १९३८-३९ की आँधी ने स्थानीय हिन्दी प्रचार सभा के लिए **बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ** नाम की एक संस्था खड़ी कर दी और सन् १९४२ की आँधी ने तो हिन्दी प्रचार सभा का चोला ही बदल दिया।

इनमें से पहली आँधी का कारण था, एक तो कुछ प्रचारक बन्धुओं में स्वाधीनता के आन्दोलन के फलस्वरूप जागी हुई आत्मप्रतिष्ठा एवं प्रतिनिधित्व पाने की प्रान्तीय स्वायत्तता की भावना और दूसरे नये पाठचक्रम में रहे कुछ दोष। बात यह थी कि नया पाठचक्रम दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षा-प्रणाली के पाठचक्रम की तुलना में सन्तुलित और श्रेणीबद्ध नहीं था। प्रचारकगण समझने लगे कि कुछ साहित्यिकों के कुछ गद्य तथा पद्य-संग्रह बिना विशेष जाँच-पड़ताल किये पाठ्यक्रम में रख दिये गए हैं और उसमें व्याकरण की पढ़ाई की ओर, जो भाषा की शिक्षा का प्रधान अंग है, ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया है। परीक्षा-संचालन के सूत्र भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रयाग कार्यालय के अधीन ही पहले एक-दो वर्षों में रहे, जो एक तरह से उत्तर का दक्षिण पर आक्रमण माना गया। जिस समय यह पाठ्यक्रम बम्बई की हिन्दी प्रचार सभा ने स्वीकार किया उस समय उसे कार्यान्वित करने का भार जिन पर था, उनकी प्रातिनिधिक सम्मति भी प्राप्त नहीं की गई थी। उन दिनों प्रान्तीय स्वायत्तता का भी काफी बोलबाला था और अन्य राजनीतिक क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी प्रान्तीय स्वायत्तता पाने का स्वप्न ये लोग देखते थे।

फलतः इन असन्तुष्ट प्रचारकों ने राष्ट्रभाषा प्रचारक मण्डल नाम की एक संस्था स्थापित कर उसके द्वारा स्थानीय सभा के सम्मुख यह माँग पेश की कि या तो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का व्यवस्थित, सन्तुलित, श्रेणीबद्ध और बम्बई के विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाने में तुलनात्मक दृष्टि से आसान पाठचक्रम यथावत जारी रहे या उसके स्थान पर यहाँ के मराठी, गुजराती, कारवारी, कानड़ी आदि भिन्न भाषा-भाषी लोगों के लिए अनुकूल पाठचक्रम एवं परीक्षा-प्रणाली तैयार की जाए। सभा ने इस माँग का प्रबल विरोध किया। सभा के कुछ अभिभावकों को प्रचारकों की इस माँग में 'ट्रेड यूनियन' की बू आने लगी और सभा की मंत्रिणी, जो अखिल भारतीय स्वरूप के पाठचक्रम की प्रबल समर्थक थीं, उन्होंने प्रचारकों की इस माँग को ठुकरा दिया, जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त प्रतिद्वन्द्वी संस्था खड़ी हुई। इस संस्था के कार्य और गतिविधि का विवरण आगे दिया जाएगा। किन्तु इस घटना का असर राष्ट्रभाषा समिति पर हुए बिना न रहा। उसने परीक्षा का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। पाठचक्रम में उचित परिवर्तन के साथ श्रेणीबद्धता, सन्तुलन आदि करके उसे व्यवस्थित किया गया और बम्बई सभा द्वारा सुझाई गई राष्ट्रभाषा प्रारम्भिक परीक्षा उसमें जोड़ दी गई।

दूसरी आँधी सम्मेलन तथा राष्ट्र के दो आधार-स्तम्भों के बीच हुए मतभेद के कारण उठ खड़ी हुई। इस मतभेद का आधार था हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद, जिसका सीधा असर राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर पड़ता था। महात्मा गांधी, आचार्य काका साहब कालेलकर आदि कुछ व्यक्ति हिन्दुस्तानी के प्रबल समर्थक थे और उनकी राय थी कि विशुद्ध हिन्दी के स्थान पर हिन्दी-उर्दू के मिश्रित हिन्दुस्तानी स्वरूप को ही राष्ट्रभाषा हिन्दी मान लिया जाए और उसके पढ़ाने में देवनागरी के साथ-साथ उर्दू लिपि के अध्ययन को भी अनिवार्य रखा जाए। इसके विरोधी दल में बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन आदि सम्मेलन के कार्यकर्ता थे। ये लोग विशुद्ध

हिन्दी के पक्षपाती थे। हिन्दी में प्रचलित फ़ारसी-अरबी के रूढ़ शब्द कायम रखने तक तो वे गांधीजी से सहमत थे। उपाधि परीक्षा में उर्दू को अनिवार्य या वैकल्पिक विषय रखने के लिए भी वे तैयार थे। पाठचक्रम में उर्दू के पद्य रखने में भी किसी का विरोध न था। किन्तु उर्दू लिपि को अनिवार्य रूप से पढ़ाकर विद्यार्थियों के सिर पर व्यर्थ का बोझ लादने के सिद्धान्त के वे घोर विरोधी थे। फलतः गांधीजी को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से अलग होना पड़ा। उनके साथ आचार्य काका साहब तो थे ही। काका साहब ने एक अलग संस्था हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के नाम से कायम की। देश के महान् नेताओं के इस वैचारिक और सैद्धान्तिक संघर्ष का असर बम्बई की हिन्दी प्रचार सभा पर भी पड़ा। उसने अपना नाम बदलकर हिन्दुस्तानी प्रचार सभा रखा। संस्था में कार्य करनेवाले अधिकांश प्रचारकों को यह बात न रुची और उन्होंने सभा के तात्कालिक वैतनिक मंत्री श्री कान्तीलाल जोशी के नेतृत्व में विरोध का झंडा उठाया और वर्धा राष्ट्रभाषा समिति के हाथ मजबूत किये। तुरन्त ही स्थानीय फेलोशिप स्कूल में राजा बहादुर गोविन्दलाल जी पित्ती की अध्यक्षता में बम्बई प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा की स्थापना हुई। प्रचारकों को उसमें धनदाता वर्ग के साथ-साथ कुछ अंश में प्रातिनिधिक स्वरूप दिया गया। वर्धा समिति की ओर से श्री कान्तीलालजी जोशी प्रान्तीय संचालक नियुक्त हुए और उनकी सहायता के लिए एक विस्तृत व्यवस्थापक समिति और कार्य-समिति स्थापित हुई। तब से लेकर आज तक सभा का कार्य अखंडित रूप से चल रहा है।

अब हम ज़रा बम्बई की अन्य हिन्दी प्रचार संस्थाओं की स्थापना, कार्य-विशेषता गतिविधि तथा परिस्थिति की ओर ध्यान दें।

बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ

बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ की स्थापना सन् १९३८ के अक्तूबर महीने में हुई। किन परिस्थितियों में और किस उद्देश्य को लेकर इस संस्था का जन्म हुआ इसका ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। इस संस्था को जन्म देने में सर्वश्री भानुकुमार जैन, रामनाथ पोद्दार, स्व० रणछोडलाल ज्ञानी तथा स्थानीय प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम के क्यूरेटर डॉ० मोतीचन्द्रजी का हाथ रहा। जैसा पहले कहा गया है, बम्बई हिन्दी प्रचार सभा से जो प्रचारक बन्धु असन्तुष्ट हुए थे उन्होंने इस संस्था में पढ़ाने का कार्यभार सँभाला। इनमें श्री विट्ठल शेट्टी, श्रीमती रखमाबाई तल्लूर, श्री नारायण संझगिरी, श्री वासुदेव पां० खाडीलकर, कु० नीरा बापट (अब नीरा शेट्टी), श्रीमती इन्दिराबाई वायंगणकर, स्व० हेमचन्द्र मोदी, ठा० राजबहादुरसिंह, श्री हरिशंकर, श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं शुरू से लेकर सात-आठ वर्षों तक जिस परिश्रम और जीवट के साथ इन लोगों ने संस्था का कार्य किया, वह दरअसल प्रशंसनीय था। उपर्युक्त सज्जनों के अतिरिक्त संस्था को सर्वश्री श्यामू संन्यासी, पद्मसिंह शर्मा, राजेन्द्र-सिंह, जे० आर० शास्त्री, डॉ० प्राण आचार्य आदि की सहायता भी प्राप्त हुई, जिसके फलस्वरूप विद्यापीठ ने अपने पाठ्यक्रम का संगठन कर उसके लिए आवश्यक पुस्तक-रचना भी करा ली।

प्रारम्भ में अलबत्ता विशेष साधन-सामग्री विद्यापीठ के पास न थी और परीक्षा भी केवल एकमात्र 'प्रथमा' थी। इस परीक्षा में पहले-पहल केवल १९८ परीक्षार्थी बैठे थे। अब परीक्षा-प्रणाली में जिन्हें लिपि-ज्ञान नहीं है, ऐसे लोगों के लिए (१) हिन्दी-प्रवेश और फिर (२) हिन्दी-प्रथमा, (३) हिन्दी-मध्यमा, (४) हिन्दी-उत्तमा, इस प्रकार की चार परीक्षाएँ चलाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग की साहित्य प्रथमा, साहित्य मध्यमा (विशारद), साहित्य उत्तमा (साहित्य-रत्न), परीक्षाओं के लिए भी शुरू-शुरू में विद्यार्थी तैयार किये जाते थे। किन्तु विद्यापीठ ने धीरे-धीरे इनके समकक्ष परीक्षाओं का भी पाठचक्रम तैयार कर लिया। अब विद्यापीठ की ओर से (१) हिन्दी-भाषारत्न, (२) साहित्य-सुधाकर, (३) साहित्य-रत्नाकर नामक तीन उपाधि परीक्षाएँ चलाई जाती हैं। विद्यापीठ ने देश के विभिन्न भागों में ६०० सक्रिय परीक्षा-केन्द्र स्थापित कर दिये हैं। इस तरह देश-व्यापी संस्था बनने का गौरव विद्यापीठ ने प्राप्त किया। स्थापना से लेकर आज दिन तक विद्यापीठ अपने कार्य में प्रगति ही करता रहा है।

आर्थिक स्थिति

विद्यापीठ की आर्थिक हालत काफ़ी सुदृढ़ समझी जा सकती है। विद्यापीठ के पास अपना एक निजी मुद्रणालय है। मालिक के नाते आनन्दनगर में अपना निजी स्थान, कार्यालय आदि के लिए मिला हुआ है। इसके पुस्तकालय में ३,००० से अधिक साहित्यिक पुस्तकों का संग्रह है। विद्यापीठ अपनी तरफ से अपनी पाठ्य-पुस्तकों के रूप में पुस्तकों को प्रकाशित कराता है।

अन्य प्रवृत्तियाँ

शुरू-शुरू में विद्यापीठ ने अपने वार्षिक पदवीदान समारोहों के अवसर पर अच्छे साहित्यिकों को दीक्षान्त भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया था। उनके भाषण विचार जागृति करनेवाले थे इसलिए उन्हें विद्यापीठ ने उन्होंने अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया। इनमें श्री माखनलालजी चतुर्वेदी और आचार्य क्षितिमोहन सेन के भाषण विशेष उल्लेखनीय थे।

इसके अतिरिक्त विद्यापीठ ने सांस्कृतिक कार्यक्रमों की भी एक खास परम्परा कायम की है। राष्ट्रकवि मैथिली-शरण के 'यशोधरा' काव्य को नृत्य-नाट्य का रूप सन् १९५२ में दिया गया था। वह इतना सफल रहा कि स्वयं मैथिलीशरण भी मुग्ध हो गए। श्री जयशंकर 'प्रसाद' के 'कामायनी' काव्य को भी इसी तरह का रूप दिया गया था और उसका प्रदर्शन भी सफल रहा। इसी तरह एक पदवीदान समारोह के अवसर पर हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' को नाटक के रूप में सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया गया। मराठी के नाटककार श्री अत्रे लिखित 'उद्यांचा संसार' नाटक को भी हिन्दी चोला पहनाया गया।

भारतीय विद्यापीठ

भारतीय विद्यापीठ का विकास सर्वप्रथम 'सोशल लीग', उसके बाद ज्ञानलता मंडल और अन्त में भारतीय विद्या-पीठ इस क्रम से हुआ। भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय दिनांक ९ अगस्त १९४२ के दिन आठ-दस नवयुवकों ने महात्मा गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में हाथ बँटाने के हेतु सोशल-लीग की स्थापना की और फिर राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार को अपना उद्देश्य मानकर उस दिशा में कार्य करना शुरू किया। इस संस्था द्वारा अक्तूबर १९४२ में केवल सात विद्यार्थी और दो प्रचारकों को लेकर गिरगाँव स्थित मराठा माध्यमिक शाला में हिन्दीवर्ग का श्रीगणेश हुआ। अल्पावधि में ही इस वर्ग का विकास होने लगा और इसने 'ज्ञानलता मंडल' नाम धारण किया।

ज्ञानलता मंडल के कार्यकर्ता नवयुवक समाजवादी विचार-प्रणाली के थे और विख्यात समाजवादी कार्यकर्ता स्व० साने गुरुजी के 'राष्ट्रभारती' के स्वप्न को साकार करने की दृढ़ भावना को उन्होंने अपने हृदय में प्रश्रय दिया था। फलतः हिन्दी के साथ-साथ भारत की अन्य भाषाओं तथा उनके साहित्य का प्रचार करने का कार्य भी जैसे-जैसे अवसर मिलता गया उन्होंने अपने हाथ में लिया और सबसे पहले सन् १९४५ में महाराष्ट्र साहित्य परिषद् की साहित्य प्रवेश परीक्षा का वर्ग खोला गया। अब इस शाखा में म० सा० प्रवेश, म० सा० प्राज्ञ तथा म० सा० विशारद के वर्ग चलाए जाते हैं। इसी प्रकार संस्था ने सन् १९४८ से गुजराती और सन् १९५१ से बंगला भाषा की पढ़ाई के लिए पाठ्यक्रम बनाया और परीक्षा-प्रणाली तैयार कर इन भाषाओं का भी प्रचार शुरू किया। इस तरह भारत की विभिन्न प्रतिष्ठा-प्राप्त भाषाओं का प्रचार इस संस्था की अपनी एक विशेषता है। भारत की भावनात्मक एका-त्मता की दिशा में ज्ञानलता का यह कदम सहायक होगा, ऐसा निःसंकोच कहने में कोई आपत्ति नहीं।

ज्ञानलता मंडल की हिन्दी शाखा का कार्य पहले तो बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ की परीक्षाओं के लिए विद्यार्थी तैयार करने तक ही सीमित था। किन्तु सन् १९४८ में उसमें एक वैधानिक बाधा उपस्थित हुई, जिसके फलस्वरूप ज्ञानलता मंडल को कुछ अलग प्रबन्ध करने की बात सोचने को बाध्य होना पड़ा। इसी के फलस्वरूप ता० ६ फरवरी १९४९ को ज्ञानलता मंडल ने भारतीय विद्यापीठ की स्थापना की।

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा के केन्द्र का विकास

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा की स्थापना पुणें में सन् १९४६ में हुई। पहले इसके कार्यकर्ता १९३७ से लेकर

१९४६ तक महाराष्ट्र तथा बम्बई के वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के वर्गों में ही पढ़ते एवं पढ़ाते थे। इनके कई प्रचारक वर्धा की रा० भा० प्रचार समिति के ही स्नातक हैं।

किन्तु सन् १९४२ में हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद की जो आँधी उठी, उसने इस संस्था के कार्यकर्ताओं में भी एक विचार-चक्र जागृत कर दिया। इसके सम्बन्ध में इन लोगों की वैचारिक भूमिका इस प्रकार थी: महाराष्ट्र की मातृभाषा मराठी का सार्वभौमत्व महाराष्ट्र में अक्षुण्ण रखते हुए आन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए हिन्दी को राष्ट्र-भाषा अथवा भारतीय संघभाषा के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए और उस दृष्टि से उसका स्वरूप सर्वसंग्राहक, सार्वदेशिक, लचीला, व्यवहारोपयोगी, आसान तथा राष्ट्र-संवर्धन की नीति के अनुकूल रहना चाहिए। इस वैचारिक भूमिका को लेकर उन्होंने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन और तदेकभूत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से अलग होना चाहा और सन् १९४६ की २६ जनवरी के दिन महाराष्ट्र राष्ट्र-भाषा सभा की स्थापना की। कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक दलों ने भी इस कार्य का समर्थन किया और आचार्य काका कालेलकर, श्री शंकरराव देव तथा म० म० दत्तो वामन पोतदार ने संस्था के सूत्र सँभाले। इसी साल के नवम्बर महीने में दिल्ली में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् की स्थापना हुई, उससे भी सभा सम्बद्ध हुई।

सन् १९४९ में सभा की बम्बई शाखा को दादर के राष्ट्रभाषा मन्दिर का सहयोग प्राप्त हुआ। पहले राष्ट्रभाषा मन्दिर में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा के ही वर्ग चलते थे। राष्ट्रभाषा मन्दिर के संस्थापक श्री रंगनाथ विभांडिक तथा उनके सहायक श्री मा० य० भिडे इन वर्गों का संचालन करने लगे। फिर भी सन् १९५१ तक सभा के वर्गों का विकास विशेष रूप से नहीं हो पाया। परीक्षार्थियों की संख्या इन वर्षों में शतक से बढ़कर सहस्र तक बम्बई में नहीं पहुँच पाई। किन्तु सन् १९५१ में बम्बई सरकार ने अपने शासन-विभाग के लिए जिन चार परीक्षाओं को अस्थायी रूप से मंजूरी दी उनमें सभा की 'प्रवीण' परीक्षा भी सम्मिलित थी। इसने सभा के भाग्य को क्या बम्बई, क्या महाराष्ट्र और क्या अखिल भारत सर्वत्र खूब जोर से चमका दिया।

सभा की अन्यान्य कार्य-प्रवृत्तियों में स्नेह-सम्मेलन, वार्षिक प्रचार-सम्मेलन, अध्ययन-मंडल, भाषण-प्रतियोगिता, लेखन-प्रतियोगिता, नाटक, अनुवाद, पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन और मासिक तथा पाक्षिक पत्र प्रकाशन आदि कार्यों का अन्तर्भाव होता है।

सभा की बम्बई शाखा के अन्तर्गत कार्य करनेवाले राष्ट्रभाषा मन्दिर की ओर से चलाये जानेवाले 'हिन्दी ज्ञान-सत्र' का उल्लेख न किया जाए, तो सभा के कार्य का परिचय अधूरा रह जाएगा। इस संस्था ने सन् १९५३, सन् १९५४ तथा सन् १९५५ की बड़े दिन की (क्रिसमस) छुट्टियों में यह ज्ञान-सत्र चलाया था। इस ज्ञान-सत्र का एक उद्देश्य हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों की खास जानकारी अधिकारी तथा विद्वान व्यक्तियों द्वारा हिन्दी के छात्रों एवं प्रेमियों को करा देना तो था ही, साथ-साथ हिन्दी के कुछ लेखकों, कवियों एवं आलोचकों से प्रत्यक्ष परिचय कराना भी था। हिन्दी के सुलेखकों एवं कवियों के नाम व काम से तो विद्यार्थी शुरू से ही अपनी पढ़ाई के साथ-साथ परिचय प्राप्त करते आए थे, परन्तु उनके रंग-रूप, आकार-प्रकार, डील-डौल के मूर्तिमान दर्शन करने का भाग्य न कभी प्राप्त होता था न इसकी सम्भावना थी। राष्ट्रभाषा मन्दिर ने अपने तीन सत्रों में इस असम्भाव्य को सम्भव ही नहीं प्रत्यक्ष करा दिया। जिसका बहुतांश श्रेय मन्दिर के उस समय के संचालक श्री अरविन्द देशपांडे और उनके सहयोगियों को है। इन सत्रों में कुल मिलाकर लगभग २५ साहित्यिकों से परिचय कराया गया तथा उन्हें सौंपे गए विषयों पर उनके भाषण सुनने का सौभाग्य भी विद्यार्थियों एवं बम्बई के नागरिकों को प्राप्त हुआ। इनमें श्री नरेन्द्र शर्मा, प्रो० प्रभाकर माचवे, श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी (तर्कतीर्थ), डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री जैनेन्द्रकुमार, पं० काशीप्रसाद द्विवेदी, श्री राय-कृष्णदास, पं० राहुल सांकृत्यायन, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, ठा० राजबहादुरसिंह, श्री विद्याधर गोखले, प्रो० भूपटकर, प्रो मालशे, प्रो इन्दुप्रकाश पांडेय, श्री र० जोशी, प्रो रा० मि० जोशी (काव्यतीर्थ), श्री यशपाल, श्री इलाचन्द्र जोशी,

श्री मामा वरेरकर, म० मा० द० वा० पोतदार, श्री उदयशंकर भट्ट आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आगे भी इस उपक्रम को राष्ट्रभाषा मन्दिर जारी रखता तो ठीक होता। किन्तु सर्वारम्भास्तण्डुलःप्रस्थ मूला:' की कहावत यहाँ भी चरितार्थ हुई-सी दिखाई देती है। इस सत्र के कारण विभिन्न भाषा-भाषी विद्वानों को एक मंच पर आकर विचार-विमर्श करने का अवसर मिला इसमें सन्देह नहीं।

बम्बई हिन्दी सभा

बम्बई हिन्दी सभा की प्रेरणा और स्थापना का सम्बन्ध भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद के साथ ही है। यद्यपि इस संस्था की स्थापना बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की प्रेरणा से हुई, तो भी इसके कार्य को बढ़ावा देने तथा उसके अंगोपांगों का भरण-पोषण तथा संवर्धन करने का श्रेय श्रीमती रखमाबाई तल्लूर को ही दिया जा सकता है। राष्ट्रभाषा का अध्ययन श्रीमती तल्लूर ने बम्बई हिन्दी प्रचार सभा में ही किया और फिर उसमें अध्यापन का भार भी अपने ऊपर ले लिया। बाद में बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ की स्थापना में वे भी अग्रगण्य रहीं और सन् १९४६ तक उसी में काम करती रहीं। उसके बाद कुछ मतभेदों के कारण वे असले अलग हो गईं। लगभग इसी समय श्री स० का० पाटिल के नेतृत्व में सन् १९४६ के अन्त में रचनात्मक कार्य करने के लिए एक उपसमिति बनाई गई, जिसमें खादी, ग्रामोद्योग, हरिजन उद्धार के साथ-साथ राष्ट्रभाषा का कार्य हाथ में लेने की बात भी सोची गई। राष्ट्रभाषा का स्वरूप वही रखा गया जो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा ने अपनाया था। इस समिति का नाम कांग्रेस राष्ट्रभाषा (हिन्दुस्तानी) समिति रखा गया। सन् १९४६ के अप्रैल में समिति के तीन केन्द्र खुले। समिति की कार्यकारिणी में श्री बा० ल० साठे, श्री उषा बहन मेहता, श्री हैरिस, श्री सी० वी० वारद निर्वाचित हुए। कार्य-संचालन का भार श्रीमती रखमाबाई तल्लूर को सौंपा गया। तब से सन् १९५० तक हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के अन्तर्गत ही इसका कार्य जारी रहा।

सन् १९५० के अप्रैल में कांग्रेस कमेटी ने अपनी राष्ट्रभाषा समिति के प्रार्थनापत्र पर ध्यान देकर भारतीय संविधान की ३५१वीं धारा के अनुकूल हिन्दी परिषद से सम्बद्ध होकर अपनी स्वतन्त्र पाँच परीक्षाएँ चलाने का अधिकार उसे दे दिया। पाठ्यक्रम तथा परीक्षा-प्रणाली बनाने का उत्तरदायित्व भी संचालिका को दिया। पहला नाम बदलकर अब समिति बम्बई हिन्दी सभा बनी। तुरन्त सभा की कार्यसमिति तथा परीक्षा समिति का संगठन करके परीक्षा-प्रणाली एवं स्वतन्त्र पाठ्यक्रम भी बनाया गया। अक्तूबर १९५० से नये पाठ्यक्रर के अनुसार परीक्ष एँ ली जाने लगीं।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा

वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा किस तरह और किस परिस्थिति में पृथक् हुई उसका जिक्र तो हम पहले कर ही चुके हैं। उस समय से आज दिन तक सभा का काम लगातार जारी है। प्रधान रूप से उसका कार्य नई दिल्ली, वर्धा और बम्बई में चलता है। पहले परीक्षा संचालन का कार्य वर्धा से चलता था, किन्तु अब यह बम्बई से चलने लगा है। बम्बई की समिति का नाम हिन्दुस्तानी प्रचार समिति है। इस समिति के अध्यक्ष प्रारम्भ से अब तक श्री मोरारजीभाई देसाई रहे हैं। मानद मन्त्रिणी पहले श्रीमती पेरिनबहन कप्तान थीं। श्रीमती पेरिनबहन कट्टर सिद्धान्तवादी, लगनशील परिश्रमी और मधुरभाषिणी थीं। किन्तु सन् १९५८ में उनका स्वर्गवास हो गया, तब से उस पद को श्रीमती गोशीबहन कप्तान ने सँभाला।

प्रचार के कुछ अन्य स्रोत

इन प्रचार संस्थाओं के अतिरिक्त हिन्दी भाषा के प्रचार तथा प्रसार के अन्य स्रोत भी बम्बई में जारी हैं। बम्बई के कतिपय सिनेमागृहों में दिखाये जानेवाले सवाक् चित्रपटों ने हिन्दी भाषा का काफी अच्छा ज्ञान कराया और हिन्दी भाषा को केवल शिक्षितों तक ही सीमित न रख अनपढ़ लोगों में भी इसका प्रचार और प्रसार किया। बम्बई के विभिन्न भाषा-भाषी समाचारपत्रों ने भी समय-समय पर राष्ट्रभाषा के प्रचार-कार्य में हाथ बँटाया है।

बम्बई के सरकारी, अर्ध सरकारी तथा खानगी दफ्तरों, कल-कारखानों, वर्गीकृत व्यापार के स्रोतों, रेल, तार, डाकघर आदि साधनों तथा बाजारों में भी विशिष्ट प्रकार की बाजारू हिन्दी का एक खास स्वरूप तैयार हुआ है।

इसके अलावा आकाशवाणी द्वारा प्रसारित होनेवाले अन्यान्य कार्यक्रमों को भी हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार का बहुत कुछ श्रेय दिया जा सकता है। सन् १९४९ से आकाशवाणी ने प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से हिन्दी पढ़ाने का उपक्रम शुरू करके राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार में बहुत सहायता की। बम्बई के केन्द्र से गुजराती तथा मराठी माध्यम से हिन्दी पढ़ाई जाती है। इसका हर सत्र तीन महीने का यानी तेरह सप्ताह का होता है। सप्ताह में सोम से शुक्रवार तक प्रतिदिन एक, इस प्रकार पाँच पाठ होते हैं। यानी हर सत्र ६५ पाठों का होता है। पढ़ाई में सर्वसाधारण विषयों पर बातचीत, कहानी, नाटक, कविता पर आधारित पाठ तथा उनसे उत्पन्न कामकाज के लिए आवश्यक व्याकरण आदि की रचना, शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से की जाती है। गुजराती माध्यम से पाठों को श्री प्रवीणचन्द्र रूपारेल प्रस्तुत करते हैं। मराठी माध्यम से सन् १९४९ से लेकर १९५६ तक लगातार सात वर्ष तक इन पंक्तियों का लेखक प्रस्तुत करता रहा। बाद में एक-दो साल श्री वी० कृ० टेम्बे ने किया। अब श्री जनार्दन रामचन्द्र जड्ये इस काम को करते हैं। इन पाठों ने प्रचार परीक्षा के विद्यार्थियों को ही नहीं एस० एस० सी० तथा इण्टर के विद्यार्थियों को भी सहायता पहुँचाई है।

सरकारी शिक्षा-विभाग ने भी अब माध्यमिक पाठशालाओं में हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य कर दी है। इतना ही नहीं, एस० एस० सी० तथा इण्टरमीडिएट के वर्गों में हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य है। नगर निगम की प्राथमिक पाठशालाओं में हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य है। और अब तो हिन्दी शिक्षकों के लिए भी जूनियर तथा सीनियर शिक्षक सनद परीक्षा उत्तीर्ण करना अनिवार्य कर दिया गया है। इससे हजारों की संख्या में हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने का प्रबन्ध हो गया है।

सरकारी दफ़्तरों के कर्मचारियों के लिए बम्बई राज्य ने अपनी हायर, लोअर तथा कोलोकियल हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी है। इसी मार्ग का अनुसरण नगर-निगम के दफ़्तरों में भी किया गया है। टाटा कम्पनी के कार्यालय में तथा इंडियन एयर लाइन कारपोरेशन ने भी अपने कर्मचारियों के लिए अपना निजी पाठ्यक्रम बनाया है और इसका अनुसरण अन्य व्यापारी संस्थाएँ भी करेंगी ऐसे आसार दिखाई दे रहे हैं। इस तरह अब हम जहाँ देखें वहीं हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए अनुकूल वातावरण फैला-सा नज़र आने लगा है।

उपसंहार

संक्षेप में बम्बई के राष्ट्रभाषा प्रचार तथा उसकी शाखा-प्रशाखाओं के निर्माण एवं विस्तार का इतिहास इस प्रकार है। शून्य से संसार की सृष्टि की नाई बम्बई में राष्ट्रभाषा प्रचार और उसकी अलग-अलग शाखा-प्रशाखाओं का विकास हुआ-सा दिखाई देता है। दृष्टिकोणों की विभिन्नता तथा विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के कारण यद्यपि बम्बई में छः विभिन्न प्रचार संस्थाएँ चलाई जाती हों तथा सरकारी एवं नगर निगम की पाठशालाओं, सरकारी, अर्धसरकारी एवं निजी व्यावसायिक कार्यालयों में राष्ट्रभाषा हिन्दी की पढ़ाई कुछ अलग ढर्रे पर चल रही हो, तब भी सबका उद्देश्य एक ही है और वह है राष्ट्रभाषा हिन्दी के ज़रिये 'एक हृदय हो भारत जननी' के ध्येय को साकार रूप देना। इस ध्येय को लेकर विभिन्न संस्थाओं द्वारा अकेले बम्बई नगर में चलाये जानेवाले वर्गों में प्रतिवर्ष लगभग ५० हज़ार विद्यार्थी राष्ट्रभाषा की शिक्षा पाकर परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। इन्हें पढ़ाने का कार्यभार लगभग दो हजार सेवाभावी और त्यागी प्रचारक बन्धु-भगिनी-गण बड़े उत्साह, प्रेम, लगन और परिश्रमपूर्वक सँभाल रहे हैं। इनमें और पाठशालाओं तथा सरकारी, अर्धसरकारी एवं खानगी क्षेत्रों में पढ़नेवाले तथा पढ़ानेवालों की संख्या जोड़ दी जाए, तो विद्यार्थियों की संख्या दो-तीन लाख के बराबर और अध्यापकों की संख्या तीन-एक हज़ार के करीब आसानी से पहुँच जाएगी।

इस त्याग-तपस्यामय रचनात्मक कार्य से बढ़कर और कौन-सा आदर्श विकास-कार्य हो सकता है! इसे प्रेम और

सौहार्द का सन्देशवाहक राष्ट्रीय आन्दोलन भी कहा जा सकता है। अच्छा होता कि विभिन्न दृष्टिकोणों तथा मत-भेदों को तथा प्रचार संस्थाओं द्वारा शुरू-शुरू में प्रदर्शित संकुचितता को लेकर प्रचारकों में अलगाव के भाव न बढ़ते। फिर भी सन् १९५१ के पहले दृष्टिकोणों की भिन्नता को लेकर संस्थाएँ भले ही अलग बनी हों उनमें परस्पर सहयोग, सौहार्द तथा सुयोग्य कार्यकर्ताओं के सम्बन्ध में आदर भाव था। किन्तु सन् १९५१ में मान्यता-अमान्यता का प्रश्न जब से उठ खड़ा हुआ, प्रचार के सर्व-संग्राहक क्षेत्र के अमृत कुम्भ में विष की बूँदें पड़ गईं। आज हमें इस विषय में कविवर रामधारी 'दिनकर' की यह उक्ति याद आती है कि 'जब तक राष्ट्रभाषा और उसके स्वरूप का नक्शा साफ़ नहीं है, तब तक सभी राष्ट्रभाषा-प्रचार-संस्थाओं को काम करने देना चाहिए।

खुशी की बात है कि अब फिर प्रचारकों में परस्पर सहयोग के आदान-प्रदान-सम्बन्धी पूर्वभाव जागृत हो रहे हैं। बम्बई सरकार की ओर से उत्पन्न 'मान्यता-अमान्यता' के प्रश्न को लेकर जो विषैली होड़ और कटुता पैदा हुई थी, उसकी जड़ ही अब सरकार ने अपनी निजी परीक्षाएँ जारी करके काट दी है।

बम्बई के कुछ प्रचारक बन्धुओं ने इसी उद्देश्य को लेकर सभी प्रचारकों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए राष्ट्रभाषा समन्वय मंडल की स्थापना की है जिसके उद्देश्य हैं : (१) राष्ट्रभाषा हिन्दी (भारती) के द्वारा देश में एकता प्रस्थापित करने के सिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास, (२) अपनी प्रचार संस्था का कार्य करते हुए भी अन्य प्रचार संस्थाओं तथा उनके कार्यकर्ताओं के प्रति प्रेम, सहयोग तथा सौहार्द की भावना, (३) मतभेद तथा विभिन्न दृष्टिकोण रखने के मानवोचित अधिकार को अक्षुण्ण रखते हुए भी केवल इस विभिन्नता के कारण मत-द्वेष को आश्रय न देना और भिन्नता में एकता के स्रोत ढूंढ़ना।

आज जिस राष्ट्रभाषा सम्मेलन का आयोजन किया गया है, उसके मूल में यही उद्देश्य प्रधान रूप से रहे हैं। इन दोनों प्रयत्नों को प्राय: सभी प्रचार संस्थाओं तथा उनमें कार्य करनेवाले प्रचारकों ने मान्यता दी है और जहाँ तक सम्भव है सहयोग भी प्रदान किया है। ये सभी लक्षण आशाप्रद हैं और आशा है कि निकट भविष्य में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-क्षेत्र में फिर से 'घटे न हेल-मेल, हाँ, बढ़े न भिन्नता कभी। अतर्क्य एक पन्थ के सतर्क पान्थ हों सभी।' यह काव्युक्ति सार्थक और साकार स्वरूप धारण कर लेगी।

डॉ० एम० डी० पराडकर

महाराष्ट्र की हिन्दी सेवा
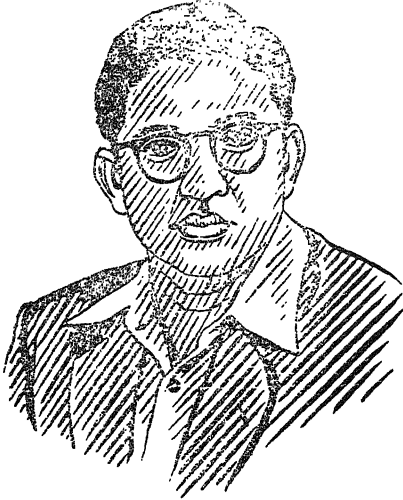
आपका जन्म मराठवाडा के परभणी ग्राम के श्री मोरेश्वर दिनकर पराडकर के परिवार में १७ नवम्बर १९२५ को हुआ। आपकी शिक्षा संस्कृत में एम० ए० तक हुई; उसके उपरान्त पी-एच० डी० की उपाधि संस्कृत के शोधकार्य पर बम्बई विश्वविद्यालय से दी गई। आपके साहित्यिक प्रकाशन में "वैदिक संस्कृति का विकास" मराठी से हिन्दी में अनूदित हुआ है। आजकल आप संस्कृत की प्राचीन पांडुलिपियों के शोध-सम्पादन-कार्य को करते हुए बम्बई-स्थित मिट्ठीबाई कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक और बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के परीक्षाध्यक्ष भी हैं।

हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में महाराष्ट्र बहुत प्राचीन-काल से दत्तचित्त रहा है। सन्त ज्ञानेश्वर मराठी साहित्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके काल में समूचा महाराष्ट्र उस भागवत धर्म का केन्द्र था जो जाति-पाँति के भेदों को दूर रखते हुए, 'जो हरि को भजे सो हरि का होई' के सिद्धान्त को लेकर चला था। क्या ज्ञानेश्वर, क्या नामदेव, क्या एकनाथ, क्या तुकाराम, सभी इसी भागवत धर्म के निष्ठावान उपासक थे। साधारण जनता के सम्पर्क में रहना, उन्हें अधिक श्रेयस् रहा। इसीलिए पंडितों की भाषा के स्थान पर वे लोक-प्रचलित भाषा में अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति करते थे, जो साहजिक रूप से जन-साधारण की पहुँच में रही। उस समय भी महाराष्ट्रीय समाज में, मराठी से इतर भाषा-भाषी व्यक्ति सम्मिलित थे, शायद इसी वजह से प्रायः सभी महाराष्ट्रीय सन्तों ने मराठी के साथ-साथ जनसाधारण की भाषा को अपनाना उचित समझा। यह सही है कि उनके सामने राष्ट्रभाषा का रूप नहीं था, फिर भी उन्होंने जिस हिन्दी में अपने विचारों को व्यक्त किया, वह आज की खड़ीबोली से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।

महाराष्ट्रीय सन्तों में हिन्दी को लेकर रचना करने-वालों में नामदेव ही सर्वप्रथम माने जाते हैं। इतिहास की दृष्टि से देखें तो ज्ञानेश्वर की बहन मुक्ताबाई को हिन्दी में कविता लिखने का प्रथम श्रेय है; किन्तु उनकी रचनाएँ अप्राप्य हैं अतएव नामदेव को ही प्रथम स्थान देना उचित लगता है। नामदेव का जन्म सन् १२७० ई० में हुआ था और सन्त ज्ञानेश्वर के सम्पर्क में आकर, उन्होंने भारत के तीर्थों की परिक्रमा भी की। कहा जाता है कि वे पंजाब में २० वर्षों तक रहे थे। वहाँ काफी संख्या में उनके अनु-यायी पाये जाते हैं। गुरुदासपुर जिले में ोमन गाँव में बाबा नामदेवजी के नाम से गुरुद्वारा आज भी है। इस परि-स्थिति में ग्रन्थ साहब के पदों में उनके पदों का सम्मिलित होना विस्मयजनक नहीं प्रतीत होता। इन पदों में नाम की महिमा एवं विट्ठल की भक्ति वर्णित है। कुछ पदों में उनके व्यक्ति-तत्त्व भी प्राप्त हैं। यथा निम्न पद में वे अपनी

सामान्य जीवनचर्या को ईश्वर की नाम-महिमा पर घटित करते हुए कहते हैं :

'मन मेरे गज, जिव्हा मेरी काती,
मपि मपि काटौ, जम की फाँसी ।'

एक अन्य उद्धरण देखिए :

'सोने की सुई, रूपे का धागा ।'

वस्तु और ईश्वर को अभिन्न मानते हुए ईश्वर की छवि को समस्त जड़-चेतन में स्वीकार करते हुए नामदेव ने अपनी अन्तरात्मा से विभोर होकर गाया है :

'पानी माही देखो मुख जैसे,
नाम को स्वामी, विट्ठल ऐसे ।'

महाराष्ट्र में महानुभाव पन्थ का बोलबाला रहा है, और इसके प्रवर्तकों ने भी हिन्दी में रचनाएँ की हैं। पंजाब में आज भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी पाये जाते हैं। समय के प्रबल आघातों के कारण आज हिन्दी-जगत् में इन रचनाओं का, साहित्य के इतिहास में उल्लेख करते हुए, उन्हें अप्राप्त माना गया है। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पंढरपुर में विट्ठल के भक्त के रूप में भानुदास की ख्याति रही है। मराठी में लिखी इनकी रचनाएँ अपनी सरलता एवं प्रवाहमयी भाषा के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी में प्राप्य हैं। यमुना के तट पर भगवान की भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए, इन्होंने अनेक स्थानों पर ईश्वर को अपना सर्वस्व माना है, जैसा कि उनकी मधुररससिक्त निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होता है :

यमुना के तट धेनु चरावत, राखत है गैया, मोहन मेरा सैंया,
मोर पत्र सिर छत्र सुहावें, गोपी धरत बहिंया,
भानुदास प्रभु भगत कों वत्सल, करत छत्र छैयाँ ।'

इन्हीं के प्रपौत्र एकनाथ सन् १५३३ ई० से अपने भक्ति-काव्य के लिए एवं साहित्य-ज्ञान के लिए महाराष्ट्र के सन्तों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्होंने मराठी साहित्य के बहुश्रुत अमर छन्द अभंग को हिन्दी क्षेत्र से परिचित कराय । परमभक्त होने के नाते, इन्होंने चतुराई एवं ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को सर्वोपरि मानते हुए एवं अहं का तिरस्कार करते हुए लिखा है :

'भजन बिनु धिक चतुराई ज्ञान,
पोथी पुराण बाचत सबही, वह में नहीं ज्ञान ।
लोग कहें हम आत्मज्ञानी, ज्ञान नहीं अभिमान ।
एक जनार्दन गुरु का बन्दा, भक्ति भजन को प्राण ।'

जहा तक इनके पूर्व-साहित्यिक ज्ञान का सम्बन्ध है, "अविज्ञातं विजानतां विज्ञामविजानताम्" उपनिषदीय ज्ञान की छाया, अन्तिम पंक्ति में द्रष्टव्य है। एकनाथ की सभी रचनाओं के अन्त में, अपने गुरु जनार्दन के प्रति निवेदन का भाव प्रकट होता है। कहीं-कहीं इन्होंने यशोदा के सामने गोपियों को कृष्ण की शिकायत करते हुए भी अपने पदों में दिखाया है। कहीं-कहीं कृष्ण और गोपियों की सरस वक्रता भी प्रस्तुत की है। मराठी के भक्ति के सफल रूपकों में एकनाथ की जो प्रतिष्ठा है, वह हिन्दी के पदों में भी लक्षित होती है। यथा

'भक्ति का अंचल पकड़ा हरि,
मत खेंचो मोरी फारी चुनरी ।
अहंकार का मोरा गगरा फोरा,
द्वैतन की मोरी अंगिया फारी ।'

इनका हिन्दू-तुरक संवाद अपना विशेष स्थान रखता है। कुल मिलाकर एकनाथ की रचनाओं में काव्य की प्रौढ़ता के साथ प्रसाद की सुन्दर अभिव्यक्ति और समाहिति है। एकनाथ के अनुयायियों में जनी जनार्दन और दासो पन्त दोनों ने ही हिन्दी में अभंगों की परम्परा को आगे बढ़ाया है। एकनाथ और दासोपन्त के समय से मुसलमान आक्रान्ताओं के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दी का प्रचलन दक्षिण में अधिक बढ़ रहा था। फलस्वरूप नागरी जीवन से दूर रहते हुए भी सन्त तुकाराम-जैसे ग्रामवासी भी हिन्दी में ही अपने भावों की अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त हुए। एक ओर तो तुकाराम की हिन्दी कविताओं में, बालकृष्ण की चेष्टाओं का वर्णन है, जिनमें कि विशेषकर कृष्ण के ग्वाल-जीवन का चित्रण अधिक हुआ है। इस चित्रण में इन्होंने गोपियों के माध्यम से भक्त की तन्मयता का जगह-जगह उल्लेख किया है। एक गोपी का जो कि गोरस बेचने को बाजार आई थी, कथन है :

'मैं भूली घर जानी बाट, गोरस बेचन आई हाट ।'

बालकृष्ण से सम्बन्धित उपर्युक्त रचनाएँ अधिकतर अभंग

छन्द में लिखी गई हैं। दूसरी ओर तुकाराम की कविताओं में सामयिकता का स्वर मुखरित है। उन दिनों महाराष्ट्र में मौलवी एवं फकीर, जिन्हें दरवेशी, मुंढा, मलंग आदि संज्ञाएँ दी जाती थीं, घूम रहे थे। इनकी बनावटी साधुता की खिल्ली उडाते हुए तुकाराम ने कबीर के ढंग पर दोहों की रचना की है :

सिर काटे उर कूटे, ताँह साहब दुराई।

डोईफोड़ा नाम की फकीर जाति की आलोचना करते हुए तुकाराम ने बतलाया है कि सिर्फ़ देहदंड से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। मालूम होता है कि तुकाराम के समय तक कबीर के दोहे भागवत-धर्म के अनुयाइयों में बड़े प्रचलित थे। कबीर की ही तरह धन को भक्ति के मार्ग में बाधारूप मानते हुए तुकाराम ने कहा है :

तुका बड़ा न मानूँ जिस पास बहु दाम।
बलिहारी उस मुख की जिसते निकसे राम।।

इतना ही नहीं आगे चलकर अभिलाषा को सब सुख-दुःखों का मूल मानते हुए उसे हटाने की सलाह तुकाराम ने अपनी सरल एवं चुभती भाषा में ही है जो द्रष्टव्य है :

तुका इच्छा मिटी नहीं तो, कहा करे जरा खाक।
मथिया गोला डाल दिया तो, नहिं मिले फेर न ताक।।

कुल मिलाकर तुकाराम की हिन्दी-रचना पर मराठी का प्रभाव तो है ही किन्तु साथ-साथ दीकरो, न्हाना-जैसे गुजराती शब्द भी पाये जाते हैं।

राम के परमभक्त सन्त रामदास (जन्म सन् १६०८ ई०) आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक जीवन के समन्वय के लिए प्रसिद्ध हैं। भौतिक समृद्धि के बिना आध्यात्मिक जीवन भी चरम उत्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता, इस सिद्धान्त के वे बड़े समर्थक रहे, जो उस काल में शिवाजी की राज्य-स्थापना में अतीव सहायक सिद्ध हुआ।। स्वामी रामदास का कई भाषाओं पर अधिकार था। उन्होंने हिन्दी तथा उर्दू दोनों में रचनाएँ करके राम-भक्ति की सरिता को बहाया है। रघुराज के दरबार का वर्णन करते हुए एक स्थान पर स्वामी रामदास कहते हैं :

"रघुराज के दरबार, घमड़ी गाजतु है,
तत्थे तत्थे पखवाज बाजतु है,
शंख भेरि सुनिके रोम थरकतु है,
लाल धूसर तब के उड़ावतु है,
रामदास तहाँ बलि जावतु है।"

एक अन्य स्थल पर रसना को राम की ही रट लगाने का उपदेश देते हुए लिखते हैं :

"सुन मेरी रसना राम उचारो
राम रस पीये और रस डारो।
खीर खांड तुको लगत नीको
राम रस पाइये और रस फीको।।"

और बाद में एक सच्चे भक्त के नाते वे कह उठते हैं :

"दास कहे सुन रसना मेरी
राम भगति बिन गति नहीं तेरी।"

इसी तरह उनका 'नयनन में रघुबीर मेरो' यह पद भी अपनी विशेष मधुरता लिये हुए है।

स्वामी रामदास, 'रामदास' पन्थ के प्रवर्तक हैं। इस पन्थ के अनुयायियों में निगड़ी के रंगनाथ स्वामी (सन् १६१२ से ८४) और भागानगर (हैदराबाद) के निवासी केसव स्वामी (मृत्यु १७८३) दोनों ने हिन्दी में अच्छी रचनाएँ की हैं। परम्परा के अनुसार इन दोनों को रामदास पंचायतन में स्थान प्राप्त है। उदाहरण के तौर पर केसव स्वामी का 'आज राम मेरे मन में भरो रे' पद विशेष उल्लेखनीय है। महाराष्ट्रीय सन्तों में स्वामी रामदास और उनके अनुयायियों की हिन्दी अपेक्षाकृत प्रौढ़ और परिष्कृत रही है।

रामदास के एक और शिष्य दिनकर (सन् लगभग १६५८ से १६९८) का उल्लेख करना आवश्यक है। सन् १६५४ ई० में इन्होंने रामदास से दीक्षा पाई थी। रामदास के अन्य अनुयायियों की तरह ये भी संगीत के अच्छे जानकार थे और इन्होंने अपने पदों की रचना में कई राग-रागिनियों का अच्छा उपयोग किया है। एक स्थान पर इन्होंने 'काम क्रोध को कछु नहिं काम' का उपदेश देते हुए 'धन धरा घर ममता' का त्याग कर 'राम भजन बिना फलहिं न जीना' की दुहाई दी है।

महाराष्ट्र के धार्मिक इतिहास में नाथ सम्प्रदाय का स्थान महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानेश्वर और एकनाथ भी इस सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मराठी साहित्य की सेवा करते रहे।

इनमें से कुछ भक्तों ने हिन्दी में भी गीतों की रचना की है। राम के भक्त शिवदिननाथ या शिवदिन केसरी (सन् १६९८ १७७४) नाथ-सम्प्रदाय में अपने पाण्डित्य एवं साधुता के लिए बड़े विख्यात हैं। विद्वान होने के कारण इनके हिन्दी गीतों में 'नव द्वारा' 'दसवीं खिड़की' आदि योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द बिखरे हुए पाए जाते हैं। सम्प्रदाय की नीति के अनुसार इन्होंने गुरु की महिमा का सुचारु वर्णन किया है। उनके मत में शिष्य वह मछली है जिसे बिना गुरु-रूपी जल की सहायता के कौन उबार सकता है ? "जल बिन मीन कौन बचावे ?" एक भक्त के नाते इन्होंने अपने आराध्य देवता से एकरूप होने की आकांक्षा अभिव्यक्त करते हुए गाया है :

"राम-भजन कर रामहिं होना
जो लोहा पारस संग सोना॥
जो कीरा भृंगी को ध्यावे
सो कीरा भृंगीरूप पावे॥"

आगे चलकर इस पद में अजामिल जैसे भगवान द्वारा उबारे गए पापियों का उल्लेख करते हुए कवि कहते हैं :

राम-भजन से गणिका उद्धरी,
पापी अजामिल की गति सुधरी
राम-भजन से कोली वाला
होय रथी रामायण बोला॥
शिवदिन मनोहर नाथ केसरी,
राम बिना नहिं बात दूसरी॥

एक बार 'भूख' जैसे व्यावहारिक विषय पर उतरकर उसके अत्यधिक प्रभाव को विनोदपूर्ण ढंग से बतलाते हुए शिवदिननाथ गाते हैं :

"यारो पेट बड़ा बाँका, सबसे लगा दिया टाँका
देख संन्यासी देख फकीरा, घर-घर माँगे टुकड़ा
येक अशन पार क्या बैठेगा, पीछे पेट का रगड़ा॥"

कोई अचरज नहीं कि

"इसी पेट से राव सिपाही, राजा परजा मरते
इसी पेट से अमीर उमराव मुल्क मुल्क पर फिरते॥
शिवदिन केसरी जग माँ बैठे, नहीं पेट से न्यारे
गरीब बेचारे पशु पंछी सोइ, सब ही पेट से घेरे॥"

सावन्तवाड़ी के पास बाँदा गाँव के निवासी सोहिरोबा आम्बीये (जन्म सन् १७१४ ई०) का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। सोहिरोबा का विश्वास रहा है कि 'जोग जुगति बिन' अन्दर की ज्योति नहीं मिल सकती। उनके मत में 'सगुण' में 'निर्गुण' वैसे ही छिपा है जैसे 'दूध के बीच घी'। सांसारिकता से, कुटुम्ब-कबीले से दूर रहते हुए 'दिल में गुरु-पद' पर इन्होंने बल दिया है।

सुरजी अंजन गाँव के देवनाथ (१७५४-१८२१) अपने समय के विख्यात सन्त थे। निरंजन के इस उपासक ने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी मधुर रचनाएँ की हैं। परमात्मा के प्रति उन्हें विकल करनेवाला प्यार था, जिसका वर्णन निम्न पद में देखिए :

आज मोंरी साँवरिया से लागी प्रीति।
चैन रैन दिन मोहि परै नहि, उलटी भई भव रीति॥
कहा करै कित जाऊँ, सखी री कैसी बनी अब बीत।
देवनाथ प्रभुनाथ निरंजन निशि दिन भावे मीत॥

एक अन्य स्थान पर 'बंशी कुंजन में मधुर बजी' के बाद सांसारिक बन्धनों को तोड़कर बावरी बननेवाली गोपियों का उन्होंने सजीव चित्र खींचा है।

नाथ-सम्प्रदाय के रचनाकारों में देवनाथ के शिष्य दयालनाथ (सन् १७१०-१७५८) का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। ये महात्मा कृष्ण-भक्ति के रंग में रँगे हुए थे। कृष्ण के चरणों पर सर्वस्व समर्पित करने की अभिलाषा प्रकट करते हुए इन्होंने मनमोहन कृष्ण का क्या ही सजीव चित्र खींचा है :

किसन के चरनन की बलिहारी।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे, कुण्डल की छवि न्यारी॥
ब्रिन्दावन की कुंज गलिन मो, खेलत राधा प्यारी॥
जमुना के तीर नीर धेनु चरावत बंसी बजावै नंदयारी॥
देवनाथ प्रभुदयालु छबीला, नटनागर गिरिधारी॥"

इनके पद 'अँखियाँ हरिदरसनसों अटकी' की ब्रजभाषा हिन्दी के पाठक को सूरदास के 'अखियाँ हरिदरसन को भूखी' की याद दिलाए बिना नहीं रह सकती। इनकी उपदेशात्मक रचनाओं में 'हरि के चरन चित लागो रे' का आसानी से उल्लेख किया जा सकता है।

हिन्दी में रचना करनेवाले मराठी-भाषी सन्तों में कुछ ऐसे भी हैं जिनका नाथ-सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं था।

इनमें खानदेश के निवासी जनजसवन्त (सन् १६०८-१७५२) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जानकीनाथ के इस परमभक्त ने स्पष्ट रूप से कहा :

ज्याके जानकीनाथ न प्यारे
ताके माता पिता और सुहृद सखा, वाके मुख ही कारे।
एक बूँद गंगाजल नीको धिक थिल्लर को पानी।
हरिदरशन की चेटी उपर वारौ राजा की रानी।

इसे पढ़कर सन्त तुलसीदास के 'जाके प्रिय न राम वैदेही' पद की याद आती है। राम के साथ-साथ राम-भक्त के दर्शन पाने के लिए तरसनेवाले जनजसवन्त कह उठते हैं :

कब मैं राम उपासक देखूँ
चरन ध्याऊँ चरनोदक लेऊँ
जनम सफल कर देखूँ।

वास्तव में जनजसवन्त की हिन्दी रचनाओं में अवधी का बड़ा ही साफ-सुथरा रूप पाया जाता है।

नासिक के निवासी मध्वमुनीश्वर (सन् १६८९-१७३४) ने कुछ हिन्दी गीत लिखकर राम-भक्ति की सरिता प्रवाहित की है। एक पद में वे अपने मन से कहते हैं :

"करो मन रघुजी से प्रतीत।
तात मात सुत बन्धु वनिता, इनकी उलटी रीत।
जो कि अपनो अपनो गरजी, कौन कोई को मीत,
कहते मध्वोनाथ गुसाईं, करले अपनो हीत"

"राखा असल जो ईमान, वड़ा सानी मुसलमान—" जैसे कुछ गीतों में इन्होंने हिन्दुस्तानी ढंग अपनाया है तो कहीं-कहीं मन की शुद्धता को सर्वोपरि बतलाकर निरे पाण्डित्य की आलोचना की है। इनके कुछ गीतों की भाषा बड़ी संस्कृत-प्रचुर है, जो वास्तव में संस्कृत पर उनके अधिकार की परिचायक है।

मध्वमुनीश्वर के शिष्य अमृतराय (१६९८-१७४३) का उल्लेख करना भी उचित है। इन्होंने अपने हिन्दी के भक्तिगीतों की रचना मराठी के कटाव छन्दों में की है। इनके कटावों की चित्रात्मकता और गेयता के कारण इनके छन्दों को वहुत ही लोकप्रियता प्राप्त हुई है। 'वृजराजजी के दर्शन को भए लोभी नयन हमारे' कटाव में, यशोदा के सामने कृष्ण अपनी सफाई देते हुए मिट्टी न खाने की बात कहकर मुँह खोल देते हैं, उस क्षण का चित्र इस तरह है :

"नहिं नहिं मृत्तिका खाई, झूठा कहत बलभद्र भाई
सो तुम साँच न मानी माँई,...
वदन पसारत तामों, कय कय प्रकार के रूपों
दीप दिपान्तर शशि सूरज,
नवल कहा तारांगन पंचतत्त्व तेजाम्बर,
धरणी पवन पानी चारों वाणी,
चारों देह, चतुर्दश लोक गया प्रयाग,
विष्णुकांची, अवन्ति द्वारावती,
गोकुल कुल सुखर सनक सनन्दन विद्याधर
बहु विविध देखकर,
जसुमति मन मों थकित होकर करत बखानत।

उपर्युक्त गीत में अद्भुत के साथ-ही-साथ हमारी संस्कृति की परम्परागत मान्यताओं का विस्तृत आयाम हुआ है।

अठारहवीं सदी के अन्य महाराष्ट्रीय सन्तों में दौलताबाद के मानपुरी (मृत्यु सन् १८३०), ठाकुर बाबा (मृत्यु १८३०), निरंजन रघुनाथ (सन् १७८२-१८५५) और बालकराम का नाम उल्लेखनीय है। मानपुरी ने दौलताबाद में अपने मठ की स्थापना की थी। भाषा की शुद्धता की परवाह न करनेवाले इस पहुँचे हुए सन्त ने अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए व्यक्त किया है :

कौन बन-बन ढूँढ़त सईं सेहर घट माँही
पूरब ध्यायो कोई-कोई पश्चिम ध्यायो
गुरु उमगत नाहीं।

एक अन्य स्थान पर, समूचे संसार पर वृक्ष के पत्तों का आरोप करते हुए लिखते हैं :

नए-नए पात सुहावने लागे जूने सब झरि जात।
जो झर से फेन लागे, विरछ नहीं कुम्भलात।
मानपुरी कहे ब्रह्म विरछा के साधु-सन्त फल खात।

यहाँ दूसरी पंक्ति में फेन का उल्लेख मूल साँग रूपक की सरलता में तनिक बाधा उपस्थित करता है, तिस पर भी इस संसार में नवागत व्यक्तियों के लिए वृक्ष के हरे-भरे पत्तों और विदा होनेवाले यात्रियों के लिए झरनेवाले पत्तों का रूपक सराहनीय है।

सन्त एकनाथ को गुरु माननेवाले ठाकुर बाबा राम की भक्ति में विभोर होकर कह उठते हैं : 'मेरे मन मो वहि

राजत है रघुनाथ' और 'साधुता सीदति है, हुलसति खलई है' वाले कलियुग में, 'तारनहार' एवं 'साधनहार' का उल्लेख करते हुए गाते हैं : 'यह साधनहार कलियुग में ।'

सन्तसमागम हरिगुण कीर्तन सारासार विचार
श्रीगुरु सेवा तन-मन-धन सो तारक भवजल पार
ठाकुरदास आसा चरनन की तर्जाहि में तूँ मार ।

राम के इस भक्त ने यत्र-तत्र भगवान् कृष्ण की, 'पूर्ण काम गोपाल की' बाँसुरी का वर्णन करते हुए :

खग मृग सब जग मोहो छिन मों ब्रह्मा शशि माला ।
रवि शशि गृह स्थिर भया,
तारागण रहित गति भयो काला ।

अद्‌भुत का पुट भी चढ़ाया है ।

दत्तात्रय के भक्त निरंजन रघुनाथ स्वामी के शिष्य थे और आगे चलकर निरंजन रघुनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए । ये अपने जीवन में गिरनार की यात्रा कर चुके थे, जिससे इनकी रचनाओं में गुजराती शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है । आगम-निगम के झंझट में न पड़ने के लिए निरंजन रघुनाथ ने 'अनुभव लय बिन बात न बोलों' पर बल दिया है और 'ब्रह्म रसायन पीयो भाई, दुर्गत हा सब बाधत नाहीं' का दिलासा दिया है । एक बार अपने स्वामी दत्तात्रय को नींद से जगाने के लिए प्रभाती गाते हुए वे कहते हैं :

जागिए यदुराज गुरु स्वामी अवधूत ।
तीनों लोक धन्य भयो अनसूया माता ।
धन्य भाग्य पायो अत्रि मुनि पिता ।
इन्दु बन्धु पिता सिन्धु तीनों लोक त्राता ।
निरंजन-शोर करत निशिदिन गुण गाता ।

बालकराम मराठी में अपनी 'अंगद-शिष्टाई' के लिए प्रसिद्ध हैं । इस गद्य का अन्तिम अंश हिन्दी में है जिसका प्रारम्भ :

लंकापति तब क्रुद्ध भयो रे, बात सुने अंगद की
क्या देखत हो सब मिलि तुम जिह्वा छेदो याकी ।

जैसा कि रावण की आज्ञा से ज्ञात होता है । आगे चलकर रावण के अनुचरों की अंगद के हाथों जो दुर्गति हुई उसका वर्णन किया है । राम के भक्त होने के नाते राम की राज्यश्री का चित्र खींचते हुए बालकराम कहते हैं :

राज करे रघुवीर
सुधारस पान करे जन सारे नखत समीर,
जगमग सुन्दर ज्योति प्रभु की मोच करे दरबार ।
बालक राम प्रभु की इच्छा कोउ गुन गुनावत पार ।

इनके पार्वती-स्वयंवर में विनोदपूर्ण ढंग से विवाह के प्रसंग को प्रस्तुत किया गया है । इसके अतिरिक्त बालकराम की विशेषता सवैया लिखने में है । इनका व्यावहारिक सयानेपन का वर्णन करनेवाला एक सवैया इस तरह है :

ज्ञान घटै नर मूढ़ की संगत,
ध्यान घटै बिन धीरज पाए,
चीत घटै मुखते कुछु माँगत,
प्रीत घटै बिन धीरज पाए,
चाह घटै रसना भीखा बोलत,
भाव घटै काम संगत पाए,
बालकराम घटै मन मोर
रमीत के चीत जीने दुख पाए ।

हिन्दी रचना करनेवाली सन्त महिलाओं में तुकाराम की सुविदित शिष्या बहिणाबाई (दीक्षाकाल १६४०) ने 'यमुना के तट धेनु चरावत गावत है गोपाल री' में भगवान् कृष्ण के ग्वाल-रूप का वर्णन मधुर भाषा में किया है । कहीं-कहीं गीतों में ज्ञान की मृत्युञ्जय शक्ति का भी उत्कृष्ट वर्णन किया है ।

मराठी लावनी-रचयिताओं के सम्बन्ध में सामान्यतः ऐसी मान्यता है कि ये लोग नागरी सभ्यता से दूर निरक्षर परम्पराओं में पले होने से इनके उच्छ्वासों में महाराष्ट्र के तत्कालीन ग्राम्य-मानव के हृदय का स्पन्दन है, जिसमें उसकी शक्ति और दुर्बलता दोनों ही समान रूप से सहज ही विद्यमान है ।

लावनी के रचयिताओं में कालक्रम की दृष्टि से घोलम निवासी अनन्त फन्दी (१७४४-१८१९) का ही नाम सबसे पहले आता है । पवाड़ों और लावनी दोनों के ही सन्दर्भ में इनका नाम लिया जाता है । पवाड़ों के गायक, एक तरह से भाट और चारणों की प्रथा से अनुप्राणित रहे हैं । अनन्त फन्दी के 'माधव ग्रन्थ' में संग्रहित पवाड़ों से भी यही प्रतीत होता है । उन पवाड़ों में इन्होंने 'जिसका खाना उसका गाना' को अपनाते हुए किसी की निन्दा तो किसी

की प्रशंसा की है। इनके वर्ण्य-विषय होलकर और पेशवा रहे हैं। अनन्त फन्दी की हिन्दी लावनियों में स्पष्टवादिता अभिव्यक्त होती है। जो कुछ इन्होंने देखा, परखा और जो इन्हें भाया, उसे इन्होंने स्पष्ट भाव से अभिव्यक्त किया। भाषा की सजावट, अलंकारों का विधान आदि उपादानों की अनन्त फन्दी ने कभी परवाह नहीं की। इनकी रचनाओं में 'छैल छबीली अजब रँगीली मुख में चाबे पान का बिड़ा' जैसी सुन्दरी को उपस्थित करते हुए ये निर्भय भाव से पुकार उठते हैं :

गल मोतिन के हार छोभा बिचवन के झनकार।
रुम झुम पाउल बजावत नयनों की लग रही मार॥

मराठी के लावनीकारों में सोलापुर-निवासी राम जोशी अधिक उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं से इनकी परम्परागत शिक्षा-दीक्षा का परिचय मिलता है। शब्दों के चयन और अनूठी कल्पनाओं के सृजन के कारण, लावनी-जैसे साहित्य का उपहास करनेवाले पण्डितों के भी ये आदर के पात्र रहे हैं। खेद इस बात का है कि कई भाषाओं की जानकारी रखनेवाले इस कवि की हिन्दी रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं। इनकी संस्कृत, हिन्दी, कन्नड एवं मराठी भाषाओं के मेल से रचित एक लावनी इस तरह है :

तिष्ठ निष्ठ सखि।
इतुकी रागानें का गे बोली।
न: गोकुलपति न्नि म्याल।
सखी सुन री अलबेली।
अंगसंगमो मया सह तब।
दैवदशाखुलली।
इष्ट मालवी निन्न मनसा।
कविगण मान भरनवाली॥

इस लावनी में 'सखी सुन री अलबेली' को देखकर यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि राम जोशी को हिन्दी का अच्छा परिचय था।

दूसरे बाजीराव पेशवा के काल में होनाजी बाला सरल एवं मधुर लावनियों के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हुए। इनकी कृष्ण को जगाने के अवसर पर लिखित मराठी रचना 'घनश्यामसुन्दरा अरुणोदय झाला' 'अमर भूपाली' के नाम से विख्यात हैं। इसने मराठी भाषियों के मनों को सच्चे अर्थों में मोह लिया है। दुर्भाग्य से इनकी हिन्दी-रचनाएँ प्राप्त नहीं हो पाईं।

नासिक के समीप बावी-निवासी परशुराम (१७५४-१८५४) की प्रसादपूर्ण लावनियाँ अवश्य उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण की लीला से सम्बद्ध निम्नलिखित लावनी देखिए :

जमुना के नीर तीर धेनु चरावे,
नट चालक गिरिधारी॥ १॥
सुनो राधा प्यारी किने बजाई मुरली।
राधा किने बजाई मुरली।
वृन्दावन को श्याम कन्हैया।
घुंडकी गोकुल नगरी
किने बजाई मुरली॥ २॥
विट्ठु परशुराम हरिगुण गावे,
यशवन्त छन्द ललकारी।
किने बजाई मुरली॥ ३॥

वास्तव में परशुराम काव्य-कला के सम्बन्ध में बहुत सतर्क कभी नहीं रहे, उनकी ईमानदारी और भाषा की सरलता ने ही उन्हें गौरव का अधिकारी बनाया।

लावनी के रचयिताओं में प्रभाकर (१७६९-१८४३) की भगवान् कृष्ण की लीला से सम्बद्ध तथा उनकी मुरली पर आधारित रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हैं। 'प्यारी देखन चली कुञ्जबिहारी' में उन्होंने यमुना के तीर पर कृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन अच्छा किया है। कृष्ण के सामान्य जीवन का चित्रण भी बड़ा सजीव है; उदाहरणार्थ :

गावत नाचत बजावत बेनू।
गले हाथ डाल के खुजावत धेनू।
आगे पीछे उठके हैरे कछु मैं न जान्यूँ।
वाके पैंजन गले बीच माला।
मोर मुकुट सिर है रंग का काला।
खूब लपेट लिया पीताम्बर माला॥
ग्वालन घर कु जाके करे रात चोरी॥

वास्तव में यमुना के तीर पर ग्वाल-बालकों के साथ गोपियों द्वारा घिरे हुए बन्सीधर कृष्ण की आभा खिल उठती है। 'प्यारी राधा' के संग कुञ्जबनों में मधुर मुरली बजानेवाले कृष्ण का विस्मयकारी प्रभाव रचना में देखिए :

देखिए :

भूल गए सुर किन्नर बाँके ।
बैठे इसेश्वर इन्दर आके,
रोने लगे सब मुरली सुनके ।।
ध्यान लगावत ।
मुरलि बजावत री ।।

एक अन्य लावनी :

गंगू हैबती कहे अजि नन्दलाला ।
मेहेर रखो हम पर जी गोपाला ।।
महादेव गुणी गावे हरिलाला ।
राग अलाफत ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में आनेवाले 'गंगू हैबती' एवं 'महादेव' के नाम प्रभाकर की बहुतेरी रचनाओं में पाये जाते हैं। सम्भव है ये उनको सहयोग देनेवाले साथी हों। 'होनाजी बाला' के नाम से प्रसिद्ध रचनाएँ भी होनाजी के साथ-साथ उनके सहयोगी 'बाला' का नाम गूँथती हैं। मालूम होता है कि लावनी को गानेवालों में जो सहयोगी सबसे योग्य एवं निकटवर्ती हों, उसका नाम भी रचना के अन्त में जोड़ने की प्रथा उस समय प्रचलित थी।

प्रभाकर की शृंगारिक रचनाओं में संयम बहुत ही कम दिखाई देता है; सच्ची भावनाओं के दर्शन नहीं होते। शृंगार के दोनों पक्षों, संयोग एवं वियोग का यही हाल है। संयोग में मधुर व्यंजना के स्थान पर उन्मुक्त अभिधा का उपयोग किया गया है और वियोग में आर्तता की अपेक्षा शब्दों की तड़क-भड़क से काम लेना ही प्रभाकर ने उचित समझा। प्रभाकर की प्रौढ़ा नायिका बीस बरस के युवक के प्रति आकृष्ट होकर उससे कहती है :

तेरे सुरत पर तो प्यारे हुआ दिल फिदा ।
घूँघट लेके करती जबी मैं अदा ।।
बीस बरस की उम्बर बने तूँ दुला ।
बदन तेरा क्या कहूँ मावुक चन्दा खुला ।।
नैन की लग रही जाल दोनों दुला ।
मेरा निकल कर जी जाता हाय रे खुदा ।।

इस तरह के वायुमंडल में 'नैनों का तीर मारा कलेजे के पार', 'आई भूल मुझे, गिरा लगी कटियार' को छोड़कर और किस चीज़ की आशा की जा सकती है!

लावनियों की शृंगार-धारा में जेजुरी के रहनेवाले सगन भाऊ (सन् १७७८-१८४०)-जैसे मुसलमान भी निमग्न हुए। मुसलमान होने के नाते इनका हिन्दी तथा उर्दू से परिचय था। इन्होंने 'जल भर के प्यारी उठे'-जैसी रचनाओं में उस काल की प्रेम-पद्धति का अच्छा वर्णन किया है। 'नयन से नयन मिला के पीछे देख मुसाफिर खड़ा', यही उस समय की विशेषता थी। सगन भाऊ की कुछ रचनाएँ विलासिता में प्रभाकर की लावनियों से होड़ अवश्य लेती हैं, किन्तु इन्होंने अधिकतर संयम से काम लिया है।

चतुर से चतुर मिला । चाँद से चाँद खुला ।
एक पर एक हो गए फिदा ।।

उस काल के अन्य लेखकों में शिवनेरी के दल में सम्मिलित गोविन्दराव साने का उल्लेख करना आवश्यक है। इन्होंने खड़ीबोली में कई कविताएँ लिखीं। इनकी रचनाओं में रूपक बाँधने की कला का कौशल अधिक दिखाई देता है। इन्होंने वेदान्त के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जो इनके बहुश्रुत होने का परिचायक है। इनकी खड़ीबोली पर उर्दू का अधिक प्रभाव मालूम होता है, जो उस काल के मुसलमानी शासन को देखते हुए स्वाभाविक है। इनकी रचनाओं में :

बिसमिल्ला कर उठे,
अक्कल का लिया समशेर ।
मनसूबे की ढाल,
जिरह टोप पर बख्तर ।।

आगे चलकर यौवन को कमान और शिक्षक को ज्ञान का तीर कहकर पवन के घोड़े के ऊपर सवार होने की बात उठाई गई है।

: २ :

पेशवाओं के पतन के बाद पूरे महाराष्ट्र पर अंग्रेज़ों का शासन स्थापित हुआ। इसकी वजह से विजेताओं की भाषा अंग्रेज़ी का आतंक छा गया। पश्चिमी संस्कृति की छाप यहाँ के निवासियों पर अंकित करने के उद्देश्य से अंग्रेज़ी को ही शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इससे कुछ काल तक देशी भाषाओं की प्रगति कुंठित हो उठी। किन्तु धीरे-धीरे उच्चशिक्षा प्राप्त-व्यक्तियों में विदेशी शासन के

प्रति असन्तोष के भाव जाग उठे। फलस्वरूप महात्मा गांधी के मार्गदर्शन में राष्ट्रीय शिक्षा एवं राष्ट्रभाषा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ, जिसकी प्रतिक्रिया हिन्दी की प्रचारात्मक सभा-समितियों के रूप में सामने आई। इनमें राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना, बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ, ज्ञानलता मंडल, भारतीय विद्यापीठ आदि प्रमुख हैं।

उपर्युक्त संस्थाओं का उद्देश्य था हिन्दीतर भाषा-भाषियों को हिन्दी की शिक्षा देना। अतः इन संस्थाओं की ओर से हिन्दी व्याकरण एवं रचना के विषय पर कई पुस्तकें तैयार की गईं। इनमें (सन् १९४१-४२ में) हिन्दी के अनुभवी प्रचारक श्री साठे और केलुस्कर की हिन्दुस्तानी भाषा-परिचय (३ भागों में) विशेष उल्लेखनीय है। इनमें विभिन्न स्तर के अध्येताओं का विशेष ध्यान रखा गया है।

महाराष्ट्र में रहनेवाले विभिन्न भाषा-भाषियों को हिन्दी सिखाने के उद्देश्य से उपर्युक्त संस्थाओं ने कई दीपिकाएँ एवं शिक्षिकाएँ प्रकाशित कीं। मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने पहले-पहल 'हिन्दी-अंग्रेजी', 'हिन्दी-कन्नड़' एवं 'हिन्दी-तेलुगु'-जैसी पुस्तकों को प्रकाशित करके सुचारु मार्गदर्शन किया। इस प्रकार बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ ने सन् १९३९ में 'अंग्रेज़ी-हिन्दी शिक्षिका' का पहला खण्ड प्रकाशित किया। इसी पुस्तक का दूसरा खंड (जुलाई १९४८) तैयार कराने में अनुभवी प्रचारक महिलाएँ सुश्री रखमाबाई तल्लूर एवं इन्दिराबाई वायंगणकर ने एवं श्री विट्ठल शेट्टी ने अच्छा सहयोग प्रदान किया। प्रो० प्रभाशंकर तरैया-कृत 'गुजराती-हिन्दी दीपिका' भी, जिसे बाद में 'हिन्दी-गुजराती शिक्षिका' की संज्ञा मिली, इसी विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित हुई। 'मराठी-हिन्दी दीपिका' को लिखने में श्री ना० ह० मन्त्री (वर्तमान अर्थमन्त्री), श्री बालकृष्ण भोंसले (वर्तमान प्रचार-मन्त्री) और कु० शकुन्तला रावलगाँवकर ने अच्छी सहायता प्रदान की। उक्त दीपिका का पहला खंड फरवरी सन् १९५६ में और दूसरा खंड मई सन् १९५८ महीने में प्रकाशित हुआ। कुमार शर्मा कृत 'उर्दू-हिन्दी शिक्षिका' का भी यहाँ उल्लेख करना समीचीन है। महाराष्ट्र के हिन्दीतर-भाषियों के हिन्दी-अध्ययन के लिए उक्त पुस्तिकाएँ अतीव लाभदायक हुई हैं। श्री श्रीपाद जोशी-कृत 'उर्दू लिपि परिचय' का भी यहाँ उल्लेख होना चाहिए। इस छोटी-सी पुस्तक के सात अध्यायों में उर्दू लिपि पर बहुत ही अच्छा प्रकाश डाला गया है।

देशी भाषाओं में हेलमेल बढ़ाने के उद्देश्य से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने विभिन्न विद्वानों की सहायता से स्व० पं० राहुल सांकृत्यायन के सम्पादन में भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्य का ऐतिहासिक परिचय देने के निमित्त एक ग्रन्थ की रूपरेखा बनाई। तदनुसार 'भारतीय वाङ्मय' के तीन भाग सन् १९५१ में प्रकाशित हुए। भाग १ के चार अध्यायों में क्रमशः संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखित साहित्य का सुचारु परिचय दिया गया है, भाग २ में हिन्दी एवं उर्दू के साहित्य पर प्रकाश डाला गया है और भाग ३ में पूर्व भारत की बंगला, उड़िया एवं असमिया भाषाओं में निर्मित साहित्य की प्रवृत्तियों का परिचय हिन्दी-पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का यह कार्य बड़ा ही सराहनीय है और आशा की जाती है कि भविष्य में शेष भारतीय भाषाओं पर भी इसी तरह के ग्रन्थ प्रकाशित करके समिति अपने संकल्प को पूरा करेगी।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने 'भारत-भारती' नाम की पुस्तक-माला प्रकाशित कर हिन्दी के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं का परिचय उपस्थित करने का भी सराहनीय प्रयत्न किया है। उस माला मे पहले-पहल दक्षिण भारत की कन्नड, तेलुगु एवं तमिल भाषाओं का परिचय देनेवाली तीन पुस्तकें देवनागरी में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्हें इतने सरल ढंग से लिखा गया है कि साधारण व्यक्ति इन भाषाओं को अपनी बोलचाल में आसानी से अपना सकता है। मराठी भाषा का परिचय देनेवाली पुस्तक भी छप चुकी है। उपर्युक्त सभी पुस्तकों को तीन खंडों में बाँटा गया है; पहले खंड में उस भाषा के उन शब्दों का परिचय दिया गया है जो दैनिक व्यवहारों में प्रयुक्त होते हैं; दूसरे खण्ड में कुछ कठिन शब्दों एवं मिश्र तथा जटिल वाक्यों को उपस्थित करके तीसरे खण्ड में उस भाषा में प्रचलित मुहावरों एवं कहावतों का हिन्दी अनुवाद देकर उन भौगोलिक विभागों एवं क्षेत्रों पर प्रकाश डाला

गया है जहाँ वह भाषा बोली जाती है। तीसरे ही खण्ड में उस भाषा के प्रमुख साहित्यकारों एवं उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया गया है जिससे पुस्तक की उपयोगिता निस्सन्देह बढ़ गई है। प्रत्येक पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत उस भाषा की लिपि एवं शब्दों के उच्चारण के ढंग से पाठकों को परिचित कराया गया है। कुल मिलाकर यह बड़ा ठोस कार्य है, जिसके लिए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को हिन्दी-प्रेमी ज़रूर बधाई देंगे। आशा करनी चाहिए कि निकट भविष्य में समिति अन्य भाषाओं पर भी इसी ढंग से पुस्तकें प्रकाशित कर इस माला को पूरा करेगी।

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रचार समितियों ने अपनी-अपनी परीक्षाओं के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए गद्य एवं पद्य के चुने हुए अंशों को लेकर कई पुस्तकें छपवाईं, जिनका उल्लेख यहाँ सिर्फ इसलिए किया जाता है कि इनमें प्रचार के क्षेत्र में काम करनेवाले विभिन्न स्तरों के पाठकों का समुचित ध्यान रखा गया था। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा सन् १९५२ में प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा बोध' भाग १, २ तथा ३ में गद्य के पाठ अनुभवी प्रचारकों द्वारा स्वतन्त्र रूप से लिखे गए। महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने मदरसे के विद्यार्थियों की हिन्दी शिक्षा के लिए सन् १९५३ में अपने प्रचारकों द्वारा लिखित एवं सम्पादित 'लोकवाणी' के छः भाग प्रकाशित किये। बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ ने अपनी प्रथमा परीक्षा के परीक्षार्थियों के लिए 'पुष्पांजलि' नाम की पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें सरल हिन्दी में लिखित कथाओं के माध्यम से भारत के इतिहास के विभिन्न काल-खण्डों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया था। सन् १९६० तक इस पुस्तक का छठा संस्करण निकल चुका है। उक्त प्रकार की पुस्तकों में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा सन् १९५४ में प्रकाशित 'महाजनी-प्रवेश' का उल्लेख करना समीचीन होगा, क्योंकि अंकगणित को हिन्दी के माध्यम से उपस्थित करने का यह एकाकी प्रयत्न है। विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई पुस्तकों में रुइया कालेज के हिन्दी के प्रोफ़ेसर रामयतनसिंह 'भ्रमर' कृत 'निबन्ध प्रदीप' अपनी शैली के लिए उल्लेखनीय है। प्रो० जी० एन० साठे द्वारा लिखित 'राष्ट्रभाषा का अध्यापन' महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा पुणे से सन् १९५७-५८ में प्रकाशित हुई। बम्बई तथा महाराष्ट्र में हिन्दी सिखानेवाले शिक्षकों के लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से लिखित व्याकरण पुस्तकों में श्री पं० मु० डांगरे एवं श्री कान्तिलाल जोशी द्वारा लिखित 'सरल हिन्दी व्याकरण' (भाग १, २ तथा ३) का उल्लेख किया जा सकता हैं। श्री यशचन्द्र की 'हिन्दी शुद्धलेखन' (सन् १९५१) खासकर हिन्दीतर-भाषियों के लिए लिखी गई है। मराठी व्याकरण का सुव्यवस्थित ढंग से परिचय करानेवाली महत्त्वपूर्ण पुस्तक है प्रो० न० चिं० जोगलेकर-कृत 'मराठी का वर्णनात्मक व्याकरण'। हिन्दी जानने वालों के सामने मराठी के व्याकरण पर प्रकाश डालने वाली इस एकमात्र पुस्तक को प्रकाशित करने का श्रेय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा को है।

महाराष्ट्र में हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए यहाँ हिन्दीतर भाषा-भाषियों की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर स्वतन्त्र रूप से एवं उपर्युक्त समितियों के तत्त्वावधान में कई कोशों का भी निर्माण किया गया। इस विषय में स्व० पंडित ग० र० वैशम्पायन महाराष्ट्र के पथ-प्रदर्शक माने जाएँगे। मराठी तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में अत्यन्त प्रचलित शब्दों को लेकर उन्होंने 'हिन्दी-मराठी-व्यवहार कोश' तैयार किया। 'राष्ट्रभाषा-मराठी लघुकोश' इसी का संक्षिप्त संस्करण है। सन् १९४९ में इनका 'मराठी से हिन्दी शब्द-संग्रह' भी प्रकाशित हुआ, जिसमें मराठी के १८,००० शब्दों के साथ २,३०० मुहावरों एवं कहावतों के हिन्दी पर्याय दिये गए हैं।

जून १९५० में इनका 'हिन्दी-मराठी लोकोक्ति कोश' भी पाठकों एवं अध्येताओं की सेवा में उपस्थित हुआ। इस लघु-कोश में लगभग ८०० हिन्दी लोकोक्तियों को उनके मराठी पर्यायों के साथ प्रस्तुत किया गया है। सच बात तो यह है कि उपर्युक्त सेवा के कारण महाराष्ट्र के हिन्दी-प्रेमी स्व० वैशम्पायन के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकेंगे।

पूना में स्थित अखिल महाराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति ने पाँच व्यक्तियों की एक उपसमिति नियुक्त करके मराठी

भाषा-भाषियों की सुविधा के लिए 'हिन्दुस्तानी-मराठी शब्दकोश' तैयार किया। इसमें जान-बूझकर हिन्दी एवं मराठी के समान शब्दों को स्थान नहीं दिया गया, लेकिन कबीर, तुलसीदास, सूरदास आदि हिन्दी के प्राचीन कवियों की रचनाओं में पाए जानेवाले शब्दों का, चाहे वे अवधी, ब्रज आदि बोलियों के ही क्यों न हों, अर्थ देना आवश्यक समझा गया। इसका तीसरा संस्करण श्री गो० प० नेने एवं श्री श्रीपाद जोशी के हाथों सम्पन्न हुआ और जनवरी १९५६ में वह पूना में स्थित महाराष्ट्र राष्ट्रसभा द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें ६,००० नवीन शब्दों का समावेश किया गया। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के लिए पंडित राहुल सांकृत्यायन ने अप्रैल १९५३ में 'संक्षिप्त राष्ट्रभाषा कोश' प्रकाशित किया।

बम्बई-निवासी स्व० श्री कृष्णलाल वर्मा ने श्रीमती पेणकर की सहायता से एक हिन्दी-मराठी कोश तैयार किया था। यहाँ श्री श्रीपाद जोशी-कृत 'अभिनव शब्द-कोश' अथवा 'शब्दमित्र' (जनवरी १९५८) का उल्लेख करना भी आवश्यक है। यह कोश वास्तव में हिन्दी-मराठी एवं मराठी-हिन्दी दोनों कोशों को इकट्ठा करने का प्रयत्न था। मराठी एवं हिन्दी में समान रूप से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की सूची अलग परिशिष्ट में दी गई है। कोश के अन्त में हिन्दी की खास रचनाओं के साथ-साथ वैशिष्टयपूर्ण शब्दों पर भी प्रकाश डालकर इस कोश को महाराष्ट्र के निवासियों के लिए अधिक उपयोगी बनाया गया है। फ़रवरी सन् १९५५ में बम्बई में स्थित ज्ञानलता मण्डल ने 'व्यवहार-दीपिका' के नाम से एक 'मराठी-हिन्दी कोश' छपवाया, जिसका दूसरा संस्करण जनवरी १९५६ में प्रकाशित हुआ। आगे चलकर भारत सरकार द्वारा उक्त संस्था को अनुदान प्राप्त हुआ, जिससे प्रोत्साहित होकर उक्त मण्डल ने मार्च १९६० में 'व्यवहार-दीपिका' को नवीन रूप में प्रकाशित किया। इस बार इसमें मराठी, गुजराती, हिन्दी एवं अंग्रेज़ी इन चारों भाषाओं के विभिन्न क्षेत्रों के शब्दों के पर्यायों को एक स्थान पर एकत्र किया गया।

इस प्रकार यह लघु कोश विभिन्न भाषाओं की जानकारी देने का अच्छा प्रयत्न है। इस प्रयत्न के लिए उक्त कोश के संयुक्त सम्पादक श्री नारायण केलकर एवं श्री मुकुन्द वीरकर बधाई के पात्र हैं। इस सिलसिले में बम्बई-निवासी श्री वि० द० नरवणे के बहुभाषी कोश का उचित गौरव के साथ उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। इसमें देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के २५,००० शब्दों को भारत की १४ भाषाओं के पर्यायवाची शब्दों के साथ पाठकों की सेवा में उपस्थित किया गया है। ये चौदह भाषाएँ हैं, पंजाबी, उर्दू, काश्मीरी, सिन्धी, मराठी, गुजराती, बँगला, असमिया, उड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़ एवं संस्कृत। सुविधा के लिए सभी शब्द ५० विभिन्न कोटियों अथवा विभागों में बाँटे गए हैं। साथ-साथ दैनिक व्यवहारों में प्रचलित लगभग ३५० छोटे-छोटे वाक्य चुनकर उनका सभी उपर्युक्त भाषाओं में अनुवाद किया गया है। पर्यायवाची शब्दों के सम्बन्ध में कहीं-कहीं मतभेद की गुन्जाइश है और कुछ प्रचलित शब्दों का अभाव भी खटकता है, लेकिन कोशकर्ता के अध्यवसाय एवं परिश्रम की भूरि-भूरि सराहना किये बिना नहीं रहा जाता। कोश-निर्माण के क्षेत्र में इस कोश का महत्त्व सचमुच असाधारण है और भारत के राष्ट्रपति से लेकर सभी अधिकारी व्यक्तियों ने श्री नरवणे के इस कार्य को राष्ट्र की भावात्मक एकता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण काम माना है, जो सर्वथा उचित-सा है।

गोरेगाँव में स्थित साहित्य-मन्दिर ने सितम्बर सन् १९६२ में भारत सरकार के अनुदान से 'अर्वाचीन राज्य-व्यवहार कोश' प्रकाशित किया, जिसमें अंग्रेज़ी, मराठी एवं हिन्दी तीन भाषाओं का उपयोग किया गया है। इसमें मराठी तथा हिन्दी के समान शब्दों को मोटे हरूफों में देने की सावधानी बरती गई है। कोश के नाम से ही स्पष्ट है कि कोश समिति ने राज्य-व्यवहार से सम्बद्ध शब्दों तक अपने को सीमित रखा है, फिर भी लगभग ७००० अंग्रेज़ी शब्दों का समावेश इसमें हो चुका है। कोश-समिति के सदस्यों ने[1] शब्दों के निर्माण में जो दृष्टिकोण रखा है वह

१. सदस्यों के नाम हैं—श्रीमल सामन्त, प्रमुख। सहयोगी १. पं० श्री गोडबोले, २. दि० म० धाटे, ३. श्री क० र० मोडकर तथा ४. श्री र० म० वालावलकर।

भी प्रगतिशील एवं सराहनीय है । राष्ट्रभाषा हिन्दी और मराठी को समृद्ध एवं सम्पन्न करने का यही 'प्रशस्त-पुण्य-पन्थ' है, और इस 'पन्थ के पथिक' बनने के लिए कोश-समिति के सभी सदस्यों को हार्दिक बधाई देना सर्वथा उपयुक्त ही है ।

: ३ :

आधुनिक काल-खण्ड में महाराष्ट्र की हिन्दी सेवा के दो रूप माने जा सकते हैं : एक हिन्दी भाषा के प्रचार एवं प्रसार से सम्बद्ध है और दूसरा हिन्दी-साहित्य के सृजन से । स्वाधीनता के पहले तक हिन्दी का प्रसार और प्रचार ही प्रमुख रहा, लेकिन स्वाधीनता के बाद सृजन-कार्य को भी प्रचुर गति और वेग मिला ।

सबसे पहले कविता को ही लें । महाराष्ट्र के आधुनिक सन्तों में तुकडोजी का नाम मशहूर है । उनके हिन्दी में लिखित गीतों एवं भजनों ने 'गिरे हुओं' को अच्छी राहत पहुँचाई है । बम्बई के महर्षि दयानन्द कालेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० रामावतार चेतन ने सन् १९५५ में 'श्वासों के स्वर' नामक अपना कविता-संग्रह प्रकाशित किया । इनमें सन् १९५० से ५५ तक उनके मन में उठनेवाली विचार-तरंगों को बड़ी ईमानदारी के साथ साकार किया गया है । और चेतन की कविता का यही प्रमुख गुण है । 'संघर्षों में ही है जीवन' में अपने विश्वास को व्यक्त करनेवाले इस कवि को जब कभी निराशा के बादल घेर लेते हैं तो वह कह उठता है :

विपदों का ढेर, उठाया
पार न मिली आशा की छाया

और इसीलिए 'साँसों से बहलाया मन को' की नौबत उस पर आ पड़ी । सन् १९५८ में चेतन का एक और कविता-संग्रह 'चाँद से नीचे' के नाम से छपा, जिसमें उन्होंने विश्वास के स्वर में कहा है :

मुझे शार्ट कट नहीं चाहिए
मुझे भटक लेने दो जी-भर
जब तक ऊब उठूँ···

क्योंकि उन्हें यह मालूम हो गया है कि

ऐसे घोर यत्नों के बिना
न प्यास निखर पाएगी
मंजिल नीरस हो जाएगी

'आज का सत्य' नाम की कविता में 'पाउडर आँखों में', 'काजल ओंठों में' लगानेवाले एवं 'लिपस्टिक नाक पर' मलकर भी उन्हें 'गलत स्थान पर' लगाया गया है, इसका स्वीकार करते हुए आँखों, ओंठों एवं नाक के ही गलत स्थान पर लग जाने की बात कहनेवाले लोगों की बात उठाकर खोखली आधुनिकता पर, खासा व्यंग्य किया गया है । 'चाँद से नीचे' के लेखक से अधिक आशाएँ अवश्य की जा सकती हैं ।

श्री ए० आर० रत्नपारखी आजकल महाराष्ट्र से दूर चले गए हैं, किन्तु 'रश्मिहास' में उनकी जो कविताएँ संगृहीत हैं वे यहीं लिखी गई थीं । 'रश्मिहास' में हिन्दी में लिखे हुए कुछ 'अभंग' मिलते हैं । सूर्य की किरणों के स्पर्श से विकसित होनेवाले फूलों को देखकर श्री रत्नपारखी अपने जीवन के दुःखों को सुखों में परिवर्तित करने की अभिलाषा से कह उठते हैं :

एक दिन मैं भी
हूँगा मोदपूर्ण
रहे चूर्ण-चूर्ण
चित्त चाहे !
दुःखों के पहाड़
टूटे सिर पर
तो भी नहीं डर
रत्ती-भर
मैं तो दुःखों को ही
दूँगा ऐसा रुख
हो जाएँगे सुख
मेरे लिए !

इस संग्रह में तुंगभद्रा से कही गई 'निविद' भी कवि की बड़ी नवीन उद्‌भावना है जिसमें वह अपने जीवन की 'क्षुद्र सीमाओं' को, 'लघुता' को 'महान् की महत्ता में एकाकार' करने के लिए आकुल दिखाई देता है । 'दीवाली के दीप' में कवि ने काव्यमय एवं वृत्तबद्ध गद्य लिखने का प्रयास किया है । माना कि 'रश्मिहास' के रचयिता की हिन्दी

पर कहीं-कहीं मराठी का प्रभाव अधिक दिखाई देता है और 'अभ्ररुचिर्पिजर' तथा 'त्वरीयवीचिनिचयार्द्र' जैसे संस्कृत के सामासिक शब्दों के कारण भाषा में पंडिताऊपन आ गया है, फिर भी नवीनता के प्रति लेखक का आग्रह सराहनीय माना जाएगा।

बम्बई में स्थित रूइया कालेज के दर्शन-विभाग के प्रमुख डॉ० ना० वि० जोशी ने अनुष्टुप छन्द में 'रूपोन्नयन' नामक प्रबन्ध-काव्य लिखकर नवीनता के साथ-साथ पुरानी परम्पराओं को एक धक्का-सा दिया है। इस प्रबन्ध-काव्य में व्यष्टि, समाज एवं समष्टि इन तीन अवस्थाओं से गुजरते हुए मानव के जीवन-मूल्यों की कहानी गत दो महायुद्धों की घटनाओं के प्रतीकात्मक इतिहास के माध्यम से पाठकों के सामने उपस्थित की गई है। 'राष्ट्र-ध्येय नहीं किन्तु साधन है समष्टि का' में मानव के रूपों के उन्नयन की ओर संकेत है। नायक सिद्धेश, नायिका सुभद्रा, नायक के मित्र निंबाल, खलनायक संकेशनाथ आदि चरित्र बड़े सुन्दर उतरे हैं। संकेशनाथ के व्यावहारिक यश एवं धनार्जन के द्वारा रचयिता ने पूँजीवादी समाज की बुराइयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। पूरे काव्य को अनुष्टुप छन्द में लिखकर रचयिता ने उस छोटे छन्द को गुरुता प्रदान की है। कथा में धारावाहिकता की पूरी रक्षा की गई है। उदाहरण के तौर पर 'निम्बाल के आह्वान' का निम्नलिखित अंश यों है :

रोझा के बाद निम्बाल उठा भाषण के लिए
गोरे नारे लगाते थे शान्त मुश्किल से हुए
निम्बाल था खड़ा जैसे गंगा झेलने को शिव
डिगा यत्किंचित् नहीं शुरू भाषण था किया
कहा, 'कोई नहीं बात रोभा, भाषण में नई
अभी जानुक से आया प्रवास कर मैं यहाँ
मिथ्या प्रचार है सारा जानुकी स्वार्थ के लिए
विज्ञान-शास्त्र का कोई प्रमाण उसको नहीं
सिद्धान्त जानुकों का जो मान लें शुद्ध सत्य ही

निम्बाल के उपर्युक्त आह्वान के सम्बन्ध में लेखक ने आगे चलकर उचित ही कहा है :

सजीव कल्पनाएँ थीं, तर्कशुद्ध विचार नए।
भाषा की कमजोरी थी, किन्तु ओजस्विता बड़ी।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि लेखक ने विवेकशील मानव की गहन समस्या पर प्रकाश डालने का सराहनीय प्रयास किया है, लेकिन 'रूपोन्नयन' के पाठकों को समस्या का हल नहीं मिलता। नायक सिद्धेश (जो कि विवेकशील मानवता का प्रतिनिधि माना जाएगा) की कुण्ठा में ही यह काव्य समाप्त हुआ है, इसका स्वयं रचयिता को भान है और इसी से वे अगस्त १९६२ में 'आलोक' को लेकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुए हैं। 'आलोक' तीन खण्डों में विभाजित है—(१) आमुख खण्ड, (२) ज्ञान खण्ड, तथा (३) अनुभूति खण्ड। आमुख खण्ड में 'अध्यात्म मानता हूँ मैं पूँजीवादी ढकोसला' कहनेवाले 'निम्बाल के जड़वाद' के साथ-साथ 'सर्वत्र सद् है व्याप्त जड़ में जीव-सृष्टि में' 'सुभद्रा का ब्रह्मनिरूपण' उपस्थित करके आगामी 'ज्ञान-खण्ड' की भूमिका लेखक ने उचित रूप में प्रस्तुत की है। इस खण्ड में सिद्धेश गत संस्कृति का सार खींचकर उसके आलोक में मानवीय मूल्य-चेतना के विकास-क्रम की व्याख्या की ओर अग्रसर हुआ है। इसीलिए देवों और दानवों की कथा के साथ-साथ राजा नहुष की कहानी एक नया रूप धारण करके इस खण्ड में पाठकों के सामने आई है। अन्त में सिद्धेश 'सद्विवेक-विकास' के सिद्धान्त पर पहुँचता है। 'ज्ञान को कर्म की ओर मोड़ने में विचक्षण' एव 'सत्य के वफादार सेनानायक' निम्बाल उसका विरोध करते अवश्य हैं, किन्तु नायिका सुभद्रा 'ज्ञान और कर्म दोनों ही पक्ष हैं एक ध्येय के' कहकर समुचित समन्वय की रेखा को खींचती है। 'अनुभूति खण्ड' में सिद्धेश अपने मस्तिष्क में संचित ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा दृढ़ श्रद्धा में परिणित करने की चेष्टा में निरत है। जड़वादी निम्बाल बिना प्रत्यक्ष प्रमाण पाए भला किसी सत्य को कैसे स्वीकार कर सकता है? अन्त में वह भी 'अपरोक्षानुभूति ही सत्य के पहचान' के बल पर 'होती ईश्वर की सत्ता विवेकी-जन-मान से' पर उतर आता है और यथार्थ में 'आलोक' यहीं पर समाप्त है। भाषा के क्षेत्र में 'विवेकी-जन-मान' जैसे सामासिक शब्दों को यदि छोड़ दें तो गतिशीलता, ओज आदि गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं।

'नहीं बहुत ही दूर किनारे से समुद के
डूबते हैं महापोत ज्वार के अवसान में'

जैसी अर्थपूर्ण उपमाएँ इसमें अनेक हैं। कुल मिलाकर जड़-वाद से अभिभूत जग में जीवन के मांगल्य की ओर तीव्रता से ध्यान खींचने वाला यह 'आलोक' एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण रचना है।

उपर्युक्त पुस्तकों के साथ-साथ इधर सामयिक कविताओं के कई रूप दिखाई देते हैं। ये कविताएँ अधिकतर मासिकों और समाचारपत्रों में प्रकाशित हो रही हैं। इन कवियों में प्रो० बंसीधर पंडा का उल्लेख करना आवश्यक है। इनकी कुछ कविताएँ कवि-सम्मेलनों के अवसर पर सुनी गईं तो कुछ मासिकों के विशेषांकों में प्रकाशित हुई हैं। सामयिकता के स्वर के साथ-साथ इनमें मार्क्सवादी विचारधारा के दर्शन होते हैं। हाल ही में खबर मिली है कि मराठवाडा के सन्त निपट निरंजन मानपुरी (अन्नन महाराज) की कुछ कविताएँ भी शीघ्र ही पुस्तकाकार छप रही हैं।

आधुनिक जीवन कई तरह के संघर्षों में पलता है। अतः कोई अचरज नहीं कि कविता की अपेक्षा गद्य ही भावों की अभिव्यक्ति के लिए अधिक अनुकूल सिद्ध हो। गद्य के क्षेत्र में भी आज सर्वत्र कथाओं का, उपन्यासों एवं कहानियों का ही बाहुल्य है। अतः उपन्यासों एव कथाओं की चर्चा करना उचित होगा।

महाराष्ट्र के हिन्दी कथाकारों में नागपुर के निवासी अनन्त गोपाल शेवडे अग्रगण्य हैं। 'पूर्णिमा', 'स्वप्नसिद्धि' 'निशागीत'-जैसे उपन्यासों की बदौलत आज इनकी गणना हिन्दी के प्रतिष्ठित उपन्यासकारों के साथ की जाती है। 'निशागीत' में सुन्दर युवा डॉक्टर मधुसूदन एवं गतश्चवा परिचारिका श्रीमती सुशीला राजेश्वर के प्रेम की करुण एवं मधुर कहानी ने इन्हें अनुपम लोकप्रियता प्रदान की है। अब तक इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया द्वारा इनके 'ज्वालामुखी' उपन्यास का भारत की सभी भाषाओं में अनुवाद हो रहा है। इनका छठा उपन्यास 'मंगला' भी काफी मशहूर हो चुका है। इसमें अन्धे गायक पण्डित सदानन्द एवं उनकी सुन्दर पत्नी मंगला की कहानी पाप एवं पुण्य, सुख एवं दुःख, अमंगल एवं मंगल के कूलों को स्पर्श करती हुई पाठकों के मन पर अपनी अमिट छाप अंकित करती है। श्री शेवडेजी की भाषा सरल एवं हृदय को सीधे स्पर्श करनेवाली है। इनकी भाषा पर कहीं-कहीं मराठी का प्रभाव दिखाई देता है, किन्तु उससे उसके प्रभाव में कोई कमी नहीं आती। उपन्यासों के साथ-साथ कहानियों में भी उन्होंने काफी सफलता पाई है। इनकी पत्नी श्रीमती यमुना शेवड़े ने भी हिन्दी में अच्छी कहानियाँ लिखी हैं।

महाराष्ट्र के हिन्दी कथाकारों में अपने को 'कलम का जादूगर' कहनेवाले पूना-निवासी श्री श्रीपाद जोशी को काफी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनका 'ध्वस्तनीड़' जाति-भेद से उत्पन्न विषमताओं का चित्र खींचता है। 'सुरंगा' इनका दूसरा उपन्यास है। कहानियाँ लिखने में भी इन्होंने पर्याप्त सफलता पाई है। 'सन्त तुकाराम', 'सन्त ज्ञानेश्वर', 'सन्त नामेख' तथा 'समर्थ रामदास' में इन्होंने महाराष्ट्र के सन्तों के चरित्रों की कथा को आकर्षक रूप प्रदान किया है। उपर्युक्त चारों पुस्तकें सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा समाज-विकास-माला के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके मूल में जनता की शिक्षा का उद्देश्य है, अतः हिन्दी की 'साध्वी एवं सरला व सरणि' के अच्छे दर्शन होते हैं। पेशवाओं के चतुर राजनीतिज्ञ नाना फडणीस की जीवनी पर भी श्री जोशीजी ने इसी ढंग की सुन्दर पुस्तक लिखी है।

बम्बई के एक शिक्षक श्री ना० द० गाडगिल ने 'आँख-मिचौली' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें प्रेमजनित संघर्ष का चित्रण किया गया है। उपन्यास का नायक सुरेश दुबे शिक्षा के लिए बनारस से बम्बई आता है, विनोद जोशी नाम के महाराष्ट्रीय युवक का अन्तरंग मित्र बनकर उसके साथ रहने लगता है। सुरेश दुबे एक महाराष्ट्रीय युवती सिन्धु से प्यार करने लगता है, जिसकी विनोद को तनिक भी जानकारी नहीं है। संघर्ष तब पैदा होता है, जब उसकी अनुपस्थिति में परिस्थितिवश विनोद का विवाह सिन्धु से हो जाता है। सुरेश दुबे के लिए अब बम्बई में अपने मित्र के साथ रहना असम्भव हो उठता है और विवश होकर बनारस चला जाता है। अपना हृदय खोलते हुए वह महाराष्ट्र की शक्ति एवं दुर्बलता की ओर स्पष्ट संकेत करता है जो यथार्थ माना जाएगा—

'तुमने अपने महाराष्ट्रीय खून की बात कही थी। मैं

उसकी दाद देता हूँ। जिसे तुमने एक बार अपना मित्र समझा उसे हर मुश्किल में मित्र ही समझा है और जिसे दुश्मन समझा उससे कभी दोस्ती नहीं की। तुम लोग बड़े व्यावहारिक हो, बड़े पवित्र दिल के हो। बुरी-भली बातों के छोर तक पहुँच जाना तुम्हें आता है, उनमें समन्वय साधना तुम नहीं जानते।'

अन्य कथाओं में श्री यदुनाथ थत्ते-कृत 'चार फरार' का उल्लेख करना समीचीन होगा। ये कथाएँ मूल रूप से प्रौढ़ों को शिक्षा प्रदान करने के लिए मराठी में लिखी गई थीं और भारत सरकार द्वारा इन्हें एक हज़ार रुपए का पारितोषिक भी प्राप्त हुआ था। आगे चलकर इन्हें हिन्दी माध्यम द्वारा उपस्थित किया गया। इस पुस्तक में नदनपुर के उन चार निवासियों की कथा है जो एक रात अपना गाँव छोड़कर सहयोग के आधार पर सर्वांगीण प्रगति करने वाले देहात में, 'नई बस्ती' में चले जाते हैं और वहाँ के प्रगतिशील वायुमण्डल से प्रभावित होकर अपने गाँव लौटकर उसका कायाकल्प करने का निश्चय करते हैं। भारत के विकास में देहातों का जो स्थान है उसी की ओर ध्यान देने के लिए ये कथाएँ लिखी गई हैं, यह बिल्कुल स्पष्ट है। फिर भी लेखक ने हिन्दी भाषा का चलता हुआ एवं मुहावरेदार रूप रखने में अच्छी सफलता पाई है। उदाहरण के तौर पर निम्न अंश देखिए :

'भई, यही तो तुम लोगों की नासमझी है। धन क्या शहरों में पैदा होता है ? धन-दौलत तो देहात ही में पैदा होती है। उन शहरवालों के पास है भी क्या ? सिक्का-मुहर लगाये कागजात और कुछ रंगीन पत्थर, अलावा इसके उनके पास है ही क्या ? तुकाराम महाराज ने ठीक ही कहा है, 'है तो चीज तुम्हारे पास लेकिन पहचान नहीं है ? ज़रा अज्ञान का पट खोल दो कि अपने भाग्य की पहचान हो जाएगी। 'पास ही बसत हुजूर तू ढूँढ़त खजूर में।' '

उपर्युक्त पुस्तकों के साथ-साथ 'धर्मयुग', 'विश्वज्योति', 'आजकल' जैसे साप्ताहिकों एवं मासिकों में महाराष्ट्र के निवासियों की कई अच्छी कहानियाँ प्रकाशित हो रही हैं, लेकिन यहाँ स्थल-संकोच के कारण सबका नामोल्लेख असम्भव ही है।

नाटकों में महाराष्ट्र की सदा से रुचि रही है। हिन्दी में दुर्भाग्य से सुव्यवस्थित एवं विकसित रंगमंच का अभाव रहा है, इसलिए उसमें तगड़े नाटक बहुत कम लिखे गए हैं। फिर भी कुछ मराठी-भाषियों ने हिन्दी में बहुत अच्छे नाटक लिखे हैं। 'रूपोन्नयन' के रचयिता डॉ० ना० वि० जोशी ने 'जागीरदार' एवं 'वकील साहब' (मार्च १९४७) नामक दो नाटक लिखे हैं। दोनों रंगमंच पर सफलता के साथ खेले गए हैं। 'जागीरदार' मूल रूप में 'मालवी' भाषा में लिखा गया था। दोनों नाटकों में पूँजीवादी समाज-व्यवस्था को त्रुटिपूर्ण बतलाया गया है। 'वकील साहब' का नायक महात्मा गांधी के सामने सत्य एवं अहिंसा का जीवन-भर आचरण करने की प्रतिज्ञा करता अवश्य है, लेकिन भण्डारी-जैसे बगुलाभगतों एवं मिल-मालिकों के वश में आकर सब-कुछ भूलकर अनर्थ कर बैठता यदि उसकी पत्नी शारदा स्वयं मज़दूर-नेता रघुनाथ के पक्ष का समर्थन करके जेल जाने को तैयार न हो जाती। रचयिता के राजनीतिक मतों का रंग नाटक पर चढ़ा अवश्य है, लेकिन चरित्र-चित्रण एवं भाषा दोनों में उसे पूर्ण सफलता मिली है। भण्डारी का यह कहना, 'अजी वकील साहब, सत्य और अहिंसा बड़े आदमियों के काम करने के तरीके हैं, तरीके ! और कोई तरीका हर दम एक-जैसा नहीं रह सकता। जैसा मौका होता है उसी तरह उसको मोड़ना पड़ता है।' कितना सत्य एवं व्यंग्यपूर्ण है !

प्रो० रामावतार चेतन का 'धरती की महक' नाटक उत्तर भारत के देहातों में धीरे-धीरे पैदा होनेवाले राजनीतिक जागरण का चित्र खींचता है। पहले अंक में दलगत स्वार्थों के कारण पंचायत की असफलता बताई गई है। दूसरे अंक में पुलिस-अधिकारी के हथकण्डों पर प्रकाश डाला गया है और तीसरे में गुण्डों का काम तमाम करने के लिए पिस्तौल चलाने पर विवश होनेवाले सागर-जैसे शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति स्वयं हिरासत में जाते हुए गाँववालों से 'पढ़-लिखकर यहीं रहना, गाँव को न छोड़ना...इनकी आँखों की रोशनी तुम्हीं हो...तुम्हीं हो सकते हो' की अनमोल नसीहत देता है। नाटक की भाषा कथोपकथन के सर्वथा अनुकूल है। अन्य नाटकों में श्री जी० आर० कुलकर्णी ने 'किसान-पण्डित' नाम से एक लोक-नाट्य हाल ही में लिखा

है, जिसे भारत सरकार ने पुरस्कृत किया है।

हिन्दी के विचारशील एवं प्रौढ़ रचनाकारों में डॉ० जगदीशचन्द्र जैन का स्थान महत्त्वपूर्ण है। सन् १९५५ में इनकी 'भारतीय तत्त्वचिन्तन' पुस्तक छपी, जिसमें प्रागैतिहासिक काल से बीसवीं शताब्दी तक के भारतीय दर्शन के विकास का परिचय दिया गया है। पुस्तक के पहले तीन खण्डों में वेदों से लेकर षट्दर्शनों, लोकानिकों, बौद्धों एवं जैनों की विचारधारा का मूल्यांकन करके चौथे खण्ड में इस्लाम धर्म एवं मध्यकाल के सन्तों के कार्य पर प्रकाश डालते हुए अन्त में पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने से भारत की विचारधारा पर जो प्रभाव पड़ा उसकी चर्चा की गई है। इसमें राजा राममोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि आधुनिक भारत के निर्माताओं के कार्य का मूल्यांकन किया गया है और अन्तिम अध्याय में यूरोप के भौतिकवाद के विकास की तुलना में भारत की आध्यात्मिकता को रखकर ग्रन्थकार ने कहा है—'आश्चर्य की बात है कि आधुनिक काल के समाज-सुधारक नेता भी अध्यात्मवाद से मुक्त होकर वास्तविकता की ओर ले जाने वाले भौतिकवाद को साहसपूर्वक स्वीकार न कर सके। उदाहरण के लिए पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों में जब यूरोप में भौतिकवादी दार्शनिक विचार-स्वातन्त्र्य का ज़ोर-शोर से प्रचार कर रहे थे, उस समय हमारे देश में मध्ययुगीन सन्त संसार से मुक्ति पाने की खोज में लगे थे और दृष्टिकोण में परिवर्तन किये बिना हमारे समाज-सुधार के सभी उपाय खोखले ही रह जाएँगे इस तथ्य पर उन्होंने ज़ोर दिया है। यह पुस्तक निस्सन्देह विचारों को प्रेरणा देने वाली है। प्राकृत एवं जैन-साहित्य से सम्बद्ध विचार, इनकी 'देखा-परखा' नाम की पुस्तक में संग्रहीत हैं। सन् १९५३-५४ में डॉ० जैन पेकिंग विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा और साहित्य के अध्यापक थे। इसके फलस्वरूप 'चीनी जनता के बीच' नामक पुस्तक का जन्म हुआ। इसमें चीनी जनता की प्रगति के कायल डॉ० जैन के दर्शन होते हैं। एक स्थान पर इन्होंने लिखा है, 'च्यांग फू की बातों एवं उसकी मुख-चेष्टाओं से प्रतीत होता था कि उसमें वर्ग की चेतना आ गई है। पहले वह ज़मींदार का गुलाम था। ज़मींदार उसकी कमाई पर मौज करता था, किन्तु आज वह स्वयं अपने श्रम का मालिक है। राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से वह उन्नत हो गया है। अब वह जनता का प्रतिनिधि है, गाँव की सुरक्षा समिति का सदस्य है और पारस्परिक सहयोग समिति का सदस्य है।' इसमें सचाई के स्थान पर रचयिता की प्रशंसा ही अधिक जान पड़ती है। स्पष्ट है कि डॉ० जैन के साहित्य में साम्यवाद का स्वर अधिक मुखर हो उठा है। इनका 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' इनकी अध्यापनशीलता का अच्छा प्रमाण है। हाल ही में 'विश्व-साहित्य के ज्योति-स्तम्भ' नाम की पुस्तक में विश्व के विख्यात चिन्तकों का इन्होंने सुचारु परिचय दिया है। कुल मिलाकर डॉ० जैन की हिन्दी-सेवाएँ निस्सन्देह बड़ी ठोस हैं।

मराठी, हिन्दी तथा उर्दू में लगभग ८० पुस्तकें लिखने वाले श्रीपाद जोशी का नाम भी आदर के साथ लिया जाना चाहिए। इन्होंने हिन्दी में पंढरपुर और नासिक-जैसे महाराष्ट्र के तीर्थ-स्थानों का अच्छा परिचय दिया है। इनकी 'हिन्दी-निबन्ध-कला' एवं 'उर्दू के अदीब' नामक समालोचनात्मक पुस्तकें हिन्दी एवं उर्दू के अध्येताओं के लिए बड़ी उपयोगी हैं। इनके 'मराठी-हिन्दुस्तानी कोश' का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनकी अन्य पुस्तकों में 'गुरुवायूर', 'वनस्पति-सभ्यता' तथा 'छत्रपति शिवाजी' का भी उल्लेख होना चाहिए। यहाँ श्री नारायणप्रसाद जैन की 'उर्दू शायरी', 'ज्ञान-गंगा' एवं 'बोलती हिन्दी' के साथ-साथ 'तुकाराम-गाथा सार' का उल्लेख करना समीचीन है। 'हास्य-मन्दाकिनी' एवं 'सन्त-विनोद' इनकी दो पुस्तकें और छप रही हैं।

हिन्दी के अन्य रचनाकारों में आचार्य विनोबा भावे, श्री काका कालेलकर एवं दादा धर्माधिकारी का स्मरण भी सर्वथा उचित ही है। 'विनोबा के विचार' पुस्तक दो भागों में प्रकाशित हुई है, जिसमें मितव्ययता, ब्रह्मचर्य, गीता-जयन्ती आदि विषयों पर आचार्य भावे के विचार गूँथे गए हैं। सीधी एवं सरल हिन्दी में लिखी गई इन पुस्तकों के कई संस्करण अब तक निकल चुके हैं, जो इनकी लोकप्रियता का जीता-जागता प्रमाण हैं। 'श्रमदेव की उपासना', 'वृक्ष-शाखा-न्याय' आदि निबन्धों में आचार्य विनोबा भावे ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे बहुत ही

महत्त्वपूर्ण हैं। हाँ, उनके शिक्षा-विषयक विचारों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। काका कालेलकर की 'जापान की सैर' पाठकों को जापान की विशेषताओं से परिचित कराती है। उनके 'गंगा-मैया'-जैसे प्रकीर्ण निबन्ध उनकी काव्यमय हृदयस्पर्शी शैली के अच्छे परिचायक हैं। 'सर्वोदय' के भूतपूर्व सम्पादक दादा धर्माधिकारी ने सर्वोदय-आन्दोलन की अपनी अनुभूतियों को 'सर्वोदय-दर्शन', 'क्रान्ति का अगला कदम', 'मानवीय क्रान्ति'-जैसी पुस्तकों में सुन्दर शब्दरूप प्रदान किया है। 'साम्ययोग की राह पर' में साम्यवाद पर उन्होंने अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। पंडित जवाहरलाल नेहरू की षष्ट्यब्दिपूर्ति के अवसर पर लिखित लेख में उन्होंने दो-चार पंक्तियों में पंडितजी का सुन्दर चित्र अंकित कर दिया है :

'उत्कंठा और प्रांजलता के कारण उनके स्वभाव में बाल-सुलभ निष्पक्षता है। जवाहरलाल नेहरू मुँहफट आदमी हैं। वे बहुत जल्दी बिगड़ पड़ते हैं और चन्द मिनटों के बाद खिलखिलाकर हँसने लगते हैं।'

सर्वोदय के आन्दोलन ने कई व्यक्तियों को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी। इस तरह की पुस्तकों में श्रीमती ठकार-कृत 'दादा का स्नेह-दर्शन', 'भूदान-दीपिका' तथा 'साम्ययोग का रेखाचित्र', श्री यदुनाथ थत्ते-कृत 'विनोबा भावे', बापूराव जोशी-कृत 'तपोधन विनोबा', शं० दा० जावडेकर-विरचित 'सत्याग्रह की शक्ति', सुश्री कुसुम देशपाण्डे-विरचित 'क्रान्ति की ओर', श्री अप्पा साहब पटवर्धन-कृत 'गौओं का गोकुल' तथा 'ब्याज-बट्टा', श्रीराम सिन्हालीकर-विरचित 'नदाअंकुर' एवं 'ताई की कहानियाँ', सुश्री निर्मला देशपांडे-कृत 'विनोबा के साथ' तथा 'क्रान्ति की राह पर' आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

श्री दिवाकर जोगलेकर-कृत 'स्वामी समर्थ रामदास' हिन्दी पाठकों के सामने एक नई चीज़ रखता है। इसके तीन खंडों में स्वामी रामदास का व्यक्तित्व, उनकी कविता एवं उनके पन्थ की जानकारी देकर उनके कृतित्व का मूल्यांकन किया गया है।

समालोचनात्मक पुस्तकों में प्रो० शिवसहाय पाठक के 'पद्मावत का काव्य सौन्दर्य' का उल्लेख करना ठीक होगा। इसमें जायसी के गुणों के साथ-साथ दोषों पर भी प्रकाश डाला गया है और अन्त में जायसी-कृत 'विराट समन्वय की चेष्टा' की दुहाई दी गई है। इसी लेखक ने पहली बार पारसी पांडुलिपियों के आधार पर जायसी की 'चित्ररेखा' का सम्पादन किया जो अधिक महत्त्वपूर्ण है। अनुसन्धानात्मक प्रबन्धों में औरंगाबाद के निवासी डॉ० भालचन्द्रराव तेलंग ने 'भारतीय-आर्यभाषा परिवार की मध्यवर्तिनी बोलियाँ' प्रबन्ध प्रकाशित करके मराठी, हिन्दी एवं उड़िया की क्रमशः हलबी, छत्तीसगढ़ी एवं भत्तरी बोलियों का भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन पहली बार विद्वानों के सम्मुख उपस्थित किया है। इस सन्दर्भ में अमरावती के निवासी श्री भाऊ मांडवकर की 'राष्ट्र सन्त की जीवनी' (१९५४) का भी उल्लेख करना चाहिए। इसमें सन्त तुकडोजी के जीवन एवं कार्य की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। 'तुलसीदास और एकनाथ' पुस्तक लिखकर मराठवाडा के रहने वाले चतुर्वेदी ने तुलनात्मक आलोचना का अच्छा रूप उपस्थित किया है। दोनों सन्तों की रचना राम के चरित्र से सम्बद्ध है, अतएव यह अध्ययन बड़ा रोचक हुआ है। बम्बई के भृंग उपकरी, औरंगाबाद के श्री कोरेकर तथा नागपुर के वामन चोरघडे की हिन्दी रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। प्रो० भीमराव देशपांडे द्वारा लिखित 'लोकमान्य तिलक' पुस्तक सन् १९५६ में वर्धा में स्थित राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा प्रकाशित हुई है। 'नागरिक शासन और भारतीय संविधान' नामक पुस्तक राष्ट्रभाषा रत्न के विद्यार्थियों के लिए अवश्य लिखी गई, लेकिन नागरिक शास्त्र को हिन्दी माध्यम से उपस्थित करने का एक अच्छा प्रयत्न भी है।

गत १० वर्षों में बम्बई के अहिन्दी-भाषी हिन्दी प्रचारकों ने हिन्दी में अहिन्दी-भाषियों के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक मंच या एक संस्था की आवश्यकता का अनुभव किया। सन् १९५२ में कुछ प्रचारकों ने (जिनमें प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक भी सम्मिलित था) इसी विचार से प्रेरित होकर दादर-स्थित वनमाली हाल में 'उन्मेष प्रकाशन' नाम की संस्था की स्थापना की। हिन्दी प्रचार कार्यालय, माटुंगा से 'शशिगुप्त की आलोचना' नामक पुस्तक प्रकाशित करके (अप्रैल १९५२) समालोचना का सूत्रपात किया था। उसी का अनुसरण करते हुए उन्मेष-

प्रकाशन ने 'प्रदक्षिणा', 'ध्रुवस्वामिनी' तथा 'चारुमित्रा' पर समालोचनात्मक पुस्तकें सन् १९५२ में छपवाईं। आगे चलकर इसी ढंग से आलोचनात्मक पुस्तकें निकालना तय हुआ, परन्तु शीघ्र ही उक्त प्रचारकों को 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते' का यथार्थ अनुभव हुआ और वे उस संस्था को ताला लगाने पर बाध्य हुए। इसी तरह का एक और प्रयत्न 'राष्ट्रभाषा प्रचार समन्वय पत्रिका' का रूप धारण करके १४ सितम्बर १९५७ को बम्बई के प्रचारकों के सामने पेश हुआ। इसके प्रणेता थे पं० भा० ग० जोगलेकर, जिन्होंने अपने सम्मान-समारोह में संचित रकम (रु० १००१) उदारतापूर्वक इस कार्य के लिए समर्पित की। बम्बई के सभी प्रचारकों ने शुभेच्छाएँ व्यक्त कीं, प्रचार समितियों ने शाब्दिक प्रोत्साहन भी दिया। इसके बल पर कुछ महीनों तक पत्रिका का प्रकाशन नियमित रूप से होता रहा, लेकिन अन्त में ध्येय से प्रेरित सम्पादक-मंडल के सामने अर्थाभाव का संकट खड़ा हुआ और उन्हें व्यावहारिकता का कटु पाठ पढ़ना पड़ा। फलस्वरूप यह कार्य भी सदा के लिए ठप हो गया।

विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में अनूदित साहित्य का एक संक्षिप्त परिचय उपस्थित किए बिना महाराष्ट्र की सेवा का यह अध्याय पूर्ण नहीं हो सकता। स्वतन्त्र रूप से इस सम्बन्ध में अधिक कार्य भले ही न हुआ हो, लेकिन पिछले १०-१२ वर्षों में प्रचार समितियों ने इस दिशा में काफ़ी काम किया है।

कविताओं के क्षेत्र में नांदेड-निवासी कवि दे० ल० महाजन ने स्वामी रामदास-कृत 'मनाचे श्लोक' का 'मनोबोध सार' के नाम से काव्यमय अनुवाद किया है। आश्चर्य एवं सराहना की बात तो यह है कि यह अनुवाद विशुद्ध अवधी में किया गया है। रचयिता ने विनम्र भाव से 'देखा नहीं व्याकरण किया न शास्त्राभ्यास' भले ही कहा हो, उसका अवधी पर बड़ा अच्छा अधिकार है,. इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। उदाहरण के तौर पर निम्नलिखित चौपाइयों को लीजिए :

तजत देह कीरति अवशेषा।
सज्जन मन सोइ करहु विशेषा ॥
छींजहु मन चन्दन-सम भाई।
जेहि तोषहिं सज्जन मनमांही ॥
द्रौपदी कारण जब खल जांछे।
धावहिं तुरत छांडि सब पाछे।
लखि कलि बौद्ध मौनव्रत ठानी।
दुरइ न देव भगत-अभिमानी ॥

अवधी अनुवाद में मूल का-सा सौन्दर्य है इसमें सन्देह नहीं। इसी मराठी कविता 'मनाचे श्लोक' का गद्यानुवाद श्री दिवाकर जोगलेकर ने सन् १९४९ में हिन्दी पाठकों के सामने उपस्थित किया।

भारतीय भाषाओं के मान्य कवियों तथा उनके उत्कृष्ट काव्य का गद्यानुवाद सहित परिचय उपस्थित करने के उद्देश्य से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने अपनी रजत-जयन्ती के अवसर पर 'कविश्री-माला' छपवाने का आयोजन किया था। भाषाओं के पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने की दृष्टि से इसका महत्व अक्षुण्ण है। अब तक इस माला की १५ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें तमिल के सुब्रह्मण्य भारती एवं नामक्कल रामलिंगम् पिल्ले, मलयालम् के वल्लतोल नारायण मेनन तथा जी० शंकर कुरूप, तेलुगु के काडूर वेंकटेश्वरराव और पिंगलि लक्ष्मीकान्तम् तथा तिरुपति-वेंकट कवुल्लु, कन्नड़ के द० रा० बेन्द्रे तथा कुवेम्पु, मराठी के कृ० के० दामले तथा य० दि० पेंढारकर और पंजाबी के भाई वीरसिंह तथा अमृता प्रीतम के साथ-साथ गुजराती, सिन्धी एवं उड़िया के क्रमशः दयाराम, किशिनचन्द 'बेवसि' तथा गंगाधर मेहर पर लिखी गई पुस्तकों का समावेश है। हरेक पुस्तक में भाषा एवं साहित्य के संक्षिप्त परिचय के साथ-साथ वर्ण्य कवि के सम्बन्ध में आलोचनात्मक सामग्री उपस्थित की गई है। आशा है कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा इस भव्य योजना की पूर्ति में अधिक विलम्ब न करके भारतीय भाषाओं के प्रेमियों को कृतार्थ करे।

युग की माँग के अनुसार अनुवादों के क्षेत्र में भी पद्य की अपेक्षा गद्य को ही पसन्द किया जाता है। मराठी उपन्यासों एवं कहानियों के अनुवादकों में महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना ने बहुत अच्छा कार्य किया है। इसी सभा की प्रेरणा से मराठी के सुविदित लेखक गो० नि० दांडेकर ने

अपने उपन्यास 'कुणा एकाची भ्रमणगाथा' का हिन्दी अनुवाद ('किसी एक की भ्रमण-गाथा') किया। सन् १९५८ में यह अनुवाद प्रकाशित हुआ। लेखक स्वयं ही अनुवाद-कर्ता हैं, अतः इसमें मूल की-सी गति आ गई है। श्री दांडेकर के पास मानव के मन की थाह पाने की गजब की शक्ति है। इस उपन्यास का नायक नारी-हृदय के सौन्दर्य को समझने में अपने को निरा असमर्थ पाकर कह उठता है, 'पर अब आँखें खुली हैं। बारह वर्ष आँखें मूँदें भटकता रहा। अब दृष्टिलाभ हुआ है। स्त्री की वेदनाओं की व्यथाएँ महक रही हैं। इतने दिन नाक दबाकर भागता रहा, अब गन्ध-ग्रहण की शक्ति पा रहा हूँ।'

श्री ना० पेंडसे-कृत 'गारंबींचा बापू' मराठी का सशक्त उपन्यास है, इसका अनुवाद 'चट्टान का बेटा' के नाम से जनवरी १९५९ में प्रकाशित हुआ। श्री पेंडसे स्थानीय वायुमंडल को सुरक्षित रखने के बड़े हिमायती रहे हैं, अतएव इसे हिन्दी में अनूदित करना आसान नहीं था, फिर भी अनुवादकर्ता श्री शैलेन्द्रकुमारसिंह ने मूल उपन्यास के वायुमंडल के साथ-साथ उसकी शक्ति की भी पूरा सुरक्षा की है। श्री पेंडसे की अन्य कृति 'हत्या' का भी अनुवाद हो रहा है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने सन् १९५५ में कन्नड़ के सुविदित उपन्यासकार श्री शिवराम कारान्त के 'मरलि मन्निगे' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद 'धरती की ओर' के नाम से प्रकाशित किया। इस उपन्यास में मूल लेखक ने देश की सामाजिक व्यवस्था के खोखलेपन का मार्मिक चित्र खींचा, और वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर बड़ा ही मार्मिक व्यंग्य किया है। तीन पीढ़ियों के जीवन की बरबादी को चित्रित करनेवाले इस विशालकाय उपन्यास के अनुवाद का कार्य श्री बाबूराम कुमठेकरजी ने महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की देखरेख में किया है। इस उपन्यास के पहले ७० पृष्ठ तनिक नीरस हैं, किन्तु शेष उपन्यास में यह बात खटकती नहीं। उपर्युक्त समिति के मुख्यमंत्री मोहनलाल भट्ट ने स्वयं स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी के प्रसिद्ध उपन्यास 'सोरठ तारा वहेतां पाणी' का हिन्दी अनुवाद किया और जुलाई सन् १९५६ में समिति ने उसे प्रकाशित किया। स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी के इस उपन्यास में सौराष्ट्र की जीवनधारा एवं तत्कालीन परिस्थितियों का चित्र एक युवक के विकासोन्मुख जीवन के माध्यम से खींचा गया है। सोरठी भाषा की लाजवाब ज़िन्दादिली एवं सामर्थ्य का परिचय जहाँ तक अनुवाद के द्वारा उपस्थित करना सम्भव है, वहाँ तक मोहनलाल भट्ट को सम्पूर्ण सफलता प्राप्त है।

अनूदित कहानियों के क्षेत्र में महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना के आदेश को मानते हुए श्री शैलेन्द्रकुमारसिंह एवं प्रो० वसन्तदेव ने 'मराठी की नई कहानियाँ' हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखी हैं। इस पुस्तक में श्री महादेव शास्त्री जोशी, श्री व्यंकटेश माडगूलकर, श्री शशिकान्त पुनर्वसु, विभावरी सिरूरकर से लेकर श्री गंगाधर गाडगील, श्री अरविन्द गोखले, श्री मिरासदार, श्री विजय तेन्दुलकर आदि अपेक्षाकृत नवीन कथाकारों की कहानियों के अनुवाद भी हैं। श्री मिरासदार-कृत 'निन्यानवे कम सौ की यात्रा' का नाना घोडके हिन्दी संसार को बड़ा ही रोचक प्रतीत होगा। सभी अनुवाद बड़े सरस उतरे हैं। 'मराठी की नई कहानियाँ' हिन्दी साहित्य के लिए मराठी-भाषियों की एक अच्छी देन है।

नाटकों के संसार में मराठी भारत की बड़ी सम्पन्न भाषा है। महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना ने मराठी के दो सफल नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी संसार को उपकृत किया है। श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित-कृत 'जुगार' नामक नाटक का अनुवाद पूना के हिन्दी के प्रो० प्र० रा० भुपटकर ने 'जुआ' के नाम से किया है। यह नाटक द्वितीय विवाह एवं यौन-सम्बन्धों की समस्या पर आधारित है। इसके अनुवादक प्रो० प्र० रा० भुपटकर स्वयं अच्छे अभिनेता हैं, अतः उन्होंने अनुवाद में भाषा की सामर्थ्य का सुन्दर निर्वाह किया है। दूसरा नाटक है श्री विजय तेन्दुलकर-कृत 'श्रीमन्त'। इसके अनुवादक हैं प्रो० वसन्त देव। ऊपरी तौर से कुमारी माता की समस्या पर आधारित यह नाटक वास्तव में नीति के प्रश्न को हल करता है और सम्पन्न परिवार में एक सज्जन व्यक्ति की घुटन का मार्मिक चित्र खींचता है। मूल मराठी नाटक के संवाद बड़ी चुस्ती को लिये हुए हैं। अनुवादक ने उन्हें कायम रखने का सफल प्रयत्न किया है। इधर मामा वरेरकर के

कई नाटक हिन्दी में अनूदित हुए हैं। 'सत्तेचे गुलाम', 'द्वारकेचा राजा' तथा 'सोन्याचा कलस', ये तीनों नाटक जबलपुर के श्री सरवटे द्वारा अनूदित हुए हैं। उनके 'सारस्वत' का अनुवाद श्री केलकर ने और 'लयाचा लय' का अनुवाद (दाक्षायणी) पं० भा० ग० जोगलेकर ने किया है। उनकी 'भूमिकन्या-सीता' का अनुवाद हिन्दी के पुराने प्रचारक श्री वि० कृ० टेंबे ने किया था जो दिल्ली में रंग-मंच पर भी आ चुका है। 'कीचकवध' तथा 'आंवल्याची शाला', ये मराठी के सुविदित नाटक भी हिन्दी में अनूदित हो चुके हैं। 'भटाला दिली ओसरी' नाटक ने मराठी में काफी धूम मचाई थी। इसका सुन्दर हिन्दी अनुवाद 'दिया हाथ खाने बैठे साथ-साथ' के नाम से पं० भा० ग० जोगलेकर ने किया। अब तक यह पुस्तकाकार नहीं छपा है, फिर भी दिल्ली में जब यह रंगमंच पर खेला गया था तब सेठ गोविन्ददास-जैसे नाटककारों ने उसकी भूरि-भूरि सराहना की थी। वास्तव में मराठी के सभी उत्कृष्ट नाटकों को हिन्दी में अनूदित करने की चेष्टा दोनों भाषाओं के लिए अतीव हितकर सिद्ध होगी।

अन्य अनुवादों में महामहोपाध्याय वा० वि० मिराशी की 'कालिदास' पर मराठी में लिखित पुस्तक का अनुवाद नागपुर के पं० हृषीकेश शर्मा ने सन् १९१५ में किया। म० मिराशी की पुस्तक कालिदास की जीवनी एवं उनके साहित्य की अत्यन्त अधिकृत विवेचना करनेवाली अतीव प्रामाणिक कृति है। इसी पुस्तक का दूसरा संस्करण सन् १९५६ में निकला, जिसमें प्रो० शुकदेवप्रसाद तिवारी से सहायता लेकर लेखक ने तब तक के अनुसन्धान से उप-लब्ध जानकारी का समावेश किया। 'कालिदास के ग्रन्थों की विशेषताएँ' तथा 'कालिदास और उत्तरकालीन ग्रन्थकार' ये दोनों अध्याय इसीके फल हैं। उपर्युक्त हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं क्लिष्टता के कारण कुछ कमी नज़र आती है जिसका आगामी संस्करण में हटाया जाना समीचीन होगा।

श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी संस्कृत एवं मराठी साहित्य के माने हुए विद्वान् एवं समालोचक हैं। उन्होंने पूना विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में प्राचीन काल से लेकर वैदिक संस्कृति से आज तक के विकास पर जो गवेषणापूर्ण व्याख्यान सन् १९४९ में दिए वे 'वैदिक संस्कृति का विकास' में संगृहीत हुए हैं। यह साहित्य अकादमी द्वारा मराठी की उस वर्ष की सर्वोत्तम पुस्तक के रूप में पाँच हज़ार रुपये की धनराशि से पुरस्कृत हुई। साहित्य अका-दमी ने जब अन्य भारतीय भाषाओं के हिन्दी अनुवाद का कार्य शुरू किया, तब पहले-पहल इसी पुस्तक का चुना जाना स्वाभाविक था। उक्त अनुवाद का कार्य प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को सौंपा गया था। यह पुस्तक सन् १९५७ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के 'बौद्धों एवं जैनों की धर्म-विजय' तथा 'आधुनिक भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन', ये दोनों अन्तिम अध्याय बड़े ही सुन्दर हैं जो मूल लेखक की मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं। पुस्तक के अन्त में उचित ही कहा गया है—"यथार्थ में प्रश्न यह है कि इस संसार को अधिक अच्छा, अधिक सम्पन्न कैसे बनाया जाए? एक समय जर्मन दार्शनिक 'लाइबनिफ' कह उठे थे, 'हम जिस दुनिया में रहते हैं वही यथासम्भव सबसे उत्तम विश्व है।' यह आवश्यक है कि इसी दुनिया में, इसी संसार में हम आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति प्राप्त करें। इस संसार में जीवित रहने की प्रवृत्ति को आध्यात्मिकता से अधिक सम्पन्न एवं सफल बनाना नितान्त आवश्यक है।" इस पुस्तक के पहले परिशिष्ट में जिज्ञासु पाठक के लिए प्राचीन ग्रन्थों के वे सभी प्रमाण उद्धृत किये गए हैं जिनकी ओर मूल मराठी पुस्तक में लेखक ने संकेत-भर कर दिया था। इससे पुस्तक अधिक उपयोगी हो गई है।

श्रीमती दुर्गा भागवत का 'ऋतुचक्र' मराठी की ऐसी अनुपम पुस्तक है जिसमें सभी ऋतुओं की शोभा से लेखिका ने अपना मानसिक सामंजस्य उपस्थित करके वास्तव में गद्यकाव्य की रचना की है। इसका अनुवाद करना असल में एक बड़ी जिम्मेदारी थी, लेकिन मराठी एवं हिन्दी पर समान रूप से अधिकार रखनेवाले श्री शैलेन्द्रकुमारसिंह ने इसका बड़ा ही भावपूर्ण अनुवाद करके अपनी योग्यता का उज्ज्वल प्रमाण उपस्थित किया है। 'अगहन का प्रारम्भ भी अधिक मोहक होता है। दिन छोटा होता जाता है। काम का लगा लगा-न-लगा कि शाम उतर आती है...' आदि को पढ़ने में मूल का-सा आनन्द अवश्य आता है। इसी तरह कृष्णाबाई मोटे की 'दृष्टि आडच्या सृष्टींत' इस रोचक संस्मरणात्मक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'आँख ओट पहाड़

ओट' के नाम से निकला है। इसका श्रेय भी सफल अनुवादक श्री शैलेन्द्रकुमारसिंह को ही है। श्री सिंह विषय के अनुसार शैली में परिवर्तन करने की कला के जानकार हैं जिसकी वजह से मराठी के करुण प्रसंगों के साथ-साथ-'विलायती डाक' जैसे परिहासात्मक संस्मरणों के अनुवादों में भी जान आ गई है। उक्त दोनों पुस्तकें पूना की महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा ने ही प्रकाशित कीं। हाल ही में पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल काका साहब गाडगिल के 'अनगढ़ मोती' को भी सभा ने हिन्दी वेश पहनाया है। इसमें प्रो० वसन्तदेव ने सभा की मदद की है। काका गाडगिल की शैली एक सुखद निजीपन एवं परिहास का हल्का पुट लिये हुए है, जिसकी सुरक्षा प्रो० देव ने बड़ी सावधानी के साथ की है। इस पुस्तक में संगृहीत सभी निबन्ध अपनी मिसाल आप हैं और हिन्दी संसार इनका निश्चय ही सहर्ष स्वागत करेगा। अन्य अनुवादों में विनोबाजी के 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' तथा 'गीता-प्रवचन' आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

सन् १९५८ में महाराष्ट्र के सुविदित जादूगर रघुवीर की मराठी पुस्तक 'प्रवासी जादूगर' को हिन्दी में अनूदित करके महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा ने अपनी हिन्दी-सेवा में एक और अध्याय जोड़ दिया है। इस पुस्तक में रघुवीर ने १६८ पृष्ठों की सीमा में अफ्रीका एवं जापान की अपनी सैर का बड़ा ही सरस एवं मनोरम वर्णन किया है। इसे हिन्दी में ज्यों-का-त्यों रखकर अनुवादक श्री जी० आर० कुलकर्णी ने बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है।

बालकों के लिए लिखित साहित्य में उपर्युक्त सभा ने श्री रानडे की पुस्तक का अनुवाद 'दिलबहलाव' के नाम से अप्रैल १९५८ में प्रकाशित किया। इस पुस्तक के छः अध्यायों में बच्चों के लिए सरल हिसाब दिए गए हैं और उनकी मौखिक परीक्षा लेने की सामग्री भी इकट्ठी की है। परिहासपूर्ण संवादों एवं कुछ चाटूक्तियों को संगृहीत करके पुस्तक की रोचकता बढ़ाई है। अनुवादकर्ता श्री सुरेश निघोजकर के साथ इस प्रकार की पुस्तक को हिन्दी में प्रकाशित करने के लिए महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा (पूना) भी बधाई की पात्र है। श्री दत्तात्रय नारायण तिलक-कृत 'बाबू बाबाचा ग्रन्थराज' भी बालकों के लिए अतीव रोचक है। इसका सुन्दर अनुवाद पं० भा० ग० जोगलेकर ने 'मुन्नाराजा का महाग्रन्थ' के नाम से किया है, जिसे एक बार शुरू करने पर अन्त तक पढ़े बिना नहीं रहा जाता।

महाराष्ट्र राज्य की सेवा का एक और रूप भी है जिसकी उपेक्षा करना अनुचित होगा। स्वर्गीय शं० दा० पितले-जैसे अनुभवी प्रचारक ने सन् १९४७ में 'हिन्दी हीच आमची राष्ट्रभाषा' पुस्तक मराठी में लिखकर राष्ट्रभाषा की समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला था। हिन्दी की रचनाओं को मराठी में अनुवाद करना भी हिन्दी की ठोस सेवा ही मानी जाएगी। इस दिशा में यहाँ किए प्रयत्नों का उल्लेख करना इस दृष्टि से समीचीन होगा। महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना के अनुरोध पर श्री श्रीपाद जोशी ने सन् १९५६ में 'गांधीजी का विद्यार्थी जीवन' पुस्तक का मराठी में अनुवाद किया। हाल ही में (मई १९६०) उक्त सभा ने मराठी में 'सुमित्रानंदन पंत, कांहीं कविता' पुस्तक प्रकाशित की है। इसमें हिन्दी के सुविदित कवि की षष्ट्याब्दिपूर्ति के अवसर पर उनकी ३७ चुनी हुई कविताएँ उनके मराठी अनुवाद सहित दी गई हैं। अनुवादकों में महाराष्ट्र-कवि य० दि० पेंढारकर, श्री आरती प्रभू, श्री बा० भ० बोरकर, श्री मँगेश पाडगांवकर, श्रीमती संजीवनी मराठे, श्रीमती शांता शेल्लके-जैसे मराठी के यशोलब्ध कवि एवं कवयित्रियाँ हैं। साथ-ही-साथ इस पुस्तक में उनके जीवन और उनकी उपलब्धियों पर लिखा हुआ एक निबन्ध भी जोड़ा गया है। हिन्दी कवियों की रचनाओं को उनके पद्यानुवाद के साथ छपवाने की महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना की सूझ बड़ी मौलिक है और इस तरह के प्रयत्न भावनात्मक एकता की सिद्धि में निश्चय ही अच्छे साधन बनेंगे। महाराष्ट्र साहित्य परिषद् ने सन् १९५९ से मराठी को छोड़कर अन्य भाषाओं में रचे गए साहित्य की आलोचना को प्रतिवर्ष छपवाने की प्रणाली निर्धारित की है। इसके अनुसार सन् १९५८ में रचे गए हिन्दी साहित्य की समालोचनात्मक छोटी-सी पुस्तक प्रो० साठे से लिखवाकर परिषद ने प्रकाशित की है। भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान की दिशा में महाराष्ट्र परिषद द्वारा उठाया गया यह कदम अनुकरणीय है।

कुल मिलाकर नामदेव से लेकर बालकराम तक के

सभी महाराष्ट्रीय सन्तों ने जनसाधारण की भाषा के रूप में हिन्दी को अपनाया है तथा इसके साथ-ही-साथ हिन्दी को मराठी साहित्य के अमर छन्द अभंग और कटाव से परिचित कराया है। हिन्दी साहित्य में सामान्यतः सन्त कवियों ने गोपियों की भावना को प्रस्तुत करने में पदों को अपनाया है, वहाँ यहाँ के कवियों ने पदों के अलावा मराठी की गेय दौलत का उपयोग किया है। जहाँ तक हिन्दी भाषा का सम्बन्ध है, सन्त रामदास, देवनाथ, दयालनाथ, जनजसवन्त आदि सन्तों की भाषा किसी तरह हिन्दी से कम नहीं है, वरन् प्रौढ़ता एवं लालित्य को भी लिये हुए है। इसके साथ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि अभिव्यक्ति के क्षेत्र में इन सन्तों के लिए भाषा साधन की साध्य नहीं, साध्य इनकी भावना थी।

महाराष्ट्रीय सन्तों के बाद मराठी के लावनी-लेखकों ने अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी को आम जनता की भाषा मानकर उसमें रचनाएँ कीं और अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया। आगे चलकर स्वतन्त्रता के आन्दोलन में राष्ट्रभाषा हिन्दी को भारत की एकता का प्रमुख साधन मानकर महाराष्ट्र के निवासियों ने हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में बड़ी निष्ठा के साथ योगदान किया। क्या व्याकरण, क्या कोश, क्या हिन्दी रचना, सभी विषयों में महाराष्ट्र ने रुचि दिखाई और 'प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात' के कवि-कथन को जीवन में उतारने का सराहनीय प्रयत्न किया। महाराष्ट्र के साथ अन्य हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रान्तों के प्रचारकों ने इस हिन्दी को अपने लहू से सींचा है, और यह एक सचाई है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त हिन्दी का विभिन्न अर्थों में सम्पन्न करने के लिए महाराष्ट्र निर्बाध रूप से प्रयत्नशील है, और यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है। अतएव निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र 'एक हृदय हो भारत जननी' में अविचल विश्वास रखते हुए मराठी एवं हिन्दी की समन्वय-साधना में निरत रहा है और रहेगा।

अरविन्दकुमार म० देसाई

गुजरात का हिन्दी को योगदान

श्री अरविन्दकुमार देसाई का जन्म सन् १९२० में, सूरत जिले के सिसोदरा गाँव में हुआ। मातृभाषा गुजराती होते हुए भी हिन्दी के अच्छे लेखक हैं। १९४० में गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी से विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। १९५१ में आगरा से संस्कृत में और १९५५ में बड़ौदा से हिन्दी में एम० ए० किया। १९६२ में आगरा से पी-एच० डी० प्राप्त की। १९३८ से लिखने लगे थे। एक साथ हिन्दी-गुजराती में लिखते रहे। राष्ट्रभाषा-प्रचार-कार्य में विशेष दिलचस्पी रही। हिन्दी सिखाने वाली कई पुस्तकों की रचनाएँ कीं। हिन्दी से गुजराती और गुजराती से हिन्दी में भाषान्तर भी करते हैं। सम्प्रति सूरत के एम० टी० बी० कॉलेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। इस देश की अधिकांश भाषाएँ अपने साहित्य, प्राचीनता और विविधता की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं। स्वतन्त्रता के अनन्तर भाषावार राज्यों की माँग के परिणामस्वरूप भारत के राजनीतिक नक्शे पर १ मई, सन् १९६० के दिन गुजरात राज्य का उदय हुआ। इसकी सीमा उत्तर में राजस्थान, दक्षिण में महाराष्ट्र, पूर्व में खानदेश और मालवा तथा पश्चिम में अरब समुद्र तक फैली हुई है। इसका क्षेत्रफल ७,१०,०७२ वर्गमील और आबादी १ करोड़ ७० लाख के लगभग है। वर्तमान युग में प्राकृतिक तेल और गैस के मिल जाने से इस प्रदेश का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है, क्योंकि इस वैज्ञानिक युग में ये दोनों ही वस्तुएँ हमारे भविष्य की संस्कृति के निर्माण के लिए नींव बनने वाली हैं। यद्यपि आज का यह गुजरात राज्य केवल तीन वर्ष से हीं अस्तित्व में आया है, किन्तु इसका प्राचीन इतिहास उतना ही पुराना है जितना देश के अन्य राज्यों का।

इतिहासकारों का कहना है कि शक-कुल की गुर्जर नाम की एक जाति पाँचवीं-छठी शताब्दी में दक्षिण पंजाब से राजपूताना की ओर गई थी। कुछ काल तक आबू के उत्तर में निवास करके फिर यह जाति नर्मदा नदी के आसपास के प्रदेश में तथा सौराष्ट्र के भू-भाग में फैल गई। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्सांग की यात्रा के समय इन गुर्जरों की राजधानी भिन्नमाल नगर थी, जो कि आबू के उत्तर में विद्यमान था। दसवीं शताब्दी के मध्य में मुसलमानों के आक्रमण के कारण उन्हें भिन्नमाल छोड़ना पड़ा। तब उन्होंने आबू के दक्षिण में, वर्तमान उत्तर गुजरात के अण-हिलवाड़ पाटण में अपनी नई राजधानी स्थापित की। उसी समय से यह गुर्जर भूमि 'गुर्जरत्रा' अथवा 'गुज्जरता' कही जाने लगी। इस प्रदेश के लिए प्रयुक्त होनेवाला यह संस्कृत-प्राकृत रूप वस्तुत: 'गुज्र' में अरबी भाषा के नारी जाति के बहुवचन का 'आत' प्रत्यय लगने से बने 'गुज्रात' शब्द से व्युत्पन्न हुआ कहा गया है। समय के साथ इन गुर्जरेश्वरों की सत्ता राजस्थान में से सर्वथा लुप्त हो गई और आबू के दक्षिण में स्थित वर्तमान गुजरात प्रदेश के लिए वही 'गुर्जरत्रा' या 'गुज्जरता' नाम प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार दसवीं शताब्दी से इस प्रदेश को जो नाम मिला, वह आज भी चल रहा है।

प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार दसवीं सदी में—सोलंकी युग में—इस प्रदेश का नाम 'गुजरात' तो प्रसिद्ध हो चुका था, परन्तु इस प्रदेश की भाषा के लिए 'गुजराती' शब्द का प्रथम प्रयोग सत्रहवीं सदी में गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि प्रेमानन्द (सन् १६४९-१७१४) ने ही किया था। उनसे पहले के कवियों ने इस भाषा के लिए

'अपभ्रष्ट गिरा' (नरसिंह महेता), 'प्राकृत या भाषा' (पद्मनाभ और अखो), 'अपभ्रंश' अथवा 'गुर्जरभाषा' (भालण) आदि भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग हुआ है। गुजराती भाषा और साहित्य का राजस्थान के साथ बहुत अधिक सम्बन्ध रहा है, क्योंकि पन्द्रहवीं शताब्दी में गुजराती सल्तनत की स्थापना से पहले तक गुजरात तथा पश्चिम राजस्थान की भाषाएँ एक समान-सी ही थीं। इसी लिए गुजराती साहित्य के इतिहासकारों ने जिस भाषा को 'पुरानी गुजराती' नाम दिया है, उसी को डॉक्टर टेसीटरी ने 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' (Old Western Rajasthāni) कहा है। इन दोनों भाषाओं के लिए वर्तमान गुजराती साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् उमाशंकर जोशी ने 'मारू गुर्जर' नाम का प्रयोग किया है। वस्तुतः गुजराती और राजस्थानी के बीच पन्द्रहवीं शताब्दी तक वही सम्बन्ध रहा, जो उस काल में हिन्दी एवं राजस्थानी के बीच माना गया है।

गुजराती भाषा भारतीय आर्यकुल की ही एक प्रमुख भाषा है, अतः इसका विकास भी अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं की भाँति संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के द्वारा हुआ। इस भाषा का उद्भव उसी शौरसेनी अपभ्रंश से माना गया है, जिससे राजस्थानी, व्रज और वर्तमान पश्चिमी हिन्दी का जन्म हुआ। ई० स० की ग्यारहवीं सदी से लेकर आज तक का इसका क्रमिक विकास जितना स्पष्ट है उतना अन्य किसी भी भारतीय भाषा का नहीं है। ग्यारहवीं सदी से लेकर वर्तमान युग तक की प्रत्येक शताब्दी की भाषा के प्रामाणिक नमूने उपलब्ध हैं। गुजरात के चौलुक्यवंशीय राजा सिद्धराज और कुमारपाल के राजकवि तथा सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र (सन् १०८७-११७४) ने अपने 'सिद्धहेम शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ में तत्कालीन साहित्य के जो नमूने उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए हैं वे तत्कालीन गुजराती और हिन्दी के नमूनों के रूप में एक-से स्वीकार किये गए हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के समय से लेकर आज तक के गुजराती भाषा और साहित्य के विकास को भी हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास की भाँति तीन ही भागों में विभक्त किया गया है। गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार केशव हर्षद ध्रुव ने लिखा है, "वास्तव में गुजराती भाषा के तीन ही युग हैं—ईसा की ११वीं सदी से १४वीं सदी तक का पहला युग। इस युग की भाषा को अपभ्रंश या पुरानी गुजराती नाम देना उचित है। १५वें शतक से १७वें शतक तक का दूसरा युग। इस युग की गुजराती, जो सामान्यतः आज पुरानी गुजराती के नाम से पहचानी जाती है, को मध्यकालीन गुजराती कहना उचित है। १८वीं शताब्दी से इसका तीसरा युग आरम्भ होता है। इस युग की गुजराती को अर्वाचीन गुजराती कहने में मतभेद नहीं हो सकता।" डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के इतिहास को भी इसी प्रकार तीन कालों में विभाजित किया है। १०वीं सदी से १५वीं सदी तक का काल 'प्राचीन काल' कहलाता है। इस काल में अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिन्दी भाषा पर मौजूद था तथा हिन्दी की बोलियों के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो पाए थे। १६वीं से १८वीं सदी तक का काल 'मध्यकाल' है, जब हिन्दी से अपभ्रंशों का प्रभाव बिलकुल हट गया था और हिन्दी की बोलियाँ स्वतन्त्रता-पूर्वक खड़ी हो गई थीं। १८वीं सदी के बाद हिन्दी का आधुनिक काल आरम्भ हो गया, जिस समय साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खड़ी बोली ने हिन्दी की अन्य सभी बोलियों को दबा दिया। इस प्रकार हिन्दी और गुजराती का विकास प्रारम्भ से आज तक समानान्तर रूप से ही हुआ है।

प्रसिद्ध भाषा-विशारद ग्रियर्सन महोदय ने उचित ही कहा है, "हिन्दी प्रारम्भ से ही एक आन्तरभाषा के रूप में विकसित हुई थी।" अपने जन्म-काल से ही यह भारत के समस्त राज्यों में बोली और समझी जाती रही है। देश के प्रायः सभी प्रदेशों में हिन्दी के व्याप्त एवं प्रचलित होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। बंगाल के विद्यापति, पंजाब के गुरु-नानक, महाराष्ट्र के नामदेव आदि की ही भाँति गुजरात के कवियों का हिन्दी-योगदान भी किसी से कम नहीं है। काव्य-रचना के लिए शान्ति की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, लेकिन गुजरात में मुसलमानों, मराठों और अंग्रेजों के निरन्तर आक्रमण से सदा अशान्ति रही। साथ ही देश के अन्य प्रदेशों की भाँति यहाँ पर आश्रयदाता राजा-महाराजा तथा ज़मींदार एवं जागीरदार भी अधिक

ग्रन्थ में सूरदास, तुलसीदास, नन्ददास आदि भक्त-कवियों के साथ ही नरसिंह महेता का भी नाम गिनाया गया है। इसी के आधार पर 'मिश्रबन्धु विनोद' में भी हिन्दी के भक्त-कवियों में महेताजी का नाम लिखा गया है। कृष्णानन्द व्यासदेव-रचित 'रागसागरोद्‌भव रागकल्पद्रुम' नामक हिन्दी ग्रन्थ में भी सूरदास, तुलसीदास और तानसेन की कविताओं के साथ इनकी कविताएँ संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी में काव्य-रचना करने वाले इस काल के कुछ प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं:

भालण (सन् १४५९-१५१४) के नाम पर गुजराती में लगभग पन्द्रह काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके 'भागवत दशमस्कन्ध' ग्रन्थ में गुजराती पदों के साथ कुछ ब्रजभाषा के पद भी उपलब्ध होते हैं। उत्तर गुजरात के इस भक्त-कवि द्वारा रचित इन पदों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस गुजराती कवि को ब्रजभाषा का आदि कवि होने और सूरदास से भी पहले ब्रजभाषा में काव्य-रचना करने का श्रेय प्रदान किया है। यद्यपि इनकी ब्रजभाषा पर गुजराती का प्रभाव होने से इस कथन को अधिक महत्व नहीं दिया गया है, तथापि यह एक विचारणीय कथन अवश्य है। इनकी ब्रजभाषा का एक उदाहरण देखिए:

ब्रज को सुख समरत श्याम।
पर्नकुटी सो वीसरत नाहीं न भावत सुन्दर धाम॥
बदीर मात्र नवनीत के कारन, उखले बाँधे ते बहु दाम।
चित में जु चुभी रही है, चोर चोर करत हैं नाम॥
निश दिन फिरतो जु सुरभि के संगे, शरपर परत शीत घन घाम।
निश दिन फुनी दोहन बन्धन को सुख, करि बैठत नाहीं जो नाम॥
मोर पिच्छ गुँजाफल ले ले, बेख बनावत रुचिर ललाम।
'भालन' प्रभु विधाता की गति, चरित तुमारे सब बाम॥

इन्हीं के लगभग समकालीन वैष्णव-कवियों में पाटण के निवासी **केशवदास कायस्थ** का नाम लिया जाता है। इनके गुजराती ग्रन्थ 'कृष्ण लीला काव्य' में ब्रजभाषा की अनेक फुटकर रचनाएँ देखने को मिलती हैं। बड़ौदा के समीपस्थ चांपानेर के निवासी और सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ **बैजू-बाबरा** या बैजनाथ भी गायक होने के साथ-साथ ब्रजभाषा के एक उच्चकोटि के भक्त कवि थे। उनकी रचना-शैली और भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है:

पक्षीमणि गरुड़ गजमणि ऐरावत दिनमणि दिवाकर।
गीतमणि संगीत वनमणि वृन्दावन तरुमणि कल्पतर॥
नरमणि नारायण तारामणि ध्रुव तीर्थमिण गंगा देवमणि शंकर।
नारीमणि उर्वशी पुष्पमणि कमल दास बैजूमणि मूल मुरलीधर॥

इसी काल में अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि **कृष्णदास अधिकारी** और श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका **मीराँबाई** ने भी अपने काव्यों से हिन्दी साहित्य को अत्यधिक योगदान दिया है। कृष्णदास अधिकारी मध्य गुजरात में स्थित चरोतर प्रदेश के पटेल थे और मीराँबाई ने अपने जीवन के अन्तिम पन्द्रह वर्ष द्वारिका में व्यतीत करते हुए गुजराती में भी काव्य-रचना की है। इन दोनों की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में सुपरिचित ही हैं। इनके अतिरक्त इसी सदी में जूनागढ़ के **कवि नरमिया** ने और उत्तर गुजरात के **गिरधरलाल नागर** ने भी ब्रजभाषा में कविताएँ लिखीं।

निर्गुण विचारधारा के संतों की परम्परा भी गुजरात में दीर्घ काल तक चलती रही। इन्होंने भी हिन्दी में कविताएँ लिखी हैं। इनमें अहमदाबाद-निवासी ब्रह्मज्ञानी **अखो** अथवा **अक्षयदास** (सन् १५९१-१६५६) सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि वे स्वयं स्वर्णकार थे और उनके कोई बहन न होने से एक वणिक-युवती को बहन बना लिया था। अपनी उस धर्म-बहन को उन्होंने एक बार शुद्ध सोने का एक हार भेंट किया। वह बहन उस हार की परीक्षा करवाने अन्य सुवर्णकार के पास गई। जब अखो को यह बात मालूम हुई तो उन्हें एकदम वैराग्य हो आया और उन्होंने भक्ति में ही अपने मन को रमा लिया। सन्त कबीर की ही भाँति ये भी अक्खड़ और मनमौजी सन्त थे। इन्हें गुजरात का कबीर कहा जाए तो अनुचित न होगा। इन्होंने गुजराती के साथ-साथ हिन्दी में भी अनेक काव्य-ग्रन्थ रचे हैं। इनके हिन्दी ग्रन्थों में 'सन्तप्रिया', 'ब्रह्मलीला', 'अवस्था निरूपण' और 'एकलक्ष रमणी' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके छन्द भी निर्गुण हिन्दी संन्तों की भाँति सोरठा, साखी, सबद, भजन, छप्पा,

झूलणा इत्यादि हैं। इनकी भाषा भी कबीर-जैसी सधुक्कड़ी ही है। इनकी रचना में से एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

ज्ञान घटा चढ़ आई, अचानक ज्ञानघटा चढ़ आई ।।ध्रुव।।
अनुभव जल बरखा बड़ी बूंदन, कर्म की कीच रेलाई।
दादुर मोर शब्द सन्तन के, ता की शून्य मिडाई ।।अचा०।।
चहुँदिश चित्त चमकत आपनपों, दामिनी-सी दमकाई।
घोर-घोर घन गर्जन घेहरा, सतगुरु सेन बताई ।।अचा०।।
गयो ग्रीसम अंकुर उगी आये, हरिहर की हरिआई।
शुक सनकादिक शेष सहराये, सोई अखा पद पाई ।।अचा०।।

इसी परम्परा में 'दादूपन्थ' के प्रवर्तक महात्मा **दादू-दयाल** का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। ये अहमदाबाद के रहने वाले थे और जन्म से अत्यन्त शान्त प्रकृति के थे। अत्यधिक दयालु होने के कारण ही लोगों ने इनका नाम 'दयाल' रख दिया था, किन्तु सब लोग इन्हें 'दादा' कहकर ही पुकारा करते थे। इनके शिष्यों में सुन्दर-दास, रज्जब, जनगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास तथा खेम-दास आदि अच्छे कवि हो गए हैं। इनके दो दोहे यहाँ दिये जा रहे हैं :

काया कठिन कमान है, खींचे विरला कोय।
मारे पाँचों मिरगला, दादू सूरा होय ।।
दादू मन मरतक भया, इन्द्रिय अपने हाथ।
तो भी कदी न कीजिए, कनक कामिनी साथ ।।

'धामी पंथ' के प्रवर्तक सुप्रसिद्ध **संत प्राणनाथ** (सन् १६१९ में जन्म) सौराष्ट्र के जामनगर के रहने वाले थे। इन्होंने भी अपने अनेक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी में लिखे हैं। इनके समय में ही सोमनाथ के निवासी **कवि पुहकर** ने व्रजभाषा में 'रस रतन' नाम के ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें रेभावती और सूरकुमार की प्रेमकथा का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है।

गुजरात के जैन-कवियों की हिन्दी सेवा तो सुपरिचित है ही। इनके हाथों १०वीं से १७वीं सदी तक के समय में विपुल रचनाएँ हुईं जो आज भी राजस्थान और गुजरात के जैन-मन्दिरों में सुरक्षित हैं। इन कवियों ने भक्ति, ज्ञान, उपदेश, राजनीति, लोकनीति तथा सदाचार-जैसे विषयों पर ही अधिकांश रचनाएँ की हैं। गुजरात के इन हिन्दी-सेवी जैन-कवियों में आनन्दघन, ज्ञानानन्द, विनय विजय, यशो-विजय और किशनदास प्रमुख हैं। कविवर **आनन्दघन** की 'आनन्दघन चौबीसी' और 'आनन्दघन-बहोत्तरी' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा-शैली का एक उदाहरण देखिए :

राम कहो रहमान कहो कोउ, कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड स्वरूप री ।।
निज पद रमे राम सो कहिए, रहम करे रहमान री।
कर्षे करम कान्ह सो महिए, महादेव निर्वाण री ।।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हें सो ब्रह्म री।
इहि विधि साधो आप 'आनन्दघन', चेतनमय निष्कर्म री ।।

इसी सम्प्रदाय के **बाबा किशनदास** का 'उपदेश बावनी' नामक व्रजभाषा में लिखा गया ऐक लघु काव्य भी विशेष प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि अपनी बहन रतनबाई के स्वर्गवास पर उन्होंने इस काव्य की रचना की थी। इस काव्य में अ से ज्ञ तक के सभी स्वर-व्यंजनों से आरम्भ करके एक-एक पद लिखा गया है। उनके काव्य का एक उदाहरण देखिए :

जानी भूखा प्यासा, जाने दीजें न निरासा
कीजें सबका दिलासा सब जीव अपनासा है।
खानपान खासा कहा पहिरे भलासा तउ
लोभ अधिकासा एति प्रानीकों पिपासा है।
दगाकासा पासा कीजें वासा जलधर कासा
आवे देखी हासा छिन तोला छिन मासा है।
एसासा रहासा तायें किसन अनन्त आसा
पानी में पतासा जैसा तनका तमासा है ।।

गुजरात में मुसलमान सूफी सन्तों की संख्या भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इन सन्तों ने अमीर खुसरो की भाषा-शैली का अनुकरण करते हुए बहुत प्राचीन काल से ही खड़ीबोली में काव्य-रचना का कार्य आरम्भ कर दिया था। इन कवियों ने अपनी भाषा को 'हिन्दवी' अथवा 'गुजरी' नाम से सम्बोधित किया है। इस परम्परा के कवियों में **शेख बहाउद्दीन बाजन** (सन् १३८८-१५०६), **काज़ी महमूद दरियायी** (सन् १४४०-१५३५), **शाह अलीजी गामधनी** (मृत्यु सन् १५६७) और **हजरत खूब मुहम्मद**

चिश्ती (सन् १६१३) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शैली के और भी अनेक कवि गुजरात में हुए हैं। वर्तमान उर्दू काव्य-शैली के प्रवर्तक वली भी गुजराती थे। उनके अनन्तर भी इस शैली के अनेक कवि गुजरात में हुए हैं। आज भी उर्दू शैली की यह परम्परा गुजरात में चल रही है।

मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में भी हिन्दी-काव्य-धारा निरन्तर गति से बहती हुई पाई जाती है। इस काल में हिन्दी की भाँति शृंगारिक काव्यों की प्रचुरता नहीं रही, किन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नहीं रहा। शृंगार के स्थान पर अधिकांश कवियों ने ज्ञान और नीति-विषयक काव्यों में अपनी अधिक रुचि दिखाई है। इस काल में गुजरात के राजाओं ने भी हिन्दी कविता में अपनी रुचि ही नहीं दिखलाई, स्वयं काव्य-रचना करके हिन्दी की समृद्धि में अपना योगदान भी दिया है। ऐसे कवियों में राजकोट के **मेहरामणसिंह**, झालावाड़ के **अमरसिंह** तथा **मानसिंह** और कच्छ के **लखपतिजी** का नाम लिया जाता है।

इस काल के प्रमुख हिन्दी काव्य-रचयिताओं में कवीश्वर **केवलराम** का नाम प्रथम लिया जाना चाहिए। इनका जन्म जूनागढ़ में सन् १७०० में हुआ था। संस्कृत और व्रजभाषा का विधिवत् अध्ययन करके अहमदाबाद के नवाबों की सेवा में रहे। इनके आश्रयदाता मोमीनखान बाबी वंश के थे, अतः 'बाबी विलास' नाम से इन्होंने व्रजभाषा में एक उत्तम काव्य-ग्रन्थ की रचना की। लुणा-बाड़ा के राजा दीपसिंह ने इनको 'कवीश्वर' की उपाधि प्रदान की थी। इनकी भाषा-शैली हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों के समकक्ष है। अहमदाबाद के **दलपतिराय** और **बंशीधर** उदयपुर के राजा जगतसिंह के दरबारी कवि थे। इन दोनों ने मिलकर सन् १७३६ के लगभग 'अलंकार रत्नाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की। महाराज जशवंतसिंह के 'भाषा भूषण' की पूर्ति के रूप में इस ग्रन्थ का शताब्दियों तक बड़े आदर के साथ पठन-पाठन होता रहा है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए इन्होंने लिखा है :

नमत सुरासुर मुकटमँहि प्रतिबिम्बित अलिमाल।
किये रत्न सब नीलमनि सो गनेश प्रतिपाल॥
उदयापुर सुरपुर मनौं सुरपति श्री जगतेश।
जिनकी छाया छत्रबस कीनौं ग्रन्थ अशेष॥
जदपि नार सुन्दर सुघर दिपत न भूखन हीन।
त्यों न अलंकृति बिनु लसैं कविता सरस प्रवीन॥
मेदपाठ श्रीमाल कुल विप्र महाजन काय।
बासी अहमदाबाद के बंशी दलपति राय॥

यह ग्रन्थ शुद्ध व्रज भाषा में लिखा हुआ है और अलंकारों के अध्ययन के लिए तो इससे सरल व सुन्दर ग्रन्थ मिलना ही दुर्लभ है। भड़ौंच जिले के आमोद नगर-निवासी कवि जसुराम की व्रजभाषा में लिखित कविताएँ भी भुलाई नहीं जा सकतीं। इन्होंने सन् १७६८ के लगभग 'राजनीति' नामक एक ग्रन्थ व्रजभाषा में लिखा था। इनकी भाषा का उदाहरण :

चातक दादुर मोर छिति सदा निबाहत नेह।
नृप ऐसे चाहिए जसू जैसे चहिए मेह॥
जो दीजै परधान पद तो कीजै इतबार।
जो इतबार न होइ जसु तो परधान निबार॥

इन्होंने अपनी भाषा में सुन्दर लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। यथा :

राज के वजीरन को सबै लोक जसूराम,
तमोली के पान ज्यों सँवार-बोई चाहिए॥

× × ×

राजनीति राज के वजीरन को जसूराम,
गुड़ ही ते मरे ताको विषते न मारिये॥

इन्हीं के समकालीन बड़ौदा-निवासी **आदितराम** तथा **उत्तमराम** के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ही कवियों ने बड़ौदा के मानाजी गायकवाड़ के पास रहकर व्रजभाषा में अपनी फुटकर काव्य-रचना की थी। इस काल के अन्तिम प्रतिभाशाली **कवि दयाराम** (सन् १७७७-१८५२) हुए हैं। ये बड़ौदा के समीप चाणोद के रहनेवाले थे। युवावस्था में इन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की थी। हिन्दी के रीति-कालीन कवियों की पंक्ति में इन्हें सरलता से बिठाया जा सकता है। गुजराती साहित्य में तो ये रसिक-शिरोमणि कहे जाते हैं। इन्होंने कुल मिलाकर सवा लाख पदों की रचना की थी। 'रसिकवल्लभ', 'प्रेमरसगीता', 'रुक्मिणी विवाह', 'प्रेम-परीक्षा' और 'सतसैया' इनके सुप्रसिद्ध काव्य-

ग्रन्थ हैं। 'सतसैया' व्रज भाषा के दोहों का संग्रह है। इन दोहों को विहारी के दोहों के समकक्ष कहना तो धृष्टता होगी, फिर भी इनके कुछ दोहे बिहारी के दोहों के जितने ही सरस हैं। उदाहरण देखिए :

चाह बसाए हृदय में धरूँ त्रिभंगी ध्यान।
ताते राख्यो कुटिल उर होइ असी सों म्यान ॥
ललना लोचन सित असित गोलक डारे लाल।
यह त्रिवेनी मंजन लही मुक्ति बिरह गोपाल ॥
रसिक नेन नाराच की अजब अनोखी रीत।
दुसमन को परसें नहीं मारें अपनो मीत ॥

इनकी मान्यता थी कि काव्य सरल नहीं होना चाहिए। एक स्थान पर इन्होंने लिखा भी है :

धुर्ग, काव्य, कुश्मांडु, कुच, उख कटोर त्यौं सार।

'वस्तुवृन्द दीपिका' नामक एक अन्य ग्रंथ में इनके हिन्दी पदों का संग्रह किया गया है। इसमें 'विरही के नव लच्छन' बताते हुए इन्होंने लिखा है :

ले उसास गम्भीर पीत मुख हाय हें।
सजल नैन कछु बचत न सूकत जाय हें ॥
लघु भख नींद हराम उदासी बनी रहें।
गोपिनाथ बिन गोपि गति ऐसी लहें ॥

इन्हीं के समकालीन राजकोट के राजकुमार **मेहरामण सिंह**-कृत 'प्रवीण सागर' व्रज और खड़ी बोली में लिखा गया एक अद्भुत ग्रन्थ है। चौरासी अध्यायों में लिखा गया यह ग्रन्थरत्न विविध ज्ञान का भंडार है। इसीलिए यह आज तक गुजरात के राजघरानों में बड़े आदर के साथ पढ़ा जाता रहा है। इसमें सागर और प्रवीण नाम के नायक-नायिका की प्रेमकथा के बहाने सभी प्रकार के ज्ञान की बातें कह दी गई हैं। इसे यदि विश्वकोश भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इसकी भाषा में गुजराती, मराठी, मारवाड़ी तथा अरबी-फारसी के भी अनेक शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं, फिर भी भाषा अत्यन्त आकर्षक तथा प्रभावशाली बन पड़ी है। एक उदाहरण देखिए :

सागर जात गयंद चढ़े सु, प्रबीन झरोख चढ़ी उमगी।
दूर कियो चिक दीठ जुरी जुग, रीझ भई भरि लाज भगी।
दामिनि ज्यों सु दमंक गई चित, दोउन के सुचमक लगी।
होत नहीं बिरहानल उदित, प्रेम जरीक जगी चिनगी ॥

कहा जाता है कि इनके अनेक मित्र भी व्रज भाषा में सुन्दर काव्य-रचना करते थे और इस मित्रमण्डली ने मिलकर ही इस 'ज्ञानमंजूषा' की रचना की थी। १८वीं और १९वीं शताब्दी में स्वामीनारायण सम्प्रदाय के अनेक भक्त-कवियों ने हिन्दी में सुन्दर काव्य-रचना की थी। इनमें स्वामी मुक्तानन्द, ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। गढ़ड़ा (सौराष्ट्र) के निवासी **मुक्तानन्द** स्वामी एक अत्यन्त प्रभावशाली साधु थे। कवि-वृन्द के समान ही दोहे के उत्तर पद में दृष्टान्त रखकर भक्ति और नीति के सुन्दर दोहे इन्होंने लिखे हैं। जैसे :

मुक्त मनुज तन पाय के, हरि उर धारत नाहिं।
वृथा श्वास तिह धमन सम, मृतक तुल्य जग माहिं ॥
मुक्त मनुज तन पाय के, जीभ न हरि गुण गात।
सो दादुर की जीभ सम, वृथा बकत दिन रात ॥

स्वामी **ब्रह्मानन्द** ने तो अपने सम्प्रदाय के प्रचारार्थ 'सम्प्रदाय-प्रदीप', 'सुमति प्रकाश' और 'ब्रह्मविलास' जैसे सुन्दर ग्रन्थों की रचना भी हिन्दी में ही की थी। इन सभी ग्रन्थों में इनके रचे हुए भक्ति और नीति के काव्यों का संग्रह है। इन्होंने काव्य-रचना के लिए सभी प्रकार के छन्दों का उपयोग किया है। इनकी भाषा-शैली के उदाहरण के लिए एक कुण्डलिया प्रस्तुत है :

ऐसे साधु जगत में, फिरतहि भेख बनाय।
उदर भरन के कारणे, लोकन को भरमाय ॥
लोकन को भरमाय, नहीं जानत हरि लेशा।
परधन परतिय काज, करत रहे जाप हमेशा ॥
दाखत ब्रह्मानन्द, ध्यान धरहे बग जैसा।
फिरत है भेख बनाय, जगत में साधु ऐसा ॥

इस सम्प्रदाय के अन्य अनेक कवियों ने भी हिन्दी में काव्य रचकर हिन्दी साहित्य की सेवा की है। इस प्रकार मध्यकाल में कवि दयाराम और मेहरामणसिंह-जैसे रीति-काव्यकारों के साथ भक्ति, ज्ञान तथा नीति-विषयक रचनाएँ भी प्रभूत मात्रा में हुई हैं। ये सब रचनाएँ भाषा-शैली की दृष्टि से उत्तर भारत के हिन्दी कवियों के काव्यों के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

आधुनिक काल (सन् १८२५ के बाद)

वर्तमान काल में गुजरात का हिन्दी को दिया गया योगदान स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। आधुनिक हिन्दी खड़ी बोली गद्य के चार प्रमुख उद्भावकों में जिनका नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है, वे **लल्लूलालजी** गुजराती ब्राह्मण ही थे। इन्होंने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज में जॉन गिलक्राइस्ट के आदेश से खड़ी बोली गद्य में 'प्रेमसागर' लिखा था। इनकी भाषा सरल, प्रवाहमयी और कृष्णोपासक व्यासों की-सी व्रज-रंजित खड़ी बोली है। इन्होंने हिन्दी में अन्य भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'सिंहासनबत्तीसी', 'वैतालपचीसी', 'शकुन्तलानाटक' और 'माधोनल' आदि उल्लेखनीय हैं। इसी काल में कवीश्वर **दलपतराम** (सन् १८२०-१८९७) ने 'श्रवणाख्यान' नामक काव्य-ग्रन्थ व्रजभाषा में लिखा था। इन्होंने बाल्यावस्था में भुज (कच्छ) की पाठशाला में रह-कर व्रजभाषा और काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था। 'मिश्रबन्धुविनोद' में इनके ग्रन्थ का उल्लेख करके इनकी कविता को 'साधारण श्रेणी की कविता' कहा गया है। इन्हीं के समकालीन और आधुनिक गुजराती साहित्य के पिता **वीर नर्मदाशंकर** (सन् १८३३-१८८६) ने भी हिन्दी में मुक्तक-काव्य की रचना की है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इन्होंने सन् १८६८ में अपने 'डांडियो' नामक साप्ताहिक में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात का सबसे पहले उल्लेख किया था। इन्हीं के अनन्तर सन् १८७२ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द ने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को उपस्थित किया था। नर्मदा की कविता सामान्य कोटि की ही है। इसी समय में भावनगर राज्य के शिहोर-निवासी **गोविन्दभाई गिलाभाई** (सन् १८४९-१९२५) व्रजभाषा के एक सुयोग्य कवि हुए। इन्होंने भूषण की कविताओं का शुद्ध संस्करण प्रकाशित करवाया और स्वयं भी अनेक काव्य-ग्रन्थ रचे। इनके ग्रन्थों में 'नीतिविनोद', 'शृंगार-सरोजिनी', 'षट्ऋतु', 'पावस पयोनिधि', 'वक्रोक्तिविनोद', 'प्रारब्ध पच्चीसी' और 'गोविन्दज्ञानबावनी' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा शुद्ध एवं सरस व्रजभाषा है। इनके समान शुद्ध व्रजभाषा लिखने वाले वर्तमान युग में उत्तर-भारत में भी बहुत कम कवि मिल सकेंगे। इनकी कविता का एक नमूना देखिए :

> **सुनिये चतुर बिधि अरज हमारी एक**
> **आपको उमंग धारि चाहत कहन को।**
> **पूरब के पाप-पुण्य जोय जमें होय मेरे**
> **देहु फल ताके दिल चाहे सो सहन को।**
> **चाहे तो दरिद्र और कीजिये धनेस पुनि**
> **चाहे तो बल सों बैर बपु बहन को।**
> **गोविन्द सुकवि पर लिखियो लिलार नाँहि**
> **नीरस नरन पास कविता कहन को॥**

आर्यसमाज के संस्थापक **स्वामी दयानन्द** (सन् १८२४-१८८३) की हिन्दी सेवा सुविदित ही है। ये संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पक्षपाती थे। इन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश', 'आर्याभि-विनय', 'व्यवहारभानु' और 'गोकरुणानिधि' इत्यादि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनके अनुयायियों ने भी इनका अनुकरण करते हुए हिन्दी भाषा और साहित्य की जो सेवा की है वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गई है। इनके बाद भी गुजरात में अनेक छोटे-छोटे कवियों ने हिन्दी काव्य-रचना का कार्य निरन्तर चालू रखा है। ऐसे कवियों में मोरबी के **हीराचन्द कानजी**, सूरत के कवि **फकीरुद्दीन**, अहमदाबाद के कवि **कृष्णराम भट्ट** और कच्छ के **महाराव लखपतिजी** आदि के नाम स्मरणीय हैं। इन सबकी कविताएँ खड़ीबोली हिन्दी में हैं और भाषा-शैली की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। उदाहरणार्थ कवि फ़कीरुद्दीन का एक पद प्रस्तुत है :

> **सूरत को सार गयो, लोक व्यवहार गयो,**
> **रोजगार डूब गयो, दशा ऐसी आई है।**
> **टूट गए साहूकार, उठ गई धीर-धार,**
> **नहीं कोई-कोई यार बैरी सगा भाई है।**
> **खाने को तो विष नहीं, रहने को घर नहीं,**
> **बात कहा कहें, यार सभी दुःखदाई है।**
> **कहत फकीरुद्दीन सुन ए चतुर जन,**
> **टूट गए तो भी पक्के सूरति सिपाही हैं॥**

सन् १९२० के बाद का युग गुजराती-साहित्य में 'गांधी-युग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में **महात्मा गांधी** के द्वारा की गई हिन्दी-सेवा स्वर्णाक्षरों से लिखी

गई है। उन्हीं की बदौलत आज हिन्दी राष्ट्रभाषा पद पर आसीन है। उन्होंने स्वयं तो शुद्ध हिन्दी में विशेष रचना नहीं की है, किन्तु राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी का जो स्वरूप उन्होंने निश्चित कर दिया वह हिन्दी को उनकी अमूल्य देन है। बड़ी-बड़ी सभाओं में वे सदा हिन्दी में ही बोलने का आग्रह रखते थे। उनके अनुयायियों ने भी उनके आग्रह से हिन्दी में लिखने और बोलने का आग्रह रखा। इनमें **किशोरलाल मशरूवाला** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने हिन्दी गद्य में अनेक पुस्तकें तथा लेखादि लिखे। इनकी भाषा अत्यन्त सरल, परिमार्जित एवं गम्भीर है। इस काल में ही 'गां ी बावनी' के कर्ता **दुलेराय काराणी** को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इन्होंने अवधी भाषा में इस महाकाव्य की रचना करके भाषा पर अपना अद्भुत प्रभुत्व सिद्ध किया है। इनकी भाषा का सौन्दर्य देखिए :

नील कंज सम सुहत शरीरा।
नखद्युति मानहु उज्ज्वल हीरा॥
भरित कपोल गोल अरुणारे।
कण्ठ सुललित कम्बु अनुसारे॥
पूर्णचन्द्र आनन छवि छाये।
देखत काम कोटि लजवाये॥
नयन पद्म शुभ प्रकाशवन्ता।
कुञ्चित केश कृष्ण सोहन्ता॥

वर्तमान युग में हिन्दी भाषा का प्रचार करनेवाली विविध संस्थाओं के द्वारा ली जानेवाली परीक्षाओं के कारण गुजरात में हिन्दी पठन-पाठन तथा साहित्य-सर्जन का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, बम्बई हिन्दी विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद की ओर से प्रतिवर्ष वर्ष में दो बार परीक्षाएँ ली जाती हैं। इन परीक्षाओं में लाखों की संख्या में विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर हिन्दी के प्रति अपनी भावना प्रकट करते हैं। गुजरात की शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी को अनिवार्य विषय के रूप में मान्यता दी गई है। इस राज्य में स्थित तीनों विश्वविद्यालयों में से हिन्दी मुख्य विषय लेकर स्नातक और स्नातकोत्तर उपाधि पानेवाले छात्रों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, जो कि गुजरात के हिन्दी-प्रेम को व्यक्त करती है। गुजरात के सरकारी कार्यालयों में कर्मचारियों के लिए हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया है और इसके लिए राज्य सरकार स्वयं ही परीक्षाओं की व्यवस्था करती है। शायद यह कहना भी अनुचित न होगा कि हिन्दी को जो योगदान गुजरात राज्य की ओर से आज मिल रहा है वह कदाचित् किसी हिन्दी प्रान्त में भी नहीं मिल रहा होगा।

आधुनिकतम काल में भी मुनि जिनविजयजी, पंडित सुखलालजी, इन्द्र बसावड़ा और किशनसिंह चावड़ा-जैसे गुजराती गद्य-लेखक हिन्दी गद्य-लेखन में अपना योगदान दे रहे हैं, तो दूसरी ओर कविवर सुन्दरम्, हसित बुच और पिनाकिन ठाकोर-जैसे अनेक कवि भी हिन्दी में कविता की रचना कर रहे हैं। महाविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों के द्वारा भी समय-समय पर विविध पत्र-पत्रिकाओं में लिखे जानेवाले लेख व निबन्धादि हिन्दी-साहित्य में अपना योग-दान करते ही रहते हैं। वस्तुतः हिन्दी और गुजराती में अत्यधिक समानता होने के कारण इस प्रकार के योगदान की उपलब्धि स्वाभाविक प्रतीत होती है। दोनों की लिपियों में भी पूर्ण साम्य है। सरलता की दृष्टि से गुज-राती ने न केवल शिरोरेखाओं का परित्याग कर दिया है अन्यथा दोनों की लिपि एक ही है। दोनों भाषाओं के ७५ प्रतिशत शब्द-समूह में समानता है। ऐसी स्थिति में गुजरात राज्य के द्वारा हिन्दी के विकास में योगदान दिया जाना अनिवार्य है। गुजरात ने अपने इस उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाया है, यही इसके लिए विशेष सन्तोष की बात है।

● ● ●

भगवन्तराव अन्नाभाऊ मंडलोई

मध्यप्रदेश के प्रशासन और शिक्षा में हिन्दी

श्री मंडलोई मध्यप्रदेश में खंडवा नामक स्थान के रहने वाले हैं। भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में इन्होंने सक्रियता से कार्य किया। मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री पद से इन्होंने कामराज योजना के अन्तर्गत त्यागपत्र दिया और अब कांग्रेस संगठन को दृढ़ बनाने में दत्तचित्त हैं। श्री मंडलोई सुवक्ता ही नहीं, सुलेखक भी हैं।

हिन्दी हमारे देश की एक प्रमुख भाषा है। बोलने और समझने वालों की दृष्टि से अन्य भाषाओं की तुलना में इसका सबसे अधिक व्यापक प्रसार है। स्वाधीनता के पूर्व भी हिन्दी की इसी विशेषता को देखकर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हिन्दी को देशव्यापी भाषा का स्वरूप देने का प्रयत्न किया था, जिसका फल यह हुआ कि दक्षिण तथा अन्य अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी का व्यापक रूप से प्रसार हुआ। हिन्दी की इसी विशेषता को ध्यान में रखकर संविधान में उसे राष्ट्रभाषा का स्थान दिया गया है।

वर्तमान मध्यप्रदेश, जिसका निर्माण भूतपूर्व मध्यप्रदेश के हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र, पूर्व-मध्यभारत, पूर्व-विन्ध्य प्रदेश और पूर्व-भोपाल राज्यों को मिलाकर हुआ है, भाषा की दृष्टि से एक सुसंगठित राज्य है। भूतपूर्व मध्यप्रदेश में हिन्दी को वैधानिक दृष्टि से राजभाषा का रूप देने के लिए जहाँ राजभाषा अधिनियम बनाया गया था, वहीं प्रशासन के क्षेत्र में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए भी अनेक यत्न किए गए थे। इसमें से प्रमुख कार्य था, भाषा-विभाग की स्थापना। इस विभाग की स्थापना सन् १९५१ में हुई और उसके जिम्मे यह कार्य सौंपा गया कि वह शीघ्र-से-शीघ्र प्रशासन में हिन्दी के व्यवहार के सम्बन्ध में कदम उठाए। इसके फलस्वरूप शीघ्र ही सन् १९५१ में भाषा-संचालनालय की स्थापना हुई और उसके जिम्मे कोश-निर्माण, विभागीय नियम-पुस्तिकाओं का अनुवाद, अहिन्दी कर्मचारियों को हिन्दी सिखाने तथा अंग्रेजी के शीघ्रलेखकों एवं मुद्रलेखकों को हिन्दी शीघ्रलेखन एवं मुद्रलेखन में प्रशिक्षित करने के कार्य सौंपे गए। परिणामस्वरूप कुछ ही समय में प्रशासन के कार्यों में हिन्दी को तेजी से स्थान मिलने लगा।

सन् १९५५ में राजभाषा आयोग ने भाषा संचालनालय का निरीक्षण किया। आयोग ने संचालनालय द्वारा किये जानेवाले कार्यों के सम्बन्ध में अत्यन्त सन्तोष प्रकट करते हुए कहा कि "शासन के कार्यों में अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठित करने के लिए इस प्रकार से सुव्यवस्थित कार्य करने का कदम देश में अब तक केवल मध्यप्रदेश शासन ने ही उठाया है।"

नये मध्यप्रदेश में सम्मिलित होनेवाली अन्य इकाइयों में मध्यभारत तथा विन्ध्य प्रदेश में बहुत-सा काम-काज हिन्दी में ही होता था। भोपाल राज्य में भी हिन्दी का प्रयोग आरम्भ हो गया था।

नये राज्य की स्थापना के अनन्तर सन् १९५८ में नया राजभाषा अधिनियम बनाया गया, जिसके अनुसार कुछ अपवादों को छोड़कर, समस्त शासकीय कार्यों के लिए हिन्दी का प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया। तब से इस दिशा में निरन्तर प्रगति हो रही है। सार्वजनिक मामलों में, जिनका सम्बन्ध सर्वसाधारण जनता से है, अधिकतर कार्य हिन्दी में किये जाते हैं और यह आशा की जाती है कि जहाँ-जहाँ पहले से अंग्रेजी का प्रचलन है, वहाँ भी हिन्दी में ही कार्य होने लगे।

मध्यप्रदेश राज्य के फौजदारी एवं दीवानी न्यायालयों की भाषा हिन्दी है, किन्तु न्यायालयीन कार्यों में, विशेषत: निर्णयों एवं आदेशों के लिए, अंग्रेजी के प्रयोग की छूट दे दी गई। राज्य के उच्च-न्यायालय की कार्यवाही में

हिन्दी का प्रयोग आरम्भ करने के प्रश्न पर भी विचार किया जा रहा है।

राज्य की विधान-सभा का समस्त कार्य हिन्दी में ही होता है। सभी विधेयक हिन्दी में ही प्रस्तुत किये जाते हैं और उन पर हिन्दी में ही बहस होती है। स्वीकृत होने पर ये विधेयक जब अधिनियम का रूप धारण करते हैं तो उनका हिन्दी में प्रकाशित होना भी अनिवार्य है। विधि-सम्बन्धी ऐसे अन्य मामलों में भी हिन्दी का प्रयोग इसी प्रकार आवश्यक है।

प्रशासन के सभी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग को अधिक-से-अधिक सुविधापूर्ण बनाने की दिशा में शासन अत्यन्त जागरूक है। शब्दावली का प्रश्न हो अथवा विभागीय सामग्री का हिन्दी में अनुवाद उपलब्ध करना हो, अथवा हिन्दी में कर्मचारियों को प्रशिक्षित करना हो, शासन की ओर से सबके लिए समुचित व्यवस्था की गई है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शासन द्वारा क्रमशः राज्य के संभागों में ऐसे प्रशिक्षण-केन्द्र खोले जा रहे हैं, जहाँ अंग्रेजी के शीघ्रलेखकों और मुद्रलेखकों को हिन्दी में काम करने के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक इस प्रकार के केन्द्र प्रत्येक सम्भाग में खुल जाएँगे। इन केन्द्रों में प्रशिक्षित हिन्दी शीघ्रलेखकों एवं मुद्रलेखकों के उपलब्ध होने पर हिन्दी के व्यवहार में उपस्थित होनेवाली एक बहुत बड़ी कठिनाई दूर हो जाएगी और शासकीय काम अधिक वेग से हिन्दी में होने लगेगा।

उन राज्यों में, जिन्होंने अपनी राजभाषा हिन्दी घोषित की है, परस्पर पत्र-व्यवहार के लिए हिन्दी का प्रयोग एक सराहनीय कदम है। शासन ने उत्तर प्रदेश और राजस्थान राज्यों से हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने का निश्चय कर लिया है और इस सम्बन्ध में अन्य राज्यों से हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने के लिए आवश्यक कार्यवाही की जा रही है।

प्रशासकीय क्षेत्र में हिन्दी को व्यापक रूप में स्थान देने के लिए किए जानेवाले प्रयत्नों के साथ ही शासन द्वारा ऐसे महत्त्वपूर्ण काम भी किए जा रहे हैं, जिनका हिन्दी की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है उन संस्थाओं को दी जाने-वाली आर्थिक सहायता, जिनका काम हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाना तथा हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में योगदान देना है। इस समय शासन द्वारा काशी नागरी प्रचारिणी सभा, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, तुलसी समारोह समिति, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् इत्यादि को नियमित रूप से अनु-दान दिये जा रहे हैं।

जिन साहित्यकारों ने साहित्य-सृजन द्वारा भाषा के विकास में योगदान दिया है और जो आज वृद्धावस्था एवं अन्य विपदाओं के कारण अर्थाभावग्रस्त हैं अथवा साहित्य-सृजन में अपने को असमर्थ पा रहे हैं, उन्हें आर्थिक सहा-यता प्रदान करने के लिए भी शासन ने योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत इस वर्ष शासन ने राज्य के बारह साहित्यकारों को पाँच-पाँच सौ रुपये की सहायता प्रदान की है। केन्द्रीय शासन के सहयोग से चलाई गई इसी प्रकार की एक अन्य योजना के अन्तर्गत भी शासन ने राज्य के ग्यारह साहित्यकारों एवं कलाकारों को आर्थिक सहायता प्रदान की है।

राज्य में साहित्यिक गतिविधि को प्रोत्साहन देने और सफल साहित्यकारों को सम्मानित करने के उद्देश्य से शासन द्वारा मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् की स्थापना की गई है, जिसकी ओर से प्रतिवर्ष लगभग २०,०००) के पुरस्कार देने की व्यवस्था है। इनमें से १० पुरस्कार— जैसे कालिदास पुरस्कार, तुलसी पुरस्कार, रवीन्द्र पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार, रविशंकर शुक्ल पुरस्कार, बाल-कृष्ण शर्मा 'नवीन' पुरस्कार, मालवीय पुरस्कार, देव पुर-स्कार, भोज पुरस्कार और विश्वनाथ पुरस्कार अखिल भारतीय पुरस्कार हैं और शेष पुरस्कार राज्य-स्तर के हैं। परिषद् द्वारा समय-समय पर ख्यातनामा विद्वानों के विभिन्न विषयों पर व्याख्यान भी आयोजित किए जाते हैं। इसके साथ ही परिषद् द्वारा उच्चकोटि की साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन भी किया जाता है।

राज्य शासन द्वारा शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। हिन्दी-भाषी राज्य होने के कारण मध्यप्रदेश में शिक्षा के सभी स्तरों पर शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को उचित स्थान दिया गया है। प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा के माध्यम

से शिक्षा दी जाती है। मिडिल एवं माध्यमिक स्तरों पर हिन्दी के माध्यम से ही पठन-पाठन की व्यवस्था की गई है। जिन स्कूलों में अंग्रेजी अथवा अन्य भाषा के माध्यम से पठन-पाठन की व्यवस्था है, उनमें एक विषय के रूप में हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य की गई है। विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्नातक-स्तर पर, अंग्रेजी एवं हिन्दी दोनों माध्यमों से अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है और छात्र स्वेच्छा से अंग्रेजी या हिन्दी माध्यम का चुनाव करते हैं। स्नातकोत्तर स्तर पर प्रत्येक विश्वविद्यालय तथा उनसे सम्बन्धित महाविद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा की व्यवस्था है। वह समय दूर नहीं है, जब उच्च-स्तरीय शिक्षा के लिए व्यापक रूप में हिन्दी माध्यम को अपनाने में भी हमारा राज्य अग्रणी होगा। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की विश्वविद्यालयीन स्तर की पाठ्यपुस्तकों की हिन्दी अनुवाद-योजना के अंतर्गत, राज्य की ओर से ३२ प्रामाणिक पुस्तकों का अनुवाद कार्य हाथ में लिया गया है।

उपर्युक्त ब्यौरे से स्पष्ट है कि मध्यप्रदेश शासन ने हिन्दी के लिए विकास के महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं, यद्यपि यह सत्य है कि भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि के लिए केवल यही अपेक्षित नहीं है। साहित्यिकों, भाषा-शास्त्रियों, शिक्षाविदों, प्राध्यापकों, वैज्ञानिकों, शिक्षा-संस्थाओं तथा जनता के सहयोग से ही भाषा का सर्वांगीण विकास हो सकेगा।

गोपीनाथ श्रीवास्तव

उत्तर प्रदेश के प्रशासन और शिक्षा में हिन्दी

श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव उत्तर प्रदेश सरकार में भाषा-विभाग में सहायक सचिव के पद पर हैं।

देश को आज़ादी मिलने के तुरन्त बाद अक्तूबर १९४७ में उत्तर प्रदेश ने सबसे पहले हिन्दी अपनी राजभाषा घोषित कर दी थी। उस समय यह निश्चय किया गया था कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का शनैः-शनैः इस प्रकार इस्तेमाल किया जाए कि सरकारी कार्यों में कम-से-कम अड़चन पैदा हो तथा कर्मचारियों को भी जरूरत से ज्यादा कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। इसी नीति के अनुसार उस समय से अब तक इस दिशा में राज्य सरकार द्वारा अनेक प्रयत्न एवं कार्यवाहियाँ की गई हैं। यह हर्ष का विषय है कि हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने में उत्तर प्रदेश को पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। एक हिन्दी-भाषी प्रदेश होने के नाते इस प्रकार उत्तर प्रदेश ने अपने उत्तरदायित्व को पूरा किया है।

विधिक कार्यवाहियाँ : सबसे पहले हम हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने के लिए की गई विधिक कार्यवाहियों का उल्लेख करेंगे।

अक्तूबर १९४७ में हिन्दी को राजभाषा घोषित करने के लिए शासकीय अधिकारों का ही प्रयोग किया गया था। सन् १९५० में भारत का संविधान पारित हो जाने के बाद यह आवश्यक जान पड़ा कि संविधान के अन्तर्गत हिन्दी को इस प्रदेश की राजभाषा घोषित करने के लिए प्रदेशीय विधान मण्डल द्वारा अधिनियम बनाया जाए। ऐसे अधिनियम के बनाए जाने की व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद ३४५ में है, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रदेश के विधान-मण्डल को यह अधिकार है कि हिन्दी को अथवा किसी भी अन्य भाषा को, जो उस प्रदेश में प्रचलित हो, अपने प्रदेश की राजभाषा घोषित कर सकता है। अतः सन् १९५१ में, उत्तर प्रदेश विधान-मण्डल द्वारा उत्तर प्रदेश राजभाषा अधिनियम, १९५१ पारित हुआ। इसी अधिनियम के अनुसार राज्य सरकार ने एक विज्ञप्ति जारी करके यह घोषित किया कि १ नवम्बर, १९५२ से निम्नलिखित के सम्बन्ध में देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी का प्रयोग होगा :

(१) संविधान के अनुच्छेद २१३ के अधीन प्रचारित अध्यादेश,

(२) भारत के संविधान के अधीन अथवा संसद या राज्य के विधान-मण्डल द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन राज्य सरकार द्वारा प्रचारित आदेश, नियम, विनियम तथा उपविधि।

इस विज्ञप्ति के फलस्वरूप सभी अध्यादेश, आदेश, नियम, विनियम आदि हिन्दी में जारी होते हैं। इस अधिनियम के अधीन सरकार ने समस्त सचिवों को ये अधिकार भी दिये हैं कि वे अपने विभागों का निर्दिष्ट कार्य या सम्पूर्ण कार्य केवल हिन्दी में ही किए जाने का आदेश दे सकते हैं। तदनुसार कई विभागों ने अपने कार्य के ऐसे विषय निर्धारित कर दिये हैं जिनमें सभी कार्य हिन्दी में होता है।

उक्त अधिनियम से पूर्व भारत के संविधान के अनुच्छेद ३४८ के खण्ड (३) के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश विधान-मण्डल ने उत्तर प्रदेश भाषा (विधेयक तथा अधिनियम) अधिनियम, १९५० पारित किया, जिसके फलस्वरूप राज्य विधान-मण्डल में उस समय से सभी विधेयक देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी में प्रस्तुत किये जाते हैं और सभी अधिनियम उसी भाषा में बराबर पारित होते हैं।

राज्य की विधान सभा ने संविधान के उपबन्धों के अन्तर्गत अपने कार्य-संचालन-प्रक्रिया की जो नियमावली बनाई है उसमें यह व्यवस्था की गई है कि विधान सभा

का सभी कार्य देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी भाषा में ही होगा। उसके बाद विधान परिषद् ने भी अपनी कार्य-संचालन-प्रक्रिया-सम्बन्धी नियमावली में इसी का अनुसरण किया, यद्यपि उसमें इस बात की भी व्यवस्था कर दी गई है कि यदि कोई सदस्य हिन्दी से अनभिज्ञ हो तो वह सभापति की अनुमति से अंग्रेजी में भी भाषण दे सकता है।

न्यायालयों का कार्य : सन् १९४७ से पहले प्रदेश के न्यायालयों की भाषा उर्दू तथा अंग्रेजी थी। जब १९४७ में प्रदेश की राजभाषा हिन्दी घोषित की गई तो स्वभावतः राज्य सरकार ने जाब्ता दीवानी की धारा १३७ और जाब्ता फौजदारी की धारा ५५८ द्वारा प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करके हिन्दी को इस प्रदेश की दीवानी और फौजदारी अदालतों की भाषा घोषित कर दिया।

जाब्ता दीवानी की धारा १३७ के अधीन इस आशय की एक विज्ञप्ति जारी की गई कि इलाहाबाद हाई कोर्ट आफ जुडिकेचर तथा अवध के चीफ कोर्ट के अधीनस्थ दीवानी अदालतों में जो आवेदन-पत्र दिये जाएँगे और जो कार्यवाहियाँ होंगी उन्हें देवनागरी लिपि में लिखा जाएगा।

इसी प्रकार जाब्ता फौजदारी की धारा ५५८ के अधीन एक विज्ञप्ति जारी की गई कि उक्त जाब्ते के प्रयोजन के लिए प्रदेश की सरकार द्वारा शासित प्रदेशों के अन्तर्गत हाई कोर्ट के अतिरिक्त प्रत्येक अदालत की भाषा देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी मानी जाएगी।

इन दोनों विज्ञप्तियों में यह प्रतिबन्ध भी लगाया गया कि मौजूदा कानून और नियमों के अनुसार ऐसी भाषा या लिपि का प्रयोग, जो उस समय व्यवहार में आ रही थी, करते रहने की अनुमति उन शासनादेशों के अनुसार रहेगी जो राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर जारी किये जाएँ।

इसके अतिरिक्त सरकार ने मैनुअल ऑफ गवर्नमेण्ट आर्डर्स को संशोधित करके ये आदेश भी दिए कि :

(१) जनता के नाम अदालतों या माल के अफसरों की ओर से जारी किये जानेवाले सभी सम्मन, घोषणाएँ तथा इस प्रकार के अन्य कागज देवनागरी लिपि में होंगे, तथा

(२) फौजदारी, दीवानी व लगान और मालगुजारी की अदालतों में सब लोग अपने आवेदन-पत्र अथवा अपनी शिकायतें देवनागरी लिपि में और यदि वे हिन्दी न जानते हों तो फारसी लिपि में देंगे।

इन सब कार्यवाहियों के फलस्वरूप अब सभी अधीनस्थ न्यायालयों में, निर्णय (जजमेण्ट) को छोड़कर शेष सभी कार्य हिन्दी में करने के आदेश दे दिये गए हैं। अदालतों में अब रजिस्टर भरने, डायरियाँ लिखने, मुकदमों की मिसिलें तैयार करने, हिन्दी में लिखित आवेदन-पत्रों व शिकायतों के स्वीकार करने, गवाहों के बयान लिखने आदि का कार्य हिन्दी में होने लगा है। ऐसे निर्णय, जिनकी अपील उच्च न्यायालय में नहीं हो सकती, हिन्दी में दिए जा सकते हैं। साथ ही बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू और उसके अधीनस्थ न्यायालयों का कार्य भी इसी प्रकार हिन्दी में ही होने लगा है।

राज्यपाल महोदय ने राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ये भी आदेश कर दिये हैं कि उच्च न्यायालय के समक्ष फौजदारी के मामलों में वकील अपनी इच्छानुसार हिन्दी में ही बहस कर सकते हैं।

अन्य सरकारी कार्यालयों के कार्य : न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने के लिए अनेक कार्यवाहियाँ की गई हैं, जिनके फलस्वरूप राज्य के प्रशासन में तेजी से हिन्दी की प्रगति हो रही है। इनमें से कुछ मुख्य कार्यवाहियाँ इस प्रकार हैं :

भाषा-विभाग : राजभाषा आयोग की नियुक्ति के बाद भाषा के प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार किया गया। उसे दृष्टि में रखते हुए राज्य सरकार ने अक्तूबर १९५८ में सचिवालय की मुख्य सचिव की शाखा में भाषा-विभाग के नाम से एक पृथक् विभाग कायम किया। यह विभाग सरकारी कार्यों में हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने का कार्य करता है तथा विभिन्न विभागों द्वारा हिन्दी के सम्बन्ध में किये गए कार्यों में समन्वय स्थापित करता है।

निरीक्षण अधिकारी : राज्य सरकार के विभिन्न विभागों और कार्यालयों में हिन्दी की प्रगति का निरीक्षण करने तथा उसमें सहायता देने के लिए राज्य सरकार ने एक विशेष अधिकारी (अवैतनिक) की नियुक्ति की है। यह अधिकारी राज्य के सरकारी कार्यालयों का इस दृष्टि से निरीक्षण करते हैं कि हिन्दी में कितना काम होता है और

उससे अधिक कार्य हिन्दी में किस प्रकार हो सकता है। यह अधिकारी राज्य के विभिन्न स्थानों पर दौरा करके कर्मचारियों की हिन्दीकरण-सम्बन्धी समस्याओं और कठिनाइयों को दूर करने में सहायता करते हैं, और यह भी देखते हैं कि हिन्दी की प्रगति के सम्बन्ध में शासन द्वारा जारी किये गए आदेशों के पालन करने में कोई कठिनाई तो नहीं होती।

पदेन हिन्दी अधिकारी : हिन्दी की प्रगति के लिए राज्य के प्रत्येक सरकारी कार्यालय में एक पदेन (ex-officio) हिन्दी अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। यह अधिकारी यह देखते हैं कि उनके कार्यालय में हिन्दी की प्रगति समुचित रीति से हो रही है अथवा नहीं तथा इस सम्बन्ध में समय-समय पर शासन द्वारा जारी किये गए आदेशों का कहाँ तक पालन हो रहा है। यह अधिकारी अपने कार्यालय का हिन्दी की प्रगति की दृष्टि से यदा-कदा निरीक्षण करते हैं, साथ ही कर्मचारियों का पथ-प्रदर्शन करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निदेश भी देते हैं और हर छः मास पश्चात् अपने कार्य की एक रिपोर्ट शासन को भेजते हैं, जिसमें निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में सूचना दी जाती है :

(क) नये विषय, जिनमें सम्बन्धित छमाही में हिन्दी का समारम्भ किया गया,

(ख) कर्मचारियों को हिन्दी में कार्य करने के सम्बन्ध में किये गए पथ-प्रदर्शन की रूपरेखा, तथा

(ग) कठिनाइयाँ, जो अनुभव हुई हों, और जिनका शासन द्वारा निवारण किया जाना उपेक्षित हो।

हिन्दी पुस्तकालय : राज्य सरकार ने ये आदेश भी जारी किये हैं कि प्रत्येक सरकारी कार्यालय में धीरे-धीरे एक हिन्दी-पुस्तकालय स्थापित किया जाए, जहाँ हिन्दी के शब्दकोश तथा निर्देश पुस्तकें कर्मचारियों को उपलब्ध हो सकें। ये पुस्तकालय हिन्दी-अध्ययन-केन्द्र का भी काम करेंगे, जहाँ सरकारी कर्मचारी सुगमता से हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

मन्त्रि-परिषद् की कार्यवाही : राज्य की मन्त्रि-परिषद् की सम्पूर्ण कार्यवाही हिन्दी में ही होती है। उनकी कार्य-सूचियाँ, कार्यवाहियाँ तथा निर्णय हिन्दी में लिखे जाते हैं। साथ ही, मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ कार्यालय द्वारा जो नोट बनाए जाते हैं, वे अनिवार्य रूप से हिन्दी में ही होते हैं।

भारत सरकार से पत्र-व्यवहार : राज्य सरकार ने इस आशय के भी आदेश जारी किये हैं कि राज्य सरकार द्वारा भारत सरकार अथवा केन्द्रीय अधिकारियों से होने वाले पत्र-व्यवहार में यथासम्भव हिन्दी भाषा का ही प्रयोग किया जाए।

अन्य राज्यों से पत्र-व्यवहार : राज्य सरकार ने संविधान के अनुच्छेद ३४६ के अधीन बिहार, राजस्थान, गुजरात तथा मध्यप्रदेश राज्य सरकारों और दिल्ली तथा हिमाचल प्रदेश प्रशासनों से हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने का करारनामा कर लिया है, जिसके अनुसार इन सरकारों तथा प्रशासनों के साथ राज्य सरकार का पत्र-व्यवहार हिन्दी में भी होने लगा है।

सेवाओं की परीक्षाएँ : अक्तूबर १९४७ में हिन्दी को प्रदेश की राजभाषा घोषित करने के साथ ही यह भी आदेश दिया गया कि सरकारी नौकरियों की भर्ती की परीक्षाओं में हिन्दी को एक अनिवार्य विषय रखा जाए। तदनुसार सरकारी सेवाओं की भर्ती के लिए जो भी परीक्षाएँ नियत हैं उनमें हिन्दी का विषय भी अनिवार्य रखा गया है। इसी प्रकार की व्यवस्था समस्त विभागीय परीक्षाओं के लिए भी है। राज्य के लोक-सेवा-आयोग की लगभग सभी परीक्षाओं में इस समय हिन्दी का एक अनिवार्य पर्चा होता है। साथ ही आयोग द्वारा मौखिक-परीक्षा (इण्टरव्यू) के समय उम्मीदवारों से प्रश्न काफ़ी संख्या में हिन्दी में भी पूछे जाते हैं तथा अभ्यार्थियों को उनकी सुविधानुसार हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी में उत्तर देने की छूट रहती है।

हिन्दी शब्दकोश-समिति : सरकारी कार्यों में हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने की दिशा में सरकार के सामने जो कठिनाइयाँ आईं उसमें एक बहुत बड़ी कठिनाई प्रशासन-सम्बन्धी एक उपयुक्त शब्दकोश के न होने की थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए राज्य सरकार ने सन् १९४८ में ही एक समिति बनाई थी जो प्रशासन-सम्बन्धी शब्दावली का चयन-कार्य कर रही है। इस समिति ने

सरकारी कामों में प्रयुक्त होनेवाले विशिष्ट अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी पर्याय तैयार करके विभिन्न विभागों की कई शब्द-सूचियाँ प्रकाशित की हैं। इन शब्दों को संहत करके हाल ही में एक 'प्रशासन शब्दकोश' प्रकाशित किया गया है। इस शब्दकोश में सरकारी कार्यों में प्रयुक्त होने वाले सामान्य अंग्रेज़ी वाक्यांशों के हिन्दी पर्याय भी परिशिष्ट के रूप में सम्मिलित किये गए हैं, जो इस दिशा में बड़े उपयोगी हैं।

हिन्दी निर्देश पुस्तकें : राज्य सचिवालय का भाषा-विभाग हिन्दी-सम्बन्धी निर्देश पुस्तकों (रिफरेन्स बुक्स) के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी में कार्य करने में सहायता देने के लिए राज्य सरकार द्वारा 'हिन्दी निर्देशिका' नामक एक निर्देश पुस्तक प्रकाशित की गई है। सन् १९५८ से प्रतिवर्ष भाषा-विभाग द्वारा 'इण्डियन नेशनल बिबलियोग्राफ़ी' के हिन्दी तथा उर्दू संस्करण क्रमशः 'राष्ट्रीय ग्रन्थ सूची' तथा 'कौमी किताबियात शौब-ए-उर्दू' नाम से प्रकाशित किये जाते हैं। इसके साथ ही कुछ अन्य निर्देश पुस्तकें, जैसे 'हिन्दी प्रूफ़ शोधन' आदि, भी प्रकाशित की गई हैं।

मेनुअल और प्रपत्र : राज्य सरकार ने भाषा-विभाग के अन्तर्गत एक अलग अनुभाग खोला है जहाँ सरकारी मेनुअलों, कोडों प्रपत्रों (फार्मों) तथा अन्य कार्य-विधि एवं सन्दर्भ पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद-कार्य होता है। अब तक कई मेनुअलों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित भी हो चुका है और इस दिशा में आगे कार्य बराबर जारी है।

प्रपत्रों के सम्बन्ध में पहले ही इस आशय के आदेश जारी कर दिये गए थे कि दिनांक १ दिसम्बर १९४७ से सभी प्रपत्र हिन्दी में छापे जाएँगे। उन आदेशों के अनुसार अधिकांश प्रपत्र हिन्दी में छापे जाते हैं। जो प्रपत्र अभी अंग्रेज़ी में ही हैं, उनका हिन्दी अनुवाद करके, उन्हें हिन्दी में छपाया जा रहा है। पुराने अंग्रेज़ी में छपे प्रपत्रों के बारे में ये आदेश जारी किये गए हैं कि उन्हें हिन्दी में ही भरा जाए।

सेवा नियमावलियाँ : राज्य सरकार द्वारा ये भी आदेश जारी किये गए हैं कि भविष्य में सेवा-सम्बन्धी अथवा अन्य प्रकार की जो भी नियमावलियाँ प्रकाशित की जाएँ उनके हिन्दी रूपान्तर भी छापे जाएँ। इन आदेशों के अधीन राज्य के बहुत-से नियम तथा नियमावलियाँ हिन्दी में हो गई हैं।

सरकारी गजट तथा बजट साहित्य : सरकारी सूचनाएँ, विज्ञप्तियाँ, घोषणाओं आदि के लिए जनता सरकारी गजट ही देखती है। इसलिए राज्य सरकार ने अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी में भी गजट प्रकाशित करने की व्यवस्था की है। इस प्रश्न पर भी सरकार विचार कर रही है कि केवल हिन्दी में ही सरकारी गजट प्रकाशित किया जाए।

इसी प्रकार सन् १९४८ से राज्य का सम्पूर्ण बजट साहित्य हिन्दी में भी प्रकाशित किया जाता है तथा राज्य का सम्पूर्ण बजट साहित्य राज्य के विधान-मण्डल में हिन्दी में ही पेश किया जाता है। इसके अतिरिक्त विनियोग लेखे, वित्त-लेखे, लेखा परीक्षा रिपोर्ट तथा लोक लेखा समिति की रिपोर्टें भी हिन्दी में विधान-मण्डल में रखी जाती हैं।

सरकारी रिपोर्टें : सरकारी कार्यालयों द्वारा प्रकाशित की जानेवाली वार्षिक कार्यवाही रिपोर्टों के सम्बन्ध में सरकार ने यह निश्चय किया है कि उन्हें अनिवार्य रूप से हिन्दी में भी तैयार कराया जाए, क्योंकि ये रिपोर्टें जनता तथा विधान-मण्डल के सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं। इसके अनुसार सचिवालय के विभिन्न विभागों की वार्षिक रिपोर्टें तथा सामान्य प्रशासन विभाग की रिपोर्ट हिन्दी में भी छापी जाती है।

प्रचार-कार्य : राज्य सरकार के प्रचार-कार्य का उद्देश्य जनता को सरकार के कार्यों एवं योजनाओं की जानकारी कराना तथा उनमें जनता का सहयोग प्राप्त करना है, अतएव राज्य के सूचना विभाग का अधिकांश प्रख्यापन कार्य हिन्दी में ही किया जाता है। प्रेस विज्ञप्तियों, प्रेस नोट आदि भी हिन्दी में तैयार किये जाते हैं तथा राज्य सरकार द्वारा प्रकाशित होनेवाली अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ एवं पुस्तिकाएँ हिन्दी में प्रकाशित होती हैं।

शासकीय आदेश आदि : राज्य सरकार ने बहुत पहले ही इस आशय के आदेश जारी कर दिए थे कि शासकीय आदेश, परिपत्र (सर्कुलर) आदि जो भी जारी किये जायँ वे हिन्दी में भी हों। इस समय सरकारी कार्या-

लयों की सभी फाइलें हिन्दी में खोली जाती हैं और रजिस्टर हिन्दी में भरे जाते हैं। लिफाफों पर पते अनिवार्य रूप से हिन्दी में ही लिखे जाते हैं। अधिकांश सरकारी तार भी हिन्दी में भेजने के आदेश जारी किये गए हैं। कार्यालयों के साइनबोर्ड, नोटिस, मोहरें, बिल्ले आदि सब हिन्दी में ही हो गए हैं। सभी सरकारी नोटिस तथा सूचनाएँ हिन्दी में जारी होने लगी हैं। सभी अनुस्मारक (रिमाइण्डर) व प्राप्ति-स्वीकार (अकनालेजमेण्ट) अनिवार्यत: हिन्दी में ही भेजे जाते हैं। सरकारी दौरों के कार्यक्रम भी हिन्दी में बनाये जाते हैं।

जनता से पत्र-व्यवहार : उत्तर प्रदेश की लगभग ९० प्रतिशत जनता हिन्दी-भाषी है, और हिन्दी इस प्रदेश की राजभाषा भी घोषित हो चुकी है। अतएव सरकार ने ये आदेश जारी किये हैं कि प्रदेश की जनता से पत्र-व्यवहार हिन्दी में किया जाए। जनता के आवेदन-पत्रों, सामान्य पत्रों आदि का उत्तर हिन्दी में देना अनिवार्य कर दिया गया है।

टाइपराइटर : कुछ अपवादों को छोड़कर राज्य सरकार द्वारा इस समय सब हिन्दी के ही टाइपराइटर खरीदे जाते हैं। अंग्रेज़ी टाइपराइटरों की खरीद के प्रस्ताव केवल विशेष परिस्थितियों में ही स्वीकार किये जाते हैं।

सरकारी कर्मचारी : राज्य के सभी कर्मचारियों को हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त हो गया है और वे अपना कार्य बराबर हिन्दी में करने में प्रयत्नशील हैं। कर्मचारियों से यह कहा गया है कि वे अपने आवेदन-पत्र आदि यथासम्भव हिन्दी में हो दें। कार्यालयों द्वारा उन आवेदन-पत्रों पर हिन्दी में उत्तर देने का यथासम्भव प्रयास किया जाता है। सचिवालय के सभी कर्मचारियों के लिए दक्षता रोक (एफीशेन्सी बार) पार करने तथा कुछ कर्मचारियों को सालाना वेतन-वृद्धि (ऐनुअल इन्क्रीमेण्ट) पाने के लिए हिन्दी टाइपिंग जानना आवश्यक कर दिया गया है।

प्रोत्साहन तथा सुविधाएँ : हिन्दी में अच्छा काम करनेवाले तथा सरकारी कामों में हिन्दी की प्रगति में विशेष योगदान करनेवाले कर्मचारियों को सरकार द्वारा पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाता है। ऐसे कर्मचारियों की आचरण पंजियों (केरेक्टर रोल) में तदनुसार प्रविष्टियाँ की जाती हैं जिन पर पदोन्नति के समय विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में अच्छा काम करनेवाले कर्मचारियों को 'हिन्दी योग्यता प्रमाणपत्र' भी देने की व्यवस्था की गई है।

नकद पुरस्कार : हिन्दी की प्रगति में विशिष्ट तथा अपूर्व योगदान करनेवाले अपत्रित (नान-गज़टेड) कर्मचारियों को नकद पुरस्कार देने की भी व्यवस्था की गई है। इसके निमित्त एक 'हिन्दी प्रोत्साहन समिति' गठित की गई है जिसकी सिफारिशों पर ऐसे सरकारी कर्मचारियों को प्रतिवर्ष नकद पुरस्कार तथा हिन्दी योग्यता प्रमाण-पत्र दिये जाते हैं, जो अपने कार्यालयों में हिन्दी की प्रगति में विशेष योगदान देते हैं।

आशुलिपि एवं टंकन कक्षा : राज्य सचिवालय के कर्मचारियों को हिन्दी आशुलिपि तथा हिन्दी टाइप नि:शुल्क सीखने की भी सुविधा दी गई है। पहले ये कर्मचारी कार्यालय के समय से पहले अथवा बाद में हिन्दी टाइप सीख सकते थे, किन्तु अब उन्हें कार्यालय के घण्टों के भीतर ही सीखने की सुविधा प्रदान कर दी गई है। सचिवालय में हिन्दी आशुलिपि तथा हिन्दी टंकन कक्षाएँ खोली गई हैं, जिनमें प्रशिक्षक नियुक्त किये गए हैं जो सरकारी टाइपराइटरों पर नि:शुल्क ट्रेनिंग देते हैं।

छमाही रिपोर्ट : राज्य के समस्त प्रमुख सरकारी कार्यालयों को आदेश जारी किये गए हैं कि वे अपने कार्यालयों में हिन्दी की प्रगति के लिए सतत प्रयास करते रहें और प्रत्येक छ: मास में एक रिपोर्ट शासन को भेजें, जिसमें इस बात का उल्लेख करें कि गत छमाही में हिन्दी की कितनी प्रगति हुई है। इन आदेशों के अनुसार राज्य के कार्यालय प्रतिवर्ष १ जनवरी तथा १ जुलाई को हिन्दी की प्रगति की रिपोर्ट शासन को भेजते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में : सन् १९४७ में हिन्दी राजभाषा घोषित होने से शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप प्रारम्भिक तथा जूनियर हाईस्कूल की कक्षाओं में शिक्षण का माध्यम हिन्दी कर दिया गया, साथ ही बोर्ड आफ़ हाईस्कूल एण्ड इण्टरमीडिएट एजूकेशन, उत्तर प्रदेश ने माध्यमिक कक्षाओं में भी शिक्षण तथा परीक्षा का माध्यम हिन्दी कर दिया। इण्टरमीडिएट कक्षाओं तक हिन्दी को

एक अनिवार्य विषय बना दिया गया है। भाषाओं के प्रश्न-पत्रों को छोड़कर अन्य विषयों के सारे प्रश्नपत्र हिन्दी में तैयार होते हैं और परीक्षार्थी हिन्दी में उत्तर लिखते हैं। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा इण्टरमीडिएट कक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकें अधिकाधिक संख्या में हिन्दी में लिखी जा रही हैं।

विश्वविद्यालयों ने बी० ए०/बी० एस-सी० के स्तर पर शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखा है। कुछ विषयों में एम० ए० के स्तर पर भी हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जाती है। विश्वविद्यालयों की बी० ए० तथा एम० ए० कक्षाओं में काफ़ी संख्या में विद्यार्थी हिन्दी के विषय का अध्ययन करते हैं। परीक्षाओं में विभिन्न विषयों के प्रश्न-पत्रों के उत्तर हिन्दी में लिखने की अनुमति भी विद्यार्थियों को दी गई है। आगरा विश्वविद्यालय में हिन्दी का एक इन्स्टीट्यूट भी स्थापित किया है, जहाँ हिन्दी में गवेषणा करने की विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। कतिपय ग़ैर-सरकारी हिन्दी शिक्षण-संस्थाओं, जैसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, प्रयाग महिला विद्यापीठ आदि द्वारा ली जानेवाली हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं को भी सरकार ने मान्यता प्रदान की है।

पुस्तकों पर पुरस्कार : शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी के विकास को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से राज्य सरकार साहित्यिक, वैज्ञानिक तथा मौलिक एवं अनूदित रचनाओं पर प्रतिवर्ष पुरस्कार देती है। साथ ही ऐसे सम्मानित लेखकों एवं विद्वानों को राज्य सरकार आर्थिक सहायता भी देती है, जिनकी आर्थिक स्थिति बीमारी या अन्य किसी कारण से ख़राब हो गई हो। इसी प्रकार कला, साहित्य या विज्ञान-सम्बन्धी मौलिक रचनाओं के प्रकाशन को, वित्त-पोषित करने के लिए भी राज्य सरकार आर्थिक सहायता देती है।

इन योजनाओं के अधीन राज्य सरकार विशिष्ट महत्त्व की अपूर्व पुस्तकों के प्रकाशन के लिए प्रतिवर्ष ५० हजार रुपये की सहायता प्रदान करती है। हिन्दी वाङ्मय में अभि-वृद्धि करनेवाली सर्वोत्तम प्रकाशित हिन्दी पुस्तकों के लेखकों को राज्य सरकार प्रतिवर्ष १ लाख २५ हजार रुपये की धनराशि पुरस्कार स्वरूप प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त आर्थिक संकट-ग्रस्त लेखकों एवं विद्वानों को राज्य सरकार प्रतिवर्ष १ लाख रुपया वित्तीय सहायता प्रदान करती है।

प्रकाशन योजना : हिन्दी वाङ्मय का विकास करने तथा उसे समृद्ध बनाने के लिए राज्य सरकार ने अप्रैल १९५८ से द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत एक हिन्दी प्रकाशन योजना चालू की है। इसका उद्देश्य हिन्दी साहित्य को इस प्रकार समृद्ध बनाना है, जिससे वह राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेज़ी का स्थान सुविधापूर्वक ग्रहण कर सके। इस योजना के अन्तर्गत राज्य सरकार ने आधुनिक विषयों पर हिन्दी में प्रामाणिक ग्रन्थ तैयार करने का कार्य हाथ में लिया है। इस निमित्त 'हिन्दी समिति' के नाम से एक समिति गठित की गई है। प्रारम्भ में इस योजना के अन्तर्गत लग-भग ३०० पुस्तकें (१०० मौलिक, १०० अनूदित तथा १०० सामान्य विषयों से सम्बन्धित) प्रकाशित करने का निश्चय किया गया था, जिस पर लगभग २५ लाख रुपया व्यय होने का अनुमान लगाया गया था। इस समिति द्वारा अब तक ७७ ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं, जिनका सर्वत्र स्वागत हुआ है। हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास के लिए इसे उत्तर प्रदेश शासन का अनूठा प्रयास कहा जा सकता है। हिन्दी समिति का यह भी प्रयास रहा है कि विदेशी प्रकाशकों आदि से हिन्दी के माध्यम से सम्पर्क स्थापित किया जाए। समिति को इस दिशा में उल्लेखनीय सफलता भी मिली है।

बाल साहित्य : हिन्दी में उपयुक्त तथा स्वस्थ बाल-साहित्य की कमी को दूर करने के लिए राज्य सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा सन् १९५६ में उपयुक्त हिन्दी बाल-साहित्य तैयार करने की एक योजना बनाई गई थी, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष १२ पुस्तकें ग़ैर-सरकारी लेखकों द्वारा लिखवाने तथा अन्य लेखकों व प्रकाशकों द्वारा लिखित व प्रकाशित पुस्तकों पर पुरस्कार देने का प्रस्ताव किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की मूल अवधि में बाल-साहित्य की ६० पुस्तकों पर लगभग २ लाख रुपये के व्यय का अनुमान लगाया गया था।

उपसंहार : राज्य के प्रकाशन तथा शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने के लिए सन् १९४७ से लगातार राज्य सरकार प्रयत्नशील है और इस सम्बन्ध में अनेक

कदम उठाए हैं, जिनका संक्षेप में ऊपर उल्लेख किया गया है। किन्तु प्रशासन तथा शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में पूरी तौर से हिन्दी चालू करने में अभी हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिनका धीरे-धीरे निवारण करने के लिए राज्य सरकार प्रयत्नशील है।

प्रशासन के क्षेत्र में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अधिकांश मेनुअल, कोड, फ़ाइनेन्शियल हैण्डबुकें आदि अभी अंग्रेज़ी में ही हैं, इसके अतिरिक्त प्रामाणिक शब्दकोशों की भी कमी है। प्रशासन, विधि, न्याय तथा विज्ञान आदि के क्षेत्र में जो हिन्दी की शब्दावली बनाई भी गई है, अभ्यास न होने के कारण उसका प्रयोग करने तथा उसे समझने में शुरू में कुछ कठिनाई होती है। न्याय (जुडीशियरी) तथा लेखा (एकाउण्ट्स)-सम्बन्धी अधिकांश कार्य अभी अंग्रेज़ी में भी करना पड़ता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इसी प्रकार, हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों तथा वैज्ञानिक शब्दावली का अभाव है।
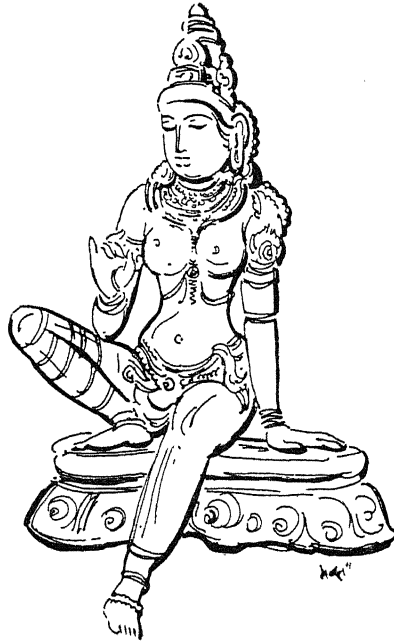
हरिश्चन्द्र खन्ना

पंजाब के प्रशासन तथा शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी का स्थान

श्री हरिश्चन्द्र खन्ना पंजाब सरकार के लोक-सम्पर्क, पर्यटन एवं सांस्कृतिक कार्यों के निदेशक हैं। ये पंजाब सरकार के लोक-सम्पर्क विभाग में उपसचिव भी हैं।

स्वतन्त्रता-संग्राम के महारथियों ने स्वप्न देखा था कि देश का राजकीय काम-काज अपनी भाषा में हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने ठीक ही तो कहा था कि अपनी भाषा ही सब उन्नतियों की मूल है :

"निज भाषा अहैं सब उन्नतिन को मूल।"

स्वराज्य में 'स्वभाषा' के माध्यम से सरकारी काम-काज होना अनिवार्य था। इसी बात को दृष्टिगोचर करते हुए संविधान में 'हिन्दी' को देश की राजभाषा घोषित किया गया।

पंजाब राज्य जहाँ सभी क्षेत्रों में अन्य राज्यों की अपेक्षा आगे है, वहाँ भाषाओं के प्रशासन में प्रचलन की दृष्टि से भी पीछे नहीं। भूतपूर्व पेप्सू क्षेत्र में 'पंजाबी विभाग' की स्थापना १९४९ में की गई। पंजाब सरकार ने भाषाओं के विकास के लिए १९५६ में भाषा-विभाग स्थापित किया। पंजाब तथा पेप्सू के विलय के साथ ही दोनों विभागों का १ नवम्बर, १९५६ से विलय हो गया। इस विभाग की स्थापना के दो उद्देश्य थे :

१. प्रशासन के क्षेत्र में हिन्दी-पंजाबी का प्रचलन।

२. हिन्दी-पंजाबी का विकास।

राष्ट्रीय भाषा होने के अतिरिक्त हिन्दी पंजाब की 'क्षेत्रीय' भाषा भी है। क्षेत्रीय फार्मूला की १२वीं धारा के अनुसार हिन्दी भाषा तथा पंजाबी की उन्नति के लिए दो पृथक् विभाग स्थापित किये जाने थे। १ अक्तूबर १९६० को इस धारा को क्रियान्वित किया गया तथा तदनुसार हिन्दी तथा पंजाबी विभाग स्थापित किये गए। इन दोनों विभागों के समन्वय के लिए महानिदेशक का विभाग भी तभी स्थापित किया गया।

१९६० में राजभाषा अधिनियम (ऑफ़िशियल लैंग्वेजेज़ ऐक्ट, १९६०) पारित किया गया, जिसके अनुसार २ अक्तूबर, १९६२ से ज़िला-स्तर पर सारा सरकारी काम हिन्दी-पंजाबी में सम्पन्न करने का निश्चय किया गया। पंजाब सरकार के भाषा-विभाग ने दत्तचित्त होकर काम किया तथा गत वर्ष राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जन्मदिवस से हिन्दी क्षेत्र के ८ जिलों (अम्बाला, शिमला, करनाल, रोहतक, हिसार, गुड़गाँव, महेन्द्रगढ़, कांगड़ा तथा जिला संगरूर की जींद नरवाना तहसील) में सरकारी काम हिन्दी में होने लगा। तरह-तरह की काल्पनिक आशंकाएँ व्यक्त की गईं कि ऐसा होना सम्भव नहीं, परन्तु पंजाब सरकार ने असम्भव को भी अपने आत्मबल तथा दृढ़ता से सम्भव कर दिखाया।

भाषा विभाग की गत वर्ष की मुख्य सफलता यही है कि जिला-स्तर पर सारा सरकारी काम-काज जनता-जनार्दन की भाषा में होने लगा है। पंजाब के लगभग ७५ हजार सरकारी कर्मचारियों ने अपना काम लोक-भाषा में शुरू कर दिया है। हिन्दी में प्रशासन का काम करनेवाले सरकारी कर्मचारियों की संख्या ३५,००० है। इससे हिन्दी क्षेत्र के लगभग ८८ लाख लोग लाभान्वित हुए हैं। इस प्रकार पूज्य बापू का वह स्वप्न साकार हो गया है कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तथा सामान्य जनता के बीच जो खाई है, वह पाट दी जाए।

इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए नीचे लिखे आठ सफल यत्न किये गए :

१. जिला स्तर पर प्रयुक्त होनेवाले लगभग छः हजार प्रामाणिक फार्मों को हिन्दी-पंजाबी में अनूदित करके सम्बन्धित अधिकारियों के पास प्रकाशन के लिए भेजा गया। इस काम के लिए १,५३,९३० रुपए की व्यवस्था की गई थी।

२. सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी-पंजाबी की दफ्तरी काम की शिक्षा देने के लिए 'बोध' तथा 'प्रबोध' परीक्षा के लिए चार प्रामाणिक पुस्तकों का सम्पादन एवं प्रकाशन किया गया ताकि ये कार्यालय-नियम पुस्तिका (ऑफ़िस मैनुअल्स) का काम दे सकें। ये पुस्तकें जिला-स्तर के कार्यालयों में सरकारी कर्मचारियों को मुफ्त दी गईं।

३. अंग्रेजी तथा उर्दू के प्रचलित २०,००० पारिभाषिक शब्दों के उपयुक्त पर्याय निर्धारित किये गए तथा उन्हें एक शब्दकोश के रूप में प्रकाशित किया गया। ये शब्दकोश भी जिलाधीशों के द्वारा सरकारी कर्मचारियों में निःशुल्क बाँटे गए ताकि ये निर्देश-पुस्तक का काम दे सकें।

४. जिला तथा तहसीलों में काम करनेवाले आशुलिपिकों (स्टेनोग्राफरों) तथा टाइपकारों को हिन्दी-पंजाबी टाइप एवं आशुलिपि का प्रशिक्षण देने के लिए कक्षाएँ चलाई गईं। इन कक्षाओं में ६६० टाइपकार हिन्दी टाइप की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं या कर रहे हैं। इस समय हिन्दी क्षेत्र में कुल १२०० टाइपकार काम करते हैं।

५. हिन्दी क्षेत्र में ज़िला-तर पर काम करनेवाले १२०० टाइपकारों के लिए हिन्दी टाइप की मशीनों की व्यवस्था करने का प्रश्न था। संकटकालीन स्थिति के होते हुए भी हिन्दी टाइप की ६०० मशीनें विभिन्न कार्यालयों को दी जा चुकी हैं।

६. पंजाब के सभी सरकारी कर्मचारियों के लिए हिन्दी-पंजाबी का मैट्रिक स्तर का ज्ञान होना अनिवार्य है। जिन सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी-पंजाबी का अपेक्षित स्तर का ज्ञान नहीं, उन्हें भाषा विभाग की अपेक्षित स्तर की परीक्षा पास करनी पड़ती है। गत वर्ष ५,१२१ सरकारी कर्मचारी परीक्षा में बैठे तथा ३,४४३ कर्मचारी सफल घोषित हुए। इससे पूर्व हुई परीक्षाओं में हजारों कर्मचारी सम्मिलित होकर सफलता प्राप्त कर चुके हैं।

७. मैनुअलों (नियम-पुस्तिकाओं), संहिताओं (कोडों), अधिनियमों का अनुवाद किया जाता रहा। ३१ मार्च ६३ तक ५,३६७ पृष्ठों तथा ६,६६६ फार्मों का अनुवाद विभिन्न विभागों को भेजा जा चुका था।

८. हिन्दी-पंजाबी की लिपियों और उनकी टाइपमशीनों के कुंजी-पटलों को प्रामाणिक रूप दिया गया।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-पंजाबी भाषा तथा साहित्य के विकास के लिए भी विभिन्न कदम उठाये गए।

प्रति वर्ष हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार को ११०० रु०, दुशाला तथा अभिनन्दन-पुस्तिका भेंट करके सम्मानित किया जाता है। सर्वोत्तम साहित्यिक कृतियाँ तथा सर्वश्रेष्ठ प्रकाशित पुस्तकों पर पुरस्कार दिये जाते हैं। भाषा विभाग की ओर से हिन्दी-पंजाबी भाषा तथा साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए दो-दो मासिक पत्रिकाएँ ('सप्तसिन्धु' तथा 'जन-साहित्य') प्रकाशित की जाती हैं। लोक-सम्पर्क विभाग द्वारा प्रकाशित 'जागृति' और 'पंचायती-राज' नामक पत्रिकाएँ इनसे अलग हैं। लेखक-सम्मेलन तथा शोध-गोष्ठियों का आयोजन भी भाषा-विभाग का उल्लेखनीय कार्य है। दिवंगत प्रसिद्ध साहित्यकारों की वर्षगाँठ मनाने के साथ-साथ कवि-सम्मेलनों तथा पुस्तक-प्रदर्शनियों का भी आयोजन किया जाता है। प्राचीन हस्तलेखा का संकलन एवं सम्पादन किया जाता है। हिन्दी की प्रसिद्ध पुस्तकों का पंजाबी में तथा पंजाबी की प्रसिद्ध पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करना भी विभाग का एक प्रमुख कार्य है। जिला, मंडल (डिवीज़न) तथा राज्य-स्तर पर कविता, नाटक तथा वाद-विवाद के सम्बन्ध में ६६ प्रतियोगिताएँ कराई जाती हैं। मिडिल, मैट्रिक, एफ़० ए०, बी० ए० तथा एम० ए० में हिन्दी में प्रथम रहने वाले छात्र-छात्राओं को छात्र-वृत्तियाँ दी जाती हैं। राज्य की साहित्यिक संस्थाओं को अपने साहित्यिक कार्यों (प्रकाशन आदि) के लिए अनुदान दिये जाते हैं।

शिक्षा में हिन्दी का स्थान

राष्ट्रभाषा के साथ-साथ राज्य की क्षेत्रीय भाषा होने के नाते हिन्दी को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शिक्षा पर विस्तृत रूप से विचार करने के लिए उसे तीन भागों में विभक्त करना उपयुक्त होगा :

१. प्राथमिक (प्राइमरी शिक्षा) ।

२. मिडिल तथा हाईस्कूल शिक्षा, जिसमें हायर सैकंडरी (उच्चतर माध्यमिक शिक्षा भी शामिल है ।

३. विश्वविद्यालय शिक्षा ।

प्राथमिक शिक्षा—मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने के उपयुक्त सिद्धान्त को क्रियान्वित करने का प्रयास किया गया है। सच्चर फार्मूला के अनुसार पंजाब को शिक्षा के लिए दो क्षेत्रों (हिन्दी क्षेत्र तथा पंजाबी क्षेत्र) में बाँटा गया। बच्चे की आरम्भिक शिक्षा क्षेत्रीय भाषा में दूसरी श्रेणी तक होती है। तीसरी श्रेणी से हिन्दी क्षेत्र में पंजाबी की तथा पंजाबी क्षेत्र में हिन्दी की पढ़ाई कराई जाती है। जिस स्कूल में ४० बच्चे या जिस कक्षा में १० छात्र चाहें तो उनके लिए अन्यथा व्यवस्था की जाती है। भूतपूर्व पैप्सू में प्रचलित फार्मूले के अनुसार हिन्दी क्षेत्र (जिला महेन्द्रगढ़) में दसवीं कक्षा तक शिक्षा का माध्यम हिन्दी है।

हाईस्कूल शिक्षा—हाईस्कूल शिक्षा में, जिसके अन्तर्गत हायर सैकण्डरी शिक्षा भी शामिल है, शिक्षा का माध्यम हिन्दी या पंजाबी है। मिडिल तथा हाईस्कूल परीक्षा में छात्रों को हिन्दी तथा पंजाबी दोनों में परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं। अन्य विषयों का माध्यम भी हिन्दी या पंजाबी है।

विश्वविद्यालय शिक्षा—हिन्दी तथा संस्कृत के विशेष अध्ययन के लिए कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की स्थापना, १९५७ में भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के करकमलों द्वारा हुई। इसके अतिरिक्त पंजाब विश्वविद्यालय के बी० ए० स्तर के कलासंकाय के छात्र भी अपने प्रश्नपत्रों का उत्तर हिन्दी में दे सकते हैं। हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों के अभाव की पूर्ति की गई है। हिन्दी की पुरानी परीक्षाएँ (रत्न, भूषण तथा प्रभाकर) पास करके छात्र केवल अंग्रेजी की परीक्षा देने से ही क्रमशः मैट्रिक, एफ० ए० तथा बी० ए० में सफल समझे जाते हैं। पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला के छात्र भी अपने प्रश्न-पत्रों का उत्तर हिन्दी में दे सकते हैं। केन्द्रीय सरकार के अनुदान से साधु आश्रम, होशियारपुर, कुरुक्षेत्र तथा पंजाब विश्वविद्यालयों में विज्ञान की प्रामाणिक पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया जा रहा है।

इस प्रकार पंजाब हिन्दी को प्रशस्त तथा शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित करने में अग्रणी है। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ हिन्दी के बिना काम चल सकता है। नौकरी में प्रवेश करनेवाले व्यक्तियों को हिन्दी या पंजाबी का ज्ञान होना अनिवार्य है, या उसकी परीक्षा पास करनी पड़ती है।

इस प्रकार पंजाब को यह श्रेय प्राप्त है कि इसने सबसे पहले हिन्दी को प्रशासन तथा शिक्षा में प्रचलित किया है। बापू की यह हार्दिक इच्छा थी कि देशीय भाषाओं को वही स्थान प्राप्त हो जो ब्रिटिश राज्य के समय अंग्रेजी को प्राप्त था। इससे पंजाब के शिक्षा-क्षेत्र में छात्र-छात्राओं को यह सुगमता प्राप्त हो गई है कि वे कठिन-से-कठिन विषयों को अपनी ही मातृभाषा में सीखकर लाभ प्राप्त कर सकते हैं और अंग्रेजी का व्यर्थ बोझ, जो उनके मस्तिष्क पर था, उसको हटा दिया गया है। इससे उनमें तोते की तरह रटने का स्वभाव हटकर स्वतन्त्रता से चिन्तन करने की शक्ति बढ़ेगी और पंजाब को उसी प्रकार के विज्ञानवेत्ता मिल सकेंगे जो अन्य देशों में उत्पन्न हुए हैं।
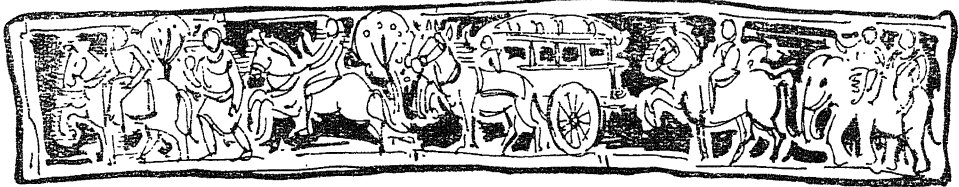
हिन्दी-प्रचारक संस्थाएँ

इस लेख में, संक्षेप में, उन सभी संस्थाओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है जो हिन्दी भाषा और लिपि के प्रचारार्थ एवं हिन्दी-साहित्य के संवर्द्धन के लिए स्थापित हुईं और कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओं में कई तो केवल हिन्दी की परीक्षाएं संचालित करती हैं और कई केवल पुस्तक-प्रकाशन के द्वारा साहित्य की संवर्द्धना और अभिवृद्धि; कई संस्थाएँ दोनों ही कार्य करती हैं। वस्तुतः यहाँ प्रस्तुत किये गए परिचय 'परिचय' नहीं, झलक अथवा झाँकी-भर हैं। जिस क्रम में परिचय रखे गए वे संस्था के महत्त्व के नहीं, केवल अकारादि क्रम के सूचक हैं। सभी संस्थाओं का कार्य अपने-अपने स्थान और क्षेत्र में महत्त्व का है।

अखिल भारतीय हिन्दी परिषद्, आगरा

अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् की स्थापना २३ नवम्बर १९४९ में राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, सरदार वल्लभभाई पटेल, बालगंगाधर खेर तथा मौलाना आज़ाद आदि देश के महान् नेताओं की प्रेरणा से हुई। परिषद् ने हिन्दी प्रचार-संस्थाओं में परस्पर सम्पर्क की स्थापना तथा परीक्षा-संचालन के साथ-साथ अहिन्दी-भाषी प्रदेशों के हिन्दी अध्यापकों को प्रशिक्षण देना अपने कार्यक्रम का अंग बनाया। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९५२ में नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा में श्री देवदूत विद्यार्थी के संचालन में अखिल भारतीय हिन्दी महाविद्यालय को प्रारम्भ किया गया।

विद्यालय में अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् की परीक्षाएँ 'भारतीय हिन्दी पारंगत' तथा 'शिक्षण कला प्रवीण' के लिए पढ़ाई की व्यवस्था है। शिक्षण व प्रशिक्षण के अलावा विद्यालय में समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रीय तथा सामाजिक त्यौहार मनाये जाते हैं। विभिन्न प्रदेशों में किस प्रकार इन सामाजिक एवं राष्ट्रीय पर्वों को मनाया जाता है, इसका ज्ञान पारस्परिक विचार-विनिमय एवं व्याख्यानों द्वारा छात्र प्राप्त करते हैं। जन्माष्टमी, मकर संक्रान्ति, होली, विजयादशमी ऐसे सांस्कृतिक पर्व हैं जो छात्रों में सांस्कृतिक चेतना जागृत करते हैं। विनोद-यात्राओं द्वारा आस-पास के ऐतिहासिक, धार्मिक तथा पौराणिक स्थानों का दर्शन करके वे अपने प्राचीन इतिहास का भी साक्षात्कार करते हैं।

परिषद् की दोनों परीक्षाओं—'भारतीय हिन्दी पारंगत' तथा 'शिक्षण कला प्रवीण'—को मणिपुर, त्रिपुरा, असम, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास तथा पश्चिम बंगाल सरकारों ने मान्यता प्रदान की है। केरल सरकार ने 'शिक्षण कला प्रवीण' को हिन्दी अध्यापकों की प्रशिक्षण योग्यता के रूप में मान्यता दी है।

परिषद् ने अपने अल्पकाल में समय की कच्छप गतियों के साथ जो विकास किया है वह निस्सन्देह अपने आपमें महान् है। इसका कार्य-क्षेत्र समस्त भारत है। अपने कार्यों के विस्तार के साथ सुविधाओं को देखते हुए परिषद् ने अन्य प्रदेशीय हिन्दी-प्रचार संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित कर अपनी प्रशिक्षण-परीक्षाओं से उन्हें लाभान्वित किया है तथा इस तरह हिन्दी के प्रसार में योग दिया है।

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी

सन् १९३४ की बात है, जब स्वर्गीय बाबा राघवदासजी ने बापू से आदेश लेकर असम प्रान्त में हिन्दी प्रचार की नींव डाली। असम के कई युवक-युवतियाँ हिन्दी की शिक्षा लेने के हेतु काशी, इलाहाबाद और गोरखपुर गए। श्री बाबा राघवदासजी अपने आश्रम 'बरहज' से ही असम की प्रचार-व्यवस्था चलाते रहे। १९३८ में 'असम हिन्दी प्रचार समिति' नामक संस्था कायम की गई। आगे चलकर स्वर्गीय गोपीनाथ बरदलै की प्रस्थापना में इसका नाम 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' पड़ा। साथ ही सरकारी और गैर-सरकारी माध्यमिक शालाओं में ऐच्छिक तौर पर राष्ट्रभाषा हिन्दी सिखाने का कार्य आरम्भ हुआ। 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' के कर्णधारों के असम भ्रमण से स्थानीय हिन्दी प्रचार आन्दोलन को बल मिला। असम के विद्वानों व शिक्षा-प्रेमियों पर उनके व्यक्तित्वों का गहरा असर पड़ा।

यह समिति हिन्दी का प्रचार व प्रसार-कार्य सुनिश्चित ढंग से करती है। इसका मूलाधार मुख्य रूप से हिन्दी की श्रेणीबद्ध परीक्षाएँ हैं। इस तरह समिति की ओर से पाँच परीक्षाओं की व्यवस्था है। समिति की ये परीक्षाएँ वर्ष में दो बार हुआ करती हैं। परीक्षा के साथ असम राष्ट्र भाषा प्रचार समिति ने अपना साहित्य विभाग खोला। असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने इस विभाग की ओर से अब तक लगभग तीन दर्जन उत्तम साहित्यिक मूल्य की पुस्तकों का प्रकाशन किया है। प्रचार के उद्देश्य की पूर्ति तथा सांस्कृतिक एकता के प्रचार के लिए समिति 'राष्ट्र-सेवक' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन करती है।

असम राज्य में (भैयाम और पहाड़ों में) सुव्यवस्थित ढंग से हिन्दी का प्रचार करने के लिए समिति की तरफ से एक प्रचारक-प्रशिक्षण-शिविर खोला गया, किन्तु अन्त में अध्यक्ष के आग्रह से हिन्दी-प्रशिक्षण-शिविर तथा अपना प्रचारक-प्रशिक्षण-शिविर शासन को सौंप दिया। पहले-पहल जब यह समिति के तत्त्वावधान में था तब ५० विद्यार्थी इस प्रशिक्षण-शिविर में दाखिल हुए थे, किन्तु दूसरे वर्ष से १२५ विद्यार्थी सरकारी हिन्दी प्रशिक्षण शिविर में ४५ रुपये मासिक छात्र-वृत्ति पर लिये जाने लगे। तब से आज तक प्रतिवर्ष इस शासकीय प्रशिक्षण-शिविर से शिक्षा प्राप्त कर हिन्दी के बहुत-से शिक्षक निकल रहे हैं। असम समिति अब केवल इस शिविर को समय-समय पर सहयोग देती रहती है। कई वर्षों तक असम राज्य में असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और असम प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा शाखा) अपनी-अपनी योजनानुसार हिन्दी-प्रचार का काम करती रहीं। लेकिन ९ मार्च, १९५२ को दोनों समितियाँ अपने भेदभाव को भूलकर एक हो गईं, और इस संयुक्त समिति का नाम 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' पड़ा।

लोकप्रिय बरदलैजी के देहान्त के बाद असम के मुख्य मन्त्री श्री विष्णुरामजी मेधि ने असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का अध्यक्ष-पद ग्रहण किया और तभी से आप असम राज्य में हिन्दी प्रचार की जड़ को मज़बूत बनाने में समिति का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। बाद में श्री मेधिजी राज्यपाल बनकर मद्रास चले गए और असम में श्री विमलाप्रसादजी चालिहा मुख्य मन्त्री बने। समिति के नियमानुसार असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के नए अध्यक्ष हैं। वर्तमान समय में असम समिति का वार्षिक बजट करीब पाँच लाख रुपए से अधिक है। समिति का ऐसा विश्वास है कि हिन्दी प्रचार और सांस्कृतिक एकता के विकास हेतु असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति-जैसी राष्ट्रीय संस्था सहायता पहुँचाएगी।

समिति ने असम, मणिपुर और त्रिपुरा के कोने-कोने में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार व प्रसार के लिए एक विशाल योजना अपनाई है। इन तीनों राज्यों को भौगोलिक दृष्टिकोण से विभिन्न अंचलों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक अंचल के वैतनिक प्रचारकों व प्रचारिकाओं के अलावा सहयोगियों के कामों की देखभाल करने के लिए एक-एक संगठक नियुक्त किये गए हैं। राष्ट्रभाषा के बहुल प्रचारार्थ हर पाँच मील के फासले पर एक-एक परीक्षा-केन्द्र स्थापित किया जा रहा है, जहाँ पर परिचय से लेकर

प्रवोध तक परीक्षाएँ ली जाती हैं। इस प्रकार असम, उत्तर-पूर्व सीमान्त अंचल, मणिपुर और त्रिपुरा में आज परीक्षा-केन्द्रों की संख्या कुल ३९५ है। समिति के स्वीकृत प्रचारक व प्रचारिकाओं की संख्या ८६४ तक पहुँची है।

समिति के कार्यालय में एक केन्द्रीय पुस्तकालय है। इसके अतिरिक्त समिति के स्वीकृत व सहायता-प्राप्त विद्यालयों में स्थानीय पुस्तकालय हैं, जिनकी उन्नति के लिए समिति की ओर से समय-समय पर यथासाध्य आर्थिक सहायता दी जाती है। इस समिति का कार्य असम के पर्वत-भैयाम के सिवा मणिपुर-त्रिपुरा में भी जारी है।

आन्ध्र प्रदेश हिन्दी विद्यार्थी संघ

सन् १९५२ के सितम्बर मास में इस संघ की स्थापना नवयुवक, उत्साही तथा कर्मठ विद्यार्थियों के प्रयत्नों से हुई। संघ साहित्यिक शंकाओं के उन्मूलनार्थ, काव्य-गोष्ठियों, साहित्यिक परिसंवाद आदि का आयोजन करता है। साहित्यिक कार्यक्रम के साथ-साथ संघ विद्यार्थियों की शैक्षणिक कठिनाइयों की ओर भी शासन के उच्च अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करने में सफल रहा है।

इस संघ का प्रथम अधिवेशन २३ नवम्बर १९५७ में श्री श्रीमन्नारायणजी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इसके उपरान्त यह संघ प्रतिवर्ष अधिवेशन की आयोजना करता आ रहा है, जिसमें सम-सामयिक प्रश्नों के हलों पर विचार किया जाता है।

यह संघ गत १२ वर्षों से आन्ध्र राज्य में हिन्दी के प्रति सद्भावना बढ़ाने का कार्य करता आ रहा है। आज-कल इस संघ के प्रधान सचिव श्री तेजनारायण जायसवाल हैं।

उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कटक

इस सभा ने हिन्दी सिखाने का काम सन् १९३५ से प्रारम्भ किया था और आज तक लगभग एक लाख आदमियों को हिन्दी सिखा चुकी है। साहित्यिक क्षेत्र में भी यह सभा हिन्दी-उड़िया की ७५ पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी है। इस समिति का रजत जयन्ती ग्रन्थ तो भारतीय भाषाओं में भी इस सभा के कथनानुसार अद्वितीय है। इस सभा का अपना पुस्तकालय है, जिसमें ६ हजार से ऊपर पुस्तकें हैं। सभा के ४२ स्थायी केन्द्र और २०५ परीक्षा-केन्द्र हैं, जिनमें प्रति-वर्ष १६ हजार परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। सभा से सम्बन्धित राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस है, जिसकी लागत ३ लाख से ऊपर है। सभा के राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य के सहयोग के लिए अनेक कार्य चल रहे हैं। उन कार्यों में राष्ट्रभाषा महाविद्यालय खोलना, जगह-जगह शिक्षा-शिविर खोलना, चलते-फिरते पुस्तकालय के साथ हिन्दी शिक्षा के लक्ष्य को सामने रखकर भाषण, कथोपकथन, प्रहसन, साहित्य का प्रकाशन, प्रमाणित हिन्दी कोश तैयार करना आदि कार्य भी हैं।

राज्य के गण्यमान्य व्यक्तियों, विद्वानों एवं राष्ट्रभाषा-प्रेमियों के सहयोग से राष्ट्रभाषा प्रचार सभा का संगठन हुआ है। कार्य-परिचालन के लिए कार्यकारिणी समिति है। उसके सभापति स्वामी विचित्रानन्ददास, मन्त्री श्री राज-नारायण बोस तथा अन्य आठ सदस्य हैं। इस सभा के संचालक अनुसूयाप्रसाद पाठक हैं।

इस सभा का कार्यक्षेत्र समग्र उत्कल है। केन्द्रों के निरीक्षण तथा प्रचार-कार्य की व्यवस्था के लिए समूचा प्रान्त तीन भागों में—उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व संभागों में—विभक्त किया गया है। सभा का प्रधान कार्यालय कटक शहर में है। सुविधा की दृष्टि से कार्यालय का कार्य परीक्षा विभाग, प्रचार विभाग, राष्ट्रभाषा पत्र-विभाग, पुस्तकालय तथा वाचनालय, प्रेस विभाग, प्रकाशन विभाग, अनुवाद समिति, आदि विभागों में बँटा हुआ है। प्रधान कार्यालय में संचालक के अतिरिक्त ३ कार्यकर्ता कार्य करते हैं।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की अखिल भारतीय स्तर पर चलने वाली प्रारम्भिक, प्रवेश, परिचय, कोविद, राष्ट्र-भाषा रत्न परीक्षाएँ वर्ष में दो बार फरवरी तथा सितम्बर में होती हैं। सन् १९५७ से प्रान्तीय सभा के अधीन 'राष्ट्रभाषा प्राथमिक' नाम से एक अन्य परीक्षा की व्यवस्था की गई है। इस परीक्षा में बड़े उत्साह से परीक्षार्थी

सम्मिलित हुए और हो रहे हैं। सभा की परीक्षाओं में प्रत्येक वर्ग, धर्म, समाज और स्तर के भाई-बहन उत्साह से शामिल होते हैं। राज्य के प्रत्येक स्थान में वर्धा परीक्षाओं के प्रति लोगों में सम्मान है।

सभा के स्थायी केन्द्रों की संख्या ४२ है। इन केन्द्रों में सभा से मासिक सहायता प्राप्त प्रचारक हाईस्कूल तथा एम० ई० स्कूलों में हिन्दी वर्ग नियमित रूप से चलते हैं। साधारण लोगों के लिए खानगी वर्ग भी चलते हैं। स्थायी केन्द्रों के अतिरिक्त २०५ परीक्षा-केन्द्र हैं।

हिन्दी-प्रेमियों तथा परीक्षार्थियों की सुविधा के लिए सभा के मुख्य-मुख्य स्थानों पर तथा केन्द्रों में पुस्तकालय हैं। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सभा में एक बृहत पुस्तकालय है। इसमें अब तक पुस्तकों की संख्या ६००० के ऊपर है। पुस्तकालय में हिन्दी के सिवाय उड़िया, बंगला और संस्कृत की पुस्तकें हैं। सभा का एक अपना वाचनालय भी है, जिसमें लगभग २५ पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। सभा के मुख-पत्र के रूप में मासिक 'राष्ट्रभाषा-पत्र' प्रकाशित होता है। इस पत्र का उद्देश्य राष्ट्रभाषा के शिक्षार्थी तथा परीक्षार्थियों के लिए परीक्षोपयोगी सामग्री प्रस्तुत करने के साथ-साथ निबन्ध, आलोचना, कहानी और सामयिक कविताएँ प्रकाशित करना है तथा हिन्दी-उड़िया भाषा के सुप्रसिद्ध लेखकों की रचनाएँ देवनागरी लिपि में प्रकाशित करना है। सभा की एक अनुवाद समिति है। यह समिति उड़िया पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद तथा हिन्दी पुस्तकों का उड़िया में अनुवाद किया करती है। इसके साथ ही सभा का महत्त्व-पूर्ण कार्य हाथ से बने काग़ज़ के कारखाने को अपने नियन्त्रण में चलाना है। सभा की इन प्रवृत्तियों को देखते हुए सभा का यह कहना ठीक ही है कि सभा देश-काल के साथ राष्ट्रभाषा की महत्ता की पूर्ण प्रस्थापना में जी-जान से रत है।

कर्नाटक महिला हिन्दी सभा समिति, बैंगलौर

सरकार से मान्यता प्राप्त १९५२ में स्थापित यह रजिस्टर्ड संस्था मैसूर राज्य में हिन्दी का प्रचार कार्य कर रही है। यह संस्था बैंगलोर नगर में १२७, चामराज पेट में स्थित है। इस संस्था का उद्देश्य हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि का प्रचार व प्रसार करना है। मैसूर राज्य में यह महिलाओं की इकलौती संस्था है। इस संस्था ने अपने अध्ययन-केन्द्र समस्त मैसूर (कर्नाटक) में महिला समाज और महिला सदनों की सहायता से स्थापित किये हैं। इनमें हिन्दी का शिक्षण प्रारम्भिक ज्ञान से आरम्भ होता है। सन् १९५२ से ५५ तक ६४ जगहों पर हिन्दी के शिक्षण की व्यवस्था की गई, जिनमें लगभग ४,६०० विद्यार्थियों को शिक्षा दी गई। सन् १९५६ के पर्यवेक्षण के उपरान्त उपाधि परीक्षाओं को प्रारम्भ किया गया। इस संस्था के ५ निजी पुस्तकालय हैं, जिनमें लगभग ६,००० हिन्दी किताबें हैं जो कि छात्रों और जनता को अध्ययन के लिए वितरित की जाती हैं। समय-समय पर प्रचारकों की गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। सन् ५७ से अभी तक लगभग ६५ हजार व्यक्तियों को हिन्दी की परीक्षाओं में बैठाया जा चुका है। समस्त मैसूर में इसके १८ मुख्य प्रचार-केन्द्र हैं। आजकल इस संस्था की सचिव सुश्री एन० सुशीलाजी हैं।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

हिन्दी भाषा और साहित्य तथा देवनागरी लिपि की उन्नति तथा प्रचार और प्रसार करनेवाली देश की यह अग्रणी संस्था है। इसकी स्थापना सन् १८९३ में हुई। इसके प्रमुख संस्थापक स्व० श्यामसुन्दरदास, स्व० रामनारायणजी मिश्र और डॉ० शिवकुमारसिंह थे। यह वह समय था जब अंग्रेज़ी और उर्दू-फ़ारसी का बोलबाला था तथा हिन्दी का प्रयोग करनेवाले बड़ी हेय दृष्टि से देखे जाते थे। अतः सभा को अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए आरम्भ से ही प्रतिकूलताओं और जटिलताओं के बीच से मार्ग निकालना पड़ा। किन्तु तत्कालीन विद्वन्मंडल और जन-समाज की सहानुभूति तथा सक्रिय सहयोग से सभा ने बड़े ठोस और महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में लेना आरम्भ कर

दिया। अपने जीवन के विगत ७० वर्षों से सभा माँ भारती की सेवा करती चली आ रही है।

सभा की स्थापना के समय तक उत्तर प्रदेश के न्यायालयों में अंग्रेजी और उर्दू ही विहित थी। सभा के प्रयत्न से, जिसमें स्व० महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय का विशेष योग रहा, सन् १९०० से उत्तर प्रदेश में नागरी के प्रयोग की आज्ञा हुई और सरकारी कर्मचारियों के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का जानना अनिवार्य कर दिया गया।

सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय देश में हिन्दी का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। विशेषत: १९वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में हिन्दी के जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकाएँ छपी थीं, उनके संग्रह में यह पुस्तकालय बेजोड़ है। इस समय तक लगभग १५,००० हस्तलिखित ग्रन्थ भी इसके संग्रह में हो गए हैं। पुस्तकें ड्युई की दशमलव पद्धति के अनुसार वर्गीकृत हैं। इसकी उपयोगिता एकमात्र इसी तथ्य से स्पष्ट है कि हिन्दी शोध करनेवाला कोई भी विद्यार्थी जब तक इस पुस्तकालय का आलोड़न नहीं कर लेता तब तक उसका शोध-कार्य पूरा नहीं होता। स्व० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, जगन्नाथदास रत्नाकर, मायाशंकर याज्ञिक, डॉ० हीरानन्द शास्त्री तथा पं० रामनारायण मिश्र ने अपने-अपने संग्रह भी इस पुस्तकालय को दान में देकर इसकी समृद्धि और उपादेयता को द्विगुणित किया है।

हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज की दिशा में स्थापित होते ही सभा ने यह लक्ष्य किया कि प्राचीन विद्वानों के हस्तलेख नगरों और देहातों में लोगों के बैठनों में बँधे-बँधे नष्ट हो रहे है। अत: सन् १९०० से सभा ने अन्वेषकों को गाँव-गाँव और नगर-नगर में घर-घर भेजकर इस बात का पता लगाना आरम्भ किया कि किनके-किनके यहाँ कौन-कौन-से ग्रन्थ विद्यमान हैं। उत्तर प्रदेश में तो यह कार्य अब तक बहुत विस्तृत और व्यापक रूप से हो रहा है। इसके अतिरिक्त पंजाब, दिल्ली, राजस्थान और मध्य-प्रदेश में भी यह कार्य हुआ है। इस खोज-कार्य की त्रैवार्षिक रिपोर्ट भी सभा प्रकाशित करती है। इस योजना के परिणामस्वरूप ही हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास तैयार हो सका है और अनेक अज्ञात लेखकों की अनेक अज्ञात कृतियाँ प्रकाश में आई हैं।

उत्तमोत्तम ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन सभा के मूलभूत उद्देश्यों में रहा है। अब तक सभा द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों के लगभग ५०० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। त्रैमासिक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' सभा का मुखपत्र है। भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य-विषयक शोधात्मक सामग्री इसमें छपती है और निर्व्यवधान प्रकाशित रहनेवाली पत्रिकाओं में यह सबसे पुरानी है। मासिक 'हिन्दी विधि पत्रिका' और 'हिन्दी रिव्यू' (अंग्रेज़ी) नामक पत्रिकाएँ भी सभा द्वारा निकली थीं, किन्तु कालान्तर में वे बन्द हो गईं। सभा के उल्लेखनीय प्रकाशनों में 'हिन्दी शब्दसागर', 'हिन्दी व्याकरण', 'वैज्ञानिक शब्दावली', 'सूर', 'तुलसी', 'कबीर', 'जायसी' आदि मुख्य-मुख्य कवियों की ग्रन्थावलियाँ, 'कचहरी हिन्दी कोश', 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ', 'सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और 'हिन्दी विश्वकोश' आदि मुख्य हैं।

सभा की अन्य प्रमुख प्रवृत्तियों में अपनी समानधर्मी संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापन, अहिन्दी-भाषी छात्रों को हिन्दी पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति देना, हिन्दी की संकेतलिपि तथा टंकण की शिक्षा देना, लोकप्रिय विषयों पर समय-समय पर सुबोध व्याख्यानों का आयोजन करना, प्राचीन और आधुनिक विद्वानों के तैलचित्र अपने सभा-भवन में स्थापित करना, आदि मुख्य हैं।

सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का श्रीगणेश और उसके सम्पादनादि की सम्पूर्ण व्यवस्था आरम्भ में इस सभा ने ही की थी। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का संगठन और सर्वप्रथम उसका आयोजन भी सभा ने ही किया था। इसी प्रकार सम्प्रति हिन्दू विश्व-विद्यालय में स्थित भारत कला भवन नामक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त पुरातत्त्व और चित्र-संग्रह का एक युग तक संरक्षण, पोषण और संवर्धन यह सभा करती रही। अन्तत: जब उसका स्वतन्त्र विकास यहाँ अवरुद्ध होने लगा और विश्वविद्यालय में भविष्योन्नति की सम्भावना स्पष्ट हुई तो सभा ने उसे विश्वविद्यालय को हस्तान्तरित कर दिया।

संवत् २००० वि० में सभा ने अपनी स्वर्ण जयन्ती और महाराज विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दी तथा जीवन के ६० वर्ष पूरे करने के उपलक्ष्य में सं० २०१० में अपनी हीरक जयन्ती के आयोजन बड़े समारम्भपूर्वक किये। इन दोनों आयोजनों की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि ये आयोजन उत्सव-मात्र नहीं थे, प्रत्युत प्रत्येक अवसर पर सभा ने बड़े महत्त्वपूर्ण, ठोस व रचनात्मक कार्यों का समारम्भ किया था। उदाहरणार्थ स्वर्णजयन्ती पर सभा ने अपना ३० वर्षों का विस्तृत इतिहास तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका का विशेषांक 'विक्रमांक' प्रकाशित किया। इसी समय परिव्राजक स्वामी सत्यदेवजी ने अपना आश्रम सत्यज्ञान निकेतन भी प्रचार-कार्य का केन्द्र बनाने के निमित्त सभा को दान कर दिया। इसी प्रकार हीरक जयन्ती पर सभा के ६० वर्षों के इतिहास के साथ हिन्दी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का इन ६० वर्षों का इतिहास, नागरी प्रचारिणी पत्रिका का विशेषांक, हिन्दी शब्द सागर का संशोधन-परिवर्धन तथा आकार-ग्रंथों की एक पुस्तक माला प्रकाशित करने की भी योजना थी। यथोचित राजकीय सहयोग भी सभा को सुलभ हुआ, परिणामतः सभा ने ये कार्य सम्यक् रूप से सम्पन्न किये।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त सम्प्रति हिन्दी विश्वकोश का प्रणयन सभा केन्द्रीय सरकार की वित्तीय सहायता से कर रही है। इस प्रकार भारतेन्दु-युग के अनन्तर हिन्दी साहित्य की जो उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ रही हैं उन सबके नियमन, नियन्त्रण और संचालन आदि में इस सभा का महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल, आगरा

हिन्दी शिक्षकों को वैज्ञानिक विषयों द्वारा प्रशिक्षण, हिन्दी के उच्च साहित्य के अध्यापन और हिन्दी-शिक्षण-विधियों पर अनुसन्धान की व्यवस्था करने तथा हिन्दी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से भारत शासन के शिक्षा मन्त्रालय ने मार्च १९६० में 'केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल' नाम से ३३ सदस्यों की एक स्वायत्त संस्था की स्थापना की। इस संस्था के सदस्यों में भारत के विभिन्न प्रदेशों के हिन्दी के विशेषज्ञों, हिन्दी की १७ स्वायत्त संस्थाओं के प्रतिनिधियों, राज्य सभा के १ और लोकसभा के २ सदस्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के उपसचिव, उपवित्तीय परामर्शदाता एवं केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक भी शासन के प्रतिनिधियों के रूप में सम्मिलित हैं।

उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'मण्डल' एक केन्द्रीय हिन्दी शिक्षक महाविद्यालय का संचालन कर रहा है, जिसमें विभिन्न स्तर के अध्यापकों के उपयोगार्थ 'हिन्दी-शिक्षण प्रवीण', 'हिन्दी शिक्षण पारंगत' और 'हिन्दी शिक्षण निष्णात' परीक्षाओं के लिए वर्ग चलाये जाते हैं, जिनका उद्देश्य क्रमशः हाईस्कूलों में, हायर सेकेण्डरी स्कूलों में तथा कालेजों में हिन्दी शिक्षक महाविद्यालयों तथा विदेशी दूतावासों के लोगों के लिए हिन्दी पढ़ानेवाले अध्यापकों को प्रशिक्षित करना है।

हिन्दी शिक्षण निष्णात के छात्राध्यापक, लिखित तथा प्रायोगिक परीक्षा के अतिरिक्त स्वीकृत मौलिक विषय पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ गत वर्ष प्रस्तुत शोध-प्रबन्धों के शीर्षक थे—बंगला भाषा-भाषी को हिन्दी सिखाने की पद्धति, भारत के अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी सिखाने की सर्वोत्तम पद्धति, हिन्दी और मलयालम क्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन, केरल, मद्रास, आन्ध्र एवं मैसूर के हाईस्कूलों के हिन्दी पाठ्यक्रमों की आलोचना एवं संशोधन आदि।

मण्डल वर्ष में दो बार भाषा और साहित्य पर शोध-सम्बन्धी पत्रिका 'गवेषणा' प्रकाशित करता है, जिसमें विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत अनुसन्धनात्मक निबन्ध प्रकाशित किये जाते हैं। महाविद्यालय से 'समन्वय' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है। इसमें विभिन्न प्रान्तों से आये हुए छात्राध्यापकों के लेख, कहानियाँ, कविताएँ आदि प्रकाशित होती हैं। इनके द्वारा स्वभावतया भारत के विभिन्न प्रदेशों की भाषा, साहित्य और संस्कृति-सम्बन्धी

विशेषताओं का जीवन्त परिचय प्राप्त होता रहता है।

भारत सरकार ने अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के लिए हिन्दी में वैधानिक आधार पर प्रारम्भिक पुस्तकें तैयार करने का कार्य मण्डल को सौंपा है। इस योजना के अन्तर्गत इस वर्ष प्रथम ग्रेड की रीडरें तैयार करने का कार्य चल रहा है। न्यूनतम समय में हिन्दी सिखाने की शिक्षण-पद्धतियों पर अनुसन्धान करने की दिशा में कार्य करने के लिए संगोष्ठियों का आयोजन किया गया, जिनमें इस क्षेत्र में कार्य करनेवालों तथा अन्य विशेषज्ञों ने भाग लिया।

महाविद्यालय के छात्रों को हिन्दी के वातावरण में रहकर अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ प्राध्यापकों द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त करने के अतिरिक्त उन्हें जीवन्त हिन्दी से परिचय तथा हिन्दी के गण्यमान्य साहित्यकारों से सम्पर्क एवं महाविद्यालय में आयोजित उनके व्याख्यान सुनने का सुअवसर प्राप्त होता है, जिससे वे हिन्दी के शुद्ध उच्चारण और प्रयोग एवं हिन्दी साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों से परिचित हो जाते हैं जो सफल शिक्षक के लिए अनिवार्य है।

गुजरात हिन्दी विद्यापीठ, अहमदाबाद

इस विद्यापीठ की स्थापना १९२० में हुई। इसने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में गांधीजी के मार्गदर्शन को स्वीकार करते हुए, अपने कार्यों को आरम्भ किया। १९३५ के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में, सम्मेलन ने गांधीजी द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रभाषा की व्याख्या को स्वीकार किया, उसी के तदनुरूप तथा दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के सिवाय उत्तर भारत के लिए जब राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना हुई तो उसके परिप्रेक्ष्य में हिन्दी का प्रचार-कार्य आरम्भ किया गया। किन्तु १९४२ में गांधीजी का जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन की हिन्दी व्याख्या से मतभेद हुआ, तो फलस्वरूप इस विद्यापीठ ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा के पदचिह्नों का अनुसरण किया।

लगभग १९४४ से इस विद्यापीठ का कार्य देवनागरी और उर्दू लिपि दोनों में ही चला करता था, किन्तु सितम्बर सन् १९४९ में संविधान सभा का राजभाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार होने पर गुजरात के हिन्दी प्रचारकों ने दिसम्बर १९४९ के सम्मेलन में अपने प्रचार-कार्य में परिवर्तन करना आवश्यक समझ उर्दू लिपि को ऐच्छिक विषय का रूप देना निश्चित किया।

यह विद्यापीठ समस्त गुजरात में हिन्दी प्रचार का कार्य अपनी परीक्षा-समिति द्वारा संचालित परीक्षाओं के माध्यम से करता है। विद्यापीठ १९६१ तक प्रारम्भ से लेकर उच्च परीक्षा तक पाँच परीक्षाओं को आयोजित करता रहा है। तदुपरान्त इसने हिन्दी की उच्च परीक्षा के रूप में 'हिन्दी पारंगत' को प्रारम्भ किया है। इसका अभ्यास-क्रम हिन्दी एम० ए० के पाठचक्रम के समान रखने का प्रयास किया गया है। इस विद्यापीठ की परीक्षाओं को प्रायः अन्य संस्थाओं आदि ने मान्यताएँ दी हैं। इनकी परीक्षाओं में सम्मिलित छात्रों की संख्या लगभग १२ लाख तक है।

हिन्दी का अभ्यास करनेवाले छात्रों की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए इस विद्यापीठ ने हिन्दी-गुजराती की सहायक पुस्तकों का प्रकाशन किया है। सर्वप्रथम १९३९ में 'हिन्दी-गुजराती शब्दकोश' प्रकाशित किया गया। 'अन्तरभाषा पाठावली माला' के अन्तर्गत ६ पुस्तकों को प्रकाशित किया गया। अन्य भी ३५ पुस्तकों का प्रकाशन हुआ।

परीक्षार्थियों की सुविधा के लिए यह विद्यापीठ शिक्षण-वर्गों की व्यवस्था करता है। उच्च वर्गों के छात्रों को हिन्दी के उत्तम ज्ञान के हेतु व्याख्यान मालाओं की आयोजना को कार्यान्वित करता रहता है। इसके साथ ही ग्रीष्म अवकाशों में प्रचारकों एवं शिक्षकों के समक्ष आई हुई परिस्थितियों के हल के लिए शिविरों और गोष्ठियों का आयोजन करता है।

इस विद्यापीठ ने अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी का ज्ञान और अभ्यास कराने के साथ ही अगुजराती-भाषियों को गुजराती सिखाने के लिए गुजराती की परीक्षाओं को प्रचलित किया है। इस परीक्षा में तथा इसके चलनेवाले वर्गों में हिन्दी, मराठी, सिन्धी और अंग्रेज़ी-भाषी सम्मिलित होते हैं।

इस विद्यापीठ का कहना है कि आजकल हिन्दी-प्रचार

का कार्य कुछ लोग एक लाभदायी व्यवसाय के रूप में करने लगे हैं, इसलिए जनता और सरकार को इस तरह की व्यावसायिक संस्थाओं की परीक्षाओं को प्रोत्साहन और मान्यता नहीं देनी चाहिए। इससे हिन्दी की सेवा नहीं होती बल्कि जो संस्थाएँ प्रामाणिक ढंग से और सेवा-भावना से काम करना चाहती हैं, उनके रास्ते में मुश्किलें खड़ी होती हैं। यह वक्तव्य एक सीमा तक विचारणीय है।

इस विद्यापीठ ने अपने विकास के दौरान अनेक महोत्सवों को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है। समय-समय पर प्रचारक सम्मेलन होते रहे हैं। सामान्यतः इन सम्मेलनों में प्रचारगत आई हुई समस्याओं पर चिन्तन किया गया है तथा भविष्य की कार्य-योजनाओं को संगठित किया गया है। इस विद्यापीठ का क्षेत्र गुजरात राज्य है तथा इसके प्रमुख श्री मगनभाई देसाई हैं।

(यह लेख गुजरात हिन्दी प्रचार समिति द्वारा प्रकाशित १८-१-६२ की पत्रिका के आधार पर तैयार किया गया है।)

दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा, आन्ध्र

इस सभा की स्थापना १९३६ में आन्ध्र प्रदेश के विजयवाड़ा में हुई। राज्यों के पुनर्गठन के दौरान में इसका केन्द्रीय कार्यालय हैदराबाद में स्थानान्तरित हुआ। यह सभा वर्ष की समस्त प्रचार व प्रसार की कार्यवाहियों में लगभग तीन लाख रुपए प्रतिवर्ष खर्च करती है। इस सभा के हिन्दी के प्रचार व प्रसार का मुख्य आधार हिन्दी की परीक्षाएँ हैं। ये परीक्षाएँ वर्ष में दो बार आयोजित की जाती हैं। इनमें लगभग ४० हजार छात्र प्रतिवर्ष ३०० केन्द्रों से परीक्षा में सम्मिलित होते हैं। अभी तक इस प्रकार सभा ने तीन लाख अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी से न केवल परिचित ही कराया है, वरन उन्हें भली प्रकार हिन्दी में दीक्षित भी किया है।

अपने प्रचार व प्रसार की सुव्यवस्था के लिए यह सभा अध्यापन-केन्द्र एवं हिन्दी-प्रेमी-मण्डलों के माध्यम से सम्पर्क स्थापित करती है। इस प्रचार सभा के द्वारा हिन्दी प्रशिक्षण स्कूल और हिन्दी प्रचारक विद्यालय चलाये जाते हैं। इन विद्यालयों के द्वारा अभी तक लगभग २,००० हिन्दी शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जा चुका है। समस्त प्रान्त में ३,५०० हिन्दी प्रचारक कार्य कर रहे हैं। इस सभा का अध्यापन-कार्य ५६ विद्यालयों में नियमित रूप से चलता है। इस सभा के अभी तक २४ प्रचार सम्मेलन आयोजित हो चुके हैं तथा १२ संगोष्ठियों की आयोजना की जा चुकी है।

इस सभा की आगामी योजना के अनुसार केन्द्रीय कार्यालय के विस्तार के साथ ही विद्यालय भवन, कला भारती भवन और पुस्तकालय भवन के निर्माण की योजना है। आजकल इस सभा के सचिव पं० लक्ष्मीनारायण शर्मा हैं।

दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

इस सभा की स्थापना राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने सन् १९१८ में की थी। इस सभा का केन्द्रीय कार्यालय मद्रास शहर के त्यागराय नगर में तीन भवनों में स्थित है, जिनमें लगभग तीन-सौ कार्यकर्ता सभा के विभिन्न विभागों में कार्य करते हैं। सभा का सारा कार्य ५७३ सदस्यों की व्यवस्थापिका समिति द्वारा निर्वाचित १६ सदस्यों की कार्यपालिका द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। सभा की सम्पत्ति का प्रबन्ध और संचालन छः सदस्यीय निधिपालक-मण्डल के अधीन रहता है। शिक्षण, परीक्षा, साहित्य-निर्माण तथा प्रचार का कार्य 'शिक्षा-परिषद्' की सलाह से चलता है।

इस सभा का सर्वाधिक व्यापक कार्य-क्षेत्र केरल राज्य, मैसूर राज्य, मद्रास राज्य और आन्ध्र प्रदेश हैं। सभा की चार प्रान्तीय शाखाएँ एरणाकुलम्, धारवाड़, तिरुच्चिरापल्ली और हैदराबाद में हैं जो इन राज्यों में चलनेवाले हिन्दी-प्रचार-कार्य की देख-रेख करती हैं। ये शाखाएँ अपने कार्य के संचालन में स्वतन्त्र हैं और केन्द्र-सभा के मार्गदर्शन में कार्य की गति को बढ़ाती रहती हैं। इन

शाखाओं के अपने-अपने निजी भवन हैं। सभा के कार्य का विस्तार बेलगाँव से ब्रह्मपुर तक और कन्याकुमारी से हैदराबाद तक है, जिसमें लगभग ७,००० प्रमाणित प्रचारक ६,००० केन्द्रों में हिन्दी-प्रचार का कार्य कर रहे हैं। अपनी योग्यता, लगन तथा शुद्ध राष्ट्रीय भावना के द्वारा इन हिन्दी-प्रचारकों ने दक्षिण-भारत के जन-समुदाय में अपना एक निजी प्रभावशाली विशिष्ट स्थान, हिन्दी-प्रचार आन्दोलन के साथ ही प्राप्त कर लिया है। यह आन्दोलन सिर्फ राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रीय संस्कृति का ही आन्दोलन नहीं, बल्कि सभा के कथनानुसार समाज-सेवकों का एक ज़बरदस्त संगठन भी है। यह समूचा दक्षिणावर्त प्रचार कार्य के संगठन की दृष्टि से १५ मण्डलों में विभाजित है। दक्षिण भारत प्रचार सभा अपने कार्य-क्षेत्र की राज्य सरकारों से स्कूल व कॉलेज के हिन्दी-शिक्षण-सम्बन्धी कार्यक्रम के बारे में निकट सम्बन्ध रखती है।

सभा का प्रचार-साहित्य, पुस्तक-प्रकाशन आदि समस्त मुद्रण-कार्य इसके निजी प्रेस में होते हैं। यह प्रेस आज आधुनिक साधनों से युक्त एक काफी बड़े प्रेस के रूप में, दक्षिण भारत में अपने मुद्रण के लिए प्रसिद्ध है। इसमें हिन्दी, मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी के अलावा सभी दक्षिणी भाषाओं के मुद्रण के साधन उपलब्ध हैं। पुस्तक-प्रकाशन का कार्य सभा के साहित्य-विभाग द्वारा किया जाता है, जिसमें अभी तक ३१४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन पुस्तकों में साहित्यिक महत्त्व रखनेवाली पुस्तकें, दक्षिणी भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सीखने के लिए आवश्यक पुस्तकें, रीडरों से लेकर कोश तक सम्मिलित हैं। सभा का अपना पुस्तक-विक्री-विभाग है, जहाँ सभा की निजी पुस्तकें और बाहर के प्रकाशन भी वेचने का प्रबन्ध है। इस विभाग ने दक्षिण के कोने-कोने में लगभग तीन करोड़ पुस्तकें वितरित की हैं। हिन्दी के प्रसार की दृष्टि से इनका महत्त्वपूर्ण प्रकाशन तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ माध्यम द्वारा हिन्दी-स्वयं-शिक्षक का है। इस सभा की ओर से 'दक्षिण-भारत' सांस्कृतिक द्वैमासिक और 'हिन्दी-प्रचार समाचार' प्रचारात्मक मासिक, नामक दो पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। 'दक्षिण-भारत' पत्रिका का उद्देश्य मुख्यतया दक्षिणी भाषाओं की विशेषताओं को प्रतिबिम्बित करनेवाले साहित्य, संस्कृति, इतिहास और समाज का परिचय देना है।

यह सभा हिन्दी की आठ क्रमबद्ध परीक्षाएँ चला रही है, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा का अच्छा शिक्षण व्यवस्थित रूप से हो रहा है। उपर्युक्त आठ परीक्षाओं में तीन प्रारम्भिक परीक्षाएँ और पाँच उच्च परीक्षाएँ हैं। इनके अतिरिक्त स्कूलों में हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थियों के उपयोगार्थ सभा 'हिन्दुस्तानी पहली' और 'दूसरी' परीक्षाएँ भी चलाती है। सभा स्कूलों के लिए योग्य हिन्दी शिक्षकों को तैयार करने की दृष्टि से हिन्दी-प्रचारक विद्यालय चला रही है। इनमें तीन विद्यालय सर्वथा सभा के हैं तथा दो विद्यालय मण्डलों द्वारा नियोजित हैं। सन् १६४६ से हिन्दी-मुद्रालेखन वर्ग आरम्भ किए गए हैं। साल में दो बार परीक्षाएँ, प्रारम्भिक, उच्च और हाई-स्पीड, इन तीन स्तरों में होती हैं।

इस सभा ने अपना रजत जयन्ती महोत्सव महात्मा गांधी की अध्यक्षता में १६४६ में मनाया था। उस अवसर पर गांधीजी एक सप्ताह तक, हिन्दी-प्रचार से सम्बन्धित सभाओं के अलावा, कलाकारों, साहित्यिकों, महिलाओं, विद्यार्थियों तथा राजनीतिज्ञों की बैठकों में भाग लेकर जनता को प्रोत्साहित करते रहे। सभा के कथनानुसार सारा दक्षिण भारत उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ा था।

सभा अपने कार्य कलापों के माध्यम से दक्षिण भारतीयों को हिन्दी साहित्य से तथा उत्तर-भारत की कलाओं से परिचित कराती आ रही है। फलतः दक्षिण को उत्तर-भारत के बारे में विशेष जानकारी हो चुकी है। लेकिन दक्षिण के साहित्य, दक्षिण की कला आदि से उत्तर उस अनुपात में परिचित नहीं हुआ है। इसको दृष्टि में रखते हुए उत्तर और दक्षिण के बीच साहित्य के पारस्परिक विनिमय के लिए सभा ने अपनी रजत-जयन्ती के अवसर पर स्वीकृत आयोजना के अनुसार दिल्ली में एक शाखा-केन्द्र खोला है। इस केन्द्र में साहित्यिक आदान-प्रदान के अलावा तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ भाषाएँ सिखाने का प्रबन्ध भी किया गया है।

इस सभा की ४५ वर्षों की सेवा को देखते हुए दक्षिण भारत को इस सभा ने राष्ट्रीय भावना में सूत्रबद्ध किया

है। इस सभा की तरफ से चलाई जानेवाली परीक्षाओं में अब तक लगभग २ करोड़ परीक्षार्थी बैठ चुके हैं, जब कि दक्षिणावर्त की जनसंख्या १० करोड़ के लगभग है। इस सभा के कार्यक्षेत्र में ४,००० हाई स्कूलों एवं २०० कॉलेजों में हिन्दी-शिक्षण की समुचित व्यवस्था है। केवल मद्रास नगर में लगभग ३०० प्रचारकों से १०,००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। इस सभा का वार्षिक बजट १५ लाख रुपयों का है जबकि केन्द्रीय बजट १ करोड़ रुपयों का है। प्रति वर्ष सभा स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षाओं की उपाधि प्रदान करने के हेतु पदवीदान समारम्भ करती है। ये समारोह आचार्य काका कालेलकर, पं० रामनरेश त्रिपाठी, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, डॉ० जगजीवनराम आदि सुप्रसिद्ध साहित्यकार और गण्यमान्य नेताओं की अध्यक्षता में सम्पन्न हुए हैं। सन् १९५७ के पदवीदान-अभिभाषण में डॉ० जगजीवनराम ने इस सभा की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहा था, "अहिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार संस्थाओं ने बहुत ही उपयोगी कार्य किया है, परन्तु यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने जा कार्य किया है, वह सर्वाधिक व्यापक, महत्वपूर्ण, उल्लेखनीय एवं स्तुत्य है।"

आजकल केन्द्रीय सभा के सचिव श्री एस० आर० शास्त्री हैं तथा एरणाकुलम् केरल राज्य के सचिव पं० नारायनदेव, धारवार, मैसूर राज्य के सचिव श्री पी० वेंकटाचलम शर्मा, त्रिचुरापल्ली मद्रास राज्य के सचिव श्री एस० चन्द्रमौलि, हैदराबाद आन्ध्र प्रदेश के सचिव श्री चित्तूरी लक्ष्मीनारायण शर्मा और दिल्ली शाखा के सचिव श्री भालचन्द्र आप्टे हैं।

प्रयाग महिला विद्यापीठ

प्रयाग महिला विद्यापीठ की स्थापना २ फरवरी, १९२२ को हुई। इसकी स्थापना के मूल उद्देश्यों में मातृभाषा द्वारा माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का विस्तार करने के लिए विद्यालय की स्थापना करना या सहायता करना मानते हुए विद्यापीठ द्वारा संचालित परीक्षाओं की व्यवस्था करना, उत्तीर्ण परीक्षार्थिनियों को प्रमाण-पत्र तथा उपाधि-पत्र देना, परीक्षा-प्रबन्ध के निमित्त स्कूलों को स्वीकृत करना, छात्रवृत्ति देना तथा इस सम्बन्ध में अन्यान्य प्रबन्ध करना है तथा उसकी पूर्ति के लिए मुख्य कार्यों में प्राथमिक शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम बनाकर शिक्षा का विस्तार करना, अधिकारियों और संस्थाओं से विद्यापीठ के निश्चय के अनुसार सहयोग करना आदि रहा है।

विद्यापीठ के संविधान के अनुसार विद्यापीठ में प्रधान, उप-प्रधान, सहायक-उप-प्रधान, कोषाध्यक्ष, परिषद्, अन्तरंग परिषद्, रजिस्ट्रार आदि होते हैं, जो कि विद्यापीठ की स्थावर तथा जंगम सम्पत्ति की उन्नति तथा विक्रय करने के दायित्वों को निभाते हैं। इन उपर्युक्त पदों में प्रथम चार पदों का चुनाव परिषद् करती है। मूलतः परिषद् ही विद्यापीठ का सम्पूर्ण प्रबन्ध करती है। अन्तरंग परिषद्, दूसरे शब्दों में विद्यापीठ की कार्यकारिणी समिति ही है। यह समिति अपने कार्यों के लिए परिषद् के प्रति उत्तरदायी है।

इसके अतिरिक्त विद्यापीठ में पाठ्य-समिति है, जिसमें कम-से-कम परिषद् के चुने हुए २० सदस्य होते हैं। यह समिति अपने सुभीते के लिए उप-समितियों को बनाती है, जो कि विभिन्न विषयों के आधार पर होती हैं। ये पाठ्य-समिति और उपसमितियाँ रजिस्ट्रार के अन्तर्गत कार्य करती हैं। रजिस्ट्रार अन्तरंग परिषद् के आदेशानुसार अपने कर्तव्यों का पालन करता है तथा परिषद् एवं अन्तरंग परिषद् का कार्य-संचालन भी वही करता है। उसके द्वारा ही परिषद्, अन्तरंग परिषद्, पाठ्य-समिति तथा उप-समितियों का अधिवेशन किया जाता है। रजिस्ट्रार नियमों या उप-नियमों में निर्दिष्ट कर्त्तव्यों के अतिरिक्त विद्यापीठ की उपाधि तथा अन्य परीक्षाओं का प्रबन्ध करता है।

इस विद्यापीठ की परीक्षाएँ वर्ष में दो बार प्रयाग तथा अन्य ऐसे स्थानों पर होती हैं जिनको समय-समय पर अन्तरंग परिषद् निश्चित करती है। यह महिला विद्यापीठ कुल ९ परीक्षाओं का आयोजन करता है। ये परीक्षाएँ विद्यापीठ द्वारा मान्य विद्यालयों में सम्पन्न होती हैं। इस तरह के केन्द्र उत्तर भारत में सर्वत्र हैं। इस विद्यापीठ की

परीक्षाओं का क्षेत्र केवल महिलाओं तक ही है।

भारत की विस्तृत भूमि पर अनन्त संख्या में बिखरी हिन्दी प्रचार की सभा-समितियों और विद्यापीठों का इस विद्यापीठ के निर्माण में विशेष योगदान है। इस विद्यापीठ की महत्ता महिला-जीवन का मूल्यांकन करते समय आँकनी पड़ती है। मूल रूप में यह विद्यापीठ छायावादी कवयित्री सुश्री महादेवी वर्मा की देन है, जो कि उनकी निजी नारी-जीवन की विषम अनुभूति पर आधारित, महिलाओं के लिए एक सम्भाव्य निदान है। इस विद्यापीठ की परीक्षाओं को महिलाएँ अपने वैयक्तिक जीवन की कमी-बेशी की समस्याओं के साथ सरलता से पास कर, अपना शिक्षा का स्तर उठा लेती हैं, और इस तरह पढ़े-लिखे समाज में अपना भी अस्तित्व पा जाती हैं।

विद्यापीठ की परीक्षाओं को प्रायः केन्द्रीय व राज्यीय शासनों एवं विश्वविद्यालयों, तथा अन्यान्य हिन्दी-प्रचारक समितियों ने मान्य किया है।

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ

स्थापना

१२ अक्तूबर १९३८ के शुभ दिन विद्यापीठ की स्थापना ग्यारह गण्यमान्य सदस्यों की संरक्षता में हुई, जिसकी अध्यक्षा श्रीमती लीलावती मुंशी हुईं तथा श्री रामनाथ आनन्दीलाल पोद्दार इसके उपाध्यक्ष और श्री भानुकुमार जैन मन्त्री बने।

विद्यापीठ का मूल उद्देश्य

श्रीमती लीलावती मुंशी ने सन् १९४१ में अपने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा था, "संस्था का उद्देश्य मात्र हिन्दी-प्रचार करना नहीं है। हमारी आशा बहुत ऊँची है। हिन्दी शिक्षण का क्रम इतना आगे बढ़े कि ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा हम हिन्दी माध्यम द्वारा दे सकें। 'बम्बई हिन्दी विद्यापीठ' एक 'हिन्दी विश्वविद्यालय (यूनिवर्सिटी)' बने और उसका एक स्वतन्त्र 'हिन्दी महाविद्यालय (कॉलेज)' हो। दुनिया के तमाम साहित्य की होड़ में हिन्दी साहित्य, साहित्य-निर्माण और प्रकाशन द्वारा ऊँचा उठ सके और समूची ज्ञान-सम्पत्ति, सर्वदेशीय, सर्वदर्शी और सर्व-विषयक साहित्य विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित होकर सुलभ किया जा सके। विद्यापीठ का एक बहुत बड़ा पुस्तकालय भी हो।

विद्यापीठ के उद्देश्य निम्नलिखितानुसार हैं :

(क) हिन्दी भाषा, साहित्य और देवनागरी लिपि का प्रसार करना और उसको समृद्ध करना।

(ख) हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा ज्ञान, विज्ञान और कला की शिक्षा देना और उनका विकास तथा प्रचार करना।

(ग) हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रान्तीयभाषाओं के साहित्य का समन्वय करना तथा उसे प्रकाशित व प्रचारित करना।

(घ) हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृति के अध्ययन को सुगम बनाना।

भाषा-सम्बन्धी नीति

'हिन्दी' अर्थात् वह भाषा, जिसे भारत सरकार ने अपने संविधान में राजभाषा के रूप में स्वीकार किया है, जो भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम है तथा जिसके व्यक्तित्व में हस्तक्षेप किये बिना अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए जहाँ तक आवश्यक या वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत तथा गौणतः भारतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण करना विद्यापीठ की भाषा-सम्बन्धी नीति यही है।

प्रवृत्तियाँ

बम्बई हिन्दी विद्यापीठ ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्न कार्यों को अपनाया—शिक्षा का प्रबन्ध करना, परीक्षाएँ लेना, अपनी परीक्षाओं के केन्द्र खोलना, प्रमाण-पत्र, पदक, पारितोषिक और उपाधि वितरण करना, हिन्दी सेवकों और शिक्षकों के लिए विशेष शिक्षा की व्यवस्था

करना, शोध, व्याख्यान-माला, वाद-विवाद, कवि-सम्मेलन, लेख-पठन आदि भाषा-विषयक और अन्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के प्रदर्शन आदि में प्रोत्साहन देना, सम्मेलन-समारोह आदि का आयोजन करना। इसके साथ ही पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करना, पुस्तकालय, संग्रहालय, वाचनालय, स्मृति-कुटीर, कला-भवन और वसति-गृह आदि स्थापित करना और उनकी व्यवस्था करना।

संगठन

इन उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए बम्बई हिन्दी विद्यापीठ का अपना निजी संविधान है। इस संविधान के अनुसार विद्यापीठ का संचालन साधारण सभा, विश्वस्त मण्डल और कार्यकारिणी समिति द्वारा होता है। संविधान के अनुसार साधारण सभा, जो सर्वोच्च है, उसका संगठन प्रतिष्ठापक, संरक्षक, पोषक, आजीवन, साधारण, सक्रिय, प्रचारक और सम्मानित सदस्यों द्वारा होता है, तथा वह विद्यापीठ की समस्त गतिविधियों पर नियन्त्रण रखती है।

विश्वस्त-मण्डल के संगठन में साधारण सभा में निर्वाचित ७ सदस्य तथा विद्यापीठ के कुलपति, उप-कुलपति, कोषाध्यक्ष और प्रधान मन्त्री रहते हैं, जो विद्यापीठ के कोष का नियन्त्रण करते हैं। कार्यकारिणी समिति का चुनाव प्रति २ वर्ष के उपरान्त साधारण सभा द्वारा किया जाता है। यह समिति समस्त कार्यों को क्रियान्वित करने का अधिकार रखती है। इसके अतिरिक्त विद्यापीठ के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अर्थ, परीक्षा, शिक्षा, प्रकाशन, प्रसार और सांस्कृतिक उप-समितियाँ कार्य करती हैं।

प्रकाशन-विभाग

विद्यापीठ का निजी प्रकाशन-विभाग है, जिसमें अभी तक लगभग १०० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन प्रकाशित पुस्तकों में कई महत्वपूर्ण साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। विद्यापीठ की छपाई का कार्य अपने ही प्रेस में होता है। इसमें हिन्दी, अंग्रेज़ी तथा मराठी की छपाई का प्रबन्ध है। यह प्रेस आधुनिकतम मशीनों से सज्जित है, जिसमें १५ व्यक्ति कार्य करते हैं।

परीक्षा-विभाग

विद्यापीठ हिन्दी का प्रचार व प्रसार परीक्षाओं के माध्यम से करता है। इसके लिए ७ परीक्षाओं का संचालन किया जाता है। इन परीक्षाओं में प्रथम चार प्रवेश, प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा प्रचार परीक्षाएँ कहलाती हैं। भाषारत्न, साहित्य-सुधारक एवं साहित्य-रत्नाकर उपाधि परीक्षाएँ हैं। विद्यापीठ की उच्चतम परीक्षा साहित्य-रत्नाकर है तथा साहित्य-सुधाकर उच्चतर परीक्षा है, जिसको विभिन्न संस्थाओं तथा केन्द्रीय सरकार एवं राज्य-सरकारों ने बी० ए० के समकक्ष मान्यता प्रदान की है। विद्यापीठ की परीक्षाएँ विद्यापीठ द्वारा मान्य केन्द्रों द्वारा आयोजित होती हैं। विद्यापीठ की परीक्षाओं में प्रतिवर्ष अस्सी हज़ार छात्र-छात्राएँ सम्मिलित होती हैं। इन केन्द्रों का सीधा सम्बन्ध विद्यापीठ से है। निरीक्षण की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक तालुका में तालुका-प्रमुख की नियुक्ति विद्यापीठ करता है। विद्यापीठ के परीक्षा-केन्द्र दक्षिण में केरल से लेकर उत्तर में दार्जिलिंग तक तथा पूर्व में त्रिपुरा-मणिपुर से लेकर कच्छ तक में हैं। इस तरह विद्यापीठ का कार्य-क्षेत्र समस्त भारत है।

शिक्षा-विभाग

बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के शिक्षा-विभाग द्वारा उपरोक्त परीक्षाओं के साथ-ही-साथ परीक्षाओं के मानदण्ड को अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के होने पर भी और अधिक ऊँचा उठाने का प्रयास सतत होता रहा है। हिन्दी परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में हिन्दी प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य का परिचय समाविष्ट होना स्वाभाविक है, लेकिन साथ ही विद्यापीठ ने परम्परा से चली आती हुई क्षेत्रीय साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है।

सांस्कृतिक विभाग

विद्यापीठ की सांस्कृतिक समिति की ओर से विविध सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है और इस प्रकार विद्यापीठ हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का, अपने समय-समय पर होनेवाले आयोजनों के माध्यम से सामान्य लोक-

जन का, न केवल परिचय ही देता है वरन् उसे समग्र चित्र के रूप में प्रस्तुत भी करता है।

प्रचार-विभाग

विद्यापीठ की प्रचार-समिति द्वारा हस्त-पत्रकों, प्रचार दौरों तथा प्रचारक सम्मेलनों आदि कई प्रकारों से दूर-दूर के क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार किया जाता है। इससे जनता की राय को हिन्दी के लिए अधिक अनुकूल बनाने में सहायता प्राप्त हुई है। लोगों में हिन्दी के अभ्यास और उपयोग की रुचि बढ़ी है, जिसका श्रेय प्रचार-समिति को है।

पुस्तकालय

विद्यापीठ के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए दो पुस्तकालयों का प्रबन्ध है। इन पुस्तकालयों में लगभग ६ हजार पुस्तकें हैं। ये पुस्तकें सामान्य नियमों के साथ विद्यार्थियों के अतिरिक्त सामान्य पाठकों को भी दी जाती हैं।

मासिक पत्रिका

विद्यापीठ 'भारती' का प्रकाशन विगत बारह वर्षों से अपने मुखपत्र के रूप में कर रहा है। इसमें विद्यापीठ की प्रतिदिन की गतिविधियों तथा उसकी क्षेत्रीय गतिविधियों का विवरण रहता है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर भाषा-विषयक समस्याओं पर विद्यापीठ की ओर से अभिमत प्रकाशित होते रहते हैं। परीक्षा-सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी इस पत्रिका के द्वारा जनता को एवं उसके प्रचारक तथा केन्द्र-व्यवस्थापकों को दी जाती है। परीक्षार्थियों के लाभार्थ पाठ्यक्रम-सम्बन्धी लेख भी प्रकाशित होते रहते हैं। इस पत्रिका का सम्पादन सम्पादक-मंडल द्वारा होता है।

परीक्षाओं की मान्यताएँ

विद्यापीठ की परीक्षाओं को समय-समय पर मिली मान्यताओं का उल्लेख इस तरह है। भूतपूर्व बम्बई सरकार के पोलिटिकल एण्ड सर्विस डिपार्टमेण्ट ने हमारी हिन्दी-भाषा-रत्न परीक्षा को अपने कर्मचारियों के लिए निर्धारित बम्बई सरकार की 'हिन्दुस्थानी प्राथमिक' परीक्षाओं के समकक्ष मान्यता दी है।

उक्त सरकार के शिक्षा-विभाग ने भाषारत्न परीक्षा-उत्तीर्ण महानुभावों को अपनी 'हिन्दी-शिक्षक-सनद' परीक्षा में सम्मिलित होने की मान्यता दी है।

बम्बई कारपोरेशन के शिक्षा-विभाग ने भाषारत्न परीक्षा-उत्तीर्ण महानुभावों को अपनी पाठशालाओं में हिन्दी-शिक्षक स्वीकार करने को मान्यता दी है। इस मान्यता के अनुसार भाषारत्न-उत्तीर्ण महानुभाव म्युनिसिपल स्कूलों में शिक्षक बन सकते हैं।

भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय ने अपने पत्र संख्या एफ-१०-६। ६० एच २ दिनांक २-७-६२ के पत्र द्वारा विद्यापीठ की परीक्षाओं का मानदण्ड : हिन्दी-उत्तमा-मैट्रिक, हिन्दी-भाषारत्न—इण्टर और साहित्य-सुधाकर—बी० ए० के समकक्ष मान्य किया है।

राजस्थान सरकार के सामान्य प्रशासन-विभाग ने अपने ज्ञाप क्रमांक एफ ४ (१७) जी० ए० । ए। ६० दिनांक ३१-१०-६० में विद्यापीठ की परीक्षाओं का मानदण्ड भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानदण्ड के अनुरूप ही मान्य किया है।

राजस्थान के माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने अपनी १५ दिसम्बर १९६० की बैठक में विद्यापीठ की 'हिन्दी-भाषा-रत्न' परीक्षा उत्तीर्ण छात्र को केवल अंग्रेजी विषय लेकर अपनी 'हाईस्कूल' परीक्षा में सम्मिलित होने की मान्यता प्रदान की है।

मध्य प्रदेश शासन के शिक्षा-विभाग ने विद्यापीठ की उत्तमा, भाषारत्न और साहित्य-सुधाकर की परीक्षाओं को मैट्रिक, इंटर तथा बी० ए० के समकक्ष, जहाँ तक हिन्दी के स्तर का सम्बन्ध है, मान्यता प्रदान की है।

महाराष्ट्र और गुजरात सरकार ने विद्यापीठ की 'हिन्दी-भाषारत्न' और 'साहित्य सुधाकर' परीक्षाओं को क्रमशः 'जूनियर और सीनियर हिन्दी शिक्षक सनद' परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए मान्य किया है।

श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी महिला (कर्वे) विश्वविद्यालय ने अपने दि० १३ दिसम्बर १९५७ के पत्र

के द्वारा विद्यापीठ के 'हिन्दी-उत्तमा' उत्तीर्ण विद्यार्थी को अपनी बी० टी० परीक्षा के हिन्दी प्रश्न-पत्र से छूट प्रदान की है।

सभा-सम्मेलन

बम्बई हिन्दी विद्यापीठ विगत २५ वर्षों से हिन्दी भाषा की सेवा करता आ रहा है। समय-समय पर आयोजित समारोहों में आये हुए अतिथि विद्वानों एवं नेताओं के आशीर्वचन भी प्राप्त होते रहे हैं।

विद्यापीठ ने अभी तक १७ पदवीदान समारोहों का आयोजन किया है, जिनमें सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार, रणछोड़लाल ज्ञानी, आचार्य क्षितिमोहन सेन, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, न्यायमूर्ति भगवती, माननीय मंगलदास पकवासा, मान० दिनकरराव देसाई, डॉ० हरेकृष्ण मेहताब, डा० बा० केसकर, मान० रतुभाई अदाणी, मान० हितेन्द्र देसाई, मान० बालासाहेब देसाई, मान० शेषराव वानखेडे, मान० हरिभाऊ उपाध्याय दीक्षान्त भाषणकर्ता रहे हैं।

विद्यापीठ ने समय-समय पर प्रचार-सम्मेलनों का भी आयोजन किया है।

३० अक्तूबर १९६२ को अध्यक्षीय भाषण देते हुए भूतपूर्व केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री मान० डॉ० कालूलाल श्रीमाली ने प्रसन्न होते हुए कहा था कि बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के बढ़ते हुए कार्य-विस्तार को देखकर मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में सामजस्य स्थापित करने में विद्यापीठ के प्रचारक पूर्णत: प्रयत्नशील हैं।

अनेक कठिनाइयों एवं प्रतिकूलताओं के बावजूद भी विद्यापीठ ने अपनी जो आज प्रगति की है और राष्ट्र की प्रमुख हिन्दी प्रचार संस्थाओं में जो स्थान प्राप्त किया है उसका श्रेय महान् सृजकों के आशीर्वचन में है। विद्यापीठ शान्त एवं मौन भाव से, प्रचार के युग में रहता हुआ भी प्रचारों से दूर रहकर दिन-ब-दिन उन्नतिशील हो रहा है। आज भारत का ऐसा कोई भी कोना नहीं है, जहाँ पर विद्यापीठ के केन्द्रों द्वारा माँ-भारती का पावन-स्रोत न पहुँचाया जा रहा हो। विद्यापीठ के कार्यकर्ताओं ने हिन्दी सेवा अपना धर्म बना रखा है। हिन्दी का प्रचार और प्रसार ही विद्यापीठ का मुख्य कार्य है और यही भविष्य का मूल अभीष्ट है। 'विद्यापीठ के संविधान' के अनुसार इसके मूल उद्देश्यों में हिन्दी भाषा, साहित्य और देवनागरी लिपि का प्रसार और उसको समृद्ध करना है। हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा ज्ञान, विज्ञान और कला की शिक्षा देना और उसका विकास तथा प्रचार करना है तथा प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का समन्वय कर उसे प्रकाशित व प्रचारित कर विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृति के अध्ययन को सुगम बनाना है।

भावी योजना

(अ) साहित्यिक : १. आधुनिक शास्त्रीय साहित्य का हिन्दी माध्यम द्वारा प्रचार करना।
२. बृहत् सन्दर्भ-ग्रन्थालय और वाचनालय बनाना।
३. हिन्दी अनुसन्धान-केन्द्र का निर्माण।
४. प्रान्तीय साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करना।

(ब) शैक्षणिक : हिन्दी माध्यम द्वारा माध्यमिक शिक्षण की व्यवस्था करना।

(स) भवन निर्माण : संकल्पित-खर्च—रु० १०,००,०००।

बम्बई हिन्दी सभा

इस सभा की सर्वप्रथम स्थापना सन् १९४४ में 'कांग्रेस राष्ट्रभाषा (हिन्दुस्तानी) समिति' के नाम से हुई। इस संस्था का सन् १९५० तक हिन्दुस्तानी प्रचार का कार्य इस संस्था द्वारा सम्पन्न होता रहा। किन्तु सन् १९५० ई० में सरकार की राष्ट्रभाषा नीति को अपनाकर अपनी ५ स्वतन्त्र परीक्षाएँ चलाने का कार्य आरम्भ हुआ तथा सन् १९५१ ई० में इसके नाम में परिवर्तन होकर, बम्बई हिन्दी सभा पड़ा। इसके साथ ही यह संस्था कांग्रेस से पृथक् हो गई।

इस सभा के ७७ प्रचार-केन्द्र हैं। इसके अलावा कई

शालाओं में स्वतन्त्र रूप से हिन्दी सभा की परीक्षाओं के अध्ययन का कार्य किया जाता है। हिन्दी सभा के लगभग ५०० प्रचारक कार्यरत हैं। अभी तक ६० हज़ार विद्यार्थी इस सभा की परीक्षाओं से लाभान्वित हो चुके हैं। हिन्दी सभा ने केन्द्र सरकार को एक आयोजना प्रस्तुत की है, जिसमें हिन्दी सभा का निजी भवन, पुस्तकालय, प्रचार-प्रशिक्षा विद्यालय, सभागृह, शिक्षक सनद विद्यालय, राष्ट्रभाषा मुद्रणालय आदि का प्रबन्ध सम्मिलित तथा नियोजित है। आजकल श्री गिरिजाशरण उपाध्याय इसके प्रधान मन्त्री हैं।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्

सन् १९४७ ई० में ११ अप्रैल को बिहार विधानसभा में श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' द्वारा उपस्थित किये गए एक प्रस्ताव के अनुसार परिषद् की स्थापना हुई। किन्तु तीन वर्ष बाद, जुलाई सन् १९५० ई० में विधिवत् परिषद् का कार्यारम्भ हुआ। इसके कार्य-संचालन के लिए एक नियमावली बनी, जिसका परिवर्धित-संशोधित रूप २१ नवम्बर, सन् १९५० ई० से कार्यान्वित हुआ। उस नियमावली के अनुसार परिषद् के मुख्य उद्देश्य : हिन्दी के अभावों की पूर्ति करनेवाले ग्रन्थों का प्रकाशन, प्राचीन पाण्डुलिपियों का शोध और अनुशीलन, लोक-स हित्य का संग्रह और प्रकाशन, विशेषज्ञों की भाषण-माला का आयोजन, पुरस्कार प्रदान कर साहित्यिकों को सम्मानित और प्रोत्साहित करना, हिन्दी निबन्ध-प्रतियोगिता में सफल छात्र-छात्राओं को पुरस्कृत करना, महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिए साहित्यिक संस्थाओ को अनुदान, साहित्यिक शोध के लिए अनुसन्धान-पुस्तकालय संचालित करना, देश-विदेश की प्रमुख भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद द्वारा राष्ट्रभाषा-साहित्य को समृद्ध करना और विभिन्न विषयों के विशिष्ट विद्वानों को व्याख्यान के लिए आमन्त्रित करना तथा उनके भाषणों को सम्पादित कर ग्रन्थाकार प्रकाशित करना है।

परिषद् की विधिवत् स्थापना सन् १९४९ ई० में हुई। उन दिनों बिहार के स्कूलों और कालेजों में हिन्दी-साहित्य का पठन-पाठन तो हो रहा था, पर साहित्यिक शोध के साधन यथेष्ट न थे। अतः उस समय स्वतन्त्र अध्ययन और चिन्तन-मनन के लिए एक आदर्श ग्रन्थागार की अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव परिषद् ने किया और आज परिषद् के अनुसन्धान-पुस्तकालय से उस आवश्यकता की पूर्ति बहुलांश में हो रही है। इससे न केवल बिहार के ही प्राध्यापक और स्नातक लाभ उठा रहे हैं, बल्कि दूर-दूर से अन्य प्रान्तों के शोधकर्ता विद्वान् भी आकर यहाँ अनुसन्धान-कार्य करके सन्तुष्ट हो रहे हैं। यह बात सर्वमान्य है कि साहित्य के अभावों की पूर्ति करनेवाले प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन पर ही किसी भाषा की समृद्धि निर्भर है। अतः जैसे शोधकार्य की सुविधा के लिए परिषद्-पुस्तकालय में महत्त्वपूर्ण प्राचीन और नवीन ग्रन्थों के संग्रह का प्रयास किया गया, वैसे ही गवेषणापूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना भी कार्यान्वित की गई।

आरम्भ में परिषद् की रूपरेखा खड़ी करने के लिए हिन्दी के विद्वान् पं० छविनाथ पाण्डेय की सेवाएँ उपलब्ध हुईं। किन्तु विधिवत् कार्य-संचालन आचार्य शिवपूजन-सहायजी के संचालक के रूप में आने पर हुआ। इन्होंने परिषद् के प्रकाशनों का स्तर ऊँचा उठाया। परिषद् का कहना है कि हिन्दी के अभ्युदय और उत्थान में बिहार के सहयोग का स्थान अन्यतम रहा है। सभी जानते हैं कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक काशी के भारतेन्दु-मण्डल की 'चन्द्रिका' पाटलिपुत्र के उदयाचल से ही छिटकती रही। आधुनिक हिन्दी के गद्य-निर्माता पं० सदल मिश्र और उनसे भी सौ वर्ष पहले होनेवाले मध्यप्रदेश के दन्तवाड़ा नामक स्थान में प्राप्त हिन्दी-शिलालेख की पुरानी गद्य-शैली के लेखक पंडित भगवान मिश्र मैथिल इसी राज्य के निवासी थे। आधुनिक खड़ी बोली में कविता करने के आन्दोलन का सूत्रपात तथा नारा बुलन्द करनेवाले अयोध्याप्रसाद खत्री इसी राज्य का गौरव बढ़ा गए हैं। गद्य-पद्य-रचना, पत्रकारिता, पुस्तक-पत्रिका-सम्पादन आदि के क्षेत्र में भी साहित्य-साधना की अखण्ड परम्परा बिहार में आज तक अबाध गति से चली आ रही है।

बिहार की क्षेत्रीय भाषाओं में बिखरे लोक-साहित्य तथा बिहार के विभिन्न अंचलों में अप्रकाशित और उपेक्षित पड़ी हुई हस्तलिखित पोथियों के संकलन और संरक्षण की आवश्यकता भी अनुभूत हुई, जिसकी पूर्ति के लिए परिषद् के अन्तर्गत प्राचीन हस्तलिखित-ग्रन्थ शोध-विभाग और लोकभाषा अनुसन्धान-विभाग खोले गए। फलतः परिषद् ने अपने जन्मकाल से ही उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन और जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी साहित्यिक निधियों के संचयन का जो अनवरत प्रयत्न किया, वह आज प्रकाश्य रूप में साहित्य-संसार के सामने प्रत्यक्ष है।

इस परिषद् की स्थापना राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से आधुनिक भारतीय भाषाओं के सर्वजनोपयोगी साहित्य को हिन्दी-पाठकों के लिए सुलभ करने, भारत की राष्ट्र-भाषा और बिहार की राजभाषा हिन्दी में कला, विज्ञान एवं अन्यान्य विषयों के मौलिक तथा लोकोपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन और बिहार की प्रमुख बोलियों के साहित्य के अन्वेषण-अनुशीलन की समुचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से ही की गई थी। उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिषद् के तत्त्वावधान में जो विविध प्रकार के कार्य किये गए हैं, वे परिषद् के द्वारा प्रकाशित विभिन्न विषयों के ग्रन्थों तथा शोध-प्रबन्धों के रूप में प्रकट हैं। संसार की अन्य मुख्य-मुख्य भाषाओं और जनपदीय बोलियों के साहित्यिक एवं वैज्ञानिक ग्रन्थों के जो हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किये गए हैं, उनके लिए परिषद् को विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अधिकारी विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ है। परिषद् के कार्य-क्षेत्र से बाहर भी कितने ही ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनके लिए समय-समय पर परिषद् से अनुदान दिये गए हैं। साहित्यिक संस्थाओं को भी शोधोप-योगी ग्रन्थों एवं पत्रों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता दी गई है। परिषद् ने साहित्य-भण्डार को सम्पन्न करने का निरन्तर प्रयास प्रचुर परिमाण में किया है।

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व के लोक-साहित्य का संकलन तथा प्रकाशन भी परिषद् के संरक्षण में हुआ है। साहित्य-जगत् के मूर्द्धन्य विद्वानों के व्याख्यानों के आयोजन तथा उनके भाषणों का ग्रन्थाकार प्रकाशन इस परिषद् के विशेष उल्लेखनीय कार्य हैं। अपनी पोथियों एवं प्रकाशित ग्रन्थों की दुर्लभ प्रतियों का अन्वेषण तथा उनका विश्लेष-णात्मक अध्ययन और उस अध्ययन के परिणामस्वरूप उनका सविवरण प्रकाशन इसी परिषद् के अथक प्रयास से वर्तमान शोध-युग के अनुसन्धायकों के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुआ है। समस्त साहित्य-संसार में उन अलभ्य वस्तुओं के संग्रह तथा उनके विवरणों के प्रकाशन का यथोचित आदर भी हुआ है। परिषद् की राजेन्द्र-निधि द्वारा असमर्थ साहित्यकारों को आर्थिक सहायता दी जाती है। भारत की जनपदीय भाषाओं एवं उनके साहित्य के सम्बन्ध में उन भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वानों के निबन्ध-पाठ की योजना भी प्रतिवर्ष परिषद् के द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। अब तक भारत की विभिन्न ३२ भाषाओं पर जो शोधपूर्ण निबन्ध पढ़े गए हैं, वे प्रकाशित होकर हिन्दी-संसार में मुक्त-कण्ठ से प्रशंसित ग्रन्थों से भी अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

परिषद् के कार्यों के दो स्पष्ट विभाग हैं—पहला शोध या अनुसन्धान-विभाग, दूसरा प्रकाशन-विभाग। दोनों विभागों का नियन्ता निदेशक है। शोध-विभाग की अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ कार्य-संचालन के विचार से बनाई जा सकती हैं और उन सब शोधपूर्ण तथ्यों को जन-समाज के सम्मुख उपस्थित करना प्रकाशन-विभाग का कार्य है। अपने जीवन के लगभग एक दशक में ही परिषद् ने हिन्दी-जगत् की जो सेवाएँ की हैं, वे शतमुख प्रशंसनीय हैं। किसी एक संस्था ने इतनी कम अवधि में, इतनी अधिक सेवाएँ शायद ही की हों। इस गौरव का श्रेय मुख्यतः बिहार सरकार को है।

बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पटना

इस सम्मेलन की स्थापना श्री दर्शन केशरी पाण्डेय और श्री जगन्नाथप्रसाद की अध्यक्षता में सन् १९१९ में सोनपुर में हुई। इसके उपरान्त बिहार के समस्त नगरों में प्रतिवर्ष सम्मेलनों का आयोजन होता रहा, जिसमें वर्ष की प्रगति और विवरण के साथ आगामी योजनाओं पर विचार-विनिमय किया जाता रहा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की

परीक्षाओं के अतिरिक्त अन्य उपयोगी परीक्षाओं को कार्यान्वित किया गया। आज यह सम्मेलन अपनी समृद्ध अवस्था में अनेक विभागों में बँटा हुआ है।

बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शोध समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक 'साहित्य' का प्रकाशन नियमित रूप से होता रहा है। भारत के प्रमुख विश्वविद्यालय तथा शोध-प्रतिष्ठान इसके ग्राहक हैं और इसके अनेक पिछले अंक अप्राप्य हो चुके हैं। ४५ प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के साथ इसका विनिमय हुआ। साहित्य में समीक्षार्थ प्राप्त अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उक्त अवधि में सम्मेलन पुस्तकालय को प्राप्त हुईं।

इसके अनुशीलन विभाग में अनुसन्धित्सु अध्येताओं के अध्ययन-अनुसन्धान की व्यवस्था है। विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के छात्र तथा अन्य अनुसन्धानकर्ता, स्व० श्री नलिनविलोचन शर्मा के निर्देशन में, दुर्लभ मुद्रित तथा हस्तलिखित सामग्रियों का उपयोग करते रहे हैं।

सम्मेलन अपने पुस्तकालय को समृद्धतर बना रहा है। इसकी सफलता राज्य-सरकार तथा राज्य के साहित्यानुरागियों के यथेष्ट सहयोग पर निर्भर रही है। उक्त अवधि में वाचनालय का विस्तार किया गया है; और वाचनालय के पाठकों के लिए यथासम्भव समस्त प्रमुख दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाओं को नियमित रूप से सुलभ किया गया है।

सम्मेलन के कला-विभाग के अन्तर्गत संचालित कला-केन्द्र का क्रमिक विकास हुआ है। उक्त अवधि में छात्राएँ वाद्य-संगीत, कण्ठ-संगीत तथा विविध शैलियों के नृत्यों का प्रशिक्षण प्राप्त करती रही हैं। श्री विष्णु दिगम्बर संगीत-समिति (प्रयाग) की विविध परीक्षाओं में छात्राएँ उत्तीर्ण हुई हैं। इस सम्मेलन की चेष्टा है कि कला-केन्द्र में अन्य ललित-कलाओं का भी प्रशिक्षण प्रारम्भ किया जाए। इस दिशा में योजनाएँ शनैः-शनैः कार्यान्वित हो रही हैं।

सम्मेलन का प्रचार-विभाग बिहार सरकार तथा बिहार के विश्वविद्यालयों में हिन्दी को समुचित स्थान दिलाने के लिए जागरूक और सचेष्ट रहा है। सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के प्रयोग के सम्बन्ध में सरकार की उपेक्षा-नीति के कारण प्रगति मन्द है। सम्मेलन की ओर से शिष्टमण्डल समय-समय पर राज्यपाल, मुख्यमन्त्री तथा शिक्षा-मन्त्री से मिला तथा हिन्दी के सम्बन्ध में हिन्दी-प्रेमियों में जो प्रगाढ़ता है, उससे उन्हें परिचित कराया। प्रचार मन्त्री ने भी समय-समय पर राज्य-सरकार के अधिकारियों से मिलकरसरकारी कार्यालयों में हिन्दी के व्यवहार के विषय में सरकार की घोषित नीति के पालने से सम्बन्धित विधा की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया है।

जिला-सम्मेलन तथा राज्य की हिन्दी-सेवी संस्थाएँ बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रमुख स्तम्भ हैं। कुछ जिलों में जिला-सम्मेलनों के संगठन का अभाव था, जिनमें अधिकांशों को संगठित कर प्रान्तीय सम्मेलन से सम्बद्ध किया गया। शेष जिला-सम्मेलनों को भी शीघ्र ही संगठित कर सम्बद्ध करने का प्रयास जारी है। अब तक की अवधि में, राज्य के अनेक पुस्तकालय तथा हिन्दी-सेवी संस्थाओं को सम्मेलन से सम्बद्ध किया गया है। सम्मेलन की आर्थिक स्थिति, आर्थिक साधन सीमित होने पर भी सुदृढ़ रही है।

भारतीय विद्यापीठ, बम्बई

सन् १९४२ के क्रान्तिकारी वातावरण से प्रभावित होकर कुछ नवयुवकों ने ज्ञानलता मण्डल की स्थापना की। उनका लक्ष्य था, राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के अनुसार कार्य करना। राष्ट्रभाषा हिन्दी की शिक्षा से संस्था का कार्य शुरू हुआ। अपने वर्गों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की परीक्षा लेने के लिए ज्ञानलता मण्डल ने ६ फरवरी १९४६ के दिन 'भारतीय विद्यापीठ' की स्थापना की। भारतीय तथा विदेशी भाषाओं, शास्त्रों, कलाओं तथा संस्कृतियों की परीक्षाओं का आयोजन करना विद्यापीठ का उद्देश्य निश्चित किया गया।

भारतीय विद्यापीठ द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, कन्नड़ तथा अंग्रेज़ी भाषाओं की परीक्षाएँ ली जाती हैं। इनमें चार प्राथमिक स्तर की परीक्षाएँ हैं तथा अन्तिम परीक्षा उपाधि परीक्षा है। इनके अलावा

'आचार्य' तथा 'शिक्षारत्न' ये दो उपाधि-परीक्षाएँ भी हिन्दी में ली जाती हैं। आचार्य तथा शिक्षारत्न परीक्षाएँ साल में एक बार अर्थात् साधारणतया सितम्बर महीने में होती हैं। अन्य सभी परीक्षाएँ साल में दो बार हुआ करती हैं। अंग्रेजी भाषा की परीक्षाओं में श्रेणीबद्धता है। विद्यार्थी बिलकुल प्रारम्भ से उस भाषा का अध्ययन शुरू करके तीन साल में उपाधि-परीक्षा उत्तीर्ण करता है। इस परीक्षा का उत्तीर्ण विद्यार्थी साहित्य, कलाओं तथा शास्त्रों का अध्ययन अंग्रेजी के माध्यम से करने में समर्थ होता है।

आचार्य परीक्षा महाराष्ट्र और गुजरात राज्य, पंजाब विश्वविद्यालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग आदि संस्थाओं द्वारा मान्य है।

भारतीय विद्यापीठ के परीक्षा-केन्द्र आन्ध्र, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पंजाब, बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि राज्यों में हैं। इन परीक्षा-केन्द्रों द्वारा हर साल लगभग ५ हजार परीक्षार्थी विद्यापीठ की परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। संस्थाओं, स्कूलों और कालिजों को विद्यापीठ के परीक्षा-केन्द्र दिये जाते हैं। परीक्षा-केन्द्रों के निरीक्षणार्थ समय-समय पर विद्यापीठ के प्रतिनिधि जाते हैं।

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पुणें

स्व० ग० र० वैशम्पायन-गुरुजी की प्रेरणा तथा प्रयत्नों से दिनांक २१ जून १९३४ को लोकमान्य तिलक स्मारक मन्दिर, पुणें में महात्मा गांधी के शुभाशीर्वाद से 'हिन्दी प्रचार संघ, पुणें' की स्थापना हुई।

इस संस्था के द्वारा आरम्भ में जबकि 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' की स्थापना नहीं हुई थी, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी तैयार किये जाते थे। बाद में सन् १९३७ से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाओं की पढ़ाई होने लगी। परीक्षोपयोगी व्याख्यान-माला, चुनाव-परीक्षा आदि के द्वारा परीक्षार्थियों का मार्गदर्शन किया जाता था। संघ के निष्ठावान एवं सेवा-भावी कार्यकर्ताओं द्वारा निःशुल्क पढ़ाई का कार्य आरम्भ से अब तक होता रहा है और यही 'हिन्दी प्रचार संघ, पुणें' की विशेषता रही है।

श्री वि० भा० देशमुख तथा वैशम्पायनजी ने सन् १९३८ में आचार्यश्री काका कालेलकरजी की अध्यक्षता में पुणें में महाराष्ट्र के हिन्दी-प्रचारकों की एक परिषद् आयोजित की। उक्त परिषद् में, महाराष्ट्र में हिन्दी प्रचार संगठन की योजना बनाई गई और 'अखिल महाराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति' का संगठन किया गया। प्रचार-कार्य की सुविधा की दृष्टि से उप-समितियाँ भी बनाई गईं और प्रचार-क्षेत्र का विभाजन किया गया।

सन् १९४० में 'अखिल महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' का नाम 'महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' रखा गया। अनन्तर, महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा-प्रचार के संचालन का भार तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणें को सौंपा गया। विद्यापीठ ने राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य के लिए एक उप-समिति बनाई। लगभग तीन वर्ष तक 'महाराष्ट्र भाषा प्रचार समिति', तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ की गोद में फलती-फूलती रही। किन्तु कुछ समय के उपरान्त इस समिति के कार्यकारी-मण्डल ने नवम्बर १९४५ में अहमदनगर ज़िले के बेलापुर ग्राम में एक प्रस्ताव द्वारा अपने मूल उद्देश्य की घोषणा की, जो इस प्रकार था : "भारतवर्ष में अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार के लिए जिस एक भाषा का उपयोग सदियों से आमतौर पर होता आ रहा है, वह हमारी राष्ट्र-भाषा है। हमें इस भाषा का महाराष्ट्र में प्रचार करना है।"

बम्बई शासन के शिक्षा-विभाग द्वारा हिन्दी-अध्यापकों के प्रशिक्षणार्थ हिन्दी शिक्षक सनद नामक परीक्षा शुरू की गई थी। उक्त परीक्षा के लिए प्रशिक्षणार्थी तैयार करने के उद्देश्य से समिति की ओर से सन् १९४७ में शासकीय मान्यता प्राप्त शिक्षक सनद विद्यालय आरम्भ किया गया, जो आज भी चल रहा है। इस विद्यालय में जूनियर तथा सीनियर हिन्दी शिक्षक सनद परीक्षाओं की पढ़ाई की व्यवस्था की जाती है।

महाराष्ट्र की जिला राष्ट्रभाषा प्रचार समितियों का संगठन किया गया और प्रत्येक जिले के प्रचारक प्रतिनिधि और केन्द्र-व्यवस्थापक प्रतिनिधियों की व्यापक सर्वसाधारण

परीक्षाओं में बैठ चुके हैं।

सभा द्वारा तीन प्राथमिक तथा माध्यमिक पाठशालाएँ चलाई जाती हैं। हिन्दी-भाषी तथा अहिन्दी-भाषी विद्यार्थियों को राष्ट्रभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की सुविधा के लिए इन पाठशालाओं का संचालन किया जाता है, तथा महाराष्ट्र राज्य द्वारा संचालित हिन्दी शिक्षक सनद (जूनियर और सीनियर) परीक्षाओं के लिए पढ़ाई का प्रवन्ध भी किया जाता है। ज़िला स्तर पर तथा कस्बों और गाँवों में भी विद्यालय चलाये जाते हैं, जिनमें सभा की सभी परीक्षाओं, अ० भा० हिन्दी परिषद, आगरा की पारंगत परीक्षा तथा विद्यापीठों की पदवी परीक्षाओं के लिए विद्यार्थियों का मार्गदर्शन किया जाता है।

सभा के अधिकृत शिक्षकों और प्रचारकों के हिन्दी ज्ञान का स्तर ऊँचा उठाने के लिए ग्रीष्मकालीन छुट्टियों में शहरों और कस्बों में एक महीने के वर्ग चलाये जाते हैं। हिन्दी के अध्यापन की प्रणाली तथा उच्च परीक्षाओं के अध्ययन के बारे में इन वर्गों में शिक्षकों को आवश्यक सूचनाएँ दी जाती हैं। छुट्टियों में तीन-चार दिन के लिए शिक्षक-शिविर चलाये जाते हैं। व्याकरण, सुलेखन, उच्चारण, मौखिक परीक्षा, पाठ्य-पुस्तकों के कठिन अंश आदि के बारे में शिक्षकों की शंकाओं का शिविरों में समाधान किया जाता है। हिन्दी अध्यापन के बारे में परिसंवाद होते हैं। प्रतिवर्ष प्रमुख शहरों में विद्यार्थियों के मार्गदर्शन के लिए व्याख्यानमालाएँ भी आयोजित की जाती हैं।

सभा के अधिकृत शिक्षकों, प्रचारकों तथा अन्य कार्यकर्ताओं की संख्या तीन हज़ार से अधिक है। प्रायः सारे मराठी-भाषी प्रदेश में वे हिन्दी के अध्यापन तथा प्रचार का काम करते हैं। सभा की स्थापना से लेकर आज तक लगभग तीस लाख स्त्री-पुरुषों को सभा के शिक्षकों ने हिन्दी सिखाई। सभा के कार्यकर्ताओं का सम्मेलन केन्द्रीय कार्यालय या अन्य पूर्व-नियोजित स्थान में प्रतिवर्ष होता है। हिन्दी साहित्य के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन तथा विचार-विनिमय के लिए शिक्षक तथा विद्यार्थी-गण समय-समय पर एकत्रित होते हैं। प्रतिवर्ष ज़िला तथा प्रादेशिक स्तर पर वाक्-प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं, और सफल उम्मीदवारों को पुरस्कार दिये जाते हैं। हिन्दी में मौलिक लेखन तथा मराठी से हिन्दी में अनुवाद की योग्यता बढ़ाने के लिए मासिक 'राष्ट्रवाणी' के द्वारा समय-समय पर प्रतियोगिताओं का आयोजन होता है।

सभा की विभिन्न परीक्षाओं के लिए तीस तथा बम्बई राज्य की माध्यमिक शालाओं के लिए सोलह पाठ्य-पुस्तकें सभा द्वारा प्रकाशित की गई हैं तथा उपन्यास, नाटक, कहानी, यात्रा-वर्णन, प्रौढ़ नव-साक्षरों एवं बच्चों के साहित्य आदि से सम्बन्धित बीस लोकप्रिय मराठी पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किये जा चुके हैं। 'राष्ट्रवाणी' मासिक पत्र गत तेरह वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित हो रहा है। सभी भारतीय भाषाओं के लेखकों के लिए उसका मंच राष्ट्रभाषा के माध्यम से खुला रखा गया है।

सभा के केन्द्रीय कार्यालय में स्थित राष्ट्रभाषा मुद्रणालय में हिन्दी, मराठी, अंग्रेज़ी के मुद्रण का काम कलात्मक ढंग से किया जाता है। सब प्रकार से सुसज्जित मुद्रणालयों में उसने अपना विशेष स्थान हिन्दी के मुद्रण की क्षमता के लिए बना लिया है। सभा के प्रायः सभी मुद्रण-कार्य इस मुद्रणालय में ही किये जाते हैं। सभा के केन्द्रीय कार्यालय का हिन्दी पुस्तक भंडार एक अभिन्न अंग है। सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त देश-भर के प्रकाशकों की हिन्दी पुस्तकों की बिक्री का प्रबन्ध भंडार द्वारा किया जाता है।

समस्त मराठी-भाषी प्रदेशों में स्थान-स्थान पर हिन्दी ग्रंथालय चलाने की सभा की योजना का उद्घाटन माननीय राष्ट्रपतिजी के शुभ हाथों १७ नवम्बर, १९५४ को किया गया। योजना के अल्पारम्भ के तौर पर पूना में केन्द्रीय ग्रन्थालय, विभागीय कार्यालयों में विभागीय ग्रंथालय, ज़िला ग्रन्थालय, नगर ग्रन्थालय तथा ग्राम ग्रन्थालय शुरू किये गए हैं। ग्रन्थालयों की कुल संख्या सौ से अधिक है तथा उनमें संग्रहीत पुस्तकों की संख्या इस समय बीस हज़ार है।

मैसूर रियासत हिन्दी-प्रचार समिति

सरकार से मान्यता-प्राप्त १९३९ में स्थापित यह रजिस्टर्ड संस्था मैसूर राज्य-भर में हिन्दी का प्रचार कर रही है। बेंतोर नगर के जयनगर में स्थित अपने निजी भवन में इसका केन्द्रीय कार्यालय है, जहाँ पुस्तकालय, वाचनालय, विद्यालय आदि चलाए जा रहे हैं। इसकी तरफ से तीन प्रारम्भिक तथा दो उच्च परीक्षाएँ ली जाती हैं, जिनमें सालाना दस हज़ार तक विद्यार्थी भाग लेते हैं। उच्च परीक्षाओं को राज्य सरकार की ओर से मान्यता प्राप्त है। इसकी उपाधि-परीक्षा राज-भाषा विद्वान् है और उसमें उत्तीर्ण लोग राज्य के हाईस्कूलों में हिन्दी पंडित बन सकते हैं। यह मैसूर राज्य की सबसे पुरानी तथा प्रतिष्ठित संस्था है। आजकल इसके सचिव श्री छोटुभाई देसाई हैं।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

सन् १९३६ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन नागपुर में हुआ। इस अवसर पर गांधीजी की प्रेरणा से एक प्रस्ताव द्वारा १५ सदस्यों की हिन्दी प्रचार समिति का संगठन किया गया। बाद में सन् १९३८ में श्री काका साहब कालेलकर समिति के उपाध्यक्ष बनाये गए तथा इस समिति का कार्यालय वर्धा में ही रखा गया। गांधीजी उन दिनों वर्धा के समीप सेवा-ग्राम में रहते थे। इससे समिति का यह सौभाग्य रहा कि प्रारम्भ के वर्षों में गांधीजी का इसे मार्गदर्शन मिलता रहा। आगे चलकर इस समिति का नाम हिन्दी प्रचार समिति से बदलकर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति किया गया। तब से यह समिति राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के नाम से कार्य कर रही है।

समिति का कार्य सुचारु रूप से चले, इस दृष्टि से महात्मा गांधी ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के अनुभवी कार्यकर्ता मो० सत्यनारायण तथा पं० हरिहर शर्मा को दक्षिण भारत से वर्धा बुला लिया। सत्यनारायणजी मन्त्री बनाये गए, तथा हरिहरजी को परीक्षा-मन्त्री बनाकर उन्हें परीक्षा-कार्य सौंपा गया। आचार्य काका साहब कालेलकर ने भारत के विभिन्न हिन्दीतर प्रदेशों में प्रचारार्थ दौरा किया और जगह-जगह हिन्दी प्रचार के लिए समितियाँ संगठित कर उत्तर भारत के हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी प्रचार के कार्य को संगठित किया। प्रारम्भिक काल में सत्यनारायणजी ने अपने दक्षिण भारत के अनुभवों के आधार पर समिति को सुदृढ़ भूमिका पर रखा। बाद में मद्रास के कार्य को सँभालने के लिए मद्रास चले गए। उनके पश्चात् श्रीमन्नारायणजी के दो-तीन वर्षों के प्रयत्नों के फलस्वरूप समिति का कार्य भारत के गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र, उड़ीसा, असम, बंगाल, सिन्ध, विदर्भ-नागपुर आदि हिन्दीतर प्रदेशों में सुचारु रूप से चलने लगा तथा इन प्रदेशों में प्रान्तीय संगठन भी कायम हुए। मणिपुर, हैदराबाद, राजस्थान, मध्य प्रदेश, पंजाब, कश्मीर, मराठवाडा, कर्नाटक आदि प्रदेशों में भी कार्य काफ़ी बढ़ा तथा वहाँ प्रचार करने को समितियों का भी गठन हुआ। बाद में समिति का कार्य विदेशों में भी इंग्लैण्ड, सूडान, अदन, जापान, जावा, सुमात्रा, बर्मा, सीलोन, दक्षिण अफ्रीका, पूर्व अफ्रीका आदि देशों में फैल गया।

इनमें से कुछ प्रान्तों में पहले से ही राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर हिन्दी-प्रचार का कार्य हो रहा था। उनमें उड़ीसा, महाराष्ट्र, बम्बई, गुजरात आदि मुख्य हैं। महाराष्ट्र में हिन्दी-प्रचार संघ, पूना कार्य कर रहा था। इसके कर्मठ संगठक, श्री ग० रा० वैशम्पायन का नाम उल्लेखनीय है। बम्बई में हिन्दी-प्रचार सभा, बम्बई कार्य कर रही थी। इसके कर्मठ कार्यकर्ता श्री रा० शंकरन्, श्री भा० ग० जोगलेकर तथा श्री कान्तिलाल जोशी रहे। गुजरात में गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद ने कार्य किया। नवजीवन ट्रस्ट ने भी इसमें सहयोग दिया। उस समय श्री मोहनलाल भट्ट इस कार्य को सँभालते थे। अहमदाबाद में सन् १९२८ में हिन्दी-प्रचार के लिए श्री जेठालाल जोशी द्वारा विशेष प्रयत्न किया गया। उस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन की

परीक्षाओं का केन्द्र शुरू किया गया । श्री जेठालाल जोशी-केन्द्र-व्यवस्थापक बने । उन्होंने इन परीक्षाओं के लिए कक्षाओं का भी प्रबन्ध किया । सूरत में राष्ट्रभाषा प्रचारक मंडल कार्य कर रहा था, जहाँ परमेष्ठीदास जैन हिन्दी-प्रचार-कार्य को बल दे रहे थे । पूर्वांचल में सीताराम सेक्सरिया के प्रयत्नों से पूर्व भारत हिन्दी-प्रचार सभा कलकत्ता में कार्य कर रही थी, उड़ीसा में अनसूयाप्रसाद पाठक के प्रयत्नों से कार्य आरम्भ हुआ और असम में बाबा राघवदास हिन्दी-प्रचार करने के लिए गये और वहाँ उन्होंने कार्य आरम्भ किया ।

इस प्रकार सारे देश में हिन्दी-प्रचार का कार्य राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर जगह-जगह हो रहा था । वर्धा में हिन्दी समिति की स्थापना हो जाने से ये सभी बिखरे हुए कार्य उससे सम्बन्धित हुए और परिणामस्वरूप अखिल भारतीय स्तर पर सारे कार्य सुचारु रूप से नियोजित हुए । करीब-करीब सभी प्रान्तों में प्रान्तीय समितियों का संगठन हो गया था । स्थानीय कार्यकर्ता ही हिन्दी सीखकर हिन्दी के प्रचार में अपना सहयोग दे रहे थे । दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा की तरह यहाँ भी सभी प्रदेशों में हिन्दीतर-भाषी लोग ही विशेषतः हिन्दी-प्रचार के कार्य में संलग्न हुए ।

समिति का कार्य लगभग भारत के सभी हिन्दीतर प्रदेशों में फैल गया । उसे स्थानीय जनता का एवं वहाँ के प्रतिष्ठित समाजसेवियों एवं जननायकों का बल मिला । फलतः समिति का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया । प्रान्तीय समितियों के वर्तमान पदाधिकारियों का उल्लेख इस तरह है :

१. दिल्ली प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, दिल्ली के अध्यक्ष श्री के० सी० रेड्डी, उत्पादन-मंत्री, भारत सरकार हैं तथा मंत्री-संचालिका श्रीमती राजलक्ष्मी राघवन हैं ।
२. गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, अहमदाबाद के अध्यक्ष माननीय श्री कन्हैयालाल मा० मुंशी, कुलपति, भारतीय विद्याभवन हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री जेठालाल जोशी हैं ।
३. महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पूना के अध्यक्ष माननीय श्री यशवंतराव चौहाण, प्रतिरक्षा मंत्री, भारत सरकार हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री पं० मु० डांगरे हैं ।
४. बम्बई प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, बम्बई के अध्यक्ष श्री स० ल० सिलम, भूतपूर्व अध्यक्ष महाराष्ट्र विधान सभा हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री कान्तीलाल जोशी, एम० ए० हैं ।
५. विदर्भ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, नागपुर के अध्यक्ष डॉ० सर भवानीशंकर नियोगी, भूतपूर्व जस्टिस, नागपुर हाईकोर्ट हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री हृषीकेश शर्मा हैं ।
६. पश्चिम बंग राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, कलकत्ता के सभापति डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, चेयरमेन, वेस्ट बंगाल लेजिस्लेटिव कौंसिल हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री रेवतीरंजन सिन्हा हैं ।
७. मणिपुर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, इम्फाल के अध्यक्ष श्री कालाचान्द सिंह शास्त्री हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री छत्रध्वज शर्मा हैं ।
८. असम राज्य राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, शिलांग के अध्यक्ष श्री नरेन्द्रनाथ शर्मा, एम० एल० ए० देरगाँव हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री जीतेन्द्रचन्द्र चौधरी हैं ।
९. उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री स्वामी विचित्रानन्द दास हैं, तथा संचालक श्री अनसूयाप्रसाद पाठक हैं ।
१०. सिंध-राजस्थान राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, जयपुर के अध्यक्ष श्री डॉ० सोमनाथ गुप्त हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री दौलतराम शर्मा हैं ।
११. मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल के अध्यक्ष श्री महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंहजी हैं, तथा मंत्री-संचालक श्री बैजनाथप्रसाद दुबे हैं ।
१२. कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हुबली के अध्यक्ष श्री एच० बी० शाह, एल-एल० बी०, एम० एल० ए० हैं, तथा संचालक श्री वासुदेव चिन्तामणि बस्ती हैं ।
१३. मराठवाड़ा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, औरंगाबाद के अध्यक्ष श्री भगवन्तराव गाढ़े, भू०पू० वन और ग्राम-

विकास मंत्री, महाराष्ट्र राज्य हैं, तथा संचालक श्री विष्णुदत्त शर्मा हैं।

१४. हिन्दी-प्रचार सभा, हैदराबाद के अध्यक्ष श्री अच्युत रेड्डी हैं, तथा संचालक श्री गोपालराव अपसिंगीकर हैं।

१५. जम्मू-काश्मीर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, श्रीनगर के अध्यक्ष श्री जगद्धरजी जाडू हैं, तथा संचालक श्री शम्भुनाथजी पारिभू हैं।

१६. पंजाब प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, अबोहर के संचालक श्री दौलतराम शर्मा हैं; और

१७. बेलगाँव ज़िला राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, बेलगाँव के ज़िला-संगठक श्री द० पा० साटम हैं।

इस समिति का कार्य विदेशों में भी होता है। इस सम्बन्ध में इस समिति की नीति यह रही है कि समिति स्वयं अपनी ओर से विदेशों में कार्य करने के लिए प्रतिनिधि नहीं भेजती।

इस समिति के कथनानुसार सारे पूर्वांचल में पश्चिम की तरह विकास नहीं हो पाया है। इसी प्रकार अन्दमान-निकोबार, नागालैण्ड, गोरा तथा जयन्तिया हिल्स जैसे क्षेत्र में कार्य को सुगठित रूप देना शेष और अपर्याप्त है। परन्तु विदेशों के हमारे प्रवासी भाई जहाँ अपने उत्साह से कार्य आरम्भ करते हैं, वहाँ यह समिति उनके कार्यों को मान्यता देती है और सहायता भी करती है। अफ्रीका में प्रचार व प्रसार कार्य अच्छा हुआ है और वहाँ से परीक्षार्थी संख्या भी अच्छी रहती है, इसलिए इस समिति की ओर से जिस प्रकार अन्य प्रदेशीय समितियों को सहायता दी जाती है उसी अनुपात में वहाँ भी सहायता दी जा रही है। विदेशों में लंका, वर्मा, अफ्रीका, स्याम, जावा, सुमात्रा, मारिशस, अदन, सूडान तथा इंगलैण्ड आदि स्थानों में इस समिति के केन्द्र हैं और समिति के कार्यकर्ता वहाँ राष्ट्र-भाषा-प्रचार का कार्य कर रहे हैं तथा वहाँ से हज़ारों की संख्या में विद्यार्थी तैयार करते हैं। वहाँ कई स्थानों पर तो समितियों का संगठन भी हो गया है जिनमें नियमित रूप से विद्यालय तथा पुस्तकालय आदि प्रवृत्तियाँ चल रही हैं।

समिति ने अपनी स्थापना के पश्चात् सर्वप्रथम इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि वर्धा में राष्ट्रभाषा के प्रचारक तैयार किये जाएँ। इस उद्देश्य से उसने सन् १९३७ में 'राष्ट्रभाषा अध्यापन मन्दिर' की स्थापना की, जिसका उद्घाटन पूज्य महात्मा गांधी के हाथों १९३७ में हुआ। इस उद्घाटन-समारोह में उन्होंने कहा था : "राजेन्द्र बाबू ने यह कहकर कि राष्ट्रभाषा-प्रचारकों को चरित्रवान होना चाहिए, मेरा काम हलका कर दिया है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि जो प्रचारक साहित्यिक योग्यता नहीं रखते उनसे यह काम नहीं हो सकता। परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिनमें चारित्रिक योग्यता का अभाव होगा, वे किसी काम के नहीं।

"...मै उनके देवनागरी या फ़ारसी लिपि अथवा हिन्दी व्याकरण के अज्ञान को बरदाश्त कर लूँगा, किन्तु उनकी चारित्रिक कमी को एक क्षण के लिए भी बरदाश्त नहीं कर सकता। हमें यहाँ ऐसे आदमियों की ज़रूरत नहीं।

"...कोरे पाण्डित्य से विदेशी शक्तियों का हम सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर सकते। यह काम विद्वानों का नहीं है। फकीरों का काम है—जिनका चरित्र बिलकुल शुद्ध हो और जो स्वार्थ-साधन से परे हों।

"...इसी तरह धन से भी हमको ज्यादा मदद नहीं मिलेगी। अकेले धन से क्या हो सकता है? रुपयों से भी अधिक हम चरित्र को प्रधानता देते हैं।

"...आज सुबह आप लोगों से यही कहने आया हूँ कि आप चरित्रवान बनकर इस काम में मदद दें।"

इस अध्यापन मन्दिर का समिति के जीवन में विशेष महत्त्व है। यहाँ जो छात्र पढ़ने आते हैं, उन्हें विशुद्ध राष्ट्रीय वातावरण मिलता है। यहाँ से शिक्षित-दीक्षित होकर जो कार्यकर्ता अपने प्रदेश में वापस गए, वे राष्ट्र-भाषा के मूल में रही राष्ट्रीय भावना को लक्ष्य में रखकर हिन्दी-प्रचार के कार्य में संलग्न हुए।

समिति की भाषा-नीति हमेशा से उदार रही है। आरम्भ से ही जिसे 'सबकी बोली' कहा है उस बोली का (भाषा का) ही वह व्यवहार करती आई है। उर्दू, अंग्रेज़ी तथा अन्य किसी भी भाषा के शब्द क्यों न हों, यदि वे हिन्दी में प्रचलित हो गए हैं तो उन शब्दों का व्यवहार

करने में समिति को कोई हिचक नहीं रही। सरल भाषा में लिखना या बोलना समिति की दृष्टि में बहुत बड़ा गुण या कला है। किन्तु वस्तुतः विषय की अभिव्यक्ति के लिए जो भाषा स्वाभाविक होगी उसका उपयोग ही व्यावहारिक बात होगी। यह समिति उर्दू को हिन्दी की एक शैली ही मानती है, इसलिए उसकी परीक्षाओं में 'गुलदस्ता'-जैसी पुस्तकों को स्थान है। सन् १९४९ में संविधान में जब राजभाषा हिन्दी के सम्बन्ध में चर्चा हुई तो यह निर्णय किया गया कि नागरी लिपि में लिखी हिन्दी संविधान में स्वीकृत केन्द्र की राजभाषा होगी और वह मुख्यतः संस्कृत से तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्य भाषाओं से शब्दों को आत्मसात् कर अपना विकास करेगी और उसमें हमारी सामाजिक संस्कृति का प्रतिबिम्ब होगा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की यह घोषणा है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का रूप दिन-दिन इस रीति से विकसित हो कि उसके निर्माण में देश की समस्त भाषाओं का हाथ हो और वह सच्चे अर्थ में भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करे। भाषा का यह स्वरूप किसी अप्राकृतिक रूप से पैदा नहीं किया जा सकता। जो हिन्दी पुराने समय से देश-भर में फैली हुई है उसी के क्रमिक विकास से हिन्दी का भावी रूप निखरेगा। राष्ट्रीय हिन्दी और प्रान्तीय हिन्दी में जो भेद दिखाने का यत्न किया गया है वह इस समिति की दृष्टि में सर्वथा निर्मूल है और इसमें हिन्दी के विकास को कोई लाभ नहीं हो सकता। स्थानीय बोलियों के अतिरिक्त हिन्दी का कोई रूप राष्ट्रीय हिन्दी से भिन्न नहीं है। साहित्यिक और सांस्कृतिक हिन्दी एक है, वही सब प्रदेशों में प्रचलित है और उसी के द्वारा राष्ट्रीय कार्य सम्पन्न हो सकेगा।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का संगठन हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रतिनिधियों तथा समिति से सम्बद्ध प्रान्तीय समिति के प्रतिनिधियों से होता है। कुल ३५ सदस्यों की यह समिति है। इनमें से १९ प्रतिनिधि प्रान्तों के प्रतिनिधि हैं और शेष १६ सदस्य, जिनमें से ७ सम्मेलन के पदाधिकारी पदेन समिति में आते हैं और बाकी के ९ सदस्य सम्मेलन की स्थायी समिति द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। समिति अपने मन्त्री का चुनाव प्रति तीन वर्षों के लिए करती है तथा भाषा-सम्बन्धी रीति-नीति के सम्बन्ध में इसे पूरी स्वतन्त्रता है। समिति को अपना बजट बनाने तथा उसके अनुसार व्यय करने का सम्पूर्ण अधिकार है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक समिति के रूप में यह कार्य कर रही है, पर इसे जो अधिकार प्राप्त हैं, उनके अनुसार यह पूर्णतः अपने-आपमें स्वतन्त्र है। यह इसकी वैधानिक स्थिति है। प्रान्तों के जो १९ प्रतिनिधि लिये जाते हैं, वे इस तरह हैं: गुजरात ३, महाराष्ट्र ३, बम्बई २, विदर्भ-नागपुर २, सिन्ध-राजस्थान २, बंगाल २, उत्कल २, असम १, हैदराबाद १, अन्य प्रान्त १। समिति की अपनी परीक्षा समिति है, जिसमें २१ सदस्य होते हैं। इनमें से १५ सदस्य जिन प्रान्तों में कार्य होता है, वहाँ से लिये जाते हैं।

समिति का कार्य परीक्षा-विभाग, प्रकाशन-विभाग, कार्यालय-विभाग (प्रचार, भवन, राष्ट्रभाषा-राष्ट्रभारती), प्रेस-विभाग, राष्ट्रभाषा महाविद्यालय, अर्थ-विभाग आदि में बँटा हुआ है। इन विभागों का कार्य सँभालने के लिए प्रत्येक विभाग का एक अधिकारी है तथा उसके सहायक कार्यकर्ता भी हैं। समिति में चार अधिकारी तथा १०४ कर्मचारी कार्य कर रहे हैं। राष्ट्रभाषा प्रेस में क़रीब ४० व्यक्ति कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त समिति के परीक्षा-मन्त्री, सहायक-मन्त्री, कार्यालय-सचिव, ये तीन वैतनिक पदाधिकारी भी हैं। ये समितियों का संगठन, संचालन, पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकों एवं परीक्षा-सम्बन्धी समस्त नियमों, परीक्षा-शुल्क आदि का निर्धारण करते हैं। उसके द्वारा आज १३ परीक्षाएँ ली जाती हैं, जिनमें अभी तक ३० लाख परीक्षार्थी भाग ले चुके हैं। इन परीक्षार्थियों में २ लाख उपाधि-प्राप्त छात्र भी हैं। इस समिति के लगभग ४ हज़ार केन्द्र हैं जिनमें ८ हज़ार प्रचारक हिन्दी के प्रचार व प्रसार में रत हैं।

हिन्दीतर प्रान्तों में विभिन्न स्थानों पर राष्ट्रभाषा-शिक्षकों एवं प्रमाणित प्रचारकों द्वारा पढ़ाई का प्रबन्ध होता है। उन सभी वर्गों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। जहाँ प्रारम्भिक से परिचय तक के वर्गों की व्यवस्था होती है उन्हें 'राष्ट्रभाषा-शिक्षण' केन्द्र, जहाँ कोविद तक की पढ़ाई की व्यवस्था होती है उन्हें 'राष्ट्रभाषा

विद्यालय' और जहाँ रत्न तक की पढ़ाई की व्यवस्था होती है उन्हें 'राष्ट्रभाषा महाविद्यालय' माना गया है। इसके अलावा प्रान्तों को अपनी-अपनी ओर से एक संगठित और नियमित महाविद्यालय को चलाने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। इस समिति के अन्तर्गत ५१७ शिक्षण-केन्द्र, ५३४ राष्ट्रभाषा महाविद्यालय तथा ३६ महाविद्यालय हैं। इसके अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में शिक्षण-केन्द्र, विद्यालय और महाविद्यालय चल रहे हैं, जो अपने-अपने प्रान्तों से सम्बद्ध हैं।

समिति के वर्धा-स्थित केन्द्रीय महाविद्यालय में नागा विद्यार्थियों को हिन्दी की शिक्षा देने का विशेष प्रबन्ध किया गया है। इसके लिए समिति काफी व्यय करती है। प्रतिवर्ष लगभग १०-१२ विद्यार्थी नागा प्रदेश से बुलाये जाते हैं। वे यहाँ रहकर हिन्दी का अध्ययन करते हैं। उन्हें समिति अपनी ओर से छात्रवृत्ति देती है। ये विद्यार्थी राष्ट्रभाषा की शिक्षा प्राप्त कर अपने प्रदेश में चले जाते हैं और वहाँ जाकर हिन्दी पढ़ाने का कार्य करते हैं। इस प्रकार अब तक यहाँ से ५ बैच शिक्षा पाकर गये हैं। समिति की ओर से समय-समय पर अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रभाषा शिविर का आयोजन किया जाता है। इसमें सभी प्रान्तों के कार्यकर्ता आमन्त्रित किये जाते हैं और उन्हें शिविर में चलाए जानेवाले प्रशिक्षण वर्गों का लाभ दिया जाता है। शिविर का आयोजन प्रान्तों में भी किया जाता है। प्रत्येक प्रान्त को यह सुविधा है कि वह उपने प्रचारकों एवं केन्द्र-व्यवस्थापकों का शिविर आयोजित करे। हिन्दी-विषयक समस्याओं की विशद रूप से शिविरों में चर्चा होती है।

जैसे-जैसे राष्ट्रभाषा प्रचार परीक्षाओं की लोकप्रियता बढ़ती गई और परीक्षार्थियों की संख्या में वृद्धि होती गई, वैसे-वैसे पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन व मुद्रण-प्रकाशन होता गया। अब तक समिति लगभग ७५ पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी है। समिति के प्रकाशनों की ८५ लाख से अधिक प्रतियाँ अब तक पाठकों के हाथों में जा चुकी हैं। प्रकाशन विभाग के अन्तर्गत पुस्तक-बिक्री विभाग व कागज-भंडार विभाग भी हैं। राष्ट्रभाषा प्रेस में करीब एक लाख रुपये की मशीनें हैं।

राष्ट्रभाषा प्रचार के कार्य को बल देने के लिए समिति ने अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन का आयोजन किया है। यह सम्मेलन समिति के कार्यक्षेत्र में आई हुई प्रान्तीय समितियों द्वारा बारी-बारी से बुलाया जाता है। जिस प्रान्त में यह होता है, वहाँ इससे प्रेरणा मिलती है। दूसरा लाभ यह है कि दूर-दूर तक फैले हुए समिति के कार्यकर्ता, प्रचारक, केन्द्र-व्यवस्थापक आदि एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और राष्ट्रभाषा-विषयक समस्याओं पर विचार-विनिमय करते हैं। इस सम्मेलन से एक प्रान्त के राष्ट्रभाषा-प्रचारकों को दूसरे प्रान्तों के प्रचारकों से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर मिलता है और विचारों के आदान-प्रदान से अपने कार्य को सुगठित करने में सहायता एवं प्रोत्साहन मिलता है। अखिल भारतीय राष्ट्र भाषा प्रचार सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में अहिन्दी-भाषा-भाषी विद्वानों को हिन्दी साहित्य के निर्माण के उपलक्ष में १५०१'०० रु० का महात्मा गांधी पुरस्कार देने का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। आज तक यह पुरस्कार आचार्य क्षितिमोहन सेन, महर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्व० बाबूराव विष्णु पराड़कर, आचार्य विनोबा भावे, प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल संघवी, पं० सन्तराम बी० ए०, श्री काका साहब कालेलकर और श्री अनन्त गोपाल शेवड़े को प्राप्त हो चुका है।

इस समिति ने राष्ट्रभाषा सेवा-कार्य के २५ वर्ष पूरे कर, रजत जयन्ती समारोह का आयोजन १९६२ में किया। इसके अन्तर्गत ठोस साहित्य का प्रकाशन भी हुआ, जिसमें कविश्री-माला के अन्तर्गत देश की १४ भाषाओं के मूर्द्धन्य कवियों की रचनाओं के अंश हिन्दी अनुवाद-सहित उनकी साहित्य-साधना का परिचय देते हुए प्रकाशित किये गए। यह कार्य अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है। समिति ने अपने निष्ठावान कार्यकर्ताओं, केन्द्र-व्यवस्थापक एवं प्रचारकों का सचित्र परिचय के साथ परिवार-ग्रन्थ भी प्रकाशित किया है। रजत जयन्ती महोत्सव के अवसर पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, स्व० राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन तथा स्व० सेठ जमनालालजी बजाज की मूर्तियाँ स्थापित कीं। रजत जयन्ती महोत्सव के अवसर पर समिति ने राष्ट्रभाषा प्रदर्शनी का बृहत् आयोजन किया था। इसमें समिति के अब

तक के कार्य का परिचय चित्रों, चार्टों तथा नक्शों के द्वारा दिया गया। प्रत्येक प्रान्तीय समिति ने अपनी उपलब्धियों एवं कार्य का परिचय देने की दृष्टि से अपना-अपना कक्ष प्रदर्शनी में रखा था। भारत सरकार के शिक्षा-विभाग, हिन्दी-निदेशालय, मध्य-रेलवे, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, भाषा संचालन विभाग, मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, तथा दिल्ली के प्रकाशकों में आत्माराम एण्ड सन्स, एस० चाँद एण्ड सन्स एवं शारदा मन्दिर आदि बहुतों ने अपने कक्ष सजाए थे। दक्षिण अफ्रीका एवं पूर्वी अफ्रीका आदि के भी कक्ष थे, जहाँ समिति का कार्य फैला हुआ है। यह प्रदर्शनी अनेक दृष्टियों से सफल रही।

समिति अपने मुखपत्र के रूप में 'राष्ट्रभाषा' को गत २० वर्षों से प्रतिमास प्रकाशित कर रही है। इससे पूर्व 'सबकी बोली' पत्रिका प्रतिमास प्रकाशित की जाती थी। समिति ने सन् १९५० से 'राष्ट्रभारती' पत्रिका प्रारम्भ की। देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की उच्चतम साहित्यिक कृतियों का हिन्दी रूपान्तर कर इसके द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत किया जाता है। समिति का अपना एक विशाल पुस्तकालय है। इस पुस्तकालय में हिन्दी, अंग्रेज़ी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के लगभग १२ हजार से अधिक उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता, समालोचना, इतिहास, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों की पुस्तकें हैं।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का कार्य दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। सन् १९३७ में जहाँ ६१९ परीक्षार्थी बैठते थे वहाँ आज यह संख्या बढ़कर तीन लाख तक पहुँची है। समिति ने गत २५ वर्षों में ३० लाख से अधिक विद्यार्थियों को हिन्दी की शिक्षा दी है। आज इसके पास लगभग ८,००० निष्ठावान राष्ट्रभाषा-प्रचारक और केन्द्र-व्यवस्थापक हैं, जो हिन्दी के सन्देश को गाँव-गाँव और घर-घर पहुँचा रहे हैं। समिति की स्थापना महात्मा गांधी की प्रेरणा से हुई। स्वतन्त्रता के बहुत पूर्व समिति ने राष्ट्रभाषा के कार्य को आरम्भ किया। उस समय की राष्ट्रीय भावना आज भी इसके कार्यकर्ताओं में है और उन्हें अनुप्राणित करती रहती है। 'एक हृदय हो भारत जननी' यह समिति का बोध सूत्र है। इसी को लक्ष्य में रखकर वह अपने कार्य में सतत प्रयत्नशील रही है।

वर्द्धमान जनपद हिन्दी साहित्य सम्मेलन, वर्द्धमान (प० बंगाल)

सन् १९५३ में बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आसनसोल अधिवेशन स्व० राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के द्वारा उद्घाटित हुआ। आसनसोल-जैसे कोयला-वर्ती अंचल में माँ सरस्वती की वीणा झंकृत हो उठी और कल-कारखानों से आवेष्टित इस कोलाहलमय जीवन में वीणापाणि की मधुर झंकार अबाध गति से प्रवाहित होने लगी। उसी समय टण्डनजी ने जनपदीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सुझाव दिया। श्री केशवप्रसाद चौबे के प्रयास से सन् १९५४ में वर्द्धमान जनपद हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। तब से यह सम्मेलन पश्चिम बंग के इस वर्द्धमान ज़िले में अधिवेशनों और जयन्तियों द्वारा हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य कर रहा है। बंगला भाषा-भाषियों का पूर्ण सहयोग इस संस्था को प्राप्त है।

४ जुलाई, १९५४ को अण्डाल में इसके प्रथम अधिवेशन का उद्घाटन हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्य-सेवी श्री राजा राधिकारमणप्रसादसिंहजी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ एवं अध्यक्षता श्री रेवतीरंजन सिन्हा ने की।

१४ एवं १५ मई १९५५ को कुलटी में, २० एवं २१ अप्रैल १९५८ को रानीगंज में, २३ दिसम्बर १९६२ को आसनसोल में एवं ४ मई १९६३ को रानीगंज में क्रमशः द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं विशेष अधिवेशन आचार्य मुरलीधर शुक्ल, डॉ० शिवनाथ, बिहार विधानसभा के अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' एवं श्री परमानन्द शर्मा की अध्यक्षता में समारोहपूर्वक सम्पन्न हुए।

जनपद की ओर से प्रतिवर्ष हिन्दी-साहित्यिकों की जयन्तियाँ मनाई जाती हैं। इसका कार्यालय नेताजी रोड, रानीगंज, वर्द्धमान, प० बंगाल में अवस्थित है।

श्री मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर

समिति की स्थापना सन् १९१५ में हुई एवं १९१८ में इसके भवन का शिलान्यास महात्मा गांधी के द्वारा किया गया। श्री मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति के संगठन के लिए एक संयोजक समिति निर्वाचित की गई, जिसमें श्रीमान् सर सेठ हुकुमचन्द सभापति और डॉ० सरजूप्रसाद जी तिवारी प्रधान मन्त्री निर्वाचित हुए। आगे चलकर १९१८ में अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन महात्मा गांधी के सभापतित्व में हुआ। उक्त सम्मेलन राष्ट्रभाषा का प्रश्न निश्चित करने में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। मद्रास में हिन्दी-प्रचार की दिशा इसी अधिवेशन में निश्चित की गई थी।

इस प्रकार लगातार इन ४९ वर्षों में समिति ने देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार में सफलता प्राप्त की है। समिति के कथनानुसार आज हिन्दी भाषा को जो राष्ट्रभाषा पद का गौरव प्राप्त हुआ उसके श्रेय की भागीदार समिति भी कई अंशों में है।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त समिति दो ग्रन्थमालाओं का प्रकाशन भी करती है—पहली डॉ० सरजूप्रसाद ग्रन्थमाला है जिसकी ओर से गम्भीर और मननशील गवेषणात्मक साहित्य प्रकाशित किया जाता है और दूसरी सर सेठ हुकुमचन्द ग्रन्थमाला है जिसका लक्ष्य ललित-साहित्य का प्रकाशन है।

समिति का संचालन साधारण सभा और प्रबन्धकारिणी के द्वारा होता है। समिति का समस्त कार्य प्रेस, साहित्य, अर्थ, प्रबन्ध, पुस्तकालय, परीक्षा, प्रचार विभागों में विभाजित है। समिति की मासिक मुख-पत्रिका 'वीणा' के प्रकाशन का प्रबन्ध साहित्य-विभाग के अन्तर्गत है। साहित्य-विभाग के अन्तर्गत एक अध्ययन-भवन है, जिसमें हिन्दी विश्वविद्यालय प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा तथा उत्तमा परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों एवं सन्दर्भ-ग्रन्थों का संग्रह है। प्रतिवर्ष उपर्युक्त परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के लिए स्थानीय और बाहर के अधिकृत विद्वानों द्वारा परीक्षोपयोगी भाषणों का प्रबन्ध भी किया जाता है। प्रतिवर्ष लगभग छः सौ विद्यार्थी गांधी विद्यापीठ में अध्ययन करते हैं और कुल मिलाकर लगभग दो हजार परीक्षार्थी इन सम्मेलन परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

समिति के पुस्तकालय में लगभग १४,००० पुस्तकें हैं। वाचनालय में लगभग १०० पत्र और पत्रिकाएँ आती हैं। समिति के सर्व प्रकाशन निजी प्रेस विभाग द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं।

समिति के प्रचार-विभाग के अन्तर्गत समिति द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का प्रचार-कार्य है। साहित्यिक उत्सवों का प्रबन्ध भी इसी विभाग द्वारा किया जाता है। समय-समय पर इन्दौर नगर में पधारनेवाले विद्वानों के भाषण, स्वागत-सम्मान, साहित्य-गोष्ठी का प्रबन्ध तथा प्रान्तीय साहित्यिक संगठन की दिशा निश्चित करना आदि प्रचारात्मक कार्य इस विभाग के जिम्मे हैं।

इस प्रकार समिति ने होलकर शासन की छत्रछाया में अपनी जड़ें मजबूत कीं और साथ-ही-साथ दुहरे शासन के ब्रिटिश मध्याह्न सूर्य की किरणों की आँच भी सही। मध्य-भारत शासन में प्रगति करती रही और अब मध्य प्रदेश शासन में उसका उज्ज्वल भविष्य आशा से परिपूर्ण है।

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

इस सभा की स्थापना सन् १९३५ में राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं देवनागरी लिपि के प्रचार के उद्देश्य से हुई। केन्द्रीय सभा का कार्यालय हैदराबाद में है। समुचित कार्य-व्यवस्था के लिए इनकी आन्ध्र, मैसूर और महाराष्ट्र में प्रादेशिक सभाएँ हैं। इस सभा का अभीष्ट हिन्दी भाषा के उस रूप का प्रचार एवं प्रसार है, जिसे भारतीय संविधान में राजभाषा स्वीकृत किया गया है। 'देवनागरी लिपि के प्रचार व प्रसार के साथ हिन्दी के सर्वांगीण विकास के लिए प्रकाशन एवं प्रचार, अनुवाद एवं साहित्य के आदान-प्रदान द्वारा योग देना,' इस अभीष्ट की प्राप्ति के लिए सभा हिन्दी परीक्षाओं का संचालन, शिक्षण एवं प्रशिक्षण विद्यालयों का प्रबन्ध, पुस्तकालयों तथा वाचना-

लयों की व्यवस्था एवं पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का प्रकाशन करती है। सभा कुल आठ परीक्षाओं का संचालन करती है, जिनमें प्रारम्भिक परीक्षा नागरी-बोध एवं अन्तिम परीक्षा हिन्दी-विद्वान है। सभा ने फरवरी '६४ से 'वाचस्पति' नाम से एक नई परीक्षा चलाने का निश्चय किया है, जिसका स्तर हिन्दी एम० ए० के समकक्ष होगा। सभा की वर्ष में दो बार की परीक्षाओं में लगभग ४,२०० छात्र विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

सभा आन्ध्र, महाराष्ट्र और मैसूर प्रदेश के करीब तीन सौ केन्द्रों में सभा की परीक्षाओं की तैयारी के लिए वर्गों की व्यवस्था करती है। इन वर्गों के अतिरिक्त सभा हैदराबाद में हिन्दी माध्यम से तीन हाईस्कूलों का संचालन करती है। इस सभा ने जेलों में कैदियों के लिए विशेष वर्गों का प्रबन्ध भी किया है, जिसमें प्रतिवर्ष लगभग ५०० कैदी सभा की विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। सभा ने अभी तक लगभग १०० पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन किया है, जिनमें उच्च स्तरीय साहित्यिक पुस्तकों का भी प्रकाशन हुआ है। इसके साथ ही सभा ने कुछ स्थानीय संस्थाओं के सहयोग से दक्खिनी की अप्रकाशित पुस्तकों को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपनाया है। यह सभा दक्षिण भारत की भाषाओं एवं हिन्दी में आदान-प्रदान की परम्परा को बल देने में विशेष प्रयत्नशील है। केन्द्रीय सरकार के सहयोग से सभा ने मराठी, तेलुगु, उर्दू एवं कन्नड़ साहित्य का इतिहास हिन्दी एवं इन भाषाओं में तैयार किया है। सभा 'अजन्ता' नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित करती रही है। सभा समय-समय पर साहित्यिक गोष्ठियों एवं विशिष्ट विद्वानों के द्वारा भाषण-माला का आयोजन करती है।

केन्द्रीय कार्यालय में सभा का एक पुस्तकालय है, जिसमें पुस्तकों की संख्या पाँच हज़ार के लगभग है। इस पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय भी है। इस सभा का अपना एक निजी प्रेस भी है, जिसमें मराठी, तेलुगु, उर्दू, अंग्रेज़ी एवं हिन्दी की छपाई की व्यवस्था है। सभा के विभिन्न नगरों में चार विशाल सभा-भवन हैं। आजकल इसके संयुक्त-मन्त्री डॉ० राजकिशोर पाण्डेय हैं।

हिन्दी विद्यापीठ, देवघर

विदेशी शिक्षा-प्रणाली के दोषों से मुक्त होने एवं संस्कृत शिक्षा की व्यावहारिक भावना से प्रेरित होकर सन् १९२९ ई० में ७ विद्यार्थियों तथा १ अध्यापक को लेकर हिन्दी प्रवेशिका के रूप में इस संस्था का जन्म हुआ। एक साधारण झोंपड़ी में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की पढ़ाई की विधिवत् व्यवस्था की गई। १९३२ में बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का दशम अधिवेशन इसी विद्यालय में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। १९३२ में छात्रों की संख्या ५०० हो गई। इस विभाग में प्रारम्भ से ही आदिवासी हरिजन आदि छात्रों की अधिकांश सख्या रही। विदेशी मिशन की ओर से प्रचारित अहिन्दू संस्कृति से सन्थाल पहाड़िया आदि वन्य जातियों को बचाने तथा भारतीय संस्कृति के अनुरूप उन्हें शिक्षित करने के लिए एक योजना प्रारम्भ की गई। १९३६ से हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के प्रथमा, मध्यमा के अन्तर के समाधान-स्वरूप इस हिन्दी विद्यापीठ का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें हिन्दी विद्, प्रवेशिका, साहित्यभूषण तथा साहित्यालंकार की परीक्षाएँ निश्चित की गई। एक पुस्तकालय की व्यवस्था की गई। कृषि और औद्योगिक शिक्षा का श्रीगणेश साहित्य प्रेस की स्थापना तथा छात्रावास में कृषि की व्यवस्था से हुआ। साहित्य प्रेस में प्रूफरीडिंग, कम्पोजिंग प्रभृति प्रेस-सम्बन्धी कार्यों को सिखलाने की तथा सिलाई की शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। इससे उत्तर भारत के अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों से भी पर्याप्त संख्या में विद्यार्थी अध्ययन के लिए महाविद्यालय तथा विद्यालय में आए। महात्मा गांधीजी के वर्धा सेवाग्राम से भी कई दल क्रमशः आये और यहाँ से हिन्दी की उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर गए। परीक्षा-केन्द्र सम्पूर्ण देश में खोले गए। बिहार सरकार के सहयोग से विद्यापीठ के विभाग की ओर से चक्की, कोल्हू, कताई, बुनाई, मधुमक्खी-पालन, रेशम के कीड़े तथा लाभदायक जीवों के पालन आदि का कार्य करने तथा सिखाने की

व्यवस्था की गई। हिन्दी विद्यापीठ की परीक्षाओं प्रवेशिका, साहित्यभूषण तथा साहित्यालंकार को क्रमशः मैट्रिक, आई० ए० और बी० ए० की समकक्षता की स्वीकृति बिहार सरकार द्वारा दी गई। सम्प्रति केन्द्रीय सरकार से भी हिन्दी में क्रमशः मैट्रिक, आई० ए०, बी० ए० के समकक्ष प्रवेशिका, साहित्यभूषण तथा साहित्यालंकार को मान्यता मिली है।

राष्ट्रीय क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में कलकत्ते से बाजोरिया शिल्प विद्यालय उठकर विद्यापीठ में चला आया, जिससे यहाँ का उद्योग विभाग चमक उठा। इसके पश्चात् महाक्रान्ति में संस्था बन्द हो गई और इसे टामियों ने प्रायः नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। परन्तु इसे पुनः संचालित किया गया। इसके उपरान्त आज़ादी के प्रथम चरणों से विद्यापीठ ने प्रकाशन-कार्य तथा विद्यालयों का पुनः संगठन आरम्भ किया, जिससे सन्थाली-पाठ्य कोर्स, पर्व-त्यौहार, रामायण, हिन्दी में समाज-अध्ययन की पुस्तक, नाट्य-शास्त्र की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। संविधान द्वारा स्वीकृत १४ विभिन्न भाषाओं एवं लिपियों के द्वारा हिन्दी सीखने की पुस्तकें भी प्रकाशित की गईं। सम्प्रति विद्यापीठ बालकों एवं बालिकाओं के लिए स्वतन्त्र छात्रावास चलाता है। छात्रावास में कृषि-कार्य का समुचित प्रबन्ध है। वैद्यनाथपुर छात्रावास तथा जरूआडोह छात्रावास के छात्रों ने अपने व्यक्तिगत अनुभव से देखा कि सन्थाल परगने की बंजर भूमि में भी समुचित ढंग से खेती करने से सब-कुछ उपजाया जा सकता है। वे इस अनुभव का अपने जीवन में प्रयोग करते रहे। इस कार्य के आवश्यक प्रशिक्षण के लिए विद्यापीठ ने खिजुरिया छात्रावास के इर्द-गिर्द १०० एकड़ जमीन प्राप्त की और सामूहिक खेती का कार्य प्रारम्भ किया गया। स्त्री-शिक्षा के सम्यक् विकास एवं उत्थान के लिए मातृ-जाति-विकास कार्य आरम्भ किया गया। इस विभाग में बालिका निकेतन, मातृ मन्दिर, बालिका उच्च विद्यालय, आवासीय प्रौढ़ महिला शिक्षण केन्द्र, महिला संगीत विद्यालय, महिला उद्योग मन्दिर, महिला ट्यूटोरियल कॉलेज तथा महिला संगठन समिति स्थापित हैं। इन कार्यों से काफ़ी संख्या में बलिकाएँ और महिलाएँ लाभ उठा रही हैं।

सम्प्रति विद्यापीठ में कार्य की सुरूपता के लिए अलग-अलग कार्यसमितियाँ हैं। उन समितियों में परीक्षा-विभाग, महाविद्यालय, चित्रमूर्ति-कला, संगीत-वाद्य, शीघ्र-लिपि और टंकण, समाज शिक्षा केन्द्र तथा ग्राम सेवाश्रम, शिशु-कल्याण केन्द्र, कताई-बुनाई तथा सिलाई वर्ग, कृषि-बागबानी, प्रेस ट्रेनिंग, उच्च विद्यालय, कुमार विद्यालय, मातृजाति-विकास विभाग हैं।

विद्यापीठ के परीक्षा-केन्द्र भारत के सभी प्रसिद्ध स्थानों में हैं। इनकी संख्या २०० से ऊपर है। विद्यापीठ की परीक्षाओं के लिए, सम्यक् एवं सुव्यवस्थित अध्यापन गोवर्द्धन साहित्य महाविद्यालय के अतिरिक्त २१ सम्बद्ध शिक्षण-संस्थाओं में होता है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने तथा हिन्दी साहित्य और देवनागरी लिपि का व्यापक प्रचार करने के उद्देश्य से नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने अखिल भारतीय स्तर पर एक साहित्य सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया था। तदनुसार विक्रमी संवत् १९६७ दिनांक १ मई १९१० को महामना स्व० मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में काशी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में पुरुषोत्तमदास टण्डन का प्रस्ताव कि इसी तरह के सम्मेलन प्रतिवर्ष विभिन्न स्थानों में सम्पन्न किए जाएँ, सर्व-सम्मति से स्वीकार कर लिया गया। आगामी अधिवेशन तक के लिए 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' नाम की एक समिति बनाई गई, जिसके प्रधान मन्त्री पुरुषोत्तमदास टण्डन हुए। आगामी अधिवेशन प्रयाग में होना निश्चित किया गया और समिति के प्रधान मन्त्री प्रयाग के ही निवासी थे, इसलिए एक वर्ष के लिए सम्मेलन का अस्थायी कार्यालय प्रयाग ही रहा। सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन संवत् १९६८ में स्व० पं० गोविन्दनारायण मिश्र के सभापतित्व में प्रयाग में सम्पन्न हुआ। टण्डनजी की कार्यक्षमता और निष्ठा का परिणाम यह हुआ कि सम्मेलन स्थायी हो गया और इसका कार्यालय

भी स्थायी रूप से प्रयाग में आ गया।

सम्मेलन के मौलिक, सार्वजनीन और लोकप्रिय विधान के अनुसार ही सम्मेलन कर्यालय संचालित होता है। समस्त कार्यालय का संचालन प्रबन्ध मन्त्री के आदेश से सहायक मन्त्री द्वारा हुआ करता है। प्रत्येक विभाग की व्यवस्था और दायित्व का भार उस विभाग के प्रमुख पर रहता है। विभागीय मन्त्री भी सहायक मन्त्री के द्वारा अपने विभाग को आदेश प्रदान करते हैं। सम्मेलन का प्रबन्ध-विभाग व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों में सहायता पहुँचाया करता है। मन्त्रियों द्वारा सम्मेलन कर्मचारियों के लिए प्रचारित आदेशों और निर्देशों को प्रबन्ध विभाग ही प्रसारित करता है।

सम्मेलन के साहित्य विभाग के अन्तर्गत पुस्तकों के प्रकाशन का ही कार्य मुख्य है। साहित्य समिति साहित्य-निर्माण-योजना के अनुसार साहित्यिक ग्रन्थों का प्रकाशन करती है। सम्मेलन द्वारा सभी पुस्तकों की बिक्री साहित्य विभाग के अन्तर्गत बिक्री-केन्द्र से हुआ करती है। सम्मेलन की एक निजी पत्रिका प्रकाशित होती है। इसे अनुशीलन और शोध-प्रधान साहित्यिक पत्रिका का प्रमुख रूप दिया गया है। अपने स्वस्थ, गवेषणा-प्रधान लेखों से पत्रिका ने बहुत कम समय में प्रमुख पत्रिकाओं में अपना स्थान बना लिया है। सम्मेलन के संग्रहालय का विशाल भवन है। इस संग्रहालय में ३० हजार से अधिक पुस्तकें संग्रहीत हैं। राजर्षि-कक्ष, रणवीर-कक्ष और वसु-कक्ष ये तीन विभाग संग्रहालय में उल्लेखनीय हैं। राजर्षि-कक्ष में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन द्वारा प्रदत्त वे सभी वस्तुएँ हैं, जो उन्हें समय-समय पर देश की संस्थाओं द्वारा उनकी राष्ट्रीय साहित्य-सेवाओं के उपलक्ष्य में उपहारस्वरूप प्रदान की गई थीं। अमेठी के राजकुमार श्री रणंजयसिंह ने अपने स्व० अग्रज युवराज रणवीरसिंह द्वारा संग्रहीत उन सभी हस्तलिखित ग्रन्थों को संग्रहालय को प्रदान कर दिया है जो अनुशीलन के मुख्य साधन हैं। इसमें सम्मेलन द्वारा खोज की गई पाण्डुलिपियों को भी मिलाकर इस समय कुल ५५०० हस्तलिखित ग्रन्थ विद्यमान हैं। डॉ० ललितमोहन वसु ने संग्रहालय को अपने पिता द्वारा संचित जिन सहस्रों बहुमूल्य ग्रन्थों को प्रदान किया है वे सभी ग्रन्थ वसु-कक्ष में रखे गए हैं। संग्रहालय में भारत और विदेशों में प्रकाशित सैकड़ों दैनिक, मासिक, पाक्षिक, त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ आया करती हैं। इस समय संग्रहालय अपने वाङ्मय वैभव और सुव्यवस्था से राष्ट्रभाषा का एक अपूर्व ग्रन्थागार बन गया है।

सम्मेलन का निजी मुद्रणालय है, जो अपने साधनों और कलात्मक कार्यों से उत्तर प्रदेश का प्रमुख मुद्रणालय माना जाता है। यह मुद्रणालय छपाई विभाग, मोनो विभाग, कम्पोज़िंग विभाग, दफ्तरी विभाग में बँटा है। मुद्रणालय की विशाल इमारत में डेढ़ लाख रुपयों के लगभग लागत की प्रेस-सामग्री तथा अन्य प्रसाधन विद्यमान हैं।

सम्मेलन के परीक्षा विभाग के अन्तर्गत सम्मेलन परीक्षाओं का प्रबन्ध होता है। सम्मेलन की परीक्षाओं ने भारत के प्रत्येक प्रान्त के अतिरिक्त विदेशों में भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की है। सम्मेलन की परीक्षाओं की मान्यता देश के कई प्रान्तीय शासनों और विश्वविद्यालयों ने भी स्वीकार की है। सम्मेलन का परीक्षा विभाग बारह परीक्षाएँ प्रतिवर्ष संचालित करता है। सहायक रजिस्ट्रार परीक्षा विभाग की प्रवृत्तियों के लिए पूर्ण उत्तरदायी है।

इस सम्मेलन की विस्तृत तथा व्यापक सेवाओं का उल्लेख करते हुए यह कहना ठीक ही है कि पराधीनता के क्षणों से लेकर देश के स्वाधीन होने तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन को राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए जो संघर्ष करने पड़े हैं वे उतने ही महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं, जितने राजनीतिज्ञ स्वतन्त्रता के लिए किये गए संघर्ष अपना महत्त्व और अस्तित्व रखते हैं। सम्मेलन के कथनानुसार स्वराज्य-प्राप्ति के बाद हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कराने के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन को जिन संघर्षों का सामना करना पड़ा वे बहुत ही भयंकर रहे। वे क्षण सम्मेलन के लिए अग्नि-परीक्षा के तुल्य थे। संकीर्ण राजनीतिक भावनाओं के दाव-पेच से हिन्दी के स्वाभाविक अधिकार को छीनने का प्रयत्न संविधान सभा में किया जा रहा था। कोटि-कोटि जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली हिन्दी भाषा के साथ ऐसा अन्याय किए जाने का समाचार हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बड़ी नम्रता, बड़ी शिष्टता से समस्त देश को सुनाया, जिसे सुनकर अधिकांश भारतीय जनता ने उस अन्याय के विरोध में भारतीय

संविधान परिषद् में हस्ताक्षरों सहित अपने विचारों को प्रेषित किया; और साथ ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए एक विशाल आन्दोलन भी छेड़ा।

जिस समय भारतीय संविधान परिषद् में राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी निर्णय होने जा रहा था उसी अवसर पर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने नई दिल्ली में एक राष्ट्रभाषा-व्यवस्था परिषद् का आयोजन किया। उस परिषद् में देश-भर की समस्त जीवित भाषाओं के विशेषज्ञों का पूर्ण प्रतिनिधित्व रहा। चार दिन तक लगातार उक्त परिषद् के अधिवेशन में राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विचार-विनिमय होते रहे। अन्त में सर्वसम्मति से परिषद् ने राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी के पक्ष में अपनी व्यवस्था दी। इस अवसर पर देश के सभी निष्पक्ष विचारवान पत्रकारों ने भी हिन्दी का समर्थन करते हुए पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

सम्मेलन का ऐसा कहना है कि उसने देश की सभी प्रान्तीय सरकारों और केन्द्र से अनुरोध किया था कि वे अपने-अपने क्षेत्र में देवनागरी लिपि में लिखी जाने-वाली हिन्दी को राजभाषा स्वीकार करें। सम्मेलन के इस अनुरोध को अधिकांश राज्यों ने पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया। दक्षिण भारत के राज्यों ने भी हिन्दी की शिक्षा की अनिवार्यता के आदेश-जारी किए हैं।

सम्मेलन की दृष्टि पूर्ण रूप से राष्ट्रीय है। देश की राष्ट्रीय आवश्यकताओं के साथ सम्मेलन चलता आया है। सम्मेलन भाषा और लिपि के प्रश्न पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार करना अनुचित समझता है। भाषा और लिपि का राष्ट्रीय उत्थान और एकीकरण में बहुत बड़ा स्थान है। वास्तविकता को देखते हुए राष्ट्रभाषा और लिपि के विकास में सम्मेलन विचार-युक्त प्रगतियों का पोषक है।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, बम्बई

यह सभा सन् १९३५ में हिन्दी प्रचार सभा के नाम से स्थापित हुई। देश में राष्ट्रीय एकता के दृष्टिकोण से स्व० सेठ जमनालाल बजाज ने इसकी बुनियाद रखी। इस सभा ने राष्ट्रभाषा के प्रचार में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की नीति के अनुसार अपना कार्य प्रारम्भ किया। हिन्दी प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना के उपरान्त, महात्मा गांधी के सुझाव से इस संस्था ने उससे अपना सम्बन्ध स्थापित किया। क्योंकि हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा की नीति से यह सभा पूरी तरह सहमत थी, इसलिए इस सभा ने अपना नाम बदलकर हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, बम्बई रखा।

इनकी भाषा का साहित्यिक रूप हिन्दी और उर्दू के नाम से पहचाना जाता है। यह भाषा फारसी और नागरी दोनों लिपियों में लिखी और पढ़ी जाती है। सभा 'हिन्दी' और 'उर्दू' इन दोनों भाषाओं को एक-सा महत्त्व प्रदान करती है। बातचीत की हिन्दुस्तानी और लिखित हिन्दु-स्तानी भाषा का देवनागरी और फ़ारसी लिपियों में प्रचार करना ही सभा का विशेष उद्देश्य है। विभिन्न भाषाओं के अनुसन्धानार्थ सभा के बम्बई कार्यालय में विशेष रूप से एक अनुसन्धान-केन्द्र स्थापित किया जा रहा है। इस केन्द्र में सर्वप्रथम उर्दू, तमिल, गुजराती और मराठी ज़बानों के अनुसन्धान से कार्य प्रारम्भ होगा और बाद में कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, उड़िया और पंजाबी आदि द्राविड़ तथा आर्य परिवार की भाषाओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य करने की योजना है।

स्कूलों में पढ़ने के लिए हिन्दुस्तानी की पुस्तकें तैयार करना और हिन्दुस्तानी में आसान साहित्य प्रकाशित करना भी सभा का लक्ष्य है। हिन्दुस्तानी के प्रचार के लिए यह सभा छः परीक्षाओं की आयोजना करती है। हिन्दुस्तानी के पारिभाषिक शब्दकोश के लिए सभा कार्य कर रही है। जो संस्थाएँ उपर्युक्त कार्यों में निष्ठा रखती हैं उनके कार्य में सहयोग देती है। सभा ने बम्बई शहर और उपनगर की पुलिस को हिन्दुस्तानी सिखाने की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ली थी। पुलिस हेडक्वार्टरों और कई केन्द्रों पर पुलिस कर्मचारियों को योग्य शिक्षकों द्वारा शिक्षा दी जाती थी। इस योजना में करीब ७,००० से भी अधिक कर्मचारियों ने हिन्दुस्तानी सीखी। प्रचारकों को पढ़ाई का सही तरीका सिखाने के लिए सभा ने 'हिन्दी शिक्षक सनद' का वर्ग भी खोला। आजकल इसके मन्त्री श्री कुलवन्त कोली हैं।

भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी

उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत सभी विश्वविद्यालयों से बम्बई हिन्दी विद्यापीठ की ओर से हिन्दी के प्रचार व प्रसार की दृष्टि से अध्ययन-अध्यापन की स्थिति की जानकारी देने के लिए निवेदन किया गया था। जिन विश्वविद्यालयों से जानकारी प्राप्त हो सकी केवल उन्हीं को प्रकाशित किया जा रहा है। किस विश्वविद्यालय में किस विषय पर शोध-कार्य हुआ या हो रहा है, इसकी तालिका इसी अध्याय के बाद एक अलग अध्याय में दी गई है।

पूना विश्वविद्यालय के द्वारा हिन्दी के प्रचार, प्रसार और समृद्धि के लिए किये गए कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

सन् १९६० में पूना विश्वविद्यालय में एक स्वतन्त्र हिन्दी विभाग खोला गया। तदुपरान्त इस विभाग के द्वारा एम० ए० तथा पी-एच० डी० के अध्ययन और अध्यापन की व्यवस्था की गई। विभाग में लखनऊ विश्वविद्यालय के रीडर डॉ० भागीरथ मिश्र की प्रोफ़ेसर और विभागाध्यक्ष के रूप में नियुक्ति की गई। तब से आज तक उनके मार्ग-दर्शन में हिन्दी की अभिवृद्धि के लिए कई प्रयत्न और कार्य होते रहे हैं। विभाग में एक प्रोफ़ेसर, दो लेक्चरार और एक अनुसन्धान-सहायक अध्यापन-कार्य के लिए नियुक्त किये गए हैं। एम० ए० में हिन्दी लेनेवाले छात्र-छात्राओं की संख्या पर्याप्त मात्रा में रहती है। हिन्दी विभाग के तत्त्वावधान में अनुसन्धान मण्डल नाम की एक संस्था कार्य करती है। इसका उद्देश्य संशोधन-सम्बन्धी नई जानकारी प्राप्त करना, देना तथा तत्सम्बन्धी चर्चा और संशोध-निबन्धों का पाठ और प्रकाशन है। अनुसन्धायक नियमित रूप से कार्य करते और संशोध-निबन्ध पढ़ते हैं।

पूना विश्वविद्यालय के जयकर ग्रन्थालय में हिन्दी के उत्तमोत्तम ग्रन्थ संग्रहीत किये गए हैं। एम० ए० तथा पी-एच० डी० के छात्रों के लिए पर्याप्त मात्रा में सन्दर्भ-ग्रन्थ तथा अन्य विषयों की पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्त हुआ है। इसमें लगभग दस हज़ार रुपयों के मूल्य के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है। अनुसन्धान की दृष्टि से इन हस्त-लिखित ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। हिन्दी विभाग की ओर से इन ग्रन्थों की वर्णनात्मक सूची तैयार की जा रही है, जो कि भावी अनुसन्धायकों के लिए बहुत ही उपादेय होगी। कुछ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर नामदेव की हिन्दी पदावली का सम्पादन हिन्दी विभाग की ओर से पूरा किया गया है। रज्जब की सर्वंगी का भी इसी प्रकार से सम्पादन किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त विभागाध्यक्ष डॉ० मिश्र के निर्देशन में दस लाख शब्दावलियों से, हिन्दी की बहुप्रचलित पाँच हज़ार, दो हज़ार और एक हज़ार की शब्दावलियाँ प्रयोगाधिक्य के आधार पर तैयार की जा रही हैं। इस ग्रन्थ की उपादेयता विदेशों और अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी सीखने के लिए होगी। इस विश्वविद्यालय में सन् १९५८ से १९६३ तक हिन्दी विषय लेकर एम० ए० उत्तीर्ण छात्रों की संख्या १३१ है। हिन्दी विषय लेकर एम० ए० और पी-एच० डी० के लिए अध्ययन करनेवाले अहिन्दी छात्रों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और केन्द्रीय शासन की ओर से छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के द्वारा हिन्दी पठन-पाठन और हिन्दी के प्रोत्साहन के लिए किये गए कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस तरह है :

इस विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य का अध्ययन एक वैकल्पिक विषय के रूप में बी० ए० की परीक्षा के अन्तर्गत स्वीकृत है। इसके साथ ही सामान्य हिन्दी का अध्ययन

उन छात्रों के लिए अनिवार्य है जिन्होंने उच्च माध्यमिक परीक्षा या अन्तर-महाविद्यालय परीक्षा में उच्च हिन्दी का अध्ययन नहीं किया है। हिन्दी साहित्य विषय एम० ए० की परीक्षा के लिए भी स्वीकृत है। उसके अन्तर्गत प्रश्न-पत्र ४ में राष्ट्रभाषा-प्रचार के लक्ष्य से प्रेरित होकर विश्वविद्यालय ने संस्कृत, अपभ्रंश, मराठी, गुजराती, बंगला, तमिल आदि भारतीय भाषाओं के अध्ययन की सुविधा भी हिन्दी माध्यम के द्वारा दे रखी है।

हिन्दी साहित्य अथवा हिन्दी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर शोधकार्य करने के उपलक्ष्य में पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० उपाधियों की व्यवस्था विश्वविद्यालय में है। अभी तक इस विश्वविद्यालय द्वारा चार छात्रों को पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की जा चुकी है। कला-संकाय के अन्तर्गत अंग्रेज़ी को छोड़कर शेष अन्य विषय राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि के उत्तर परीक्षार्थी इच्छानुसार हिन्दी या अंग्रेज़ी माध्यम से दे सकते हैं। साधारणतया ७० प्रतिशत परीक्षार्थी अंग्रेज़ी से इतर विषयों के उत्तर में हिन्दी माध्यम का ही प्रयोग करते हैं। इसी तरह परीक्षार्थियों को इसी तरह की सुविधाएँ वाणिज्य और कृषि संकाय ने भी दे रखी हैं।

विश्वविद्यालय के समस्त प्राधिकारणों के सदस्यों को हिन्दी में विचार प्रकट करने की सुविधा है तथा इसकी उच्चतम प्राधिकरण प्रशासिका की कार्यवाही १९६० से हिन्दी में सम्पादित होने लगी है। कालिदास समारोह के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत अनिवार्यतः हिन्दी में ही निबन्ध आमन्त्रित किये जाते हैं।

सागर विश्वविद्यालय, सागर के द्वारा हिन्दी के प्रसार का योगदान संक्षिप्त में इस तरह है :

इस विश्वविद्यालय का क्षेत्र हिन्दी-भाषी क्षेत्र होने के कारण प्रचार-जैसी बात नहीं है, फिर भी इस विश्वविद्यालय ने १९४६ से, जब से कि इसकी स्थापना हुई है तभी से, हिन्दी माध्यम को प्रमुखता दी है। इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में आचार्यश्री नन्ददुलारे वाजपेयी के आने के बाद हिन्दी की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई है। कला संकाय में प्रायः सभी विषयों के, केवल अंग्रेज़ी को छोड़कर, हिन्दी में अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। वाणिज्य, कृषि आदि संकायों ने भी अंग्रेज़ी से इतर हिन्दी माध्यम को वैकल्पिक रूप में अपनाने की सुविधा परीक्षार्थियों को दे रखी है।

आर्थिक रूप से यह विश्वविद्यालय डॉ० सर हरीसिंह गौर की दानशीलता से समृद्ध होने से तथा विन्ध्याटवी के नैसर्गिक रमणीक परिवेश में, सागर की सुन्दर मनोरम सुषमा में, तालाब के किनारे उठी हुई छोटी-बड़ी पहाड़ियों के ऊपर बने भव्य प्रासादों, छात्रावासों और विशाल पुस्तकालय भवनों का, छात्रों के लिए सहज ही आकर्षण रहा है। प्रायः देश के समस्त भागों से इस विश्वविद्यालय में विशेषकर हिन्दी विभाग में छात्र अध्ययन के हेतु ही नहीं आते वरन् आचार्यश्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शोध-कार्य में उपलब्ध मार्गदर्शन के मोह में भी आते हैं। इसके साथ ही शोध-कार्य में अभिसन्धित्सु को सभी प्रकार की सुविधाएँ यहाँ विश्वविद्यालय से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती हैं। हिन्दी साहित्य के शोध-कार्य के इस योगदान के साथ ही इस विश्वविद्यालय में भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का विभाग अलग से हिन्दी विभाग के अन्तर्गत स्थापित है, जिसमें बुन्देली भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के साथ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं एवं इतर भाषाओं का अध्ययन किया जाता है। इस विभाग का सारा कार्यभार डॉ० धीरेन्द्र वर्मा सँभालते हैं।

आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर हिन्दी की स्थिति इस तरह है :

आगरा विश्वविद्यालय में गत ३३-३४ वर्षों से स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं में हिन्दी वैकल्पिक रूप से पढ़ाई जाती है। जिन विद्यार्थियों ने अन्तर-विद्यालय परीक्षा में उच्च हिन्दी लेकर परीक्षा उत्तीर्ण नहीं की है उनके लिए सामान्य हिन्दी अनिवार्य विषय कर दिया गया है, ताकि स्नातकी परीक्षा के अन्य विषयों के साथ प्रत्येक विद्यार्थी को हिन्दी का अच्छा ज्ञान हो जाए। विज्ञान के विषयों को छोड़कर अन्य विषयों के लिए अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी माध्यम में उत्तर लिखने की परीक्षार्थियों को सुविधा दी गई है। इस सुविधा का लाभ अधिकांश छात्र उठाते हैं।

बहुत ही कम परीक्षार्थी हिन्दी से इतर भाषा में उत्तर लिखते हैं। इस विश्वविद्यालय में प्रश्नपत्र अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में ही पूछे जाते हैं तथा उपाधियाँ हिन्दी में ही दी जाती हैं।

हिन्दी विषय को लेकर अब तक स्नातकों की संख्या एक लाख के लगभग और उत्तर-स्नातकों की संख्या सात हजार से भी अधिक है। १० शोध-प्रबन्ध डी० लिट्० के लिए तथा १५० शोध-प्रबन्ध पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत के० एम० मुंशी हिन्दी प्रतिष्ठान की स्थापना हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति के ही लिए की गई है। अखिल भारतीय पृष्ठभूमि और भाषावैज्ञानिक तात्त्विकता के साथ जो सबसे ध्यान आकर्षित करने वाली बात इस प्रतिष्ठान में है, वह प्रायोगिक साहित्य सम्बन्धी है। वस्तुतः कला संकाय के साहित्यिक क्षेत्र में यह एक क्रान्तिकारी प्रयोग है। इसमें विद्यार्थी को एक प्रश्न-पत्र ऐसा लेना होता है, जिसमें साहित्य का प्रयोग-पक्ष रहता है। इसके लिए उसे क्षेत्रीय अभ्यास में भी प्रवृत्त होना पड़ता है। इस प्रश्न-पत्र में वैज्ञानिक शिक्षण विधि, प्रयोगशाला-विधि-ज्ञान, लोकवार्ता तत्त्व, पत्रकार कला आदि विषय होते हैं।

अनुसन्धानात्मक क्षेत्रों में तुलनात्मक साहित्य, भाषा-विज्ञान, पाठालोचर, क्षेत्रीय बोलियाँ आदि हैं। आगरा विश्वविद्यालय की ध्वनिविज्ञान प्रयोगशाला इसी प्रतिष्ठान के अन्तर्गत है। इस प्रयोगशाला में अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि मुद्रण यन्त्र है। इसके साथ ही ध्वनि तथा वातानुकूलित स्टूडियो भी है। इस प्रयोगशाला के स्थापित हो जाने से ध्वनि-तत्त्व विषयक अनुसन्धान के लिए विदेश जाने की आवश्यकता नहीं रही।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उनके यहाँ हिन्दी की स्थिति इस तरह है :

इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रमुख डॉ० विनयमोहन शर्मा हैं। उनकी अध्यक्षता में यहाँ का कार्य सम्पन्न होता है। इस विश्वविद्यालय के कर्मसचिव श्री रामचन्द्र खन्ना के कथनानुसार हिन्दी कला और विज्ञान के छात्रों को एक विषय के रूप में पढ़नी पड़ती है। यहाँ पर हिन्दी की पढ़ाई एम्० ए० तक होती है और बी० ए० में ऑनर्स का पाठ्यक्रम भी स्वीकृत है। शोध-कार्य भी हो रहा है। योग्य स्नातकों को शोधकार्य के लिए छात्र-वृत्ति दी जाती है। विभाग द्वारा हिन्दी की विभिन्न प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिए हिन्दी साहित्य परिषद् और अनुसन्धान परिषद् की स्थापना की गई है।

नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर वहाँ का हिन्दी विषयक विवरण इस प्रकार है :

इस विश्वविद्यालय के वर्तमान समय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० कमलाकान्त पाठक हैं तथा इस विश्वविद्यालय में हिन्दी की सुविधाएँ विशेष रूप से दी गई हैं। इस विश्वविद्यालय ने विशेषकर अनुवाद कार्य में अधिक अभिरुचि ली है और उसी के अनुसार इसने कई अनुवाद पुस्तकों को अपने द्वारा प्रकाशित कराया है। इन प्रकाशित पुस्तकों में अधिकांश पुस्तकें पाठ्यक्रम की हैं। इस विश्वविद्यालय में हिन्दी डिग्री कक्षाओं तक के लिए माध्यम के रूप में है। सन् १९६२ में बी० ए० में हिन्दी को अपनाने वाले छात्रों की संख्या ५१ थी। इससे इस विश्वविद्यालय में हिन्दी की अवस्थिति का पता सहज ही अनुमानित हो जाता है। बी० ए०, एम० ए० के उच्चतम अंक प्राप्त हिन्दी के छात्रों को स्वर्ण-पदक प्रदान किया जाता है। दो सौ रुपयों की फेलोशिप योग्य व्यक्ति को दी जाती है। हिन्दी की शिक्षा प्रायः यहाँ के सभी संकायों के छात्रों को दी जाती है।

उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद से प्राप्त जानकारी के अनुसार हिन्दी की स्थिति इस तरह है :

इस विश्वविद्यालय में डॉ० आर० एन० पंड्या हिन्दी के विभागाध्यक्ष हैं। इनके अनुसार पी० यू० सी०, बी० ए०, बी० एस-सी० और बी० कॉम० आदि कोर्सों में हिन्दी के पढ़ाने की व्यवस्था है। यहाँ पर इसके अतिरिक्त एम० ए० भी हिन्दी में किया जा सकता है। अभी तक जिन्होंने हिन्दी को अतिरिक्त विषय के रूप में लिया, इस तरह के लगभग २००० छात्र हैं। जिन छात्रों ने इसे वैकल्पिक विषय के रूप में लिया उनकी संख्या १५ हजार के लगभग है। एम० ए० में हिन्दी विषय को लेने वाले छात्रों की संख्या ४०० के लगभग है। विश्वविद्यालय के उप-रजिस्ट्रार के

कथनानुसार यहाँ के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ विशेष रूप से दी जाती हैं।

वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उनका विवरण इस तरह है :

इस विश्वविद्यालय में बी० ए० के स्तर तक हिन्दी अध्ययन तो इसके जन्मकाल से ही होता चला आ रहा है तथा एम० ए० हिन्दी का अध्ययन सन् १९५९ से प्रारम्भ किया गया है। यहाँ के हिन्दी विभाग से अध्यक्ष डॉ० विजयपालसिंह एम० ए० (हिन्दी संस्कृत), पी-एच० डी० हैं। हिन्दी विषय को लेने वाले स्नातकों की संख्या अब तक कुल २९ है।

यह विश्वविद्यालय सुदूर दक्षिण में है, अतः यहाँ के छात्रों में हिन्दी के प्रति रुचि और अनुराग उत्पन्न करने के लिए उन्हें विविध सुविधाएँ दी जाती हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। पठन-पाठन के निर्धारण में यहाँ के छात्रों की योग्यता एवं स्थिति का ध्यान रखा जाता है। यहाँ बी० ए० के स्तर पर ४ प्रकार की हिन्दी है—सामान्य, अतिरिक्त, विशेष और द्वितीय भाषा। छात्रों में वक्तव्य कला का विकास हो, वे हिन्दी में अपने हृद्गत भावों को भली भाँति व्यक्त कर सकें, इस दृष्टि से एम० ए० में यहाँ विदग्ध गोष्टी का भी आयोजन है।

अध्ययन सामग्री जुटाने में भी विभाग के लोग विद्यार्थियों को निरन्तर सहायता करते रहते हैं। आठ सहस्र रुपयों की निधि, हिन्दी के योग्यतम छात्रों में प्रतिवर्ष प्रदान करने के हेतु संचित की गई है। इसमें से पाँच सहस्र की निधि से, स्नातकोत्तर स्तर पर योग्यतम सिद्ध होनेवाले छात्र को प्रतिवर्ष स्वर्ण पदक दिया जाता है।

श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी वूमन्स यूनिवर्सिटी से प्राप्त सूचनाओं के अनुसार हिन्दी की स्थिति इस तरह है :

इस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर गदरे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। इस विश्वविद्यालय की अन्तर-विद्यालयीय कक्षा में हिन्दी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती है। बी० ए० में हिन्दी ऐच्छिक विषय के रूप में स्वीकृत है। अभी तक इस विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० का कार्य आरम्भ नहीं किया है। इस विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की अवस्थिति सर्वथा स्वतन्त्र है। यहाँ हिन्दी में एम० ए० तक का अध्ययन कराया जाता है।
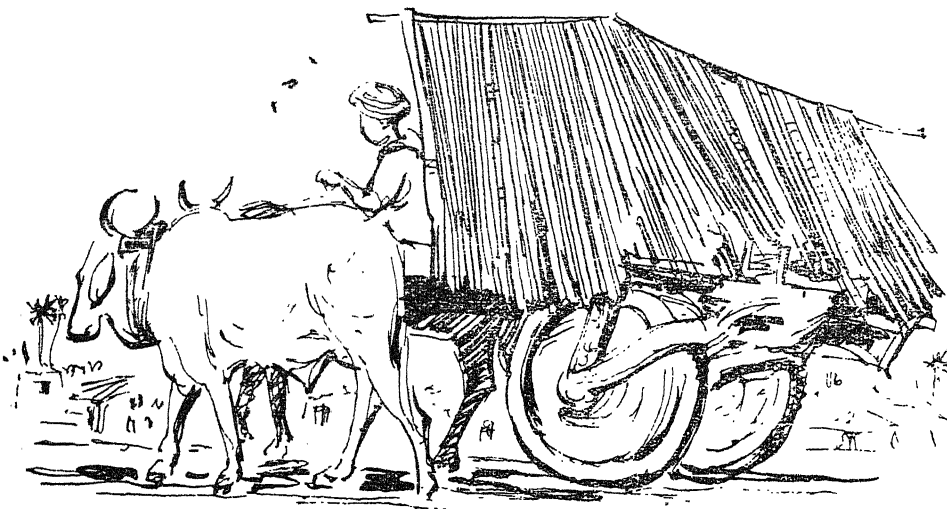
विभिन्न विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान के लिए हिन्दी में स्वीकृत विषयों की सूची

इस सूची में दो प्रकार के विषय परिगणित हैं : (१) जिन पर शोध-कार्य हो चुका है, और (२) जिन पर शोध-कार्य हो रहा है। दोनों का ही वर्गीकरण एक साथ है। जिन पर शोध-कार्य सम्पन्न हो चुका है उनके सामने शून्य के अंक लगे हुए हैं।

१. पाठानुसन्धान

१. मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' का सटिप्पण सम्पादन और अनुवाद—१६वीं शताब्दी की हिन्दी भाषा (अवधी) का अध्ययन — ०

२. ऋषि बरकत उल्लाह प्रेमी-कृत 'प्रेमप्रकाश' का अनुसन्धान, सम्पादन और अध्ययन — ०

३. कबीर (ग्रन्थावली) का पाठ — ०

४. पृथवीराज रासो के लघुतम संस्करण का अध्ययन और उसके पाठ का आलोचनात्मक सम्पादन — ०

५. तुलसीदास की कृतियों की पाठ-समस्याओं का अनुशीलन — काशी

६. बीसलदेव रासो पाठ, अध्ययन एवं विवेचन — ०

७. भक्तमाल और भक्तमाल पर लिखी प्रियदास की टीका का पाठ तथा पाठ-सम्बन्धी समस्या — प्रयाग

८. देव के लक्षण-ग्रन्थों का पाठ तथा तत्सम्बन्धी पाठालोचन की समस्याएँ — प्रयाग

९. सन्तरेणु के नानक-विजय का पाठ-निर्धारण—आलोचनात्मक भूमिका सहित — पंजाब

१०. भाई गुरुदास के काव्यपाठ का आलोचनात्मक सम्पादन—आलोचनात्मक भूमिका सहित — पंजाब

११. मेहरामणसिंह-कृत प्रवीणसागर का आलोचनात्मक अध्ययन एवं सम्पादन — बड़ौदा

२. भाषा-सम्बन्धी अध्ययन

१. आधुनिक हिन्दी भाषा का विकास — नागपुर

२. परिनिष्ठित हिन्दी का स्वरूप — प्रयाग

३. हिन्दुस्थानी ध्वनियों का अनुसन्धान — ०

४. हिन्दी भाषा का ध्वनिमूलक अनुसन्धान — ०

५. ध्वनिविज्ञान तथा हिन्दी-ध्वनियाँ — विक्रम

६. हिन्दी की ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन — आगरा

७. हिन्दी में शब्द और अर्थ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — ०

८. हिन्दी अर्थ-विज्ञान — ०

९. हिन्दी अर्थ-विचार — ०

१०. हिन्दी भाषा में अक्षर तथा शब्द की सीमा — आगरा

११. हिन्दी में व्याकरणिक श्रेणियाँ : एक आलोचनात्मक अध्ययन — आगरा

१२. हिन्दी मुहावरे — ०

१३. हिन्दी मुहावरों का विकास — कलकत्ता

१४. हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

१५. हिन्दी काव्य में लोकोक्तियाँ — आगरा

१६. हिन्दी भाषा के रागात्मक तत्त्व — आगरा
१७. राजस्थान के हिन्दी-अभिलेखों (सन् ११५०-१७५०) का पुरालिपि-सम्बन्धी (पोलियोग्राफ़िकल) और भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन — ०
१८. प्राचीन हिन्दी के नाम-रूप — लखनऊ
१९. साहित्यिक हिन्दी-परिष्कार या आदर्शीकरण की स्थितियाँ — पंजाब
२०. हिन्दी-व्याकरण-रचना-शास्त्र का उद्भव और विकास — पटना
२१. हिन्दी-समास-रचना का अध्ययन — आगरा
२२. सन्धि और हिन्दी — आगरा
२३. प्रारम्भिक हिन्दी गद्य का ऐतिहासिक वाक्यविचार — ०
२४. हिन्दी सर्वनामों का विकास — राँची
२५. हिन्दी वाक्य-रचना — आगरा
२६. हिन्दी विभक्ति-परसर्गों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन — काशी
२७. हिन्दी भाषा का रूप-वैज्ञानिक तथा वाक्य-वैज्ञानिक अध्ययन — ०
२८. हिन्दी लिंग-निर्णय — आगरा
२९. हिन्दी क्रियाओं का अध्ययन — प्रयाग
३०. हिन्दी की संयुक्त क्रियाएँ — काशी
३१. हिन्दी में प्रत्यय-विचार — ०
३२. हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का अर्थ-वैज्ञानिक अध्ययन (संस्कृत विभाग) — ०
३३. संस्कृतमूलक हिन्दी-गणितीय शब्दावली का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा भाषा-शास्त्रीय अध्ययन — ०
३४. हिन्दी की सामाजिकी-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का आलोचनात्मक अध्ययन — दिल्ली
३५. हिन्दी में विधि-शब्दावली — लखनऊ
३६. हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का इतिहास — पटना
३७. कृषि तथा ग्रामोद्योग की शब्दावली—एक अध्ययन — ०
३८. हिन्दी के विशिष्ट सन्दर्भ में प्राकृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — दिल्ली
३९. हिन्दी की मूल शब्दावली का अध्ययन — ०
४०. परिनिष्ठित हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों का अर्थ-परिवर्तन — ०
४१. हिन्दी भाषा में देशज शब्द — दिल्ली
४२. हिन्दी भाषा पर फ़ारसी से आगत और अंग्रेज़ी का प्रभाव — काशी
४३. हिन्दी के फ़ारसी से आगत शब्दों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
४४. हिन्दी में अंग्रेज़ी से आगत शब्दों का भाषातात्त्विक अध्ययन — ०
४५. अवधी का विकास — ०
४६. जायसी-पूर्व अवधी — काशी
४७. बैसवाड़ी का शब्द-सामर्थ्य — ०
४८. बैसवाड़े की जनपदीय भाषा — आगरा
४९. बैसवाड़ी बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण — लखनऊ
५०. पूर्वी हिन्दी की बैसवाड़ी बोली का विवरणात्मक अध्ययन — प्रयाग
५१. अवधी और भोजपुरी के सीमा प्रदेश की बोली का अध्ययन — ०
५२. कन्नौजी और उसका लोकसाहित्य — लखनऊ
५३. ब्रजभाषा — ०
५४. सूर-पूर्व ब्रजभाषा (और उसका साहित्य) — ०
५५. ब्रजबुली (ब्रजभाषा और ब्रजबुली का तुलनात्मक अध्ययन) — ०
५६. गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा-खड़ीबोली-सम्बन्धी विवाद की रूपरेखा — ०
५७. ब्रजभाषा एवं बुन्देलखण्डी का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
५८. ब्रजभाषा और खड़ीबोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन — ०
५९. ब्रजभाषा और खड़ीबोली की ध्वन्यात्मक रचना का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
६०. खड़ीबोली का आन्दोलन — ०

६१. खड़ीबोली का उद्भव और विकास — अलीगढ़
६२. आरम्भिक खड़ीबोली गद्य का व्यावहारिक अध्ययन — पटना
६३. खड़ीबोली भाषा-भाषी ग्रामों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द—विशेषत: मेरठ तथा बिजनौर के आधार पर — लखनऊ
६४. खड़ीबोली (मेरठ जनपद) के लोकगीतों का भाषा-वैज्ञानिक (वर्णनात्मक) अध्ययन — आगरा
६५. खड़ीबोली हिन्दी के क्रियापदों का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन — आगरा
६६. खड़ीबोली (बोली-रूप) के विकास का अध्ययन — ०
६७. साहित्यिक खड़ीबोली का विकास (१८०० ई० तक) — दिल्ली
६८. खड़ीबोली (बोली) और साहित्यिक खड़ी-बोली का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
६९. दिल्ली नगर में आजकल प्रयुक्त खड़ीबोली के विभिन्न रूप — दिल्ली
७०. मेरठ जिले के अन्तर्गत तहसील बागपत की खड़ीबोली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन — अलीगढ़
७१. खड़ीबोली की वाक्यरचना — आगरा
७२. खड़ीबोली हिन्दी का वाक्य-विज्ञान — काशी
७३. दक्खिनी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन — कलकत्ता
७४. दक्खिनी का रूपविन्यास — ०
७५. दक्खिनी गद्य—१७वीं शताब्दी के बाद — उस्मानिया
७६. हिन्दी तथा उर्दू का तुलनात्मक अध्ययन — पटना
७७. भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति और विकास — ०
७८. भोजपुरी लोकोक्तियों का अध्ययन — आगरा
७९. भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन — ०
८०. प्रमुख बिहारी बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन — राँची
८१. बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास — ०
८२. बिहार के बाढ़ प्रदेश में बोली जाने वाली मगही का ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन — पटना
८३. मैथिली भाषा का विकास
८४. पटना तथा गया की मगही का ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक अध्ययन — पटना
८५. अपभ्रंश भाषा का ध्वन्यात्मक, रूपात्मक तथा अर्थ-सम्बन्धी अध्ययन — पटना
८६. अपभ्रंश—हिन्दी-व्याकरण के आधार-रूप में — पटना
८७. राजस्थानी भाषा और साहित्य (११वीं से १६वीं शती — ०
८८. राजस्थानी कहावतों की गवेषणा और वैज्ञानिक अध्ययन — ०
८९. राजस्थानी की उत्पत्ति और विकास — आगरा
९०. कन्नौजी बोली का अनुशीलन तथा ठेठ ब्रज से तुलना — ०
९१. मथुरा ज़िले की बोलियाँ — ०
९२. पूर्णिया अंचल का भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण — पटना
९३. मालवी भाषा और उसका स्वरूप — आगरा
९४. मालवी की उत्पत्ति और विकास — विक्रम
९५. रुहेली बोली और उसका रूपात्मक अध्ययन — आगरा
९६. कठेरी-मेवाती का वर्ण और रूप-विन्यास — आगरा
९७. मुंडारी—एक भाषा-सर्वेक्षण — राँची
९८. भीली भाषा का शास्त्रीय अध्ययन — विक्रम
९९. हरियानी भाषा का उद्भव और विकास — पंजाब
१००. हरियानी भाषा का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — दिल्ली
१०१. कुमायूँनी बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण — लखनऊ
१०२. कुमायूँनी और उसकी बोलियों का अध्ययन — आगरा
१०३. कुर्मांचल प्रदेश की औद्योगिक शब्दावली — लखनऊ
१०४. मध्य-पहाड़ी भाषा (गढ़वाली-कुमायूँनी) का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध — ०
१०५. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य — ०
१०६. गढ़वाली का शब्द-सामर्थ्य — ०
१०७. गढ़वाली की रावल्टी उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोक-संस्कृति — ०
१०८. सिराजी बोलियाँ (पहाड़ी भाषा) एक भाषावैज्ञानिक अध्ययन — पंजाब
१०९. पश्चिमी पहाड़ी के अंडी भाषा-विचार — पंजाब

११०. पश्चिमी पहाड़ी बोली की कन्थाली बोली का रूपात्मक अध्ययन — पंजाब
१११. जौनसारी और सिरमौरी भाषा तथा उनका लोक-साहित्य — आगरा
११२. पश्चिमी पहाड़ी की जौनसारी बोली का रूपरेखात्मक वर्णन — आगरा
११३. कुल्लू की बोली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — पंजाब
११४. डोगरी भाषा का वर्णनात्मक व्याकरण और डोगरी-शब्दकोश — पंजाब
११५. अम्वालबी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — पंजाब
११६. खुरपल्टी-पदरूपांश तथा वाक्य — ०
११७. बाँगरू भाषा का वर्णनात्मक व्याकरण — ०
११८. बाँगरू की वर्णनात्मक ध्वनि-प्रक्रिया — पंजाब
११९. बिजनौर की बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण — आगरा
१२०. मेरठ जिले की बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
१२१. अलीगढ़ और बुलन्दशहर ज़िले की बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१२२. बुलन्दशहर जनपद की बोली — आगरा
१२३. बुलन्दशहर और खुर्जा तहसील की बोलियों का अध्ययन — प्रयाग
१२४. प्रतापगढ़ ज़िले की बोलियों के भौगोलिक विभाजन — प्रयाग
१२५. प्रतापगढ़ ज़िले की बोली का वर्णनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१२६. गोरखपुर ज़िले की बोली का वर्णनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१२७. एटा जिले की अलीगंज तहसील की बोलियों का रूपात्मक अध्ययन — आगरा
१२८. आगरा ज़िले की बोली का अध्ययन — ०
१२९. आगरा के लोककाव्य का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
१३०. इलाहाबाद जिले की कृषि-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन — ०
१३१. निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य — ०
१३२. बुन्देली भाषा का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — ०
१३३. बुन्देली बोली का विकास — प्रयाग
१३४. बुन्देलखंड प्रदेश की लोकोक्तियाँ, कहावतें, मुहावरे तथा अन्य सांस्कृतिक उपादान — आगरा
१३५. हाड़ौती बोली और उसका साहित्य — राजस्थान
१३६. बागरी बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण — लखनऊ
१३७. कुरमाली बोली का भाषा-विषयक अध्ययन — शान्तिनिकेतन
१३८. लोअर गंगा दोआब क्षेत्र का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन — लखनऊ
१३९. शेखावटी बोली का विश्लेषण — लखनऊ
१४०. मेवाड़ी बोली का उद्भव, विकास और रूप — राजस्थान
१४१. भारतीय-आर्यभाषा-परिवार की मध्य-वर्तिनी बोलियाँ—छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी — ०
१४२. आजमगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन — ०
१४३. कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली (अलीगढ़-क्षेत्र की बोली के आधार पर) — ०
१४४. कृषक-जीवन-सम्बन्धी भोजपुरी-शब्दावली गाज़ीपुर ज़िले की बोली के आधार पर — आगरा
१४५. गाज़ीपुर ज़िले के लोकाचार और तत्सम्बन्धी शब्दावली — प्रयाग
१४६. मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त व्यक्तिवाचक नामों का अध्ययन — प्रयाग
१४७. हिन्दी प्रदेश के हिन्दी पुरुषों के नामों का अध्ययन — ०
१४८. बिहार के स्थान-नाम — पटना
१४९. हिन्दी-प्रदेश की हिन्दू महिलाओं के नामों का वैज्ञानिक अध्ययन — विक्रम
१५०. अवध की जातियों के नामों का अध्ययन — प्रयाग
१५१. हिन्दी-शब्द-समूह का अध्ययन — प्रयाग
१५२. हिन्दी-भाषा में पर्याय तथा अनेकार्थवाचक शब्द — प्रयाग
१५३. हिन्दी-भाषा में पर्यायवाची शब्दों का स्थान — पंजाब
१५४. हिन्दी की मौलिक शब्दावली — प्रयाग

१५५. आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की भाषा का अध्ययन — लखनऊ
१५६. रासो की भाषा — ०
१५७. (गोरखबानी तथा नाथ-सिद्धों की बानियों के आधार पर) हिन्दी-नाथ-साहित्य की भाषा — आगरा
१५८. सिद्धों की सन्धा भाषा — ०
१५९. समाज और संस्कृति की दृष्टि से मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य (१४०० से १७०० ईसवी तक) की शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१६०. कबीर-ग्रन्थावली की भाषा — काशी
१६१. कबीर की भाषा — दिल्ली
१६२. कबीर की कृतियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — प्रयाग
१६३. कबीर की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
१६४. कबीर की दार्शनिक शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन — लखनऊ
१६५. हिन्दी (ज्ञानाश्रयी) सन्त-साहित्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली — भागलपुर
१६६. भक्तिकालीन हिन्दी-सन्त साहित्य की भाषा (संवत् १३७५-१७००) — ०
१६७. अर्थविकास की दृष्टि से हिन्दी-सन्त-साहित्य के दार्शनिक और धार्मिक शब्दों का अध्ययन — पंजाब
१६८. (मलिक मुहम्मद) जायसी की भाषा — लखनऊ
१६९. मलिक मुहम्मद जायसी की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
१७०. (मलिक मुहम्मद) जायसी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन — कलकत्ता
१७१. सूरदास की भाषा — ०
१७२. सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन — ०
१७३. सूरदास की व्रजभाषा का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१७४. अष्टछाप-कवियों की भाषा का अध्ययन — लखनऊ
१७५. तुलसीदास की भाषा — ०
१७६. काव्यशिल्प की दृष्टि से तुलसीदास के शब्दसमूह का अध्ययन — प्रयाग
१७७. रामचरितमानस की पारिभाषिक शब्दावली का अनुशीलन — आगरा
१७८. केशव की भाषा — लखनऊ
१७९. केशव की भाषा — वेंकटेश्वर
१८०. केशवदास की भाषा — गोरखपुर
१८१. केशव की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
१८२. श्री एम० वी० जायसवाल के पाठ के आधार पर रामचन्द्रिका का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन — प्रयाग
१८३. बिहारी की भाषा — लखनऊ
१८४. मुद्रित एवं अमुद्रित सामग्री के आधार पर बिहारी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — प्रयाग
१८५. महाकवि बिहारी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — अलीगढ़
१८६. घनानन्द की भाषा का भाषावैज्ञानिक और काव्यशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
१८७. भूषण की भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
१८८. भूषण की भाषा और उनके काव्य का अध्ययन — लखनऊ
१८९. आधुनिक हिन्दी-काव्य-भाषा का अनुशीलन — सागर
१९०. आधुनिक हिन्दी-कविता की भाषा — विक्रम
१९१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाषा का साहित्यिक और भाषावैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
१९२. प्रसाद की भाषा — विक्रम
१९३. प्रेमचन्द का भाषा-साहित्यिक और भाषाशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
१९४. प्रेमचन्द की भाषा — दिल्ली
१९५. छायावाद की भाषा — आगरा
१९६. छायावादी काव्य की भाषा — दिल्ली
१९७. छायावादी काव्य-भाषा का विवेचनात्मक अनुशीलन — भागलपुर
१९८. हिन्दी और पंजाबी का रूपात्मक अध्ययन — दिल्ली
१९९. आधुनिक गद्य-साहित्य के आधार पर हिन्दी और मराठी के शब्द-समूह और मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन — पूना

२००. खड़ीबोली (बोली) परिनिष्ठित हिन्दी तथा पंजाबी का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
२०१. हिन्दी तथा पंजाबी की ध्वनियों का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब
२०२. हिन्दी और पंजाबी का पद-विज्ञान : एक तुलनात्मक और ऐतिहासिक विश्लेषण — पंजाब
२०३. हिन्दी और मलयालम की रूप-रचना का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२०४. हिन्दी और मलयालम की उभयनिष्ठ शब्दावली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — अलीगढ़
२०५. हिन्दी और तेलुगु व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२०६. आधुनिक हिन्दी और तमिल की व्याकरणिक रचना — आगरा
२०७. आधुनिक हिन्दी तथा तमिल की समान शब्दावली का अध्ययन — आगरा
२०८. हिन्दी की सांस्कृतिक शब्दावली का बँगला, गुजराती और मराठी की सांस्कृतिक शब्दावली के साथ तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
२०९. अर्थविज्ञान की दृष्टि से हिन्दी एवं बँगला शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन — भागलपुर
२१०. देवनागरी लिपि—ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक अध्ययन — ०
२११. अन्वीक्षक के स्वकीय वाक्-स्वभाव के आधार पर हकलाहट की वाक्-त्रुटियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
२१२. आगरा-मंडल के उच्चतर-माध्यमिक कक्षा के हिन्दी के हिन्दी-छात्रों की भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियाँ तथा उनके निवारणार्थ उपयुक्त शिक्षा-योजना — आगरा

३. विशिष्ट साहित्यकार और रचना

१. अक्षर अनन्य—एक अध्ययन — लखनऊ
२. सन्त कवि अखाजी—जीवनी और हिन्दी-कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन — बड़ौदा
३. अनूप शर्मा—जीवन और साहित्य — आगरा
४. अब्दुर्रहीम खानखाना—भारतीय इतिहास के स्रोत-रूप में (इतिहास-विभाग) — ०
५. अब्दुर्रहीम खानखाना और उनका साहित्य — अलीगढ़

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि

६. (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' : जीवनी और साहित्य का अलोचनात्मक अध्ययन — ०
७. (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' की कृतियों का अध्ययन — नागपुर
८. अयोध्यासिंह उपाध्याय—काव्य-कला और आचार्यत्व — आगरा
९. महाकवि (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' के काव्य में रस और रीति का प्रयोग — राजस्थान
१०. खड़ीबोली के साहित्यिक स्वरूप के विकास में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'जी के प्रयोग और उनका महत्त्व — आगरा
११. द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि में अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य का विशेष अनुशीलन — सागर
१२. आलम का 'स्यामसनेही' — ०
१३. रीतिकाल में रीतिमुक्त काव्य और आलम का विशेष अध्ययन — लखनऊ
१४. आल्हा का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व — आगरा
१५. दक्खिनी हिन्दी की रचनाओं (इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के शासन काल में रचित 'इब्राहीमनामा' और 'किताब-ए-नवरस') का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
१६. सूफ़ी कवि उस्मान और उनका काव्य — आगरा

कबीर आदि

१७. कबीर तथा उनके अनुयायी — ०
१८. कबीर के काव्य-रूपों का आलोचनात्मक अध्ययन — अलीगढ़
१९. कबीर साहित्य में प्रतीक-योजना — आगरा
२०. कबीर की विचारधारा — ०
२१. कबीर के दर्शन और काव्य के स्रोत — पटना

२२. सन्त कबीर की योगसाधना तथा उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि — पंजाब

२३. कबीरदास की दार्शनिक विचारधारा का आलोचनात्मक अध्ययन — ०

२४. कबीर-साहित्य में चित्रित भारत — पटना

२५. कबीर के बीजक की टीकाओं की दार्शनिक व्याख्या — ०

२६. सर्वज्ञ और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

२७. गोरखनाथ और कबीर—तुलनात्मक अध्ययन — लखनऊ

२८. नामदेव तथा कबीरदास का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग

२९. कबीर एवं वेमन का तुलनात्मक अध्ययन — ०

३०. कबीर तथा येमन्न का तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब

३१. किशोरीलाल गोस्वामी—जीवनी और साहित्य—एक अध्ययन — ०

३२. किशोरीलाल गोस्वामी (१८४५-१९३२) और उनका साहित्य — आगरा

३३. किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का वस्तुगत और रूपगत विवेचन — ०

३४. किशोरीलाल गोस्वामी और उनके उपन्यास — दिल्ली

३५. कुलपति मिश्र — दिल्ली

३६. कविवर कृष्णदास और उनके साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन — गुजरात

३७. कृष्णायन महाकाव्य का अध्ययन — आगरा

केशवदास आदि

३८. आचार्य केशवदास—एक अध्ययन — ०

३९. केशवदास और उनका साहित्य — ०

४०. केशवदास—उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन — ०

४१. केशव का आचार्यत्व — आगरा

४२. केशव के काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — पंजाब

४३. रस-सिद्धान्त और केशव — लखनऊ

४४. केशव एवं श्रीनाथ का तुलनात्मक अध्ययन — वेंकटेश्वर

४५. रामकाव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का अध्ययन — वेंकटेश्वर

४६. श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के काव्य का अनुशीलन — सागर

४७. गरीबदास, उनकी हिन्दी-रचनाएँ और पन्थ—एक अध्ययन — लखनऊ

४८. कविवर गिरधारी और उनका काव्य (जन्म संवत् १९४४) एक समीक्षात्मक अध्ययन — आगरा

४९. आदि गुरु ग्रन्थसाहब के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त — ०

५०. श्री 'गुरु ग्रन्थसाहब' में उल्लिखित कवियों के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन — ०

५१. गुरुग्रन्थ-साहित्य — ०

५२. ठाकुर गोपालशरणसिंह—काव्य, कला और कृतित्व — आगरा

५३. श्री गुरु गोरखनाथ और उनका युग — ०

५४. गुरु गोविन्दसिंह—जीवनी और साहित्य — ०

५५. गुरु गोविन्दसिंह और उनका काव्य — आगरा

५६. गुजरात की हिन्दी काव्य-परम्परा तथा आचार्य कवि गोविन्द गिल्लाभाई — बड़ौदा

५७. श्री गोविन्द गिल्लाभाई रत्न—उनकी कृतियों का साहित्यिक एवं शास्त्रीय अध्ययन — आगरा

५८. सेठ गोविन्ददास—कला एवं कृतित्व — आनन्द

५९. घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा — ०

चतुरसेन शास्त्री आदि

६०. हिन्दी उपन्यासों का विकास और कथाकार चतुरसेन शास्त्री — नागपुर

६१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री का व्यक्तित्व और कृतित्व — आगरा

६२. उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री — विक्रम

६३. उपन्यासकार—आचार्य चतुरसेन — दिल्ली

६४. आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों में इतिहास का चित्रण — आगरा
६५. आचार्य चतुरसेन शास्त्री के ऐतिहासिक उपन्यासों का अध्ययन — आगरा
६६. आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कथा-साहित्य का विवेचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन — विक्रम
६७. चतुरसेन के कथा-साहित्य का मूल्यांकन — पंजाब
६८. आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यासेतर साहित्य — विक्रम
६९. चन्दबरदायी और उनका काव्य — ०
७०. पृथ्वीराजरासो के पात्रों का ऐतिहासिक अध्ययन — ०
७१. पृथ्वीराजरासो में श्रृंगार रस — लखनऊ
७२. चरणदास का जीवन और उनके ग्रन्थ — प्रयाग
७३. चिन्तामणि—व्यक्तित्व और कृतित्व — दिल्ली
७४. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—उनकी प्रतिभा और कला — ०
७५. हरिश्चन्द्र-मण्डल के कवि जगमोहनसिंह की जीवनी और उनका साहित्य — जबलपुर

जयशंकर 'प्रसाद' आदि

७६. जयशंकर 'प्रसाद' की कृतियों का अध्ययन — नागपुर
७७. प्रसाद का काव्य और दर्शन — ०
७८. प्रसाद-चिन्तन और कला — ०
७९. जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास — ०
८०. प्रसाद की काव्य-प्रवृत्ति — ०
८१. जयशंकर प्रसाद का दर्शन — सागर
८२. जयशंकर प्रसाद—साहित्य और दर्शन — उस्मानिया
८३. जयशंकर प्रसाद के साहित्य में जीवन-दर्शन — राजस्थान
८४. प्रसाद-साहित्य की दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक भावभूमि — प्रयाग
८५. जयशंकर प्रसाद के साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि — लखनऊ
८६. प्रसाद-साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन — प्रयाग
८७. जयशंकर प्रसाद की प्रज्ञा और कला — आगरा
८८. प्रसाद के साहित्य के शिल्प-पक्ष का अध्ययन — विक्रम
८९. जयशंकर प्रसाद के साहित्य में कल्पना-तत्त्व — लखनऊ
९०. प्रसाद साहित्य में समाज और संस्कृति — लखनऊ
९१. प्रसाद-साहित्य में रस-व्यंजना — आगरा
९२. प्रसाद-काव्य में रस — राजस्थान
९३. जयशंकर प्रसाद का स्वच्छन्द यथार्थवाद — राजस्थान
९४. जयशंकर प्रसाद के काव्य सिद्धान्त — कलकत्ता
९५. प्रसाद का प्रकृति-दर्शन — आगरा
९६. जयशंकर प्रसाद के काव्य में ध्वनि का विवेचन — आगरा
९७. जयशंकर प्रसाद के नाटकों और उपन्यासों में मानवीय सम्बन्ध — पटना
९८. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन — ०
९९. प्रसाद के नाटकों के वस्तु तथा शिल्प पक्ष का अनुशीलन — सागर
१००. जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक — ०
१०१. प्रसाद का कथा-साहित्य — विक्रम
१०२. कामायिनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन — ०
१०३. भारतीय महाकाव्यों की परम्परा में कामायनी — आगरा
१०४. कामायनी का काव्यशास्त्रीय विश्लेषण — राँची
१०५. कामायनी के पारिभाषिक शब्दों की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक व्याख्या — दिल्ली
१०६. कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव — आगरा
१०७. कामायनी और कश्मीरी शैवाद्वैत — अलीगढ़
१०८. आनन्दवाद का मनोवैज्ञानिक आधार और कामायनी का तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब
१०९. जयशंकर प्रसाद और कुमारनआसन—एक तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
११०. जान कवि के प्रेमाख्यानों का आलोचनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१११. तानसेन और उनकी साहित्यिक कृतियाँ — विक्रम

तुलसीदास आदि

११२. तुलसीदास पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव — राँची

क्रम	विषय	स्थान
११३.	युग-स्रष्टा तुलसी	काशी
११४.	तुलसीदास—जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन	०
११५.	गोस्वामी तुलसीदास-रत्नावली की जीवनी और रचना एवं सूकरखेत के तादात्म्य तथा इतिवृत्त के विशिष्ट परिचय से समन्वित गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान, आविर्भाव-काल, परिवार, व्यक्तित्व आदि का आलोचनात्मक अध्ययन	०
११६.	तुलसीदास और उनका युग	०
११७.	तुलसी-साहित्य पर विभिन्न प्रभाव	पटना
११८.	गोस्वामी तुलसीदास पर आगमों का प्रभाव	लखनऊ
११९.	श्रीमद्‌भागवत का तुलसीदास पर प्रभाव	राँची
१२०.	भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में तुलसी-साहित्य का अध्ययन	आगरा
१२१.	संस्कृत-साहित्यशास्त्र और तुलसीदास	राजस्थान
१२२.	तुलसी के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन	सागर
१२३.	तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा	०
१२४.	'रामचरितमानस' के विशिष्ट सन्दर्भ में तुलसीदास की शिल्पकला का अध्ययन	०
१२५.	तुलसीदास की काव्य-कला	०
१२६.	तुलसी की काव्य-साधना	आगरा
१२७.	तुलसीदास के प्रबन्ध और प्रगीत काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
१२८.	तुलसीदास का गीतिकाव्य	आगरा
१२९.	तुलसी के भक्त्यात्मक गीत	०
१३०.	तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन	पंजाब
१३१.	तुलसीदास के काव्य में अलंकार योजना	०
१३२.	तुलसीदास के काव्य में वर्णित भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पक्षों का अध्ययन	आगरा
१३३.	तुलसी और भारतीय संस्कृति	०
१३४.	भारतीय संस्कृति और तुलसी	लखनऊ
१३५.	तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा	०
१३६.	तुलसीदास का धर्म-दर्शन	०
१३७.	तुलसी-दर्शन	०
१३८.	तुलसी-दर्शन (दर्शन-विभाग)	०
१३९.	तुलसी-दर्शन-मीमांसा	सागर
१४०.	तुलसी-साहित्य का दार्शनिक अनुशीलन	सागर
१४१.	तुलसीदास की दार्शनिक शब्दावली का सांस्कृतिक इतिहास	लखनऊ
१४२.	तुलसी का सामाजिक दर्शन	०
१४३.	तुलसी का समाजदर्शन	०
१४४.	गोस्वामी तुलसीदास का आचारदर्शन	आगरा
१४५.	तुलसी-साहित्य में नीति	पटना
१४६.	आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर तुलसी-काव्य का विवेचन	आगरा
१४७.	तुलसी का शील निरूपण	बम्बई
१४८.	तुलसी-काव्य में समाज-चित्रण	दिल्ली
१४९.	तुलसी-साहित्य में नारी	आगरा
१५०.	तुलसीदास के रामराज्य का स्वरूप	पंजाब
१५१.	तुलसी-रचित ग्रन्थों में राजनीतिक विचार	आगरा
१५२.	तुलसी साहित्य (विशेषतः 'मानस') में पौराणिक उपाख्यान	पटना
१५३.	तुलसी द्वारा प्रयुक्त छन्दों का गवेषणात्मक अध्ययन	पटना
१५४.	रामचरितमानस की अन्तःकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	०
१५५.	रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन	०
१५६.	रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन	नागपुर
१५७.	तुलसी के 'मानस' में शब्दार्थ-नियोजन	आगरा
१५८.	रामचरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम	०
१५९.	रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत	०
१६०.	रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव	०
१६१.	तुलसीदास के रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव	राजस्थान
१६२.	रामचरितमानस में परम्परा और पारिभाषिक प्रभाव	पटना
१६३.	रामायण के पात्रों का स्वरूप-विकास	दिल्ली
१६४.	रामचरितमानस के पात्रों के विशेषणों का अध्ययन	गोरखपुर

१६५. रामचरितमानस में अलंकारयोजना — लखनऊ
१६६. रामचरितमानस के उपमान — प्रयाग
१६७. रामचरितमानस के मनोवैज्ञानिक स्थलों में रसनिष्पत्ति — अलीगढ़
१६८. मानस में तुलसीदास द्वारा वर्णित समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन — पटना
१६९. रामचरितमानस के विशिष्ट सन्दर्भ में तुलसीदास का शिक्षा-दर्शन — ०
१७०. रामचरितमानस और रामचंद्रिका का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१७१. रामचरितमानस और रामायण का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१७२. वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१७३. वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत) — ०
१७४. रामायणेतर संस्कृत-काव्य और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१७५. अध्यात्मरामायण तथा रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — लखनऊ
१७६. अध्यात्मरामायण का रामचरितमानस पर प्रभाव — आगरा
१७७. रामचरितमानस, वाल्मीकि-रामायण एवं अध्यात्मरामायण के नारी-पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
१७८. महाकाव्यों के विशिष्ट सन्दर्भ में कालिदास और तुलसीदास का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१७९. कृतिवासी-बंगला-रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१८०. महाकवि भानुभक्त के नेपाली-रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१८१. कम्ब-रामायणम् और तुलसी रामायण का तुलनात्मक अध्ययन (तमिल) — ०
१८२. महाकवि तुलसीकृत 'रामचरितमानस' एवं तमिल महाकवि कम्बन-कृत 'रामायणम्' का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१८३. तुलसीदास और मलयालम् के प्रसिद्ध रामभक्त कवि एड्डुतच्छन का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१८४. तुलसी और उंचन का तुलनात्मक अध्ययन — काशी
१८५. पूर्वांचलीय रामचरित-काव्य और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१८६. जैनकवि स्वयंभू के 'पउमचरिउ' (अपभ्रंश) तथा तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का तुलनात्मक अध्ययन
१८७. स्वयंभू-कृत रामायण और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' का तुलनात्मक अध्ययन — बम्बई
१८८. मानस में क्षेपक — आगरा
१८९. 'रामचरितमानस' की टीकाओं का आलोचनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
१९०. 'रामचरितमानस' की टीकाएँ — दिल्ली
१९१. हिन्दी का मध्यकालीन विनय-काव्य और उसमें विनयपत्रिका का स्थान — आगरा
१९२. (हाथरस वाले) तुलसी साहब — अलीगढ़
१९३. गुजराती के हिन्दी कवि दयाराम — आनन्द
१९४. बिहार के सन्तकवि दरिया साहब
१९५. दलपतिविजय-कृत कुमाओ रासो—आलोचनात्मक अध्ययन — राजस्थान
१९६. दशम ग्रन्थ का कवित्व
१९७. दशम ग्रन्थ में पौराणिक रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन
१९८. मुल्ला दाऊद के चन्दायन के विशिष्ट सन्दर्भ में लोरिक और चन्दा के लोक-प्रचलित वीरगीतों का अध्ययन — प्रयाग
१९९. दादूदयाल का अध्ययन — आगरा
२००. सन्तकवि दादू और उनका पन्थ — पंजाब
२०१ रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन
२०२. श्री रायदेवीप्रसादजी 'पूर्ण' की साहित्यिक सेवा तथा उनकी कृतियों का साहित्यिक

एवं शास्त्रीय अध्ययन आगरा
२०३. द्विजदेव और उनका काव्य ०
२०४. सन्तकवि धरमदास आगरा
२०५. हित ध्रुवदास और उनका साहित्य ०
२०६. ध्रुवदास अलीगढ़
२०७. ध्रुवदास के साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन दिल्ली
२०८. साहित्य और भाषा की दृष्टि से कविवर नज़ीर अकबरावादी के काव्य का अनुशीलनात्मक मूल्यांकन आगरा
२०९. नन्ददास : जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रयाग
२१०. नन्ददास जीवन और काव्य दिल्ली
२११. नन्ददास का आलोचनात्मक अध्ययन आगरा
२१२. नन्ददास : दर्शन और साहित्य तथा उसमें श्रेण्य तत्त्व पटना
२१३. नागरीदास का जीवन तथा उनके ग्रन्थों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रयाग
२१४. नागरीदास की कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावों एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन ०
२१५. गुरु नानक का हिन्दी काव्य पंजाब

'निराला' आदि

२१६. महाकवि 'निराला' : काव्य, संस्कृति और दर्शन आगरा
२१७. 'निराला' और उनका साहित्य लखनऊ
२१८. सूर्यकान्त 'निराला'—व्यक्तित्व और कृतित्व आगरा
२१९. 'निराला' साहित्य—सांगोपांग अध्ययन भागलपुर
२२०. 'निराला' और उनका काव्य लखनऊ
२२१. कवि 'निराला'—जीवनी और काव्य का अनुशीलन सागर
२२२. महाकवि 'निराला'—जीवनी और काव्य बड़ौदा
२२३. 'निराला' में साहित्यिक प्रभाव तथा उनके काव्य की व्यावहारिक आलोचना पटना
२२४. महाकवि 'निराला' के काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन अलीगढ़
२२५. 'निराला' का काव्य दिल्ली
२२६. 'निराला' का काव्यशास्त्रीय अध्ययन पटना
२२७. हिन्दी में मुक्तक छन्द का क्रमिक विकास और 'निराला के मुक्त-काव्य का विशेष अध्ययन नागपुर
२२८. 'निराला' का गद्य साहित्य दिल्ली
२२९. 'निराला'-साहित्य में अभिव्यंजना शिल्प आगरा
२३०. पंडित पद्मसिंह शर्मा के जीवन और रचनाओं का आलोचनात्मक तथा विस्तृत अध्ययन आगरा
२३१. पद्माकर और उनके समसामयिक ०
२३२. पद्माकर तथा उनके रचित ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन ०
२३३. पद्माकर और उनका काव्य काशी
२३४. पद्माकर और उनकी कविता नागपुर
२३५. पद्मिनी चौपाई (हेमरत्न-कृत)—एक आलोचनात्मक अध्ययन राजस्थान
२३६. कविवर परमानन्द और उनका साहित्य ०
२३७. परमानन्ददास : जीवनी और कृतियाँ ०
२३८. महाकवि पुष्पदन्त आगरा
२३९. पुहकर कवि का 'रसरतन' बम्बई
२४०. महाराज पृथ्वीराज राठौड़ की जीवनी और उनकी रचनाओं का अध्ययन आगरा
२४१. पं० प्रतापनारायण मिश्र—जीवनी और कृतियाँ आगरा
२४२. प्रतापसाहि— कृतित्व एवं सिद्धान्त आगरा
२४३. प्रेमघन और उनका समसामयिक हिन्दी-साहित्य लखनऊ

प्रेमचन्द आदि

२४४. प्रेमचन्द : एक अध्ययन (जीवन, चिन्तन और कला) ०
२४५. उपन्यासकार प्रेमचन्द : उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन ०
२४६. प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आगरा

२४७. प्रेमचन्द के साहित्य में अपराध और अपराधी—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	पटना	२६६. उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य विशेषतः महात्मा बनादास का अध्ययन	०
२४८. प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के स्रोत तथा उपकरण	प्रयाग	२६७. कविवर बनारसीदास—जीवनी और कृतित्व	०
२४९. प्रेमचन्द के कथा-साहित्य पर उर्दू का प्रभाव	पटना	२६८. बनारसीदास की कविता	नागपुर
२५०. प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग	२६९. पं० बालकृष्ण भट्ट—उनका जीवन और साहित्य	०
२५१. प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में पारिवारिक समस्याएँ	आगरा	२७०. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (व्यक्तित्व और काव्य)	दिल्ली
२५२. प्रेमचन्द की रचनाओं में रूढ़ि और उद्‌भावना	राजस्थान	२७१. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—जीवन और काव्यानुशीलन	आगरा
२५३. प्रेमचन्द-साहित्य में सामाजिक समस्याएँ	प्रयाग	२७२. बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन	०
२५४. प्रेमचन्द का नारी-चित्रण तथा उसे प्रभावित करने वाले स्रोत	०	२७३. स्वामी बिहारणीदासजी के जीवन एवं कृतित्व का समालोचनात्मक अध्ययन	आगरा
२५५. प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य पर भारतीय उपन्यासों का प्रभाव	दिल्ली	२७४. मुक्तक-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत बिहारी का विशेष अध्ययन	आगरा
२५६, प्रेमचन्द : उपन्यासकला और जीवन-दर्शन	गुजरात	२७५. हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और बिहारी	०
२५७. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द (प्रेमचन्द के समस्यामूलक उपन्यास)	०	२७६. बिहारीलाल और उनका युग	पटना
२५८. प्रेमचन्द के उपन्यासों में नाटकीय तत्त्व	लखनऊ	२७७. रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य (विशेषकर बिहारी सतसई) में उल्लिखित वस्त्राभरणों का अध्ययन	पंजाब
२५९. प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्राम-जीवन का चित्रण	आगरा	२७८. बिहारी-सतसई की टीकाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	विक्रम
२६०. प्रेमचन्द के हिन्दी और उर्दू उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	दिल्ली	२७९. आचार्य कवि बैजनाथ द्विवेदी : जीवनी और कृतित्व	पटना
२६१. शरत् और प्रेमचन्द के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा	२८०. भिखारीदास—व्यक्तित्व और कृतित्व	आगरा
२६२. प्रेमचन्द और शरत्‌चन्द्र के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	लखनऊ	२८१. आचार्य भिखारीदास	०
२६३. प्रेमचन्द और रमणलाल बसन्तलाल देसाई के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	०	२८२. अनन्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्तकवि भीष्मदास	आगरा
२६४. प्रेमचन्द और गोर्की के कृतित्व का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा	२८३. भूषण—जीवनी और कृतियाँ	आगरा
२६५. प्रेमचन्द की कहानियों के आधार पर तद्‌युगीन सामाजिक जीवन का अध्ययन	पटना	२८४. भूषण और उनका साहित्य	वेंकटेश्वर
		२८५. सूफी कवि मंझन और उनका काव्य	०
		२८६. मतिराम कवि और आचार्य	०
		२८७. मध्यकालीन अलंकृत कविता और मतिराम	०

२८८. मतिराम : जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन — प्रयाग

मलिक मुहम्मद जायसी आदि

२८९. हिन्दी-प्रेमाख्यानक काव्य—जायसी का विशेष अध्ययन — ०
२९०. जायसी और उनका काव्य — ०
२९१. जायसी : उनकी कला और दर्शन — ०
२९२. जायसी का काव्य-शिल्प — दिल्ली
२९३. जायसी का बिम्ब-विधान — आगरा
२९४. मलिक मुहम्मद जायसी के काव्यों का सांस्कृतिक अध्ययन — अलीगढ़
२९५. जायसी की प्रेम-साधना — विक्रम
२९६. पद्मावत का सादृश्य-विधान — प्रयाग
२९७. पद्मावत में समाज-चित्रण — आगरा
२९८. सन्तकवि मलूकदास — ०
२९९. महादेवी और छायावाद—एक मूल्यांकन — पंजाब
३००. रहस्यवादी कवियों की परम्परा में महादेवी—एक अध्ययन — लखनऊ
३०१. महादेवी वर्मा—जीवन और कृतित्व का अध्ययन — आगरा
३०२. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग — ०
३०३. आधुनिक हिन्दी राष्ट्रीय काव्य के सन्दर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का विशेष अध्ययन — सागर
३०४. मीराँबाई — ०
३०५. मीराँ के साहित्य के मूल स्रोतों का अनुसन्धान — ०
३०६. मीराँ : जीवन और दर्शन — नागपुर
३०७. मीराँ और महादेवी का तुलनात्मक अध्ययन — लखनऊ

मैथिलीशरण गुप्त आदि

३०८. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता — ०
३०९. गुप्तजी का काव्य-विकास — ०
३१०. महाकवि मैथिलीशरण के काव्य-सम्बन्धी विधान का चरम विकास — राजस्थान
३११. हिन्दी भक्ति-काव्य-परम्परा में मैथिलीशरण गुप्त का विशिष्ट अध्ययन — आगरा
३१२. मैथिलीशरण गुप्त और सुब्रह्मण्यम् भारती एक तुलनात्मक अध्ययन — उस्मानिया
३१३. मैथिलीशरण गुप्त और वल्लतोल का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
३१४. मोहन साईं और उनका काव्य — लखनऊ
३१५. महात्मा युगलानन्दशरण और उनका काव्य — आगरा
३१६. रीवाँ नरेश महाराजा रघुराजसिंहजी और उनकी राम-भक्ति-भावना — आगरा
३१७. सन्त-साहित्य के सन्दर्भ में सन्तकवि रज्जब का परिशीलन — ०
३१८. रसखान तथा भक्ति-भावना — अलीगढ़
३१९. राधाचरण गोस्वामी और उनका साहित्य — लखनऊ
३२०. श्री गोस्वामी राधाचरणजी—व्यक्तित्व तथा कृतित्व — आगरा

रामचन्द्र शुक्ल आदि

३२१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन — ०
३२२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी कृतियाँ — लखनऊ
३२३. आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल की काव्यालोचना की पृष्ठभूमि — आगरा
३२४. रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त — ०
३२५. रामनरेश त्रिपाठी का व्यक्तित्व और काव्य — आगरा
३२६. अवधी-कृष्ण-काव्य की परम्परा में भक्त-कवि लक्षदास और उनका काव्य — आगरा
३२७. रामधारीसिंह दिनकर—काव्य और कृतित्व — आगरा
३२८. आचार्य लछिराम : जीवनी और साहित्य — लखनऊ
३२९. श्री ललितकिशोरीजी (गौड़ीय सम्प्रदाय)—व्यक्तित्व और कृतित्व — आगरा
३३०. लालदास—जीवन और साहित्य — राजस्थान
३३१. वर्णरत्नाकर का सांस्कृतिक अध्ययन — पंजाब
३३२. हिन्दी के अज्ञात कवि : श्री वाणिदत्त भट्ट — पटना
३३३. वाचस्पतिमिश्र कृत आचार चिन्तामणि का अध्ययन और आलोचनात्मक सम्पादन (प्रस्तावना में धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा निबन्धों

में विकसित धर्मभावना और उसमें प्रतिबिम्बित सामाजिक जीवन का निरूपण) आगरा
३३४. विद्यापति की पदावली का काव्यशास्त्रीय विवेचन पटना
३३५. विद्यापति के गीतों का शास्त्रीय विवेचन भागलपुर
३३६. विद्यापति और सूरदास के श्रृङ्गारवर्णन का तुलनात्मक अध्ययन पटना
३३७. अपभ्रंश-काव्य-परम्परा और विद्यापति ०
३३८. वृन्द और उनका साहित्य राजस्थान
३३९. वृन्द और उनका साहित्य वेंकटेश्वर
३४०. चाचा हितवृन्दावनदास और उनका साहित्य ०
३४१. हितवृन्दावनदास : जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रयाग
३४२. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन ०
३४३. वृन्दावनलाल वर्मा और सी० पी० रमन पिल्लइ के विशेषाध्ययनपूर्वक हिन्दी और मलयालम् के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन आगरा
३४४. महाकवि शंकर और उनकी हिन्दी-साहित्य को देन आगरा
३४५. राजा शिवप्रसाद की हिन्दी सेवा नागपुर
३४६. बाबू श्यामसुंदरदास—व्यक्तित्व और कृतित्व ०
३४७. बाबू श्यामसुन्दरदास और उनके सहयोगी लखनऊ
३४८. हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पंडित श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन ०
३४९. हिन्दी-साहित्य को उदासी पन्थ के सन्त रेणु की देन पंजाब
३५०. भाई सन्तोखसिंह के 'नानकप्रकाश' और सूर्यप्रकाश' का दर्शन, भाषा तथा रस सम्बन्धी अध्ययन पंजाब
३५१. सन्तोखसिंह के 'नानकप्रकाश' और 'सूर्यप्रकाश' के काव्यतत्त्व का अध्ययन (छन्द और अलंकार) पंजाब
३५२. सत्यनारायण कविरत्न अलीगढ़
३५३. सन्तकवि सिंगाजी—जीवन और कृतियाँ ०
३५४. सियारामशरण गुप्त के साहित्य का अध्ययन आगरा
३५५. सियारामशरण गुप्त दिल्ली
३५६. हिन्दी के गांधीवादी काव्य की पृष्ठभूमि तथा सियारामशरण गुप्त—व्यक्तित्व और साहित्य नागपुर
३५७. सुखदेव मिश्र—जीवनी और कृतियाँ लखनऊ
३५८. कविराज सुखदेव मिश्र और उनका साहित्य अलीगढ़
३५९. सूदन का 'सुजान चरित' और उसकी भाषा ०
३६०. सन्त सुन्दरदास का जीवन और उनके ग्रन्थ प्रयाग
३६१. सन्त सुन्दरदास ०
३६२. सुमित्रानन्दन पन्त की कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि—सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन राजस्थान
३६३. श्री सुमित्रानन्दन पन्त की काव्यकला और जीवन-दर्शन (सन् १९१८ से १९५८ तक) का अध्ययन आगरा
३६४. सुमित्रानन्दन पन्त और उनका जीवन-दर्शन गोरखपुर
३६५. महाकवि सूर्यमल (१८१५-१८६३) की जीवनी और रचनाओं का अध्ययन आगरा

सूरदास आदि

३६६. सूरदास की जीवनी और कृतियों का अध्ययन ०
३६७. सूर और उनका साहित्य ०
३६८. भारतीय साधना और सूर साहित्य ०
३६९. सूरदास की जीवनी और काव्य-कला अलीगढ़
३७०. सूर की काव्य-कला ०
३७१. सूरदास का श्रृंगार, स्वरूप और आदर्श सागर
३७२. सूरसागर का काव्यशास्त्रीय पर्यालोचन आगरा
३७३. सूरदास का श्रृंगार-वर्णन भागलपुर
३७४. सूरदास का धार्मिक काव्य ०
३७५. श्रीमद्भागवत और सूरदास ०
३७६. सूरदास के (कूटपदों के विशिष्ट सन्दर्भ में) कूट-काव्य का अध्ययन ०
३७७. सूरदास के काव्य में बिम्ब विधान पंजाब
३७८. सूरकाव्य में अप्रस्तुत योजना प्रयाग
३७९. सूर-काव्य में प्रतीक विधान आगरा

३८०.	सूरसागर में रसव्यंजना	दिल्ली
३८१.	सूर-साहित्य में मधुराभक्ति	अलीगढ़
३८२.	वात्सल्य-रस के विकास में सूर का स्थान	पटना
३८३.	सूर द्वारा वर्णित कृष्ण कथा का पौराणिक आधार	पटना
३८४.	सूर-साहित्य की अन्तःकथाओं का अध्ययन	आगरा
३८५.	सूरवर्णित रासलीला का दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय अध्ययन	पटना
३८६.	सूर-साहित्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि और उसका काव्य-शास्त्रीय अध्ययन	पटना
३८७.	आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर सूर-काव्य का अध्ययन	आगरा
३८८.	सूर-साहित्य में बाल-मनोविज्ञान	आगरा
३८९.	सूर-साहित्य का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन	आगरा
३९०.	सूरदास पर वैष्णव-भक्ति सम्प्रदायों का प्रभाव	प्रयाग
३९१.	सूर-साहित्य में सामाजिक चित्रण	पटना
३९२.	रातिकालीन कवि सोमनाथ—उनका व्यक्तित्व तथा कृतित्व	आगरा
३९३.	महाकवि स्वयंभू	आगरा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि

३९४.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	०
३९५.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	नागपुर
३९६.	हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देन	कलकत्ता
३९७.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—उनकी कृतियों और विचारधारा का आलोचनात्मक अध्ययन	लखनऊ
३९८.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाट्य साहित्य	०
३९९.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और नर्मद—एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
४००.	भारतेन्दु और नर्मद—एक तुलनात्मक अध्ययन	०
४०१.	राहुल सांकृत्यायन—एक विवेचनात्मक अध्ययन	कुरुक्षेत्र
४०२.	विद्यापति के काव्य में श्रृंगार और रीति-सिद्धान्त एवं स्वरूप	पटना

४. काव्यशास्त्र और काव्य—सिद्धान्तों का प्रयोग

१.	भौतिक द्वन्द्ववाद के प्रकाश में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन	आगरा
२.	हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास	०
३.	हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	०
४.	हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का विकास	०
५.	व्रजभाषा के कृष्ण-भक्तिकाव्य में अभि-व्यंजना शिल्प	०
६.	काव्य-दर्शन और उनके विकासों का आलोचनात्मक अध्ययन	राजस्थान
७.	हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य (१३७५-१७००) में निहित काव्यादर्श एवं काव्यशास्त्रीय आदर्श और सिद्धान्त	प्रयाग
८.	हिन्दी वैष्णव साहित्य में निहित काव्य-शास्त्रीय आदर्श और सिद्धान्त	प्रयाग
९.	रीतिकाल के प्रमुख आचार्य	०
१०.	रीतिकवियों एवं आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन	काशी
११.	हिन्दी के रीति-साहित्य में कला और सौन्दर्यशास्त्र	राजस्थान
१२.	आधुनिक हिन्दी साहित्य में काव्य-विषयक विवेचन के उपकरण और तत्त्व	सागर
१३.	आधुनिक युग के हिन्दी कवियों का साहित्य-सम्बन्धी चिन्तन	सागर
१४.	आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त	०
१५.	भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में काव्यास्वाद का विवेचन	दिल्ली
१६.	भारतीय साहित्यशास्त्र तथा हिन्दी साहित्य के समीक्षा-सिद्धान्त	सागर
१७.	खड़ीबोली की हिन्दी कविता पर प्राच्य तथा पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का पुनः परीक्षण तथा हिन्दी काव्यशास्त्र की सम्भावनाएँ	आगरा
१८.	काव्य में रस	०
१९.	हिन्दी काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त	राँची

२०. रस की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या	०
२१. मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन	०
२२. हिन्दी रसशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
२३. भक्तिकालीन कृष्णभक्त कवियों की रसदृष्टि	दिल्ली
२४. हिन्दी काव्यशास्त्र में श्रृंगार-रस का विवेचन	दिल्ली
२५. हिन्दी-कविता (१६००-१८५०) ई० में श्रृंगार रस का अध्ययन	०
२६. हिन्दी भक्तिकाव्य में श्रृंगार रस	लखनऊ
२७. कृष्ण-भक्ति में मधुर रस	०
२८. अष्टछाप के कवियों का विरह रस	आगरा
२९. हिन्दी-भक्ति काव्य (सं० १३००-१७००) में श्रृंगार रस	०
३०. भक्तिकालीन कविता का श्रृंगार पक्ष	बम्बई
३१. भक्ति-रस का उद्भव और विकास तथा हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति काव्य में उसकी अभिव्यक्ति	आगरा
३२. हिन्दी में भक्ति-रस का विवेचन	दिल्ली
३३. हिन्दी भक्ति काव्य के विशिष्ट सन्दर्भ में शान्त रस का अध्ययन	प्रयाग
३४. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में शान्त रस	पंजाब
३५. मध्ययुग के काव्य में शान्त रस का प्रयोग	प्रयाग
३६. मध्ययुगीन निर्गुण भक्ति काव्य में शान्त रस (१४००-१७००)	दिल्ली
३७. मध्ययुगीन सगुण भक्ति-काव्य में शान्त रस (सं० १४००-१७००)	दिल्ली
३८. हिन्दी-काव्य में वीर रस	नागपुर
३९. हिन्दी-काव्य में करुण रस (१४००-१७०० ई०)	०
४०. हिन्दी काव्य में करुण रस	०
४१. आधुनिक हिन्दी कविता में करुण रस	राजस्थान
४२. हिन्दी साहित्य में हास्य रस	०
४३. बीभत्स रस और हिन्दी-साहित्य	पंजाब
४४. उत्तरमध्यकालीन हिन्दी कविता में रस-चतुष्टय—वीर, बीभत्स, भयानक और रौद्र	आगरा
४५. हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस	०
४६. हिन्दी-साहित्य में वात्सल्य रस	पटना
४७. भक्तियुग में वात्सल्य रस का अध्ययन	आगरा
४८. हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति-साहित्य (सं० १४००-१७००) में वात्सल्य और सख्य का निरूपण	०
४९. आधुनिक हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस	०
५०. वात्सल्य रस और सूर	सागर
५१. हिन्दी रीतिकाव्य में रसाभास	दिल्ली
५२. शब्द-शक्ति	आगरा
५३. पाश्चात्य काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में भारतीय शब्द-शक्ति-सिद्धान्त का अध्ययन	प्रयाग
५४. शब्दशक्ति का स्वरूप और खड़ीबोली हिन्दी काव्य में उसका उपयोग	आगरा
५५. हिन्दी काव्यशास्त्र में व्यंजना वृत्ति का विवेचन	प्रयाग
५६. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	०
५७. ध्वनि-सिद्धान्त और हिन्दी में उसका स्वरूप	पटना
५८. ध्वनि-सिद्धान्त तथा हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन आचार्य	आगरा
५९. आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि	बम्बई
६०. ध्वनि-सिद्धान्त और छायावादी कविता में उसकी अभिव्यक्ति	आगरा
६१. लक्षणा और उसका प्रसार	०
६२. क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त और हिन्दी काव्य	आनन्द
६३. औचित्य सिद्धान्त और हिन्दी काव्यशास्त्र	आगरा
६४. हिन्दी काव्यशास्त्र में दोष-विवेचन	०
६५. काव्य-दोष और उनका विकास	राजस्थान
६६. हिन्दी काव्यशास्त्र में गुण-विवेचना	दिल्ली
६७. अलंकारों का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन	सागर
६८. हिन्दी अलंकारशास्त्र	नागपुर

६९. (संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों के आधार पर) अलंकारों के स्वरूप-विकास का शास्त्रीय अध्ययन — आगरा
७०. हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार-ग्रन्थों पर संस्कृत का प्रभाव (सं० १७००-१९००) — ०
७१. रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन — पंजाब
७२. हिन्दी साहित्य में अलंकार — ०
७३. आधुनिक हिन्दी काव्य में अलंकार-विधान — ०
७४. आधुनिक काल की हिन्दी कविता (१८५०-१९५०) में अलंकार-योजना — ०
७५. छायावादी हिन्दी कविता में अलंकार-योजना — आगरा
७६. उपमालंकार का विवेचन — दिल्ली
७७. हिन्दी में शब्दालंकार : उद्गम और विकास — दिल्ली
७८. नायक-नायिका भेद — ०
७९. हिन्दी महाकाव्यों में नायक — ०
८०. हिन्दी छन्दशास्त्र — ०
८१. हिन्दी में छन्दों का विकास — पटना
८२. अपभ्रंश काव्य में छन्द योजना — आगरा
८३. मध्यकालीन हिन्दी छन्द का ऐतिहासिक विकास — ०
८४. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन — ०
८५. मध्यकालीन हिन्दी में प्रयुक्त वर्णिक छन्दों (कवित्त और सवैया) का अध्ययन — पटना
८६. रीतिकाल के विशिष्ट सन्दर्भ में हिन्दी काव्य में छन्द-शास्त्र का विकास — पंजाब
८७. आधुनिक हिन्दी कविता में छन्द — ०
८८. हिन्दी में मुक्तक छन्द का आरम्भ और विकास (निराला की छन्द योजना के विशेष अध्ययन-सहित) — सागर
८९. हिन्दी में अतुकान्त छन्द-योजना का विकास — दिल्ली
९०. हिन्दी काव्य के रूप तथा उनका शिल्प — पंजाब
९१. हिन्दी काव्य में कल्पना-विधान (आधुनिक हिन्दी कविता में रूप-विधान) — ०
९२. आधुनिक हिन्दी काव्य में कवि-कल्पना का स्वरूप और उसकी विवेचना — ०
९३. आधुनिक हिन्दी काव्य में शृंगार-भावना — नागपुर
९४. आधुनिक हिन्दी काव्य में विरह — ०
९५. आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान — पंजाब
९६. ,, ,, ,, — गोरखपुर
९७. आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन — ०
९८. आधुनिक हिन्दी साहित्य में काव्य-रूपों के प्रयोग : एक अध्ययन — ०
९९. आधुनिक हिन्दी कविता का शिल्प-विधान — ०
१००. आधुनिक हिन्दी कविता का काव्य-शिल्प — ०
१०१. आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ — ०
१०२. हिन्दी कविता में प्रतीकवाद का विकास — ०
१०३. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रतीकवाद के प्रकार — ०
१०४. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक विधान (१८७५-१९३५ ई०) — ०
१०५. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक-योजना — दिल्ली
१०६. आधुनिक हिन्दी कविता में अभिव्यंजना-कला ('इन्दु' से 'तारसप्तक' तक) — पंजाब
१०७. आधुनिक हिन्दी-कवियों का काव्यादर्श — लखनऊ
१०८. खड़ी बोली कविता में विरह वर्णन — ०
१०९. खड़ी बोली काव्य में अभिव्यक्ति कला (१९२० तक) — ०
११०. आधुनिक हिन्दी कहाकाव्यों का शिल्प-विधान — ०
१११. छायावादी काव्य में रस-व्यंजना — दिल्ली
११२. ध्वनि और वक्रोक्ति की पृष्ठभूमि में छायावाद का विशेष अध्ययन — आगरा
११३. छायावाद-युग में काव्य-बोध और अभिव्यंजना रूढ़ियाँ — प्रयाग
११४. हिन्दी की छायावादी कविता के कला-विधान का विवेचन — ०
११५. छायावाद का काव्यशिल्प — दिल्ली

११६. छायावादी काव्य में अलंकार-योजना — दिल्ली
११७. छायावादी काव्य का शैली वैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
११८. छायावादी काव्य में प्रतीक-योजना — सागर
११९. छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में रस — आगरा
१२०. कवि-समय-मीमांसा — ०
१२१. सत्यं-शिवं-सुन्दरं — ०
१२२. हिन्दी में छन्दों का विकास — कुरुक्षेत्र

५. कविता—सामान्य

१. हिन्दी काव्य में मानव और प्रकृति — ०
२. हिन्दी काव्य में प्रेमभावना — उस्मानिया
३. हिन्दी कविता में लोक मंगल की भावना — राजस्थान
४. हिन्दी कविता में नियतिवाद — ०
५. हिन्दी कविता (१४००-१६०० ई०) में शृंगार-भावना का विकास — आगरा
६. हिन्दी काव्य में हास्य और व्यंग्य — लखनऊ
७. हिन्दी काव्य में स्वभावोक्ति — दिल्ली
८. मध्य युग की हिन्दी कविता में माधुर्य भावना-मूलक भक्ति का विकास — राजस्थान
९. हिन्दी काव्य में विरह-भावना — पंजाब
१०. हिन्दी काव्य में विरह-वर्णन — नागपुर
११. हिन्दी काव्य में नख-शिख-वर्णन — दिल्ली
१२. हिन्दी कविता में नख-शिख-चित्रण का स्व प-विकास (रीतिकालीन कविता से नई कविता तक) — पंजाब
१३. हिन्दी काव्य में अंग-प्रत्यंग-वर्णन (१४५०-१९५०) — प्रयाग
१४. हिन्दी काव्य में अंग-प्रत्यंग-वर्णन (१५००-१९००) — गोरखपुर
१५. हिन्दी प्रबन्ध काव्य — राजस्थान
१६. हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन — जबलपुर
१७. हिन्दी चरित काव्य — आगरा
१८. हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास — ०
१९. हिन्दी साहित्य में महाकाव्य — ०
२०. हिन्दी महाकाव्यों में नाट्य-तत्त्व — ०
२१. हिन्दी में खण्ड-काव्य — आगरा
२२. हिन्दी में खण्ड-काव्य — पंजाब
२३. हिन्दी के खण्ड-काव्य का अध्ययन — राजस्थान
२४. हिन्दी खण्ड-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
२५. मध्यकालीन हिन्दी के खण्ड-काव्य — पंजाब
२६. हिन्दी के विशेष सन्दर्भ में रासो साहित्य का अध्ययन — प्रयाग
२७. हिन्दी रासो काव्य परम्परा — लखनऊ
२८. रासो काव्यधारा — शांतिनिकेतन
२९. हिन्दी मुक्तकों का स्वरूप और विकास — आगरा
३०. मध्यकालीन हिन्दी मुक्तक काव्य—उद्भव और विकास — गोरखपुर
३१. गीति-काव्य का उद्गम विकास और हिन्दी साहित्य में उसकी परम्परा — ०
३२. हिन्दी गीति-काव्य का विकास — प्रयाग
३३. हिन्दी में गीति-काव्य — नागपुर
३४. हिन्दी गीति-काव्य की परम्परा में मीराँ और महादेवी एक अध्ययन — लखनऊ
३५. हिन्दी सतसई-काव्य का अध्ययन — प्रयाग
३६. हिन्दी में सतसई साहित्य — लखनऊ
३७. रीतिकालीन सतसई साहित्य — दिल्ली
३८. संस्कृत और शृंगार के शतकों के परिवेश में हिन्दी-शृंगार शतकों का अध्ययन — गोरखपुर
३९. हिन्दी कविता की स्तोत्र परम्परा — राजस्थान
४०. हिन्दी का समस्यापूर्ति काव्य — ०
४१. हिन्दी में समस्या-पूर्ति की परम्परा तथा विकास — पटना
४२. हिन्दी में चित्र-काव्य की परम्परा — पटना
४३. हिन्दी कविता में जनवादी प्रवृत्तियाँ — ०
४४. हिन्दी वीर-काव्य (१६००-१८०० ई०) — ०
४५. हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय काव्य-धारा का विकास — ०
४६. हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना — लखनऊ
४७. हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता — गुजरात

४८. हिन्दी काव्य साहित्य में राष्ट्रीय भावना का विकास — पटना
४९. हिन्दी की राष्ट्रीय कविता — कलकत्ता
५०. हिन्दी काव्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ — अलीगढ़
५१. छायावाद-उत्तर हिन्दी में भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ (१९३६-५६) — अलीगढ़
५२. हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण — ०
५३. हिन्दी साहित्य में भक्ति और रीतिकालों में प्रकृति और काव्य — ०
५४. हिन्दी काव्य में ऋतु-वर्णन — नागपुर
५५. हिन्दी काव्य में षड्ऋतु और बारहमासा साहित्य — लखनऊ
५६. हिन्दी का बारहमासा साहित्य : उसका इतिहास तथा अध्ययन — ०
५७. हिन्दी में पशुचारण काव्य — ०
५८. कूटकाव्य प्रवृत्ति और हिन्दी साहित्य — आगरा
५९. हिन्दी साहित्य के कूटकाव्य की परम्परा — अलीगढ़
६०. चित्र-काव्य — उस्मानिया
६१. हिन्दी काव्य में नियतिवाद (सं० १०५०-२०००) — आगरा
६२. हिन्दी साहित्य में काव्य के स्वरूप का विकास — लखनऊ
६३. हिन्दी काव्य-रूपों का उद्भव और विकास — ०
६४. हिन्दी साहित्य में काव्य-रूढ़ियाँ — लखनऊ
६५. हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ (१६७५ ई० तक) — ०
६६. हिन्दी काव्य में रहस्यवाद — ०
६७. हिन्दी काव्य में रहस्यवाद का उद्भव और विकास — पटना
६८. हिन्दी साहित्य में योग-भावना — राजस्थान
६९. हिन्दी-काव्य में वेदान्त का स्वरूप (सं० १७०० तक) — आगरा
७०. जैन हिन्दी-भक्तिकाव्य की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि — आगरा
७१. हिन्दी नीति काव्य — ०
७२. हिन्दी में नीति काव्य का विकास (सं० १९०० वि० तक) — ०
७३. हिन्दी नीति काव्य (आदिकाल से भारतेन्दु तक) — ०
७४. हिन्दी में उपदेशक काव्य — आगरा
७५. हिन्दी काव्य में सूक्ति का प्रयोग — आगरा
७६. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति — ०
७७. हिन्दी में अन्योक्ति काव्य — आगरा
७८. हिन्दी साहित्य में अन्योक्ति योजना — लखनऊ
७९. संस्कृत-अन्योक्ति काव्य के सम्बन्ध से हिन्दी-अन्योक्ति काव्य का अध्ययन — केरल
८०. वैष्णव भक्ति-काव्य और भारतीय संगीत का परस्पर सम्बन्ध (आदि काल से रीतिकाल के अन्त तक) — आगरा
८१. डिंगल पद्य-साहित्य का अध्ययन — आगरा
८२. राजस्थान के चारणी काव्य — राजस्थान
८३. हिन्दी साहित्य में जैमिनी काव्य की परम्परा — लखनऊ
८४. अपभ्रंश (जैन) प्रेमाख्यानक काव्य (१०००-१२००) — आगरा
८५. मध्ययुगीन और आधुनिक हिन्दी कविता में पेड़, पौधे और पशु-पक्षी — ०

९. प्राचीनकालीन कविता

१. हिन्दी साहित्य (११वीं से १८वीं शती) में काव्य-रूप — आगरा
२. मध्यकालीन ऐतिहासिक काव्य — गोरखपुर
३. वैदिक भक्ति और हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति — ०
४. हिन्दी के मध्यकालीन खंडकाव्य — ०
५. हिन्दी-भक्तिकाव्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका — सागर
६. भारतीय देवभावना और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में उसका स्वरूप — आगरा
७. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में अवतारवाद — ०
८. मध्यकालीन हिन्दी कविता में दोहा — ०
९. मध्ययुगीन जैन हिन्दी काव्य में रहस्यवाद और उसका तुलनात्मक विवेचन — आगरा

१०. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में रहस्यवाद — पंजाब
११. मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में रहस्यवाद (सं० १९०० वि० तक) — आगरा
१२. मध्यकालीन भक्तिसाधना में प्रेम का स्वरूप — काशी
१३. मध्यकालीन हिन्दी कविता में नाटकीय तत्त्व — लखनऊ

आदिकाल

१४. आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ — ०
१५. हिन्दी साहित्य में काव्य-रूप (१०वीं से १४वीं शती तक) — आगरा

भक्तिकाल

१६. भक्तिकालीन साहित्य में प्रेम के विविध प्रयोग — राजस्थान
१७. भक्तिकालीन हिन्दी काव्य में मानववादी चेतना — पंजाब
१८. भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में योग-भावना — ०
१९. भक्तिकालीन बाललीला के पदों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — काशी
२०. हिन्दी भक्ति साहित्य के सन्दर्भ में भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन — प्रयाग
२१. हिन्दी भक्ति काव्य (१४००-१६००) की पौराणिक कथाओं का उद्गम और विकास — प्रयाग
२२. हिन्दी-भक्ति साहित्य में प्रयुक्त पौराणिक देवी-देवताओं का अध्ययन — आगरा
२३. निर्गुण और सगुण काव्य में रहस्यात्मक अनुभूति का स्वरूप — ०
२४. सगुण तथा निर्गुण मध्ययुगीन साहित्य का अध्ययन (१४००-१७००) — प्रयाग
२५. हिन्दी के भक्ति काव्य में जैन साहित्यकारों का योगदान (सं० १४००-१८००) — ०
२६. १५वीं शती से १७वीं शती तक हिन्दी साहित्य के काव्य-रूपों का अध्ययन — ०
२७. मध्यकालीन (१५वीं और १६वीं शताब्दी) ब्रजभाषा काव्य की गीति शैली का विकास और संगीत का उसमें योगदान — आगरा
२८. निर्गुण काव्य का मूल तथा उसका प्रारम्भिक विकास — प्रयाग
२९. हिन्दी के निर्गुण भक्तिकाव्य में औपनिषदिक विचारधारा (भारतेन्दु पर्यन्त) — आगरा
३०. हिन्दी की निर्गुण-काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि — ०
३१. हिन्दी काव्य की निर्गुणधारा में भक्ति का स्वरूप — ०
३२. चरनदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार — ०
३३. प्रनामी सन्तों का साहित्य और दर्शन — पटना
३४. १८वीं तथा १९वीं शती के निर्गुण काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन — प्रयाग
३५. आगमिक दृष्टिकोण से मध्ययुगीन सन्त-साहित्य का समीक्षण — सागर
३६. हिन्दी सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि — ०
३७. मध्यकालीन सन्त साहित्य — ०
३८. सन्त काव्य की दार्शनिक पीठिका — कलकत्ता
३९. सन्त काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि — लखनऊ
४०. सन्त काव्य में परीक्षणा (?) का स्वरूप — विक्रम
४१. सन्तों की आध्यात्मिक साधना — लखनऊ
४२. मध्यकालीन हिन्दी सन्त-साहित्य की साधना पद्धति — ०
४३. पन्द्रहवीं शती के सन्त-साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन — आगरा
४४. सन्त मत का आचार दर्शन — पटना
४५. चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शती के हिन्दी सन्त साहित्य में सर्वोदय भावना — आगरा
४६. राजस्थान के सांस्कृतिक विकास में सन्तों एवं योगप्रधान सम्प्रदायों एवं उनके साहित्य का योगदान — राजस्थान
४७. मध्यकालीन सन्तों की रहस्य-साधना — आगरा
४८. मध्यकालीन हिन्दी सन्त साहित्य में मानवतावादी विचारधारा — दिल्ली
४९. महाराष्ट्र के हिन्दी सन्त कवि — लखनऊ
५०. सन्त-साहित्य की प्रवृत्तियाँ — लखनऊ

प्रेमाख्यानक सूफी काव्य

५१. मध्यकालीन हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में कथानक रूढ़ियाँ — पंजाब

५२. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि — ०
५३. हिन्दी काव्य में सूफीवाद और उसके प्रमुख कवि जायसी का आलोचनात्मक अध्ययन — नागपुर
५४. हिन्दी-सूफीकाव्य की भूमिका : सूफीमत, साधना और साहित्य — ०
५५. सूफी प्रेमाख्यानों में साहित्यिक अभिप्राय — आगरा
५६. हिन्दी सूफी काव्य के प्रतीक और रूपक — राँची
५७. भारतीय साधनाओं के परिवेश में हिन्दी सूफी काव्य का अध्ययन — गोरखपुर
५८. हिन्दी-प्रेमाख्यानक काव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन — आगरा
५९. हिन्दी सूफी काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन — आगरा
६०. हिन्दी सूफी काव्य में भारतीय वेदान्त — लखनऊ
६१. सूफी-काव्य में रस-व्यंजना — आगरा
६२. मध्ययुगीन (१५वीं से १७वीं शती) हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य में आख्यान — आगरा
६३. सूफी मत और हिन्दी साहित्य — ०
६४. सूफी मत और हिन्दी के सूफी-प्रेमाख्यानक काव्य — सागर
६५. हिन्दी में प्रेमकथानकों की काव्य-परम्परा — आगरा
६६. हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यान — ०
६७. दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा-काव्य — पूना

सगुण-भक्ति-काव्य

६८. सगुण भक्त-कवियों का व्यक्तिगत और सामाजिक आदर्श — सागर
६९. सगुण भक्ति-काव्य का नैतिक आधार — पंजाब
७०. रामकृष्णेतर हिन्दी सगुण भक्ति-काव्य — लखनऊ
७१. सगुण भक्त-कवियों के प्रगीत काव्य का अनुशीलन (सं० १६०१-१७००) — विक्रम

कृष्ण-भक्ति-काव्य

७२. हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि — ०
७३. हिन्दी में कृष्ण-काव्य का विकास — ०
७४. भारतीय भक्तिधारा में राधाकृष्ण-भावना — पटना
७५. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में कृष्ण-भावना (१५००-१८००) — आगरा
७६. श्रीकृष्ण की जीवनकथा का उद्भव और विकास — आगरा
७७. हिन्दी काव्य में कृष्ण का चारित्रिक विकास — ०
७८. कृष्ण-कथा का स्वरूप—हिन्दी काव्य के परिवेश में — सागर
७९. श्रीकृष्ण-कथा का विकास — विक्रम
८०. कृष्ण-कथा का पौराणिक अध्ययन — पटना
८१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में कृष्ण (विकास वार्ता) — ०
८२. अष्टछाप की राधा तथा गोपियाँ — पटना
८३. १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के कृष्ण-भक्ति-साहित्य में गोपियाँ — अलीगढ़
८४. भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में राधा का स्वरूप — ०
८५. हिन्दी काव्य में राधा — आगरा
८६. कृष्ण-भक्ति-काव्य में प्रेम और सौन्दर्य (१५वीं एवं १६वीं शती) — अलीगढ़
८७. कृष्णकाव्य में लीला-वर्णन — दिल्ली
८८. ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य-भक्ति (१५५०-१६५०) — ०
८९. हिन्दी-कृष्ण-काव्य में माधुर्योपासना — ०
९०. कृष्णभक्त कवियों की परम विरह भावना — लखनऊ
९१. भक्तिकालीन कृष्ण-कवियों की विरह-भावना — दिल्ली
९२. कृष्ण-भक्ति में विरह-भावना (१६०० से १७००) तक — अलीगढ़
९३. हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखी भाव — ०
९४. कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत — ०
९५. हिन्दी में भ्रमरगीत-काव्य और उसकी परम्परा — ०
९६. हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत-परम्परा — पंजाब
९७. कृष्ण-काव्य-धारा में मुसलमान कवियों का योगदान (१६००-१८५०) — ०
९८. हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य में रीति-काव्य की परम्परा — ०
९९. हिन्दी-काव्य में रुक्मिणी काव्य — आनन्द
१००. हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में संगीत — ०

१०१. अष्टछाप कवियों की सौन्दर्य भूमिका — काशी
१०२. अष्टछाप कवियों का रूप वर्णन — दिल्ली
१०३. अष्टछाप में प्रकृति-चित्रण — लखनऊ
१०४. अष्टछाप के कवियों की रस-साधना — अलीगढ़
१०५. अष्टछाप-काव्य की गोपियों का मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक अध्ययन — प्रयाग
१०६. कृष्ण-काव्य में ग्राम्य-जीवन — लखनऊ

रामकाव्य

१०७. रामकथा—उत्पत्ति और विकास — ०
१०८. हिन्दी में राम-काव्य — जबलपुर
१०९. राम भक्ति और हिन्दी-साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति — ०
११०. राम-भक्ति-साहित्य में मधुर उपासना — ०
१११. तुलसी-पूर्व राम-साहित्य — लखनऊ
११२. तुलसी के परवर्ती राम-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
११३. हिन्दी में राम-विषयक जैन-साहित्य — आगरा
११४. हिन्दी साहित्य के आधार पर राम के स्वरूप का अध्ययन — लखनऊ
११५. विभिन्न युगों में सीता का चरित्र-चित्रण तथा तुलसीदास में उसकी चरम परिणति (संस्कृत) — ०
११६. हिन्दी काव्य में सीता का स्वरूप — पंजाब
११७. ,, ,, — दिल्ली
११८. भक्तिकालीन हिन्दी कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियाँ—राम-भक्ति-शाखा — ०
११९. राम-काव्य (भक्तिकाल से आधुनिक काल तक) में पात्रों का विकास — आगरा

रीतिकाल

१२०. हिन्दी-साहित्य में भक्ति और रीति की सन्धिकालीन प्रवृत्तियों का विवेचनात्मक अनुशीलन — ०
१२१. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि — ०
१२२. रीति-काव्य के स्रोत — काशी
१२३. शृंगारकाल (१७००-१९०० ई०) तथा उसकी कविता का पुनर्मूल्यांकन — आगरा
१२४. हिन्दी का रीतियुगीन काव्य-साहित्यिक अनुशीलन — सागर
१२५. रीति-कवियों की प्रतिभा और कल्पना — काशी
१२६. रीतिकालीन कविता में प्रेम और सौन्दर्य — लखनऊ
१२७. रीति-काव्य में सौन्दर्य-बोध — आगरा
१२८. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना — ०
१२९. हिन्दी काव्य (सं० १७००-१९००) में विरह-भावना — आगरा
१३०. रीति-काव्य में काव्यात्मक रूढ़ियाँ — पंजाब
१३१. रीति-काव्यों में काव्य-रूढ़ियाँ — दिल्ली
१३२. रीति-स्वच्छन्द काव्य-धारा — विक्रम
१३३. रीति-काव्य में रूप-चित्रण — ०
१३४. रीतिकालीन काव्य में भक्ति-तत्त्व — दिल्ली
१३५. रीतिकालीन भक्तिधारा-काव्य — गोरखपुर
१३६. रीति-काव्य में भक्ति का रूप — प्रयाग
१३७. अठारहवीं शताब्दी में प्रेम-भक्ति (ब्रजभाषा-कविता) — ०
१३८. रीतिकालीन निर्गुण भक्ति-काव्य — आगरा
१३९. हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य (१७००-१९००) — प्रयाग
१४०. विक्रम की उन्नीसवीं शती में ब्रजभाषा का प्रेम-भक्ति साहित्य — आगरा
१४१. रीतिकालीन हिन्दी वीर-काव्य में ऐतिहासिक तत्त्व — लखनऊ
१४२. रीति काल के प्रमुख प्रबन्ध-काव्य (सं० १७००-१९००) — आगरा
१४३. सन् १७००-१९०० के हिन्दी प्रबन्ध-काव्य — लखनऊ
१४४. रीतियुगीन रीति-मुक्त स्वच्छन्दतावादी मुक्तक-काव्य — लखनऊ
१४५. १८वीं-१९वीं शताब्दी के काव्य-रूपों का अध्ययन तथा उनका शैली-तत्त्व — आगरा
१४६. रीतिकाल के रीति कवियों का काव्य-शिल्प — आगरा
१४७. रीति-मुक्त काव्यों का काव्य-शिल्प — दिल्ली
१४८. हिन्दी के रीति-मुक्त कवियों का आलोचनात्मक अध्ययन — गोरखपुर

१४९. रीतिकालीन हिन्दी कविता में स्त्रियों के सौन्दर्य-प्रसाधन — आगरा
१५०. हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में वनस्पति जगत् — लखनऊ
१५१. हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में पादम-पुष्प वर्णन — सागर
१५२. रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध — ०
१५३. श्रृंगार-युग से संगीत काव्य — लखनऊ
१५४. रीतिकालीन हिन्दी और उर्दू काव्य का समाजशास्त्रीय विवेचन — सागर
१५५. अठारहवीं शताब्दी का हिन्दी-साहित्य — राँची
१५६. पद्माकरोत्तर हिन्दी-रीति-काव्य — काशी
१५७. रीतिकालीन श्रृंगार-भावना के स्रोत — कुरुक्षेत्र

७. आधुनिक काल—सामान्य

१. रीति और आधुनिक काल के सन्धि-सूत्र — आगरा
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ — राजस्थान
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८७०-१९५०) की विचार-धारा — ०
४. आधुनिक हिन्दी के विविध वादों का अनुशीलन — सागर
५. आधुनिक साहित्य में सामाजिक हास्य और व्यंग्य — सागर
६. आधुनिक हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना का स्वरूप-विकास — राजस्थान
७. भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम और उसका आधुनिक हिन्दी साहित्य पर प्रभाव — ०
८. स्वतन्त्रता-आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य — लखनऊ
९. सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम का हिन्दी साहित्य — आगरा
१०. राजाद्वय—राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह—आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में उनका योगदान और आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के निर्माण पर उनका प्रभाव — राजस्थान
११. आधुनिक हिन्दी साहित्य में गांधीवाद — ०
१२. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक वादों का प्रभाव — सागर
१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्तियों और प्रगतिवादी धारा का अनुशीलन — नागपुर
१४. हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का अनुशीलन — सागर
१५. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य में प्रगति चेतना — दिल्ली
१६. आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ — ०
१७. हिन्दी साहित्य और भाषा के विकास में रजतपट, रंगमंच और आकाशवाणी का योगदान — दिल्ली
१८. भारतेन्दु-युग — नागपुर
१९. भारतेन्दुयुगीन साहित्य में व्यंग्यात्मकता — आगरा
२०. भारतेन्दु युग के सप्त महारथी — काशी
२१. भारतेन्दु-उत्तर हिन्दी साहित्य में हास्य — राजस्थान
२२. हिन्दी-साहित्य (१९३५-१९५०) का आलोचनात्मक अध्ययन — आगरा
२३. हिन्दी का युद्धोत्तर साहित्य — राजस्थान
२४. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ — ०
२५. स्वतन्त्र भारत का हिन्दी-साहित्य — आगरा

८. आधुनिककालीन कविता

१. आधुनिक काव्य और काव्यवादों का अध्ययन — ०
२. आधुनिक काव्यधारा — ०
३. आधुनिक कविता की मूल प्रेरणाएँ — आगरा
४. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रेरणाएँ — नागपुर
५. आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ — नागपुर

६. आधुनिक हिन्दी काव्य में मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ — लखनऊ
७. १९वीं शताब्दी में हिन्दी काव्य में पुनरुत्थान — कलकत्ता
८. रीतिकालोत्तर कवि और काव्य — पटना
९. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का नवावतार — राजस्थान
१०. आधुनिक काल के रीति-ग्रन्थकार कवि — आगरा
११. आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य — ०
१२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य — ०
१३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में मानव-व्यक्तित्व का स्वरूप (१९००-१९५०) — सागर
१४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में सौन्दर्यानुभूति के विभिन्न स्तर — प्रयाग
१५. आधुनिक हिन्दी-कविता में रूढ़िवाद — पंजाब
१६. आधुनिक हिन्दी-काव्य में परम्परा तथा प्रयोग — ०
१७. आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता — विक्रम
१८. आधुनिक हिन्दी कविता में नूतन उद्‌भावनाएँ — नागपुर
१९. आधुनिक हिन्दी कविताओं में सम्मूर्तन — काशी
२०. आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-वर्णन (१९००-१९५८) — आगरा
२१. आधुनिक हिन्दी में वीर-काव्य — आगरा
२२. आधुनिक हिन्दी काव्य और भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन (१८५०-१९५०) — गोरखपुर
२३. आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास — सागर
२४. आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद (भारतेन्दु युग से १९५० तक की कविता का अध्ययन) — ०
२५. आधुनिक हिन्दी साहित्य के स्वच्छन्दतावादी काव्य का अनुशीलन — ०
२६. आधुनिक हिन्दी राम-काव्य (सन् १८५७-१९५५) का अध्ययन — आगरा
२७. आधुनिक हिन्दी कविता में वाद-प्रवाद — राजस्थान
२८. आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थवाद — आगरा
२९. मार्क्सवाद तथा हिन्दी कविता — पंजाब
३०. आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध-काव्य का आरम्भ और विकास — विक्रम
३१. आधुनिक हिन्दी के पौराणिक प्रबन्ध-काव्य — पटना
३२. आधुनिक हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों में त्रासदीय तत्त्व — दिल्ली
३३. हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य — ०
३४. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य — ०
३५. बीसवीं शताब्दी के राम-काव्य — ०
३६. आधुनिक हिन्दी खण्डकाव्य — सागर
३७. आधुनिककालीन खण्डकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन — अलीगढ़
३८. हिन्दी के आधुनिक साहित्य में पौराणिक खण्डकाव्यों का अध्ययन — अलीगढ़
३९. आधुनिक हिन्दी गीति-काव्य का विकास — दिल्ली
४०. आधुनिक हिन्दी काव्य में गीत-भावना का विकास — ०
४१. आधुनिक हिन्दी प्रगीत-काव्य का अध्ययन — सागर
४२. आधुनिक काल में ब्रज कविता का विकास — आगरा
४३. आधुनिक ब्रजभाषा काव्य—एक अध्ययन — लखनऊ
४४. ब्रज काव्य का आधुनिक हिन्दी काव्य में विकास — नागपुर
४५. आधुनिक ब्रजभाषा काव्य (सं० १९००-२०००) का विकास — ०
४६. आधुनिक युग का ब्रजभाषा काव्य — काशी
४७. खड़ीबोली के ऐतिहासिक काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन — आगरा
४८. खड़ीबोली का ऐतिहासिक काव्य — दिल्ली
४९. खड़ीबोली के खण्डकाव्य — लखनऊ
५०. आधुनिक हिन्दी कविता (१९००-१९५५) की दार्शनिक पृष्ठभूमि — प्रयाग
५१. हिन्दी कविता (भारतेन्दु से सं० २०१० तक) की दार्शनिक पृष्ठभूमि — आगरा

५२.	आधुनिक हिन्दी काव्य पर अरविन्द दर्शन का प्रभाव	आगरा
५३.	आधुनिक हिन्दी काव्य में मानवतावाद	विक्रम
५४.	वर्तमान हिन्दी काव्य में मानवतावाद	आगरा
५५.	आधुनिक हिन्दी कविता में मानवतावादी भावना (लोकमंगल भावना) का विकास	राजस्थान
५६.	आधुनिक हिन्दी कविता में चित्रित नवीन मानवीय मूल्यों का आलोचनात्मक अध्ययन	काशी
५७.	आधुनिक काव्य में व्यक्तिवादी दर्शनों का प्रभाव	प्रयाग
५८.	आधुनिक हिन्दी कवियों का व्यक्तिवादी दर्शन	कलकत्ता
५९.	आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता का अनुशीलन	सागर
६०.	आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद	०
६१.	आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद	०
६२.	आधुनिक हिन्दी कविता में मनोवैज्ञानिक अध्ययन	बम्बई
६३.	आधुनिक हिन्दी कविता में नैतिक चेतना का स्वरूप एवं विकास	पंजाब
६४.	आधुनिक हिन्दी कविता में भक्ति	पंजाब
६५.	आधुनिक हिन्दी काव्य में भक्ति-तत्त्व	दिल्ली
६६.	आधुनिक काल में भक्ति-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
६७.	हिन्दी साहित्य के आधुनिक कृष्ण-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा
६८.	आधुनिक हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य	लखनऊ
६९.	बीसवीं शती में राम-काव्य	लखनऊ
७०.	भारतेन्दु और भारतेन्दुकालीन काव्य	सागर
७१.	भारतेन्दुयुगीन हिन्दी कवि	०
७२.	भारतेन्दु युग के हिन्दी काव्य का अनुशीलन	सागर
७३.	द्विवेदी युग में हिन्दी कविता का पुनरुत्थान (१९०१-१९२०)	०
७४.	द्विवेदी युग के हिन्दी काव्य का अनुशीलन	सागर
७५.	द्विवेदी युग के कवियों का ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक अध्ययन	लखनऊ
७६.	आधुनिक हिन्दी कविता (१९०१-१९२०) में स्वच्छन्दतावाद	अलीगढ़
७७.	काव्य और नीति (द्विवेदी-युगीन से प्रगति-युगीन काव्य के आधार पर)	आगरा
७८.	छायावादी काव्य तथा उसकी विविध समीक्षाओं का अनुशीलन	सागर
७९.	हिन्दी कविता का छायावाद-युग—उत्तरार्ध	लखनऊ
८०.	छायावादी हिन्दी कविता में प्रेम-भावना	लखनऊ
८१.	हिन्दी के छायावादी कवियों के व्यक्तित्व और काव्य-रूपों (पोएटिक पैटर्न) का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	कलकत्ता
८२.	प्रसाद, पन्त और निराला के काव्य में मूर्ति विधान	जबलपुर
८३.	अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य के सन्दर्भ में छायावादी काव्य का अध्ययन	गोरखपुर
८४.	छायावादी काव्य में प्रकृति और अध्यात्म	पटना
८५.	छायावादी काव्य की दार्शनिक और सांस्कृतिक भूमिका	सागर
८६.	छायावादी काव्य के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक पक्षों का अनुशीलन	नागपुर
८७.	छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि	आगरा
८८.	छायावादी हिन्दी काव्य के दार्शनिक पक्षाधार	पटना
८९.	छायावादी हिन्दी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	लखनऊ
९०.	हिन्दी की छायावादी कविता में चित्रात्मकता	आगरा
९१.	छायावादी काव्य का भावात्मक सौन्दर्य-बोध	कुरुक्षेत्र
९२.	उत्तर छायावादी काव्य का अनुशीलन	सागर
९३.	छायावादोत्तर हिन्दी कविता—१९५५ तक	गुजरात
९४.	छायावादी युग के पश्चात् हिन्दी काव्य की विविध विकास-दिशाएँ (१९३६-१९५८)	०
९५.	छायावादोत्तर हिन्दी कविता का स्वरूप	लखनऊ
९६.	छायावादोत्तर हिन्दी कविता का विकास (१९३७-१९६०)	काशी

९७. छायावादोत्तर हिन्दी गीति-काव्य आगरा
९८. छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की भाषा-शैली का काव्यशास्त्रीय अध्ययन आगरा
९९. उत्तरछायावादी काव्य में प्रतीक और बिम्ब-विधान तथा उनका नृतत्वशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय और सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन पंजाब
१००. हिन्दी की प्रयोगवादी कविता और उसके प्रेरणा-स्रोत आनन्द
१०१. नई हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान दिल्ली
१०२. युद्धोत्तर हिन्दी-काव्य की पृष्ठभूमि राजस्थान
१०३. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता ०
१०४. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोकोन्मुखी चेतना सागर

९. गद्य, गद्यशैली और गद्यकाव्य

१. हिन्दी गद्य का विकास—१८०० से १८५६ ई० तक ०
२. हिन्दी गद्य साहित्य का विकास ०
३. हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास नागपुर
४. हिन्दी गद्य (भाषा और साहित्य) का निर्माण और विकास : देश के सुधारवादी और राजनैतिक आन्दोलनों के प्रकाश में परीक्षण (अद्यावधि) ०
५. हिन्दी गद्य के विविध साहित्य-रूपों के उद्भव और विकास का अध्ययन ०
६. हिन्दी का प्राचीन और मध्यकालीन गद्य ०
७. हिन्दी गद्य-विधाओं का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक निरूपण आगरा
८. हिन्दी गद्य-शैली का विकास काशी
९. हिन्दी गद्य-शैली का विकास १९१८ तक ०
१०. हिन्दी की प्रतिनिधि गद्य-शैलियों का आलोचनात्मक अध्ययन दिल्ली
११. युगेतर (?) हिन्दी गद्य-शैलियों के विकास में पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन प्रयाग
१२. हिन्दी गद्य-शैली पर छायावाद का प्रभाव पटना
१३. दक्खिनी का प्रारम्भिक गद्य ०
१४. हिन्दी गद्य के विकास में विदेशी एवं धार्मिक संस्थाओं का योगदान कलकत्ता
१५. हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में गद्य का विकास सागर
१६. आर्यसमाज का हिन्दी गद्य-साहित्य आगरा
१७. भारतेन्दु-युगीन हिन्दी गद्य का विकास जबलपुर
१८. द्विवेदी-युगीन हिन्दी गद्य-शैलियाँ ०
१९. हिन्दी गद्य का वैभव काल (१९२५-१९५०) ०
२०. द्विवेदी-युगोत्तर हिन्दी गद्य-शैलियों का अध्ययन सागर
२१. द्विवेदी-युग के पश्चात् हिन्दी की गद्य-शैलियाँ नागपुर
२२. हिन्दी-गद्य का वैभव काल १९२५ से ५० राजस्थान
२३. छायावाद-युग की गद्य-शैलियों का अध्ययन सागर
२४. छायावादी-कवियों का गद्य-साहित्य—एक अध्ययन लखनऊ
२५. छायावादी कवियों का गद्य-साहित्य दिल्ली
२६. छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य गोरखपुर
२७. आधुनिक गद्य-शैलियाँ (१९३६ से ५६) सागर
२८. हिन्दी गद्य-काव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन ०
२९. हिन्दी में गद्य-काव्य का विकास ०

१०. नाटक

१. भारतीय नाट्य परम्परा तथा हिन्दी नाटक आगरा
२. भारतीय नाटक का उद्भव और विकास ०
३. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास ०
४. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास ०
५. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास ०
६. हिन्दी नाटक के स्रोत—भारतेन्दु से १९५० तक प्रयाग
७. भारतेन्दु-कालीन नाटक-साहित्य ०
८. भारतेन्दु-युग के नाटककार ०
९. भारतेन्दु-कालीन नाटक और रंगमंच ०
१०. भारतेन्दु-युग के नाटकों का शास्त्रीय विवेचन प्रयाग
११. द्विवेदी-युगीन नाटक साहित्य लखनऊ
१२. हिन्दी के आधुनिक नाटक साहित्य में

परम्परा और प्रयोग—प्रसाद-युग से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक — आगरा
१३. प्रसाद के पश्चात् हिन्दी नाटकों का विकास — ०
१४. हिन्दी नाटक का विकास—१९४२ से १९५८ तक — राजस्थान
१५. हिन्दी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
१६. हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत — आगरा
१७. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक — आगरा
१८. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक — विक्रम
१९. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन — ०
२०. प्रसाद के विशिष्ट सन्दर्भ में हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन — कलकत्ता
२१. हिन्दी के ऐतिहानिक नाटकों की शिल्प-विधि — प्रयाग
२२. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों में शील-वैचित्र्य का अध्ययन — पटना
२३. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक—उनकी मूलभूत प्रवृतियाँ और प्रेरक शक्तियाँ — ०
२४. हिन्दी के यथार्थवादी तथा समस्यामूलक नाटकों का अध्ययन — सागर
२५. आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी नाटकों का विकास — ०
२६. हिन्दी साहित्य में समस्या नाटक — दिल्ली
२७. हिन्दी नाट्य साहित्य में नायक की परिकल्पना — प्रयाग
२८. हिन्दी नाटक में नायक का स्वरूप — पंजाब
२९. नाटकों में यथार्थवाद — ०
३०. हिन्दी नाटक में स्वच्छन्दतावाद — लखनऊ
३१. हिन्दी नाटक साहित्य में नारी-चित्रण — प्रयाग
३२. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नारी-चित्रण (बाबू हरिश्चन्द्र से लेकर अश्क तक) — ०
३३. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक एवं नायिका की परिकल्पना — आगरा
३४. प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों में रस-विधान — दिल्ली
३५. प्रसादोत्तर हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
३६. हिन्दी नाटकों में त्रासद-तत्त्व — दिल्ली
३७. हिन्दी नाटकों में हास्य-तत्त्व — प्रयाग
३८. हिन्दी नाटकों में हास्य-योजना — विक्रम
३९. हिन्दी के एकांकी नाटक — ०
४०. हिन्दी रंगमंच का विकास और एकांकी — लखनऊ
४१. हिन्दी एकांकी की शिल्प-विधि — आगरा
४२. हिन्दी भाव-प्रतीक, गीति-नाट्य तथा रेडियो नाटक और उनके लेखक — आगरा
४३. हिन्दी साहित्य में गीति-नाट्य का उद्भव और विकास — सागर
४४. हिन्दी के गीति-नाट्य — दिल्ली
४५. आरम्भिक मैथिली गीति-नाट्य — कलकत्ता
४६. मैथिली नाटकों का उद्भव और विकास — बड़ौदा
४७. पारसी रंगमंच : उसके नाटक और नाटककारों का आलोचनात्मक अध्ययन — विक्रम
४८. हिन्दी रंगमंच — नागपुर
४९. हिन्दी में रंगमंच का विकास — आगरा
५०. हिन्दी रंगमंच का विकास — दिल्ली
५१. हिन्दी नाटक और रंगमंच का विकास — पटना
५२. हिन्दी रंगमंच और रंगमंचीय नाटक — गोरखपुर
५३. हिन्दी नाट्य-साहित्य में कविता तथा गीत का प्रयोग — आगरा
५४. हिन्दी नाटकों में संगीत-तत्त्व — गोरखपुर
५५. आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाट्य-सिद्धान्त — दिल्ली
५६. हिन्दी नाटक के शिल्प का विकास — प्रयाग
५७. हिन्दी के नाट्य-रूपों का विकास—एक शिल्पगत अध्ययन — ०
५८. हिन्दी नाटक की शिल्प-विधि का विकास (भारतेन्दु-युग से १९५५ तक) — ०
५९. हिन्दी नाटकों का शास्त्र — आगरा
६०. हिन्दी नाटक-कला — आगरा
६१. हिन्दी के रेडियो रूपकों का शैलीगत अध्ययन — आगरा

११. कथा-साहित्य

१. हिन्दी गद्य-कथा और उसके पाठकों की रुचि का विकास — पटना

२. वर्तमान कथा के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन — राजस्थान
३. हिन्दी कथा-साहित्य में राष्ट्रीय भावना — उस्मानिया
४. हिन्दी कथा-साहित्य में चित्रित यौन-समस्या का अध्ययन — आगरा
५. हिन्दी कथा-साहित्य में सामाजिक आलोचना के तत्त्व : भारतेन्दु-युग से प्रेमचन्द तक — पटना
६. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र-विकास — भागलपुर
७. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान — ०
८. हिन्दी साहित्य में भावात्मक कहानी और उपन्यास की परम्परा तथा जयशंकर 'प्रसाद' के कथा-साहित्य का अनुशीलन — सागर
९. प्रेमचन्द-युगीन कथा-साहित्य (१९११-१९३६) में वातावरण-चित्रण — आगरा
१०. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथा-साहित्य के सांस्कृतिक स्रोत — प्रयाग
११. प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी में समाजवादी धारा का कथा-साहित्य — विक्रम
१२. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और नवीन जागृति (१९१९-१९५२) — राजस्थान
१३. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हिन्दी कथा-साहित्य में मध्यवर्ग — लखनऊ
१४. छायावादी युग का कथा-साहित्य — विक्रम
१५. हिन्दी कथा-साहित्य और प्रकृति — विक्रम
१६. जासूसी साहित्य — लखनऊ

उपन्यास

१७. हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा १८८१-१९१७ — भागलपुर
१८. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास — पटना
१९. हिन्दी उपन्यास का विकास — ०
२०. हिन्दी उपन्यास का विकास और विभिन्न प्रवृत्तियाँ—एक आलोचनात्मक अध्ययन — लखनऊ
२१. हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता — ०
२२. उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी उपन्यास — प्रयाग
२३. प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास — ०
२४. उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में प्रतिबिम्बित समाज — राँची
२५. द्विवेदी-युग के उपन्यासों का अध्ययन — ०
२६. प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों का शिल्प-विधान — सागर
२७. प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ और प्रभाव — ०
२८. प्रेमचन्द और उनके परवर्ती उपन्यासकारों की प्रमुख रचनाओं में प्रतिदर्शित उपन्यास शैली — आगरा
२९. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास — ०
३०. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास — सागर
३१. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण—१९३७-१९५७ — आगरा
३२. प्रेमचन्द-परवर्ती हिन्दी उपन्यास के प्रेरक स्रोत — दिल्ली
३३. प्रेमचन्दोत्तर समाजवादी विचारधारा के उपन्यास — सागर
३४. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ — आगरा
३५. प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास साहित्य में सामाजिक समस्याएँ — लखनऊ
३६. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में संक्रमणशील परिस्थितियों का चित्रण — आगरा
३७. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों का वस्तुरूपात्मक विकास — काशी
३८. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में मध्यकालीन जीवन — गोरखपुर
३९. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन — लखनऊ
४०. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज — पंजाब
४१. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नायक का विकास — नागपुर
४२. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास — लखनऊ
४३. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के वस्तु एवं कला पक्षों का अध्ययन — सागर

४४. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य—परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों का एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन — आगरा
४५. ऐतिहासिक उपन्यासों का और उस सन्दर्भ में विशेषकर हिन्दी में लिखे गए इसी जाति के उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन — आगरा
४६. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
४७. हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास — विक्रम
४८. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का प्रयोग — प्रयाग
४९. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास — काशी
५०. हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास — सागर
५१. हिन्दी साहित्य में गार्हस्थ्य उपन्यास — सागर
५२. हिन्दी के कौतूहल प्रधान (अय्यारी, तिलस्मी और जासूसी) उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन — आगरा
५३. हिन्दी के जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक व सामाजिक अध्ययन — राजस्थान
५४. हिन्दी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्यनन — लखनऊ
५५. हिन्दी उपन्यास और राजनैतिक आन्दोलन — लखनऊ
५६. हिन्दी उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना — लखनऊ
५७. हिन्दी उपन्यास में राष्ट्रीय भावना — दिल्ली
५८. हिन्दी उपन्यासों में राष्ट्रीय भावना का क्रमिक विकास (सन् १९४७ तक की कृतियों के आधार पर) — आगरा
५९. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी उपन्यास — ०
६०. हिन्दी के भावुकता-प्रधान उपन्यास — पटना
६१. हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में शृंगार-चित्रण — सागर
६२. (प्रेमचन्द के विशेष सन्दर्भ में) आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का विकास — प्रयाग
६३. हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आरम्भ और विकास—एक अनुशीलन — सागर
६४. हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से १९६१ तक — प्रयाग
६५. हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद — लखनऊ
६६. बीसवीं शताब्दी के हिन्दी उपन्यासों का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन — ०
६७. हिन्दी उपन्यासों की सामाजिक पृष्ठभूमि — लखनऊ
६८. हिन्दी उपन्यास : सामाजिक आधारभूमि—१९१६ से १९४७ तक — अलीगढ़
६९. हिन्दी उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अनुशीलन — विक्रम
७०. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक विषय-वस्तु — प्रयाग
७१. हिन्दी में सामाजिक उपन्यास — लखनऊ
७२. हिन्दी उपन्यासों में ग्राम-समस्या — उस्मानिया
७३. हिन्दी उपन्यासों की नवीन दिशाएँ — विक्रम
७४. हिन्दी उपन्यास-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन — ०
७५. हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास — प्रयाग
७६. हिन्दी उपन्यास के शिल्प-विधान का विकास (१९१७ से १९५८ तक) — पंजाब
७७. हिन्दी उपन्यासों के रचना-विधान का विकास और नायकत्व — काशी
७८. हिन्दी उपन्यासों की शिल्प-विधि का विकास — ०
७९. ,, ,, ,, — दिल्ली
८०. हिन्दी उपन्यासों में कथा-शिल्प का विकास — ०
८१. हिन्दी उपन्यास में कथानक — आगरा
८२. हिन्दी उपन्यासों की वस्तुयोजना का आलोचनात्मक अध्ययन — प्रयाग
८३. हिन्दी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास — ०
८४. हिन्दी उपन्यासों के चरित्रों के प्रकार और उनका विकास — ०
८५. आधुनिक हिन्दी उपन्यास की कुछ प्रमुख नायिकाओं का समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन — सागर
८६. हिन्दी उपन्यास में नायक की परिकल्पना — ०
८७. हिन्दी उपन्यास के नायकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन — सागर
८८. हिन्दी के लघु उपन्यास — प्रयाग

८९. हिन्दी उपन्यास में वातावरण-तत्त्व का योग — कुरुक्षेत्र

कहानी

९०. हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन — ०
९१. हिन्दी में लघु कथा का विकास — नागपुर
९२. आधुनिक हिन्दी साहित्य में आख्यायिका के विकास का विवेचनात्मक अध्ययन — ०
९३. हिन्दी का आधुनिक गल्प-साहित्य और प्रसाद — राजस्थान
९४. प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी कहानी-साहित्य का विकास — लखनऊ
९५. प्रेमचन्दोत्तर कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ — लखनऊ
९६. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास और उद्गम सूत्र — ०
९७. हिन्दी और मलयालम की छोटी कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन — सागर

१२. निबन्ध और आलोचना

निबन्ध

१. हिन्दी निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
२. हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास — ०
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास — राजस्थान
४. हिन्दी का निबन्ध साहित्य — पटना
५. व्यक्तिवादी निबन्ध (पर्सनल एस्से) के विकास का ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन — पटना
६. हिन्दी निबन्ध तथा सजातीय गद्य-रूपों का अध्ययन — सागर
७. निबध और उसका स्वरूप — पटना
८. निबन्ध का साहित्यिक विकास — दिल्ली

आलोचना

९. हिन्दी साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास — ०
१०. हिन्दी आलोचना का विकास — आगरा
११. आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास (१९००-५०) — सागर
१२. हिन्दी समालोचना का विकास — नागपुर
१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास (१८६८-१९४३) — ०
१४. ब्रजभाषा साहित्य में प्राप्त व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप — विक्रम
१५. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास — ०
१६. आधुनिक हिन्दी आलोचना — ०
१७. आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ — ०
१८. आधुनिक हिन्दी समीक्षा-पद्धतियों का विकासात्मक विवेचन — सागर
१९. १९०० से १९५० तक हिन्दी में समीक्षा का विकास — लखनऊ
२०. हिन्दी साहित्य में आलोचना और आलोचनात्मक चेतना के मूल-तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन — आगरा
२१. हिन्दी में मनोवैज्ञानिक आलोचना का उद्भव और विकास — गोरखपुर
२२. आधुनिक हिन्दी आलोचना में परम्परा, स्वच्छन्दता और वाद — सागर
२३. हिन्दी साहित्य में सामाजिक आलोचना के तत्त्व (भारतेन्दु युग से प्रेमचन्द तक) — पटना
२४. हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी समीक्षा और साहित्य-चिन्तन — सागर
२५. शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना — आगरा
२६. हिन्दी आलोचना को छायावादी कवियों की देन — लखनऊ

१३. इतिहास का विकास

१. हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न स्रोतों का विवेचन सं० १६४९ से १९४५ — आगरा
२. हिन्दी साहित्य में इतिहास का उद्भव और विकास — पंजाब
३. 'शिवसिंहसरोज' में दिए कवियों-सम्बन्धी तथ्य एवं तिथियों का आलोचनात्मक परीक्षण — ०

४. हिन्दी साहित्य का तिथिक्रम पटना
५. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (७५० वि० से १७०० वि०) ०
६. आदिकालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास का नवीन खोजों के आधार पर पुनर्मूल्यांकन (१००० से १४०० ई० तक) काशी
७. व्रजभाषा गद्य का विकास आगरा
८. राजस्थानी के गद्य-साहित्य का इतिहास और विकास ०
९. मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक) और उस पर अंग्रेज़ी का प्रभाव (अंग्रेज़ी विभाग) ०
१०. सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों की अवस्था का हिन्दी साहित्य के आधार पर अध्ययन (अंग्रेज़ी) ०
११. सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के हिन्दी साहित्य द्वारा इतिहास पर प्रकाश लखनऊ
१२. हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका ०
१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-से १९०० ई०) ०
१४. हिन्दी साहित्य का विकास (१९०० से १९२५ ई०) ०
१५. हिन्दी साहित्य (१९२६ से १९४७ ई०) ०
१६. हिन्दी साहित्य (१९२५-५० ई०) पटना
१७. प्रेमचन्द के पश्चात हिन्दी साहित्य का विकास सागर
१८. ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों में इतिहास का उपयोग प्रयाग

१४. सम्प्रदाय और पन्थ

१. पंजाब के गोसाईं सम्प्रदाय के हिन्दी कवि दिल्ली
२. चैतन्य सम्प्रदाय का हिन्दी के कृष्ण-भक्ति साहित्य पर प्रभाव (१६००-१७००) अलीगढ़
३. चैतन्य सम्प्रदाय की हिन्दी कविता बड़ौदा
४. मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण भक्ति-धारा और चैतन्य सम्प्रदाय ०
५. जसनाथी सम्प्रदाय गोरखपुर
६. तुराकलंगी सम्प्रदाय द्वारा हिन्दी साहित्य सेवा आगरा
७. दादूपन्थ के इतिहास और साहित्य का अध्ययन लखनऊ
८. दादूपन्थ और उसका साहित्य आगरा
९. बाबा धरणीदास और उनके सम्प्रदाय का अध्ययन आगरा
१०. नाथ-सम्प्रदाय और गोरखनाथ का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव गोरखपुर
११. नाथ-सम्प्रदाय का मध्यकालीन हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव ०
१२. नाथ-सम्प्रदाय के हिन्दी कवि ०
१३. स्वामी नारायण सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य आनन्द
१४. निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिन्दी कवि ०
१५. हिन्दी साहित्य पर निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रभाव प्रयाग
१६. निम्बार्क सम्प्रदाय और उसका हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर प्रभाव लखनऊ
१७. राजस्थान का निरंजन सम्प्रदाय राजस्थान
१८. निर्गुण मार्गी भक्तों के निरंजनी सम्प्रदाय का आलोचनात्मक अध्ययन काशी
१९. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय ०
२०. हिन्दी साहित्य के निर्गुण-सम्प्रदाय (१५वीं और १६वीं शताब्दी) में मधुरा भक्ति के तत्त्व अलीगढ़
२१. सन्तकवि पलटूदास और सन्त सम्प्रदाय ०
२२. सन्त कवि पलटूदास और निर्गुण सम्प्रदाय आगरा
२३. सन्त पलटूदास और उनका सम्प्रदाय लखनऊ
२४. सन्त पलटूदास और पलटू पन्थ आगरा
२५. बावरी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि ०
२६. महात्मा युगलशरण और उनके सम्प्रदाय में श्रृंगारी रामभक्त गोरखपुर
२७. सन्तकवि रविदास और उनका पन्थ ०

२८. राम-भ ०
२९. राधागोस्वामी पन्थ और उसका साहित्य आगरा
३०. राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हितहरिवंश का विशेष अध्ययन ०
३१. राम सनेही-सम्प्रदाय ०
३२. रामानन्द सम्प्रदाय के कुछ अज्ञात कवि और उनकी रचनाएँ आगरा
३३. वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों (विशेषकर परमानन्ददास और नन्ददास) का अध्ययन ०
३४. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव ०
३५. वल्लभ सम्प्रदाय में मधुर रस काशी
३६. श्री वल्लभ-सम्प्रदायी अष्टमपाठस्थ भक्त साहित्यकारों की साधना(आद्याचार्य श्री लालजी और केवलरामजी का प्रमुख अध्ययन तथा पाठ के अन्य साहित्यकारों का सामान्य परिचय) आगरा
३७. गोस्वामी विट्ठलदास और उनके शिष्य कवि सागर
३८. शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी काव्य ०
३९. सन्त-सम्प्रदाय और नाथ-सम्प्रदाय के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रयाग
४०. सतनामी सम्प्रदाय गोरखपुर
४१. सतनामी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि लखनऊ
४२. साध-सम्प्रदाय आगरा
४३. सिक्ख गुरुओं के साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि पंजाब
४४. स्वामी नारायण सम्प्रदाय (गुजरात का १७वीं शती वि० का कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय) का हिन्दी काव्य आगरा
४५. स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य ०
४६. हरिदासी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि लखनऊ
४७. वृन्दावन की रसोपासना (वृन्दावन के सखीभावोपासक-सम्प्रदायों के काव्य की भूमिका) आगरा
४८. स्वामी प्राणनाथ और धामी सम्प्रदाय का साहित्य सागर
४९. श्री वंशीअलीजी का सम्प्रदाय (ललित-सम्प्रदाय) सिद्धान्त और साहित्य आगरा

१५. समुदाय-विशेष

१. अवध के प्रमुख हिन्दी कवियों का अध्ययन (सं० १७०० से १९०० तक) ०
२. हिन्दी साहित्य को मध्यदेश की देन विक्रम
३. ब्रजभाषा साहित्य को राजस्थान की देन (राजस्थान का पिंगल साहित्य) ०
४. बैसवाड़े के हिन्दी कवि ०
५. हिन्दी साहित्य को मत्स्य प्रदेश की देन ०
६. हिन्दी काव्य को काशी की देन काशी
७. वृन्दावन की हिन्दी साहित्य को देन आगरा
८. उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में कानपुर के प्रमुख कवि-सुकमंडल के कवियों का विशेष अध्ययन लखनऊ
९. 'प्रभा' तथा 'प्रताप' के कवि और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का विशेष अध्ययन सागर
१०. सीतापुर ज़िले के हिन्दी कवि—एक अध्ययन लखनऊ
११. मध्य प्रदेश का आधुनिक हिन्दी काव्य सागर
१२. हिन्दी साहित्य को कूर्मांचल की देन आनन्द
१३. बुन्देलखण्ड का वीरकाव्य सागर
१४. बुन्देलखण्डी पद-साहित्य आगरा
१५. कुमायूँ के जैन साहित्य का अध्ययन—नैनीताल-अल्मोड़ा क्षेत्र आगरा
१६. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि ०
१७. हिन्दी साहित्य में हिन्दू राजकीय परिवारों का योगदान गोरखपुर
१८. राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवाएँ तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन ०

१९. रीवाँ दरबार के हिन्दी कवि		लखनऊ
२०. ,, ,,		०
२१. पन्ना-दरबार के कवि—लाल कवि के विशेष अध्ययन के साथ—१९०० तक		सागर
२२. अमेठी राज्य के हिन्दी कवि (जायसी को छोड़कर)		आगरा
२३. अमेठी दरबार के प्रमुख कवि		लखनऊ
२४. काशी राज्य के कवि और उनका काव्य		आगरा
२५. बुन्देलखण्ड के नरेश कवि		आगरा
२६. ओरछा-दरबार के हिन्दी कवि		आगरा
२७. ओरछा के हिन्दी कवि		लखनऊ
२८. सगरूर दरबार के कवियों की १९वीं शती के ब्रजभाषा-साहित्य को देन—कवि मृगेन्द्र के 'प्रेमपयोनिधि' के विशेष अध्ययन के आधार पर		पंजाब
२९. अयोध्या दरबार के कवि (१८०० से १८५०)		आगरा
३०. भोंसला राजाओं से सम्बन्धित, सम्मानित एवं आश्रय-प्राप्त हिन्दी कवि		पूना
३१. भगवन्तराय खीची और उनके मण्डल के कवि		०
३२. मिश्रबन्धु और उनका साहित्य—एक अध्ययन		०
३३. गुप्त बन्धुओं की साहित्यिक देन		लखनऊ
३४. मैथिली के कृष्ण-भक्त कवियों का अध्ययन		०
३५. भोजपुरी के सन्त कवि		आगरा
३६. गुजरात की हिन्दी सेवा		०
३७. गुजरात के कवियों की हिन्दी साहित्य को देन		०
३८. गुजराती कवियों की हिन्दी साहित्य को देन		अलीगढ़
३९. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन		०
४०. राजस्थानी सन्त कवि—उनका दर्शन तथा साहित्य		राजस्थान
४१. राजस्थानी वीर गीत		राजस्थान
४२. राजस्थानी दौहा		राजस्थान
४३. (ग्रन्थसाहिब के आधार पर) सिख गुरुओं का हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा को योगदान		प्रयाग
४४. मुसलमान भक्त-कवि		लखनऊ
४५. दक्खिनी के सूफी लेखक		०

१६. सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन

१. हिन्दी साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति	०
२. मध्ययुगीन कविता में सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्ष	बम्बई
३. मध्यकालीन हिन्दी कविता में भारतीय संस्कृति (१७०० से १९००)	०
४. मध्यकालीन हिन्दी कविता (१४००-१६००) में भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व	गोरखपुर
५. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में चित्रित समाज	०
६. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन	लखनऊ
७. इस्लामी संस्कृति का मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में योग	काशी
८. 'कवित्रय' (कबीर, सूर, तुलसी) : सामाजिक पक्ष	०
९. हिन्दी सन्त काव्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि	०
१०. सन्त काव्य (१४००-१७०० ई०) में सामाजिक चित्रण	लखनऊ
११. निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	०
१२. हिन्दी साहित्य के प्रेमगाथा काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन	आगरा
१३. हिन्दी सूफी काव्य में भारतीय संस्कृति	आगरा
१४. सगुण भक्ति-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	०
१५. अष्टछाप कवियों के काव्य (विशेषकर सूर साहित्य) में वर्णित ब्रज संस्कृति	०
१६. अष्टछाप के आधार पर तत्कालीन समाज और संस्कृति का अध्ययन	आगरा

१७. अष्टछाप कवियों की कविता का सांस्कृतिक अध्ययन	०
१८. ब्रज के सोलहवीं शती के हिन्दी कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य में भारतीय संस्कृति का चित्रण	आगरा
१९. कृष्ण-काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति	दिल्ली
२०. हिन्दी राम-काव्य की सामाजिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि (१६वीं-१७वीं शती)	०
२१. रीतिकालीन काव्य का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन	अलीगढ़
२२. रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में सामाजिक चित्रण	आगरा
२३. रीतिकालीन हिन्दी कविता में सामाजिक चित्रण	प्रयाग
२४. रीति-काव्य में पारिवारिक वातावरण	पटना
२५. आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक आलोक में आधुनिक हिन्दी कविता का अध्ययन (भारतेन्दु-युग से १९३६ तक)	काशी
२६. आधुनिक हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१८५७-१९२०)	आगरा
२७. आधुनिक हिन्दी साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१९२०-१९४७)	आगरा
२८. सामाजिक वातावरण के विशिष्ट सन्दर्भ में आधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचना	०
२९. आधुनिक सामाजिक आन्दोलन एवं आधुनिक साहित्य (१९००-१९५० ई०)	०
३०. आधुनिक हिन्दी कविता में समाज (१८८५-१९५० ई०)	०
३१. द्विवेदी-युग के काव्य का सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष	सागर
३२. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता के आधार पर भारतीय सामाजिक जीवन का अध्ययन	पटना

१७. लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति और लोक-तत्त्व

१. ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन	०
२. ब्रज के देवी-देवताओं से सम्बद्ध लोक-साहित्य का अध्ययन	आगरा
३. ब्रज लोक-चित्रकला-निबद्ध लोक-साहित्य	आगरा
४. अवधी का लोक-साहित्य	विक्रम
५. अवधी ग्राम-साहित्य	लखनऊ
६. बैंसवाड़ी के साहित्यकार (कवि, आलोचक, नाटककार, कथाकार)	लखनऊ
७. खड़ीबोली के लोक-साहित्य का अध्ययन	०
८. खड़ीबोली-प्रान्त का लोक-साहित्य	आगरा
९. भोजपुरी लोक-साहित्य	०
१०. भोजपुरी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
११. मगही बोली का लोक-साहित्य	पटना
१२. मालव लोक-साहित्य	०
१३. बुन्देली लोक-साहित्य	नागपुर
१४. बुन्देली लोक-साहित्य	विक्रम
१५. बुन्देली लोक-साहित्य	जबलपुर
१६. बुन्देलखण्ड के अज्ञात लोक-कवि : जीवन, ग्रन्थ एवं तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१७. बघेली लोक-साहित्य का अध्ययन	विक्रम
१८. छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य का अध्ययन	विक्रम
१९. छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य का अध्ययन	नागपुर
२०. हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य	०
२१. बाँगरू का लोक-साहित्य	आगरा
२२. मेवाड़ी लोक-साहित्य	राजस्थान
२३. पश्चिमी पर्वतीय लोक-साहित्य	पंजाब
२४. कुल्लवी लोक-साहित्य	पंजाब
२५. हिन्दी के आदिकाल के लौकिक काव्य का अध्ययन	प्रयाग
२६. मध्यकालीन जैन-लोक-कवियों की हिन्दी-सेवा	जबलपुर
२७. मालवी लोकगीत	०
२८. राजस्थानी लोकगीत	०
२९. मेरठ जनपद के लोकगीतों का अध्ययन	०
३०. मेरठ जनपद के संस्कार-विषयक लोकगीत	आगरा
३१. भोजपुरी और अवधी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा

३२.	भोजपुरी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन	आगरा
३३.	मैथिली लोकगीतों का अध्ययन	०
३४.	मैथिली लोकगीत	०
३५.	राजस्थानी नारी लोकगीत	राजस्थान
३६.	पंजाबी लोकगीत	आगरा
३७.	खड़ीबोली के लोकगीत	अलीगढ़
३८.	बुलन्दशहर के संस्कार-सम्बन्धी लोकगीतों का मध्य-वर्ग एवं निम्न-वर्ग के आधार पर अध्ययन	०
३९.	हड़ौती लोकगीत	विक्रम
४०.	ब्रज-बुन्देली लोकगीतों में कृष्ण-वार्ता	०
४१.	आगरा ज़िले के लोकगीतों का शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
४२.	(हिन्दी की उपभाषा) कुमायूँनी के कवियों (१८००-१९६० ई०) का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा
४३.	कुमायूँ के लोकगीत	लखनऊ
४४.	संस्कार-सम्बन्धी लोकगीत (बुलन्दशहर तथा निम्नवर्गीय परिवारों से प्राप्त गीतों के आधार पर)	आगरा
४५.	बुन्देलखण्ड के लोकगीत तथा लोककवि ईसुरी का विशेष अध्ययन	आगरा
४६.	बुन्देलखण्ड प्रदेश के लोकगीत	सागर
४७.	भारतीय लोककथाएँ	विक्रम
४८.	हिन्दी की क्षेत्रीय लोककथाओं के कथामापक रूप तथा अभिप्राय	आगरा
४९.	भोजपुरी लोकगाथा	०
५०.	भोजपुरी लोकगाथा साहित्य का तात्त्विक तथा तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
५१.	राजस्थानी लोककथाएँ	०
५२.	पंजाबी की लोककथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	पंजाब
५३.	कुमायूँ के जन-साहित्य का अध्ययन (नैनीताल-अल्मोड़ा क्षेत्र)	०
५४.	कुमायूँ की लोक-गाथाओं का अध्ययन तथा भोजपुरी लोक-गाथाओं के साथ उनकी तुलना	आगरा
५५.	लोककथा लोरिकायन	आगरा
५६.	कुरु प्रदेश की स्वाँग-कला	आगरा
५७.	राजस्थानी-लोक-नाटक (ख्याल-साहित्य) का एक अध्ययन	०
५८.	हिन्दी में लोक-नाट्य का शिल्प-विकास	पटना
५९.	हिन्दी में लोक-नाट्य परम्परा	दिल्ली
६०.	लोक-नाटकों में धार्मिक तत्त्व	पटना
६१.	प्रेमाख्यान काव्य में लोक-संस्कृति	लखनऊ
६२.	रीतियुगीन काव्य में लोक-जीवन	लखनऊ
६३.	अवधी साहित्य और लोक-संस्कृति	नागपुर
६४.	अवधी लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा सामाजिक अध्ययन	प्रयाग
६५.	प्रेमचन्द के समवर्ती कथा-साहित्य में लोक-संस्कृति	लखनऊ
६६.	उत्तर भारतीय लोकगीतों का समाजशास्त्रीय अनुशीलन	सागर
६७.	अवधी लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन	प्रयाग
६८.	कुमायूँ लोकगीतों तथा लोककथाओं का समाज-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
६९.	कुमायूँ के लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन	अलीगढ़
७०.	इलाहाबाद तथा प्रतापगढ़ ज़िलों के लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषागत अध्ययन	प्रयाग
७१.	अलीगढ़ तथा मथुरा ज़िलों के लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषागत अध्ययन	प्रयाग
७२.	बघेलखण्ड प्रदेश की लोकोक्तियाँ, मुहावरे ओर लोककथाएँ	०
७३.	भोजपुरी कहावतों का सांस्कृतिक अध्ययन	०
७४.	कुमायूँनी और गढ़वाली कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
७५.	हरियाना की लोक-संस्कृति और साहित्य	पजाब
७६.	कन्नौजी बोली के साहित्य में सामाजिक प्रतिबिम्ब	आगरा
७७.	बाँगरू बोली (रोहतक जिले के आधार पर)	

में सामाजिक स्तरों तथा सम्बन्धों की अभिव्यक्ति — आगरा
७८. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के प्रेमगाथा-काव्य और भक्ति-काव्य में लोकवार्ता-तत्त्व — ०
७९. हिन्दी भक्ति-साहित्य में लोकतत्त्व — ०
८०. हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्त्व — ०
८१. बैतालपचीसी और उसकी हिन्दी परम्परा का लोक-साहित्य की दृष्टि से अध्ययन — आगरा
८२. सिंहासनबतीसी तथा उसकी हिन्दी परम्परा का लोक-साहित्य की दृष्टि से अध्ययन — आगरा
८३. हिन्दी साहित्य में लोकतत्त्व — प्रयाग
८४. हिन्दी सन्त काव्य (१४५०-१७०० ई०) में लोकतत्त्व — प्रयाग
८५. सन्तकाव्य का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
८६. हिन्दी सन्त-साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि — प्रयाग
८७. सूफी प्रेमकाव्यों में लोक तत्व — विक्रम
८८. सूरसागर का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
८९. रामचरितमानस का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
९०. हिन्दी नाटकों (१९४७ तक) का लोक-तात्त्विक अध्ययन — आगरा
९१. हिन्दी उपन्यास का लोकतात्त्विक अध्ययन — आगरा
९२. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में लोकतत्त्व — आगरा
९३. मालवी एवं निमाड़ी प्रहेलिका साहित्य — विक्रम
९४. ब्रज की लोककथाएँ — आगरा

१८. नारियों का योगदान और नारी-चित्रण

१. हिन्दी साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान — नागपुर
२. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ — ०
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में नारियों का योगदान (संवत् १९००-२०००) — दिल्ली
४. हिन्दी साहित्य को नारी कलाकारों की देन (१९२०-१९६०) — सागर
५. आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास में स्त्रियों का योगदान — गोरखपुर
६. विगत शताब्दी की हिन्दी कवयित्रियाँ एवं कहानी-लेखिकाएँ (१८६०-१९६०) — आगरा
७. आधुनिक हिन्दी साहित्य में कवयित्रियाँ (सं० १९००-२०००) — गुजरात
८. अवध की हिन्दी कवयित्रियाँ — लखनऊ
९. हिन्दी के गद्य और कथा-साहित्य में स्त्रियों का कार्य — गोरखपुर
१०. हिन्दी की गद्य-लेखिकाएँ — आनन्द
११. हिन्दी कथा-साहित्य को नारियों की देन — लखनऊ
१२. हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में नारियों का योग—सं० १९२५ से अब तक — आगरा
१३. हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में नारी — उस्मानिया
१४. हिन्दी के प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों में नारी का स्वरूप — पंजाब
१५. हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण — ०
१६. मध्ययुगीन साहित्य में नारी — ०
१७. मध्यकालीन काव्य में नारी-भावना — ०
१८. भक्ति-काल में नारी-चित्रण — आगरा
१९. भक्तिकालीन काव्य में नारी — ०
२०. रीति-काल में नारी-चित्रण — नागपुर
२१. रीति-साहित्य में नारी-भावना — काशी
२२. आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी (१८५० से १९३६ ई०) — ०
२३. आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी — ०
२४. आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी-चित्रण (सन् १८५०-१९५० तक) — ०
२५. आधुनिक हिन्दी काव्य (१९००-१९४५ ई०) में नारी-भावना — ०
२६. छायावादी हिन्दी काव्य और नारी — आगरा
२७. हिन्दी नाटकों में नारी — आगरा
२८. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नारी-चित्रण — ०
२९. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नारी-चित्रण (बाबू हरिश्चन्द्र से लेकर 'अश्क' तक) — आगरा
३०. प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य में नारी-भावना — लखनऊ
३१. हिन्दी उपन्यासों में नारी — ०
३२. हिन्दी उपन्यास में नारी-चित्रण — ०
३३. हिन्दी उपन्यास में नारी — लखनऊ

३४. हिन्दी उपन्यासों में नारी-चित्रण — नागपुर
३५. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में नारी का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास — जबलपुर
३६. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना — प्रयाग
३७. प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन — लखनऊ
३८. जैनेन्द्र के उपन्यासों में नारी-पात्र — पूना
३९. आधुनिक भारतीय समाज में नारी और प्रसाद के नारी-पात्र — ०

१९. तुलनात्मक अध्ययन

१. अवधी, ब्रज और भोजपुरी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — ०
२. हिन्दी काव्य में बिम्ब-विधान का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन — पटना
३. प्राचीन और नवीन रहस्यवादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
४. प्राचीन और नवीन हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
५. सूफी और अ-सूफी प्रेमाख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन — ०
६. सूफी तथा अन्य प्रेमाख्यानक काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — ०
७. नाथ और सन्त साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
८. विद्यापति तथा सूरदास की भक्ति तथा शृंगार-भावना : एक तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
९. कबीर और कबीर पन्थ का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१०. अबीर, नानक और दादू का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
११. हिन्दी सन्त साहित्य के तत्कालीन तथा परम्परागत तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१२. महाराष्ट्रीय सन्तों की हिन्दी कविता एवं उत्तर भारतीय सन्त कविता से उसका तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय तथा साहित्यिक विवेचन — विक्रम
१३. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में शृंगार-प्रसाधन और तत्कालीन मूर्तिकला तथा चित्रकला में प्राप्त सामग्री से तुलना (१५००-१८००) — प्रयाग
१४. मध्यकालीन भक्ति-काव्य की साहित्यिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन — काशी
१५. हिन्दी गीति-काव्य परम्परा में मीरा और महादेवी : एक तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१६. हिन्दी आलोचना के विकास का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
१७. द्विवेदी-युगीन खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
१८. छायावाद के सन्दर्भ में कवि प्रसाद और पन्त का तुलनात्मक अध्ययन — विक्रम
१९. प्राचीन और नवीन हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
२०. प्रसाद तथा प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२१. प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दवर्ती हिन्दी-उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
२२. आधुनिक हिन्दी काव्य पर गांधीवादी एवं मार्क्सवादी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर

हिन्दी एवं अहिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन :

२३. संस्कृत और हिन्दी के प्रमुख काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन — पटना
२४. संस्कृत और हिन्दी काव्य-शास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२५. संस्कृत और आधुनिक हिन्दी नाट्य-शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
२६. उपनिषदों तथा हिन्दी काव्यों की निर्गुण-धारा का तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन (संस्कृत)
२७. हिन्दी और फारसी सूफी काव्य—एक तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब

२८. हिन्दी और उर्दू गद्य का विकास (१८००-से १६०० तक) : भाषा और साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
२६. हिन्दी और उर्दू का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
३०. हिन्दी और उर्दू के पद्य साहित्य (सं० १७००-१६००) की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
३१. आधुनिक हिन्दी और उर्दू काव्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन—सन् १६०० से १६६० तक — आगरा
३२. हिन्दी और उर्दू काव्य (१७५८-१८५०) का तुलनात्मक अध्ययन — पटना
३३. हिन्दी और उर्दू के प्रेमाख्यानक काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
३४. रीति-कालीन हिन्दी तथा उर्दू काव्य में विरह-वर्णन (१८वीं शताब्दी) : तुलनात्मक अध्ययन — अलीगढ़
३५. हिन्दी साहित्य में रीति-मुक्त काव्य-धारा एवं उर्दू साहित्य में ग़ालिब-युगीन काव्य-धारा का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
३६. उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी और उर्दू काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर
३७. २०वीं शती के प्रथम चरण के हिन्दी और उर्दू साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
३८. बँगला, मराठी और गुजराती के रंगमंच के सन्दर्भ में हिन्दी रंचमंच और नाटकों का विशेष अध्ययन — प्रयाग
३६. हिन्दी और मराठी की मानवतावादी तथा राष्ट्र-वादी काव्य-प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अनुशीलन — नागपुर
४०. हिन्दी और मराठी के सन्त-कवियों का तुलनात्मक अध्ययन — ०
४१. हिन्दी और मराठी के सन्त-कवियों का निर्गुण काव्य (११वीं से १५वीं शती)—तुलनात्मक अध्ययन — ०
४२. मराठी और हिन्दी के वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
४३. मराठी और हिन्दी के कृष्णपरक वष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (११वीं से १६वीं शती तक) — पंजाब
४४. मराठी के सन्त कवि नामदेव, ज्ञानेश्वर एवं तुकाराम और हिन्दी सन्त कवि कबीर, नानक एवं दादू का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
४५. हिन्दी और मराठी के राम-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
४६. हिन्दी और मराठी के आधुनिक गीति-काव्य का तुलनात्मक अनुशीलन — नागपुर
४७. हिन्दी और मराठी कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — ०
४८. आधुनिक मराठी और हिन्दी कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (१६०० से १६५० तक) — प्रयाग
४६. हिन्दी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन—(१६०० से १६५० तक) — ०
५०. मराठी और हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास — बम्बई
५१. हिन्दी और मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१६०० -१६६० तक) — आगरा
५२. हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१६२० से १६४७) — बम्बई
५३. हिन्दी और मराठी के समस्यामूलक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — पूना
५४. हिन्दी और मराठी के समस्या नाटक : तुलनात्मक अध्ययन — पूना
५५. हिन्दी और मराठी नाटक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
५६. बीसवीं शताब्दी के मराठी और हिन्दी नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
५७. हिन्दी और मराठी के ऐतिहासिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
५८. हिन्दी और मराठी अलंकारशास्त्र — उस्मानिया

५९. आधुनिक हिन्दी और मराठी काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन — ०

६०. गुजराती और हिन्दी का भक्ति-साहित्य — बम्बई

६१. हिन्दी और मराठी-गुजराती सन्तकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

६२. हिन्दी और गुजराती सन्तकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

६३. हिन्दी तथा गुजराती पुष्टिमार्गी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग

६४. हिन्दी तथा गुजराती का राम-साहित्य — बड़ौदा

६५. गुजराती तथा हिन्दी राम काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली

६६. हिन्दी और गुजराती की राष्ट्रीय कविता का तुलनात्मक अध्ययन — आनन्द

६७. हिन्दी और गुजराती वर्तमान गीति-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन — आनन्द

६८. हिन्दी और गुजराती उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग

६९. हिन्दी और गुजराती के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

७०. स्वतन्त्रता-पूर्व हिन्दी और गुजराती के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

७१. आधुनिक हिन्दी तथा गुजराती उपन्यास—तुलनात्मक अध्ययन — राजस्थान

७२. हिन्दी और गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

७३. हिन्दी और गुजराती के एकांकी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — आनन्द

७४. मध्यकालीन हिन्दी और पंजाबी सन्तों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन — ०

७५. हिन्दी और पंजाबी के निर्गुण काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन* — ०

७६. पंजाबी तथा हिन्दी में सूफ़ी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब

७७. हिन्दी प्रेमाख्यान तथा पंजाबी किस्सा-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — पंजाब

७८. रंगमंच की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी और पंजाबी नाटक — पंजाब

७९. पंजाबी और हिन्दी के वार्ता साहित्य में अभिप्राय

८०. हिन्दी और सिन्धी सन्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन — लखनऊ

८१. आधुनिक हिन्दी और काश्मीरी कविता का तुलनात्मक अध्ययन (राष्ट्रीय और प्रगतिवादी साहित्य के विशिष्ट सन्दर्भ में) — लखनऊ

८२. बँगला और हिन्दी के भक्त कवि—विशेषकर तुलसीदास का अध्ययन — कलकत्ता

८३. आधुनिक हिन्दी और बंगला काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली

८४. आधुनिक हिन्दी और बँगला गद्य-शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली

८५. हिन्दी और बँगला के वैष्णव कवियों (सोलहवीं शताब्दी) का तुलनात्मक अध्ययन — ०

८६. स्वच्छन्दतावादी और राष्ट्रीय कविता के विशेष उल्लेख के साथ हिन्दी और बँगला कविता (१९१३-१९३७) का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा

८७. हिन्दी और बँगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — गोरखपुर

८८. हिन्दी और बँगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — सागर

८९. आधुनिक बँगला और हिन्दी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग

९०. हिन्दी और बँगला नाटकों तथा रंगमंच का तुलनात्मक अध्ययन — शान्तिनिकेतन

९१. हिन्दी तथा बँगला के ऐतिहासिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली

९२. हिन्दी और बँगला के समस्या नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली

९३. संस्कृत एवं अंग्रेज़ी एकांकी की रचना-विधि के प्रकाश में हिन्दी एकांकी रचना-विधि का तुलनात्मक अध्ययन — लखनऊ

९४. बीसवीं शती के हिन्दी और बँगला उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — कलकत्ता
९५. प्रेमचन्दोत्तर बँगला और हिन्दी उपन्यास — गोरखपुर
९६. हिन्दी और उड़िया वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — प्रयाग
९७. हिन्दी और उड़िया के मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — पटना
९८. शंकरदेव और माधवदेव के विशिष्ट सन्दर्भ में हिन्दी और आसामी वैष्णव कविता का तुलनात्मक अध्ययन — ०
९९. हिन्दी और तेलुगु साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन — काशी
१००. हिन्दी और तेलुगु के वैष्णव-भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन—१५वीं एवं १६वीं शती — वेंकटेश्वर
१०१. हिन्दी और तेलुगु के मध्यकालीन राम-साहित्य का तुलनात्मक अनुशीलन — सागर
१०२. आन्ध्र हिन्दी रूपक (हिन्दी और तेलुगु) का नाटक-साहित्य—एक अध्ययन — •
१०३. हिन्दी और आन्ध्र के महाकाव्यों के रचना-विधान का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
१०४. हिन्दी एवं आधुनिक तेलुगु कविता का तुलनात्मक अध्ययन — वेंकटेश्वर
१०५. हिन्दी और तेलुगु के प्रतिनिधि सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
१०६. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१०७. हिन्दी तथा कन्नड़ साहित्य में श्रीकृष्ण का स्वरूप — मैसूर
१०८. हिन्दी नाटक-साहित्य का विकास तथा कन्नड़-नाट्य-साहित्य से उसकी प्रासंगिक तुलना — ०
१०९. हिन्दी और कन्नड़ साहित्य में त्रासदी : तुलनात्मक अध्ययन — दिल्ली
११०. हिन्दी और मलयालम के भक्त-कवियों का तुलनात्मक अध्ययन — ०
१११. हिन्दी और मलयालम के भक्त-काव्य में वात्सल्य रस : एक तुलनात्मक अध्ययन — सागर
११२. हिन्दी और मलयालम साहित्य में रामकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
११३. हिन्दी और मलयालम कविता पर राष्ट्रीयतावाद का प्रभाव : एक तुलनात्मक अध्ययन — केरल
११४. आधुनिक हिन्दी और मलायलम कविता में अंकित सामाजिक चित्र का तुलनात्मक अध्ययन — केरल
११५. आधुनिक हिन्दी और मलयालम काव्य में प्रकृति का उपयोग — सागर
११६. हिन्दी और मलयालम कविता में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति — दिल्ली
११७. मलयालम और हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन — केरल
११८. बीसवीं शताब्दी के हिन्दी काव्य और मलयालम-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन (१९२०-१९५०) — ०
११९. हिन्दी और मलयालम के आधुनिक गद्य का विकास — सागर
१२०. हिन्दी और मलयालम की गद्य शैलियाँ—एक तुलनात्मक अध्ययन — सागर
१२१. हिन्दी और मलयालम के आधुनिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१२२. हिन्दी और मलयालम के आधुनिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — केरल
१२३. हिन्दी और मलयालम के आधुनिक सामाजिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
१२४. वर्तमान हिन्दी और मलयालम के उपन्यास और हीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन — सागर
१२५. हिन्दी और मलयालम के सामाजिक उपन्यास (१९००-१९६०) — ०
१२६. हिन्दी तथा मलयालम के आधुनिक समीक्षा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन १९०० से १९६० तक — सागर

१२७. आधुनिक तमिल और हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना — दिल्ली
१२८. रीति-काल तथा हिन्दी लक्षण-ग्रंथों तथा १७वीं शती के आंग्ल नव्य-शास्त्र-समीक्षा-ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन — आगरा
१२९. हिन्दी तथा अंग्रेज़ी के ऐतिहासिक उपन्यास (वृन्दावनलाल वर्मा तथा वाल्टर स्काट के विषय में विशेष अध्ययन के साथ) — आगरा

२०. प्रभावनिरूपक विषय

१. साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव — ०
२. रीति-कालीन हिन्दी-मुक्तक काव्य पर संस्कृत-मुक्तक काव्य का प्रभाव — पंजाब
३. रीति-कालीन हिन्दी काव्य पर संस्कृत काव्य-शास्त्र का प्रभाव — लखनऊ
४. रीति-कालीन हिन्दी-काव्य पर संस्कृत काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रभाव — पंजाब
५. हिन्दी के काव्यशास्त्र पर संस्कृत काव्य-शास्त्र का प्रभाव — आगरा
६. हिन्दी के रीति-कालीन अलंकार-ग्रन्थों पर संस्कृत का प्रभाव — आगरा
७. आधुनिक हिन्दी समीक्षा पर संस्कृत-साहित्य-शास्त्र तथा संस्कृत-समीक्षा के प्रभाव का अनुशीलन — विक्रम
८. हिन्दी साहित्य पर पौराणिकता का प्रभाव — ०
९. हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य पर पौराणिक प्रभाव — ०
१०. भक्ति-कालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पौराणिक प्रभाव (संस्कृत) — ०
११. श्रीमद्भागवत का हिन्दी कृष्ण-साहित्य पर प्रभाव — ०
१२. महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध-काव्य पर प्रभाव — दिल्ली
१३. महाभारत का आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) के पौराणिक महाकाव्यों की कथावस्तु पर प्रभाव — आगरा
१४. खड़ी बोली के प्रबन्ध-काव्यों पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव — दिल्ली
१५. वैदिक दर्शन का हिन्दी कविता पर प्रभाव — आगरा
१६. सन्त साहित्य पर उपनिषदों का प्रभाव — लखनऊ
१७. सन्त-वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव (१४००-१७००) — ०
१८. परवर्ती सन्त काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव—१७०० ई० के पश्चात् — आगरा
१९. हिन्दी सन्तों (विशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीरदास) पर वेदान्त-पद्धतियों का ऋण (दर्शन) — ०
२०. विशिष्टाद्वैत और उसका हिन्दी के भक्ति-काव्य पर प्रभाव (संस्कृत) — ०
२१. मध्यकालीन हिन्दी-काव्य पर शैव और शाक्त प्रभाव — पटना
२२. हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर शैव-धर्म का प्रभाव — आगरा
२३. हिन्दी में मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव — ०
२४. हिन्दी साहित्य पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव — पंजाब
२५. बौद्ध धर्म का मध्ययुगीन हिन्दी सन्त-साहित्य पर प्रभाव — आगरा
२६. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर बौद्ध-प्रभाव — दिल्ली
२७. १६वीं शताब्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य पर आलवर भक्तों का प्रभाव — अलीगढ़
२८. प्राकृत अपभ्रंश का साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव — ०
२९. डिंगल साहित्य और भाषा पर प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव — राजस्थान
३०. अपभ्रंश काव्य-शैली की परम्पराओं का मध्यकालीन हिन्दी काव्य पर प्रभाव — आगरा
३१. प्राचीन हिन्दी साहित्य पर जैन-साहित्य का प्रभाव — ०
३२. हिन्दी के निर्गुण सन्त-कवियों पर नाथपन्थ का प्रभाव — ०
३३. सूफीमत और सन्त काव्य पर उसका प्रभाव — लखनऊ
३४. सूफी प्रेमतत्त्व का कृष्ण-भक्ति पर प्रभाव — अलीगढ़

३५. रीति-काव्य पर विद्यापति का प्रभाव ०
३६. हिन्दी रीति-काव्य पर हिन्दी भक्ति-काव्य का प्रभाव प्रयाग
३७. १६वीं शताब्दी के कृष्ण-काव्य का बाद के हिन्दी काव्य पर प्रभाव प्रयाग
३८. रीति-काव्य पर अष्टछाप का प्रभाव आगरा
३९. रीति-कविता का आधुनिक हिन्दी कविता पर प्रभाव ०
४०. आधुनिक हिन्दी कविता पर स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव पंजाब
४१. २०वीं शताब्दी की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ और उनका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव (१९००-१९३६) ०
४२. आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव आगरा
४३. आधुनिक भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन का हिन्दी कविता पर प्रभाव दिल्ली
४४. छायावादी युग की सामाजिक, राजनीतिक, और दार्शनिक पीठिका तथा कवियों पर उसका प्रभाव सागर
४५. हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में भारतीय नेताओं का योगदान तथा प्रभाव (१८५७-१९५७) ०
४६. हिन्दी साहित्य पर राजनीतिक आन्दोलनों का प्रभाव (१९०६-१९४७) ८
४७. औद्योगिक विकास और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव बम्बई
४८. हिन्दी भाषा साहित्य पर महात्मा गांधी का प्रभाव पटना
४९. गांधीवाद और उससे प्रभावित हिन्दी साहित्य सागर
५०. गांधीवाद का आधुनिक हिन्दी साहित्य पर प्रभाव नागपुर
५१. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव सागर
५२. आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव आगरा
५३. गांधीवाद का आधुनिक उपन्यास तथा नाटक पर प्रभाव आगरा
५४. बँगला (भाषा और साहित्य) पर हिन्दी (भाषा और साहित्य) का प्रभाव ०
५५. बँगला का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव नागपुर
५६. आधुनिक हिन्दी साहित्य और बँगला साहित्य का प्रभाव ०
५७. आधुनिक हिन्दी गद्य पर बँगला साहित्य का प्रभाव पंजाब
५८. हिन्दी के छायावादी काव्य पर बँगला का प्रभाव (रवीन्द्रनाथ के प्रभाव के विशेष उल्लेख के साथ) पटना
५९. आधुनिक हिन्दी काव्य पर रवीन्द्र काव्य का प्रभाव आगरा
६०. हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव राजस्थान
६१. आधुनिक मनोविज्ञान और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव सागर
६२. पाश्चात्य विचारों और विचारधाराओं का आधुनिक हिन्दी साहित्य और उसके साहित्य-सिद्धान्तों पर प्रभाव काशी
६३. हिन्दी कविता पर विदेशी प्रभाव नागपुर
६४. हिन्दी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव पंजाब
६५. हिन्दी नाटकों और उपन्यासों पर पाश्चात्य (आंग्ल, रूसी तथा फ्रान्सीसी) प्रभाव ०
६६. हिन्दी का नव्यतम काव्य और पश्चिम का प्रभाव सागर
६७. अंग्रेज़ी का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव ०
६८. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव राजस्थान
६९. आधुनिक हिन्दी-काव्य और आलोचना पर अंग्रेज़ी प्रभाव (अंग्रेज़ी) ०

७०. हिन्दी के छायावादी कवियों पर अंग्रेज़ी के रोमाण्टिक कवियों का प्रभाव — अलीगढ़
७१. हिन्दी साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव — ०
७२. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव — ०
७३. हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव — लखनऊ
७४. अंग्रेज़ी नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव (अंग्रेज़ी विभाग) — ०
७५. हिन्दी कथा-साहित्य के विकास पर आंग्ल प्रभाव—१८८५ से १९३६ ई० तक (अंग्रेज़ी) — ०
७६. मध्यवर्ग का उदय और हिन्दी उपन्यासों पर उसका प्रभाव — काशी
७७. परवर्ती हिन्दी उपन्यास साहित्य पर प्रेमचन्द का प्रभाव — प्रयाग
७८. आधुनिक हिन्दी उपन्यास पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव — सागर
७९. हिन्दी-उपन्यासकारों के सिद्धान्त और विनियोग पर शरच्चन्द्र का प्रभाव — पटना
८०. हिन्दी उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव — ०
८१. हिन्दी उपन्यासों पर अंग्रेज़ी प्रभाव — पटना
८२. अंग्रेज़ी उपन्यासों का हिन्दी उपन्यासों पर प्रभाव — काशी
८३. अंग्रेज़ी निबन्धों का हिन्दी निबन्धों पर प्रभाव — आगरा
८४. संस्कृत और अंग्रेज़ी आलोचना के सिद्धान्तों का हिन्दी-आलोचना-पद्धति पर प्रभाव — प्रयाग
८५. आधुनिक हिन्दी आलोचना पर मार्क्सवाद का प्रभाव — आगरा

विविध

१. हिन्दी साहित्य और आलोचना में अभिरुचि का विकास — ०
२. हिन्दी साहित्य में संगीत — लखनऊ
३. साहित्यिक वृत्त (१८४०-१९४०) साहित्य की मानवीय पृष्ठभूमि का अध्ययन — प्रयाग
४. प्रयाग का साहित्यिक वृत्त (१८५०-१९५०) साहित्य की मानवीय पृष्ठभूमि का अध्ययन — प्रयाग
५. हिन्दी में बाल-साहित्य — लखनऊ
६. हिन्दी का बालोपयोगी साहित्य — आगरा
७. हिन्दी साहित्य में बालक — लखनऊ
८. हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ — लखनऊ
९. हिन्दी साहित्य में ग्राम जीवन — पटना
१०. दूतकाव्य का उद्भव और विकास — आगरा
११. हिन्दी का स्तोत्र-साहित्य — बड़ौदा
१२. हिन्दी साहित्य में स्तुति और मंगलाचरण — लखनऊ
१३. हिन्दी नाममाला साहित्य — ०
१४. हिन्दी साहित्य में व्यंग्य (१८५७-१९५७) — पंजाब
१५. हिन्दी साहित्य में स्वभावोक्ति — दिल्ली
१६. हिन्दी साहित्य में हास्य और वाक्चातुर्य — लखनऊ
१७. हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता — बड़ौदा
१८. हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयवाद — पंजाब
१९. भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति (१९२०-१९३७) — ०
२०. हिन्दी साहित्य और अद्वैतवाद — पंजाब
२१. हिन्दी शिव काव्य — आगरा
२२. प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा — ०
२३. वार्ता साहित्य का जीवनीमूलक अध्ययन — ०
२४. पुष्टिमार्गीय वार्ता साहित्य का सैद्धान्तिक तथा भक्तिपरक अध्ययन — अलीगढ़
२५. हिन्दी द्विरुक्तियों का अध्ययन — आगरा
२६. हिन्दी साहित्य में विविधवाद — ०
२७. यथार्थवाद, चिन्तन और कला—आधुनिक साहित्य की भूमिका पर — सागर
२८. हिन्दी साहित्य में जीवनचरित का विकास—एक अध्ययन — ०
२९. हिन्दी में जीवनी और आत्मकथा-विषयक साहित्य — पटना
३०. हिन्दी साहित्य में आत्मकथात्मक संकेत — आगरा
३१. हरिभद्र प्राकृत के कथा-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन — ०
३२. अपभ्रंश कथा-साहित्य — शान्तिनिकेतन
३३. भविसयत कहा और अपभ्रंश-कथा-काव्य — आगरा

३४. जैन विद्वानों की हिन्दी साधना	नागपुर
३५. हिन्दी साहित्य में जैन गद्य लेखक	आगरा
३६. हिन्दी जैन कथा-साहित्य	आगरा
३७. हिन्दी जैन-साहित्य में कृष्णवार्ता	आगरा
३८. हिन्दी में जैन पद-साहित्य	आगरा
३९. अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य में (१८वीं शती तक) जैन रहस्यवाद का अध्ययन	आगरा
४०. आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य	०
४१. हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन	०
४२. शाक्त-दर्शन और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य	आगरा
४३. ध्रुवपद और हिन्दी साहित्य	०
४४. डिंगल का गद्य साहित्य (१५वीं से १९वीं शती तक)	आगरा
४५. अवधी साहित्य का अध्ययन (तुलसी और जायसी को छोड़कर)	प्रयाग
४६. अपभ्रंश साहित्य	०
४७. अपभ्रंश साहित्य	०
४८. अपभ्रंश साहित्य में श्रृंगार	लखनऊ
४९. सिद्धनाथ-साहित्य का दार्शनिक और सामाजिक अध्ययन	कलकत्ता
५०. सिद्ध-साहित्य	०
५१. हिन्दी साहित्य के आदि-काल (११५०-१४०० ई०) के धार्मिक साहित्य का अध्ययन	प्रयाग
५२. मध्य प्रदेश के क्षेत्र में कबीर मत और उसका विकास	सागर
५३. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य (१७वीं-१८वीं शती)	०
५४. गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी गद्य-साहित्य	दिल्ली
५५. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी गद्य (१८वीं और १९वीं शती)	पंजाब
५६. गुजराती हस्तलिखित पद-संग्रहों में प्राप्त मध्यकालीन हिन्दी पद-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
५७. हिन्दी गद्य-साहित्य में प्रकृति-चित्रण	आगरा
५८. हिन्दी में यात्रा-साहित्य	आनन्द
५९. २०वीं सदी में हिन्दी यात्रा-साहित्य	आनन्द
६०. हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास	०
६१. हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास	०
६२. हिन्दी साहित्य और भाषा के विकास में पत्रिकाओं का योगदान	०
६३. हिन्दी पत्रकारिता—उसके शिल्प के विकास का अध्ययन	प्रयाग
६४. भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष में पत्रकारिता का योगदान	राँची
६५. हिन्दी में पत्र-साहित्य	आगरा
६६. हिन्दी कोश-साहित्य (१५००-१८०० ई०) का आलोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन	०
६७. हिन्दी में कोश-रचनाशास्त्र का विकास	बम्बई
६८. हिन्दी कोश का उद्भव और विकास	काशी
६९. हिन्दी भाषा और साहित्य को विदेशियों की देन : एक मूल्यांकन	लखनऊ
७०. हिन्दी (भाषा, व्याकरण और साहित्य) को पाश्चात्य विद्वानों की देन	विक्रम
७१. अंग्रेज शासकों की शिक्षा नीति और हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास में उसका योग	०
७२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का अहिन्दी-लेखकों का योगदान—१९०० ई० से वर्तमान समय तक	विक्रम
७३. हिन्दी साहित्य के विकास में ईसाई प्रचारकों का योगदान	आगरा
७४. आधुनिक हिन्दी साहित्य को धार्मिक संस्थाओं और विदेशी मिशनरियों (धर्मप्रचारकों) की देन	कलकत्ता
७५. हिन्दी भाषा-शिक्षण की समस्याएँ तथा उनके समाधान (भाषा-विज्ञान की दृष्टि से)	आगरा

७६. हिन्दी-भाषी एवं अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी शिक्षण — दिल्ली
७७. आधुनिक भारतीय भाषाओं का हिन्दी अनुवाद-साहित्य — लखनऊ
७८. द्विवेदी-युग का अनुवाद-साहित्य — विक्रम
७९. संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद — दिल्ली
८०. बंगाली के हिन्दी अनुवादों का सर्वेक्षण और मूल्यांकन — दिल्ली
८१. हिन्दी के फ़िल्मी गीतों (१९५०-१९६०) का शैलीगत अध्ययन — आगरा
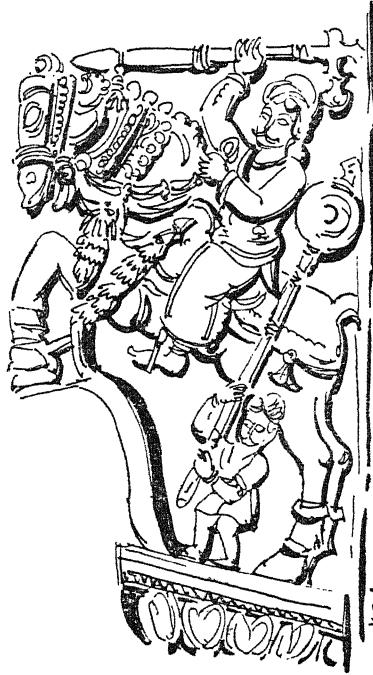
मा० सा० कन्नमवार

महाराष्ट्र के प्रशासन और शिक्षा में हिन्दी का स्थान

इस लेख के लेखक श्री मा० सा० कन्नमवार महाराष्ट्र राज्य के मुख्य मन्त्री हैं। ये हिन्दी भाषा के अनन्य प्रेमी, सुवक्ता और उच्चकोटि के प्रशासक हैं।

प्रजातन्त्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि प्रशासन का कार्य जनता की भाषा में हो और उसकी शिक्षा राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं राष्ट्रीय संस्कृति के आधार पर संचालित हो। प्रजातन्त्र में जनता ही अपने प्रतिनिधियों के जरिए राजकाज चलाती है, अतः जनता एवं जनता के प्रतिनिधियों के बीच घनिष्ठ तथा आत्मीयता के सम्बन्ध स्थापित होना बड़ा आवश्यक होता है।

अंग्रेजी शासकों ने अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा इस देश की जनता को दो विभिन्न वर्गों में बाँट दिया था। एक वर्ग में अंग्रेजी शासन की दीर्घायु की कामना करनेवाले अंग्रेजी शिक्षा-सम्पन्न इने-गिने लोग थे और दूसरे वर्ग में कोटि-कोटि भारतीय जनता थी, जिसे इस शिक्षा से कोई सरोकार न था। किन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। वयस्क मताधिकार के साथ जीवन के सभी क्षेत्रों में अपनी ही भाषा का प्रयोग करना आज जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है। शासन और जनता के बीच की यह खाई तभी पाटी जा सकती है, जब जनता अपने इस अधिकार पर अमल करने में समर्थ होगी। जनता और शासन के बीच एक सजीव सम्बन्ध तभी स्थापित होगा जब उसका व्यवहार उसकी भाषा में होगा। इस बात को समझकर ही देश के शासकों ने भारतीय गणतन्त्र के संविधान द्वारा हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषा की प्रतिष्ठा प्रदान करने की घोषणा की।

संविधान के सत्रहवें भाग में ऐसी व्यवस्था है कि अंग्रेजी भाषा के स्थान पर राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा राज्य की प्रादेशिक भाषा का प्रयोग हो। अनुच्छेद ३४३ में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि "संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी", किन्तु अनुच्छेद ३४६ में इस बात का उल्लेख है कि "राज्य विधान-मंडल विधि द्वारा उस राज्य के राजकीय प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए प्रयोग के अर्थ उस राज्य में प्रयुक्त होनेवाली भाषाओं में से किसी एक या अनेक को या हिन्दी को अंगीकार कर सकेगा"। इन दोनों अनुच्छेदों पर विचार करते हुए एक बात स्पष्ट होगी कि अंग्रेजी भाषा का अवलम्ब छूटने पर उसके स्थान पर हिन्दी केन्द्र शासन की भाषा होगी। किन्तु देश में सर्वत्र अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी को ही प्रतिष्ठित किया जाएगा ऐसी बात नहीं, अपने-अपने क्षेत्र में सभी भाषाओं को अंग्रेज़ी के स्थान पर प्रशासन की भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

१ मई १९६० को महाराष्ट्र राज्य का निर्माण हुआ। महाराष्ट्र राज्य की स्थापना के दिन शासन ने अपनी नीति के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ कीं। उन घोषणाओं में से एक यह थी कि इस राज्य के प्रशासन का माध्यम मराठी भाषा होगी। महाराष्ट्र राज्य की बहुसंख्यक जनता

मराठी-भाषी है, अतः इस राज्य का प्रशासन मराठी भाषा के माध्यम से ही सम्पन्न होगा।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इस मराठी भाषा-भाषी राज्य में संघ की राजभाषा अर्थात् हिन्दी का क्या स्थान है अथवा भविष्य में क्या होगा ? इस सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट है कि यद्यपि इस राज्य का आन्तरिक प्रशासन मराठी भाषा के माध्यम से ही होगा, तथापि यह राज्य इस भारत देश का एक अभिन्न अंग होने के कारण इसे केन्द्रीय शासन के साथ सम्पर्क बनाए रखने की आवश्यकता सदैव रहेगी। इसलिए इस राज्य के अधिकारियों को संघ के अथवा अन्य राज्यों के अधिकारियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने की बार-बार आवश्यकता होगी। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे सम्पर्क का स्वरूप कागज़ी लिखा-पढ़ी तक ही सीमित रहे। कई बार कुछ विशेष विषयों पर सम्पर्क और विचार-विनिमय करने के हेतु अखिल भारतीय या अन्तर्राज्यीय स्तर पर अनेक सम्मेलन आदि होते रहते हैं। कार्यकारी अधिकारियों की गोष्ठियाँ आदि आयोजित की जाती हैं। भारतीय संघ राज्य की भाषा हिन्दी होने के पश्चात् अखिल भारतीय स्तर पर चलनेवाले ऐसे कार्यक्रम हिन्दी माध्यम से सम्पन्न होंगे और अन्तर्राज्यीय स्तर पर परस्पर व्यवहार भी हिन्दी भाषा में ही होना उपयुक्त होगा। अतः ऐसे सभी अवसरों पर महाराष्ट्र राज्य के अधिकारी इन विचार-विमर्शों में पूर्णतः एवं सुविधापूर्वक भाग लेने में समर्थ हों, इस दृष्टि से और इस दृष्टि से भी कि संघ की ओर से या अन्य राज्यों की ओर से इस राज्य के साथ होनेवाला पत्र-व्यवहार इत्यादि समुचित रूप से पढ़ा जाकर पूर्णतया समझा जाए और उस पर योग्य कार्यवाही की जाए, महाराष्ट्र शासन ने शासन के प्रत्येक कर्मचारी के लिए हिन्दी की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य कर दिया है, एवं इन परीक्षाओं के आयोजन के लिए तदर्थ समिति (अॅड हॉक बोर्ड) की स्थापना की है।

शासकीय कर्मचारियों के लिए निर्धारित हिन्दी परीक्षाएँ तीन स्तरों की हैं। उच्च स्तर अर्थात् हायर स्टैण्डर्ड परीक्षा सहायक तथा उच्चतर स्तर के कर्मचारियों एवं अधिकारियों के लिए है। निचले स्तर की लोअर स्टैण्डर्ड परीक्षा सहायक के स्तर से नीचे के स्तर के तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों के लिए है। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों के लिए कोलोक्वाअल स्टैंडर्ड अर्थात् बोलचाल के स्तर की परीक्षा है। निम्न पद से उच्च पद पर उन्नति पानेवाले कर्मचारी को उच्च पद के लिए पदोन्नति के समय से दो वर्ष की अवधि के भीतर ही विहित परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है। शासन के कर्मचारियों को इन परीक्षाओं में बैठने की प्रेरणा मिले, इस दृष्टि से इन परीक्षाओं में ७५ प्रतिशत या अधिक अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण होनेवाले हर कर्मचारी को शासन की ओर से प्रशस्तिपत्र प्रदान किया जाता है। कर्मचारियों को अध्ययन करने में सुविधा प्राप्त हो, इस दृष्टि से शासन की ओर से मार्गदर्शन का प्रबन्ध भी किया जाता है।

यह तो हुआ राज्य के बाहर केन्द्रीय शासन तथा अन्य राज्यशासनों से सम्पर्क के सम्बन्ध में। अब राज्य के भीतर की स्थिति का अवलोकन करने पर देखा जा सकता है कि यद्यपि यह राज्य मराठी भाषा-भाषी है, तथपि यहाँ पर एकान्त रूप से मराठी भाषा-भाषी ही निवास नहीं करते। इस राज्य के निवासियों में ऐसे लोग भी बड़ी संख्या में हैं जिनकी मातृभाषा मराठी नहीं है। प्रशासन का माध्यम मराठी होने पर ये लोग अपने-आपको उपेक्षित अनुभव न करने लगें, इस दृष्टि से राज्य-शासन प्रयास करने में दत्तचित्त है। आवश्यक सरकारी विज्ञप्तियाँ, अधिसूचनाएँ, विधेयक और समाचारों आदि का प्रकाशन यहाँ आज भी मराठी के साथ-साथ हिन्दी में किया जाता है। विधान सभा की कार्यवाही का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया जाता है। विधानसभा के मराठी-भाषी सदस्यों की सुविधा के लिए राज्य आय-व्ययक के सम्बन्धी प्रकाशनों का हिन्दी रूपान्तर भी प्रतिवर्ष प्रस्तुत किया जाता है। आपत्कालीन स्थिति के कारण इनमें से कुछ प्रकाशनों को कुछ समय तक के लिए स्थगित कर दिया गया है। यहाँ पर इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि इस राज्य के प्रदेशों में से एक अर्थात् विदर्भ में महाराष्ट्र राज्य के निर्माण से पहले हिन्दी एवं मराठी दोनों राजभाषाएँ थीं। वहाँ हिन्दी का पहले से ही काफी महत्त्वपूर्ण स्थान था। महाराष्ट्र राज्य में भी उसका वही स्थान बना हुआ है और बना रहेगा।

इस प्रकार महाराष्ट्र राज्य में प्रशासन की भाषा मराठी होने के उपरान्त भी हिन्दी को उसका उचित स्थान प्राप्त है और हिन्दी के विकास की ओर शासन समुचित ध्यान दे रहा है।

अब शिक्षा के क्षेत्र की ओर देखें तो हमें यह दिखाई देगा कि सन् १९३७ ई० में, जबकि हमें प्रान्तीय स्तर पर स्वाधीनता प्राप्त हुई थी, तभी से तत्कालीन बम्बई प्रान्त के शासन ने हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार में सक्रिय योगदान देना शुरू किया था एवं तदनुसार राज्य की शिक्षा-प्रणाली में हिन्दी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इस प्रकार प्राथमिक और माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रम में हिन्दी को अध्ययन के एक विषय के रूप में स्वीकार किया गया।

हिन्दी की शिक्षा वैज्ञानिक तरीके से दी जाने के हेतु शासन ने महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार की अध्यक्षता में 'हिन्दी शिक्षा समिति' नामक एक समिति स्थापित की। शिक्षकों को प्रशिक्षित करने तथा पाठशालाओं एवं महाविद्यालयों में हिन्दी शिक्षा का स्तर निश्चित करने के सम्बन्ध में उक्त समिति द्वारा कतिपय सुझाव दिये गए। इन सुझावों को कार्यान्वित करते हुए प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाओं में हिन्दी की शिक्षा तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध किया गया।

महाराष्ट्र राज्य के निर्माण के पश्चात् भी शासन ने इस परम्परा को अविच्छिन रखा। राज्य की समस्त माध्यमिक पाठशालाओं में कक्षा ५वीं से ११वीं तक हिन्दी को एक अनिवार्य विषय स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त एस० एस० सी०, पी० टी० सी० और पी० एस० सी०-जैसी परीक्षाओं में सम्मिलित होनेवाले उम्मीदवारों को भी हिन्दी का अध्ययन एक अनिवार्य विषय के रूप में करना पड़ता है।

महाराष्ट्र-जैसे मराठी भाषा-भाषी राज्य में हिन्दी की शिक्षा को यथासम्भव रोचक बनाने के उद्देश्य से शासन ने हिन्दी शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध किया। प्राथमिक तथा माध्यमिक पाठशालाओं में कक्षा ५वीं से ७वीं तक में हिन्दी पढ़ाने वाले शिक्षकों के लिए जूनियर (कनिष्ठ) हिन्दी शिक्षक सनद परीक्षा तथा माध्यमिक पाठशालाओं में कक्षा ८वीं से ११वीं तक में हिन्दी पढ़ानेवाले शिक्षकों के लिए (ज्येष्ठ) सीनियर हिन्दी शिक्षक सनद परीक्षा रखी गई। इन परीक्षाओं में सम्मिलित होनेवाले शिक्षकों को उनके वेतन के अतिरिक्त शासन की ओर से छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। परीक्षाओं में प्रथम तथा द्वितीय स्थान पानेवाले शिक्षकों को जूनियर में क्रमशः १०० तथा ७५, एवं सीनियर में क्रमशः १५० तथा १०० रुपये पुरस्कार दिये जाते हैं। हिन्दी शिक्षक सनद परीक्षा में सफल शिक्षकों को विशेष शिक्षकों के लिए नियत वेतन श्रेणी दी जा सकती है।

महाराष्ट्र राज्य में केवल हिन्दी माध्यम से शिक्षा देनेवाली कुल ७० माध्यमिक तथा ३६१ प्राथमिक पाठशालाएँ हैं। कुल ७१ शिक्षा-संस्थाएँ ऐसी हैं, जहाँ हिन्दी माध्यम से ही शिक्षा दी जाती है।

हिन्दी की उच्चतर शिक्षा का प्रबन्ध महाराष्ट्र के सभी विश्वविद्यालयों में है। नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर एवं श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी महिला विश्वविद्यालय बम्बई में शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम भी छात्रों की इच्छानुसार हिन्दी हो सकता है। वैज्ञानिक विषयों की भी शिक्षा हिन्दी और मराठी माध्यमों से ही हो, इस उद्देश्य से नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९५० में इंटरमीजिएट की विश्वविद्यालयीय परीक्षा के लिए बीजगणित, त्रिकोणमिति, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि १४ वैज्ञानिक विषयों के लिए हिन्दी-मराठी पाठ्य-पुस्तकों की रचना कराई थी। उनके प्रकाशन के लिए विश्वविद्यालय को तत्कालीन शासन ने उदारतापूर्वक अनुदान भी दिया था।

राज्य में हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य करने वाली कुछ निजी संस्थाएँ ऐसी हैं जो केवल स्वदेश एवं स्वभाषा के प्रेम से प्रेरित होकर हिन्दी प्रचार तथा प्रसार का कार्य पूर्णतया दत्तचित होकर कर रही हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना, बम्बई हिन्दी विद्यापीठ, बम्बई, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा-जैसी संस्थाएँ विगत कई वर्षों से इस क्षेत्र में अविरत रूप से अथक सेवा कर रही हैं। जिस समय से शासन की ओर से हिन्दी का समर्थन तथा शिक्षण संगठित रूप से किया जाने लगा है तब से इन संस्थाओं का कार्य-क्षेत्र कुछ अंश में

संकीर्ण होने लगा। फिर भी इन संस्थाओं द्वारा की जाने वाली सेवाओं को ध्यान में रखते हुए शासन ने गत कुछ वर्षों में इन संस्थाओं को अनुदान के रूप में जो राशि प्रदान की उसे निम्नलिखित तालिका से देखा जा सकता है :

वर्ष	अनुदान की कुल राशि (रुपये)
१९५८-५९	१४,६०७
१९५९-६०	१९,५००
१९६०-६१	२०,६२५
१९६१-६२	१९,९८४
१९६२-६३	१८,३४७
कुल राशि	९३,०६३

इन तथ्यों से यह स्पष्ट होगा कि महाराष्ट्र शासन केवल प्रशासन में ही नहीं अपितु शिक्षा के क्षेत्र में भी हिन्दी का विकास करने का भरसक प्रयास कर रहा है और यह अपेक्षा की जा सकती है कि जिस दिन से भारतीय संघ राज्य का कारोबार हिन्दी के माध्यम से सम्पन्न होने लगेगा, उसी दिन से महाराष्ट्र भी संघ राज्य के साथ कदम मिलाकर चलने में पूर्णरूपेण समर्थ होगा।

डॉ० ओम् प्रकाश

बर्मा में हिन्दी

डॉ० ओम् प्रकाश यद्यपि पेशे से चिकित्सक हैं, लेकिन हिन्दी के बहुत अच्छे लेखक और साहित्यानुरागी भी हैं। बर्मा के प्रवासी भारतीयों में हिन्दी के प्रचार के लिए इन्होंने बहुत अच्छा कार्य किया है। बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन और उसके अधिवेशनों के ये प्रमुख स्तम्भ हैं। जियावाडी क्षेत्र में, जो एक तरह से बर्मा में हिन्दी-प्रचार का आदि-केन्द्र रहा है, एक आर्य पुस्तकालय की स्थापना कर डॉक्टर साहब ने उसे हिन्दी-प्रचार और आन्दोलन का स्थायी प्रतिष्ठान बना दिया है।

द्वितीय आंग्ल-बर्मा-युद्ध के पश्चात् ई० सन् १८८५ में ब्रह्म देश पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार हो गया। देश के शासन में सहायता देने के लिए अनेक भारतीय ब्रह्म देश में लाये गए। इनमें मुख्यतया आफ़िस के कर्मचारी, रेल, डाक, मिलिटरी-परिवहन विभागों में काम करनेवाले व्यक्ति, ठेकेदार, वकील, इंजीनियर, डॉक्टर तथा व्यापारी थे। बिहार के आरा ज़िले के लगभग २००० परिवार जियावाडी और चौतगा ग्राण्ट के ज़मींदारों द्वारा भी लाये गए। इन लोगों ने जियावाडी और चौतगा क्षेत्र में जंगलों को काटकर कृषि-योग्य भूमि तैयार की तथा धान और गन्ने की खेती की। उनके वंशज लगभग आज ४० हज़ार की संख्या में उक्त दोनों क्षेत्रों में बसे हुए हैं। ये मूल भारतीय संस्कृति के उपासक हैं।

पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा दक्षिण-भारत के ही लोग अधिक संख्या में इस प्रकार इस देश में आए और भारतीय संस्कृति तथा अपनी मातृभाषा भी साथ लाए। पंजाब के लोगों ने जहाँ सम्भव हुआ वहाँ एक आर्य समाज की स्थापना की तथा उसके साथ एक हिन्दी पाठशाला का भी प्रबन्ध किया। अनेक नगरों में मन्दिर और ठाकुरबाड़ियाँ भी बनायी गईं। देवालयों में हिन्दी-पाठशाला स्थापित हो गई।

सन् १९०९ के लगभग श्री पं० हरिवदनजी शर्मा का ब्रह्म देश में आगमन हुआ। आप संस्कृत, आयुर्वेद तथा हिन्दी के प्रकाण्ड पंडित हैं तथा यदि यह कहा जाए कि बर्मा में हिन्दी-प्रचार का इतिहास शर्माजी का इतिहास है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। आपने जहाँ पाठशाला नहीं थी वहाँ खुलवाई तथा सन् १९२३ में हिन्दी के प्रचार को सुगठित रूप देने के लिए बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। सन् १९२५-२६ में बर्मा सरकार द्वारा हिन्दी को मान्यता मिली तथा हाई स्कूल फ़ाइनल परीक्षा में द्वितीय भाषा का स्थान प्राप्त हो गया। इससे हिन्दी की उन्नति में और भी प्रगति हुई। इस काल तक देश में लगभग ३६० छोटे-बड़े विद्यालय ऐसे थे जिनमें हिन्दी की पढ़ाई होती थी। माण्डले में डी० ए० वी० हाई स्कूल, तथा रंगून में डी० ए० वी० मिडिल स्कूल, रेडियर हाई स्कूल, खालसा हाई स्कूल, एस० पी० जी० हाई स्कूल तथा गवर्नमेन्ट हाई स्कूल, मचीना में हिन्दी की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रथमा एवं मध्यमा की परीक्षा का प्रबन्ध किया गया था। इसके अतिरिक्त जियावाडी में वर्तमान गांधी हिन्दी महाविद्यालय की स्थापना सन् १९२१ में हुई। श्री रामगोविन्द जी वर्मा के तत्त्वावधान में यह संस्था आज भी हिन्दी सेवा का कार्य सुचारु रूप से कर रही है। डी० ए० वी० स्कूल, रंगून से सम्बद्ध एक प्राथमिक ट्रेनिंग क्लास भी सन् १९३८ में प्रारम्भ की गई। इसमें प्रतिवर्ष २० अध्यापकों को प्रशिक्षित करने का प्रबन्ध था तथा इसके प्राध्यापक श्री

गोपालदासजी बी० ए०, 'विशारद' थे। श्री राणा बैजनाथ सिंहजी का नाम हिन्दी के हितैषियों में अग्रणी है। उन्होंने सन् १९१७-१८ में रंगून में सर्वप्रथम हिन्दी पाठशाला अपने निजी खर्च पर आरम्भ की और वे वर्षों तक उसका संचालन करते रहे।

सन् १९२५ से युद्ध के आरम्भ होने तक के १५ वर्षों में हिन्दी-प्रसार ने विशेष प्रगति की। प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए अनेक रात्रि पाठशालाएँ कई संस्थाओं की ओर से खुलीं, जिनमें आर्य कुमार सभा, रंगून तथा क्षत्रिय नवयुवक संघ मुख्य थीं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाएँ भी बड़ी लोकप्रिय हुईं और सैकड़ों दक्षिण भारतीय भाई इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। जनता में हिन्दी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा एवं अभिरुचि थी, जिसके परिणामस्वरूप अनेक हिन्दी मासिक, साप्ताहिक, दैनिक-पत्र भारत से मँगवाये जाते रहे।

प्रत्येक आर्य समाज और स्कूल आदि में हिन्दी पुस्तकों का संग्रह भी था। सार्वजनिक उपयोग के लिए रंगून में श्री मारवाड़ी पुस्तकालय था, जिसमें हिन्दी की चुनी हुई पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त सहस्रों पुस्तकों का उत्तम संग्रह था। सन् १९४१ से '४६ तक महायुद्ध के कारण हिन्दी के प्रचार-प्रसार एवं शिक्षा-दीक्षा इत्यादि का कार्य अवरुद्ध-सा हो गया, तथापि जियावाडी क्षेत्र में अनेक पाठशालाएँ तथा रंगून में विश्वभारती एकेडमी आदि में ही हिन्दी की शिक्षा का प्रबन्ध था। युद्धोपरान्त नियमित शासन हो जाने के पश्चात् भारतीयों ने अपनी पाठशालाएँ पुनः संचालित कर दीं।

आई० ई० एस० हाई स्कूल, श्री मारवाड़ी हाई स्कूल, श्री गुजराती हाई स्कूल, बंगाल एकेडमी एवं रेडियर हाई स्कूल में कलकत्ता यूनिवर्सिटी के मैट्रिक स्तर तक की शिक्षा का प्रबन्ध है। जियावाडी हाई स्कूल में यद्यपि बर्मा-मैट्रिक के पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाई होती है तथापि षष्ठ-वर्ग तक हिन्दी अनिवार्य है। इसी प्रकार का प्रबन्ध टोंजी के गांधी हिन्दी हाई स्कूल में भी है। टैगोर कालेज, रंगून में भी कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० तक की हिन्दी-शिक्षा का प्रबन्ध है।

सन् १९४८ में बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पुनर्गठन हुआ। सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य बर्मा में हिन्दी को व्यापकता प्रदान करना है। विद्यालयों में हिन्दी का स्तर समान करने का प्रयत्न भी सम्मेलन करता रहा। इस दिशा में इसे सफलता प्राप्त हुई। तत्सम्बन्धित पाठ्य-पुस्तकों के लेखन-कार्य में भी सम्मेलन कम प्रयत्नशील नहीं है। यथासाध्य कार्य हुआ भी है। सम्मेलन के माध्यम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाओं की व्यवस्था की गई। रंगून में एक हिन्दी विद्यापीठ इसी के तत्त्वावधान में संचालित है जिसमें ६ मास तक योग्य आचार्य द्वारा परीक्षार्थी शिक्षा ग्रहण करते हैं। शिक्षा की व्यवस्था निःशुल्क है। आचार्य का वेतन सम्मेलन की ओर से दिया जाता है। जियावाडी गांधी हिन्दी महाविद्यालय को भी प्रयाग हिन्दी विश्वविद्यालय का केन्द्र प्राप्त है। दोनों केन्द्रों से प्रतिवर्ष ५०-६० के लगभग परीक्षार्थी प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, उपवैद्य, वैद्य-विशारद आदि परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। अब तक दर्जनों परीक्षार्थी साहित्य-विशारद एवं साहित्य-रत्न की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं।

बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने एक ऐसे हिन्दी अध्यापक की नियुक्ति कर रखी है जो अहिन्दी-भाषा-भाषी विद्यालयों में हिन्दी शिक्षण का कार्य करता है। सम्मेलन की ओर से नियमित पाक्षिक साहित्य-गोष्ठी होती है। इसमें साहित्य के अनेकानेक विषयों पर विद्वान वक्ताओं द्वारा प्रवचन-व्याख्यान का कार्यक्रम रखा जाता है, जो अत्यधिक सुरुचिकर एवं ज्ञानवर्द्धक होता है। साहित्यकारों की जयन्ती मनाने का कार्य इसका श्लाघनीय है, जिसके द्वारा विदेश में भी हिन्दी के लेखकों, कवियों एवं साहित्यकारों से लोग अपरिचित नहीं रहते।

सम्मेलन का प्रतिवर्ष महाधिवेशन होता है, जिसके सुअवसर पर भारत से गण्यमान नेता एवं साहित्यकारों को विशेष रूप से आमन्त्रित किया जाता है। अब तक महा अधिवेशन के अवसर पर सर्वश्री पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय एम० ए०, जगदीशजी कश्यप एम० ए०, आर० आर० दिवाकर, के० एम० मुंशी, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, पं० सत्यदेव त्रिपाठी, ऊ० कित्तिमा (बनारस), सेठ गोविन्ददास, महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन, रामधारी-सिंह 'दिनकर', भदन्त आनन्द कौशल्यायन, विष्णु प्रभाकर,

यशपाल जैन एवं श्यामनारायण पाण्डेय ने आमन्त्रण स्वीकार कर इसे गौरवान्वित किया है। महाधिवेशन में बर्मा के विभिन्न क्षेत्रों से भी हिन्दी-प्रेमी जन भाग लेते हैं। इस महत्त्वशाली, गौरवपूर्ण हिन्दी के कार्य को सुसम्पन्न करने में इन पंक्तियों के लेखक के साथ-साथ श्री सत्य-नारायण गोइन्का ने भी बहुत परिश्रम किया है। इन पंक्तियों के लेखक के सहयोग से भारतीय क्षेत्र जियावाडी में आर्य पुस्तकालय की स्थापना की गई है, जो बड़ी लगन से हिन्दी की सेवा कर रहा है। इस पुस्तकालय के द्वारा उत्साही ग्रामीण हिन्दी-भाषा-भाषी जन बड़े अंशों में लाभान्वित हो रहे हैं। पिछले दिनों में चौतगा में भी आर्य-पुस्तकालय खोला गया। रंगून में रामकृष्ण मिशन पुस्तकालय तथा श्री मारवाड़ी पुस्तकालय द्वारा भी हिन्दी-सेवा हो रही है। इन पुस्तकालयों से विद्यार्थी, व्यापारी एवं साहित्यानुरागी जन अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करते आ रहे हैं।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार की दिशा में 'बर्मा भारतीय कला केन्द्र संघ, (रंगून)' का कार्य अतीव प्रशंसनीय है। प्रतिवर्ष हिन्दी नाटकों का सफल अभिनय इस कला-केन्द्र द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस केन्द्र का नाट्यस्तर अति उच्च है। सर्वश्री प्रो० गौतम भारद्वाज, सत्यनारायण गोइन्का, धर्मवीर, बहन सुभद्रा कुमारी वर्मा, श्रीमती प्रकाश देवी भल्ला, कान्तिलाल शाह आदि इसके उल्लेखनीय कला-कार हैं।

पत्रकारिता

बर्मा में एकमात्र हिन्दी दैनिक-पत्र 'प्राची-प्रकाश' (रंगून) २२-५-३४ से हिन्दी की सेवा करता आ रहा है। कुछ वर्ष तक 'नवजीवन' दैनिक-पत्र प्रकाशित होता रहा। पश्चात् इसी का साप्ताहिक कुछ वर्ष तक चला। साप्ताहिक 'प्रवासी' भी ३ वर्ष तक रंगून से प्रकाशित हुआ। आज दैनिक 'प्राची-प्रकाश' के अतिरिक्त गत वर्ष से साप्ताहिक 'प्राची-प्रकाश' का नियमित रूप से प्रकाशन हो रहा है। 'ब्रह्म-भूमि' मासिक-पत्रिका का ४ वर्ष से नियमित रूप से प्रकाशन हो रहा है। इन पत्र-पत्रिकाओं ने बर्मा में भी अनेक लेखक पैदा किये हैं। पत्रकारिता की दिशा में समुचित साधनों के अभाव में भी ब्रह्म देश पिछड़ा नहीं है। ब्रह्म देश में विभिन्न स्थानों में जिन-जिन नगरों में आर्य-समाज हैं वहाँ हिन्दी के प्रति अनुराग तथा पठन-पाठन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से ही बर्मा में हिन्दी का प्रचार-प्रसार परिस्थिति के अनुरूप न्यूनाधिक मात्रा में होता आ रहा है।

साहित्य-प्रकाशन

युद्ध-पूर्व अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें 'हिन्दी-बर्मी-बोध', 'बर्मा का भूगोल', स्वास्थ्य-सम्बन्धी कुछ पुस्तकें श्री पं० हरिवदन शर्मा ने प्रकाशित कराईं। धर्म-शिक्षा की कुछ पुस्तकें तथा आर्य-समाज, सत्संगोपयोगी पुस्तकें श्री रामचन्द्र भारती ने माण्डले से प्रकाशित कराई थीं। श्री मास्टर पलटूसिंह ने वीर सावरकर की पुस्तक 'हिन्दू पद-पादशाही' का सुन्दर हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया।

वर्तमान काल में श्री चन्द्रशेखर व्यास की 'शेखर सोरठा' नामक काव्य-पुस्तिका प्रकाशित हुई तथा श्री श्यामचरण मिश्र का 'बर्मा—कल और आज' तथा 'बर्मा का इतिहास' प्रकाशित हुए। श्री श्यामलाल 'भारती' की 'ब्रह्म देश की कथा' और श्री रामप्रवेश यादव साहित्य-रत्न-कृत 'गांधी-दर्शन' खण्ड-काव्य सन् '६१ में एवं 'क्रांति' नामक उपन्यास सन् १९६३ में प्रकाशित हुए। कुछ लेखकों ने हिन्दी पुस्तकों के बर्मी-भाषा में भी अनुवाद किये हैं। इनमें श्री ऊ० पारगू तथा स्वर्गीय श्री धर्मदूत ने राहुल के 'सिंह सेनापति' का बर्मी अनुवाद प्रकाशित कराया।

आर्य-समाज द्वारा 'सत्यार्थ-प्रकाश' का बर्मी अनुवाद ई० सन् १९६० में प्रकाशित हुआ तथा वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद बर्मी भाषा में हिन्दू सेन्ट्रल-बोर्ड की ओर से प्रकाशनार्थ प्रस्तुत है।

श्री चन्द्रप्रकाश प्रभाकर द्वारा 'गोदान' का बर्मी अनुवाद धारा प्रवाह रूप से 'ब्रह्म-भूमि' मासिक-पत्रिका में प्रकाशित हुआ तथा श्यामलाल भारती ने महाभारत की कथा बर्मी भाषा में लिखी।

वर्तमान राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि इस देश में हिन्दी भाषा का भविष्य

बहुत अन्धकारमय नहीं तो बहुत उज्ज्वल भी नहीं है। भारत से हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों को मँगवाने के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध तथा कठिनाइयाँ लगती जा रही हैं। भारत से कोई भी हिन्दी-प्रचारक संस्था प्रचार के लिए साहित्य भेजने को तैयार नहीं है तथा मूल्य देकर माँगना सरल नहीं है। वांछित साहित्य के अभाव में यहाँ के रहने वालों को हिन्दी के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त होना असम्भव हो जाएगा। सरकारी स्कूलों में हिन्दी को कोई स्थान नहीं है। परन्तु अगस्त १९६३ से रंगून यूनिवर्सिटी ने बी० ए० तथा बी० ए० (ऑनर्स) में प्राच्य भाषा विभाग में हिन्दी की शिक्षा को स्थान दिया है तथा प्रो० ऊ थांम्या प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए हैं। अतः भविष्य के साधारणतः विद्यार्थी अनिवार्यतः हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ रह जाएँगे। अनेक भारतीय व्यापारी भी ब्रह्म देश छोड़कर भारत वापस जा रहे हैं। इस प्रकार से उनके सहयोग से भी हिन्दी वंचित रह जाएगी। ऐसी विषम परिस्थितियों में जो लोग माँ-भारती की सेवा करेंगे वे धन्य होंगे।

भारतीय साहित्य और चेकोस्लोवाकिया

चेकोस्लोवाकिया देश की स्थिति यूरोप के मध्य में है। इस देश की अपनी संस्कृति है, जिसका विकास एक विशेष निजी परिप्रेक्ष्य में हुआ है। यहाँ के जन-साधारण की भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी अभिरुचि शताब्दियों पहले से चली आ रही है। आज से कोई पाँच सौ वर्ष पूर्व यहाँ के महान् दार्शनिक तोमाश ज़े स्तीतनेहो ने बरलाम और जोसफाट का रूपान्तर लैटिन के माध्यम से कर, भारतीय जनजीवन का परिचय अपने देशवासियों को दिया था।

भारत की सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन के हेतु, भारतीय साहित्य का अध्ययन अठारहवीं शताब्दी से होने लगा था। इसमें सबसे पहले संस्कृत भाषा तथा व्याकरण पर कारेल प्रिकिल ने पुस्तक लिख, भारतीय साहित्य का अध्ययन और अध्यापन कुछ सुगम कर दिया। इसके उपरान्त ही भारतीय साहित्य के प्रति अभिरुचि का विकास तीव्रतर वेग से हुआ। भारतीय साहित्य के कथा-काव्यों का चेकोस्लोवाकिया की भाषा में अनुवाद होने लगा। 'नल-दमयन्ती', 'शकुन्तला' आदि अन्य अनेक कृतियों के कई प्रकाशन हुए और वे जनसाधारण में अपनी लोकप्रियता के कारण शीघ्र ही समाप्त होते गए। इस भारतीय साहित्य के प्रवेश से वहाँ के महान् कवि तक प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सके। इनके प्रभावों का अनुमान उनकी रचनाओं के नामकरण एवं उनके कथानकों से स्पष्ट हो जाता है यथा—'हनुमान','सावित्री', 'अशोक', 'माता' तथा 'शकुन्तला का जन्म' इत्यादि।

प्राग इस देश की ऐतिहासिक राजधानी है, जो अमूल्य कलामत्क संग्रहालयों के लिए प्रसिद्ध है। यह शहर प्रायः दुनिया के आम शहरों की तरह नये-पुराने दो भागों में बँटा हुआ है। नये प्राग में आधुनिक वास्तुशिल्प का प्राधान्य है, जबकि प्राचीन प्राग पुराने किले और प्राचीन प्रासादों के लिए नदी की दूसरी ओर, एक रम्य तलहटी से ऊपर की ओर उठता गया है। वैसे इन दोनों को मिलाने वाले कई पुल हैं। इस प्राचीन प्राग के एक रमणीक स्थान में एशियाई सभ्यता-सम्बन्धी शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र है जोकि प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के नाम से जाना जाता है। इस प्रतिष्ठान में प्राच्य देशों के भाषा और इतिहास के विशेषज्ञ अध्ययन और अध्यापन करते हैं। इसमें भारतीय साहित्य से सम्बन्ध रखने वाली एक विशेष समिति है जो भारतीय साहित्य के साथ ही भारतीय दर्शन और इतिहास में भी विशेष अभिरुचि रखती है। इसमें अभिसन्धित्सु अपने स्वयं-पुष्ट परिवेश के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य एवं अन्य पाण्डुलिपियों के आधार पर शोध-कार्य भी करते हैं।

पिछले समयों में भारतीय इतिहास और महाभारत का पर्यालोचन करते हुए उसके अपने युग की निर्धारणा-सम्बन्धी लेखों को 'नया पूरब' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया जाता रहा। चेकोस्लोवाकिया के प्रसिद्ध विद्वान् बेडरिख हरोज़नी ने अपनी पुस्तक 'पश्चिमी एशिया, भारत और क्रीट का पुराना इतिहास' लिखा, जिसमें हरप्पा की संस्कृति और मोहनजोदड़ो की समस्याओं के हल को प्रस्तुत किया गया। यह उनकी अपनी विचारधारा है। इसमें उन्होंने अतीत के गहरे कुहासे से प्रागितिहास के उपरान्त विकास की सीढ़ियों में ऐक्य को खोजना चाहा है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में एकादिमिशियन विनसन्स लेसनी ने भारतीय साहित्य के प्रति अपनी अमित श्रद्धा को उसके प्रसार में लगा दिया। ये भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उपासकों के साथ ही उसके प्रचारकों में से थे। ये संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड

पण्डित थे। इन्होंने महाकवि कालिदास के काव्य और नाटकों को जनसाधारण के घर-घर तक पहुँचा दिया। इनकी पुस्तकों से चेकोस्लोवाकिया के लोगों को न केवल प्रस्तुत भारत के विषय में ही जानने को मिला वरन् उसके महान् साहित्य के द्वारा भारत की हज़ारों साल पुरानी परम्पराओं तक का परिचय प्राप्त हुआ।

एकादिमिशियन लेसनी के जीवन मूल में रवीन्द्र की गूढ़-गहरी मित्रता थी। वे अपने जीवन-काल में रवीन्द्र के पास भारत में शान्तिनिकेतन भी आए थे। इनकी भारतीय विद्या के प्रति गहरी आस्था थी। रवीन्द्र ठाकुर भी इनकी अनन्य श्रद्धा को देखते हुए कुछ दिन प्राग रहे थे। लेसनी ने रवीन्द्र के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया तथा इनके यहाँ अनेक भारतीय छात्र रहते थे।

लेसनी के ही समकालीन अध्यापक पेरतोलद, ओलड्रिख फ्रिश और दुशान ज़ वादितेल ने भारतीय साहित्य को मूल और अनुवाद दोनों ही रूपों में जनसाधारण की आत्मा तक पहुँचाया। लेसनी की मृत्यु के उपरान्त प्रो० ओलड्रिख फ्रिश ने उनकी जगह सँभाली, किन्तु दो वर्ष बाद सन् १९५५ में उनकी असामयिक मृत्यु हो गई। आज इस प्रतिष्ठान के अध्यापक पेरतोलद काफ़ी वृद्ध हो चुके हैं, फिर भी अपनी मेज़ पर नित्य का कार्य सँभालते हैं।

चेकोस्लोवाकिया में प्राचीन प्राग के अतिरिक्त शिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण स्थल चार्ल्स विश्वविद्यालय है। इस विश्वविद्यालय के भारत-तत्त्व-प्रतिष्ठान में भारतीय साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की विशेष व्यवस्था रही है। प्रसिद्ध विद्वान् विनतर नित्ज़ की अध्यक्षता में बहुत कार्य हुआ है। प्रोफ़ेसर फ्रिश और ओटो साईटन, अनेक भारतीय ग्रन्थों को अनूदित करने के साथ ही भारत के प्राचीन साहित्य और भाषा के ज्ञान को प्रसारित करते रहे हैं। इनके प्रतिष्ठान से काफ़ी युवक भारत-तत्त्व-विशारद होकर निकले, जिन्होंने संस्कृत-हिन्दी आदि में विशेषज्ञता प्राप्त की। इस प्रतिष्ठान में आजकल डॉक्टर विनसेन्स बोर ज़का हिन्दी के प्रमुख प्राध्यापक हैं।

भाषा साहित्य के अध्ययन-अध्यापन और अनुवाद की परम्परा में प्रोफ़ेसर फ्रिश के बाद हिन्दुस्थानी पाठ्य-पुस्तकों की परम्परा चली। इसमें प्रोफ़ेसर पेरतोलद की पुस्तकें सामने आईं। इनमें वी० पोरज़का के हिन्दी व्याकरण का भाषा के प्रसार में महान् योगदान रहा।

इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि सन् १९४५ में प्राग में एशियाई पुस्तकों की प्रदर्शनी हुई थी। उसमें अनेक भारतीय पुस्तकें सीधी पहुँची और उनका प्रसार मूलरूप में ही हुआ। भारतीय भाषाओं के बढ़ते हुए ज्ञान के साथ, चेकोस्लोवाकिया में आजकल पढ़नेवालों को, भारत के बहुत-से प्रसिद्ध आधुनिक लेखकों की पुस्तकें भी मिल रही हैं। इनमें हिन्दी के प्रेमचन्द, मुल्कराज आनन्द, यशपाल, कृष्णचन्दर, के० ए० अब्बास बहुत लोकप्रिय हैं। इसके साथ ही बँगला और तमिल का भी विशेष सम्मान है।

आर० पी० तिवारी द्वारा प्रस्तुत
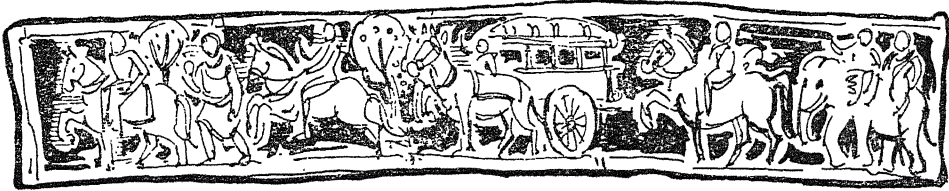
जर्मन जनवादी गणतन्त्र में हिन्दी

मार्गोत हेलज़िग माध्यमिक स्कूल पास करके सन् १९५४ में भारतीय विद्या का अध्ययन करने के लिए सोवियत संघ चली गईं। वहाँ तीन साल तक लेनिनग्राद के ज़्दनोव-विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग में पढ़ती रहीं। बाद में तीन और वर्षों के पश्चात् मास्को के लोमोनोसोव विश्वविद्यालय के एशियाई भाषाओं के संस्थान में परीक्षाएँ पास कीं। हिन्दी के ज्ञानार्जन के लिए मैं डॉ० वी० एम० बेस्क्रोदनी, डॉ० ए० पी० बारान्निकोव, डॉ० ती० ई० कत्रेनिना, डॉ० एस० जी० रूदिन, डॉ० वलिन तथा श्री एम० एन० सोतनिकोव-जैसे सोवियत संघ के भारतीय विद्या-विशारदों की आभारी हूँ, जिन्होंने अच्छी शिक्षा पाने के लिए हर प्रकार से इनकी सहायता की। सोवियत संघ में शिक्षा समाप्त करके ये स्वदेश लौटीं। वहाँ सन् १९६१ में लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय के भारतीय विद्या-संस्थान में वैज्ञानिक सहायक के रूप में अपना काम शुरू किया। वहाँ हिन्दी पढ़ाने की ज़िम्मेदारी इन्हें सौंपी गई। साथ ही ये हिन्दी के संयुक्त कृदन्त विषय पर डॉ० ए० एस० बर्खुदारोव के निर्देशन में, जो मास्को-स्थित सोवियत संघ की विज्ञान-अकादमी के एशियाई जनता-संस्थान में काम करते हैं, अपना प्रबन्ध तैयार करती रहीं। सन् १९६२ में इन्हें एक वर्ष तक दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के अपने ज्ञान को बढ़ाने और हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने के लिए भारत आने का अवसर मिला। १९६३ के सितम्बर मास में ये पुनः अपने देश जर्मन जनवादी गणतन्त्र लौट गईं और वहाँ लाइपज़िग विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्ययन तथा अध्यापन का काम कर रही हैं।

जर्मन-भारततत्त्व सारी दुनिया में प्रसिद्ध है। लगभग दो सौ वर्षों से वह भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, भाषाओं और दर्शन-जैसे विषयों का गहरा अनुसन्धान करता आया है। विश्व-प्रसिद्ध जर्मन विद्वानों ने, जो अपने अनुसन्धान के लिए भारत में बहुसम्मानित हैं, भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति की बहुत-सी समस्याओं पर अपने गम्भीर अध्ययन द्वारा प्रकाश डाला है। इस प्रकार उन्होंने भारत की अमूल्य सांस्कृतिक निधियों और साहित्यिक कृतियों को यूरोप में लोकप्रिय करने में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है। इन अनेक जर्मन विद्वानों में कतिपय उल्लेखनीय नाम: मक्स म्यूल्लर, योहन्नस हेर्तल, विलहेल्म गाइगर, पाउल दोइसन, हेरमन यकोबी, विन्तरनित्स आदि हैं।

जर्मन-निवासी आजकल भी भारत में बहुत रुचि रखते हैं। जर्मन जनवादी गणतन्त्र[1] की जनता आधुनिक भारत

१. जर्मनी आजकल दो राज्यों में बँटा है। जर्मन जनवादी गणतन्त्र राज्य की स्थापना सन् १९४९ में हुई। दूसरे जर्मन राज्य का नाम है जर्मनी का फ़ेडरल गणतन्त्र।

के लोगों, इसकी सभ्यता, विचारधाराओं, भाषाओं और सम्बन्धित अन्य कार्यों में अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासु है। पहले-पहल जर्मन-भारत तत्त्व-विशारद, केवल प्राचीन भारत से सम्बन्धित विषयों पर ही अनुसन्धान करते रहे हैं। प्राचीन विद्वानों की इस स्वस्थ किन्तु सीमित परम्परा को जर्मन जनवादी गणतन्त्र में आज भी आगे बढ़ाया जा रहा है, किन्तु भारतीय अनुसन्धान की सीमित परिधि को अब विज्ञान के नये और व्यापक क्षेत्रों के सम्पर्क में लाकर विशाल आकार दिया गया, और इस प्रकार वह (भारततत्त्व) जर्मन जनवादी गणतन्त्र में पहले से काफ़ी ऊँचे स्तर पर उठाया जा चुका है। दूसरे शब्दों में, प्राचीन भारत के अनुसन्धान में आधुनिक भारत के अन्वेषण का सम्मिश्रण किया गया है। भारत-सम्बन्धी आधुनिक अनुसन्धान में आधुनिक भारतीय भाषाओं और भारत के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक इतिहास, भूगोल, नृवंश-विज्ञान-सम्बन्धी विषयों को अनुसन्धान का प्रमुख केन्द्र बनाया गया है, अतः अनुसन्धान की इस नवीन प्रवृत्ति में हिन्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि भारत की भावी राष्ट्रभाषा होने के नाते उसकी स्थिति, भारत की दूसरी आधुनिक भाषाओं की तुलना में असाधारण है। दूसरी तरफ़ हिन्दी भारत की वह भाषा है जिसे सबसे अधिक लोग बोलते और समझते हैं। इसलिए हमारे देश में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की ओर विशेष ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही है।

हिन्दी और भारत की दूसरी आधुनिक भाषाओं को पढ़ाने और पढ़ने के लिए जर्मन जनवादी गणतन्त्र में कई संस्थान हैं। भारततत्त्व पढ़ने को कई विद्यार्थी सोवियत संघ भी भेजे गए हैं जहाँ का स्तर आधुनिक भारततत्त्व का निर्माण करने में दूसरे देशों से सबसे आगे है। अन्य विद्वान अनुपूरक शिक्षा पाने के लिए चेकोस्लोवाकिया गणतन्त्र गए हैं। जर्मन जनवादी गणतन्त्र में हिन्दी की वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने के मुख्य केन्द्र बर्लिन के हुम्बोल्द विश्वविद्यालय और लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय के भारतीय विद्या-सम्बन्धी संस्थान हैं। साथ ही हाले के मार्तिन लूथर-विश्वविद्यालय के भाषावैज्ञानिक संस्थान में भी हिन्दी पढ़ाई जाती है। बर्लिन के हुम्बोल्द-विश्वविद्यालय के भारतीय विद्या-संस्थान में कई वर्षों से भारतीय विद्वान डॉ० अनसारी अपनी चेक पत्नी, श्रीमती दगमार अनसारी के साथ (जो प्राग में भारततत्त्व पढ़ चुकी हैं) हिन्दी पढ़ाते हैं और अब तक वे अनेक जर्मन छात्रों को पढ़ा चुके हैं। इसी संस्थान में एक साल से कुमारी बर्बरा वेस्तफ़ाल हिन्दी का व्याकरण पढ़ाती हैं। लाइपज़िग विश्वविद्यालय के भारततत्त्व-सम्बन्धी संस्थान की ओर से दिल्ली के मेरे प्रस्थान से पहले हिन्दी-अध्यापन का कार्य मुझे सौंपा गया था, जो मैं स्वदेश लौटकर जारी रखूँगी।

बोलचाल की हिन्दी वे भारतीय छात्र पढ़ाते हैं, जो लाइपज़िग के विभिन्न शिक्षा, इन्जीनियरिंग तथा अन्य संस्थानों में पढ़ते हैं। लाइपज़िग में आजकल मुख्यतः उन छात्रों को हिन्दी सिखाई जाती है जो साथ-साथ अंग्रेज़ी सीखकर अनुवादक बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन तरुण विद्वानों को हिन्दी पढ़ाई जाती है जिनको अपने जीवनोपार्जन हेतु हिन्दी के अख़बार, पत्रिकाएँ और अन्य विशेष साहित्य पढ़ने के लिए हिन्दी जानना आवश्यक है। कुछ समय पहले लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स-विश्वविद्यालय के भारतीय विद्या-संस्थान में एक भारतीय विद्वान ने कई वर्ष तक काम किया, जिनका नाम पंडित शास्त्री था। वह आधुनिक और प्राचीन हिन्दी, विशेषकर ब्रजभाषा, पढ़ाते थे। उनकी एक भूतपूर्व छात्रा, कुमारी एरिका येकल, आजकल हाले के भाषावैज्ञानिक संस्थान में हिन्दी पढ़ाती हैं और दूसरी छात्रा, कुमारी इरेने वित्तिग इस समय मास्को के विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के इतिहास का विशेष अध्ययन कर रही हैं।

पिछले एक वर्ष से जर्मन जनवादी गणतन्त्र और भारतीय गणराज्य के बीच विद्यार्थियों और विद्वानों का आदान-प्रदान पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है, इसलिए जर्मन जनवादी गणतन्त्र के भारततत्त्व-विशारदों को भविष्य में अपने हिन्दी तथा भारत-सम्बन्धी ज्ञान को विकसित करने का अधिक अवसर मिलेगा। उदाहरणार्थ मैं जर्मन जनवादी गणतन्त्र की प्रथम नागरिक हूँ, जो हिन्दी पढ़ने के लिए भारत भेजी गई। अगले वर्षों में अनन्य छात्र हमारे बढ़ते हुए पारस्परिक सम्बन्धों के फलस्वरूप

हिन्दी अध्ययन के लिए निरन्तर आते रहेंगे ।

किन्तु हिन्दी पढ़ाने और पढ़ने के कार्य में, जर्मन जनवादी गणतन्त्र में कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं। एक ओर कुशल शिक्षकों की कमी है, जिसकी धीरे-धीरे नवयुवकों की हिन्दी भाषा में बढ़ती हुई रुचि के कारण दूर होने की सम्भावना है, और दूसरी ओर जर्मन भाषा में हिन्दी विषय पर अनुकूल पाठ्य-सामग्री की न्यूनता है। इस कारण अब तक बहुधा रूसी और अंग्रेज़ी पाठ्य-सामग्री का ही प्रयोग किया जाता रहा है, किन्तु यह स्थिति धीरे-धीरे बदल जाएगी, क्योंकि काफ़ी पाठ्य-सामग्री तैयार करने पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इस क्षेत्र में कुमारी एरिका येकल हिन्दी-जर्मन शब्दकोष तैयार करने का काम कर रही हैं, जिसके थोड़े समय में प्रकाशित होने की सम्भावना है। बर्लिन में, श्रीमती दगमार अनसारी ने हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर एक पाठ्य-पुस्तक तैयार की है, जो साथ ही छप भी रही है। अपने पति, डॉ० अनसारी के साथ वह इस समय हिन्दी भाषा पर दूसरी पाठ्य-पुस्तक तैयार कर रही हैं, जिसका व्याकरण-सम्बन्धी भाग श्री नेस्पितल (जो प्राग विश्वविद्यालय में अपना शोध प्रबन्ध लिख रहे हैं) प्रस्तुत कर रहे हैं। मैं भी जर्मन भाषा में हिन्दी का एक व्याकरण तैयार करने के प्रयास में संलग्न हूँ, जो सम्भवतः इसी वर्ष के अन्त तक छप जाएगा। साथ ही मैंने जर्मन-हिन्दी शब्दकोष के संकलन की तैयारी शुरू कर दी, परन्तु इस कठिन कार्य में तीन-चार वर्षों का लगना स्वाभाविक है।

जर्मन जनवादी गणतन्त्र की जनता को आधुनिक भारत की समस्याएँ, सफलताएँ, कठिनाइयाँ आदि समझाने के लिए भारतीय भाषाएँ और विशेषकर हिन्दी पढ़ाना एक अत्यन्त आवश्यक क़दम है। लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है। इस दिशा में दूसरा महवत्त्पूर्ण उपाय है भारतीय लेखकों की श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद जर्मन भाषा में करना। इस क्षेत्र में विशेषतः अभी हमने बहुत कम काम किया है। हाल ही में जर्मन जनवादी गणतन्त्र में एक जर्मन अनुवाद 'पंजाब का देश' के नाम से छपा है। इसमें प्रेमचन्द, यशपाल और दूसरे हिन्दी के लेखकों की कुछ कहानियाँ संकलित हैं। दूसरे अनुवादित संकलन में, जिसका नाम 'ठाकुर का कुआँ' है, प्रेमचन्द, यशपाल, अज्ञेय, कमला चौधरी आदि की कई कहानियाँ छपी हैं। प्रेमचन्द के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' का जर्मन अनुवाद भी इस समय जर्मन जनवादी गणतन्त्र में छप रहा है। विभिन्न अखबारों और पत्रिकाओं में भी हिन्दी लेखकों की कहानियाँ छापी जाती हैं। भविष्य में इन प्रकाशनों की संख्या बढ़ती ही जाएगी, क्योंकि साथ-ही-साथ हिन्दी-प्रेमियों की संख्या में भी बढ़ोतरी होती रहेगी।

जर्मन जनवादी गणतन्त्र में कई शिक्षा-संस्थान हिन्दी पुस्तकों को एकत्रित करते हैं। बर्लिन के हुम्बोल्द विश्वविद्यालय और लाइपज़िग के कार्ल मार्क्स विश्वविद्यालय के भारतीय विद्या-संस्थान अखबारों, पत्रिकाओं, ललित साहित्य की कृतियों, व्याकरणों, शब्दकोषों तथा पाठ्य-सामग्री, साहित्य के इतिहास की किताबें आदि वैज्ञानिक साहित्य में दिलचस्पी रखते हैं और इन्हें भारत से मँगवाते हैं। जर्मन जनवादी गणतन्त्र का सबसे बड़ा पुस्तकालय—जर्मन पुस्तकालय—जर्मन भाषा से हिन्दी में किये गए अनुवादों और जर्मनी के बारे में हिन्दी में लिखी हुई किताबों पर विशेष ध्यान देता है।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि जर्मन जनवादी गणतन्त्र में हिन्दी पढ़ाने, पढ़ने और प्रचारित करने का काम अभी प्रथम चरण में ही है। किन्तु, निःसन्देह यह महत्त्वपूर्ण कार्य बड़े अच्छे ढंग से शुरू किया गया है और सरकार की सहायता से, जो हमेशा ऐसे कार्यों में पूर्ण रूप से सहयोग देती है, यह कार्य भी अपने अभीष्ट ध्येय तक जल्दी ही पहुँच जाएगा।

लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की आयु अठारह-बीस वर्ष की होती है, पर लेनिनग्राद में ऐसे भी हिन्दी के शिक्षा-केन्द्र हैं जिनके हिन्दी-प्रेमियों की उम्र सात साल से शुरू होती है। इनमें बोर्डिंग स्कूल नम्बर चार है जिसमें तीन सौ लड़के और लड़कियाँ (रूस में सम्मिलित शिक्षा-प्रणाली है, यानी लड़कों और लड़कियों के लिए एक ही स्कूल होते हैं) हिन्दी पढ़ते हैं। छोटे बच्चे हिन्दी में न केवल बोलना और लिखना सीखते हैं बल्कि हिन्दी के गीत गाना भी पसन्द करते हैं। इन गीतों में 'हम पंछी एक डाल के' शामिल है। इस स्कूल में प्रतिवर्ष भारत-रूस-मैत्री समारोह आयोजित होते हैं, जिनका सारा कार्यक्रम हिन्दी में होता है। इस स्कूल का एक लड़का, जिसका नाम कोल्य निकनोव है, जॉनीवाकर के अनेक गाने बड़ी सफलता से प्रस्तुत करता है। एक गीत उसके लिए बहुत प्रिय है :

मैं हूँ मिस्टर जॉनी
मैंने सब मुल्कों का पिया है पानी
सारी दुनिया घूमघाम के
बना हूँ हिन्दुस्तानी···

यह गीत बम्बई में पैदा हुआ और लेनिनग्राद तक पहुँचा और बम्बई से लेनिनग्राद तक हिन्दी-प्रचार करता है।

इस स्कूल में प्रतिवर्ष अनेक भारतीय अतिथि आते हैं। पिछले साल यहाँ भारत-सोवियत संघ की पटियाला शहर की शाखा से (पंजाब) एक भारतीय भाई आये थे। वे छात्रों के लिए अनेक भारतीय गीत गाते थे और तब से स्कूल के लड़के और लड़कियाँ एक और हिन्दी गीत गाते हैं :

अमन का सिपाही मेरा देश प्यारा
अटल शान्ति के मार्ग पर चल रहा है
अमन का सिपाही !···

बालकों के लिए एक और हिन्दी शिक्षा केन्द्र नगर के 'पायोनियर प्रसाद' के अन्तर्गत है। भिन्न-भिन्न स्कूलों के छात्र यहाँ पर शाम के वक्त आ जाते हैं और हिन्दी पढ़ते हैं। इनमें कितने ही लड़के और लड़कियाँ अपने भारतीय भाइयों और बहनों से हिन्दी ही में पत्र-मैत्री स्थापित करके पत्र-व्यवहार करते हैं।

लेनिनग्राद में सोवियत-भारत सांस्कृतिक संस्था की एक शाखा है जिसमें नगर के सभी हिन्दी-प्रेमी सक्रिय भाग लेते हैं। यह संस्था हिन्दी साहित्य का प्रचार कर रही है। अनेक हिन्दी के लेखक इसके अतिथि होकर यहाँ पधारते हैं। गत वर्षों में लेनिनग्राद में बहुत-से हिन्दी के लेखक, कवि और विद्वान पधारे थे। इनमें सर्वश्री सुमित्रानन्दन 'पन्त', रामधारीसिंह 'दिनकर', जैनेन्द्र कुमार, बनारसीदास चतुर्वेदी, शंकर शैलेन्द्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं। संस्था के अन्तर्गत हिन्दी लेखकों की जयन्तियाँ मनाई जाती हैं, जैसे प्रेमचन्द-जयन्ती, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जयन्ती, बनारसीदास चतुर्वेदी-जयन्ती आदि। लेनिनग्राद के हिन्दी-प्रेमी आधुनिक हिन्दी लेखकों की रचनाओं के रूसी अनुवाद करते जाते हैं। अनूदित कृतियों में श्री यशपाल-कृत 'दिव्या' और 'झूठा सच,' श्री उपेन्द्रनाथ अश्क-कृत 'गिरती दीवारें,' श्री विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ, श्री बच्चन की कविताएँ आदि हैं।

लेनिनग्राद में अनेक ऐसे पुस्तकालय हैं जिनमें हिन्दी पुस्तकें (हिन्दी भाषा में) संग्रहित हैं। इनमें मुख्य हैं लेनिनग्राद पब्लिक लाइब्रेरी, विज्ञान अकादेमी का पुस्तकालय, एशिया जनता के अनुसन्धान केन्द्र का पुस्तकालय और विश्वविद्यालय की ओरिएण्टल फेकल्टी की लाइब्रेरी। इन सभी पुस्तकालयों में हज़ारों की संख्या में अनेक हिन्दी-पुस्तकें सम्मिलित हैं, 'पृथ्वीराजरासो' से लेकर 'मैला आँचल' तक। इन पुस्तकालयों के लिए हिन्दी-पुस्तकें बिक्री और विनिमय के आधार पर मिलती हैं, जैसे बहुत-सी पुस्तकें 'राजपाल एण्ड संज़' से और 'हिन्दी प्रचारक' से आ जाती हैं। सुबह या शाम को किसी-न-किसी पुस्तकालय जाएँ तो वाचनालय में अनेक हिन्दी-प्रेमी मिलेंगे, जो हिन्दी-पुस्तकें पढ़ते हैं।

जो लोगी हिन्दी भाषा नहीं जानते, वे हिन्दी साहित्य के रूसी अनुवादों को पढ़ते हैं। लेनिनग्राद नगर में हज़ारों पुस्तकालय हैं, जिनमें हिन्दी पुस्तकों के रूसी अनुवाद उपलब्ध हैं। लाखों लेनिनग्रादवासी इन पुस्तकों को पढ़ने के लिए आते हैं।

हिन्दी व्याकरण, हिन्दी-रूसी शब्दकोश, रूसी-हिन्दी शब्दकोश, 'हिन्दी-रूसी बातचीत', हिन्दी साहित्य के रूसी

अनुवाद, रूसी साहित्य के हिन्दी अनुवाद किताबों की दूकानों पर उपलब्ध हैं।

इन सभी बातों से मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि लेनिनग्राद में हिन्दी प्रचार-कार्य किस पैमाने पर पहुँच गया और आजकल किस दशा में है। आशा करता हूँ कि भारत के सभी हिन्दी-प्रेमी और बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के बन्धु इस छोटे-से संक्षिप्त परिचय से प्रसन्न होंगे।

अन्त में मैं सोवियत भारत सांस्कृतिक संस्था की लेनिनग्राद शाखा के सभी हिन्दी-प्रेमियों की ओर से और बारान्निकोव परिवार की ओर से बम्बई हिन्दी विद्यापीठ की रजत जयन्ती के शुभ अवसर पर मंगल कामनाएँ प्रकट करता हूँ। मेरी कामना यह है कि बम्बई हिन्दी विद्यापीठ सदैव सक्रिय हो, यदि आज वह रजत की भाँति चमकता है तो कल वह स्वर्ण की तरह दमके। सारे देश की प्रगति के लिए, सारी जनता के विकास और सुख के लिए, सारे संसार में विश्वशान्ति के लिए।

विदेशों में हिन्दी

देश की आजादी के साथ ही अनेक प्रश्न भारत सरकार के समक्ष आए। जिस तरह देश में राष्ट्रभाषा का प्रश्न था, उसी तरह देश की भाषा को अन्य देशों तक पहुँचाना भी रहा है। कार्य रूप में इस प्रश्न को दो तरह से प्रश्रय मिला : प्रथम तो यह भारत सरकार की ओर से विचारणीय होकर सहज माध्यमों से कार्यान्वित होता रहा। दूसरे रूपों में विदेशों के विश्वविद्यालयों में भाषा के अध्ययन के रूप में अपनाया गया। इसके साथ ही एक तीसरा पहलू यह भी है कि विदेशों में भारतीयों की विशेष बस्तियों ने भी हिन्दी को अन्य देशों में पनपाया तथा उसको स्थायी रूप देने के लिए सेवा-भावना से प्रचार व प्रसार किया। शासकीय स्तर पर किये गए हिन्दी के कार्यों का विवरण पूर्व लेख में स्पष्ट हो चुका है। दूसरे निजी स्वतन्त्र रूप में विदेशी विश्वविद्यालयों एवं तीसरे पहलू का विवरण इस तरह है।

बर्मा भारत के बहुत ही पास का देश है। बहुत समय से इसके भारत से निकट के सम्बन्ध हैं। प्रथम युद्ध से द्वितीय महायुद्ध के दौरान में जबकि यह ब्रिटिश सत्ता के अधीन था, अनेक भारतीयों के समूहों को, उस सत्ता ने वहाँ शासकीय सुदृढ़ता की दृष्टि से बसाया था। इन बसने वाले भारतीयों के साथ इस देश की भाषा भी वहाँ पहुँची। आज बर्मा के अनेक स्कूलों में हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप में स्थान प्राप्त है। विश्वविद्यालयीय स्तर पर भी हिन्दी को अपनाया गया है। विदेशों में अध्ययन के हेतु बर्मा से जानेवाले छात्र, जो अधिकांश भारत आते हैं, उन्हें आने के पूर्व हिन्दी का ज्ञान कराया जाता है। जावा, बाली, सुमात्रा और मलाया में भी, लगभग हिन्दी की यही स्थिति है। इन देशों में अनेक भारतीयों के समूह पिछली कई पीढ़ियों से रह रहे हैं।

इंडोनेशिया, थाईलैंड, वियतनाम, फिलीपिन देश और द्वीपों में हिन्दी का अध्ययन राजनीतिक रूप से किया जाता है। थाईलैंड में हिन्दी जानने तथा बोलनेवालों की संख्या अधिक है। इन देशों में बसे हुए कुछ ही भारतीय परिवार हैं, जिनमें कि हिन्दी को निजी रूप से प्रश्रय मिला है। फिलीपीन द्वीप-समूहों में हिन्दी को स्थान विश्वविद्यालयीय स्तर पर एशियाई शिक्षण संस्थान में मद्रास विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० वी० राघवन की सहायता एवं सहयोग से मिला है तथा इन्हीं की सहायता से संस्कृत तथा हिन्दी के अध्ययन तथा अध्यापन की व्यवस्था की गई है। डॉ० जोश की 'मी अलटीमो अडियोस' स्पेनिश भाषा में लिखित पुस्तक का संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद उक्त विश्वविद्यालय द्वारा डॉ० राघवन के सहयोग से सम्पन्न हुआ है।

हाँगकाँग एक छोटा-सा द्वीप होने के बावजूद भी वहाँ भारतीयों की संख्या अधिक है। उन भारतीयों में विशेषकर सिन्धी तथा गुजराती व्यापारियों के साथ गए पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के लोग भी हैं। इसलिए वहाँ हिन्दी-भाषियों के अध्ययन तथा अध्यापन की व्यवस्था पंजाबी, गुजराती तथा सिन्धी भाषाओं के अतिरिक्त की गई है। यहाँ की पाठशालाओं में हिन्दी को स्थान प्राप्त है।

जापान में हिन्दी का महत्त्व निजी, शासकीय और विश्वविद्यालयीय तीनों ही स्तरों पर है। निजी रूप से कार्य करनेवाली संस्थाओं ने हिन्दी-जापानी भाषा में आदान-प्रदान के हेतु कुछ अनुवाद किए हैं।

बर्मा, चेकोस्लोवाकिया, जर्मन जनवादीगणतन्त्र, में हिन्दी की स्थिति को स्पष्ट करते हुए तीन स्वतन्त्र लेख इसी में दिये हुए है। रूस के लेनिनग्राद में हिन्दी भाषा

और साहित्य के प्रचार केन्द्र पर रूसी विद्वान बारान्निकोव का लेख इसी सन्दर्भ में प्रकाशित है। रूस के अन्य विश्वविद्यालयों में शासकीय रूप से हिन्दी के अध्ययन व अध्यापन की व्यवस्था है। अध्ययन की सुगमता को देखते हुए रूसी-हिन्दी शब्दकोश, एक विशेष उपलब्धि सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त रूस तथा जर्मन जनवादी गणतन्त्र में हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन की भी व्यवस्था है। प्रोफ़ेसर केपलर द्वारा लिखित सुभाषित माला, जर्मन हिन्दी मार्गदर्शिका के प्रकाशन ने हिन्दी का अध्यापन बहुत ही सुगम कर दिया है। बर्लिन के आठ विश्वविद्यालयों और शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी के पढ़ाने की व्यवस्था है तथा इसके साथ ही संस्कृत के अध्यापन की भी व्यवस्था चार विश्वविद्यालयों में है। इन प्रत्येक विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग का स्थिर अस्तित्व, प्राध्यापक और सहायकों के साथ है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डॉ० एच० कोह्ल ने अभी १९६३ में ही भारत की साहित्यिक यात्रा की थी।

डेनमार्क में स्थित 'केपेनहेगन विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था है। इस विश्वविद्यालय में यह व्यवस्था अभी हाल ही में जारी किए जाने के कारण अभी कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नहीं है। आस्ट्रिया के ग्राज, इन्स्ब्रक, वियाना विश्वविद्यालयों एवं शिक्षण-संस्थाओं में भारतीय भाषाओं के अध्ययन तथा अध्यापन की व्यवस्था है। नीदरलैण्ड अर्थात् पोलैण्ड में एम्स्टरडम, लीडेन, अट्रेज्ड विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्ययन तथा अध्यापन होता है। एम्स्टरडम विश्वविद्यालय के एशियाई भाषाओं के विद्वान डॉ० के० डे० ब्रे से, भारतीय भाषाओं के विशेषज्ञ हैं तथा इस विश्वविद्यालय में एशियाई भाषाओं के प्रोफ़ेसर के रूप में कार्य सँभालते हैं। डॉ० ब्रे से का भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के सन्दर्भ में स्वतन्त्र लेख इसी ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है।

इज़रायल की हिन्दी के प्रति दिलचस्पी रही है। प्रो० सी० राबिन ने अभी जनवरी १९६३ में भारत की साहित्य यात्रा की थी। आप जेरूसलम के हिब्रू विश्वविद्यालय में प्राच्य भाषाओं के प्राध्यापक हैं तथा इनकी देखरेख में अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी का वैज्ञानिक और साहित्यिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ है। अमेरिका और ब्रिटेन में हिन्दी का विस्तृत पैमाने पर अध्ययन तथा अध्यापन हुआ है। अमेरिका में लगभग १४ विश्वविद्यालयों में हिन्दी को स्थान प्राप्त है।

भारतीय चिन्तन भारतीय साहित्य

राजेन्द्र द्विवेदी

आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास और भारत सरकार का योगदान

श्री राजेन्द्र द्विवेदी हिन्दी के जाने-माने लेखक हैं। इन्होंने संस्कृत और अंग्रेज़ी में एम० ए० किया। सम्मेलन के साहित्य रत्न और संस्कृत के साहित्य शास्त्री भी हैं। संस्कृत की एम० ए० परीक्षा में ये अपने विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम रहे थे। साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द-कोश और भाषाशास्त्र के पारिभाषिक शब्दकोश के अतिरिक्त शेक्सपियर के सानेट का इनका किया पद्यानुवाद प्रकाशित हो चुका है। आजकल भारत सरकार के वैज्ञानिक अनुसन्धान और सांस्कृतिक कार्य मन्त्रालय में हिन्दी अधिकारी और त्रैमासिक पत्रिका संस्कृत के सम्पादक हैं।

उपोद्घात

संस्कृत आधुनिक भारतीय भाषा नहीं मानी जाती, इसलिए संस्कृत के विकास के लिए भारत सरकार द्वारा किये गए प्रयत्न इस लेख का विषय नहीं हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी के विकास और प्रचार के लिए भारत सरकार द्वारा जो अनेक प्रयत्न किये गए, वे एक पृथक् लेख का विषय हैं। अंग्रेज़ी कुछ लोगों के मत से एक आधुनिक भारतीय भाषा है, अधिकांश लोगों के मत से नहीं, इसीलिए उसके सम्बन्ध में भी इस लेख में कोई चर्चा नहीं की जा रही है। इस लेख में भारत सरकार की केवल उन्हीं योजनाओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनका सम्बन्ध भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं या प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं के विकास से है। ये भाषाएँ हिन्दी और संस्कृत को छोड़ संविधान में मान्यता-प्राप्त दूसरी भाषाएँ हैं। सिन्धी को यद्यपि संविधान में शामिल नहीं किया गया है, तथापि इस योजना के अन्तर्गत उसको भी मान्यता दे दी गई है।

साहित्य अकादेमी और राष्ट्रीय बुक ट्रस्ट

विभिन्न भारतीय भाषाओं में सत्साहित्य के प्रणयन को प्रोत्साहित करने के लिए, भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थों का परस्पर अनुवाद करके भाषाई आदान-प्रदान बढ़ाने के लिए और विदेशों के उत्कृष्ट ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित करने के लिए साहित्य अकादेमी की स्थापना प्रथम आयोजना-काल में की गई थी। पिछले कुछ वर्षों में अकादेमी के कार्यकलाप में काफी तेज़ी आई है।

पिछले पाँच-छः वर्षों में साहित्य अकादेमी के लिए भारत सरकार ने नीचे लिखी बजट व्यवस्थाएँ की हैं:

वर्ष	धनराशि
१९५८-५९	५,५०,००० रुपए
१९५९-६०	६,००,००० ,,
१९६०-६१	६,००,००० ,,
१९६१-६२	६,००,००० ,,
१९६२-६३	७,५०,००० ,,
१९६३-६४	६,५०,००० ,,

राष्ट्रीय बुक ट्रस्ट की स्थापना का उद्देश्य भी साहित्य अकादेमी की भाँति ही भारतीय भाषाओं की समृद्धि करना और विभिन्न भाषाओं में ऊँची कोटि की पुस्तकें सस्ते दामों पर उपलब्ध करना है। किन्तु अभी वह प्रकाशन-क्षेत्र में विशेष तेज़ी से अग्रसर नहीं हो पाया है। एक तो उसका संगठन कुछ देर से हुआ, दूसरे आरम्भिक कार्यवाहियों में काफी समय लग गया। अब डॉ० केसकर की अध्यक्षता में वह काफी तेज़ी से प्रगति करेगा, ऐसी आशा की जाती है।

इन दोनों संस्थाओं का आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगे हम जिस योजना की चर्चा करने जा रहे हैं, वह इन संस्थाओं के कार्यक्रम से अलग है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की योजना

भारत सरकार ने अंग्रेज़ी, हिन्दी और संस्कृत के अलावा दूसरी भारतीय भाषाओं के विकास के लिए एक अलग योजना चालू कर रखी है। इस योजना के अन्तर्गत राज्य सरकारों और स्वैच्छिक संगठनों को प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिए सरकार द्वारा स्वीकृत उनके कार्यक्रमों के सम्बन्ध में उनके कुल खर्च के पचास प्रतिशत तक की केन्द्रीय सहायता दी जाती है। इस योजना को बनाते समय नीचे लिखी बातों का खास ध्यान रखा गया था :

१. भाषा के विकास को प्राथमिकता दी जाएगी, साहित्य के विकास को उतनी नहीं, यद्यपि यह मानी हुई बात है कि दोनों को अलग-अलग विभागों में बाँटना उतना सरल नहीं है।

२. खासतौर पर नीचे लिखे प्रकार के प्रकाशनों के लिए अनुदान दिये जाएँगे :

(क) विश्वकोश, सन्दर्भ ग्रन्थ, ज्ञानकोष, द्विभाषी और बहुभाषी कोषों को तैयार करना और प्रकाशन,

(ख) पुरानी पांडुलिपियों, दुर्लभ पुस्तकों और पुस्तक-सूचियों का प्रकाशन,

(ग) अंग्रेज़ी-भारतीय भाषा-कोशों का प्रकाशन, जहाँ कहीं भी आवश्यकता हो,

(घ) विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में लोकप्रिय पुस्तकों का प्रकाशन और भाषा, वाक्य-विन्यास, आदि की दृष्टि से विभिन्न भारतीय भाषाओं की समानता का निरूपण करनेवाली पुस्तकों का प्रकाशन।

१९५८-५९ में इस योजना के लिए २.८२ लाख रुपयों की व्यवस्था की गई थी। इस योजना को दूसरी पंचवर्षीय आयोजना में भी शामिल किया गया और इसके लिए २० लाख रुपयों की कार्यक्रम सीमा निर्धारित की गई।

योजना के क्षेत्र का विस्तार

जैसा ऊपर बताया गया, १९५८-५९ के आरम्भिक वर्ष में इस योजना के लिए कुल २.८२ लाख की बजट व्यवस्था की गई थी, किन्तु क्रमशः इस योजना के क्षेत्र में विस्तार होता गया। भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के समुचित विकास के लिए निजी संसाधन और राज्य सरकारों के संसाधन पर्याप्त नहीं हैं और केन्द्रीय सरकार का भी कर्तव्य है कि वह आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में यथेष्ट योगदान दे। दूसरी पंचवर्षीय योजना के शेष वर्षों में इस योजना की बजट-व्यवस्था इस प्रकार रही :

वर्ष	धनराशि लाख रुपए में
१९५८-५९	२.८२
१९५९-६०	७.००
१९६०-६१	१०.९६

उक्त बजट व्यवस्थाओं का भी पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया गया, यद्यपि इसमें से अधिकाँश रकम व्यय की गई। पहली पंचवर्षीय आयोजना में इस योजना पर कुल मिलाकर लगभग १४.०० लाख रुपयों की रकम खर्च की गई।

तीसरी पंचवर्षीय आयोजना और यह योजना

तीसरी पंचवर्षीय आयोजना तक आते-आते इस योजना का महत्त्व और भी स्पष्ट हो गया। फलतः तीसरी पंचवर्षीय आयोजना में भी इसे शामिल किया गया और कार्यक्रम सीमा २०.०० लाख रुपए से बढ़ाकर ६६.०० लाख रुपए कर दी गई। इसके स्वरूप और क्षेत्र का भी विस्तार किया गया। तीसरी पंचवर्षीय आयोजना में कहा गया है:

"अंग्रेज़ी और संस्कृत के साथ-साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्ताव है कि द्विभाषी कोषों के सम्पादन-प्रकाशन का काम हाथ में लिया जाए, अनुवादकों के लिए पुरस्कार दिये जाएँ, विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में विश्वकोश और अंग्रेज़ी भारतीय भाषा के कोश-ग्रन्थ प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाए और प्राचीन और दुर्लभ पाण्डुलिपियों और पुस्तक-सूचियों को प्रकाशित कराया जाए। आयोजना में भारत का भाषा-सर्वेक्षण करने की भी व्यवस्था की गई है (अंग्रेज़ी संस्करण, पृष्ठ ६०९, पैरा ६०)।

तीसरी पंचवर्षीय आयोजना के पहले तीन वर्षों में इस योजना के अधीन नीचे लिखे प्रकार से बजट व्यवस्था की गई:

वर्ष	धनराशि रुपयों में
१९६१-६२	१४,६६,८००
१९६२-६३	१७,५०,०००
१९६३-६४	११,३०,०००

योजना का स्वरूप और क्रियान्विति

इस योजना के उद्देश्यों और उसकी बजट व्यवस्थाओं की चर्चा के बाद उसके स्वरूप और विशेषतः उसकी कार्यान्विति की दशा की चर्चा करना भी अप्रासंगिक नहीं है। जैसा कि उद्देश्यों से ही स्पष्ट है, इस योजना का लक्ष्य मुख्यतः भारतीय भाषाओं में ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थों और कोशों आदि का प्रकाशन कराना है, जिनसे सम्बन्धित भाषाओं की समृद्धि में मदद मिले। राज्य सरकारों की अपनी प्रकाशन योजनाओं के लिए सीधे अनुदान भी दिये जाते हैं और निजी संस्थाओं और सांस्कृतिक संगठनों को भी उनकी प्रकाशन-योजनाओं के लिए अनुदान दिये जाते हैं। भारतीय भाषाओं में अपनी प्रकाशन योजना के लिए अनुदान चाहनेवाली संस्थाओं या संगठनों को पहले अपनी प्रकाशन-योजना को मंजूर करना होता है। यह मंजूरी केन्द्रीय सरकार सम्बन्धित राज्य सरकार की सिफारिश पर ही देती है, इसलिए सभी आवेदन आदि सम्बन्धित भारत सरकार के जरिये ही आने चाहिए।

इस योजना की क्रियान्विति की झाँकी देने के लिए १९६२-६३ के दौरान दिये गए अनुदानों की एक सूची इस लेख के साथ एक अनुबन्ध के रूप में दी जा रही है। इससे पता चलेगा कि इस योजना के अधीन किस प्रकार के प्रकाशनों के लिए अनुदान दिया जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये राशियाँ केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गए अनुदान की राशियाँ हैं, और वह पूरे खर्चे के पचास प्रतिशत तक का ही अनुदान देती है, इसलिए इन योजनाओं का कुल खर्च इन राशियों का दुगुना समझा जाना चाहिए।

अनुबन्ध

आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की योजना के अधीन १९६२-६३ के दौरान दिये गये अनुदानों की सूची

राज्यों सरकारों के अनुदान

पुस्तकों के प्रकाशन के लिए नीचे लिखे राज्यों की सरकारों को प्रत्येक के आगे दिये गए अनुदान दिये गए:

राज्य सरकारें	धनराशि रुपयों में
आसाम	६५,०००
आन्ध्र प्रदेश	३२,५००
गुजरात	१२,५००
केरल	२०,२५४
मद्रास	४,२४४
मैसूर	४०,०००
मध्य प्रदेश	१,०००
उड़ीसा	३६,०००
पंजाब	३९,९६७
राजस्थान	६५,०००
प० बंगाल	६७,२७८

ग़ैर-सरकारी संगठनों और संस्थाओं को अनुदान

संस्था	राशि रुपयों में	किन प्रकाशनों के लिए अनुदान दिया गया
सचिव, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादेमी	३०००	भारतीय भाषाओं में महिला-लेखिकाओं का योगदान
,, ,,	३२१५	आन्ध्र प्रदेश का प्राचीन ऐतिहासिक भूगोल (अंग्रेज़ी में)
प्रेसीडेंट, अंजुमन तरक्की उर्दू, दिल्ली शाखा	१०००	चुनी हुई उर्दू रचनाओं का संकलन तैयार करने के लिए
प्रेसीडेंट, रामकृष्ण आश्रम, नागपुर	१६,७५८	स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थावली का मराठी संस्करण
श्री जी० आर० गिड़े, कोल्हापुर	७,५००	एक मराठी विश्वकोश
सचिव संग्रहालय आन्ध्र विज्ञान कोश समिति	५०००	तेलुगु विश्वकोश (तीसरी जिल्द)
मैनेजर, रामकृष्ण मठ, मद्रास	५०००	स्वामी विवेकानन्द की जीवनी (तमिल में)
प्रेसीडेंट, रामकृष्ण आश्रम, त्रिचूर	७७४०	स्वामी विवेकानन्द की ग्रन्थावली (मलयालम में)
श्री एस० जी० सुब्रह्मण्यम् अय्यर	५००	रामचरितमानस का तमिल संस्करण
मैनेजर रामकृष्ण मठ, मैलापुर, मद्रास	१०२७	स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थावली (तेलुगु में)
डॉ० एम० ए० करडिकर, दिल्ली विश्वविद्यालय	१२१०	लर्न योरसेल्फ संस्कृत
सचिव, बाल साहित्य परिषद रैपल्ले, आन्ध्र प्रदेश	१३,५००	बाल विश्वकोश
महासचिव विवेकानन्द शतवार्षिकी, कलकत्ता	२५,०००	स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थावली
चक्रवर्ती श्रीनिवास गोपालाचार्य, बैंगलौर	५०००	संस्कृत-कन्नड़ कोश (जिल्द तीन)
डायरेक्टर, इंस्टीट्यूट ऑफ ट्रेडीशनल कल्चर, मद्रास	२८००	देश के सांस्कृतिक संगठनों की निर्देशिका का संकलन
आदरीसचिव, अ० भा० मैथिली लेखक सम्मेलन, दरभंगा	५०००	मैथिली अंग्रेजी-हिन्दी कोश और मैथिली पुस्तकों की सूची
प्रो० डी० डी० बेडेकर, संपादक, मराठी दर्शन-विश्वकोश, पूना	४०००	मराठी दर्शन-विश्वकोश
सचिव, तेलुगु भाषा समिति, मद्रास	५०,०००	तेलुगु विश्वकोश
सचिव, द० भा० हिन्दी प्रचार सभा, नई दिल्ली	२०००	'तमिल साहित्य दर्शन' नामक भाषण माला का आयोजन
वाइस प्रेसीडेंट, आन्ध्र सारस्वत परिषद	२०००	स्त्रीला भारतमु और भागवतमु पाटलु
डॉ० के० एम० जार्ज, सचिव, साहित्य अकादेमी प्रादेशिक कार्यालय, मद्रास	१५००	जीवचरित्र साहित्य का प्रकाशन
सचिव, रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली	२२,७००	स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थावली (उर्दू)
मैनेजिंग डायरेक्टर, साउथ इंडिया शैव सिद्धान्त वर्क्स पब्लिशिंग सोसायटी, मद्रास	१३,५००	तमिल उद्धरण विश्वकोश

(टिप्पण—इसके साथ ही अनेक सांस्कृतिक संस्थाओं को उनके प्रकाशन-कार्यक्रमों, अनुसन्धान की विशिष्ट योजनाओं और विशिष्ट प्रकाशनों को निकालने आदि के लिए अलग से भी अनुदान दिये गए।)

श्रीधर भास्कर वर्णेकर

अनुपेक्षणीय किन्तु उपेक्षित साहित्य

श्रीधर भास्कर वर्णेकर संस्कृत भाषा और साहित्य-शास्त्र के प्रकांड पंडित हैं। मराठी के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी में भी गम्भीर शास्त्रीय विषयों पर प्रचुर मात्रा में लिखा है। इन दिनों नागपुर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं।

यूरोपीय सभ्यता का भारतीय सभ्यता से सम्बन्ध हुआ तब से यूरोप के विद्वानों ने भारतीय साहित्य का अपनी पद्धति के अनुसार आलोड़न प्रारम्भ किया। भारतीय सभ्यता का अन्तरंग जानने के लिए उन्हें भारतीय साहित्य का आलोड़न अथवा पर्यालोचन करना आवश्यक प्रतीत हुआ। भारत की हिन्दी, मराठी, तमिल, तेलुगु प्रभृति प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की तुलना में संस्कृत साहित्य अत्यन्त समृद्ध और ज्ञान-विज्ञान से पूर्ण था और आज भी है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप का आकलन करना सर्वथा असम्भव है। पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का आरम्भ इस देश में होने के पूर्व अध्ययन शब्द का अर्थ ही संस्कृत विद्या का अध्ययन था। वेद-वेदांग, दर्शन तथा साहित्य-संगीतादि शास्त्रों के प्रकांड पंडित इस देश के गाँव-गाँव में सरस्वती की निष्काम उपासना करते थे। उनकी विद्वत्ता ने पाश्चात्य विद्या-रसिकों को आकृष्ट किया। संस्कृत भाषा और संस्कृत भाषान्तर्गत शास्त्रों का गहरा अध्ययन करने वाले कई विद्वान् यूरोपीय विश्वविद्यालयों में हुए। उनमें मैक्समुलर, वेबर, मैक्डोनेल्ड, कीथ, श्रडर, ओल्डेनबर्ग, विंटरनिट्ज़, वी० हेनरी प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत साहित्य का पर्यालोचन करने वाले उत्तमोत्तम महान् ग्रन्थ अपनी-अपनी धारणा के अनुसार लिखे। १९वीं शताब्दी के मध्य काल से २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इस प्रकार के संस्कृत साहित्य का परिचय-पर्यालोचन करने वाले इतिहास-ग्रन्थ लिखे गए। इन सारे ग्रन्थों में सामान्यतः १२वीं शताब्दी तक और विशेषतः १६वीं शताब्दी तक के संस्कृत साहित्य का पर्यालोचन किया गया। पाश्चात्य पंडितों के ग्रन्थों के आधार पर सर्वश्री कृष्णमाचारियर, दासगुप्त, दे, वी० वरदाचारी इत्यादि भारतीय पंडितों ने संस्कृत साहित्य का इतिहास अंग्रेज़ी भाषा में तथा उपाध्याय, अगरवाल, पांडे, रामबिहारीलाल प्रभृति संस्कृतज्ञों ने हिन्दी भाषा में इस विषय पर ग्रन्थ-रचना की। परन्तु इन सारे ग्रन्थों में पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों का अनुसरण प्रधानतया किया गया।

१६वीं शताब्दी के बाद संस्कृत भाषा में जो त्रिविध और विपुल साहित्य-निर्माण हुआ उसका परिचय तथा पर्यालोचन करने का प्रयास नहीं हुआ। इस दिशा में प्रथम प्रयत्न डॉ० माडिभाषी कृष्णमाचारियर और उनके सुपुत्र श्रीनिवासाचारियर ने किया। डॉ० कृष्णमाचारियर ज़िला न्यायाधीश थे। नौकरी करते हुए उन्होंने संस्कृत साहित्य के इतिहास का क्षितिज विस्तारित करने का स्पृहणीय

प्रयत्न किया।

सम्यक् जानकारी का अभाव इस मार्ग में सबसे बड़ा संकट था। जिन ग्रन्थों का परिचय देना आवश्यक था वे प्रायः अप्रसिद्ध और अज्ञात अवस्था में कहीं पड़े हुए हैं। एक अखिल भारतीय भाषा होने के कारण संस्कृत का साहित्य भारत-भर में बिखरा पड़ा है। संस्कृत के विद्वान् प्रायः प्रसिद्धि-पराङ्मुख होने के कारण और साथ ही नव-शिक्षित समाज संस्कृत-पराङ्मुख होने के कारण, इस साहित्य की जानकारी संकलित करना अत्यन्त कठिन है। मैंने स्वयं 'अर्वाचीन संस्कृत साहित्य' (१७वीं शताब्दी से १९६० तक के संस्कृत साहित्य का पर्यालोचन) नामक अपने मराठी ग्रन्थ के ६०० पृष्ठों के लिए जानकारी संकलित करने में इन कष्टों का भरपूर अनुभव किया है। डॉ० कृष्णमाचारियर को तो इस संकलन-कार्य में प्रत्येक लेखक के पीछे चार आना खर्चा (आज की मँहगाई के हिसाब से कम-से-कम सवा रुपया) करना पड़ा। वे अपने निवेदन में लिखते हैं: 'The acquisition of the material gathered in this book has been too costly for an equanimous retrospcet and I shall not be far wrong to say that each author, save those few that are too well-known cost me an average four annas.'

आज भी अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का यथायोग्य संकलन करने की दिशा में सर्वत्र उदासीनता ही दिखाई देती है। महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के ग्रन्थालयों में संस्कृत विभाग अवश्य रहता है; परन्तु उसमें वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत तथा कालिदास, भवभूति, माघ, भारवि, हर्ष, बाण, दण्डी, जगन्नाथ इत्यादि प्राचीन प्रसिद्ध कवियों के ग्रन्थ अन्यान्य अभिनव आवृत्तियों के साथ मिलते हैं। आज तक एक भी ग्रन्थालय ने अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का—खासकर मुद्रित साहित्य का—भी सुव्यवस्थित संकलन नहीं किया। संस्कृत के विद्वान् भी इस कार्य की ओर से उदासीन हैं। प्राचीन पद्धति के कई विद्वान् संस्कृत में ग्रन्थ-रचना करते हैं, परन्तु अध्ययन प्राचीन सूरियों के ग्रन्थों का ही करते हैं। नवीन पद्धति से पढ़े हुए संस्कृतज्ञ प्रायः अंग्रेज़ी भाषा में लिखे हुए संस्कृत-विषयक ग्रन्थों का अध्ययन करना अधिक पसन्द करते हैं। उनमें मूल संस्कृत ग्रन्थों का भाष्य टीका आदि के साथ अध्ययन करने की प्रवृत्ति अत्यल्प मात्रा में दिखाई देती है। संस्कृत विद्या का संरक्षण तथा यथाशक्ति संवर्धन करने वाली संस्थाएँ (खासकर अ० भा० प्राच्य विद्या परिषद् और संस्कृत विश्व परिषद्) भी इस दिशा में आगे कदम नहीं बढ़ा रही हैं। ग्राहकों की संख्या नगण्य होने के कारण प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ भी बहुत ही कम हैं।

इस प्रतिकूल परिस्थिति में संस्कृत ग्रन्थ-लेखन तथा उनका मुद्रण प्रकाशन करने वाले लोगों की संस्कृत-भक्ति अत्यन्त प्रशंसनीय है। जिन विद्वानों ने संस्कृत में ग्रन्थ-रचना की, वे अगर अपनी प्रादेशिक भाषा में या अंग्रेज़ी में लेखन करते तो अवश्य ही धन-मान प्राप्त कर लेते। परन्तु उस क्षण-भंगुर धन-मान की आसक्ति सर्वथा छोड़कर संस्कृत-भक्ति तथा अन्यान्य हेतु से प्रेरित होकर संस्कृत-साहित्यिकों ने संस्कृत में ही लेखन-कार्य किया। 'भारत पारिजातम्' नामक गान्धिचरित्रात्मक महाकाव्य के लेखक स्वामी भगवदाचार्य कहते हैं: "इस भाषा में इस ग्रन्थ को लिखकर मैं समझता हूँ कि मैंने अपनी प्रिय-से प्रिय वस्तु का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग किया है।" 'भारत वीर रत्नमाल' नामक संस्कृत ग्रन्थमाला के लेखक, पंडित श्रीपाद शास्त्री हसूरकर अपने 'श्रीशिख-गुरुचरितामृतम्' ग्रन्थ की प्रस्तावना में कहते हैं: "लोगों का भ्रम निवारण करने के लिए मैं यह ग्रन्थ लिख रहा हूँ।" 'शेक्सपीयर नाटक कथावली' के लेखक पं० मेडपल्ली व्यंकटरमणाचार्य ने अन्य-भाषीय साहित्य का संस्कृतज्ञों को परिचय कराने के लिए लेखन-कार्य किया। बम्बई के विलसन कॉलेज के फ़ारसी के अध्यापक एम्० अहमद ने 'अल्फ़र ज्बादण्ष्दि' नामक अल्मदानी-कृत अरेबिक कथा-संग्रह का 'दुःखोत्तरं सुखम्' नामक संस्कृत अनुवाद किया। इसकी प्रस्तावना में वे लिखते हैं: "संस्कृत भाषा में अपने विचार व्यक्त करने की सामर्थ्य बढ़ाने के लिए मैंने यह प्रयास किया।" काश्यप, नृसिंह कवि (अभिनव कालिदास), विक्रमराघव (नूतन कालिदास), केरलवर्मं महाराज (केरल कालिदास), रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित (अभिनव भवभूति), पेरुसूरि (नवीन पतंजलि), दुण्ढिराज

(आन्ध्रपाणिनि) इत्यादि अनेक लेखकों ने कालिदास आदि प्राचीन संस्कृत-लेखकों की परम्परा अकुण्ठित रखने की आकांक्षा से तथा वेंकटरमणाचार्य, शंकराचार्य शास्त्री, मथुराप्रसाद शास्त्री इत्यादि लेखकों ने संस्कृत साहित्य में नवीन शैली का प्रवर्तन करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर संस्कृत में रचनाएँ कीं।

संस्कृत साहित्य का परिचय देने वाले यूरोपीय लेखकों ने १६वीं शताब्दी के बाद के साहित्य का कहीं परिचय नहीं दिया। इसलिए उस शताब्दी के बाद निर्मित संस्कृत साहित्य को हम 'अर्वाचीन' कह सकते हैं। परन्तु इस 'अर्वाचीन' काल-खण्ड के दो विभाग स्पष्टतया दिखाई देते हैं। १८५७ में भारत में महान् राज्य-क्रान्ति हुई और विदेशी शासन-सत्ता ने यहाँ अपने पाँव दृढ़ किये। इन विदेशी प्रशासकों ने अपनी संस्कृति का गहरा प्रभाव डालकर इस देश की परम्परागत प्राचीन संस्कृति को निर्मूल करने के लिए आंग्ल-शिक्षा देना आरम्भ किया। उस नवागत विदेशी शिक्षा के प्रभाव से भारत की समस्त भाषाओं के साहित्य में नवयुग का उदय हुआ। १९वीं सदी के पूर्व के सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य के विषय वे ही थे, जो परम्परा से उन्हें प्राप्त हुए थे। महान् ग्रन्थ रामायण, महाभारत और भागवत का प्रभाव सभी भाषाओं के साहित्यिकों पर गहरा था। वाल्मीकि रामायण के प्रभाव से तमिल में कम्ब रामायण, तेलुगु में रंगनाथ रामायण और भास्कर रामायण, कन्नड़ में पम्प रामायण, मलयालम में एज्युत्तच्चन का अध्यात्म-रामायण, मराठी में एकनाथ का भावार्थ रामायण और मोरो पन्त के अष्टोत्तरशत रामायण, बंगाल में कृत्तिवास का रामायण, असमिया में माधव कन्दली का रामायण, उड़िया में सारलादास का विलंका रामायण और हिन्दी की एक मूलभाषा या उपभाषा अवधी में तुलसीदास का रामचरितमानस। इस प्रकार के उत्कृष्ट रामायण-ग्रन्थ रचे गए। ये सारे रामायण-ग्रन्थ अपनी-अपनी भाषा के अनोखे अलंकार माने जाते हैं। इसी प्रकार सभी भाषाओं में १९वीं सदी के मध्य काल तक गतानुगतिक विषयों पर साहित्य-रचना हो रही थी। संस्कृत के लिए तो वे निजी विषय थे और अन्य संस्कृतोद्भव भाषाओं को वे संस्कृत से ही प्राप्त हुए थे। फिर भी १७वीं सदी से १९वीं सदी तक कालखण्ड में प्रादेशिक साहित्य की अपेक्षा संस्कृत साहित्य में गहनता, विद्वत्ता और विवेचना की मात्रा अधिक दिखाई देती है। इस काल में संस्कृत भाषा में अन्य सभी भाषाओं की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय ग्रन्थ निर्मित हुए। भट्टोजी दीक्षित का 'सिद्धान्तकौमुदी', नागेश भट्ट का 'परिभाषेन्दु शेखर,' कृष्ण सुधी का 'काव्यकलानिधि:', बलदेव विद्याभूषण की 'साहित्यकौमुदी', वासुदेव पात्र का 'कविचिन्तामणि', अच्युतराय मोड का 'साहित्य सार:', मुडुम्बी नरसिंहाचार्य का 'काव्य प्रयोग विधि:', मणिराम का 'ग्रहगणित चिन्तामणि:', मथुरानाथ का 'ज्योतिष सिद्धान्तसार:' चिन्तामणि दीक्षित का 'गोलानन्द', दिनकर पण्डित की 'ग्रहविज्ञानसारिणी', नीलाम्बर शर्मा का 'गोलप्रकाश:', व्यंकटेश बापूजी केलकर का 'ज्योतिर्गणितम्', शार्ङ्गदेव-कृत 'संगीतरत्नाकर:', सोमनाथ-कृत 'रागविबोध:', दामोदर पण्डित-कृत 'संगीतदर्पण:', रामामात्य-कृत 'स्वरमेलकलानिधि:', पंडित भातखण्डे-कृत 'लक्ष्यसंगीतम्', कविराज गणनाथसेन-कृत 'प्रत्यक्षशारीरम्', डॉ० बालकृष्ण शिवराम मुंजे-कृत 'नेत्ररोगचिकित्सा', पुरुषोत्तम सखाराम हिर्लेकर-कृत 'शारीरं तत्त्वदर्शनम्', इत्यादि व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद प्रभृति भारतीय शास्त्रों के आधार पर अनेक विवेचनात्मक मौलिक ग्रन्थ संस्कृत[1] भाषा में रचे गए। न्याय-वेदान्त-विषयक मौलिक और भाष्य-उपभाष्य ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है। अन्य भाषाओं में इस कोटि के महान् ग्रन्थ इस काल में नहीं रचे गए।

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की एक और विशेषता उसका नाट्य साहित्य है। मराठी नाट्य-वाङ्मय का प्रारम्भ १८४३ ई० से माना जाता है। श्री विष्णु अमृत भावे का 'सीतास्वयंवर' मराठी का पहला नाटक माना जाता है। हिन्दी नाट्य-वाङ्मय का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता श्री गिरिधर शास्त्री के 'नहुष' नाटक से

१. इस नामावली में लेखकों के केवल एकमात्र प्रधान ग्रन्थ का निर्देश उदाहरण के लिए दिया गया है। इन लेखकों ने इसी कोटि के और भी शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे हैं। देखिए 'अर्वाचीन संस्कृत साहित्य', ले० प्रा० श्री भा० वर्णेकर, पृ० ४३१-४५६।

माना जाता है। अन्य प्रादेशिक साहित्य का नाट्य-वाङ्मय इसी काल-खण्ड में आरम्भ होता है। संस्कृत नाट्य-वाङ्मय की परम्परा भास सौमिल्लक कविपुत्र, कालिदास इत्यादि प्राचीन कवियों से शुरू हुई और वह कभी खण्डित नहीं हुई। अर्वाचीन काल-खण्ड में जबकि अन्य प्रादेशिक साहित्य में नाटकों का नितान्त अभाव था, संस्कृत के नाट्यवाङ्मय का मन्दिर उत्कृष्ट नाटकों से भरा-पूरा था। १८५७ के पश्चात् प्रादेशिक नाटकों में विषयों की विपुलता और नवीनता का आविर्भाव हुआ। ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर सर्वत्र नाटक लिखे जाने लगे। अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का आलोड़न करने पर यह भी दिखाई देता है कि विषयों की यह आधुनिक कला संस्कृत में भी समाहित हुई।

ऐतिहासिक नाटकों में महामहोपाध्याय माधुरीप्रसाद दीक्षित-कृत 'वीर प्रतापनाटकम्', मूलशंकर मणिकलाल याज्ञिक-कृत 'प्रतापविजयम्', 'संयोगिता स्वयंवरम्' तथा 'छत्रपतिसाम्राज्यम्' और पञ्चानन तर्क भट्टाचार्य-कृत 'अमर मङ्गलम्' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक नाटकों में पी० बी० वरदराज शर्मा-कृत 'कस्याहम्' (इसमें आधुनिक नववधू के हृद्गत भाव व्यक्त किये गए हैं), ए० आर० हेब्रे-कृत 'मनोहरम् दिनम्', सीता देवी-कृत 'अरण्यरोदनम्', के० तिरुवेंकटाचार्य-कृत 'अमर्ष-महिमा', सुरेन्द्रमोहन पञ्चतीर्थ-कृत 'वणिक्सुता', क्षमादेवी राव-कृत 'कटुविपाकः' और 'महाश्मशानम्' इत्यादि नाटक उल्लेखनीय हैं।

अनुवादित साहित्य अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की एक तीसरी विशेषता है। प्राचीन काल में संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद संसार की अन्यान्य भाषाओं में हुए। संस्कृत के पंडित इस कार्य के प्रति उदासीन थे। 'ज्ञानेश्वरी' और 'रामचरितमानस'-जैसे महान् ग्रन्थ प्रादेशिक भाषाओं में रचे गए तो अन्य भाषा-भाषियों को उनका परिचय कराने के लिए महाराष्ट्र या उत्तर प्रदेश के संस्कृत पण्डितों ने उनके संस्कृत अनुवाद करने का कष्ट नहीं उठाया। १९वीं सदी में प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में नवयुग का आरम्भ मुख्यतः अनुवाद-ग्रन्थों से ही हुआ। मराठी उपन्यासों का विकास-क्रम बताते हुए मराठी-साहित्य समालोचनाकार श्री वि० सी० सरवटे साफ़ कहते हैं : "मराठी उपन्यासों का विकास प्रथम अनुवादित, बाद में काल्पनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक इस क्रम से हुआ।" समकालीन अन्य भाषीय साहित्यिकों के साथ संस्कृत साहित्यिक भी अनुवादों की ओर अग्रसर हुए। अनुवाद के लिए उपयोगी कई नवीन शब्द संस्कृत में व्युत्पत्ति प्रक्रिया के अनुसार बनाये गए। कुछ कोशकारों ने नवीन संस्कृत शब्दों के कोश-निर्माण करने का प्रयास किया। नागपुर के श्री श्री० सु० कुलकर्णी का 'व्यवहारकोश' ऐसे कोशों में विशेष उल्लेखनीय है। संस्कृत भाषा की संश्लिष्टता के कारण वे अनुवाद अधिक स्पष्ट और सार्थक हुए। 'द्राविडार्यासुभाषितसप्ततिः' नामक अनुवाद-ग्रन्थ की प्रस्तावना में अनुवादकार श्री महालिंग शास्त्री स्वानुभव बताते हुए लिखते हैं :

"My experiments in translating English and Tamil poems have shown me that the poelic efforts in the other languages come off beautifully in Sanskrit and even look enriched, more tidy and Majestic in the new garb. Every attempt in that line seems to reveal to me the immense potentialities of this most ancient language—its flexibility, roominess, surprising aptitude for suppling into felicitous moulds of excelling brilliance and bravity. Due to the kinship of the two cultures, translation from Tamil into Sanskrit is not literary feet, but an easy walkover into an equally commodious well furnished adjacent parlour."

संस्कृतानुवादित ग्रन्थों में ज्ञानेश्वर, तुलसीदास, रामदास, औवय्यी (तमिल कवयित्री) तिरुवल्वार, बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, जयशंकर प्रसाद, जगन्नाथ प्रसाद, स्वातन्त्र्यवीर सावरकर, उमर खय्याम, शेक्सपीयर, मिल्टन, गोल्डस्मिथ, टेनिसन, योगी अरविन्द, म० गांधी, टॉल्सटाय इत्यादि महान् लेखकों के ग्रन्थों के उत्कृष्ट अनुवाद मिलते हैं। संस्कृत के प्रधान पत्रकार श्री आप्पाशास्त्री राशीवडेकरजी ने 'अरेबियन नाइट्स' की कुछ प्रसिद्ध कथाओं के संस्कृत अनुवाद किये। वे इतने उत्तम हुए कि उनके बारे में श्री कृष्णमाचारियर लिखते हैं :

"The Sanskrit translation of Rashivadekar

excells the original in narration."

बाइबिल के संसार की लगभग डेढ़ हज़ार भाषाओं में अभी तक अनुवाद हुए हैं। आगे चलकर ढाई हज़ार भाषाओं में अनुवाद करने की योजना है। श्रीमती कादम्बरी यामा ने वर्धा की 'राष्ट्रभारती' में बाइबिल के अनुवादों के तथा उनके प्रचार के सम्बन्ध में बड़ा ही शोधपूर्ण और रोचक वृत्तान्त प्रस्तुत किया था। संस्कृत भाषा में सन् १८०८ से बाइबल के अनुवाद आरम्भ हुए और १९२६ तक २५ अनुवाद हो गए।

१९वीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोप में समाचार-पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन समाचार-पत्रों के कारण निबन्ध, लघुकथा, लघुकाव्य इत्यादि साहित्य की विभिन्न विधाओं को प्रोत्साहन मिला। नवीन विचारों के प्रचार और लोक-जागृति का समाचारपत्र और उनमें प्रकाशित साहित्य एकमात्र प्रधान साधन रहे और आज भी हैं। भारत की हिन्दी, मराठी इत्यादि प्रादेशिक भाषाओं में इसी काल में समाचारपत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। मराठी का प्रथम समाचार-पत्र 'दर्पण' और बाद के 'नेटीव्ह ओपिनीअन' तथा 'इन्दुप्रकाश' का स्वरूप अर्धनारीनटेश्वर का-सा था। उनमें आधी रचनाएँ अंग्रेज़ी में रहती थीं।

संस्कृत में १८६१ में 'विद्योदय' नामक मासिक पत्रिका हृषीकेश भट्टाचार्य ने लाहौर में शुरू की। ४५ वर्षों तक यह पत्रिका प्रकाशित होती रही। 'विद्योदय' के उदय के पश्चात् अनन्ताचार्य की 'मञ्जुभाषिणी', आई० कृष्णम्माचार्य की 'सहृदया', आप्पाशास्त्री राशिवडेकर की 'संस्कृत चन्द्रिका' और 'सूनृतवादिनी', विधुशेखर भट्टाचार्य की 'मित्रगोष्ठी', कालीप्रसाद त्रिपाठी की 'संस्कृतम्' इत्यादि मासिक पत्रिकाएँ संस्कृत में प्रकाशित होने लगीं। गत शताब्दी में ६० से अधिक सामयिक पत्रिकाएँ संस्कृत में प्रकाशित हुईं। आर्थिक सहायता का सर्वथा अभाव और शिक्षित जनता की निर्घृण उपेक्षा होते हुए भी संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में इतनी अधिक सामयिक पत्रिकाएँ प्रकाशित नहीं हुईं। अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के कई उत्कृष्ट ग्रन्थ इन पत्रिकाओं में क्रमशः प्रकाशित हुए। उनमें से कुछ थोड़े ग्रन्थ रूप में भी प्रकाशित हुए; लेकिन बहुत सारे हस्तलिखित ग्रन्थों के समान उन बन्द पत्रिकाओं में दबे पड़े हैं और आज तो वे पत्रिकाएँ भी दुर्लभ हो गई हैं। उनके साहित्य का संकलन, संशोधन, गवेषणा और विषयानुसार वर्गीकरण करना किसी व्यक्ति का नहीं, एक संस्था का कार्य है। कोई अकेला परिश्रमी और अध्यवसायी व्यक्ति इस कार्य को आज कर भी नहीं सकता। साहित्य अकादमी के संस्कृत विभाग को यह कार्य तुरन्त अपने हाथ में लेना चाहिए। जिन ग्रन्थों के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके, उनके पुनर्मुद्रण का प्रयास अब अकादमी को छोड़ देना चाहिए।

प्राचीन मन्दिर, भवन, ग्रन्थ, नहर, तालाब इत्यादि जड़ वस्तुओं का संरक्षण करना सरकार अपना कर्तव्य मानती है। प्राचीन संस्कृत भाषा एक सजीव शक्ति है। अति प्राचीन काल से वह भारत की 'सांस्कृतिक राष्ट्रभाषा' रही और आज भी उस दायित्व को निभाने की सामर्थ्य उसमें है। संस्कृत का ज्ञान न रखने वाले विद्वानों को यूरोप और अमेरिका में उपहास का पात्र बनना पड़ा है। विद्यार्थी दशा में संस्कृत का अध्ययन करने का अवसर न मिलने के कारण बार-बार पछताने वाले कई सुशिक्षित भी आज समाज में हैं। ऐसी अवस्था में इस भाषा का तथा उसके अनुपेक्षणीय किन्तु उपेक्षित साहित्य का यथोचित संरक्षण करना स्वतन्त्र भारत का एक अनिवार्य कर्त्तव्य है।

सी० के० करुणाकरन

स्वातन्त्र्योत्तर मलयालम साहित्य

श्री सी० क० करुणाकरन का जन्म केरल राज्य के कटभेरी नामक स्थान में हुआ। हिन्दी की ओर रुचि आरम्भ से ही रही। बम्बई विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की साहित्य-रत्न परीक्षा भी ससम्मान उत्तीर्ण की। 'धर्मयुग', 'राष्ट्र-भारती', 'नव भारत टाइम्स' में प्रायः लिखते रहते हैं। आजकल बम्बई में रहते और वहीं कार्य करते हैं।

भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति विश्व की राजनीति में एक अभूततूर्व घटना थी। अन्याय को न्याय से और हिंसा को अहिंसा से परास्त किया गया था। गांधीजी के नेतृत्व में हिमानी से लेकर कन्याकुमारी तक की जनता एक सूत्र में बँध गई थी। प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होते ही भारत ने मुक्ति की आशा की थी, पर ब्रिटिश सरकार ने अपनी प्रतिज्ञा से विमुख होकर दमन की नीति अपनाई। सन् १९२० से भारतीय जनता उनके इस कुचक्र से परिचित थी और यहीं से स्वाधीनता-संग्राम में तीव्रता भी आई। उसकी पराकाष्ठा द्वितीय विश्वयुद्ध के अवसर पर हुई। सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में तो सम्पूर्ण भारत सम्मिलित था। इसी एकता ने भारत को स्वतन्त्र किया और इस प्रकार सैकड़ों वर्षों की दासता के पश्चात् देश स्वाधीन हुआ। भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन और स्वतन्त्रता की प्राप्ति में जनता के साथ-साथ भारतीय साहित्यकारों का भी ज़बर्दस्त हाथ रहा। यह द्रष्टव्य है कि स्वाधीनता के पहले सब जिस आलौकिक उत्साह का अनुभव कर रहे थे, वह भारत के स्वतन्त्र होते ही नामावशेष रह गया। मलयालम साहित्य में भी स्वाधीनता-संग्राम ने अपना प्रभाव छोड़ा है, परन्तु लक्ष्य की पूर्ति के बाद जो व्यापक हताशा और कुण्ठा सर्वत्र व्याप्त है वह इसमें भी देखने में आती है।

कवि को प्रत्येक साहित्य में ऊँचा स्थान प्राप्त है, मलयालम में भी यही बात है। आज से कुछ वर्षों पूर्व तक मलयालम में कविता का ही एकछत्र राज्य था। इसी अवस्था में आधुनिक मलयालम साहित्य को उन्नत शिखर तक पहुँचाने वाले तीन महाकवि हुए, जिनमें एक तो स्वाधीनता मिलने के बाद दस वर्ष तक हमारे बीच रहे। ये तीनों कवि मलयालम कविता को परम्परागत इतिवृत्ति से निकालकर नवीन कल्पना और नये शैली-शिल्प की ओर लाये। उन्होंने रामायण और महाभारत की कथावस्तु से भी कविता को मुक्ति दिलाई और संस्कृत शैली में महाकाव्य रचने की पद्धति से हटकर खण्डकाव्य के नवीन प्रयोग का आविष्कार किया। ये महाकवि-त्रय थे—कुमारन आशान, उल्लूर परमेश्वर रोयर और वल्लत्तोल नारायण मेनोन।

कुमारन आशान को संक्षेप में 'मलयालम के प्रसाद' कह सकते हैं। आशान और उल्लूर तो स्वाधीनता-प्राप्ति के वर्षों पूर्व चल बसे थे। उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले थे वल्लत्तोल। महाकाव्य, खण्डकाव्य, अनुवाद आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने प्रचुर कार्य किया। साथ ही एक कोने में पड़ी हुई 'कथकलि' का 'केरल कलामण्डलम्' संस्था द्वारा कायाकल्प करके आधुनिकता देने और प्रचारित करने का कठिनतम परिश्रम भी उन्होंने किया। 'ऋग्वेद' को मलयालम कविता में परिणत करना भी उन्हीं का प्रशंसनीय कार्य था। साहित्य अकादमी ने अपना श्रेष्ठतम पुरस्कार उनको

इस कार्य के लिए प्रदान किया। सन् १९५८ में कवि का निधन हुआ। इन तीनों कवियों के चल बसने के बाद, काव्य का क्षेत्र एक तरह से सूना हो गया। उनके बाद केरलीय महाकवि के पद पर आसीन करने के लिए रह गए—जी० शंकर कुरुप; पर उनके महाकवि होने के सम्बन्ध में आलोचक एकमत नहीं हैं। नये कवियों में तो किसी में भी काव्य का वह सरस माधुर्य नहीं मिलता जो उन तीन महाकवियों में उपलब्ध था।

आधुनिक कविता परम्परा का तीव्र विरोध करती है और वह जनजीवन से ओतप्रोत है। पुरानी संस्कृत-गर्भित शैली—'मणिप्रवालम्' को छोड़कर सामान्य जनता में प्रचलित 'द्राविड़ छन्दों' में काव्य-रचना हो रही है। यह नवीन प्रगति यद्यपि कविता का मानदण्ड स्थिर नहीं करती, पर एक पन्थ तो अवश्य बना रही है।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने सम्पूर्ण दुनिया की रूपरेखा बदल डाली। कोई भी व्यक्ति उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह गया। जीवन में संघर्ष उत्पन्न हुआ और उससे छुटकारा पाना लगभग असम्भव ही हो गया। प्रत्येक वस्तु का मूल्य कुछ और हो गया। इस अवसर पर लेखक साहित्य के पुराने मूल्यांकनों को छोड़कर आगे बढ़ने लगे। प्रगतिशील साहित्य का विकास यहीं से हुआ। इन लेखकों ने जनता के दैनन्दिन जीवन और दैनिकी मनोभावों के घात-प्रतिघातों की ओर अधिक ध्यान दिया और उनके साथ समवेदना दिखाते हुए साहित्य-रचना करने लगे। इनमें साहित्य की विविध विधाओं के लेखकों के होते हुए भी कविता, कहानी और उपन्यास का पक्ष ही अधिक मुखरित हुआ। छोटी कहानी की भी वृद्धि अत्यन्त तीव्रता के साथ हुई। अच्छे-अच्छे कथाकारों का जन्म हुआ, जो सामान्य जनजीवन से प्रेरणा और काल की गति से उत्साह प्राप्त करने लगे। ऐसे लेखकों में कुछ उच्चतम कथाकार भी हो गए, जिनकी तुलना संसार के गण्यमान्य कथाकारों से की जा सकती है। द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर स्वाधीनता-प्राप्ति के कुछ बाद तक मलयालम में कहानी का ही बोलबाला रहा।

शिल्प की एकरूपता और प्रतिपाद्य की समानता के कारण, कहानी-लेखक सफल उपन्यास-लेखक भी हो गए। उपन्यास का भी विषय और उद्देश्य वही रहा जो कहानी का था—जनता-जनार्दन के जयगीत गाना। 'मलयालम के प्रेमचन्द' तकज़ि शिवशंकर पिल्ला का उपन्यास 'चेम्मीन' स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद मलयालम उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि है। साहित्य अकादमी ने उसे पाँच सहस्र के पुरस्कार से गौरवान्वित किया है। बहुत कम समय में उसके अनेक संस्करण हुए और संसार की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में अनुवाद भी निकले। उनके साथ-साथ अन्य उल्लेखनीय नाम है एस० के० पोटेकाट का। कहानी, उपन्यास, यात्रा, संस्मरण, निबन्ध, कविता आदि सभी विधाओं में मलयालम उनका ऋणी है। मलयालम में यात्रा-साहित्य का आरम्भ उन्हीं से होता है।

मलयालम में नाटकों का विकास नहीं हो पाया। संस्कृत के अच्छे रूपकों के सफल अनुवाद तो उपलब्ध हैं, परन्तु उनके समकक्ष मलयालम नाटक का अभाव अब तक खटकता है।

'कृष्णनाट्टम्', 'चाक्यार कूत्', 'कथकलि', 'ओट्टन तुल्लल' आदि पुराने दृश्य-काव्यों को सदियों से केरल के राजवंशों द्वारा प्रोत्साहन मिलता रहा है और आज भी केरल की जनता इन कलाओं का आदर करती है। इन ललितकलाओं का प्रबल प्रचार ही नाटकों के विकास में बाधक रहा है, ऐसा इस लेखक का अनुमान है।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज तक मलयालम में उच्चकोटि के साहित्य-समालोचक नहीं हुए। इसलिए मलयालम के सबसे बड़े लेखक की कृति का भी सही मूल्यांकन नहीं हो पाया। कुछ लोग तो किसी-किसी लेखक को आगे-पीछे खींचते रहने में ही आनन्द प्राप्त करते हैं। आशान, उल्लूर, वल्लत्तोल आदि महाकवियों की कृतियों की व्याख्याएँ तो सैकड़ों हुईं, आगे भी होती रहेंगी, परन्तु उनकी सर्वांगीण समालोचना बिलकुल नहीं हो पाई।

निबन्ध का क्षेत्र भी कम उन्नत नहीं है। परन्तु वह जनजीवन को उतना प्रभावित नहीं कर पाया जितना कहानी और उपन्यास। इसीलिए उसकी रचना और संवर्धना कम हुई, फिर भी मलयालम का निबन्ध-साहित्य खूब पुष्ट और उन्नत है।

आज प्रत्येक आलोचक के मुँह से यही प्रश्न सुनाई पड़ता है कि क्या कविता का काल समाप्त तो नहीं होता

जा रहा है ? आज मलयालम में भी गद्य का ही युग है। महाकाव्य और खण्डकाव्य के स्थान उपन्यास और छोटी कहानी ने सँभाल लिये हैं। कविता की भाषा, उसकी पद्धति, अलंकार-योजना और संस्कृत-गर्भित शैली—ये सब शिक्षित व्यक्ति के भी पल्ले नहीं पड़ते, तो साधारण जनता की स्थिति का तो सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मलयालम कविता के बारे में उतना चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है जितना कुछ आलोचक भ्रमवश हैं। आज भी जी० शंकर कुरुप-जैसे कवि मलयालम में साहित्य-सेवा कर रहे हैं। जब तक धरती पर मनुष्य है, उसमें मृदुल भाव हैं, उसकी आत्मा में कुरेदन और भावगत संघर्ष हैं, कविता विद्यमान रहेगी। यही बात मलयालम कविता के बारे में भी सत्य है।

र० शौरिराजन

स्वातन्त्र्योत्तर तमिल साहित्य की प्रवृत्तियाँ और प्रगति

श्री र० शौरिराजन का जन्म १९२७ में हुआ था। 'दक्षिणापथी' उपनाम से लिखते हैं। तमिल और हिन्दी दोनों पर समान अधिकार है और दोनों में ही साहित्य-रचना करते हैं। इन भाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेज़ी, मलयालम और गुजराती भी जानते हैं। तमिल और हिन्दी में अन्य भाषाओं से अनुवाद भी करते हैं। तमिल में इनकी लगभग एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आजकल दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के साहित्य विभाग में कार्य करते हैं।

आज से साठ साल पहले तमिल के युग-प्रवर्तक राष्ट्र-कवि स्व० सुब्रह्मण्य भारती ने स्वाधीन भारत का सपना देखा, और भावी भारत की सर्वतोमुखी समुन्नति की आशा-भरी उद्घोषवाणी गुंजरित की। भारती की उन अमर पंक्तियों का भावार्थ इस प्रकार है :

"हम भविष्य में (स्वतन्त्र भारत में) ऐसा एक यन्त्र निर्मित करेंगे, जिसके सहारे काशी नगर के विद्वानों की उपादेय वाणियों को कांची-निवासी (दक्षिण के लोग) स्पष्ट सुन सकें।···हम उत्तमोत्तम काव्य-ग्रन्थ रचेंगे;. कलाओं को विकसित करेंगे; समस्त उद्योग-धन्धों को खूब बढ़ाएँगे।···यह भारत माता तीस करोड़ मुखों वाली है और उसकी भाषाएँ अठारह होती हैं; फिर भी हमारी माँ का चिन्तन तो एक ही है।···इतर देशों के महान् पंडितों के बहुमूल्य ग्रन्थों का अनुवाद तमिल में हो जाना चाहिए; अमर कीर्ति पाने वाले नये-नये ग्रन्थों का निर्माण भी तमिल भाषा में हो जाना चाहिए।"

अगस्त, १९४७ के बाद भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य की भाँति तमिल को भी राज्याश्रय के साथ, जनता का सम्बल भी अधिकाधिक मिलने लगा। इसका प्रारूप स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय, मातृभूमि-प्रेम के साथ-साथ मातृभाषा-प्रेम की प्रेरणा से विकसित हुआ। देश के गण्य-मान्य नेता, साहित्यकार, सुवक्ता, प्राध्यापक, कवि एवं वकील आदि कर्णधारों ने जनता में अंग्रेज़ तथा अंग्रेज़ी के प्रति जो बौद्धिक गुलामी बद्धमूल थी, उसको दूर किया। बाधा के हटने से देशी भाषा, भावना, वस्तु आदि का समादर विकासोन्मुख प्रवृत्तियों द्वारा होने लगा। आज वह भावना धुँधली पड़ती जा रही है; विदेशी सम्मोह—मुख्यतया अंग्रेज़ी का मोह—विचारशीलों में भी घर करता आ रहा है।

स्वतन्त्रता के पूर्व की स्थिति

सन् १८८० से ही तमिल साहित्य भाषा-पंडितों तथा कवियों की ठेकेदारी से मुक्त होकर जनसाधारण की माँग-मर्यादा का पोषक बनने लगा। इसका मुख्य श्रेय अंग्रेज़ी साहित्य के प्रसार को है। नई-नई उपलब्धियाँ एवं

प्रवृत्तियाँ शुरू हुईं और उनसे भी अधिक त्वरा से अनुवाद-अनुकरण की बाढ़ उमड़ पड़ी। अलेक्ज़ेंडर ड्यूमा, डिकन्स आदि विदेशी उपन्यासकारों का अधकचरा अनुकरण बहुतायत से होने लगा। जनता में ऐसी रचनाओं का चाव से स्वागत हुआ। आरणि कुप्पुस्वामि मुदलियार, वडुकूर दुरैस्वामी अय्यंगार, रंगराजन, को० अम्माल् आदि उपन्यास-कारों की धाक जम गई। फिर भी पंडितों को ही साहित्यिक प्रतिष्ठा का स्वत्वाधिकार था। पंडितों की मान्यता पर ही साहित्य की प्रवृत्ति स्वीकृत होती थी।

बाद को सन् १९३० में, तमिल का गद्य-साहित्य जन-मानस में प्रतिष्ठित होने लगा। कथा-कहानियों का शिल्प निखरा, जो अंग्रेज़ी, फ्रेंच तथा रूसी भाषा-साहित्य की देन था। 'स्वदेशमित्रन', 'मणिक्कोडि', 'आनन्द विकडन' आदि पत्रिकाओं ने नई प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया।

जनता में मातृभाषा के प्रति जो विराग था, उसे दूर करने में कांग्रेसी नेताओं तथा सेवकों का प्रबल हाथ रहा। आन्दोलन का एक खास अंश बन गया—मातृभाषा का विकास। दुनिया में जहाँ विदेशी या पड़ोसी आक्रमण हुआ और उसका आधिपत्य जमा, वहाँ प्रथमतः उस प्रादेशिक संस्कृति तथा भाषा पर ही संकट आया। राजनीतिक पराधीनता से कहीं अधिक भयानक और संक्रामक है बौद्धिक एवं सांस्कृतिक पराधीनता। इस दुर्भाग्य का दण्ड जितना भारत ने भोगा, उतना किसी बिरले ही देश ने भोगा होगा। हमें अपने राष्ट्रनिर्माताओं का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने न केवल राजकीय परतन्त्रता से, अपितु विदेशी भाषा तथा संस्कृति के चंगुल से भी भारत को उभारने का प्रयास किया। उनके द्वारा निर्मित प्रशस्त पथ पर बढ़ने का कार्य वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों का है।

आज़ादी के आन्दोलनों के साथ साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी विकास, निर्माण एवं उत्थान की ओर अग्रसर होती हैं।

स्वतन्त्रता के बाद की परिस्थिति

संविधान के अनुसार भारत 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्र गणराज्य' हो गया है। तमिल के राष्ट्रकवि भारती के शब्दों में, 'हम सब भारतीय इस देश के राजा-महाराजा' हो गए हैं। अतः हमारी सर्वतोमुखी समुन्नति के सारे मार्ग खुले हैं; बाधा-बन्धन की बात तो दूर, अनुत्साह और हताशा की भी गुंजाइश अब नहीं रही। सरकार और जनसाधारण की ओर से देशी भाषा तथा साहित्य के विकास की समुचित व्यवस्थाएँ हुई हैं; नई आवश्यकताओं की पूर्ति भी समय-समय पर होती जा रही है, फिर भी अपेक्षित विकास साहित्य के क्षेत्र में हो ही गया है, सो बात नहीं।

अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा—संस्कृत की तरह—तमिल वाणी प्राचीनतम एवं सम्पन्न वाङ्मयवाली होने के कारण, उसके बोलने वालों में एक स्वतःसिद्ध अभि-मान हमेशा सिर उठाये रहता है। यह गौरव-भावना अपने सीमित रूप में तो शोभास्पद है, परन्तु कभी कभी सीमा-तीत होकर नये विकास को अवरुद्ध करने वाला रोड़ा बन जाती है। आज़ादी के बाद, क़रीब एक दशक तक, इस कुंठा को, सिर्फ कहानी, उपन्यास, पत्र-पत्रिकाएँ और अनु-वाद के क्षेत्रों को छोड़कर, अन्य क्षेत्रों में स्पष्ट-रूपेण देखा जा सकता है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि तमिल कविता में आज भी मुक्तक छन्दों का प्रचलन नहीं हो सका और मुक्तक के मूल्यांकन का कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया। यही कारण है कि तमिल कविता की परम्परा ने 'भारती' युग में (उन्नीसवीं सदी में) जो नया मोड़ लिया वह वहीं रुका रह गया, उसका आगे विकास न हो सका।

स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय, सर्वश्री देशिक विनाय-कम् पिल्लै, नामक्कल रामलिंगम पिल्लै, सुरभि, भारती-दासन, कम्बदासन आदि कवियों ने पुरानी, रीतिकालीन, आराध्य के नख-शिख-वर्णन और दरबारी कविता से नाता तोड़कर जनजीवन का पक्ष लिया; जनसामान्य के उद्‌गारों-उमंगों को गुंजरित किया और सुगमता का नया वाता-वरण प्रस्तुत किया।

पिछले पाँच-छः सालों से पद्य-साहित्य में कुछ नई प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। सर्वश्री ज्योति, सोमु, कण्ण-दासन, तमिलऴकन् आदि कवियों की रचनाएँ सुकोमल भावपक्ष का सफल परिशीलन करती हैं। योगी सुद्धानन्द भारती और योगियार, ये दोनों कवि प्राचीन और अर्वा-चीन दोनों परम्पराओं के पोषक हैं। इसे निःसंकोच स्वीकार

करना पड़ता है कि तमिल साहित्य के नये ठेकेदारों (प्रकाशकों तथा समीक्षकों) में ही नहीं, आधुनिक पाठक-वर्ग में भी पद्य-साहित्य के प्रति उतना आकर्षण नहीं दीखता जितना कथा-साहित्य के प्रति है। इसका मुख्य कारण है, तमिल के प्राचीन पद्य-साहित्य की विपुल समृद्धि और सम्पन्नता। उसके प्रति जो सार्वजनीन समादर एवं आकर्षण आज भी बना हुआ है, उसको स्थानान्तरित करने की सामर्थ्य नवीन पद्य-परम्परा में नहीं है। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्, न चाऽपि काव्यं नवमिति अवद्यम्' की भावना यदि भविष्य में प्रचारित हो तो पद्य-परम्परा की नई-नई प्रवृत्तियों तथा उपलब्धियों की सम्भावना है।

नाटक साहित्य स्वतन्त्रता के बाद अच्छे ढंग से विकसित हुआ है। दृश्य-श्रव्य दोनों प्रकार के नाटक, एकांकी, ध्वनिनाटक, गीतिनाटक आदि का विकास होता आ रहा है। बंगला तथा हिन्दी के (श्रव्य) नाटक साहित्य के विकास की तुलना में, तमिल के नवीन नाटक साहित्य ने कुछ कम ही प्रगति की है। रंगमंच के नाटकों में शक्ति नाटक सभा, टि० के० एस० ब्रदर्स, राजमाणिक्कम् कम्पनी, सेवा स्टेज तथा असंख्य अमेचूर नाटक संघों की प्रवृत्तियाँ गौरव के साथ उल्लेखनीय हैं। यद्यपि पुस्तक-प्रकाशन-क्षेत्र में नाटकों का प्रसार कम है, फिर भी पत्र-पत्रिकाओं में उसका अपना स्थान है। आधुनिक सफल और यशस्वी नाटककारों में, बी० एस० रामैया, ति० जानकीरामन, अरु० रामनाथन, मु० करुणानिधि, गोमती स्वामिनाथन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। देश-विदेश के विख्यात नाटकों के अनुवाद भी थोड़े-बहुत निकलते रहते हैं। गत पन्द्रह वर्षों से, तमिल देश के प्राचीन गौरव के सम्पोषक ऐतिहासिक नाटकों का बोलबाला है।

तमिल के प्रख्यात साप्ताहिक 'आनन्द विकटन्' की ओर से सन् १९६० में नाटक और एकांकी की एक प्रतियोगिता आयोजित हुई थी। उस प्रतियोगिता में सैकड़ों नाटक आए, उनमें से तीन चुने गए और उनको क्रमशः, पहला पुरस्कार १२,५०० (साढ़े बारह हज़ार) रुपये का, दूसरा पुरस्कार ५००० (पाँच हज़ार) रुपये का और तीसरा पुरस्कार २५०० (ढाई हज़ार) रुपये का वितरित किया गया। मेरे खयाल में, भारत-भर में नाटक-साहित्य के लिए इतने बड़े पुरस्कार और कहीं वितरित नहीं हुए।

नाटक-साहित्य की समृद्धि में आकाशवाणी की सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

कथा-साहित्य ने भी अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की तरह तमिल में अच्छी प्रगति की है और निरन्तर करता जा रहा है। सन् १८९० से तमिल का कथा-साहित्य आख्यान, लोककथा एवं बैतालपच्चीसी के स्तर से ऊपर उठा और उठता ही गया। अंग्रेज़ी एवं बंगला कथा-साहित्य का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा। कई नये-नये और सफल प्रयोग हुए।

सामयिक, वर्तमान स्थिति-गति एवं भविष्य की आशावादी परिकल्पना तथा भावना-प्रधान सपने कहानियों के माध्यम से साकार होने लगे। आज़ादी के बहुत पहले से ही, कहानी और उपन्यास को सार्वजनीन समादर मिल चुका था, फिर भी उस परम्परा का स्वस्थ एवं सुन्दर विकास (सज्जा एवं स्तर दोनों की दृष्टि से) आज़ादी के बाद ही हुआ।

आज से करीब अस्सी साल पहले, श्री वेदनायकम पिल्लै ने 'प्रताप मुदलियार चरित्रम्' नामक उपन्यास लिखा था; वही तमिल का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। इसके कुछ समय बाद श्री राजम ऐयर का 'कलाम्बाल चरित्रम्' नामक सामाजिक उपन्यास प्रकाशित हुआ। ये दोनों तत्कालीन सामाजिक स्थिति-रीतियों एवं गुण-दोषों का चित्रण करते हैं। इसके बाद बाढ़ आई जासूसी उपन्यासों की, जो विदेशी उपन्यासों की अनुकृति थे।

स्वाधीनता-संग्राम के काल में, नई जागृति कथा-साहित्य में हुई; 'मणिक्कोडि', 'तेनी', 'कलामोहिनी' आदि प्रगतिशील पत्रिकाएँ (मासिक, पाक्षिक आदि) निकलीं। इनके द्वारा, रूसी तथा फ्रेंच कथा-साहित्य के अनुगमन में नये-नये प्रयोग किये गए। यह धारा आज़ादी के बाद भी बहती रही, पर रुक-रुककर आधुनिक तमिल कथा-साहित्य के कर्णधारों में, सर्वश्री कु० प० राजगोपालन, पुदुमैपित्तन्, कल्कि, देवन्, एस० वी० वी० आदि कुशल मौलिक लेखकों की सेवाएँ अमूल्य हैं। ये सब स्वर्गीय साहित्यकार हैं। उस परम्परा में पले तथा नवीन प्रयोगकर्ताओं में सर्वश्री ति०

ज० रंगनाथन, चिदम्बर सुब्रह्मण्यम्, बी० एस० रामैय्या, ति० जानकी रामन, क० ना० सुब्रह्मण्यम्, कुहप्रिया, कुमुदिनी आदि के नाम आदर के साथ लिये जाते हैं। श्री कलिक के ऐतिहासिक उपन्यास 'पार्थिपन कनपु', 'शिवकामियिन् शपथम्', 'पोन्नियिन शेलवन्' आदि अमर कीर्ति पा चुके हैं। ये प्राचीन तमिल संस्कृति एवं समाज-स्थिति की रोचक गौरव-गाथाएँ हैं। उस पीढ़ी के अभिभावकों के रूप में आजकल अखिलन, विक्रमन, जेगचिर्पियन, को० वि० मणिशेखरन, ना० पार्थसारथी आदि युवक लेखक भी प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं।

आधुनिक सफल सामाजिक उपन्यासकारों में भी उपरोक्त लेखकों का ऊँचा स्थान है; साथ ही पी० एम० कण्णन, आर० वी० इदयन्, मु० वरदराजन, विन्दन, रघुनाथन, सोमु, अरु० रामनाथन, रा० कि० रंगराजन, एस० ए० पी० अण्णामलै आदि कुशल लेखकों ने सफल रचनाओं के द्वारा बड़ी ख्याति पाई है। नामी लेखिकाओं में लक्ष्मी, अनुत्तमा, राजमकृष्णन, चूड़ामणि, कृष्णा आदि का विशिष्ट स्थान है।

स्व० कलिक के बाद, अधिकाधिक लोकप्रियता श्री शाण्डिल्यन के सफल ऐतिहासिक उपन्यासों (जीवभूमि, मन्नन् सकल्, कन्निमाडम्, यवन रानी आदि) को प्राप्त हुई। यद्यपि उनके रचना-शिल्प पर विदेशी अपन्यासों की टेकनीक एवं रोचकता की गहरी छाप है, फिर भी उनकी मौलिक अभिव्यंजना और प्रांजल शैली अपना सानी नहीं रखतीं।

आधुनिक सफल कहानीकारों में पूर्वोक्त उपन्यासकारों की सम्मान्य परिगणना अवश्य होती है। साथ ही, जयकान्तन्, वासवन्, गोमती स्वामिनाथन आदि के प्रयास भी अविस्मरणीय हैं। आंचलिक उपन्यासों में, राजमकृष्णन का 'कुरुंजित् तेन्' (तमिल देश के आदिवासी तोदुव लोगों के जीवन से सम्बन्धित), प० सिंगारम का 'कडलुक्कु अप्पाल्' (मलाया-सिंगापुरवासी तमिल लोगों के जीवन पर आधारित) तथा षण्मुख सुन्दरम् के दो-तीन उपन्यास विख्यात हुए हैं। इस दिशा में आजकल अधिकाधिक प्रयास हो रहे हैं।

सुप्रसिद्ध तमिल साप्ताहिक 'आनन्द विकटन' ने सन् १९५८ में उपन्यास प्रतियोगिता की थी और प्रथम श्रेणी पर चुने गए दो उपन्यासों को पाँच-पाँच हज़ार रुपये का पुरस्कार वितरित किया था। इसी प्रकार, सन् १९५७ में कहानी-प्रतियोगिता भी उसी साप्ताहिक ने आयोजित की और प्रथम पुरस्कार एक हज़ार रुपये का, दूसरा पाँच सौ का और अभिनन्दित पन्द्रह कहानियों को (प्रत्येक के लिए सौ रुपये) पन्द्रह सौ रुपयें पुरस्कार दिये गए। इस स्तुत्य प्रोत्साहन का अनुकरण 'कल्कि', 'कुमुदम्' आदि पत्रिकाओं ने भी किया, जिनकी पुरस्कार-राशि कम होने पर भी, लेखकों के लिए वे प्रतियोगिताएँ आशाप्रद एवं श्रेयस्कर साबित हुईं।

हिन्दी, बंगला, मराठी तथा अन्य दाक्षिणात्य भाषाओं के शीर्षस्थ कथाकारों की कृतियाँ भी तमिल में अनूदित हुआ करती हैं। विदेशी साहित्य का भी कम प्रसार (अनुवाद द्वारा) नहीं हुआ है। अतः कथा-साहित्य की नई-नई उपलब्धियाँ तमिल में भी पाई जाती हैं। लोकरंजन के साथ-साथ उच्च स्तर की कला भी इन कहानियों में दृष्टिगोचर होती है।

समीक्षा-साहित्य, अन्य भाषाओं की तरह, तमिल में प्रचुर मात्रा में नहीं लिखा जाता है। केवल प्राचीन काव्य-ग्रन्थों के बारे में कई विवेचनात्मक, अनुशीलनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं; किन्तु नवीन साहित्यधारा पर कोई ऐसी खास पुस्तक नहीं आई, जिसका उल्लेख गर्व के साथ किया जा सके। सच पूछा जाए तो समीक्षकों का अकाल-सा ही है तमिल साहित्य-जगत् में। फिर भी आ० शा० ज्ञानसम्बन्धम्, क० ना० सुब्रह्मण्यम्, शि० शु० चेल्लप्पा आदि समालोचकों के लेख पत्र-पत्रिकाओं में अकसर निकला करते हैं। मुख्यतया, नवीन साहित्य की समीक्षा शि० शु० चेल्लप्पा की समालोचनात्मक पत्रिका 'एलुतु' (लेखन) में होती रहती है। वास्तव में तो पाठक समीक्षा-समालोचनाओं में उतनी रुचि नहीं लेते, जितनी आलोच्य कृति में लिया करते हैं, शायद इसीलिए आलोचना-साहित्य का इतना अभाव है।

बाल-साहित्य, लोक-साहित्य, विज्ञान, यात्रा, टेकनिकल, धार्मिक आदि विषयों पर नई-नई और अच्छी रचनाएँ निकल रही हैं। इनकी प्रगति के लिए कई लेखक-संघ तथा

संस्थाएँ अच्छा योगदान देती हैं। यदि केरल की तरह इधर भी लेखकों की सहकारी समिति स्थापित हो जाए, तो लेखक-वर्ग की हालत ही नहीं सुधरेगी, साहित्य का स्तर भी उन्नत होगा। लेकिन बुद्धिजीवी संगठन सहकारिता के बन्दी कैसे हो सकते हैं ?

आजकल विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट एवं गैर-सरकारी साहित्य-संवर्द्धक संस्थाएँ तमिल साहित्य की सर्वाङ्गीण प्रगति के लिए प्रयत्नशील हैं। तमिल की पत्र-पत्रिकाओं की गौरवान्वित प्रगति की चर्चा किये बिना यह लेख अधूरा ही माना जाएगा। उन्हीं के पुष्ट आश्रय में तमिल साहित्य प्रशंसा और प्रगति का पात्र बन सका है। तमिल पत्रिकाओं की लोकप्रियता भी अनुपम है। उन्होंने लेखकों को प्रोत्साहन भी कम नहीं दिया है।

आजकल तमिल के तीन साप्ताहिक, अपने उच्च कोटि के स्तर तथा प्रसार के लिए प्रख्यात हैं। 'कुमुदम्' की तीन लाख प्रतियाँ हर सप्ताह बिकती हैं। 'आनन्द विकटन' की दो लाख प्रतियाँ हर हफ्ते पाठकों को प्रसन्न करती हैं। 'कल्कि' की डेढ़ लाख प्रतियाँ निकलती हैं। 'स्वदेश मित्रन्', 'दिनमणि', 'नवमणि', 'तमिल़नाडु' आदि पचासों दैनिक पत्र निकल रहे हैं, मासिक पत्रिकाओं में 'कलैमगल्', 'अमुदसुरभि', 'कलैक्कदिर' आदि के नाम सुविदित हैं, जो अपने उच्च स्तर के लिए प्रसिद्ध हैं।

समग्र रूप में आँकने पर, तमिल साहित्य की पिछले पन्द्रह वर्षों में जितनी उन्नति होनी चाहिए, वह नहीं हुई। साधन-सम्पन्नता की कोई कमी नहीं है; कमी है लेखकों और पाठकों के बीच की दूरी को पाटने की। अधिकांश पाठक केवल मनोरंजन चाहते हैं, और उसी प्रकार अधिकतर (बड़े और छोटे) लेखक उन पाठकों को सन्तुष्ट करने-भर में अपना दायित्व (लाभान्वित होने के कारण) पूरा कर लेते हैं। यह स्थिति बदलनी चाहिए। इसका पूरा-पूरा दायित्व पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रकाशकों पर ही है। लाभ की दृष्टि बुरी नहीं है; पर विकास का गला घोंटकर मुनाफ़ा पाने की अपेक्षा, आदर्शों और अच्छी प्रवृत्तियों के लिए थोड़ा घाटा उठाना कहीं श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है। यह साहस की बात जरूर है। किन्तु साहसी व्यक्तियों का अवतरण साहित्य-क्षेत्र के लिए वर्ज्य या निषिद्ध तो नहीं है।

प्रत्येक तमिल भाषी यही आशा मन में संजोये हुए है कि शीघ्र यह दुष्चक्र टूटेगा।

बी० दयावन्ती

स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु साहित्य की प्रवृत्तियाँ

दयावन्तीजी का जन्म उड़ीसा के गंजाम जिलान्तर्गत वरहमपुर नामक स्थान में हुआ। इनकी मातृभाषा तेलुगु है। मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी, अंग्रेजी, तमिल, उड़िया, कन्नड़ और मराठी भी जानती हैं। अधिकांश शिक्षा आगरा में हुई। वहीं से हिन्दी में हाई स्कूल परीक्षा दी। १९४६ से १९५४ तक दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के परीक्षा-विभाग में काम किया। फिर बम्बई में प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा में काम करने लगीं। इन दिनों आकाशवाणी, हैदराबाद में हैं। नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया। तेलुगु की कई प्रसिद्ध कृतियों का हिन्दी में अनुवाद कर चुकी हैं। प्रायः सभी प्रतिष्ठित हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में लिखती रहती हैं।

भाव-सबलता, रस-सिद्धि और विश्व-कल्याण तेलुगु साहित्य की प्राचीन मान्यताएँ थीं। व्यंजना-शक्ति, अर्थ-गौरव, युक्ति, चमत्कृति और पदलालित्य से तेलुगु साहित्य-श्री का भंडार सुसम्पन्न था। इस सुसम्पन्नता का एक कारण यह भी था कि कुछ इने-गिने कवि कला-प्रेमी और स्वयं पंडित थे और पण्डितों व विद्वानों का आदर करते थे। लेकिन बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव से कवि अछूता व अलग न रह सका। अनुवाद-युग, प्रबन्ध-युग तथा रीति-युग से होकर उन्नीसवीं सदी के पाँचवें दशक में तेलुगु साहित्य ने अपने आधुनिक युग में प्रवेश किया। बीसवीं सदी में तेलुगु साहित्य में नवीन प्रक्रियाओं ने जन्म लेकर उत्तरोत्तर अपना विकास किया। राजनीतिक क्षेत्र में यह काल विशेष महत्त्व रखता है। स्वातन्त्र्य-आन्दोलन, विदेशी राज्य के प्रति असन्तोष, विद्रोह और स्वाधीनता के प्रयत्न, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति, स्वतन्त्र आन्ध्र राज्य की माँग, आन्दोलन, तेलंगाणा विद्रोह, आन्ध्र राज्य का निर्माण आदि इस युग की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। व्यावहारिक भाषा का आन्दोलन, शिल्प, शैली, भाव, भाषा और अभिव्यक्ति में नवीन प्रयोग, गद्य-साहित्य का प्रचार, इस युग की साहित्यिक घटनाएँ हैं। १९४० तक आते-आते, तेलुगु साहित्य में, साहित्य की प्रत्येक प्रक्रिया में क्रान्ति ही कवि और साहित्यकार का मनोधर्म और लक्ष्य हो गया। साहित्य इने-गिने पण्डितों का धन न रहकर, सामान्य जन की अनुभूति, अभिव्यक्ति एवं आस्वादन का आधार बन गया। स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु साहित्य की प्रक्रियाओं का परिचय पाने के लिए हमें १९४० से तेलुगु साहित्य की प्रक्रियाओं का परिशीलन करना होगा, क्योंकि नवीन प्रक्रियाएँ १९४० में ही लक्षित होने लगीं और १९५६ तक व्याप्त रहीं, जब तक कि आन्ध्र ने अपना स्वतन्त्र आन्ध्र राज्य स्थापित नहीं कर लिया। उसके बाद का साहित्य १९४० से १९५६ तक की साहित्यिक प्रक्रियाओं और शैलियों के समाहार के रूप में दीखता है और नवीनता के अन्वेषण में प्रयत्नशील है।

काव्य और कविता

तेलुगु साहित्य के आधुनिक युग के प्रथम दौर में काव्य

की दुरूह और पण्डिताऊ भाषा के प्रति विद्रोह हुआ। समाज-सुधार आन्दोलन भी इस समय रूप ले रहा था। उधर पाण्डित्य और परम्परा के अनुयायी प्राचीनता का मोह नहीं छोड़ पा रहे थे, अतः आधुनिक युग के प्रथम दौर के काव्यों में प्राचीन और नवीन का मेल था। इस दौर में पद्य के स्थान पर गद्य अधिक लिखा गया। गिडुगु राममूर्ति पन्तुलु ने व्यावहारिक भाषा को, जो अब तक साहित्य में वर्ज्य थी, स्थान देने के लिए आन्दोलन किया। शीघ्र ही इस इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में नई कविता ने जन्म लिया। इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले थे वेंकट पार्वतीश कवि। इन्होंने नई पद्धति द्वारा काव्य को अन्तर्मुखता की दिशा में प्रवाहित करने और सत्साहित्य का प्रचार करने का प्रयत्न किया। इसी समय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की लहर ने काव्य की दिशा को एक विशेष मार्ग की ओर मोड़ दिया। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति की अदम्य भावना का प्रतिनिधित्व कर काव्य की दिशा में परिवर्तन लाने वाली रचनाएँ 'राणा प्रतापसिंह चरित्र' और 'शिव भारत' हैं, जिन्हें क्रमशः दुर्भाक राजशेखर और गडियारम् वेंकट शास्त्री ने लिखा था। ये रचनाएं देशभक्ति को काव्य की वस्तु बनाकर काव्य-रचना करने के लिए कुछ कवियों का आदर्श बनीं। धीमे-धीमे कविता की इस नई धारा के प्रति रुचि का ह्रास तथा स्वातन्त्र्य आन्दोलन की ओर कवियों का झुकाव उत्तरोत्तर अधिक होने लगा। यहाँ पर इतना बतला देना आवश्यक है कि द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के साथ-साथ कविता की शैली और काव्य-वस्तु में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। आधुनिक युग का तीसरा दौर नव्य कविता का था। नव्य कविता क्रान्ति की पताका धारण कर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुई। इसका यह अर्थ नहीं कि भाव कविता करने वाले, पुराणों का अनुवाद करने वाले, प्रबन्ध-काव्य की शैली का अनुसरण करने वाले थे ही नहीं। उनकी रचनाएँ भी इस अवधि में हम पाते हैं। इस भाँति कवि तीन वर्गों में बँट गए—नव्य कवि, अतिवास्तविक कवि और अभ्युदयवादी कवि। और इन्हीं नामों से काव्य-धाराएँ और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ साहित्य-जगत् में प्रसिद्ध हुईं।

नव्य कविता-धारा

काव्य के शास्त्रीय पक्ष में प्रथम दौर के कवियों के पद-चिह्नों पर चलते हुए इस धारा के कवियों ने देश को सुन्दर कृतियाँ भेंट कीं। नव्य-कविता की धारा अनेक रूपों में प्रवाहित हुई। शैली में प्रौढ़ता, नवीन भाव और भाषा-सौंदर्य के साथ अपनी रचना 'तृणकंकणम्' द्वारा रायप्रोलु सुब्बाराव नई परम्परा को चलाने वाले कहे जा सकते हैं। कवि की अतिभावुकता ने देश की तत्कालीन परिस्थिति से संवेदनशील होकर उद्बोध किया—'जातिनि देश गौरवमुनु जक्कग दिद्दरे' (देश की प्रतिष्ठा में जो कलंक लगा है उसे मिटाकर फिर से लिखो)। इन्हीं की श्रेणी में सल्लावझल शिवशंकर शास्त्री-रचित 'आवेदना' को भी रख सकते हैं। देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री ने इस दौर के कवियों में 'कृष्ण पक्ष' और 'उर्वशी' लिखकर वेदना-जनित काव्य-धारा प्रवाहमान की तो दुव्वूरि रामिरेड्डी ने कृषक और निम्न-वर्ग का प्रतिनिधित्व किया। बापू के सन्देश को आत्मसात कर युग की प्रमुख प्रवृत्तियों का चित्रण काटूरि और पिंगलि कविद्वय की रचना 'सौन्दरनन्दमु' में हुआ है। नव्य कविता-धारा में खण्ड-काव्यों का अम्बार लग गया। भावों की गहराई और प्राचीन रस-सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए इसी समय अमर कवि 'फिरदौसी' की जीवनी पर गुर्रम जाबुवा ने खण्ड-काव्य भेंट दिया। 'कृष्ण पक्ष' के दूसरे पहलू हास्य का आधार लेकर अन्नापन्तुलु रामलिंग स्वामी ने अपने 'शुक्ल पक्ष' में तेलुगु की इस नवीन धारा में हास्य-व्यंग्य की रसमय बूँदें छिड़कने का प्रयास किया। काव्य के विविध क्षेत्रों में प्रयोग करने वालों में माधव पेद्दि बुच्चि सुन्दरम्, प्रेम का उदात्त रूप चित्रण करने में नायनि सुब्बाराव और ऐतिहासिक स्थलों व चरित्रों पर काव्य-रचना करने वालों में कोडालि सुब्बाराव, गंटिजोगि सोमया, एटुकूरि वेंकट नरसय्या और तुम्मल सीताराम मूर्ति का नाम लिया जा सकता है। भाव-कविता करते हुए, 'रवीन्द्र' की गूढ़ता, 'तल्लावझल', 'रायप्रोलु' और 'देवुलपल्लि' के प्रणयतत्त्व को काव्य में समेटकर, उधर अतिनव्य कवियों से भी प्रभावित होते हुए कुछ कवियों ने फुटकर रचनाएँ लिखीं, जिनमें पूरिपंड अप्पणस्वामी, मल्लवखु विश्वेश्वरराय, पिल्ललमर्रि हनुमन्तराव, पैंडियाटि विद्वान, पुट्टपर्त्ति

नारायणाचार्य व बालोत्रवु रजनीकान्त राय को स्थान मिलता है।

अतिवास्तविक काव्य-धारा (Sur-realism)

पाश्चात्य साहित्य के पठन-पाठन से कई लेखकों का दृष्टिकोण बदला। इन्हें पुरातन आदर्श और परम्परा के प्रति अरुचि हुई। विदेशी विचारों के प्रति सहानुभूति दिखाकर, सहित्य में नए-नए प्रयोग करने की उमंग उठने लगी। उधर भावात्मक कविता के कवि, नव्य कविता के नाम से काव्य-सृजन कर रहे थे जो अधिकतर आदर्शवादी था। इस आदर्श तत्त्व के प्रति क्रम से लेखकों में रुचि कम होने लगी। नवयुवकों ने पाश्चात्य देशों के Surrealism की धारा को तेलुगु में अतिवास्तविक काव्य-धारा का नाम देकर प्रयोग आरम्भ किए। छन्द, भाषा के साथ इच्छानुसार खेलना, सौन्दर्य की परवाह न करना, बीभत्सता और बेतुकेपन को काव्य में स्थान देना, Wireless imagination आदि इस धारा के लक्ष्य थे। 'मुद्दकृष्ण' ने 'ज्वाला' नाम की पत्रिका निकाल इन नवीन प्रयोग करने वाले युवकों को प्रोत्साहित किया। श्री श्री इनके रहबर बने। इस धारा के आदि-कविशिष्टला उमा महेश्वरराव थे। पुडियेट्टि वेंकट रमणय्या, कविकोंडल वेंकटराव छन्दों की दिशा में प्रयोग करने वालों में थे, पर श्री श्री ने इन सबको मात दे दिया। परम्परा के अनुयायियों ने इस धारा को साहित्य में स्थान नहीं दिया, खूब फटकारा और उनका तिरस्कार किया। अपनी नवीन धारा की प्रशंसा में 'प्रतिभा' नामक पत्रिका में समालोचनाएँ आरम्भ कर दीं इस धारा के कवियों ने। इससे उन्होंने अत्यधिक प्रचार पाया। जलसूत्र रुक्मिणीनाथ शास्त्री ने इसके प्रचार के लिए कमर कसी तो पिठापुरम् युवराज, पट्टाभि आदि ने अपनी रचनाओं द्वारा इसका भण्डार भरा। विरोधियों ने आरम्भ में इसे बीभत्स कविता कहा, इसमें प्रतिपादित भावों के कारण। काव्य-वस्तु के कारण कुछ ने कहा यह 'श्मशान' कविता है। भाषा और छन्दों के कारण कुछ ने कहा, नहीं-नहीं, 'मणि प्रवाल' कविता नाम दो। इस धारा के कवियों के अहं के कारण कुछ ने 'अहंवादी कविता' कहा तो कुछ ने छन्दों की विचित्रता के कारण 'वैचित्री' नाम दिया। विश्वनाथ सत्यनारायण ने नव्य साहित्य परिषद् के अध्यक्षासन से इसे गौरवान्वित किया। कुल मिलाकर यह अतिवास्तविक धारा आमोद, आलोचना और अनुसरण का कारण बनी। यह जानना आवश्यक है कि तेलुगु साहित्य के इतिहास के संक्रमण-काल में वही धारा, परिवर्तन और क्रान्ति लाने वाली थी जिसने धीमे-धीमे आगे जाकर अभ्युदय धारा को जन्म दिया। पूर्व धाराओं की मान्यताओं की प्रतिक्रिया में यह धारा बही।

कविता में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-बोध की आवश्यकता नहीं, काव्य में सौन्दर्य, आह्लादकारी रमणीयता, सत्यानुसरण किसी की भी आवश्यकता इस धारा के कवि नहीं मानते। अपनी इस लक्ष्यहीनता और स्वेच्छाचारिता के कारण यह धारा द्वितीय महायुद्ध की अवधि में जन्म लेकर विलुप्त हो गई और इस धारा के कुछ कवियों ने इससे पोषक तत्त्वों को लेकर अभ्युदय-धारा का पोषण किया। एक-दो उदाहरण देकर इस प्रसंग को हम समाप्त करते हैं। इस धारा का कवि कहता है:

१. **छन्दो बन्दोबस्तुलन्नि, छटा ! फुर् फुर् मनि त्रेंचि**
Damnit ! **एमिट्रा इ ? दंटे** Pray ! It is Poetry
अन्दाम् ।

अर्थ—छन्दों का बन्धन फटाफट तोड़कर फेंक दो। कोई पूछे, यह क्या है तो कहेंगे कि यह 'कविता' है।

१. **जीब्राकि** Algebra **चिह्नालुं**
लोकोदु पोकोल्लु तोडिगि
साहित्य पौरोहित्यं इस्ते
वेरिकादु Surrealism **रा सोदरा**

अर्थ—Lebra में Algebra के चिह्न मिलते हैं। अगर लम्बा कोट और खड़ाऊँ पहनने वाले व्यक्ति को साहित्य के पौरोहित्य का काम सौंपा जाए तो यह पागलपन नहीं है मेरे भाई, यह तो Surrealism है।

अभ्युदय धारा

भूख, पराधीनता और दारिद्रय से विमुक्ति की माँग करते हुए १९४३ में 'अभ्युदय संघ' के नाम से लेखकों ने एक संघ बनाया। चदलवाडा पिच्चय्या नामक युवक ने

तेलुगु के प्रमुख कवि और पण्डितों की सहानुभूति प्राप्त करके इस संघ का काफी प्रचार किया। मल्लपल्लि इनके पीछे एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति खड़े रहे। कोदण्डराम शास्त्री और प्रयाग नरसिंह शास्त्री पाँच बरस पूर्व से ही इस दिशा में काम कर रहे थे। इस विचार-धारा को सामान्य जनता तक पहुँचाने के लिए 'नव्यकला परिषद्' नामक संस्था ने समितियाँ बनाईं। आल्वार स्वामी नामक युवक ने सिकन्दराबाद में इसकी समिति चलाकर तेलंगाणा के कवियों को इस दिशा में काम करने को प्रोत्साहित किया और उनमें अभ्युदय धारा के बीज डाले। 'तेलुगुतल्ली' नामक पत्रिका निकालकर, साहित्यिक और ग्रन्थ अनुशीलन सभाओं का आयोजन कर, 'माभूमि', 'मुदुंडगु' नामक नाटकों का प्रदर्शन कर, साहित्यिक पाठशालाएँ चलाकर, 'प्रजाशक्ति' और 'अभ्युदय' नामक पत्रिकाओं द्वारा सिद्धान्तों का प्रचार कर, कवि और लेखकों की जयन्तियाँ और पुण्यतिथियाँ मनाकर, सामान्यजन, विद्यार्थी और पण्डितगण सभी को आकर्षित किया। इस धारा के बहाव में गद्य और नाटक अधिक लिखे गए, क्योंकि सामान्य जनता तक सीधे पहुँचने का एकमात्र साधन यही था। इस धारा में लोक-साहित्य शैलियों, 'बुर्रकथा', 'ओग्गु कथा' आदि का विकास किया गया, क्योंकि कविता अगर इन शैलियों में लिखी जाए तो उनका जनता पर सीधा और तुरन्त प्रभाव पड़ता है।

इस धारा ने काव्य के क्षेत्र में एक नई प्रक्रिया, गद्य-गीत को जन्म दिया। कविता के क्षेत्र में इस धारा के कवियों ने शब्द और नाद को अधिक महत्त्व दिया और दूसरे अंगों को प्रायः भुला-सा दिया। विप्लव और विद्रोह कविता के मुख्य विषय बन गए। श्री श्री का 'महाप्रस्थान' इस धारा की अनुपम कृति है और एकमात्र प्रतिनिधित्व करने वाली रचना भी। वैसे संख्या में बहुत-सी रचनाएँ आईं, पर सबमें लगभग एक ही जैसे विषय थे—अधिकारियों के प्रति रोष, दीनों के प्रति सहानुभूति, आत्मविश्वास और विप्लव एवं तोड़-फोड़ तथा विध्वंस की बातें। हार्दिक अनुभूति, भाषा में तीखापन, प्रगतिशील दृष्टि, वर्ण्य के प्रति तादात्म्य, धैर्य, उक्ति में वैचित्र्य लेकर रचना करने वाले इने-गिने कवि ही रह गए। इनमें दाशरथी, 'बेल्लंकोंड, रामदास, अनिसेट्टी सुब्बाराव, सोमसुन्दर आदि का नाम लिया जा सकता है। इनकी रचनाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—'अग्निधारा', 'अग्निवीणा', 'वज्रायुध' और 'संघर्षण'।

यह प्रगतिशील धारा भी प्रतिक्रिया और विद्रोह की भावना से ही बही थी। अतिवास्तववादियों की भाँति इनका भी प्रेरणा-स्रोत पश्चिम था। अतिवास्तववादी तो केवल कला और साहित्य के क्षेत्र तक ही विद्रोह चाहते थे, लेकिन अभ्युदयवादियों ने राजनीतिक क्षेत्र पर भी अधिकार करना चाहा। जिस प्रकार अतिवास्तववादियों ने प्राचीन परम्परा का बहिष्कार कर, उसे गाली देकर मुँह की खाई, अभ्युदयवादियों ने भी वही किया। फलस्वरूप सनातनियों से झगड़ा मोल लिया। प्राचीन संस्कृति, संस्कृत भाषा, विज्ञान और पांडित्य पर अपना एकाधिकार जताने वाले ब्राह्मण वर्ग पर ज़मींदारों और श्रमिकों के प्रति, प्राचीन ग्रान्थिक भाषा के प्रति, व्याकरण और छन्द को श्रृंखला में बाँधने वाले बन्धनों के प्रति एक भयंकर विद्रोह इन्होंने खड़ा किया। पंडितों और गुणग्राहकों ने इस क्रान्ति को स्वीकार किया, लेकिन धीमे-धीमे, जब क्रान्ति के नाम पर केवल गाली देना और स्वेच्छाचरिता बची रह गई। स्वयं इस धारा के कवियों में सृजनशीलता की कमी के कारण विद्वानों ने इन्हें खूब आड़े हाथों लिया।

कुछ भी हो, अभ्युदय संघ के प्रयास से राजनीतिक आन्दोलन साहित्य में कुछ सीमा तक प्रतिबिम्बित हुआ, पर एक पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाली 'प्रजाशक्ति' पत्रिका में और शुद्ध साहित्यिक कही जाने वाली 'अभ्युदय पत्रिका' में परस्पर क्या अन्तर है, बहुत-से लोगों को इसका रहस्य न मालूम हो सका। देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद क्रमशः इन पत्रिकाओं की आवश्यकता न रह गई। तेलंगाणा के विद्रोह को प्रतिबिम्बित करने में अभ्युदय धारा का लक्ष्य और भी स्पष्ट हो गया कि यह केवल ध्वंसात्मक और विनाशात्मक तत्त्वों को लिये हुए है, अतः अभ्युदय धारा के विचारवान कवियों ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया और तथाकथित अभ्युदय के सिद्धान्तों से नाता तोड़ लिया।

समन्वयवादी कविता

स्वतन्त्रता-प्राप्ति और स्वतन्त्र आन्ध्र राज्य की स्थापना

के बाद तेलुगु कविता और काव्य में उन सभी धाराओं के पोषक तत्त्वों को समेट लिया गया जो अब तक प्रचलित थे। बापू के विचार और जीवन-दर्शन पर वीरों, महापुरुषों व कृषकों पर काव्य लिखे गए। आज की तेलुगु कविता में भाव-कविता, रोमांटिक कविता और अभ्युदय-कविता का समन्वय दीखता है। संख्या में ये रचनाएँ इतनी होंगी कि अलग-अलग उनका यहाँ उल्लेख करना केवल निरर्थक विस्तार ही होगा। लेकिन आज के तेलुगु कवियों में पांडित्य, प्रौढ़ कल्पना और साधना का अभाव है, जिसके कारण मौलिक और उच्च कोटि की काव्य-रचना नहीं मिल पा रही है, फिर भी तेलुगु कवि नूतन प्रयोगों की दिशा में प्रयत्नशील हैं। इन प्रयोगवादी कवियों में दाशरथी का नाम ले सकते हैं। इन्होंने सूफ़ी सिद्धान्तों की पोषिका 'दीवान-ए-ग़ालिब' को तेलुगु के द्विपद छन्द में लिखा है। 'बोयि भीमन्ना' ने अपने 'त्रिपदी' में एक नूतन प्रयोग किया है, जिसमें प्रति क्षण उठने वाले विभिन्न भावों का वर्णन है, प्रत्येक भाव तीन पदों में पूर्ण हो जाता है। विभिन्न भावों वाली त्रिपदियों का कहीं सूत्र-सम्बन्ध न होते हुए भी विचित्र प्रकार से वह किसी एक विचारधारा की अभिव्यक्ति करते हैं। गुर्रम जाबुवा का नाम भी इसी क्षेत्र में ले सकते हैं, क्योंकि इन्होंने अपना जीवनचरित काव्य में लिखा। अभ्युदय कविता-धारा के अन्तर्गत 'सिनिवाली' काव्य में रेखाचित्र प्रस्तुत किये गए हैं। स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु काव्य में परम्परावादी कवि विश्वनाथ सत्यनारायण का 'रामायण कल्पवृक्ष' महाकाव्य आज भी नूतन है।

गद्यगीत

तेलुगु के स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में गद्यगीत एक नई विधा है। वैसे तेलुगु में भावना-प्रधान गद्य लिखने की परम्परा रही है। इस विधा में जहाँ माधुर्य की प्रधानता रहती है वहाँ प्रवाह भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। वैष्णव तथा शैव कवियों ने भक्ति के आवेश में आकर इस प्रकार की शैली अपनाई थी। इन दिनों जो गद्यगीत लिखे जा रहे हैं उनका आधार प्राचीन कवियों की विशिष्ट गद्य-शैली है, किन्तु इसके वर्तमान स्वरूप के निर्धारण में पाश्चात्य तथा बँगला साहित्य ने भी योग दिया है। आजकल जो गद्य लिखा जाता है उसमें भावना की उतनी ही प्रधानता रहती है जितनी कि कविता में। किन्तु कविता के समान 'तुक' का पालन न करते हुए भी इस प्रकार के गद्य में शब्द-माधुर्य की कमी नहीं रहती। इस प्रकार के गद्यगीत के लेखकों में मुनिमाणिक्यम्, नरसिंहाराव, विश्वनाथ सत्यनारायण और अडिवि बापिराजु प्रमुख हैं।

पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में एक और नई शैली प्रचलित हुई है। इन गद्यगीतों में यति तथा नाद का समुचित विचार रखा जाता है। इस प्रकार की कविता गद्य के निकट होती है। शिब्दुला उमामहेश्वरराय, पट्टाभि, श्री श्री ने इसकी समृद्धि में योग दिया। दाशरथी और नारायण रेड्डी तथा आरुद्र ने भी इस दिशा में अच्छी सफलता प्राप्त की। शिब्दुला सामान्यतया मात्राओं का ध्यान नहीं रखते। पद अथवा चरण के सम्बन्ध में भी उन्होंने किसी निश्चित नियम का पालन नहीं किया 'पटात्रिका', 'पिडेलुरागालु डज़नु' नामक गद्यगीतों का संकलन इस शैली का प्रतिनिधित्व करता है। कवि ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है: "मैं अपने गद्यगीतों के प्रहार से पद्य की कमर तोड़ दूँगा।" इनके विचार से यति और तुकों को स्वीकार करने से कविता में 'नादात्मकता' आती है, किन्तु भावों को प्रकट करने में बहुत कठिनाई हो जाती है।

आरुद्र के गद्यगीतों में गद्य का प्रभाव उपर्युक्त कवियों से अधिक दिखाई देता है। इनके 'त्वमेवहम्' नामक संग्रह में लगभग सभी गद्यगीत संग्रहीत हैं। 'उदयघंटलु' और 'नव्यलोकम्' नामक गद्यगीतों में कई उदीयमान कवियों की रचनाएँ हैं।

नाटक

तेलुगु साहित्य में काव्य के बाद पाठकों की रुचि नाटकों के प्रति अधिक रही है। आरम्भ में तेलुगु नाटक संस्कृत नाटकों की शैली पर लिखे जाते थे, जिनमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश होता था। इन नाटकों की रचना का उद्देश्य मनोरंजन, रसोत्पत्ति, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों फलों की प्राप्ति होता था। कथानक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक लिये जाते थे। बीसवीं सदी में

सामाजिक समस्याओं के नाटकों में अधिक स्थान मिलने लगा। बदलती हुई सामाजिक परिस्थिति और कला के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण बीसवीं सदी के तीसरे दशक में आकर तेलुगु नाटकों ने एक नया मोड़ लिया और विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के आधार पर नाटक लिखे जाने लगे। इस समय लिखे गए नाटकों में मुख्यतया गद्य का प्रयोग हुआ। किन्तु विशेष स्थलों पर नट और नटी पद्य में भी वार्तालाप करते हैं। कहीं-कहीं गीतों का भी प्रयोग हुआ है।

नाटक साहित्य का एक ऐसा सशक्त अंग है जिसके द्वारा कई उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है, विशेषकर प्रजा में जागृति लाने की। इस तथ्य को जानकर साहित्य के इस अंग का अभ्युदय विचारधारा के समय अत्यधिक विकास हुआ। हम काव्य का विवेचन करते समय बता आए हैं कि १९४० से लेकर १९५६ तक तेलुगु साहित्य में इस अभ्युदय विचारधारा ने दूसरी समस्त धाराओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। अभ्युदय धारा के कर्णधारों ने लोकनाट्य की पद्धतियों को नाटक में प्रचलित करके नाटक-रचना और शैली में अभिनव प्रयोग किया। उनका मूल उद्देश्य शैली और शिल्प के विकास का नहीं, प्रत्युत जनजागृति का था, अतः इनका महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से विशेष नहीं है। इस अभ्युदय धारा के बाद जो नाटक लिखे गए उनमें कथावस्तु, शिल्प व शैली में हम परिवर्तन देखते हैं। आत्रेय-रचित एन० जी० ओ० एक मध्यवर्गीय क्लर्क के जीवन और संघर्ष की कहानी है, तो इन्हीं का 'भयम्' भय और सन्देह के बीच सामान्य व्यक्ति के संघर्ष को प्रस्तुत करता है। टेकनीक और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से ये सफल नाटक माने गए हैं। बुच्चिबाबू का 'आत्मवंचना' भी इसी समय लिखा गया। अहंकार और कलुषित विचार से अपनी आत्मा को ढकने वाले और अपने अन्तस के सत्य को न पहचानने वाले व्यक्तियों का इसमें सफल चित्रण हैं। अभिनय की दृष्टि से भी यह उत्कृष्ट कृति है। रामस्वामी चौधरी का 'शम्बक वध', 'खूनी' तथा 'चलम्' के 'चित्रांगी' नाटकों ने नाटक-क्षेत्र में हलचल पैदा कर दी। इनमें भारतीय परम्परा तथा विश्वासों पर कुठाराघात किया गया है, अतः इन्हें रंगमंच पर खेला न जा सका। 'Play is the thing' नामक नाटक का अनुसरण कर श्री दुव्वूरि नरसराजु ने एक नाटक लिखा जो कि पात्रों, कथा-विन्यास व प्रस्तुतीकरण की नवीन शैली के कारण १९४९ में आन्ध्र नाटक परिषद् की ओर से पुरस्कृत हुआ। इस दौर में भूस्वामी और पूँजीपतियों के अत्याचारों के प्रति विद्रोह, मध्यमवर्गीय परिवारों की समस्याएँ, जासूसी कथानक और फिर अंग्रेजी, अमेरिकन व रूसी नाटकों के कथानक का आधार लेकर लिखे गए नाटकों की संख्या अपरिमित है। कई नाटककारों ने विद्यार्थी-जीवन और उनके प्रेमाचारों पर भी नाटक लिखे, लेकिन साहित्यिक दृष्टि से ये विशेष महत्त्व नहीं रखते। इसी बीच आंचलिक भाषा में लिखा गया नाटक 'चिल्लरकोट्टु चिट्टेम्मा' 'आन्ध्र नाटक परिषद् की ओर से पुरस्कृत हुआ है। देहाती जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए मधुर हास्य का आस्वादन करने वाला नाटक 'चिलुक गोरिक' भी उल्लेखनीय है। पंचवर्षीय योजना और राष्ट्र-निर्माण का आधार लेकर इधर बुच्चिबाबू ने 'मोलुयु' और 'श्रीवात्सव' ने 'महिमनुफुलु' नामक नाटक लिखे हैं। इनमें लेखकों ने अभिनय और प्रस्तुतीकरण के नये प्रयोग किए हैं और अभिनीत होकर इन प्रयोगों ने सफलता भी पाई है। स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु नाटक साहित्य का परिशीलन करते हुए हमें कहना पड़ता है कि बड़े अर्थात् ढाई-तीन घण्टों में प्रदर्शित किए जा सकने वाले नाटकों के लेखक आज कम हो गए हैं। नाटक संघ और संस्थाएँ भी पुराने नाटक लेकर ही इस उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। नए प्रयोग करने के लिए नए नाटक लिखवाने और लिखने वालों को प्रोत्साहन कोई भी संस्था नहीं देती। दूसरी ओर नाटक ने कई रूपों में अपना सुन्दर विकास किया है जिसमें एकांकी, रेडियो रूपक, गेय नाटक और प्राचीन यक्षगान शैली पर लिखी गई संगीत-नृत्य-प्रधान नाटिकाएँ आती हैं।

एकांकी : साहित्य की इस विधा के विकास में 'अभ्युदय', 'कला' और 'ज्वाला' नामक पत्रिकाओं ने बड़ा योग दिया। जस्टिस पी० वी० रागमन्नार-रचित 'नागुबामु' कला और शिल्प की दृष्टि से एकांकी नाटककारों के लिए पथप्रदर्शक है। हास्य रस का पोषण करने वाली एकांकी रचनाओं में श्री यामिडिपाटि कामेश्वरराव और मल्लादि

अवधानी का नाम लिया जा सकता है। पाश्चात्य एकांकी नाटक का अनुसरण कर एकांकी की शैली और शिल्प किस प्रकार का हो सकता है, इसका परिचय सोमंचि यज्ञशास्त्री की रचनाओं से मिलता है। आत्रेय-रचित 'प्रगीत' में एकांकी नाटक की कला का शास्त्रीय दृष्टिकोण और उसका परिशीलन व्यक्त होता है। पिनिसेट्टी की रचना में स्त्री पात्र एक भी नहीं है और इसका प्रस्तुतीकरण भी प्रशंसनीय है। नार्ल की नाटिकाओं पर 'हेराल्ड चाकिन' का प्रभाव परिलक्षित होता है। खेद का विषय है कि आज भी तेलुगु के रंगमंच पर स्त्रियाँ उतनी नहीं आतीं जितनी कि मराठी रंगमंच पर। इसीलिए स्त्रीपात्ररहित नाटकों की रचना हो रही है, पर यह उचित नहीं। इस दृष्टि से मराठी रंगमंच की अपेक्षा तेलुगु का रंगमंच बहुत पीछे है।

गेय और पद्य नाटक—सल्लावझल शिवशंकर शास्त्री ने 'पद्मावती चरणचारण चक्रवर्ती', 'दीक्षित दुहिता' नामक रसात्मक गेय नाटिकाओं की रचना की है। इन्हीं के आदर्श पर सी० नारायण रेड्डी ने 'कर्पूर वसन्तरायलु', 'नव्विनपुव्वु', 'रामप्पा' नामक सुन्दर नाटिकाएँ लिखी हैं। रजनीकान्त राव का 'मधुरा नगरी गाथा' और 'शतपत्र सुन्दरी' भावात्मक नाटिकाएँ हैं।

श्रव्य नाटक—इधर रेडियो के कारण श्रव्य रूपकों का अच्छा प्रचार हुआ है। श्रव्य रूपक के क्षेत्र में गोरा शास्त्री, कुटुम्बराव, श्री श्री, आरुद्र, बुच्चिबाबू ख्याति-प्राप्त हैं। गोरा शास्त्री-रचित 'सेलुवल्लो', 'विषवृक्षमु', 'पामुलु निच्चेनलु', 'आश खरीदु अणा' प्रशंसनीय कृतियाँ हैं। कुटुम्बराव का 'एदुरिंटिवाटु', श्री श्री का 'चतुरस्त्र' इनकी प्रतिभाओं को चरितार्थ करती हैं और साहित्य की दृष्टि से ये रचनाएँ विशिष्ट महत्त्व की हैं। तेलुगु साहित्य के इतिहास पर आधारित रेडियो रूपक लिखकर विश्वनाथ सत्यनारायण ने इस दिशा में एक नया प्रयोग किया है।

संगीत-नृत्य-प्रधान नाटक—तेलुगु में यक्षगान, संगीत-नृत्य व नाट्य-प्रधान रचनाएँ प्राचीन काल से साहित्य के विशेष अंग के रूप में विकास पाती आई हैं। तेलुगु के शृंगार-साहित्य-युग तक इनकी रचना अबाध गति से होती रही, लेकिन आधुनिक युग में इसे बिलकुल भुला दिया गया। इनमें किसी भी प्राचीन ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथानक के आधार पर नाटक में संगीत, नृत्य तथा नाट्य तीनों तत्त्वों का समावेश होता है। इसी परम्परा को विकसित करने के लिए श्री देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री सतत प्रयत्नशील दीखते हैं। 'क्षीरसागर मन्थन', 'विप्रनारायण', 'मालविकाग्निमित्र' आदि इनकी रचनाएँ हैं और यक्षगान के विकास में यह एक नवीन कड़ी जोड़ने का स्तुत्य प्रयास है।

गद्य-साहित्य

तेलुगु में उपन्यास को 'नवल' कहते हैं जो अंग्रेज़ी 'नावल' का ही बिगड़ा रूप है। अठारहवीं शती के अन्तिम दशक से तेलुगु में गद्य-लेखन आरम्भ हुआ था, जब से कि गिडुमु राममूर्तिपंतुलु ने साहित्य में बोलचाल की भाषा का आन्दोलन चलाया। उन्नीसवीं सदी तक आते-आते उपन्यास की कला का अच्छा विकास हुआ। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इस काल के उपन्यासों को काल्पनिक, ऐतिहासिक, जासूसी, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक, इन पाँच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। उपन्यास का नवीन युग एक प्रकार से उन्नव लक्ष्मी नारायण के 'मालयल्लि' से आरम्भ होता है। इसमें गांधीवादी विचार और आन्दोलन ध्वनित हैं और समाज के बदलते स्वरूप का वर्णन है। लेखक ने सामाजिक परिवर्तनों का मानव के शाश्वत जीवन से समन्वय स्थापित किया है। इन्हीं की परम्परा में श्रीपाद सुब्रह्मण्य शास्त्री आते हैं, पर शास्त्रीजी ने प्राचीन परम्परा और नवीन आस्थाओं के बीच मानसिक द्वन्द्व का चित्रण किया है, अपनी 'रक्षाबन्धन', 'श्मशान वाटिका', 'मिथ्यानुरागम्', 'अनाथबालिका' और 'आत्मबलि' नामक रचनाओं में। लालित्यपूर्ण शैली में आर्थिक विपत्तियों, गार्हस्थ्य जीवन के कलह और प्रणय की सूक्ष्म अनुभूतियों को मुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव ने अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। गुडियारि वेंकटचलम् के उपन्यास सेक्स-सम्बन्धी प्रेमात्मक आख्यानों पर आधारित हैं। पर लेखक व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता को मानता है और अपने उपन्यासों के अन्त में इसका प्रतिपादन भी करता है। विश्वनाथ सत्यनारायण आधुनिक युग में भी भारत के पुरातन विचारों के और सनातन धर्म के अनुसरण की उपयोगिता

को अपने उपन्यासों में स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर आज लोग वैदिक धर्म को भूल गए हैं। इसी विचार पर विविध विषय लेकर अधिक संख्या में उन्होंने उपन्यास लिखे हैं। इनका 'एक वीर' लघु उपन्यास श्रेष्ठ माना जाता है। अडिवि बापिराजू को भी उत्तम उपन्यासकारों की कोटि में रखा जा सकता है। कवि और चित्रकार होने के नाते इनके उपन्यास सुन्दर कलाकृतियाँ हैं और उनमें काव्य का-सा आनन्द आता है। प्राचीन और आधुनिक विचारों का समन्वय कर ये सौन्दर्य का पोषण अपने उपन्यासों में करते हैं। उच्छृंखलता के विरोधी और मानव की दुर्बलताओं के प्रति क्षमाशील हैं। भाषा और भावों में आलंकारिक तत्त्वों का प्रयोग करते हैं, इसीलिए इनके उपन्यासों में यथार्थता चाहे पूर्ण रूप से न उभरी हो, किन्तु कला की दृष्टि से उनका महत्त्व निर्विवाद है। इनका एक सामाजिक उपन्यास 'नारायणराव' हिन्दी में अनूदित हो चुका है। इनके 'हिमबिन्दु' का कथानक ऐतिहासिक है और वह भी उत्तम उपन्यास है।

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में नोरि नरसिंह शास्त्री को अच्छी ख्याति प्राप्त है। कुटुम्बराव, गोपीचन्द और बुच्चिबाबू ने नये युग की भावनाओं को व्यक्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। तेलुगु उपन्यास-साहित्य के ये तीनों लेखक तीन प्रकाश-स्तम्भ हैं। इन्होंने अपने-अपने ढंग से यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि सामाजिक व्यवस्था समय-समय पर परिवर्तित होती आई है और उसी के अनुसार मान्यताएँ भी बदलती रही हैं। किसी भी व्यवस्था को शाश्वत मानना उचित नहीं। पाप और पुण्य का निश्चय और निर्णय किसी भी सामाजिक व्यवस्था के आधार पर नहीं किया जा सकता। मनुष्य का विवेक ही इसे निश्चित करने का एकमात्र अधिकारी है। परम्परागत संस्कारों और आधुनिक विचारों में तीव्र संघर्ष चल रहा है। इन तीनों लेखकों ने इस संघर्ष को कलात्मक ढंग से उपन्यासों में व्यक्त किया है। कई पात्र संघर्ष में हार जाते हैं, कुछ लड़ते-लड़ते थक जाते हैं। 'चन्दुवु', 'कुलंलेनिम-निथि', 'मारुपेल्ले', 'अरुणोदय' टी० वी० शंकरम् उपनाम से लिखे इन्हीं के 'बेदरित मनुषुलु', 'गड्डुरोकुलु', 'कोत्त-कोडलुं' सफल उपन्यास हैं। इनमें लेखक ने लघु उपन्यास की शैली अपनाई है। गोपीचन्द के उपन्यास में 'असमर्थुनि जीवयात्रा' और 'परिवर्तन' ऊपर बताये गए विचारों का पोषण करते हैं। इनकी 'मेरुपुल मरकलु', 'चीकटिगदुलु', 'परमेश्वरशास्त्री वीलुनामा', 'पिल्लवेम्मर' भी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। बुच्चिबाबू का उपन्यास 'चिवरकुमिगिलोदि' भी बहुत लोकप्रिय हुआ। ग्रामीण चित्तवृत्ति और भावनाओं का चित्रण करने वाले उपन्यास 'कीलुबोम्मलु' के लेखक जी० वी० कृष्णराव ने उपन्यासकारों की प्रथम श्रेणी में स्थान पा लिया है। लघु उपन्यासों में राचकोंड विश्वनाथ शास्त्री का 'अल्पजीवि' शैली की दृष्टि से उत्कृष्ट है। महीधर राममोहनराव-लिखित 'रथचक्रालु', वट्टिकूटि आल्वार स्वामी-रचित 'प्रगलमनिषि' राजनीतिक आन्दोलन को व्यक्त करते हैं।

आज उपन्यास के क्षेत्र में लेखक कम और लेखिकाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। इसका कारण यह है कि तेलुगु की प्रख्यात साप्ताहिक पत्रिकाएँ इधर बराबर उपन्यास प्रतियोगिताओं का आयोजन कर रही हैं और महिलाओं द्वारा लिखित उपन्यासों को साप्ताहिक पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित करने पर पत्रिकाओं की बिक्री बढ़ जाती है। दूसरी ओर महिलाओं में भी लिखने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। ख्याति-प्राप्त महिला उपन्यास-लेखिकाओं में 'पेकमेडलु' और 'बलिपीठम्' की लेखिका मुप्पाल रंगनायकम्मा, 'चक्रभ्रमण' और 'शान्तिनिवासम्' की लेखिका कोडूरि कौसल्या के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अन्य प्रसिद्ध उपन्यासों में 'जालिलेनि जाबिलि' (कोम्मुरि वेणुगोपालराव), 'आन्वेषण' (पोवुकूचिसाम्ब-शिवराव), 'ध्रुवतारा' (पे० सुब्बरामय्या) के नाम गिनाए जा सकते हैं। भास्कर मट्ल कृष्णराव के 'युग सन्धि', 'वेल्लवलो पूथिक वुल्लं' और 'दगा पडिनतम्मुड़' ने भी पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित की है। नये उपन्यास-लेखकों में 'वनश्री' अच्छी प्रगति कर रहे हैं।

कहानी

उन्नीसवीं शती में तेलुगु में बहुत-सी मौलिक कहानियाँ लिखी गईं और फ़ारसी तथा अरबी की अनेक कथाएँ रूपान्तरित होकर आईं। लेकिन ये सभी केवल कौतूहल उत्पन्न

करने वाली रचनाएँ थीं। कुछ कहानियाँ सामाज-सुधार के उद्देश्य से प्रेरित होकर भी लिखी गईं, किन्तु इस प्रकार की कहानियों में कथाभाग बोझिल होता था, कहानी के उतार-चढ़ाव तथा चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। नई पौध को विकसित करने का श्रेय 'आख्यायिका' नामक पत्र तथा उसके सम्पादक तल्लावझल शिवशंकर शास्त्री को है। १९४२ तक आते-आते इस पत्र ने न केवल नये लेखकों को जन्म दिया, अपितु शैली और शिल्प को भी विकसित किया। चिन्ता भीमशंकरम्, चिन्ता दीक्षितुलु, श्रीपाद सुब्रह्मण्य शास्त्री इस समय के कुछ प्रमुख लेखक हैं। रवीन्द्रनाथ की कहानियों से प्रभावित होकर बंग कथाओं का प्रभाव तेलुगु में लाने के लिए वेलूरि शिवराम शास्त्री ने बहुत प्रयास किया। कवि कोंडल वेंकटराव ने आंचलिक भाषा में उपेक्षित निम्न वर्ग के चरित्रों को प्रस्तुत करके कहानी-कला में एक नई कड़ी जोड़ने का प्रयास किया। मानव-मन के दुर्भेद्य रहस्यों का उद्घाटन श्री विश्वनाथ सत्यनारायण की कथाओं का कथानक रहा है। हास्य रस की कथाओं का प्रणयन मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री और मुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव ने किया है। मनिडियारि हनुमन्तराय-लिखित कहानियाँ कला तथा शैली में अपनी विशेषता रखती हैं। चिन्ता दीक्षितुलु के बाद अधिक लोकप्रिय कहानीकार गुडिपाडि वेंकटचलम् हैं। नर और नारी के पारस्परिक सम्बन्ध, उस सम्बन्ध के कारण सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में उत्पन्न समस्याएँ इनकी कहानियों का विषय हैं। अडिवि बापिराजु की कहानियों में कल्पना की उड़ान, भाव-प्रवणता, वर्णन की रमणीयता और आकर्षक शैली का अच्छा समन्वय दिखाई देता है। करुणकुमार की कहानियाँ अभावजनितों को लेकर उनकी समस्याओं का चित्रण करने में समर्थ हुईं। 'सियाईकथलु' नामक कथा-संग्रह में शि० उमामहेश्वरराव ने अपनी कहानियों के लिए अछूता क्षेत्र चुना है। लेखक ने 'युद्ध' को मानव-जीवन के लिए अभिशाप बताते हुए यह दिखलाया है कि साधारण-से-साधारण मनुष्य भी असामान्य घटना के घटने पर असाधारण योग्यता तथा कार्य-क्षमता का परिचय देता है। उत्कृष्ट कलात्मक दृष्टि से त्रिपुरनेनि गोपीचन्द की कहानियों का आधुनिक तेलुगु-साहित्य में ऊँचा स्थान है। लेखक का विश्वास है कि जब तक मानव-स्वभाव में परिवर्तन नहीं होगा, उस समय तक सामाजिक व्यवस्था भी नहीं बदली जा सकेगी। श्री को० कुटुम्बराव अपनी उत्तम शैली, यथार्थवादी दृष्टिकोण, उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण, विषय की विविधता आदि के लिए प्रख्यात हैं। इन्हें तेलुगु का कथा-सम्राट् माना जाता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से जीवन को परखकर, पात्रों के हृदय में प्रविष्ट होकर, सतर्क और सजग कलाकार की भाँति उत्तम कथाओं का सृजन करने में बुच्चिबाबू सिद्धहस्त हैं। मनोवैज्ञानिक कहानियों के जन्मदाता पालगुम्मि पअराजु ने तो तेलुगु कथा में क्रांति ही कर दी है। इनकी 'तूफान' नामक कहानी को अन्तर्राष्ट्रीय कहानी प्रतियोगिता में द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

नये लेखकों में भरद्वाज, धनिकोंड, मधुरान्तकुम्, राजाराम, भास्कर भट्ल कृष्णराव, हीरालाल मोरिया, मंजुश्री, एस० एम० वै० शास्त्री, मणिकुमार, कलव कोलुनु सदानन्द, पेद्दिदमोट्ल सुब्बरामय्या, कोंडुमुदि हनुमन्तराव, आंकोंडि नारायणमूर्ति, विश्वनाथ शास्त्री आदि अनेक नाम हैं। महिलाओं में वासिरेड्डी सीतादेवी, यद्दनपूडि सुलोचनाराणी, जे० सुब्बलक्ष्मी, अच्युतवल्ली, तुरगा जानकीराणी, आचंट शारदादेवी उदीयमान लेखिकाएँ हैं।

जीवन-चरित

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में तेलुगु में अनेक जीवन-चरित लिखे गए, जो कि विषय और कला की दृष्टि से अपना महत्त्व रखते हैं। तेलुगु समाज-सुधारक व लेखक वीरेशलिंगम पेन्तुलु ने सर्वप्रथम आत्मचरित लिखा। उनके बाद लेखक चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम्, सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ता श्री टंगुटूरि प्रकाशम्, देशभक्त कोंडा-वेंकट पदय्या आदि ने अपने जीवन-चरित लिखे हैं। 'गृहलक्ष्मी' के सम्पादक का आत्मकथा लिखने का ढंग विचित्र है। 'नाचिबनाटि मुच्चट्लुं' नाम देकर अपने बचपन की बातों का वर्णन करते हुए उन्होंने परिस्थितियों का अच्छा चित्रण किया है। वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री का जीवन अधिकतर अनुसन्धान-कार्यों में व्यतीत हुआ। अतः आध्यात्मिक साधना से आपने जो आनन्द प्राप्त किया उसे समय-समय

पर लिपिबद्ध करके 'प्रज्ञा प्रभाकरमु' नामक आत्मकथा लिखी। हरिकथावाचक आदिभट्लनारायणदास ने जो आत्मकथा लिखी वह तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालती है। महाकवि गुरजाड अप्पाराव की दैनन्दिनी में यद्यपि सारी बातें बिखरे रूप में हैं, फिर भी पाठक इसका रसास्वादन कर लेता है। इन दिनों देश-विदेश के अनेक विद्वानों, देशभक्तों और महापुरुषों के जीवन-चरित लिखे जा रहे हैं।

आलोचना, इतिहास, समीक्षा व निबन्ध

तेलुगु के आधुनिक युग में कुछ आलोचकों ने कवियों पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं, तो कुछ लोगों ने विशेष युग की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और कुछ ने समूचे तेलुगु-साहित्य पर आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें बहुत-से परिचयात्मक हैं। विशेष युग और समूचे तेलुगु-साहित्य के सम्बन्ध में परिचयात्मक विवरण उपस्थित करना इन पुस्तकों का उद्देश्य रहा है। इस काल में तेलुगु साहित्य के अनेक छोटे-बड़े इतिहास भी प्रकाशित हुए। स्वतन्त्रता से पहले शुद्ध, प्रामाणिक और वैज्ञानिक आधार पर आलोचना करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। स्वातन्त्र्योत्तर-काल में यह विधा अधिक विकसित हुई। नि० वेंकटराव के 'आन्ध्र-कवुल चरित्र' १९५४ में और १९५५ में 'दाक्षिणात्य आन्ध्र साहित्य चरित्र' मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित हुए। चागंटि शेषय्या ने तेलुगु साहित्य का सम्पूर्ण और विस्तृत इतिहास लिखने का प्रयत्न किया। इनके 'आन्ध्र कवि तरंगिणी' के कई भाग अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। ऊट्लकुरि लक्ष्मी कान्तम्मा को उनकी 'आन्ध्र कवियित्रुलु' नामक पुस्तक पर, श्री हरि आदि शेषु को 'जानपद वाङ्मय' पर, तथा भुट्नूरि संगमेशम को 'तेलुगु हास्यमु' पर तेलुगु भाषा समिति ने पुरस्कार प्रदान किए हैं। वेटूरि प्रभाकर शास्त्री को 'श्रृंङ्गार श्रीनाथमु' और राल्लपल्लि अनन्त कृष्ण शर्मा को 'वेमना' कवियों की रचनाओं पर पुरस्कार मिले हैं। डॉक्टर नेलटूरि वेंकटरमणय्या, सु० प्रताप रेड्डी, विश्वनाथ सत्यनारायण और भूपति लक्ष्मीनारायणराव कुरुगंटि सीतारामय्या तथा पि० हनुमन्तराव पुराने खेवे के आलोचक हैं। आधुनिक काल के आलोचकों में श्री देवुलपल्लि रामानुजराव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस युग में ऐसे भी लेखक सामने आए जिन्होंने भारतीय और यूरोपीय शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन करके ग्रन्थ लिखे हैं। क्रोत्तपल्लि वीरभद्रराव, पी० एस० आर० अप्पाराव, दिवाकर्ल वेंकटावधानी, एस० वी० जोगाराव ऐसे ही समीक्षक हैं।

तेलुगु साहित्य के विविध अंगों ने अपना विकास किया, लेकिन निबन्ध के विषय में यह नहीं कह सकते। उन्नीसवीं सदी में साहित्यिक वादविवाद के कारण निबन्ध लिखे जाते थे, अतः इस विधा को उस समय व्यापक क्षेत्र नहीं मिला। धीरे-धीरे निबन्ध का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया। गवेषणात्मक निबन्धों में पिंगलि लक्ष्मीकान्त कवि का 'गौतम व्यासालु' महत्त्वपूर्ण प्रयास है। राल्लपल्लि अनन्त कृष्ण शर्मा ने आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। गुरजाड अप्पाराव के लिखे साहित्य, भाषा, समाज तथा अन्य विषय-सम्बन्धी निबन्ध 'व्यास चन्द्रिका' नाम से १९५३ में प्रकाशित किये गए। तिरुपति वेंकटकवि ने व्यक्तिगत निबन्ध लिखे हैं।

भाषा-शास्त्र

तेलुगु भाषा के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में गंटिजोगि सोमय्या ने १९४९ में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आन्ध्र भाषा विकासमु' प्रकाशित कराया। कोराड रामकृष्णय्या ने तेलुगु की उत्पत्ति तथा विकास का विवरण देकर द्राविड़ भाषाओं के साथ उसकी तुलना करते हुए 'सन्धि' नामक पुस्तक लिखी। इसी विषय पर डॉ० के० महादेव शास्त्री को कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से डी० लिट् की उपाधि मिली है। 'कोदु' भाषा-सम्बन्धी खोज के लिए डॉ० भद्रिराजु की देश-विदेशों में ख्याति हुई। साहित्य अकादमी और तेलुगु भाषा समिति-जैसी संस्थाओं ने 'विज्ञान सर्वस्वमु' (Encyclopedia), 'सामेतलु' (मुहाविरे), 'तन्नयपद कोषमु', 'पदबन्ध पारिजातमु'-जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित किया है। अय्यरदेपट कालेश्वरराव के सम्पादन में पारिभाषिक शब्दकोष तैयार किया जा रहा था, जो उनके निधन के कारण रुक गया है।

उर्दू अकादमी की ओर से कुछ उत्तम ग्रन्थ चीन,

अमेरिका और मिस्र-सम्बन्धी और कुछ शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक ग्रन्थ भी इधर देखने में आ रहे हैं। दक्षिण भाषा प्रकाशन संस्था की ओर से 'आन्ध्र वाङ्मय का इतिहास' और 'दक्षिण देश का इतिहास' भी प्रकाशित हुए हैं। प्रान्तीय अकादमी ने गिरुगु सीतापति के 'आन्ध्र छदोरीतुलु' नामक ग्रन्थ को पुरस्कृत किया है। साहित्यिक पत्रिकाओं में इधर साहित्यिक चर्चाएँ, भाषा-विवाद-सम्बन्धी चर्चाएँ शास्त्रीय दृष्टि से उत्तम श्रेणी की रही हैं। लेकिन इनमें साहित्य-सृजन की अपेक्षा व्यक्तिगत वैमनस्य अधिक दृष्टिगोचर होता है।

बाल-साहित्य

गद्य-साहित्य में अत्याधुनिक विधा बाल-साहित्य है। १०० वर्ष पूर्व तेलुगु में 'बाल-साहित्य' जैसा कोई नाम भी नहीं था। 'शब्द मंजरी' और 'भाग बलि रामायण' ही उनके लिए पुस्तकें थीं और जो कोई भी बालक उन्हें पढ़ना चाहता तो पहले उसे संस्कृत सीखनी पड़ती थी। बड़ी उम्र के बच्चे 'तेलुगु महाभारत' से 'रुक्मिणी-कल्याणम्', 'गजेन्द्र मोक्षम्' पढ़कर सन्तोष पा लेते थे। आज का बाल-साहित्य, जो कि बच्चों में कल्पना, भावना और सृजनशीलता की वृद्धि करता है, उन्नीसवीं सदी से तेलुगु में लिखा जाने लगा। आरम्भ में यात्रा-सम्बन्धी कथाएँ और बच्चों के लिए गीत लिखे गए। पिछले पन्द्रह वर्षों से इस दिशा में विशेष कार्य हुआ है। १९४५ में बच्चों के लिए 'बाल' नामक विशेष मासिक निकाला गया। 'चन्दा मामा' नामक पत्र भी इसके कुछ दिनों बाद प्रकाशित हुआ। मुद्दा विश्वनाथम्, कुटुम्बराव और विद्वान विश्वम् इसमें बच्चों के लिए कथाएँ लिखते थे। प्रथम पत्रिका छोटे बच्चों के लिए और द्वितीय बड़ी उम्र वाले बच्चों के लिए है। पिछले कुछ वर्षों से तेलुगु बाल-साहित्य का भण्डार श्रेष्ठता और संख्या दोनों दृष्टियों से सम्पन्न हुआ है। इसका श्रेय तेलुगु भाषा समिति और भारत सरकार को है।

स्वातन्त्र्योत्तर कन्नड साहित्य का संक्षिप्त परिचय

मूर्च्छा-जाग्रति, परम्परानुसरण-प्रयोगशीलता, इनके बीच दोलायमान होना किसी भी भाषा के साहित्य के लिए कोई नई बात नहीं। विशेषतया जब किसी भाषा का साहित्य प्राचीनतम होता है, उसके अतीत की धुँधली तसवीर को स्पष्ट रूप में निहारना असम्भव-सा प्रतीत होता है। जड़-चैतन्य का छाया-प्रकाश खेल अविरल गति से चालू रहता है। आवश्यकता रहती है दिव्य-दृष्टि की, जो किसी साहित्य की विराटता का दर्शन कर सके।

कन्नड़ साहित्य का भाव-प्रवाह कभी क्रीड़ासक्त कन्यारूप में, कभी काव्यमयी मुग्धा के रूप में, कभी अठखेलियाँ करता, चट्टानों से टकराता, कई धाराओं में विभक्त स्वच्छन्द विहार करता और कभी हृष्ट-पुष्ट प्रचंड जलराशि के रूप में अमोघ वेग से बहता नज़र आता है। आन्दोलनों से यह अपरिचित नहीं। उत्थान-पतन को इसने अनेक बार अनुभव किया है, विविध संस्कारों को ग्रहण किया है। ऐसी वैचारिक क्रान्तियों में कदाचित् पश्चिमी 'रोमांटिसिज़्म' के कारण हुई क्रान्ति अभूतपूर्व होगी। वैचारिक परिवर्तन का आरम्भ वैसे तो गत शताब्दी के अन्त में ही हुआ था, परन्तु पाश्चिमात्य साहित्य का प्रभाव बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही स्पष्ट रूप में परिलक्षित होने लगा। प्राध्यापक बी० एम्० श्रीकंठी का 'अंग्रेज़ी गीतानुवाद' भी प्रचुर मात्रा में क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। पूरे कर्नाटक में स्वतंत्र रूप में बिखरी हुई शक्तियाँ बटोरी जाने लगीं। सम्मिलित अनुभूतियों से कन्नड़ साहित्य प्रभावित होने लगा।

इस आन्दोलन की विशेषताएँ अब आलोचना का विषय बन चुकी हैं। प्रसिद्ध महाकाव्य की परम्परा से दूर जाने का समर्थ प्रयत्न तभी होने लगा था। सामान्य जन-जीवन में साहित्यकार रस लेने लगे थे। प्रकृति के रमणीय दृश्य एवम् संगीत से वे तन्मय होते थे। बोलचाल की भाषा से शब्द-चयन हो रहा था और नई अनुभूतियों के योग्य नई अभिव्यक्ति की कोशिश की जा रही थी। इसी पार्श्वभूमि पर पाश्चिमात्य साहित्य की देखा-देखी नये दालान खुल रहे थे। गीत, कहानी, उपन्यास, वैयक्तिक निबन्धादि विधाओं से परिचय हो रहा था। इसका मतलब यह नहीं कि ये विधाएँ हमारे लिए सर्वथा अपरिचित थीं; परन्तु यह मानना ही होगा कि पश्चिमी प्रभाव के कारण ही उन्हें सौष्ठव प्राप्त हुआ।

इसी काल में ऐसी कविता लिखी गई, जिस पर किसी भी भाषा को गर्व हो सकता है। छन्द और वृत्त का परित्याग कर पूर्वकालीन महाकाव्य के नायकों की जगह चेन्नया तथा रंगप्पा की स्थापना करनेवाले क्रान्तिकारी कवियों के लिए जीवन सुन्दर नहीं था। "कूड़े-कचरे की टोकरी में ऐसे काव्य को फेंका जाए क्योंकि पश्चिम के संयोग से पैदा यह जारज सन्तान तिरस्करणीय है।" इन शब्दों में तत्कालीन पंडितों ने उस कविता का 'स्वागत' किया था। इससे अधिक अन्याय और हो ही क्या सकता है? परन्तु वस्तुतः तो यह नया साहित्य सम्पूर्णतया कन्नड एवम् भारतीय ही था।

कविवर बेन्द्रे के मधुर गीतों से मृदुल समीर बह चली। उनकी प्राचीनतम किंवदन्तियों के समान अद्भुत और प्रचलित प्रसिद्ध कर्नाटकी लोकगीतों के समान रमणीय रचनाएँ रसिकों के गले का हार बन गईं। श्री के० वी० पुट्टप्पा ने ('कुवेम्पु') रामायण, महाभारत-जैसे महाकाव्यों एवम् श्री रामकृष्ण परमहंस तथा अरविन्द-जैसे महान् सन्त दार्शनिकों से प्रेरणा प्राप्त की। श्री गोविन्द पै ने 'गोलगोथा' के साथ-साथ 'एकलव्य' को भी स्पर्श किया। पी० टी० नरसिंहचारजी तो वाल्मीकि के काल तक पहुँचे

और उन्होंने 'अहल्या' एवम् 'शवरी' को साकार किया। 'मेलकोट' के देवता उनकी श्रेष्ठ रचनाओं का स्फूर्ति-स्थान थे। राजकीय क्षेत्र में भले ही अंग्रेजो रीति-नीति को अपनाया गया हो, सांस्कृतिक सिंहासन पर वह कभी भी आसीन नहीं हो सकी। हम उसका ऋण केवल इस रूप में मानते हैं कि अन्धानुकरण की जगह वैयक्तिक अनुभूतियाँ एवम् नये दृष्टिकोण को अपनाने में हमें उसकी सहायता अवश्य मिली है। पश्चिमी हवा से अभिभूत कुछ आलोचकों ने हमारे प्राचीन साहित्य का सौन्दर्यपान करने की चेष्टा की।

नवजागरण का सन्देशा लानेवाले इन भाटों के गीतों का माधुर्य अब भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। उनकी श्रेष्ठ रचनाएँ शाश्वत हैं। श्री के० वी० पुट्टप्पा का 'श्री रामायण दर्शनम्' अविस्मरणीय है। यह रचना इस काल की अन्तिम श्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इसी काल में एक और आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 'नवकाव्य' धारा के नाम से प्रसिद्ध युवक साहित्यकारों से वैसे हरेक भाषा-भाषी परिचित है। नवकाव्य का आरम्भ उससे परवर्ती काल की निश्चित निशानी है। क्या राजनीतिक क्षेत्र में और क्या साहित्य के प्रांगण में एक काल के क्रान्तिकारी उसके बाद आनेवाले काल में 'दकियानूसी' सिद्ध होते हैं। कन्नड़ साहित्यकारों का यह नया दल भी यों तो पश्चिम से प्रभावित रहा है, किन्तु फर्क केवल इतना ही है कि वर्डस्वर्थ की जगह वे इलियट और एज़रा पाउंड आदि को अपना गुरु मानते हैं।

नये कवियों का यह दल विवशतावश 'रोमाण्टिक' स्कूल के कवियों का बड़प्पन स्वीकार तो करता है, परन्तु उनका कहना है कि अब उस साहित्य को अजायबघर की वस्तु मानना चाहिए। हम उनके इस मत को समझ सकते हैं और अप्रत्यक्ष रीति से पूर्वकालीन कवियों की काव्य-शक्ति एवम् प्रभाव का लोहा मान सकते हैं। उनके विरोध में खड़ा होने का प्रयत्न ही उनकी प्रभुता की निशानी है। किसी महान् कवि का अनुसरण करना प्रतिध्वनि की तरह है और प्रतिध्वनि हमेशा मूल स्वर की अपेक्षा अधिक गूँजती है। शायद इसी कारण 'रोमांटिक' स्कूल के बाद के कवियों की रचनाओं में शब्दाडम्बर तो है, परन्तु प्राण नहीं। परिचित वातावरण में मग्न होनेवाले ये कवि पर्यवेक्षण एवम् अभिव्यक्ति में असमर्थ सिद्ध होने लगे। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया उस पिटी हुई लकीर को छोड़ने में हुई।

नया दृष्टिकोण

निम्न शब्दों में इस नये दृष्टिकोण को व्यक्त किया जा सकता है: "निसर्ग सुन्दर है, रमणीय है यह हम भी मानते हैं, परन्तु यदि कोई उसे प्रेम करने में असमर्थ हो तो क्या किया जाए? डूबनेवाले सूरज में, धरती में, खुली हवा और आकाश में हम चरम शक्ति का साक्षात्कार नहीं पा सकते। असल में हम ही अपने मन की विशिष्ट अवस्था में जड़ वस्तुओं पर सौन्दर्य एवम् रहस्यात्मकता का आरोप करते हैं। रोमाण्टिक स्कूल के लोगों की उस शक्ति पर श्रद्धा नहीं थी। प्रकृति के संगीत के विषय में बिना श्रद्धा के गीत गाना, चंचल चाँदनी, कलकल करने वाले झरने और ओस की बूँदों का वर्णन करना केवल ढकोसला है।

"प्रेम के विषय में अतिशयोक्ति हुई है। किसानों के जीवन को आदर्श मानने का नशा बेहद बढ़ गया है। आदर्श सरल व्यवहार, सादगी, सत्य, स्वास्थ्य, इनका गाँव में कहीं भी दर्शन नहीं होता। मक्कारी, बीमारी और गन्दगी का बाज़ार वहाँ गर्म है। हमारे पास-पड़ोस का जीवन कुरूप है और हम असुन्दर को सुन्दर मानने के लिए कभी भी तैयार नहीं।

"आदर्शवादी लोग जहाँ विचरण करते हैं वह स्वप्निल दुनिया अच्छी है, परन्तु क्या वह सत्य है? इनकी हिमालय-जैसी भूल यह है कि वे पहले आदर्श व्यक्ति की कल्पना करते हैं और बाद में सबको उस ढाँचे में ढालने की कोशिश करते हैं। हम विविधता में एकता का, समष्टि में व्यष्टि का दर्शन करते हैं। महायुद्ध ने हमें ज़बरदस्त धक्का पहुँचाया है। जीवन के विषय में हमारी गलतफहमियाँ दूर हुईं। उसकी निस्सारता का हमें साक्षात्कार होने लगा। प्रत्यक्ष जीवन की कठोरता से भागकर रमणीय वातावरण में विचरण करना कायरता थी। उनकी अपेक्षा अधिक जटिल समस्याओं से हमें मुकाबला करना है। अगर जीवन

ही हमारे लिए अस्पष्ट नज़र आता हो तो उस दुर्बोधता को अभिव्यक्त करना हमारा कर्त्तव्य है ।

"भावाभिव्यक्ति के लिए हम कल्पना और प्रतीक-योजना पसन्द करेंगे न कि लम्बे-चौड़े वाक्य ।

"हम नये प्रयोग भी चाहते हैं जैसे कि स्वयं रोमांटिक कवियों ने चाहा था । नये दृष्टिकोण के लिए नये ताल, नये छन्द भी चाहिए । हमारे छन्द कुछ विचित्र-से अवश्य लगेंगे, परन्तु अचानक निर्मित जीवन-विषयक निराशा एवं सन्देह को अभिव्यक्त करने के लिए वे सर्वथा उपयुक्त हैं । जीवन के अधिक सन्निकट लाने के हेतु हमारी कविता अधिक नाटकीय और संगीतमय बन रही है । शब्दचयन में भी इसी दृष्टिकोण को हमने अपनाया है ।"

नई कविता के प्रथम रचयिता श्री वी० के० गोकाक हैं, परन्तु गोपालकृष्ण आडिगा तथा बी० सी० रामचन्द्र शर्मा उसके सच्चे प्रतिनिधि थे । चन्नवीरा कनावी और जी० एस० शिवरुद्रय्या ने भी किसी सीमा तक नई कविता की रचना की है ।

नये क्षितिज को स्पर्श करने का यह प्रयत्न कुछ सनातनी कवियों की राय में खतरे से खाली नहीं । वे सोचते हैं कि कविता अपने उच्च सिंहासन से गिर जाएगी । परन्तु आश्चर्य की बात है कि ये कवि भी नई कविता के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके । साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह परिवर्तन स्वाभाविक और अनिवार्य प्रतीत होता है । उनका मत है कि नई कविता के रचयिता भी सच्चे अर्थ में कवि ही हैं । उनके प्रयोगों की सफलता के विषय में इसी समय मत-प्रदर्शन करना उचित नहीं । लेकिन यह सत्य है कि नई कविता में वैसे विशेष आकर्षण कुछ भी नहीं ।

मस्ती व्यंकटेश आयंगार के कारण कहानियों को जो विशिष्ट दर्जा प्राप्त हुआ था उनके पश्चात् टिक न सका । साहित्य की यह अत्यन्त लोकप्रिय विधा प्रगति न कर सकी । गत दशक में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना रही उपन्यास का विकास । उपन्यासों की श्रेष्ठता न सही, संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी । के० वी० पुट्टप्पा, के० एस० कारन्त और वी० के० गोकाक ने कुछ उत्कृष्ट उपन्यास लिखे । परन्तु इसी समय प्रकाशन-क्षेत्र में सस्ते मूल्य में उपन्यास बेचने की कल्पना प्रस्तुत हुई और उत्तम उपन्यासकारों के लिए उतनी गति से अच्छे उपन्यास लिखना असम्भव हो गया । सस्ते मूल्य के उपन्यास प्रकाशित कर भले ही प्रकाशकों ने लोगों में गल्प साहित्य का प्रसार किया, परन्तु उपन्यास की विधा को इससे हानि ही पहुँची । उत्तम कथावस्तु प्रस्तुत करना लेखक की अपनी समस्या होती है । मौलिक न सही, अनूदित कथावस्तु भी अच्छी न होने पर उपन्यास दोषरहित कैसे होगा । कथावस्तु छोटी हो तो कुछ हर्ज नहीं, तीन सौ पृष्ठों का भरना कोई टेढ़ी खीर नहीं । कुछ कथोपकथन, कुछ आधी पंक्ति के सवाल-जवाब । सामान्य पाठक आलोचना की चिन्ता में नहीं पड़ता, चमत्कारिक प्रश्न नहीं पूछता । शीघ्र अर्थार्जन उपन्यासकार के लिए सबसे बड़ा प्रलोभन है । तब वह विशेष कष्ट का बोझ भी नहीं उठाता । इसीलिए रा० सु० जैसे उत्तम लेखक भी इस प्रलोभन के शिकार हो जाते हैं ।

लेकिन यह केवल एक पक्ष है । कल्पना, भावुकता एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में श्री कारन्त-जैसे लेखक अपना सानी नहीं रखते । गत दशक में 'समरसवे जीवन' नामक श्री गोकाकजी का १३०० पृष्ठों का बृहद उपन्यास प्रकाशित हुआ है । श्री बस्वराज कट्टिमणी की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ भी इसी काल की देन हैं । देवुडु नरसिंह शास्त्री हमें अपने 'महाब्राह्मण' में ऋषि-मुनियों के काल में ले जाते हैं । उनकी 'महाक्षत्रिय' नामक रचना तो इस साल साहित्य अकादमी से पुरस्कृत भी हुई है । ऐतिहासिक उपन्यास का क्षेत्र भी बहुत लेखकों के आकर्षण का विषय रहा है । कुर्ग के इतिहास पर आधारित मस्ती व्यंकटेश आयंगार का 'चिकवीर राजेन्द्र' नामक उपन्यास उन्हीं के 'चन्नबसव नायक' के जैसा ही लोकप्रिय रहा । चितलदुर्ग के इतिहास पर श्री ता० रा० सु० ने उपन्यास लिखे तो श्री एन० कृष्णराव तथा कोराती श्रीनिवासराव ने विजयनगर के इतिहास को अपनी रचना द्वारा अमर बनाया । के० वी० अय्यर का भी नामोल्लेख आवश्यक है। आद्य रंगाचार्य उपन्यास की ओर कालान्तर से मुड़े हैं । उनकी रचनाएँ अत्यन्त सरस होती हैं । अन्य उपन्यासकार भी बड़े उत्साह एवं गति से साहित्य-सेवा कर रहे हैं ।

नाटक

तीन दशकों तक रंगमंच पर धार्मिक नाटकों का

प्रभुत्व रहा। नाटकों की सफलता कला की अपेक्षा अभिनेता पर निर्भर रही और फिर नाटकों ने करवट बदली। श्री कैलासम् के यथार्थवादी नाटकों की धूम तीन दशकों तक रही। अब भी उनके नाटक लोकप्रिय हैं और उनकी पिटी लकीर पर सारे नाटककार निश्चिन्त चल रहे हैं।

रंगमंच का अब पुनरुज्जीवन हो रहा है। शिल्प एवं कला के साथ साहित्यिक गुणों का सुन्दर समन्वय नज़र आ रहा है। अभिनय तथा रंगमंच के विषय में शिक्षा की आवश्यकता महसूस होने लगी है। इस दिशा में कन्नड़ मंच आद्य रंगाचार्य का ऋण भूल नहीं सकता। नवनाट्य सेवा संघों में पर्वतवाणी की अंग्रेज़ी से अनूदित रचनाएँ तथा कैवर राजाराव की हल्की-फुल्की सुखान्तिकाएँ अत्यन्त प्रिय रही हैं। 'शोक चक्र', 'जीवन जोकली' और 'अमृतरंग' के साथ आद्य रंगाचार्य ने एक नई परम्परा शुरू की है।

यथार्थवादी सामाजिक नाटकों से लोगों का मन तृप्त नहीं होता। भावुक काव्यमय वातावरण के प्रति अब भी वही आकर्षण है जो श्री कैलासम् के नाटकों के प्रति रहा है। संभव है कि कालान्तर में आदर्शवादी रचनाओं का स्वागत फिर होने लगेगा।

आलोचना

साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में गत दस-पन्द्रह सालों में लोगों की दिलचस्पी बढ़ने लगी है। श्री टी० एन० श्रीकांठिया की 'भारतीय काव्य मीमांसा' उनके गहरे अध्ययन एवं साहित्यिक ज्ञान की परिचायक है। एन० कृष्णमूर्ति ने संस्कृत के आलोचना-ग्रंथों का सफल अनुवाद किया है। आर० एस० मुगली ने कन्नड साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिखकर एक नई परम्परा शुरू की। श्री ए० आर० कृष्णशास्त्री के 'बंकिमचन्द्र' को साहित्य अकादमी से पुरस्कार मिला। एस० वी० रंगन्ना ने कालिदास के तीन नाटकों पर अपने प्रबन्ध हाल ही में प्रकाशित किए हैं। लेकिन आधुनिक साहित्य पर आलोचनात्मक लेख लिखने का साहस अब तक किसी ने नहीं किया।

ज्ञानवर्धक ग्रंथों की रचना विलम्ब से ही क्यों न हो, अब आरम्भ हुई है। सामाजिक एवं भौतिकशास्त्र पर मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से अनेक किताबें छप चुकी हैं। 'साहित्य-संस्कृति' विभाग की ओर से भारतीय संस्कृति एवं दर्शन-विषयक किताबें, श्री डी० वी० गुंडप्पा के राजनीति तथा वेद-उपनिषद भाष्य पर ग्रंथ, मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित अनुशीलनमाला आदि प्रकाशन यही सिद्ध करते हैं कि ज्ञानवर्धक रचनाओं में लोग अधिकाधिक रस लेने लगे हैं। अपने अविरत परिश्रम के बाद श्री कारन्तजी ने विज्ञान-विषयक विश्वकोष प्रसिद्ध किया है।

अन्त में हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि कन्नड भाषा का अन्य भारतीय भाषाओं के साथ स्नेह-सम्पर्क सराहनीय रहा है। मराठी, तमिल, तेलुगु, बंगला तथा अन्य अनेक भाषाओं से उत्तम कलाकृतियाँ गत अस्सी वर्षों से अनूदित हो रही हैं। अब यह हर्ष का विषय है कि भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं के अनुवाद का योजनाबद्ध कार्य साहित्य अकादमी को सौंपा गया है। इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ अब कन्नड में उपलब्ध हैं जिनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाएँ।

[श्री ए० एन० मूर्तिराव के 'इलस्ट्रेटेड विकली' में प्रकाशित लेख के आधार पर रामम्हात्रे द्वारा प्रस्तुत।]

में यद्यपि उनका उत्साह शिथिल हो गया था, फिर भी इस कविता, निबन्ध, नाटक, आलोचना, आत्मचरित्र या इतिहास आदि की रचना कर उन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से साहित्य की सभी विधाओं को नव-जीवन प्रदान किया। इस प्रकार नर्मद के प्रयत्नों से गुजरात के सामाजिक जीवन में एक नई चेतना का निर्माण हुआ।

पाश्चिमात्य संस्कृति एवं साहित्य से सम्पर्क तथा आर्य संस्कृति और संस्कृत भाषा का गौरवगान गाने की प्रवृत्ति होने से उपरोक्त सामाजिक विद्रोह की भी एक प्रतिक्रिया हुई। हमारे अतीत का पुनर्स्थापन करने हेतु तथा हमारी सांस्कृतिक परम्परा के महत्त्व को अक्षुण्ण बनाने के उद्देश्य से निश्चित प्रयत्न होने लगे। लेकिन पाश्चिमात्य संस्कृति का प्रभाव कमज़ोर न था, अतः पौर्वात्य और पाश्चिमात्य जीवन-मूल्यों में सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश होने लगी। बौद्धिकता और गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति इस काल की विशेषताएँ रहीं। सर्वश्री गोवर्धनराम, नवलराम, केशवलाल ध्रुव, रमणभाई नीलकंठ, नरसिंहराव दिवेतिया, बलन्तराव ठाकोर, आनन्दशंकर ध्रुव, दुर्गाशंकर शास्त्री आदि महान् विद्वान इसी काल की उपज हैं। जिस युग में इन महान् साहित्यकारों की उर्वर प्रतिभा का परिचय मिल रहा था उसे पंडित-युग कहना सर्वथा उचित होगा।

नवयुग की कविता ने नया बाना अपनाया। दलपतराम और नर्मद के काल में जो भी छन्दबद्ध रचना होती थी उसे काव्य कहा जाता था। गुजराती कविता की विशेषता यह थी कि देशी संगीत की जगह संस्कृत भाषा के छन्द अपनाये गए। कविता गेय होने के स्थान पर तालबद्ध पठन का रूप पाने लगी। इस प्रकार एक ओर आंग्ल काव्य की परम्परा का अनुकरण गुजराती काव्य में होता था तो दूसरी ओर संस्कृत भाषा के छन्दों को कवि उत्साह से अपनाने लगे थे। परन्तु केवल संस्कृत छन्दों से कवि नर्मद का समाधान नहीं हुआ, अतः कविता के विषय के अनुकूल नये छन्दों का निर्माण भी उन्होंने किया। नर्मद का उत्साह सराहनीय है। उन्होंने प्रयोग तो कई किये, परन्तु उनकी काव्य-प्रतिभा उत्कृष्ट कोटि की नहीं थी। भाव-गहनता एवं सुयोग्य शब्द-रचना का उनमें अभाव था।

जब सन् १८८७ में कवि नरसिंहराव दिवेतिया ने अपनी 'कुसुममाला' का प्रकाशन किया तो गुजराती कविता सच्चे अर्थ में कलात्मक स्तर तक पहुँच पाई। वर्डस्वर्थ, शेली तथा कीटस् का प्रभाव उनकी रचनाओं पर अवश्य दिखाई देता है, लेकिन काव्य-सौष्ठव एवं उत्कृष्ट शब्द-योजना के बावजूद भी गुजराती कविता में भाव-गम्भीरता का अभाव नज़र आता था। 'कान्त' उपनाम से प्रसिद्ध कवि मणिशंकर रतनजी भट की कविता ऊँचे दर्जे की थी, परन्तु उसका क्षेत्र मर्यादित रहा। उनकी 'पूर्वालाप' नामक रचना में अंग्रेज़ी तथा संस्कृत के प्रभाव का सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। सर्वप्रथम उन्होंने गुजराती में खंडकाव्य लिखा। विभिन्न रसों की निष्पत्ति के लिए खंडकाव्य में छन्द-परिवर्तन आवश्यक माना गया है, अतः कान्त ने विविध छन्दों को अपनाया।

'कलापी' बड़े ही भावुक कवि थे। वियोग की पीड़ा एवं शृंगार की विविध छटाओं को अभिव्यक्त करने के लिए उन्हें संस्कृत छन्द ही अधिक उपयुक्त लगे। गुजराती नवयुवकों के लिए यह विषय बड़े ही आकर्षण का रहा और कलापी की कविता रसिकों के गले का हार बन गई।

लेकिन यह सब होते हुए भी अनुपम कल्पना, वैभव तथा अत्यन्त कोमल भावों को लेकर आनेवाली नानालाल कवि की रचनाओं ने ही गुजराती काव्य को समृद्ध किया। वे शब्द-सृष्टि के ईश्वर थे। भावानुरूप शब्द-चयन के कारण उनके काव्य ने गुजराती साहित्य पर अमिट छाप डाली है। 'उनके रूप में अमृतधारा बरसाने वाले सुधाकर का उदय गुजराती साहित्याकाश में हुआ' इन शब्दों में नानालाल के एक समकालीन ने उनकी प्रशस्ति की है। अपने मनोगत भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं को अपनाया, परन्तु सर्वप्रथम वे रहे कवि ही। महाकाव्य रचने की उनकी इच्छा पूरी न हुई, क्योंकि छन्दनिर्मिति उनके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा थी। अंग्रेज़ी काव्य-शैली से मुग्ध होकर उन्होंने दोलन शैली को अपनाया। उन्होंने प्रदीर्घ कविताएँ लिखीं तथा गीतिनाट्य रचे। अपने काल में वे अत्यन्त लोकप्रिय हुए। बालशंकर और खबरदार इसी काल के अन्य उल्लेखनीय कवि हुए।

गुजराती काव्य में नर्मद ने एक नई परम्परा शुरू की और परवर्ती कवियों ने उसे बनाये रखा। यह सत्य होते हुए भी बलवन्तराय ठाकोर की कविता से आधुनिक गुजराती काव्य का आरम्भ मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। एक सशक्त आलोचक और विचारक के नाते उन्होंने अपनी अद्वितीय कविता के द्वारा कविजनों के सामने जो ऊँचे आदर्श रखे वे तत्कालीन तथा परवर्ती कवियों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुए। काव्य और संगीत के सम्बन्ध में उनके अपने निश्चित विचार थे। उन्होंने कहा भी है, "संगीत के सिवा जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, निश्चित कालावधि के सिवा जिनकी गति में बाधा उत्पन्न होती हो, ऐसी काव्य-रचनाएँ भले ही गेय हों, पढ़ने में सुविधाजनक हों, लेकिन उन्हें उत्तम काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।" उन्होंने कविता को ताल, स्वरैक्य तथा सामयिकता के बन्धनों से मुक्त किया। उनकी राय में कविता के विषय के अनुकूल लय होने पर ही कविता की रचना हो सकती थी। उनके काव्य-विषयक सिद्धान्तों का विस्तृत परिचय उनके 'भानाकर' नामक काव्य-संग्रह से प्राप्त हो सकता है। उनकी सारी कविताएँ उच्चकोटि की नहीं हैं, परन्तु उनके प्रेम-विषयक कुछ लघु काव्य तथा गीत अर्थगहन शब्दों के उत्तम नमूने हैं। ठाकोर का यह प्रभाव एकांगी होने पर भी कविता के रूपविधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गांधीवाद तथा मार्क्सवाद के कारण काव्य में यथार्थवाद तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व का भाव आज नज़र आने लगा है, परन्तु यह परिवर्तन समूचे भारतीय साहित्य में तभी से दिखाई देने लगा था, केवल गुजराती काव्य या साहित्य तक ही सीमित नहीं था।

पराधीनता की शृंखलाओं से मुक्त होकर अपने खोये गौरव को पाने के लिए भारत तड़प रहा था। सुन्दरम् की 'काव्य मंगला' में इसी व्याकुलता की अभिव्यक्ति हुई। इसी भाव का अनुसरण उमाशंकर जोशी की 'गंगोत्री' ने किया। गुजराती कविता आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर झुकने लगी। अब प्रत्यक्ष जीवन से कोसों दूर रहने वाले कृत्रिम साहित्य की अपेक्षा वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य की रचना होने लगी। झवेरचन्द मेघाणी, जिन्हें गांधीजी ने राष्ट्रीय कवि के विरुद से सम्मानित किया था, करसनदास माणेक, कृष्णलाल श्रीधरा, स्नेहरश्मि तथा अन्य प्रतिभाशाली कवियों ने गांधीवादी विचारधारा का सच्चा प्रतिनिधित्व किया। उत्कृष्ट शब्द-योजना मनसुखलाल झवेरी की विशेषता है तो उच्च आदर्श, संयम तथा सौन्दर्य ने सुन्दरजी बेराई की कविता को एक विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उधर विद्वान कवि रामनारायण पाठक ने अपनी प्रसाद-गुण-सम्पन्न कविता से गुजराती काव्य को समृद्ध किया। प्रह्लाद पारेख और हरिश्चन्द्र भट्ट ने गुजराती कविता के उन्नयन में काफ़ी प्रयत्न किये। सारांश यह कि आधुनिक गुजराती कविता पर गांधीजी तथा बलवन्तराय ठाकोर का प्रभाव चिरस्मरणीय रहेगा।

आधुनिक कविता का सर्वाङ्गीण विकास हुआ—रास, गर्बी, खंडकाव्य, लघुकाव्य, अनुकरण-काव्य, शोकगीत, मुक्तक, चम्पूकाव्य, गीतिनाट्य, आख्यान पद्धति में व्यंग्य-काव्य इत्यादि सभी कुछ लिखा गया। गांधी-युग के पूर्व प्रेम, प्रकृति और परमेश्वर ही काव्य के विषय थे, परन्तु गांधीजी के प्रभाव से राष्ट्र के जीवन में आमूल परिवर्तन होने लगा था। सबसे बड़ी बात यह हुई कि कविता का विषय गौण हो गया और कवि की अनुभूति तथा दृष्टिकोण प्रमुख हो उठे। नवीनता के व्यामोह में सौन्दर्याभिरुचि को तिलांजलि देकर 'हरिजन स्त्री', 'पाखाने की मक्खी', 'टूटी जूती' इत्यादि विषयों पर कविताएँ लिखी जाने लगीं। साथ ही मानवतावादी दृष्टिकोण भी पनपने लगा। कहीं-कहीं आधुनिक कविता में यथार्थवाद के नाम पर अश्लीलता के दर्शन भी होने लगे।

सन् १९४७ के बाद जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से साहित्य भी प्रभावित होने लगा। ठाकोर के काव्य-विषयक सिद्धान्तों पर गुजरात के नये कवि सन्देह प्रकट करने लगे। वैचारिक सम्पन्नता की अपेक्षा भावों की कोमलता को उनकी कविता में अधिकाधिक स्थान मिलने लगा। राजेन्द्र शाह, निरंजन भगत, प्रियकान्त माणयार, हँसमुख पाठक, जयन्त पाठक, वेणीभाई पुरोहित और बालमुकुन्द दवे इस काल के प्रमुख कवि हैं। विषयवस्तु तथा गीत्यात्मकता के

सुन्दर समन्वय के कारण राजेन्द्र शाह नवयुग के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। निरंजन भगत की भी अपनी विशेषताएँ हैं। मानव के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास कर उसे गौरवान्वित करना उनके कवि का आग्रह रहा। प्रदीर्घ काव्य-रचना का अन्त हुआ और मुक्तकों की परम्परा चल पड़ी। मकरन्द दवे, प्रजाराम, पिनाकिन ठाकोर तथा अन्य अनेक कवियों ने गुजराती काव्य को समृद्ध करने की कोशिश की, परन्तु अपने प्रथम काव्य-संग्रहों से ही उमाशंकर जोशी और सुन्दरम् ने गुजराती कविता को जो रमणीय रूप प्रदान किया, उसे रसिकजन भूल नहीं सकते। उनकी कविताओं में अब परिवर्तन अवश्य हुआ है, फिर भी उनमें वही आकर्षण और लोच है जो आरम्भ में था और इसे स्वीकार करना ही होगा कि आज भी उनका स्थान लेने वाला गुजराती काव्य-जगत् में-कोई दिखाई नहीं देता।

अब रहे नये कवि। वे प्रयोग कर रहे हैं। नये मापदण्ड, नये जीवन-मूल्य, नई रचना-पद्धति अपना रहे हैं। अनुशासनहीन अवस्था में सर्वत्र शोरगुल मच रहा है। वे अँधेरे में टटोल रहे हैं। अपनी भाषा में भावों को अभिव्यक्त कैसे किया जाए, यह अब भी उनके लिए समस्या है।

गद्य

साहित्य की विधाओं में गद्य उतना ही शक्तिमान माना जाता है, जितना कि पद्य; परन्तु गुजराती के लिए गद्य-रचना एक नया प्रकार था, जिसका सूत्रपात नर्मद ने किया। भावाभिव्यक्ति के लिए नर्मद ने गद्य को अपनाया तो सही, परन्तु उनकी गद्य-रचनाओं का दर्जा एक-सा नहीं था; कहीं-कहीं तो उनकी गद्य-रचनाएँ गाम्भीर्य और प्रसाद गुण से कोसों दूर चली गई हैं। नर्मद के बाद नवलराम ने अपनी प्रौढ़ एवं विचारोत्तेजक आलोचनाओं तथा निबन्धों के द्वारा गुजराती गद्य को भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में गौरव प्रदान किया। 'सरस्वतीचन्द्र' नामक अपनी प्रसिद्ध रचना के द्वारा गोवर्धनराम ने उसे अधिक बलशाली बनाया। गुजरात में जो नई कल्पनाएँ और विचार-प्रणालियाँ दृढ़ होती जा रही थीं, गोवर्धनराम की विविधता-सम्पन्न रचनाओं ने उनको वाणी प्रदान की। मणिलाल द्विवेदी ने निबन्ध को एक नया मोड़ दिया। गोवर्धनराम की अपेक्षा उनकी शैली अधिक सरस थी। आनन्दशंकर ध्रुव एक प्रौढ़ विचारक और दार्शनिक थे। उन्होंने गद्य को वह गरिमा प्रदान की जो उनके गम्भीर विचारों के सन्तुलन एवं सुस्पष्टता के लिए आवश्यक थी।

के० एम० मुंशी के रूप में गुजराती गद्य-साहित्य को एक सच्चे कलाकार की प्राप्ति हुई। विषय की विविधता, विचारों की सरलता और कलात्मक दृष्टिकोण के कारण उनका गद्य न केवल उच्च कोटि का है, बल्कि अनेक अवसरों पर लालित्य के कारण वह कविता से भी स्पर्धा करता है। नानालाल ने भी गद्य को अलंकृत कर कविता की तरह सरस बनाने की चेष्टा की। गांधीजी के प्रभाव से भी गुजराती गद्य में आमूल परिवर्तन हुआ। गद्य के रूप-विधान तथा वर्ण्य-विषय में यह परिवर्तन विशेष रूप में परिलक्षित होता है। गांधीजी ने स्वयं एक नई शैली का निर्माण किया। उनकी गद्य-रचनाओं में इतनी सहज सुन्दरता रहती है कि गुजराती साहित्य का मान और महत्त्व भारतव्यापी हो गया।

इस तरह गद्य में एक नए युग का निर्माण हुआ। संस्कृत-प्रचुर रचनाओं की अपेक्षा यह सीधी, सरल शैली आकर्षक होने के कारण अनेक लेखकों ने अपनाई। अपनी मौलिकता के बावजूद गांधीजी के प्रभाव को लेकर चलने वाले गद्य का उत्तम नमूना है—काका कालेलकर की रचनाएँ। सरल, विवरणात्मक और पाठकों के हृदय को स्पर्श करनेवाली उनकी शैली में उत्कृष्ट काव्य की रमणीयता के दर्शन होते हैं। बहुश्रुतता के कारण उनका गद्य बड़ा ही आकर्षक है। बलवन्तराय ठाकोर की शैली भावगम्भीरता लिये रहती है, परन्तु कभी-कभी जटिल भी हो जाती है। उनकी तुलना में झवेरचन्द मेघाणी, पन्नालाल पटेल तथा चुनीलाल मडिया अलग तरह के लेखक हैं। इन्होंने गुजरात की ग्रामीण बोलियों को अपनाकर यथार्थ चित्रण में काफ़ी सफलता प्राप्त की। रूप-विधान और विषय में सामंजस्य होने के कारण इनकी रचनाएँ प्रभावशाली होती हैं।

विदेशी शासन के कारण पाश्चात्य संस्कृति एवम्

साहित्य का प्रभाव जीवन और साहित्यकार पर पड़ने लगा था, जिसके परिणामस्वरूप उपन्यास, कहानियाँ, चरित्र-लेखन, आत्मचरित्र, निबन्ध, दैनन्दिनी डायरी तथा एकांकी की विधाओं का गुजराती में प्रचलन होने लगा। तत्कालीन शिक्षा-अधिकारी रसेल साहब से प्रेरणा पाकर नानाशंकर तुलजाशंकर ने सर वाल्टर स्काट का अनुसरण करते हुए 'करणवेलो' नामक ऐतिहासिक उपन्यास १८६८ में लिखा। सुन्दर वर्णनात्मक शैली में लिखे होने पर भी यह उपन्यास विशृंखलित एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दुर्बल रहा, तो भी गुजराती के प्रथम उपन्यास के रूप में उसका यथोचित गौरव हुआ। उनके पश्चात गुजराती में तल्यारखान ने उपन्यास-लेखन को गति प्रदान की।

गोवर्धनराम त्रिपाठी का चार वृहद् खण्डों में लिखा उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' सच्चे अर्थ में युग-प्रवर्तक रचना है। इसमें सरस शैली में किया मानव-जीवन के विविध पहलुओं का दर्शन अभिराम है। उपन्यास काफ़ी बड़े कैनवैस को लेकर चलता है, जिस पर जीवन की विविध छटाएँ चित्रित की गई हैं। सुशिक्षित समाज पर इस उपन्यास का काफ़ी प्रभाव पड़ा। वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में वह आश्चर्यजनक परिवर्तन का कारण हुआ। उस पर इस ऐतिहासिक उपन्यास में पूर्व और पश्चिम के जीवन-मूल्यों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। 'सरस्वतीचन्द्र' गुजरात की सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत अवश्य बना, लेकिन गुजराती गल्प साहित्य की दृष्टि से उसका महत्त्व बहुत अधिक नहीं है। गोवर्धनराम बहुत अच्छे कथाकार सिद्ध नहीं हुए। उनके पात्र केवल उन्हीं की विचार-प्रणाली का प्रतिनिधित्व करके रह जाते हैं।

गल्प-साहित्य के इतिहास में अलेक्ज़ेंडर ड्यूमा, विक्टर ह्यूगो तथा अन्य यूरोपीय साहित्यकारों का प्रभाव लेकर चलने वाले श्री के० एम० मुन्शी के उपन्यासों ने महत्त्वपूर्ण स्थान पाया। सामाजिक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यासों की रचना उन्होंने की। उनकी कला का सर्वोत्तम परिचय 'पाटन नी प्रभुता', 'गुजरात नो नाथ' और 'राजाधिराज', तथा उसके बाद लिखे 'जय सोमनाथ' में प्राप्त होता है। कथावस्तु की सूत्रबद्धता, प्रभावशाली चरित्र-चित्रण' रोमहर्षक प्रसंगों का निर्माण, सजाव कथोपकथन और उससे भी बढ़कर उनकी भावुक परन्तु मर्मस्पर्शी गद्य-शैली के कारण वे अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यासकार एवं गुजराती साहित्य के मुकुटमणि माने जाते हैं। लेकिन गोवर्धनराम की पैनी पर्यवेक्षण-शक्ति एवं विचारों की प्रौढ़ता का उनमें अभाव नज़र आता है।

उत्कृष्टता के मापदण्ड पर उतने श्रेष्ठ साहित्यकार न होते हुए भी रमणलाल देसाई मुन्शी के समकक्ष माने जा सकते हैं। 'दिव्यचक्षु' तथा 'ग्रामलक्ष्मी' नामक उनके उपन्यासों में गांधीवादी विचारधारा तथा गुजरात के सामान्य जीवन का दर्शन होता है। मध्यवित्त के लोगों पर गांधीजी की विचार-प्रणाली का प्रभाव कैसा रहा, इसकी चर्चा उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा की है। जीवन-विषयक नये सिद्धान्तों की मान्यता तथा कथा कहने की सरस शैली ने उन्हें लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचाया। उनके पात्र मानो पाठकों के भावों को ही वाणी प्रदान करते हैं। कालान्तर में जब उन्होंने प्रगतिवाद को अपनाकर गांधीजी तथा मार्क्स के विचारों में समन्वय करने की चेष्टा की तो उनकी कला में क्षति हुई।

अतीत की गौरवगाथा, सामान्य लोगों के विषय में अतीव सहानुभूति तथा ओजपूर्ण शैली के कारण झवेरचन्द मेधाणी भी एक लोकप्रिय उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। 'तुलसी क्यारो' और 'वे विशाल' उनकी सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली रचनाएँ हैं।

इसी काल में गुणवन्तराय आचार्य अपने साहसपूर्ण उपन्यासों के कारण और चुनीलाल बी० शाह अपने ऐतिहासिक उपन्यासों की वजह से लोकप्रिय हुए।

पन्नालाल पटेल, 'दर्शक' और चुनीलाल मडिया के रूप में पाठकों को नये प्रभावशाली गुजराती उपन्यासकारों के दर्शन हो सके। ग्रामीण जीवन के कण-कण से परिचित होने के कारण पन्नालाल पटेल के 'मकेला जीव' और 'मानवी जी भवाई' (जो उनके श्रेष्ठ उपन्यास हैं) नामक उपन्यासों में ग्राम्य-जीवन का जीता-जागता चित्रण उपस्थित है। 'दर्शक' पर गांधीवादी विचारधारा का पूर्ण प्रभाव नज़र आता है। उन्होंने भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के प्रति अपना विशेष प्रेम जहाँ-तहाँ प्रकट करना चाहा है। एक कुशल कहानीकार के रूप में उन्होंने कथा कहने की

शैली का सुन्दर उपयोग किया है।

चुनीलाल मडिया एक सचेत और भावुक कहानीकार हैं। प्रेम और साहस का अत्यन्त सजीव चित्रण करने में वे सिद्धहस्त हैं। उनकी भाषा प्रवाहमयी है। पन्नालाल पटेल के समान ग्राम्य-जीवन के चित्रण में ये भी अत्यन्त सफल रहे हैं। सूक्ष्म चरित्र-चित्रण और विवरण की विविधता ने 'व्यजनोवारसदार' और 'पावक ज्वाला' जैसे उनके उपन्यासों को चिरस्मरणीय बना दिया। ईश्वर पेटलीकर के 'जनमदीप' और अन्य उपन्यासों ने गुजराती उपन्यास को समृद्ध किया। सारंग बारोट, पिताम्बर पटेल, शिवकुमार जोशी और सोपान की गणना भी श्रेष्ठ उपन्यासकारों में की जाती है।

गुजराती कहानी का इतिहास करीब पाँच-छः शताब्दियों पुराना है। लेखक एवम् पाठकों के लिए वह स्वाभाविक आकर्षण का विषय रही है। कांचनलाल मेहता, मलयानिल और धनसुखलाल मेहता का नामोल्लेख गुजराती के पहले कहानीकारों के रूप में करना उचित होगा। कांचनलाल मेहता की कहानियों का संकलन गुजराती का प्रथम कथा-संग्रह है। इस दिशा में मुन्शी भी प्रयत्नशील थे, परन्तु कालान्तर में उन्होंने यह क्षेत्र छोड़ दिया। असल में गुजराती कहानी को सौष्टव और कलात्मकता 'धूमकेतु' के कारण प्राप्त हुई। साहसिक मनोवृत्ति के सामान्य धरातल से उठाई घटनाओं को असामान्य रूप प्रदान करने में वे सिद्धहस्त कलाकार हैं। उनकी रचनाएँ करुण रस से ओत-प्रोत रहती हैं और कहानी के पात्रों की विविध मनोछटाओं का बारीकियों के साथ किया विश्लेषण उनकी अपनी विशेषता है। लेकिन उनकी प्राथमिक रचनाएँ जितनी उत्कृष्ट थीं उतनी बाद की नहीं रह पाईं।

रामनारायण पाठक की कहानियों में रोमान्स नहीं, वे पात्रों का कुशल मनोविश्लेषण भी प्रस्तुत नहीं कर सकते, परन्तु कलात्मक भाव-संयम तथा प्रसादपूर्ण शैली के कारण उन्होंने कहानी को नया साज-शृंगार दिया। झवेरचन्द मेघाणी ने अपनी स्वाभाविक वर्णन-क्षमता से अतीत की गौरवगाथा कहानी के रूप में प्रस्तुत की।

'सुन्दरम्' और उमाशंकर-जैसे कवियों से भी कहानी लिखने का मोह संवरण न हो सका। उन्होंने ग्रामीण पार्श्वभूमि पर ही कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु उसका समर्थन करना वे उचित नहीं मानते। उमाशंकर ने दारिद्रय तथा अज्ञान के कारण दयनीय हो रहे ग्रामीण जीवन का चित्रण उपस्थित किया। परन्तु साथ ही उसके उजले पहलू का चित्रण करना भी उचित समझा। 'सुन्दरम्' ने इस जीवन को कठोर वास्तविकता के ही दर्शन कराए और सेक्स की भी चर्चा की, परन्तु उनकी भाषा ने मर्यादा के घूँघट को हटाना कभी भी उचित नहीं माना। उपन्यासों की तरह अपनी कहानियों में भी पन्नालाल पटेल और मडिया ने ग्रामीण जीवन को प्रत्यक्ष खड़ा किया है। इसका मतलब यह नहीं कि वे नागर जीवन से अछूते रहे। परन्तु देहातों का वर्णन करने में उनकी लेखनी अपना सानी नहीं रखती। जीवन की आदिम प्रवृत्तियों का वर्णन करने में मडिया बहुत कुशल हैं।

सौ वर्षों से गुजराती में नाटक लिखे जा रहे हैं। वैसे तो सामान्य जनता भवई-जैसे लोकमंचों से अपना मनोरंजन करती रही है; लेकिन बम्बई, अहमदाबाद और सूरत-जैसे बड़े नगरों में अंग्रेज़ी नाटक कम्पनियों के अनुकरण पर गुजराती रंगमंच की स्थापना के प्रयत्न होने लगे। इसमें पारसियों ने भी प्रचुर योगदान किया और कई पेशेवर पारसी नाटक कम्पनियाँ खुल गईं। गुजरातियों में श्री रणछोड़दास भाई उदयराम ने गुजराती रंगमंच की स्थापना का आन्दोलन किया और १८६६ में उनके 'दुःख-दर्शक' नाटक का बम्बई में प्रदर्शन हुआ, जो बहुत सराहा गया। फिर तो दयाभाई घालशा, मुलजी वाघजी और आशाराम आदि अनेक नाटककार इस मैदान में आये। जयशंकर (सुन्दरी)-जैसे अभिनेता और मूलशंकर मुलानी, नृसिंह विभाकर, मणिलाल पागल, प्रभालाल द्विवेदी, प्रागजी डोसा आदि प्रौढ़ नाटककार इसी दौर की उपज हैं।

नर्मद, दलपतराम, नवलराम आदि अन्य लेखकों ने भी रंगमंच के लिए नाटक लिखे। दलपतराम ने नाटक के रूप में केवल कहानियों का रूपान्तर किया। मणिलाल द्विवेदी की 'कान्ता' भी इसी कोटि की रचना है। रमणभाई नीलकण्ठ का 'राईनो पर्वत' उत्कृष्ट साहित्यिक नाटक माना जाता है। लेकिन रंगमंच का ख़याल न रहने के कारण इनका खेला जाना असम्भव था।

आगे चलकर एकांकियों में लोग अधिकाधिक रुचि लेने लगे और राज्याश्रय के कारण उनका विकास भी होता जा रहा है। इंडियन नेशनल थियेटर, रंगभवन, नाट्यालय कला-केन्द्र-जैसी संस्थाएँ नित्य नए एकांकी प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील रही हैं, और इस माँग की पूर्ति करने में प्रबोध जोशी, करसनदास माणेक, प्रागजी डोसा, पुष्कर चन्दावरकर, दुर्गेश शुक्ल, शिवकुमार जोशी, चुनीलाल मडिया आदि कई लेखक लगे हुए हैं।

आत्मकथा और जीवनी के क्षेत्र में 'मारी हकीकत' नामक नर्मद की जीवनी गुजराती की प्रथम आत्मकथा है। स्पष्टवादिता में बेजोड़ होते हुए भी कला की दृष्टि से उसका विशेष मूल्य नहीं है। गांधीजी की आत्मकथा का विश्व-साहित्य में गौरव का स्थान है। विश्व की अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद हुए हैं। काका कालेलकर ने भी अपनी बचपन की स्मृतियों को 'स्मरण-यात्रा' के रूप में लिखा है। मुन्शी की आत्मकथा उनके जीवन-जैसी ही सरस है। रमणलाल देसाई, धनसुखलाल मेहता, धूमकेतु, शारदाबेन मेहता तथा अन्य अनेक लेखकों ने अपनी जीवनियाँ लिखी हैं। नानाभाई भट्ट, प्रभुदास गांधी तथा इन्दुलाल याज्ञिक की आत्मकथाएँ आधुनिक युग की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं।

गुजराती भाषा में जीवन-चरित्रों का दर्जा सामान्य रहा है। गोवर्धनराम-रचित नवलराम की जीवनी इसी प्रकार की प्रथम रचना है। गांधीजी के जीवन पर अनेक लोगों ने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। विश्वनाथ भट्ट तथा कान्तिलाल जोशी ने क्रमशः नर्मद और नवलराम की जीवनियाँ लिखीं। कथा के माध्यम से झवेरचन्द मेघाणी ने रविशंकर महाराज का चरित्र चित्रण किया। नरहरी परीख का 'सरदार वल्लभ भाई', श्री कान्तिलाल शाह का 'ठक्कर बापा', बाबुलभाई मेहता का 'रविशंकर महाराज' और विनायक मेहता का 'नंदशंकर' जीवन-चरित्र रोचक और प्रामाणिक हैं।

गुजराती लेखकों में डायरी-लेखन का साहित्यिक प्रकार लोकप्रिय नहीं हो सका। नरसिंहराव ने महत्त्वपूर्ण तथा सामान्य सारी बातों का उल्लेख अपनी डायरी में किया है। गोवर्धनराम ने अपनी डायरी में अपने आदर्श विचारों को प्रस्फुटित किया है। अब तक लिखी हुई डायरियों में महादेवभाई की डायरी ही सर्वोत्तम है। यह पाँच भागों में लिखी गई है और गांधीजी तथा सरदार पटेल के जीवन का निकट वर्णन प्रस्तुत करती है। स्वयं महादेव भाई के व्यक्तित्व पर भी यह काफ़ी प्रकाश डालती है।

गुजराती में उच्चकोटि के परिहास का लगभग अभाव ही नज़र आता है। हलके ढंग से लिखने का प्रयत्न नवलराम ने किया था, परन्तु हास्य की पहली पुस्तक रमणभाई नीलकण्ठ की 'भद्रमभद्र' है। कहानी के रूप में लिखी जाने पर भी उसकी कथावस्तु शिथिल है। हँसोड़ दार्शनिक के रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी 'स्वैरविहार' नामक रचना के द्वारा समाज की मूर्खता, अन्ध श्रद्धा, अज्ञान तथा राजनीतिक दुर्बलताओं की खिल्ली उड़ाई है। तो भी वे सच्चे विनोद-सम्राट् हैं। ज्योतीन्द्र दवे की पैनी दृष्टि से किसी का बचना सम्भव नहीं और वे जो भी कुछ लिखते हैं हास्य रस से ओतप्रोत होता है, यहाँ तक कि वे स्वयं अपनी ही हँसी उड़ाने से नहीं चूकते। उमाशंकर जोशी की 'गोष्ठी' में तथा काका साहब कालेलकर की कुछ रचनाओं में भी परिष्कृत हास्य के दर्शन होते हैं।

गुजराती सभा, भारतीय विद्याभवन तथा बड़ौदा विश्वविद्यालय का स्नातकोत्तर विभाग अनुसन्धान एवं अनुशीलन से सम्बन्धित साहित्य की रचना को प्रोत्साहन देने और प्रकाशित करने की दिशा में संलग्न हैं। वैयक्तिक रूप में केशव हर्षद ध्रुव, दुर्गाशंकर शास्त्री, केसवराम शास्त्री, पण्डित बेचरदास, मुनि जिनविजयजी तथा अन्य अनेक सज्जनों ने अनुसन्धान के लिए अपना जीवन समर्पण कर दिया है। सुन्दरम् की 'अर्वाचीन' कविता तथा रामनारायण पाठक का 'बृहत पिंगल' इसी प्रकार के अनुसन्धान हैं।

आलोचना के क्षेत्र में बलवन्त ठाकोर, रामनारायण पाठक, विश्वनाथ भट्ट, विजयराय वैद्य, विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, अनन्तराय रावल, उमाशंकर, मनसुखलाल झवेरी तथा अन्य विद्वानों ने प्रशंसनीय कार्य किया है। आनंदशंकर ध्रुव, पण्डित सुखलाल और किशोरीलाल मशुवालाजी ने दर्शन तथा धर्म पर लिखा है। भीमराव, दुर्गाशंकर शास्त्री, मुनि जिनविजयजी और हरिप्रसाद शास्त्री ने इतिहास के

पृष्ठों पर आलोक डालने का प्रयास किया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में नरसिंहराव केशवराय, केशवलाल एन० दवे, भोगीलाल सन्देशरा, बेचरदास पण्डित, के० बी० व्यास, प्रबोध पण्डित और हरिवल्लभ मोधाणी ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

बाल-साहित्य के क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं हो पाया। केवल गीजुभाई बदेखा, नानाभाई भट्ट और कपिला ठाकोर आदि ने कुछ अच्छा कार्य किया है।

हंसा मेहता के शेक्सपियर और मोलियर के नाटकों के अतिरिक्त अनुवाद-कार्य भी विशेष सराहनीय नहीं हुआ। बंगला, मराठी और हिन्दी गल्प साहित्य का ही अनुवाद हुआ है। टालस्टाय की रचनाओं का भाषान्तर काफ़ी मात्रा में हो चुका है। हाल ही में 'वार एण्ड पीस' का अनुवाद जयन्ती दलाल ने किया है। गुलाबदास ब्रोकर ने 'इब्सन के घोस' का सफल भाषान्तर किया, परन्तु विश्व की सर्वोत्तम साहित्यिक रचनाएँ अभी तक अछूती पड़ी हैं।

इस प्रकार आधुनिक गुजराती साहित्य विविधता से फूला-फला है, लेकिन मानव-जीवन के समस्त परिपार्श्वों का प्रतिबिम्बन अभी उसमें नहीं हो पाया है। जीवन को पूर्ण करने के प्रयत्नों की ही भाँति साहित्य को पूर्णता देने के सतत प्रयत्न किये जा रहे हैं।
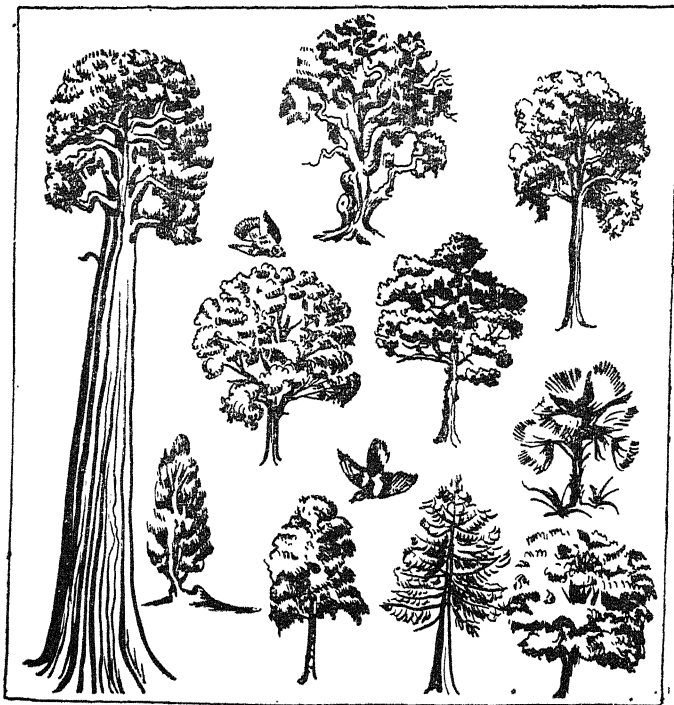
प्रफुल्लदत्त गोस्वामी

असामी में स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास

श्री प्रफुल्लदत्त गोस्वामी का जन्म गुवाहाटी में सन् १९२१ में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गुवाहाटी में ही हुई। इंग्लैण्ड और पश्चिमी यूरोप के कई देशों का भ्रमण कर चुके हैं। गुवाहाटी विश्वविद्यालय ने इन्हें इनके अंग्रेज़ी शोध-प्रबन्ध 'बलाड्स् एण्ड टेल्स ऑफ़ असाम' पर डाक्टरेट से विभूषित किया। असामी में इन्होंने एक उपन्यास 'केचा पातर कपनी' लिखा और 'निते नव रूप तार' नामक कहानी-संग्रह भी प्रकाशित किया। दो-एक समीक्षात्मक एवं यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखीं। आजकल गुवाहाटी विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष हैं और सांस्कृतिक सम्बन्धों की असमिया अकादमी के मंत्री एवं उसके मुख-पत्र 'असाम क्वार्टरली' के सम्पादक हैं।

मूल्यांकन की दृष्टि से आसामी की साक्षर जनता विचारणीय नहीं अपितु निष्कर्ष के लिए विगत १५ वर्षों में जो प्रकाशन हुआ है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि या तो पाठ्य-रुचि का विस्तार हुआ है या पुस्तकों पर अधिक खर्चने की सामर्थ्य प्राप्त हुई है। पिछले महायुद्ध से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक आसामी साहित्य में गम्भीर उथल-पुथल रही है। स्वतन्त्रता के साथ ही नवजागरण आया। इस जागरण के मूल में सम्भवत: पिछले महायुद्ध की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अशान्तियाँ भी हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रकाशन में साहित्य के अन्यान्य स्वरूपों में, जिसका कि इस काल में अत्यधिक विकास हुआ, वह उपन्यास और लघु कथा है, जिसका कि शुभारम्भ द्वितीय महायुद्ध-पूर्व हो चुका था। युद्धोत्तर-काल से उपन्यासों में शैली और वस्तुगत परिवर्तन देखने में आए। कथानकों में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सत्याभास और चरित्र-चित्रण जीवन के अधिक निकट था। बदलते हुए वातावरण के प्रति लेखक चैतन्य रहा है। अधिकांश उपन्यासों में सामाजिक और बौद्धिक दृष्टिकोण रहा है। युद्धोत्तर रचनाओं का आरम्भ मुहम्मद पियर के 'संग्राम' और 'हेरवा स्वारगा' से होता है, जो कि विचारणीय हैं। 'संग्राम' के कथानक में एक निर्धन युवा मुसलमान है, जो अकेला ही संघर्षों से जूझता है और अपनी आन्तरिक शक्तियों की महती अनुभूति में हार नहीं स्वीकार करता वरन् आगे बढ़ता है और अपने को मौलिक लेखक के रूप में पाता है। उसकी रचनाएँ, उच्च विचारों में संरक्षित हिन्दू लड़की की सहानुभूति के साथ सामान्य जनता के बीच में आती हैं। मध्यम श्रेणी के समाज के विचारों को क्षुब्ध करने वाली समस्याओं से रफ़ीक को सामना करना पड़ता है। ये समस्याएँ और उसकी परिस्थितियाँ उस कथानायक को विद्रोही सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत करती हैं। पियर की दूसरी रचना 'हेरवा स्वारगा' में इन असहानुभूतिपूर्ण सम्बन्धों की छोटी दुनिया के अनेक प्रकार के चित्र हैं, जिनमें एक निर्धन मुसलमान युवक छाया और अवलम्ब खोजने के लिए मारा-मारा फिरता है। छाया और

अवलम्ब की खोज इस युवा को एक हिन्दू गृह में प्राप्त होती है, किन्तु वह आसरा एक बार फिर बिछुड़ जाता है । अन्त में कथानायक उसे प्राप्त कर ही लेता है । सामाजिक वास्तविकताओं की दृष्टि से दूसरी रचना अधिक मूल्यवान है, परन्तु इन दोनों में ही पियर ने उन्हीं विषयों को उठाया है, जिनसे कि वे परिचित थे । पियर अपनी कृतियों में आदर्श के उलझावे में नहीं पड़े हैं, इसीलिए उनकी रचनाएँ अधिक सरल और सुगम हो सकी हैं ।

युद्धोत्तर उपन्यासों में पहला उपन्यास 'चकनैया' राधिकारमण गोस्वामी की एक उत्कृष्ट रचना है । इसमें कथानायक विवेक के सम्पर्कों के माध्यम से घमण्डी और असंस्कृत व्यक्तियों के दुखद कष्टपूर्ण सम्बन्धों के विस्तृत विवरणों को व्यक्त किया गया है । इसमें चरित्रों का विकास मिलता है, किन्तु चारित्रिक ढंग से कुल मिलाकर कुछ हल्कापन-सा प्रतीत होता है । विवेक के जीवन में जगत् और जीवन के बीच में संघर्ष का ठोस धरातल स्पष्ट न होने के कारण पाठक उन परिस्थितियों को खोजने में असमर्थ है, जिन्होंने कि विवेक का निर्माण किया है । लेखक को कुछ छोटे पात्रों के विश्वासपरक चित्रण में सफलता मिली है, किन्तु कथानायक की अस्पष्टता के कारण उपन्यास समुचित प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है । प्रस्तुत लेखक के 'केचा पतार कपानी' उपन्यास का सम्बन्ध चारित्रिकता से अधिक है । इस उपन्यास में वासनासिक्त विशेष वर्ग का, आदर्शों से दृप्त समूह के साथ मेल का प्रयास है, जो कि कुछ अंशों में बाद में लिखे हुए वीरेन भट्टाचार्य के 'अयरूंगाम' उपन्यास की तरह विशेष आंचलिक दृष्टिकोणों के समान है । इसमें युवा शिक्षित उत्पल व्यापार में अपना जीवन खोजने का प्रयास करता है । इसके अनन्तर वह व्यापार में पूर्ण रूप से सफल न होते हुए भी नीलिमा से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करता है । स्कूल-अध्यापिका मीनाती बाधक के रूप में इनके बीच में आने पर नीलिमा भाग जाती है । बोहागी के जीवन की कठिनाइयाँ और चित्रकार रवीन्द्रनाथ का सम्बन्ध उत्पल को अनिश्चितता प्रदान करते हैं । मीनाती अन्त में उत्पल के एक मित्र के पल्ले पड़ती है, जो कि उसे बिना किसी पूर्व योजना के ले जाता है । विश्लेषण की दृष्टि से इस उपन्यास में शैलीगत प्रयोग प्रतिलक्षित होते हैं ।

विवेक की तरह के ही दो पात्र, जोगेशदास के 'दवार एरु नय' और दीनानाथ शर्मा के 'संग्राम' में भी हैं । 'दवार एरु नय' किसी एक सीमा तक नैतिक और सामाजिक अशान्तियों को प्रस्तुत करता है, जो कि युद्ध और उसके परिणामस्वरूप स्कूल मास्टर बखर और चायबागानों के मज़दूरों के सामूहिक जीवन में आई । बखर एक आदर्शवादी और सामाजिक चेतनाशील स्कूल मास्टर है । वह चायबागान के एक मज़दूर भीम को समझाता है कि युद्ध एक अमानुषिक विभीषिका है । बखर का भतीजा गेरेला, ग्रीन के सम्बन्धों में आकर युद्ध-प्रसंगों को प्रस्तुत करता है । भीम पर निर्भर गोरी सैनिक छावनी में कार्य करने को उत्साहित होता है । बखर की पत्नी घर में यथेष्ट धन के न होने से दुखी रहती है । उसका एक भतीजा, जो राजनीतिक कार्यकर्ता है, पुलिस से बचकर भागता है, वह बखर का प्रशंसक है । बखर जीवन के सामान्य मूल्यों के चारों ओर बिखरा हुआ है । भीम दुखी है, क्योंकि गौरी को फौजियों ने मार डाला है, उसकी पत्नी अनूपा उसे छोड़ जाती है । इस उपन्यास के वातावरण के माध्यम से लेखक ने दिखाया है कि व्यक्ति अल्प धन में भी अपना सब-कुछ बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं । अन्त में उसकी पत्नी लौट आती है । कथानायक का मानसिक बोझ समाप्त हो जाता है । बखर सभी नैतिक मूल्यों और सामान्य जीवन की आपाधापी और युद्धकालीन अनैतिकतापूर्ण दृष्टिकोणों का प्रतीक है ।

दीनानाथ शर्मा का बुद्धिनाथ, जो कि 'संग्राम' का मुख्य पात्र है, सचेतन होते हुए भी आदर्श को नहीं अपना सका । छोटे नगरों का वातावरण, जिनमें कि वह घूमता है, सफल बन पड़ा है । यह उपन्यास एकान्वित प्रभाव के लिए वहाँ समाप्त हो जाना चाहिए जहाँ संघर्षरत बुनिाथ निराशा में नगर छोड़ता है । अभी तक की कृतियों में शर्मा का 'नादइ' उपन्यास उत्तम बन पड़ा है । इस उपन्यास के माध्यम से वस्तु-जगत् की विविधता को प्रस्तुत किया गया है । विशेषकर इसमें आंचलिकता का उभार स्पष्ट है । इसमें चेतना और कल्पनाशून्य अशिक्षित व्यक्ति की संवेदनाओं को, जो कि धरती को जोतना और अनाज पैदा

करना ही जानता है, मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

असम एक खेतिहर प्रान्त है और उसके नगर अर्ध-विकसित हैं, इसलिए यहाँ के लेखकों द्वारा नगर और ग्राम्य-जीवन की आपस में उलझी हुई कथाओं का अपनाना सहज ही है। यहाँ की लघुकथाएँ और उपन्यास असम के आन्तरिक जीवन को प्रस्तुत करते हैं, उसकी धरती के पुत्रों की स्वानुभूत भावनाओं को कहते हैं। इस विधा के साथ ही कुछ अभी के नवीन प्रकाशित उपन्यासों में सूक्ष्म आसामी जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है, जो कि मध्यवर्गीय किसानों और व्यक्तियों के जीवन पर आधारित है।

'नादइ' के गमन में लेखक ने किसान के दृष्टिकोण से सांसारिक चेतना को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। नादइ की मिट्टी के साथ उसकी मित्रता उसके भाग्य को बदलती है और उसके बच्चे बढ़ती परिस्थितियों के साथ पैदा होते हैं। युद्ध के समय अनेक व्यक्ति अनियमित ढंगों से पैसा कमाते हैं। कथानायक दुनिया को बदलता हुआ पाता है। उसके बच्चे बेतरतीब-से असंगत विचारों के पीछे भागते हैं। उसकी पतिपरायणा पत्नी तक उससे किनारा काटना चाहती है। परिणामस्वरूप वह सरलता से धन-प्राप्ति में सन्देह करता है, उसके लिए एक कार खरीदता हुआ लड़का प्रशंसनीय है या वह, जो कि देश-भक्ति के नारों को लगाता है और अधिक अधिकृत भूमि को जमींदारों से बेदखल करने की बात करता है। वह दोनों को ही अपने दृष्टि-कोणों से तोलता है। कुल मिलाकर नादइ सफल व्यक्ति के रूप में मर जाता है। वह असंगतियों के मध्य में अपने अस्तित्व को स्थिर रखता है। उसका गहरा किन्तु अनिर्वच-नीय संघर्ष लेखक के कठिन दुरूह सिद्धान्तों से बोझिल भाषा में कुछ सुझाव प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में चारित्रिक विशेषताओं का निर्वाह हुआ है। उपन्यास में आये हुए सभी पात्र अपनी निजी विशेषताओं को लिये हुए हैं। इसका नायक, जो कि मिट्टी से अपना अटूट सम्बन्ध बनाये रखता है, उसकी कुछ झलक पर्ल बक के 'गुडअर्थ' के सदृश है। इसमें 'हैमसन' के 'ग्रोथ ऑफ़ दि सायल' की प्रतिध्वनि भी सम्भवत: पाठक महसूस कर सकते हैं। इसकी सम्पूर्ण कथा विश्वासोत्पादकता और निजी चारित्रि-कता लिये हुए है।

शर्मा की अन्तिम कृति 'शान्ति' है। शर्मा ने मान-वीय सम्बन्धों में रुचि ली है। वह श्रोता को उलझाए हुए कथा को प्रस्तुत करते हैं। कहीं-कहीं उनका कथात्मक सम्बन्ध गतिमयता को दुरूहता देता है और कहीं-कहीं सस्ते फ़िल्मों की तरह भोंडी आनन्दवादिता की दाद के हामी हो जाते हैं।

'शान्ति' उपन्यास की कथा का मूल भाग रायबहादुर गोपाल बरुआ के जीवन को प्रस्तुत करता है, जो कि अपने समय के एक प्रसिद्ध वकील हैं। सभी सम्पन्नताओं के होते हुए भी रायबहादुर पुत्रहीन होने से दुखी हैं। उनके केवल लड़कियाँ-ही-लड़कियाँ हैं। इस समय उनके केवल शान्ति है, जो कि अभी बहुत छोटी है और कुन्तला, जो कि विधवा है, उनके साथ रहती है तथा घर को सँभालती है। इस घर में शान्ति ही सबकी प्रसन्नता का मूल है। वह स्कूल में पढ़ने जाती है। शारीरिक सौन्दर्य और जीवनगत वैधव्य के दु:ख को भोगती हुई कुन्तला, रज्जन नामक एक निर्धन छात्र की ओर आकर्षित होती है, जो शान्ति को पढ़ाने के लिए आता है; उसकी उपस्थिति में वह अपने जीवन का नया अर्थ खोजती है। एक दिन शान्ति के कॉलेज चले जाने के पश्चात् कुन्तला उस युवा प्रेमी रज्जन के साथ घर से भाग जाती है। रायबहादुर और उनकी जीवित पत्नी दु:ख में डूब जाते हैं। शान्ति कालेज से लौटते समय एक सुन्दर नौजवान अरूप से सम्पर्कित होती है। अरूप एक बुद्धि-प्रधान और प्रतिष्ठित पुराने समृद्ध परिवार का लड़का है, जो अपने प्रारम्भिक जीवन में उस परिवार की प्रतिष्ठा और सम्पन्नता को अपने असंगत आचरणों के द्वारा लांछित करता है। फलस्वरूप उसका पालन-पोषण अपने घर से दूर मामा के यहाँ पर होता है। वह अपने पिता और आजा के परम्परागत खून की उच्चता के कारण भयभीत रहता है कि कहीं वे आत्मघात न कर लें, इसलिए वह शान्ति से शादी करने में हिचकिचाता है, हालाँकि वह शान्ति को सच्चे हृदय से प्रेम करता है। वह शान्ति से शादी विदेश में शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त ही करता है। इनकी शादी रायबहादुर के कुन्तला के दुखद आघात को कम करती है। इस तरह कथा का अन्त सुखान्त है। उपन्यासकार ने रज्जन और अरूप के माध्यम से प्रस्तुत घटनाओं में शान्ति में

बचपन से मुग्धानायिका तक की भावनाओं को क्रमशः विकसित होते हुए दिखाया है। यथार्थ कटु अनुभवों ने रज्जन को कुछ कटुभाषी बना दिया है, परन्तु वह इसके साथ ही साहसी और उत्साही है। समय आने पर वह किसी प्रश्न और आशंका की प्रतीक्षा नहीं करता। अरूप को जिस पृष्ठभूमि पर उतारा गया है वह उपन्यास की उत्तम उपलब्धि है। अरूप का अपने पूर्वपरम्परा-प्रथित गृह में प्रवेश अध्ययन के उपरान्त उस समय होता है जबकि उसका चाचा अन्तिम साँसें ले रहा होता है और चाची एक निराश और भयावह काली छाया में बैठी होती है। उपन्यास का यह भाग चित्रात्मक प्रतीत होता है। मुख्य कथा के साथ आई हुई भीमगल की कथा समस्त उपन्यास में आरोपित-सी प्रतीत होती है। भीमगल रज्जन की मैस का नौकर है। इसी मैस में ईसाई व्यापारी सेठ के लड़के थामस को भी प्रस्तुत किया गया है। कथा-संघटन की दृष्टि से भीमगल और थामस सहायक हैं, इसलिए इनका विस्तृत जीवन प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं था।

ग्रामीण जीवन, विशेषकर संघर्षरत किसानों के सफल जीवन का चित्रण नवकान्ता बरुआ के 'कपिल प्रिया साधु', धनकान्ता गागोई के 'सानार नांगल' और हितेश डे के 'अजीर मनूह' उपन्यासों में हुआ है। उपन्यासकार धनकान्ता गोगाई, जो स्वयं एक कृषि-फार्म चलाते हैं, धरती में अटूट विश्वास रखते हैं। अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध लेखक हितेश डे आदर्शवादी धारा के समर्थन के हामी हैं, जिसका कि युग आज बीता-सा प्रतीत होता है। तिलकदास का ग्रामगीतकारों में उच्च स्थान होने के साथ ही उनकी अभी हाल की प्रकाशित रचना 'मिलनोर द्वार राधा कारी' में गीतात्मकता के साथ रचनात्मक प्रयासों के गेय माध्यम में स्थानीय आसामी किसानों और बंगाली शरणार्थियों की समस्याओं को लिया गया है। इसमें स्थानीय बोली के सरस और मधुर प्रयोगों को अपनाया गया है। इस तरह अनेक जीवन्त चरित्र प्रस्तुत हुए हैं। यथार्थ प्रस्तुतीकरण में पपिया-तारा का 'सरेनगमार गबरु', जो गारो की आदिवासी जातियों पर आधारित है, क्षेत्रीयताओं के लिए विशेष उल्लेखनीय और दृष्टव्य है।

नवोदित लेखकों में पद्मा बरकटकी ने बहुत ही शीघ्र लोकप्रियता अपने दो सामाजिक उपन्यास 'मनार दपान' और 'खबर विचारी' के प्रकाशन के पश्चात् प्राप्त की। इन दोनों उपन्यासों के मुख्य पात्रों के कार्यों का सम्बन्ध पत्रकारिता से है। असम की राजधानी शिलांग-स्थित उच्च वर्ग की निरर्थक रूढ़ियों को मार्मिक और संवेदनात्मक रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है और दूसरी पुस्तक में चायबागानों के दृश्य उभरे हैं और इनके तीसरे उपन्यास में चारित्रिक विशेषताओं का निखार है, जिसमें बताया गया है कि मध्यवर्ती व्यक्तियों के द्वारा अपना आत्मसम्मान समर्थ सम्पन्न व्यक्तियों को किस तरह बेचा जाता है। किस तरह उनकी मजबूरियों को सिक्कों से तौला जाता है। इस उपन्यास में समाज का चित्रण है। आंचलिक अध्ययन वस्तुतः उस यथार्थ वातावरण को प्रस्तुत करता है, जिसके प्रति सामान्य की रुचि सहज ही आर्कषित होती है। रसना बरुआ का 'सेउजी पतार कहिनी' चायबागानों के ऊपर लिखा गया पहला उपन्यास है, जो पूरे चित्रों को सामने लाता है। इस जीवन से सामान्य जनता किंचित् भी परिचित नहीं है। इस उपन्यास का आरम्भ एक निर्धन, किन्तु सुन्दर लड़के नरेश से होता है, जो दुखी है। अर्थ-उपार्जन के लिए घर छोड़कर चायबागान में श्रम करता है। इसी बीच चायबागान का मैनेजर उसकी नियुक्ति अपनी प्रिय पत्नी की सेवा-टहल में करता है। इस परिवेश में, सुन्दर, सुव्यवस्थित विस्तृत बागों की फैली हरियाली में, अपने अर्ध-आदिवासी मज़दूरों के साथ आये-दिन के नृत्य, संगीत और मदिरा के मदिर विकारों के साथ कथानायक में यौवनगत विकारों का भड़काव आता है। इसी दौरान में वह सोनिया से मित्रता करता है, जो निरक्षर परम्परा में पली लड़की है, किन्तु अपनी सम-वयस्काओं से कहीं अधिक चतुर और बुद्धिमान है। वह मज़दूरों की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के प्रति दिलचस्पी रखती है। दुर्भाग्य से या सौभाग्य से नरेश को मैनेजर की वासनाओं से अतृप्त भोग-क्षुब्ध पत्नी भोग के प्रति प्रवृत्त करना चाहती है। नरेश इस स्थिति में सब-कुछ छोड़कर भाग जाता है।

रसना बरुआ वस्तुतः एक छद्म नाम है। लेखक ने कथा को असंयमात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसके चित्रों से पुनरावर्तन का सन्देह उत्पन्न होता है, इसके साथ ही

भाषा पात्रों के अनुकूल नहीं है, विशेषकर सोनिया के सन्दर्भ में। आगे चलकर रसना बरुआ ने वीना बरुआ के नाम से 'जिबनार बतात' उपन्यास में यहाँ के ग्रामीण जीवन को प्रशंसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है, जो कि आसामी उपन्यासों के इतिहास में प्रथम सीमा-चिह्न का काम करता है। इस उपन्यास में नरेश्वर की ग्रामीण पृष्ठभूमि में प्रौढ़तर अभिव्यक्ति हुई है।

विरेन भट्टाचार्य ने भी अपनी प्रतिभा का विकास एक उपन्यासकार के रूप में किया। उन्होंने 'राजपथ रिंगइया' में अत्याधुनिक विचारों और क्रान्तिकारी जीवन के कार्य-क्रमों के रूप में दिलचस्प प्रयोग किये हैं। इसके उपरान्त 'आई' और 'ईयारूइंगम' उपन्यास पाठकों के मध्य आये, जो पाठकों को नये विचारों को देने में पूर्णतः समर्थ हैं।

'आई' की रूपरेखा साधारण है। कथा विधवा निर्धन ब्राह्मणी की दो समस्याओं पर आधारित है। उसे प्रथमतः अपने छोटे लड़के को एक अच्छे लड़के की तरह पाल-पोस-कर बड़ा करना है और दूसरे यह कि वह चावल की अधिक-तम फसल अपनी अल्पतम भूमि से उपजाना चाहती है। गाँव में होनेवाले अधिकतम सामाजिक परिवर्तन नई उमर में पनपते हुए लड़के के मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। अपने समस्त जीवन की कटुताओं और दुःखों के बीच विधवा ब्राह्मणी दृढ़ रहती है और इस तरह गाँव की नैतिक प्रेरणा का मूल बनती है। मानवीय गुणों के सम्बन्धों के द्वारा व्यक्ति को व्यक्ति से गम्भीर सहानुभूति होती है, जो कि उस निर्धन विधवा के परिवार के अस्तित्व में परिलक्षित होती है। इस उपन्यास में ग्रामीणों में बदलती हुई आर्थिक स्थितियों के प्रति चेतना और नैतिक मूल्यों का आगम स्पष्ट प्रतीत होता है। वीरेन भट्टाचार्य का एक उल्लेख-नीय पात्र, जो आदर्शवादी तो नहीं, फिर भी उन सत्यों और तथ्यों को प्रस्तुत करता है, जो कि अपनी अति सीमा पर हैं। इनकी रचनाओं में बिना किसी मोड़ आदि के नैतिक मूल्य सामने आते हैं। 'आई' उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद भी हुआ है।

'ईयारूइंगम' थांगुल नागा जीवन पर आधारित उप-न्यास है, जो सीमाप्रान्त के संक्रान्त क्षेत्र से सम्बन्धित है। उपन्यास जापानियों के नागा पहाड़ियों से पीछे हटने और उनके तात्कालिक पक्ष-विपक्ष के सामाजिक, राजनीतिक दृष्टिकोणों के साथ प्रारम्भ होता है। यह युद्धग्रस्त भूमि की दशा को व्यक्त करता है। नागाओं को अपनी रक्षा, अपनी पुनर्वास की समस्या तथा अपने भविष्य आदि का भारत के साथ रहते हुए भी स्वयं ही विचार करना पड़ता है, तथा अलग राज्य के रहने पर भी उनकी अपनी ही ज़िम्मेदारी होती है। इसमें सुधारवादी और रूढ़िवादी दोनों ही दृष्टिकोण आये हैं। वृद्ध मुखिया नागा नजेक सुधारवादी है और भिडेंशेली इसके प्रतिद्वन्द्वी फिजो का प्रतिरूप है। बुद्धिसंगत प्रगतिवादी दृष्टिकोण रिश्रृंग द्वारा प्रस्तुत किया गया है। भारतीय सम्बन्ध और शिक्षा का समर्थन करने वाले सरेनगला नर्स और आसामी शिक्षक जीवन हैं, जिन्होंने नागा जीवन में प्रवेश किया है। इस उपन्यास में रिश्रृंग और नजेक की पुत्री खुंतिगला के प्रेम का वर्णन भी है। ईसाई और नागा-मूल्यों की अपेक्षा मानव-मूल्यों की स्थापना की गई है। थांगुल क्षेत्र की भौगोलिकता कथा के अधिकतर पात्रों के कार्य-व्यापारों से गुँथी हुई है, जो कथानक को बल प्रदान करती है। रिश्रृंग उसमें मुख्य पात्र है, जो कि अपने जीवन के दाँव पर भिडेंशेली के गुप्त कार्यों का विरोध करता है। अपने निजी दृष्टिकोण के साथ स्थान-स्थान पर विरोधी विवादों में पड़ता है। रिश्रृंग के संघर्षरत जीवन में नजेक कन्या के अतिरिक्त इसका साथ बचपन की विजातीय दोस्त सरेनगला पूर्ण विश्वास के साथ देती है। अपने पूर्व जीवन में सरेनगला एक जापानी सिपाही की रखैल रह चुकी है; बाद में नजेक कन्या खुंतिगला से प्रभावित होकर रिश्रृंग के आश्रय में आती है और भिडेंशेली द्वारा रिश्रृंग के मारे जाने के बाद उसके छोटे लड़के का पालन करती है। इस मिले-जुले कथा-आधार को देखते हुए समस्याओं का जिस तरह से गुम्फन है उसमें स्वतन्त्र रूप से नागा सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं हो पाया है और न लेखक ही उनके प्रति न्याय करने में समर्थ हुआ है। फिर भी विस्तृत भूमि और समस्याओं को फलक पर अधिकाधिक उतारने की दृष्टि से इसकी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि इसको अकादेमी पुरस्कार मिला है।

अब्दुल मलिक लघु कथाओं में लोकप्रियता-प्राप्त

लेखक हैं। इन्होंने अभी तक कोई आधा दर्जन उपन्यास लिखे हैं। इन पर भावुकता के साथ अनावश्यक शब्द-प्रयोगों का आरोप किया जाता है। इनके समस्त उपन्यासों में उच्च स्थान सम्भवत: 'सुरुज मुखीर स्वापना' को है, जिसमें गाँव के मुसलमान परिवार के जीवन को प्रस्तुत किया गया है। इसका कथानायक कम काम करने का इच्छुक गुलास युवक है, जो कि पन्द्रह-वर्षीया बेलेतारा से शादी करना चाहता है, परन्तु उसे उसकी तीस-वर्षीया माँ धोखा देती है और निकाह के दिन अपने बुरके के भीतर स्वयं उस नवयुवक से शादी कर लेती है। बाद में वह उसे छोड़ देती है। उपन्यास के अन्त में कथानायक शान्त दुखी बेलेतारा को प्राप्त करने में सफल दिखाया गया है। इसमें दोनों ओर के प्रयास एक रोमानी विधा की तरह प्रस्तुत हुए हैं, जिससे उपन्यास सुन्दर और प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।

प्रेमनारायण का प्रशंसात्मक कार्य आसामी उपन्यासों के क्षेत्र में हुआ है। सदा मारल का 'सोनपुर' आज के आसामी साहित्य में बहुचर्चित माना जाता है। 'सोनपुर' आसामी उपन्यास में पहला उपन्यास है, जिसमें गन्दी बस्तियों के यथार्थ जीवन को यथावत लिखा गया है। इन गन्दी बस्तियों की प्रस्तुत जीवित समस्याओं पर तथा बड़े शहरों के संवेदना-शून्य वातावरण को थोथे आदर्शों के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह पशुपति भारद्वाज का अभी हाल का प्रकाशित उपन्यास 'उरान्ता मेधर छा' मारल से कहीं अधिक बुद्धिसंगतता लिये हुए है। इस उपन्यास में पथहीन नवयुवक मजदूरों के जीवन को, रेलवे स्टेशन के कुपन्थी दलालों के कुकृत्यों को तथा धनी व्यापारियों के असामाजिक जीवन को प्रस्तुत करता है। दृढ़ इच्छा-शक्ति रखने वाला कथानायक परमा रेलवे स्टेशन की आये-दिन की परेशानियों से तंग आकर तथा पैसेवालों की हीन मनोवृत्तियों से त्रस्त होकर स्टेशन छोड़ता है। एक वेश्या, जिससे कि परमा प्रेम करता है, पुन: जीवन प्रारम्भ करने का प्रयास करती है; परन्तु जिसके यहाँ वह कार्य करता है उसका लड़का उसकी पत्नी से प्रेम-सम्बन्ध रखता है। परमा उसकी हत्या कर देता है। इस उपन्यास में दूकानदार की पत्नी का, जो गृहहीन परमा की मित्र होती है, आसामी उपन्यास में सफल चित्रण है।

जे० एल० के० जलाली

स्वातन्त्र्योत्तर काल का कश्मीरी साहित्य

श्री जे० एल० के० जलाली का जन्म ३ नवम्बर १८९५ को श्रीनगर में हुआ। ये संस्कृत के उद्भट विद्वान और एम० ए० पास करने वाले पहले कश्मीरी हैं। खादी को अपनाने वाले भी ये पहले कश्मीरी हैं। १९५० में ये असिस्टेंट गवर्नर के पद से रिटायर हुए। अखिल कश्मीरी पंडित सभा के अध्यक्ष भी रहे। हिन्दी और अंग्रेजी में नियमित रूप से लिखते रहते हैं। कश्मीरी, हिन्दी और अंग्रेजी में कई पुस्तकें लिखकर प्रकाशित करा चुके हैं।

भारत की स्वतन्त्रता कश्मीर के लिए कबाइलियों का आक्रमण लेकर आई। विभाजन की छाया में इस प्रदेश का बटवारा (?) कश्मीरियों को एक अन्धकारमय भविष्य का सूचक प्रतीत होने लगा। पर भारत सरकार की अमित आर्थिक सहायता तथा भारतवासियों की सहानुभूति ने उनको ढाढस बँधाया और पाकिस्तान के संहारक आक्रमण की याद भुलाकर जम्मू-कश्मीर के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण और साहित्यिक तथा कलात्मक जीवन का उद्धार करने में संलग्न कर दिया। प्रादेशिक विश्वविद्यालय की स्थापना के अनन्तर कश्मीर की सरकार ने एक समिति कश्मीरी-लिपि के लिए नियत कर दी। यद्यपि प्राचीन काल से शारदा लिपि का प्रयोग किया जा रहा था और मुसलमान फ़ारसी अक्षरों में कश्मीरी लिखा करते थे, तो भी डोगरा राज के बदलते ही लोकराज के प्रथम मन्त्रिमंडल ने कश्मीरी-लिपि-समिति बना दी।

इस समिति के सुझावानुसार कश्मीरी भाषा के लिए 'नसख' लिपि निश्चित होकर प्राइमरी श्रेणी के पाठकों की पुस्तकें लिखी गईं। पर इन पुस्तकों का प्रकाशन होते ही शिक्षकों तथा अध्यापकों ने इस नसख लिपि के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया। जब १९५३ में शासन-परिवर्तन हुआ तो नई सरकार ने कश्मीरी तथा डोगरी भाषाओं के लिए दो समितियाँ नियुक्त कीं। कश्मीरी समिति का प्रस्तुत लेखक भी एक सदस्य था। मैंने फारसी तथा देवनागरी दोनों लिपियों को कश्मीरी भाषा के लिए प्रयोग किये जाने का सुझाव दिया और अपनी रिपोर्ट में ऐसा करने के लिए विशेष कारण भी बतलाए। जम्मू-कश्मीर सरकार ने डोगरी भाषा को दोनों लिपियों में लिखे जाने की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी उसे केवल फारसी लिपि में लिखे जाने का अनुमोदन किया, जिसके फलस्वरूप कश्मीरी-साहित्य के पनपने में 'एकमुखी' धारा चल पड़ी और मेरे-जैसे लेखकों को इस निर्णय से लिखने-पढ़ने में संकट का अनुभव करना पड़ा।

'नसख' लिपि के हटाये जाने तथा 'नस्तालीक' लिपि के प्रयोग के कारण साहित्यिक दौड़-धूप आरम्भ हुई। इधर सरकार ने प्राइमरी श्रेणियों में कश्मीरी को पढ़ाना निश्चित

किया, उधर भारतीय साहित्य अकादमी की स्थापना से प्रान्तीय भाषाओं के लेखकों का साहस बढ़ाने के लिए ५०००) रुपये के पारितोषिक देने का सिलसिला शुरू हो गया। फलतः कश्मीरी लेखकों ने भी साहित्यिक मैदान में उतरने का निश्चय किया। सर्वप्रथम मेरे गुरु 'मास्टरजी' श्री पण्डित ज़िन्दा कौल को उनके 'स्मरण' नामक प्रसिद्ध काव्य के लिए पाँच हज़ार का पहला पुरस्कार साहित्य-अकादमी ने भेंट किया। दूसरी बार प्रथम कहानीकार महीउद्दीन अख़तर की 'सतसंगर' नामक सात कश्मीरी कहानियों के लिए यही पारितोषिक दिया गया। तत्पश्चात तीसरी बार प्रोफ़ेसर रहमान राही को उनके काव्य 'नवरोज़ सबा' पर इसी प्रकार सम्मानित किया गया।

इधर जम्मू एण्ड कश्मीर अकेडमी ऑफ़ कल्चर, आर्ट्स एण्ड लेंग्वेजेज़ ने कश्मीरी साहित्य को बढ़ावा देने के लिए प्राचीन कवियों तथा लेखकों के ग्रंथोंऔर रचनाओं को प्रकाशित किया। इसके साथ-साथ साहित्य अकादमी के कार्यक्रमानुसार कई-एक विदेशी तथा देशी ग्रंथों का कश्मीरी में अनुवाद कराकर कश्मीरी साहित्य के विकास में योग दिया।

प्राचीन कश्मीरी में जो भी लेख लिखे गए हैं वे प्रायः पद्य में हुआ करते थे। १२वीं शताब्दी में श्री शितिकण्ठ की लिखी हुई शैव दर्शन की पुस्तक 'महानयप्रकाश' कश्मीरी भाषा में पद्य में संस्कृत अनुवाद सहित सबसे पूर्व अपितु सबसे पहली कश्मीरी रचना है। दो सौ वर्ष के उपरान्त योगेश्वरी लल्ला ने यही दर्शन तत्कालीन कश्मीरी भाषा में अपने रहस्यपूर्ण वाक्यों द्वारा प्रकाशित किया जो उनके निर्माण के अनन्तर भास्करानन्द ने शारदा लिपि में लिखकर आगामी विद्वानों की खोज के लिए संकलित किया। १५वीं शताब्दी में एक और कश्मीरी पुस्तक 'बानासुर कथा' इसी लिपि में (पद्य में) रची हुई 'भण्डारकर-रिसर्च इन्स्टिट्यूट' पूना में उपलब्ध है। अभी कश्मीर रिसर्च विभाग ने इसका प्रकाशन नहीं किया है। यदि उसको प्रकाशित किया जाता तो हमारे पास तीन विभिन्न कालों की कश्मीरी भाषा उपलब्ध होती और हम देख लेते कि कश्मीरी भाषा का रूप समय-समय पर किस प्रकार परिवर्तित हुआ।

१४वीं शताब्दी के मध्य में इस्लामी शासन कश्मीर में स्थापित होकर लगभग पाँच सौ वर्ष रहा। यद्यपि संस्कृत भाषा इस्लामी काल के आरम्भ में बराबर सौ वर्ष सरकारी भाषा बनी रही, पर विदेशी मुसलमानों की हठधर्मी के कारण फारसी भाषा ने संस्कृत को पदच्युत करके ही दम लिया। इस्लामी साम्राज्य में फारसी का चलन लोकमान्य होने के क़ारण मुसलमान लेखकों ने जो कुछ लिखा वह फारसी भाषा में था। मुसलमान सूफियों तथा कवियों ने जो कुछ लिखा वह कश्मीरी भाषा में होते हुए भी फारसी लिपि में अंकित था। गद्य का चलन था ही नहीं। मुसलमानों के अनन्तर डोगरों के सौ वर्ष में भी जिस किसी मुसलमान अथवा हिन्दू ने जो कुछ भी लिखा वह पद्य में ही था, अर्थात् स्वतन्त्रता से पूर्व कश्मीरी साहित्य पद्य-रचनाओं से भरा हुआ था। कश्मीरी में लिखने का प्रश्न उठता ही न था, क्योंकि अँग्रेज़ी साम्राज्य में जब संस्कृत, हिन्दी, उर्दू या फ़ारसी की मान्यता थी ही नहीं तो कश्मीरी की क्या होती!

१९४७ से पूर्व भी प्रायः कश्मीरी कविताएँ लिखी जाती थीं और 'महजूर' नामक कवि ने वायुमण्डल में जो गुनगुनाना आरम्भ किया, वह भी फारसी भाषा के छन्दों में होते हुए कश्मीरी वेश में पद्य द्वारा प्रकट किया जाता था। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् कश्मीरी भाषा तथा साहित्य को बढ़ावा देना निश्चित किया गया, जिसके फलस्वरूप 'कश्मीरी लिपि समिति' ने कश्मीरी में शिक्षा प्रदान करने के लिए गद्य में पुस्तकों का निर्माण करने का प्रबन्ध किया। यह समझिए कि प्रथम प्रयास था गद्य को चालू करने का। इस समिति के प्रधान की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए पुस्तक-लेखक ने दो-चार नाटक तथा निबन्ध आदि कश्मीरी परीक्षाओं के लिए रच भी लिए, पर राजनीतिक परिवर्तन के कारण इनका प्रकाशन खटाई में पड़ गया।

१९५३ के उपरान्त नये-नये कवियों तथा लेखकों का प्रादुर्भाव होने लगा। महजूर ने जो कुछ लिखा उसमें राजनीतिक कविताएँ भी थीं जो स्वतन्त्रता के आते ही लोकप्रिय होने लगीं। पर अब समय का परिवर्तन हो चुका था। दिन-प्रतिदिन नित-नये भाव, नई आशाएँ जनता के विशेषतः साहित्य-प्रेमियों के हृदय में उत्पन्न होने लगीं। कविता

भी नये रंग व रूप में प्रकट होना चाहती थी। गद्य का अभाव देखकर नवजात साहित्यकारों ने आकाशवाणी दिल्ली व कश्मीर की सहायता लेकर तथा संकोच छोड़कर कुछ-न-कुछ संकलन करने का प्रयास किया। जब १९५५ में रूस से बुल्गानिन और ख्रुश्चोव कश्मीर पधारे तो कवि श्री दीनानाथ 'नादिम' के रूपक (Opera) 'बोम्बुर यम्बर ज़ल' के प्रदर्शन से उनको आह्लादित किया गया। 'नादिम' वर्तमान समय का साम्यवादी कवि है। इस रूपक से एक नई प्रवृत्ति कश्मीरी साहित्य में प्रविष्ट हुई। इसके अनन्तर उसका दूसरा रूपक 'हीमाल नागराय' प्रकाशित हुआ। अमीन 'कामिल' ने, जो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में पग रख रहा है, 'राव रूपी' नामक रूपक लिखकर कश्मीरी साहित्य की इस धारा का समर्थन किया है।

'गुलरेज़' और 'कौंगपोश' (केसर का फूल) नामक दो पत्रिकाओं का प्रादुर्भाव हुआ, लेकिन इनका क्षेत्र बहुत ही सीमित रहा है। ये कोई ऐसे कश्मीरी पत्र नहीं जिनको दैनिक या साप्ताहिक का दरजा दिया जा सके और साधारण कश्मीरी के लिए दूसरे पत्रों की भाँति उसकी समाचार आदि आवश्यकताओं को पूरा करें। जो कुछ सेवा ये पत्र कर पाए वह केवल एक छोटी टोली के लिए होते हुए भी शोभनीय कहलाएगी, जहाँ तक कि साहित्य की प्रवृत्ति का सम्बन्ध है।

कहानीकारों में अख़्तर महीउद्दीन ने सबसे पहले एक नये क्षेत्र में पाँव जमाने की कोशिश की। प्रथम प्रयास उसका सफल होकर रहा। साहित्य अकादमी के पाँच हजार के पारितोषिक ने अन्य साहित्यकारों को प्रेरित किया। अख़तर की 'सतसंगर' और 'सौंजल' नामक कहानियों ने कोई एक दर्जन लेखकों को इस क्षेत्र में आमन्त्रित किया।

अवतार कृष्ण की 'तोबरुक','बन्सी', निर्दोष की 'आदम छु इथय बदनाम', 'बाल मरायो' और सूफी गुलाम मुहम्मद की 'लूस्य मत्य तारख' इत्यादि इस क्षेत्र की प्रगति की सूचक हैं।

इसके अतिरिक्त उपन्यास, निबन्ध, यात्रा-वर्णन और नाटक विभिन्न प्रणालियों द्वारा कश्मीरी साहित्य के विस्तार तथा विकास की पुष्टि कर रहे हैं। उपन्यास में अख़तर महीउद्दीन का 'दोददग' और अमीन कामिल का 'गटि मंज गाश', यात्रा-विवरणों में अलीमुहम्मद लोन का 'अस्यति व्हि इंसान' और गुलाम हसन आरिफ़ का 'चीनुक सफर-नाम', नाटकों में अलीमुहम्मद लोन, नूर मुहम्मद रोशन और अमील कामिल का 'कुनी कथ', महीउद्दीन हाजनी का 'ग्रस्य सोंदुगर' और लेखक का प्रस्तुत ताज़ा नाटक 'हीमाल' प्रकाशित हुए हैं। पुष्कर भान का 'हीरो मचामा' भी अच्छा नाटक है।

यह बात रेखांकित करने योग्य है कि स्वतन्त्रता के आते ही लेखकों की दिन-प्रतिदिन गिनती बढ़ने लगी। पुराने लेखक भी अपनी विचारधारा को बन्धनमुक्त समझ-कर समाजवादी वायुमण्डल में फिराकर ऐसे दृश्य खींचने लगे जो जनता में हलचल पैदा करने में समर्थ हुए। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त होते ही कश्मीर में भी राजाशाही का अन्त हुआ। लोकराज आया, इसलिए महज़ूर 'नादिम', 'राही', अम्बारदार आदि की साम्यवादी पद्य-रचनाएँ यहाँ रूस की तरह कोई विशेष रंग न ला सकीं, क्योंकि भारतीयों की भाँति कश्मीरी भी कम्यूनिज़्म के विरोधी हैं। राजनीतिक परिस्थिति के बदल जाने से इनके और अन्य लेखकों के विचारों में परिवर्तन अनिवार्य था, विशेषतः जब लोकराज के स्थापित होते ही विधानसभा की स्थापना हुई और जनता के स्वप्न मूर्तिमान दीख पड़े। इसका प्रभाव लेखकों, कवियों तथा साधारण विचार वालों पर पड़ा और लेखक अब जागीरदार और कृषक के झगड़ों, अत्याचारों, मारकाट आदि को भुलाकर समाज, देश तथा साहित्यिक आवश्यकताओं की ओर दृष्टिपात करने लगे, जिसके फलस्वरूप कश्मीरी साहित्य की प्रगति भारतीय तथा विदेशी साहित्य का अनुसरण करने लगी और रूपक, लघुकथाएँ, उपन्यास, नाटक आदि शनैः-शनैः साहित्यिक रंगमंच पर आकर अपना-अपना खेल खेलने लगे।

जम्मू-कश्मीर अकादमी के प्रकाशन 'सोन अदब' पर दृष्टि डालने से ज्ञात हो रहा है कि जहाँ कश्मीरी कवि बे-रोकटोक साहित्य-क्षेत्र में 'लंगर लंगोटी कसकर' उतर रहे हैं वहाँ अन्य क्षेत्रों में बिना किसी हिचकिचाहट के अन्य साहित्यकार अग्रसर होने का सफल प्रयास कर रहे हैं। कविता में जहाँ मास्टर शंकर पण्डित तथा मास्टर ज़िन्दा कौल रहस्यवादी हैं और मिर्ज़ा आरिफ़ साम्यवादी होते

हुए भी इस आध्यात्मिक क्षेत्र में कभी-कभी अपने भावों के पंखों पर सूफियों की भाँति रमकर पृथ्वी पर लौट आता है, वहाँ रहमान 'राही' प्रगतिशील होकर दीनानाथ नादिम आदि संविचार वालों के साथ साम्यवाद और समाजवाद पर उड़ान करते हुए इनके भविष्य की ओर आँख उठाकर अपनी विचारधारा को वास्तविकता के यथार्थ रूप के भुलाने में असमर्थ पाता है। आजकल के कवि, जिनकी गणना दो-तीन दर्जन होगी, अब कश्मीरी कविता में संस्कृत तथा फारसी छन्दों के अतिरिक्त आधुनिक विचारधारानुसार मुक्त छन्द, गज़ल, रुबाई, चौपाई, सॉनेट तथा ब्लैंकवर्स का प्रयोग कर रहे हैं। मास्टर जिन्दा कौल की 'स्मरण', अमीन कामिल की 'मसमलर्', रहमान राही की 'नवरोज़-सबा', रसाजाविदानी, जो अपने-आपको 'हिन्दुस्तानी भाषा का प्रेमी' बतला रहा है, की 'नैरंग गज़ल', तथा नादिम और आरिफ़ की अनेक लोकप्रिय पद्य-रचनाएँ और अन्य छोटे-छोटे कवियों की कविताएँ हर प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रदर्शन कर रही हैं।

सारांश यह कि कश्मीरी भाषा में लिखने वाले सामाजिक वास्तविकता अर्थात् यथार्थवाद, प्रगतिवाद, रसात्मक काव्य, रहस्यवाद आदि धाराएँ अपने-अपने लेखों में प्रस्तुत कर रहे हैं। कहानीकार, उपन्यास-लेखक, नाटककार आदि कश्मीरी गद्य का विकास करने में संलग्न हैं। यदि यह कहा जाए कि कश्मीरी गद्य ने अपने लिए एक विशेष स्थान बना लिया है तो वह यथार्थ ही है। पर यह अभी निश्चित करना कठिन है कि जो रचनाएँ गद्य में उपलब्ध हैं, उनकी मौलिकता, भाषा, शैली, भाव-प्राकट्य आदि किस श्रेणी का है। इस वक्त प्रत्येक लेखक लेखनी उठाकर अपने भावों को गद्य अथवा पद्य में रचनात्मक रूप दे रहा है और कल्चरल अकादमी अपने प्रकाशनों में उनको प्रकाशित कर रही है। परन्तु अब समय आ गया है कि उच्च, नीच तथा सामान्य की परख की जाए।

डॉ० प्रभाकर माचवे

स्वातंत्र्योत्तर काल की हिन्दी साहित्य की कुछ प्रवृत्तियाँ और प्रगति
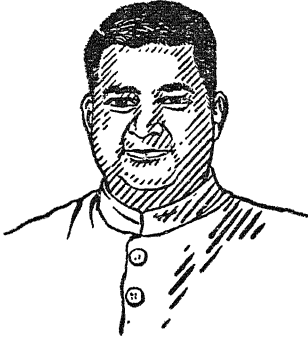
श्री प्रभाकर माचवे का जन्म ग्वालियर में २६ दिसम्बर १९१७ को हुआ था। शिक्षा रतलाम, इन्दौर और आगरा में हुई। दर्शन और अंग्रेजी में एम० ए० किया तथा 'मराठी और हिन्दी का निर्गुण सन्त काव्य' शोध-प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की। मराठी-भाषी होते हुए भी लेखन-कार्य का आरम्भ हिन्दी में ही किया। पहली रचना 'कर्मवीर' (खंडवा) में १९३४ में प्रकाशित हुई। अब तक ३० पुस्तकें छप चुकी हैं। राहुलजी के साथ शासन 'शब्दकोश' का सम्पादन भी किया। मराठी के अतिरिक्त गुजराती, बँगला, असमिया, उड़िया, पंजाबी, उर्दू, संस्कृत, पालि जानते हैं और जर्मन, फ्रेंच तथा रूसी भी समझ लेते हैं। 'खरगोश के सींग' (निबन्ध), 'तार-सप्तक' (कविताएँ), 'द्वाभा' (उपन्यास) आदि प्रमुख कृतियाँ हैं। सम्प्रति साहित्य अकादमी के सहायक मन्त्री हैं और दिल्ली में रहते हैं।

यह लेख बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के संचालकों के अनुग्रह पर, उन्हीं के दिये हुए विषय पर लिख रहा हूँ : एक अहिन्दी-भाषी लेखक और पाठक के नाते। यह लेख मेरे व्यक्तिगत मत व्यक्त करता है, जिस संस्था में मैं कार्य करता हूँ उसके नहीं। अकादेमी की ओर से हिन्दी के कई विद्वान प्राध्यापकों द्वारा 'समसामयिक हिन्दी साहित्य' नामक एक ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होगा। परन्तु उस विस्तृत ग्रंथ की संक्षिप्त आवृत्ति यह लेख नहीं है। इस लेख में मैं अहिन्दी-भाषियों की हिन्दी-सेवा पर बल देकर केवल रचनात्मक साहित्य और समीक्षा पर अपने कुछ अभिमत प्रस्तुत कर रहा हूँ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की वे देशव्यापी घटनाएँ, जिन्होंने सृजनात्मक साहित्य को बहुत प्रभावित किया, हिन्दी में भी अपनी प्रतिक्रिया छोड़ गईं। देश का विभाजन, महात्मा गांधी की मृत्यु, धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र की स्थापना, दो चुनाव, भूदान-आन्दोलन, पंचवर्षीय योजनाएँ, बड़े बाँध और कारखानों का निर्माण, और अब चीन का आक्रमण। विभाजन पर पंजाबी, उर्दू और बँगला में बड़ी सुन्दर रचनाएँ हुई हैं। हिन्दी में रामानन्द सागर का 'और इन्सान मर गया' (शायद मूल उर्दू है), 'अज्ञेय' की 'शरणार्थी', यशपाल का 'झूठा सच' की याद आती है; गांधीजी पर डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। 'योजना' नाम से सरकारी साप्ताहिक पत्रिका ही चलती है, पर नये बाँधों और कारखानों पर कोई ऐसी बड़ी रचना नहीं हुई है जैसे तेलुगु में 'नागार्जुनसागरम्' और मराठी में 'आम्ही

भगीरथाचे पुत्र !' भूदान पर हिन्दी में विवेचनात्मक साहित्य बहुत है। उदयराजसिंह का 'भूदानी सोनिया' एक उपन्यास भी है, पर सियारामशरणजी और 'नवीन'जी की कविताओं के अलावा कोई बड़ा काम नहीं। चीन-आक्रमण पर अवश्य हज़ारों गीत और कविताएँ रची गईं; कई कहानियाँ और एक-दो उपन्यास भी। परन्तु कोई भी स्थायी महत्त्व की चीज़ शायद नहीं।

कविता : उपलब्धियाँ

गये १५ वर्षों में हिन्दी में सर्वाधिक प्रकाशन कविताओं का हुआ। यहाँ भी दो-तीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। पुराने राष्ट्रीय और छायावादी कवियों की उपलब्धियाँ विशेष नहीं नज़र आतीं। मैथिलीशरणजी ने 'साकेत' और 'यशोधरा' से श्रेष्ठतर कुछ नहीं लिखा, यद्यपि 'विष्णुप्रिया' उनकी उत्तम रचना है। सुमित्रानन्दन पंत ने 'पल्लव', 'गुंजन' 'ग्राम्या' से बढ़कर कुछ नहीं लिखा, यद्यपि उन्हें 'कला और बूढ़ा चाँद' पर अकादेमी पुरस्कार मिला। हाँ 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' से आगे (या कुछ आलोचकों की दृष्टि में पीछे?) 'उर्वशी' लिखी है, 'बच्चन' ने 'निशा-निमंत्रण' से बढ़कर (या भावोत्कटता में घटकर ?) लोकधुनों के प्रयोगों वाली 'त्रिभंगिमा'। नरेन्द्र शर्मा, अंचल, शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि ने अपनी स्वातन्त्र्य-पूर्व कृतियों से और बढ़कर-बहुत कम दिया। राष्ट्रीय कविता और गीत-प्रवृत्ति कवि-सम्मेलन में प्रदर्शनात्मक, वक्तृता-प्रधान और भावुकता-भरी बन गई और गीतकारों ने (यथा 'नीरज', 'मुकुल', जानकी वल्लभ शास्त्री आदि) पर्याप्त यश भी अर्जित किया।

१९४३ के बाद 'तारसप्तक' से चली दूसरी प्रवृत्ति प्रयोगवादी कविता की थी। इसी में प्रगतिवादी धारा भी मिश्रित थी। उसी का प्रतिफलन बाद में 'नई कविता' में मिलता है। 'अज्ञेय' और अन्य छः कवियों में अहिन्दी-भाषी कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की (और मेरी) रचनाएँ छपी हैं। पर मुक्तिबोध की कविताएँ अभी तक पुस्तकाकार न छप सकीं। अन्य सप्तकों वाले कवियों में शमशेर की रचनाएँ और बिहार के 'नकेन' प्रकाशन का विशिष्ट महत्त्व है। शब्दों का जैसा सचेतन उपयोग इन कवियों ने किया है, अन्यत्र बहुत कम मिलता है। गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, नागार्जुन, कुँवर नारायण, जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, अजितकुमार, रमा सिंह आदि के संग्रह बहुत उल्लेखनीय छपे हैं और अब 'प्रारम्भ' में 'अभिनय' कविता आ गई। अहिन्दी-भाषी कवियों में हिन्दी लिखावट में उर्दू के प्रायः सभी नये कवि छपे हैं और बहुत बिके हैं। मराठी से वसन्तदेव, दिनकर, सोनवलकर आदि, तेलुगु से बैरागी का 'पलायन' संग्रह और पंजाबी-भाषी महेन्द्र भल्ला, नरेन्द्र धीर आदि कवि भी नई हिन्दी कविता को समृद्ध कर रहे हैं। 'नई कविता', 'कवि', 'कविताएँ' और बिहार की 'कविता' अच्छे पत्र निकले। नई कविता और प्रगतिवादी कविताओं के कोई प्रातिनिधिक संकलन संग्रह नहीं निकले हैं। अधिकांश रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी हैं। परन्तु सम्प्रति हिन्दी में सर्वाधिक प्रचलित यही काव्य-विधा है, जो मुक्त-छन्द में अधिक रची जाती है। प्रगतिवाद द्वारा लाए गये आल्हा-शैली और जानपद बोलियों में काव्य-रचना के आग्रह कम हो गये।

कुछ कवियों ने, यथा भारती ने, पुराणों में नया अर्थ खोजा। नई कविता की विषय-वस्तु को परिभाषित करना कठिन है। परन्तु युग-बोध, क्षण-बोध आदि कई नामों से उसे कहा गया है। वस्तुतः नई कविता का आन्दोलन विश्वव्यापी आन्दोलन है। भारत की अन्य भाषाओं में, जैसे मराठी में, मर्ढेकर और 'अनिल', बँगला में जीवनानन्द दास और बुद्धदेव बसु; तेलुगु में 'श्री-श्री' और 'आरुद्र' आदि कई कवि यह कार्य स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले ही से नई कल्पना, प्रतिमान (बिम्ब-सृष्टि) और काव्य-भाषा के प्रयोग के रूप में शुरू कर चुके थे। नई कविता की यह प्रक्रिया नव्य-अभिजातवाद (निओ-क्लासिसिज़्म) के नाम से कुछ आलोचकों ने अभिहित की है। कुछ लोग उसे व्यापक विवेकाश्रित मानववाद की ही एक शाखा मानते हैं। यह बात सच है कि अब नया कवि अपने-आपको 'वाद' से बँधा हुआ नहीं मानता। उसका दृष्टिकोण अधिक गहराई से व्यक्तिपरक बनता जा रहा है। 'सनातन सूर्योदयी' ग्रुप ने वीरेन्द्रकुमार जैन के नेतृत्व में इस पर सन्देह किया है और लघुमानव की कुंठा के बदले आशावाद और अरविन्द-दर्शन पर बल दिया है।

चीनी आक्रमण के पश्चात् 'दिनकर' के 'परशुराम की प्रतिज्ञा' के अलावा कई संग्रहादि छपे हैं। परन्तु कोई बहुत स्थायी महत्त्व की काव्यकृति अभी नज़र नहीं आई, यद्यपि ये सब रचनाएँ अपने प्रयोजन में अंशतः सफल और उपयोगी तो हैं ही।

कथा-उपन्यास

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी में प्रकाशन-व्यवसाय बढ़ा। पेपरबैक पॉकेटबुक भी अधिक छपने लगे। कहानी-प्रधान पत्रिकाएँ बढ़ीं। इसलिए पंजाबी, उर्दू, बंगला से कई अनुवाद प्रकाशित हुए। साहित्य अकादेमी के सत्प्रयास से पहली बार उड़िया और तेलुगु के—और कन्नड़, असमिया, मलयालम, मराठी आदि भाषाओं के कई प्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण उपन्यासों का और कथा-संग्रहों का हिन्दी में प्रकाशन हुआ। हिन्दी में सम्प्रति बहुत लोकप्रिय कथाकारों में कई अहिन्दी-भाषी हैं, जैसे पंजाबी से आये उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृता प्रीतम, मोहन राकेश, करतारसिंह दुग्गल आदि, उर्दू से कृशनचन्दर, राजेन्द्रसिंह बेदी, बलवन्तसिंह, रज़िया सज्जाद ज़हीर, सलमा सिद्दीकी आदि। बँगला के प्रायः सभी प्रसिद्ध उपन्यासकार-कथाकारों के अनुवाद हिन्दी में मिलते हैं। परन्तु उस मात्रा में मराठी-गुजराती या दक्षिण की भाषाओं से अनुवाद कम छपे हैं। बँगला या दक्षिणी भाषाओं से मूल हिन्दी लेखक भी कम हैं। अपवाद हैं, जैसे बँगला के ऊषा मित्रा, मन्मथनाथ गुप्त; मराठी से अनन्त गोपाल शेवडे, मालती परूलकर आदि और तेलुगु से 'आरिगपूडि', बालशौरि रेड्डी आदि।

मुख्य प्रवृत्ति आंचलिकता की है। 'रेणु' के 'मैला आँचल' के और नागार्जुन के 'बलचनमा' के बाद यह प्रवृत्ति बढ़ी। अब तो कई लेखक उस विधा में लिखते हैं: शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित', मनहर चौहान, नरेश मेहता, शानी आदि। दूसरी प्रवृत्ति टूटते हुए परिवार और शहर की विकृत ज़िन्दगी के मारे सेक्स के बारे में अधिक खुले और वस्तुनिष्ठ ढंग से लिखने की बढ़ती जा रही है। कई नये उपन्यास-लेखकों ने इस विषय को छुआ है। ऐतिहासिक उपन्यास इधर बहुत कम लिखे जा रहे हैं। रिपोर्ताज की तरह यथार्थवादी उपन्यासों में यशपाल का 'झूठा सच' बहुत प्रसिद्ध हुआ। भविष्यवादी या अस्तित्ववादी चर्चा वाले उपन्यासों में जैनेन्द्र का 'जयवर्द्धन', 'अज्ञेय' का 'अपने-अपने अजनबी' और रघुवंश का 'अर्थहीन' उल्लेखनीय हैं। कई लघु उपन्यास भी छपे हैं, जिनमें कुछ में विषय और टेकनीक की ताज़गी है। व्यंग का माद्दा भी बढ़ा है, जैसे 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में। यानी हिन्दी कविता जहाँ अभी रोमांटिक कुहासे से पूरी तरह निकल नहीं पाई, कथा-उपन्यास ज़रूर यथार्थ की ठोस भूमि पर पक्के कदम से बढ़ते जा रहा है। कई नये सशक्त हस्ताक्षर यहाँ मिलते हैं।

नाटक

नाटक की दृष्टि से यह काल-खण्ड बहुत निराशाजनक रहा। यद्यपि आकाशवाणी के कारण एकांकी और 'फीचर'-लेखन बढ़ा है। पर स्टेज पर खेले जाने वाले पूरे दो-तीन घंटों के नये, सचमुच साहित्य-गुणयुक्त अच्छे नाटक बहुत थोड़े हैं: मोहन राकेश का 'अषाढ़ का पहला दिन', विष्णु प्रभाकर का 'डॉक्टर' और जगदीशचन्द्र माथुर की 'शारदीया' आदि का नाम लिया जाता है। पर न तो 'अश्क' ने और न पुराने किसी और नाटककार ने कोई बड़ी नाट्य-कृति इधर दी है। हाँ, डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल आदि प्रयोगवादी नव-नाट्य दे रहे हैं; डॉ० शिवप्रसादसिंह ने 'घाटियों की गूँज' में सामयिक चीन-विरोध के प्रश्न को उठाया है। पर हिन्दी-नाटक की प्रगति का अभाव हिन्दी-भाषी समाज में सम्मिलित रूप से रंगमंच के पुनर्विकास और संयोजन के अभाव को सूचित करता है। इस क्षेत्र में अनुवाद काफ़ी किये गए। अब सिर्फ बँगला या उर्दू से ही नहीं बल्कि मराठी, तेलुगु, मलयालम आदि से भी हिन्दी में नाटक अनुवादित हो रहे हैं। नाटक की दिशा लोक-नाट्य से प्रेरणा लेने की ओर है।

निबन्ध-यात्रा-वर्णन आदि

इधर 'कुट्टिचातन्', विद्यानिवास मिश्र, शिवप्रसादसिंह के बहुत पठनीय, व्यक्तिगत या ललित निबन्ध-संग्रह छपे हैं। हिन्दी में यात्रा-वर्णनों की तो बाढ़-सी आ गई है। उनमें भी 'अज्ञेय' की 'अरे यायावर रहेगा याद' और 'एक

बूँद सहसा उछली' जैसे ग्रन्थ कम हैं। अधिक प्रवास के नाम पर नीरस दैनिक कार्यक्रम की सूची या फिर रोमांटिक बनाये गए स्तुतिपूर्ण वर्णन हैं। वैसे चीन-यात्राओं पर चार हिन्दी किताबें स्वतन्त्रता के बाद छपीं, जिनमें काफ़ी पुनरावृत्ति है। यात्रा में भी अज्ञात, नये प्रदेशों में जाने का साहस कम लोगों ने दिखाया है। राहुलजी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और श्रीनिधि विद्यालंकार की पुस्तकें अपवाद हैं और वे बहुत रोचक हैं। निबन्ध, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण आदि की संमिश्र विधा में भी कुछ 'रम्य रचना' अब हिन्दी में होने लगी है, यद्यपि यह लेखन-रूप सभी शैशवावस्था में है।

आलोचना

हिन्दी-आलोचना की प्रगति सबसे कम हुई है। यहाँ अभी भी मिलीभगत और 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' का बोलबाला है। हिन्दी को व्यापक महत्त्व मिल जाने से पाठ्य-पुस्तकों की जैसे बाढ़-सी आ गई। गत पन्द्रह वर्षों में हिन्दी में करीब तीन सौ पी-एच० डी० उपाधि-प्राप्त व्यक्ति तैयार हुए और पढ़ाने भी लगे। सौ से अधिक थीसिस या शोध-ग्रन्थ छपे हैं। परन्तु स्वर्गीय बडथ्वाल (हिन्दी के प्रथम डॉक्टर) या डॉ० कामिल बुल्के (रामकथा का विकास) जैसे नये और खोजपूर्ण ग्रन्थ थोड़े हैं। पांडित्य का अर्थ अब यत्र-तत्र जमा की हुई सामग्री, सूची-ग्रन्थन और चर्वितचर्वण बन गया है। इसीलिए जहाँ एक ओर काव्य-शास्त्र के बहुत बड़े पंडित माने जाने वाले लोग बिलकुल साधारण कवियों की अनुशंसा करते हैं और सामान्य नाटककारों के अभिनन्दन-ग्रन्थ भी सम्पादित करते हैं; वहीं संस्कृत का मूलग्राही ज्ञान न रखने वाले संस्कृत साहित्य पर निर्णय देते हैं, और आधुनिकतम पौर्वात्य या पाश्चात्य समीक्षा से अपरिचित लोग तुलनात्मक समीक्षाएँ लिखते हैं। हिन्दी विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ी, पर साहित्य-शिक्षा का स्तर बहुत गिर गया है। इसके कारण मेरे मत से गत पन्द्रह वर्षों से हिन्दी-आलोचना का एक भी ऐसा मौलिक ग्रन्थ नहीं छपा है जिसका अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में हो तो वे उससे धन्य अनुभव करें। कुछ व्याख्यात्मक और सूचनात्मक शोध-कार्य अवश्य अच्छा हुआ है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'पद्मावत का संजीवनी भाष्य' या डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी का आदिकाल' आदि कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। परन्तु अन्य आलोचकों में डॉ० देवराज, नलिन विलोचन शर्मा, रामविलास शर्मा आदि ने कुछ नई उद्भावनाएँ और स्थापनाएँ सांस्कृतिक इतिहास और भाषा-शास्त्र को दी हैं। डॉ० नगेन्द्र ने 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' के रूप में प्राचीन संस्कृत के रस, ध्वनि, वक्रोक्ति-विषयक ग्रन्थों की आधुनिक सन्दर्भ में मौलिक पुनर्व्याख्या का उतना प्रयत्न नहीं किया जितना व्यवस्थित सामग्री-संयोजन का और हिन्दी की दृष्टि से उसका मूल्य है। हिन्दी नवलेखन के मूल्यांकन का भी प्रयत्न अब हो रहा है। कुछ लेखक 'आत्मनेपद' लिख रहे हैं। कुछ 'नवीन कविता, नवीन समीक्षा' की चर्चा कर रहे हैं। एक बड़ी अच्छी बात हिन्दी शोधकार्य में तुलनात्मक अध्ययनों की है और हिन्दी में अब बँगला, गुजराती, मलयालम, तमिल, कन्नड, मराठी के भक्ति-काव्य के, उपन्यास-कथा आदि के तुलनात्मक अध्ययन सहज प्राप्य हैं। यहाँ भी अहिन्दी-भाषी लेखकों का कार्य बहुत उल्लेखनीय है : डॉ० हिरण्मय, डॉ० भास्करन नायर, डॉ० गणेशन, डॉ० काले, डॉ० राजगोपालन आदि पच्चीसों उत्तम शोधकर्ताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ-निर्माण

हिन्दी को विपुल मात्रा में केन्द्रीय और चार प्रदेशों (उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान) से प्रचुर आर्थिक अनुदान मिलने से कई कोश, परिभाषाएँ (वैज्ञानिक तथा अन्य), विश्व-कोश, साहित्य-कोश, किशोरोपयोगी 'ज्ञानसरोवर' जैसे कई ग्रन्थ निकले हैं। इनमें प्रयाग विश्वविद्यालय के विद्वानों द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य कोश' बहुत अच्छा है। डॉ० हरदेव बाहरी का 'अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश' और ज्ञानमंडल काशी से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी कोश' मानक रचनाएँ हैं। इस दिशा में अब बहुत शक्ति और पैसा हिन्दी में खर्च हो रहा है कि हिन्दी को जल्दी-से-जल्दी अंग्रेज़ी के समकक्ष बनाया जाए। सो पाठ्य-ग्रन्थों के तेज़ी से अनुवाद भी हो रहे हैं। ये सब शुभ लक्षण हैं।

पर इन सब ग्रन्थों की, अनुवादों की गुणवत्ता पर सतर्कता से ध्यान रखना ज़रूरी है। अधीरता काफ़ी नहीं है।

हिन्दी में समाचार-पत्र साहित्य का बड़ा विकास हुआ है। एक लाख तक कुछ साप्ताहिकों के पाठक बढ़े हैं, यद्यपि हिन्दी-भाषियों की कुल सत्रह करोड़ संख्या के अनुपात में यह बड़ी छोटी संख्या है।

अन्त में यह लेख पढ़ने वाले एक-दो बातों का ध्यान रखें। हिन्दी में प्रतिवर्ष हज़ारों पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। १९६१ में २,०३६ हुई थीं। कोई भी एक व्यक्ति यह सब नहीं पढ़ सकता। दूसरी बात मैं इधर दो वर्ष हिन्दी-जगत् से कटकर विदेश में था। तीसरे, लेख की शब्द-संख्या निश्चित है।

प्रो० राम पंजवानी

सिन्धी साहित्य की एक छोटी-सी झलक

लेखक, कवि, नाटककार, गायक, समाज-सेवी, 'भगत' के नाम से प्रसिद्ध प्रो० राम पंजवानी ने नवम्बर १९११ में सिन्धु के लरकाना जिले में जन्म लेकर सिन्धु की वायु में मधुर सुगन्ध भर दी है। आपने लगभग १० उपन्यास, ४ सम्पूर्ण नाटक, ३ कविता-संग्रह लिखे हैं। आप बम्बई विश्वविद्यालय की सिन्धी फैकल्टी के चेयरमैन हैं तथा संगीत-नाटक अकादेमी की सलाहकार समिति के सदस्य हैं।

भारतीय साहित्य ही नहीं, विश्व-साहित्य का प्रारम्भिक रूप हमें काव्य में ही मिलता है। सिन्धी साहित्य का भी यही हाल है। इस लेख में सिन्धी साहित्य की एक झलक-मात्र ही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व की छाया दिखाते हुए स्वतन्त्र भारत में आजकल सिन्धी साहित्य के कुछ गण्यमान लेखक, कवि, आलोचक एवं नाटककारों के नामों के साथ आज की साहित्यिक प्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व सिन्धी साहित्य की तीन प्रमुख धाराएँ दिखाई देती हैं। पहली धारा में हमें सूफीमत व वेदान्त के दर्शन होते हैं तथा साथ ही रहस्यवाद का प्रभाव भी विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इसके प्रमुख कवियों में शाह अब्दुल लतीफ, सचल सरमस्त, सामी, बेदील, बेकस और दलपत आदि को जनता में भक्ति और प्रेम का प्रचार करते हुए पाया जाता है। यह प्रभाव हमें १९वीं शताब्दी तक मिलता है।

दूसरी धारा में पद्य के साथ गद्य के भी दर्शन होने लगते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि दक्षिण की कुछ दरद भाषाओं को छोड़कर भारत की सभी प्रान्तीय भाषाएँ प्रायः संस्कृत-प्राकृत आदि के तत्सम व तद्भव शब्दों से प्रभावित हैं। और देवनागरी लिपि को प्रायः सभी ने अपनाया है। परन्तु सिन्धी समाज पर अरबी-फ़ारसी का प्रभुत्व रहा और उसका प्रभाव भी अत्यधिक रूप से पड़ा है। यहाँ तक कि सिन्धी लिपि पर भी अरबी-फ़ारसी का प्रभाव रहा है। इसलिए सिन्धी साहित्य में अरबी व फ़ारसी का प्रभाव तो आना ही था। यह प्रभाव हमें गज़ल के रूप में दिखाई देता है। गज़ल का अर्थ है, सुन्दर युवती या प्रिया के कान में मनुहार करना। यह धारा वास्तव में हिन्दी-साहित्य की रीतिकालीन धारा से मिलती-जुलती है। इसे हम सिन्धी साहित्य की रोमांटिक धारा के नाम से भी पुकार सकते हैं। इसी काल में सिन्धी साहित्य में नयापन भी आता दिखाई दिया। गुलमुहम्मद 'गुल' ने सर्वप्रथम सुव्यवस्थित ढंग से सिन्धी में गज़ल लिखी और अपना दीवान प्रकाशित किया। 'गुल' के अतिरिक्त साँगी, गद, हमल, वास्तीफ़ काज़िम, अजीन, ज्या आदि कविगण भी अपनी सुमधुर रचनाओं से सिन्धी साहित्य में लालित्य भर रहे थे।

एक ओर जब कविगण प्रिया की रूप-सुधा का पान करने में लगे हुए थे तो दूसरी ओर कुछ दूसरी ही हलचल हो रही थी। यह हलचल थी नये प्रभाव की। भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य की तरह विशेषतया हिन्दी व अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव विद्वानों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। इस आकर्षण के फलस्वरूप सिन्धी साहित्य में गद्य का का प्रादुर्भाव हुआ। इसका विशेष रूप हमें निबन्धों में मिलता है। निबन्ध के साथ-साथ सिन्धी साहित्य में अन्य विधाएँ प्रस्फुटित होने लगीं। कहानियाँ, उपन्यास, आदि अन्य भाषाओं से अनुवाद किये गए। इस गद्य-धारा

के लेखकों में कलीजबेग, कोडोमल, चन्दनमल, परमानन्द, मेवालाल, जेठमल, परसराम, गिधुमल आदि लेखकों का प्रभाव अधिक व्यापक दिखाई देता है।

तीसरी धारा में हमें आदर्शवाद के साथ-साथ यथार्थवाद के भी दर्शन होते हैं। जब सारा देश करवट ले रहा था तो सिन्धी जनता कैसे एक ही स्थान और एक ही ढाँचे में रह पाती! जनता की कराह, उसकी बेकसी, उसके हृदय में उठने वाली इन्कलाब की उमंग को लेखक व कवि कैसे दबा पाता! वह भी चीख उठा, स्वतन्त्रता के लिए, सचाई के लिए। उसने भगवान् तक को चुनौती दे डाली। सिन्धी साहित्य की कोपलें आने वाली बहार की भीनी-भीनी सुगन्ध चारों तरफ बिखेर रही थीं। एक ओर नग्न यथार्थवाद का प्रभाव था तो दूसरी तरफ आदर्शवाद का शान्त-रूप, और कहीं-कहीं दोनों का मिला-जुला रूप सिन्धी-साहित्य में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की अभिव्यक्ति कर रहा था। इस युग में बेबेस-जैसा कवि हुआ, जिसका प्रभाव हमें दुखायल, हरिदिलगीर, प्रभु वफा आदि प्रमुख कवियों पर स्पष्ट दिखाई देता है। इन्कलाब की लहर इतनी तीव्र हो उठी कि कवि हैदर ने भगवान् को भी फटकार सुना दी। इन्कलाबी कवियों में अयाश और शाद-जैसे कवि उभरे। इस धारा का प्रभाव गद्य में विशेष रूप से दिखाई देता है। सामाजिक व राजनीतिक कथानकों पर छोटी कहानियों, उपन्यासों, लेखों व एकांकियों की रचनाएँ होने लगीं। मामतोरा का 'शायर नारायरा,' ममणी का 'विधवा', पंजवानी का 'कैदी' व 'लतीफा' आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। इस युग की विशेषता यह रही है कि सिन्धी साहित्य में मौलिक उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि लिखे जाने लगे और उनमें नया रूप निखरने लगा। इन लेखकों में प्रो० एल० एच० अजवानी, तीरथ वसन्त, लालचन्द, अमर, बिलोमल, मूलचन्द, राजपाल आदि प्रमुख हैं। एकांकी नाटकों ने भी अपना विशेष स्थान बनाना आरम्भ कर दिया। एकांकीकारों में प्रो० एम० यू० मलकानी, जे० एन० नागरानी आदि का विशेष स्थान है। इस युग में सबसे बड़ा काम हुआ आलोचना का। आलोचना को भी साहित्य में विशेष महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा, और कई आलोचकों ने अच्छे-अच्छे ग्रन्थ दिए, जिनमें प्रमुख नाम डॉ० एच० एम० गुरबख्साना का आता है। इन्होंने शाह लतीफ के सुप्रसिद्ध रिसाले की आलोचनात्मक टीका की है।

सिन्धी साहित्य के हर युग की अपनी विशेषता रही है और साथ ही अन्य रचनाएँ भी होती रहीं। सिन्धी साहित्य भी अन्य भाषाओं के साहित्य की भाँति युग के साथ-साथ चलता रहा। अड़चनें आईं, मुसीबतें आईं, एक तरफ भारतीयता का तकाज़ा था और दूसरी तरफ अरबी-फ़ारसी का प्रभाव। सिन्धी साहित्य में हमें दोनों ही मिलते हैं। लिपि और पद्य की शैली में अरबी-फ़ारसी का प्रभाव है तो उसकी आत्मा और बोली भारतीयता से ओत-प्रोत है।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव सिन्धी साहित्य पर व्यापक रूप से पड़ा। सिन्धी साहित्य में नया मोड़ आया। आदर्शवाद के साथ-साथ यथार्थवाद के दर्शन भी होने लगे। मार्क्सवादी विचारधारा युवक लेखकों को अपनी ओर आकर्षित करने लगी। सिन्धी साहित्य की कोपलों ने अब कलियों का-सा आकर्षण पैदा कर अपनी सुगन्ध बिखेरना आरम्भ किया ही था कि एक भीषण वज्रपात हुआ। राष्ट्र को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, परन्तु मातृभूमि के विभाजन के रूप में। सिन्धु देश पाकिस्तान कहलाने लगा। कल के भाई बेगाने हो गए। राजनीति की एक रेखा ने ज़मीन के दो टुकड़े कर दिए। पंजाब और सिन्धु प्रदेशों की जनता तबाह हो गई और इस तबाही में सबसे अधिक हानि हुई सिन्धी की। ज़र-ज़मीन छूटा और छूट गया साहित्य का अमूल्य खज़ाना। स्कूल, कालिज, विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, प्रेस, दुकानें, सब वहीं-के-वहीं रह गए। सारी साहित्यिक सामग्री तितर-बितर हो गई। सिन्धी अनाथ हो गया। उसकी साहित्यिक चेतना मुमुर्षु हो गई। लेकिन नहीं, हिन्दुस्तान की आबहवा ने उसे फिर जीवन दिया, साहित्य में नया प्राण आया, नई चेतना जागी। कवि लहक उठा, लेखक गरज उठा। जो कोपलें थीं वे कली बन गई। कलियाँ फूल बनकर महक उठीं। सिन्धी साहित्य की बेल पुनः लहलहा उठी। सिन्धी साहित्य अखिल भारतीय साहित्य से सम्पृक्त हुआ। उसने अपना स्थान अक्षुण्ण बना लिया। आज सिन्धी साहित्य में युग की अवस्था, उसकी पुकार, आज की राजनीति और उसकी प्रतिक्रिया सभी दिखाई देती है। आज के नये युवक लेखकों में तीरथ बावनी,

आनन्द गोलानी, गोविन्द पंजाबी, सुगन आहूजा, लेखराज तुलस्थान और उत्तम-जैसे प्रगतिशील साहित्यकार हैं जो सिन्धी साहित्य की खूब सेवा कर रहे है ।

पद्य को भी नया रूप मिला । आज़ाद नज़्म और ग़ज़ल में सामाजिक व राजनीतिक प्रभाव की प्रतिक्रिया भासित होने लगी । मोती, प्रकाश, कृष्ण, राही, अंचल, क्रान्तिकारी शाद आदि कवि अपनी मधुर और ओजपूर्ण लेखनी से सिन्धी साहित्य के रूप को नये ढंग से सजा-सँवारकर प्रस्तुत कर रहे हैं ।

बहुत पहले से ही सिन्धी में मार्क्सवादी दृष्टिकोण कुछ लेखकों को अपनी ओर आकर्षित करने लगा था । मज़दूर और मालिक, किसान और ज़मींदार का झगड़ा, गरीबों पर अत्याचार आदि विषयों को ये लोग अपनाने लगे थे । ये अपने-आपको प्रगतिवादी कहते थे । विभाजन के बाद इस दल को भारत में विशेष सुविधा प्राप्त हुई और नग्न यथार्थवाद का चित्रण इनकी लेखनी से होने लगा । प्रगतिवादी लेखकों में अयाज की 'ओ बाग़ी ओ राजद्रोही !', शाद की 'मज़दूर तैयार', तथा शमा ज्ञानचन्दानी, राम अमरला आदि लेखकों ने अपनी कहानियों में मार्क्सवादी विचारधारा को सुन्दर रूप से दिखाया है ।

दूसरी तरफ़ एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जो अपने विगत जीवन के सिन्धी वैभव की याद में डूबा हुआ है । उसकी कल्पना में सिन्धु की लोल लहरें, वहाँ का हास-विलास, मरुभूमि के लिए उनका शाश्वत प्रेम उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाता है और उमड़ता रहता है । इसका प्रमुख कारण है उनका अभावग्रस्त जीवन । आरम्भ में कैम्पों के कष्टदायी जीवन से वे बारम्बार दुखी होने और उस दुःख को भुलाने के लिए अपने सपनों में खो जाने का प्रयास करते थे । कितने ही लेखकों का तो विषय ही शरणार्थी-कैम्प-जीवन बन गया है ।

इनके अतिरिक्त एक और सम्प्रदाय है जो शाश्वत प्रेम और आस्था को मानता है । वह परम आस्तिक है । प्रगतिवादी इसे रूढ़िवादी कहकर उपेक्षा करते और कड़ी आलोचना करते हैं । प्रगतिवादी 'कला जीवन के लिए है' सिद्धान्त को लेकर चले, लेकिन नग्न यथार्थवाद के अटपटे रास्ते पर चलते हुए यह भूल गए कि जब जीवन में सत्य के साथ सुन्दर होता है तभी वह शिवम् को ग्रहण करता है । उसी तरह आदर्शवादी कलाकार 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त को लेकर चले, लेकिन यह भूल गए कि जीवन में सत्य और यथार्थ का भी स्थान है । सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के लिए यह आवश्यक था कि दोनों एक-दूसरे से ले-देकर अपनी कमी पूरी करते । क्योंकि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब ही नहीं, उसकी कसौटी भी है, जिसका उद्देश्य समाज को आगे बढ़ने में सहायता करना है । जीवन जितना कोमल, सुन्दर और रसमय है, उतना ही कटीला और दर्दनाक भी । आखिर दोनों ने अपनी-अपनी कमी को महसूस किया, और दोनों ने एक-दूसरे से अपने अभाव की पूर्ति कर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को सिन्धी साहित्य में आविर्भूत किया ।

आज सिन्धी साहित्य में सभी विषयों पर लेख, कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता आदि की रचना हो रही है । आलोचना के क्षेत्र में भी नया परिवर्तन हुआ है । केवल प्रशंसा या बुराई ही आलोचना नहीं होती । रचना के विषय को देखते हुए उसका पूर्णरूपेण मूल्यांकन करना ही आलोचना है । इस क्षेत्र में शाद ने काफ़ी काम किया । रचना केवल सुन्दर, भावपूर्ण शब्दों से ही उच्चकोटि की नहीं हो जाती, उसे संयत और व्याकरण आदि से परिमार्जित होना चाहिए । अज़ीज़ आदि लेखकों के भाषागत प्रयोगों में व्याकरण की ओर सुधारात्मक कदम बढ़े हैं ।

सिन्धी साहित्य को एक विशेष लाभ और भी हुआ है । वह अन्य भाषाओं के साहित्य के समीप आया । हिन्दी और अन्य भाषाओं में सिन्धी लेखकों के भी अनुवाद होने लगे और प्रायः सभी भाषाओं से सिन्धी में प्रचुर परिमाण में अनुवाद होते जा रहे हैं । इससे सिन्धी साहित्य का दृष्टिकोण विशाल होता जा रहा है । वह केवल सिन्धु की घाटी में ही नहीं, विश्व-प्रांगण में विचरण करने के लिए निकल पड़ा है । नये लेखक, कवि, आलोचक, और नाटककार के पास नित-नूतन विषय हैं । वे कूपमण्डूक नहीं रहे । उन्होंने विश्व की आवाज़ में अपनी आवाज़ मिलाना आरम्भ कर दिया है ।

उर्दू साहित्य : एक वैयक्तिक पर्यवेक्षण

श्री गोपाल मित्तल का जन्म ६ जून १९०९ को अविभक्त पंजाब के मालेर कोटला नामक स्थान पर हुआ। १९३२ में इन्होंने सनातन धर्म कॉलेज, लाहौर से बी० ए० किया, उर्दू में लेख और कविता आदि लिखते हैं। उर्दू और अंग्रेज़ी के बहुत अच्छे पत्रकार हैं। दिल्ली से उर्दू में 'तहरीक़' नाम का एक मासिक पत्र निकालते हैं। देश और विदेश के अनेक पत्रों में इनकी रचनाएँ छपती हैं। 'दि मार्च ऑफ़ ए कान्सपिरेसी' नामक इनकी पुस्तक का अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

उर्दू के सुप्रसिद्ध समालोचक श्री कलीमुद्दीन अहमद एक जगह लिखते हैं, "उर्दू साहित्य, विशेषतया उर्दू शायरी की विभिन्न विधाएँ आदिकाल से निश्चित कर दी गई हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं।" (पृष्ठ २८)

मौलाना अब्दुल सलाम निदवी ने अपनी पुस्तक 'शेर-उल-हिन्द' में गजलगोई के सिद्धान्त निश्चित करने का प्रयास किया, तो उन्हें भी अरबी साहित्य के प्राचीन आचार्य इब्न-कयामा और इब्न रसीक का अध्ययन करना पड़ा। ये सिद्धान्त हमें बताते हैं कि ग़ज़लगोई के अदाब क्या हैं। उनमें सिर्फ़ यही नहीं बताया गया कि ग़ज़ल की भाषा किस प्रकार की होनी चाहिए, बल्कि यह भी बताया गया कि वस्तु का चयन कैसे किया जाए, मसलन यह कि ग़ज़ल में अधिकतर उन भावनाओं, अनुभूतियों और परिस्थितियों का चित्रण करना चाहिए जो प्रत्येक नायक को पेश आनेवाले हों या पेश आ सकते हों, शायर को अपनी बड़ाई और क्षमता को अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए और नायिका के मान-सम्मान और भावनाओं का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

ज़ाहिर है इस किस्म के बँधे-सधे फ़ार्मूलों के अनुसार जिस साहित्य का सृजन होगा, उसमें नवीनता तथा वैयक्तिक तत्त्वों का अभाव रहेगा। ग़ज़ल के समीक्षक जब यह कहते हैं कि उर्दू के शायर दूसरों के चबाये हुए नवालों को ही चबाते रहते हैं तो उसमें थोड़ी-बहुत सचाई ज़रूर होती है।

प्रायः उर्दू के मशहूर शायरों के गिने-चुने शेरों का हवाला देकर उनमें वैयक्तिक तत्त्वों को भी ढूँढ़ा जा सकता है और वातावरण का चित्रण भी खोजा जा सकता है, मगर कुल मिलाकर यह मानना पड़ेगा कि उर्दू की पुरानी शायरी बड़ी हद तक फ़ारसी ग़ज़लगोई की नक्काली है।

इस परम्परा के खिलाफ़ सबसे पहले मौलाना हाली ने आवाज़ उठाई, लेकिन बदकिस्मती से वे सुधारवाद के आवेश में चरम सीमा पर पहुँच गए। उन्होंने साहित्य की मूलभूत मान्यताओं को ही तिलांजली दे दी। उनके समीप साहित्य की मात्र यह उपयोगिता रह गई कि वह मुसलमान जाति के सुधार और विकास का प्रेरक प्रकाश-स्तम्भ बन सके।

उन्होंने काव्य-क्षेत्र में पश्चिम के अनुसरण का नारा बुलन्द किया, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि पश्चिमी साहित्य और अंग्रेज़ी भाषा से उनकी जानकारी कुछ ज़्यादा नहीं थी। मिसाल के तौर पर, उन्होंने मिल्टन के कथन को यों उद्धृत किया : "शेर की ख़ूबी यह है कि सादा हो, जोश से भरा हुआ हो और यथार्थ पर आधारित हो।" यह 'यथार्थ पर आधारित' अंग्रेज़ी शब्द Sensuous का अनुवाद

है और स्पष्ट है कि इन दोनों के अर्थों में काफ़ी अन्तर है। यूरोप के लिबरलिज़्म और व्यक्ति-स्वतन्त्रता के अभियानों ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित नहीं किया। उनकी रचनाओं के अध्ययन के पश्चात् यह प्रभाव मन पर पड़ता है कि वे यूरोप की औद्योगिक तथा भौतिक उन्नति से ही प्रभावित थे और चाहते थे कि मुसलमान भी वैसा ही भौतिक विकास प्राप्त करें जो यूरोप ने औद्योगिक व्यवस्था को अपनाकर हासिल किया था। मानसिक सन्तोष के साधनों को वह विशेष महत्त्व नहीं देते थे और शायरों के बारे में उनकी यह खुली घोषणा थी :

गुनाहगार वाँ बख़्शे जाएँगे सारे।
जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे।।

सिर्फ़ यही नहीं, बल्कि वे इश्क के भी, जो कला और साहित्य का एक विशिष्ट विषय है, सर्वथा विरोधी थे :

ए इश्क, तूने अक्सर कौमों को खाके छोड़ा।
जिस घर से सर उठाया, उसको बैठा के छोड़ा।।

इस रवैये ने एक ऐसे असाहित्यिक जीवन-दर्शन को जन्म दिया जिसकी जीती-जागती मिसाल डिप्टी मौलवी नज़ीर अहमद के सुधारवादी उपन्यास हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'मिर-अतुल-उरूस' (दुल्हन का दर्पण) की नायिका असगरी को उर्दू के समालोचकों ने सुख और सौंदर्य की प्रतिमूर्ति बताया, लेकिन उसकी एकमात्र विशेषता यह थी कि वह अपने पति को व्यवहारकुशलता तथा सांसारिक उन्नति के गुर बताती रहती थी। उसके मानव-प्रेम की हालत यह थी कि वह सजातीय लोगों से मिलना तक पसन्द नहीं करती थी। मगर सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस आन्दोलन के समर्थकों में से एक सर सैयद ने मौलवी नज़ीर अहमद के किस्सों को मुसलमानों की सभ्यता तथा संस्कृति के प्रतिकूल बताया, जबकि उर्दू के एक अन्य प्रसिद्ध समालोचक डॉक्टर सैयद अब्दुल्ला का ख़याल है कि 'हमारे समाज को आज भी असगरी की ज़रूरत है।'

एक बार जब साहित्य को मानसिक विकास का आधार न मानकर मात्र भौतिक उन्नति का साधन तथा समाज-सुधार का हथियार मान लिया गया, तो उसके सचाई के तत्त्व गौण होने लगे और आगे चलकर तो साहित्यकारों ने अपने मानसिक जगत के अनुरूप ऐतिहासिक तत्त्वों के चित्रण में भी उलट-फेर करना अनुचित नहीं समझा।

जब एक निबन्ध-लेखक ने शिबली की कतिपय फारूकी युग से सम्बन्धित घोषणाओं को आधारहीन तथा इतिहास-विरुद्ध बताया, तो सैयद सुलेमान निदवी ने 'मारिफ़' में इसका जवाब इन शब्दों में दिया : "'अल-नाज़र' पत्र में एक साहब ने अल-फ़ारूक पर समीक्षा लिखकर अपने ज़ोर-बाज़ू की नुमाइश की है, लेकिन सवाल यह है कि इस अखाड़े के पहलवानों ने अपने ज़ोर-बाज़ू को इस्लामी कल्चर की इमारत बनाने पर व्यय किया है या ढाने पर? इस्लाम के दुश्मनों को शिकस्त प्रिय है या गुलामी?" ('मारिफ़', जिल्द ६, नवम्बर ४)

साहित्य में इसी प्रवृत्ति-विशेष को प्रगतिशील आन्दोलन ने बढ़ावा दिया। फ़र्क सिर्फ़ इतना पड़ा कि जहाँ हाली और सैयद सुलेमान निदवी ने कला और साहित्य का उद्देश्य मुसलमान कौम की ख़िदमत करार दिया था, वहाँ प्रगतिशील आन्दोलन से सम्बन्धित कलाकारों ने साहित्य का एकमात्र लक्ष्य सामाजिक क्रान्ति निश्चित किया। जहाँ तक साहित्य की बुनियादी मान्यताओं का प्रश्न है, प्रगतिशील लेखक अपने पूर्ववर्तियों से अधिक सख़्त तथा कठोर थे।

प्रगतिशील लेखकों की चिमड़ी कान्फ्रेन्स ने जो काम लेखक को सौंपा, वह अधिकांश साहित्यिक था। इस कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष-पद से बोलती हुई इस्मत चुग़ताई ने अपने भाषण में कहा, "हमें सिर्फ़ यह इलाज ही नहीं करना होगा, बल्कि अमल से भी साबित करना होगा कि हम मज़दूरों के कैम्प में हैं। मैं अब यह समझती हूँ कि अब सिर्फ़ कहानियाँ, नज़्में और समीक्षा लिखने से काम नहीं चलेगा, बल्कि लेखकों को उस वर्ग से भी टकराना होगा जिसने हमारे आन्दोलन पर हमला कर दिया है।"

कृश्नचन्दर ने कथ्य तथा शैली के नूतन रूपों, प्रयोगों, कोमलताओं तथा वर्णन की रंगीनियों को सिरे से ही अनावश्यक बताया। इस किस्म की बातों का लिहाज़ रखने वाले लेखकों को उसने इन शब्दों में प्रताड़ित किया : "तुम्हारी कान्फ्रेंस में बड़ी ख़ूबसूरत बातें हुईं—बड़ी-बड़ी ख़ूबसूरत बातें, जैसे हमारे कपड़े के कारखानों में सिल्क और जार्जेट तैयार होती है। लेकिन इस वक्त हम मज़दूरों को सिल्क और जार्जेट नहीं चाहिए। जब सारी दुनिया

के कारखाने हमारे पास हो जाएँगे, फिर हम भी बहुत-सी सिल्क और जार्जेट बनाएँगे। अभी तो हमें अपने मतलब का कपड़ा चाहिए वह तुम देते नहीं, बातें बहुत करते हो। असली मौके पर चुप हो जाते हो।" ('नया अदब')

इस प्रवृत्ति के कारण, जो पिछले कुछ वर्षों से पहले तक वास्तव में एक मुख्य प्रवृत्ति थी, जो एक साहित्यिक प्रवृत्ति न होकर मानव-विरोधी प्रवृत्ति थी, उर्दू के संजीदा समालोचकों का उर्दू साहित्य के भविष्य पर से विश्वास उठ गया। पाकिस्तानी समालोचक मुहम्मद हस्न अकबरी ने तो यहाँ तक घोषित कर दिया कि 'उर्दू अदब मर चुका।'

ज़ाहिर है कि यह बात दुःख-भरे स्वर की प्रतीक थी। उर्दू के अधिकतर साहित्यकारों एवं समालोचकों ने यह महसूस किया कि अगर साहित्य में इस रुझान या प्रवृत्ति का विरोध न किया गया तो उर्दू अदब वाक़ई मर जाएगा। इसी अहसास ने साहित्य-क्षेत्र में एक अन्य स्वस्थ विचार-आन्दोलन को जन्म दिया।

साहित्य-क्षेत्र का यह आन्दोलन यद्यपि साहित्यिक कम और राजनीतिक अधिक था, मगर इस विचार-धारा के अन्तर्गत अनेक साहित्य-सम्बन्धी स्वस्थ सैद्धान्तिक वाद-विवाद हुए और उनका प्रतिबिम्ब स्पष्टतः रचनाओं में परिलक्षित होने लगा। अब रचनाएँ बँधे-सधे फार्मूलों के मुताबिक नहीं लिखी जाती थीं और न ही भौतिक तकाज़ों पर मानवीय संवेदनाओं तथा जीवन के शाश्वत मूल्यों को न्यौछावर किया जाता था। इस प्रवृत्ति की सफल अभिव्यंजना मुमताज़ शीरी के उपन्यास 'मेघ मलिहार' में हुई है। उपन्यास का वह भाग अत्यन्त दिलकश है जिसमें एक संगीतकार कलाओं की देवी सरस्वती को एक अन्यायी जादूगर के चंगुल से आज़ाद कराने के लिए अपनी ज़िन्दगी तक न्योछावर कर देता है, क्योंकि जादूगर ने देवी को मानवीय रूप देकर क़ैद कर लिया था। यह इस बात का संकेत है कि सरस्वती को 'देवी' के पद से गिराकर 'एक औरत' कभी नहीं बनाना चाहिए।

पिछले दिनों सामयिक तकाज़ों से विवश होकर जीवन के शाश्वत मानव-मूल्यों की उपेक्षा करने की जो प्रवृत्ति प्रचलित हुई थी, अब उसके खिलाफ़ भी आवाज़ उठने लगी है। अज़ीज़ अहमद का उपन्यास 'जब आँखें आहन-पोश हुईं' इसी हक़ीक़त की तरफ एक इशारा है। उपन्यास का कथानक तैमूर के युग से सम्बन्धित है, जब जंगल का कानून ज़िन्दगी का नियम था। तैमूर अपने पराजित शत्रु सुल्तान हुसैन के कत्ल का फतवा काज़ी जेन-उल-यीन से लेने में नाकाम रहता है, क्योंकि काज़ी ने कह दिया था कि न्याय-क्षेत्र में षड्यंत्र कार्यान्वित नहीं हो सकता। तत्पश्चात् तैमूर परिणाम की चिन्ता किये बिना अपने शत्रु को बल्ख के अमीर के हाथों कत्ल करा देता है।

बाबा जेन-उल-यीन ने नमाज़ से मुँह फेरा और दुआ के लिए हाथ उठाये, तो अमीर मुल्तान हुसैन का कटा हुआ सिर हाथ में लिये तैमूर के खेमे की तरफ़ जा रहा था। इसके आगे का विवरण स्वयं लेखक के शब्दों में सुनिए : "काज़ी जेन-उल-यीन ने दुआ के लिए हाथ उठाया और सारी दुनिया के लिए दुआ माँगी—उन शहरों के लिए जिन्हें अभी तक बरबाद नहीं किया गया था; उन नागरिकों के लिए जिनका कत्लेआम नहीं हुआ था; उन औरतों के लिए जिनकी इस्मत (सतीत्व) दुनिया-भर के मकानों में सुरक्षित थी; उन बच्चों के लिए जो यतीम नहीं हुए थे और गुलाम नहीं बने थे। और जब वह दुआ माँग रहा था, तो कोई उसके दिल में कह रहा था : यह सब बेकार है, क्योंकि वे दोनों आँखें आहनपोश हो चुकी हैं।"

काज़ी जेन-उल-यीन ने तैमूर से सिर्फ़ यही नहीं कहा था कि न्याय के क्षेत्र में षड्यन्त्र नहीं चल सकता, बल्कि उसने यह भी कहा था, "जब जिस्म को फ़ौलाद का कवच पहनाया जाता है और सिर पर लोहे की टोपी ओढ़ी जाती है, तब भी आँखें खुली रहती हैं, हालाँकि आँखें जिस्म का सबसे नाज़ुक हिस्सा हैं; लेकिन जब आँखें आहनपोश (लोहे से ढकी) हो जाएँ, तो कवच बेकार है, लोहे की टोपी बेकार है। इन्साफ़ में इतना ही खतरा है, जितना आँखें खुली रखने में, लेकिन आँखों के आहनपोश होने में ज़्यादा खतरा है।"

एक और अहसास, जो विशेष रूप से सामने उभरकर आया, यह है कि नई पौध, जो अतीत से अपना रिश्ता तोड़ चुकी है और महज़ आज़ाद-ख़याली के भरोसे पर ज़िन्दगी गुज़ार रही है, नैतिक दृष्टि से दिवालिया है। उसका यही दिवालियापन उसे जीवन की सारी खुशियों से वंचित कर रहा है। ऐसे ही उखड़े हुए लोगों की कहानी

कर्तुल-ऐन-हैदर ने अपने उपन्यास 'सीता-हरण' में बड़ी खूबसूरती से पेश की है।

इस उपन्यास की केन्द्र-बिन्दु सीता एक आज़ाद-ख़याल लड़की है। वह इतने स्वच्छन्द विचारों की है कि जब हुमा की माँ उसके आदाब-अर्ज़ करने पर कहती है, 'नाम तो तुम्हारा सीता है और तुम मुझे जयरामजी के बजाय आदाब-अर्ज़ कहती हो', तो वह बाहर आकर गुस्से में हुमा से कहती है, 'हुमा! तुम्हारी अम्मा भी खूब है। मैं जयरामजी क्यों कहूँ? आई एम नॉट ए ब्लडी हिन्दू', लेकिन सीता की ट्रेजडी यह नहीं कि उसके बाद वह कुछ भी न बन सकी। जिस औरत ने उसे जयरामजी के बजाय आदाब-अर्ज़ कहने पर टोका था, वह भी कोई ऐसी पुरातनवादी न थी। देवी-देवताओं की पूजा करने के बावजूद वह कुछ सीमाओं की कायल थी। वह सीता से कहती है, 'अरी, इनको प्रणाम तो कर ले, तेरा क्या बिगड़ जाएगा? भगवान् तो हरएक चीज़ में है। अरी, बावली, डरे क्यों? मेरी भी दो भतीजियों ने मुसलमानों से ब्याह कर लिया है। आजकल यही हवा चली है, मगर उनको घर से निकाल थोड़े ही दिया है।'

सीता शुरू से आखिर तक उखड़ी ही रहती है और उसके तमाम सहारे धीरे-धीरे टूटते जाते हैं। असल में 'सीताहरण' पूरे युग की ट्रेजडी है। यह एक ऐसा युग तथा भावधारा है, जिसमें सब मजलूम हैं, ज़ालिम कोई भी नहीं। आक्षेप-भरी उँगलियाँ किसी की तरफ़ नहीं उठतीं।

जिन समालोचकों ने साहित्य को विशुद्ध भौतिक सिद्धान्तों की रोशनी में परखने तथा सृजन-प्रक्रियाओं को बँधे-सधे आर्थिक नियमों में जकड़े रखने का विरोध किया, उनमें फ़िराक गोरखपुरी और कलीमुद्दीन अहमद पेश-पेश हैं। फ़िराक गोरखपुरी ने 'सवेरा' में 'शेर और शायर' के शीर्षक से जो लेख लिखा, उसमें वे कहते हैं, "जिन्दगी की बाह्य समस्याओं का हल शायरी नहीं, लेकिन वह आन्तरिक समस्याओं का हल ज़रूर है। ऐसा तो सम्भव नहीं है कि जीवन की प्रत्येक बाह्य समस्या तथा रागात्मक अनुभूतियों का सफल चित्रण कोई एक शायर कर सके, लेकिन युग की समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में उसकी रचनाओं में अवश्य अवतरित होती हैं। शायरी का उद्देश्य, हम जो कुछ भी समझें, हमारी संवेदनाओं, रागात्मक भावनाओं तथा सरस अनुभूतियों का आलोड़न और चेतना की नवीन परतों को खोलना है। सौन्दर्य-बोध कराना ही शायरी का मुख्य उद्देश्य है।"

और कलीमुद्दीन अपनी नवीनतम पुस्तक में लिखते हैं, "अगर हमें रोटी न मिले, तो हम शेर नहीं कह सकते। शेर कहना तो बड़ी बात है, हम ज़िन्दा भी नहीं रह सकते; लेकिन हाँ, अगर बहुत-सी रोटियाँ मिल जाएँ, तो भी हम शेर नहीं कह सकते।"

आजकल इस बात पर भी बहुत ज़ोर दिया जा रहा है कि उर्दू साहित्य में धरती की बू-बास का होना बहुत ज़रूरी है। वैसे तो हर युग में उर्दू कोई-न-कोई ऐसा शायर या लेखक ज़रूर पैदा करती रही है, जिसकी कला पर स्थानीय प्रभाव की गहरी छाप है, लेकिन आलोचकों की दृष्टि ऐसे कलाकारों पर कुछ कम ही पड़ती थी। अब ऐसे कलाकारों को विशेष रूप से सराहा जाने लगा है, जिनकी रचनाओं में धरती-पूजा खासतौर पर मौजूद हो। डॉक्टर वज़ीर आग़ा ने मीराजी पर 'धरती-पूजा की एक मिसाल' के शीर्षक से एक लेख लिखा है। उसमें वे लिखते हैं, "मीराजी की नज़्में धरती-पूजा की एक अनोखी मिसाल प्रस्तुत करती हैं, बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि उर्दू नज़्म में मीराजी वह पहला शायर है, जिसने महज़ रस्मी तौर पर मुल्क के रीति-रिवाजों, विश्वास और निष्ठाओं का चित्रण नहीं किया है और न ही पश्चिमी सभ्यता के प्रतिक्रिया-स्वरूप अपने वतन के गुण गाये। उसकी आत्मा धरती माता की आत्मा से एकरस हो गई है। उसके सोचने और महसूस करने का ढंग प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं और देवमाला से अवगुंठित है। दूसरे शब्दों में, मीराजी एक भक्त, दरवेश या बहादुर-वीर पुजारी की तरह अपनी धरती की पूजा करता है; मात्र रस्मी तौर पर वतन-दोस्ती का साथ नहीं देता। यही वजह है कि उसकी नज़्मों का मूल स्वर फ़िज़ा और प्रकृति—देश की मिट्टी से समन्वय स्थापित कर चुका है।"

यदि मीराजी की नज़्मों को देवनागरी लिपि में प्रकाशित कर दिया जाए, तो उन्हें हिन्दी कविता की श्रेणी में सहज ही रखा जा सकता है। ● ● ●

मायाधर मानसिंह

उड़िया साहित्य : एक परिचय

डॉ० मायाधर मानसिंह का जन्म १९०५ में नन्दला (पुरी) में हुआ। इन्होंने एम० ए० और डुरहैम से पी-एच० डी० किया। डॉक्टरेट के लिए शोध-प्रबन्ध का शीर्षक था 'कालिदास और शेक्सपीयर का तुलनात्मक अध्ययन', जो अंग्रेजी में लिखा गया था। ये कवि होने के साथ ही बहुत अच्छे समालोचक भी हैं। आजकल उत्कल विश्वविद्यालय में प्राध्यापक, 'उड़िया विश्व कोश' के सम्पादक और साहित्य अकादेमी की उड़िया परामर्शदात्री समिति के संयोजक हैं, और कटक में रहते हैं। यह लेख साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'आज का भारतीय साहित्य' से यहाँ साभार उद्धृत किया जाता है।

भाषा और लोग

भारतीय गणराज्य के दक्षिण-पूर्वी अंचल में अवस्थित उड़ीसा राज्य की भाषा उड़िया है। उड़िया बोलनेवाले एक करोड़ पचास लाख लोग हैं। उड़ीसा राज्य की राजनीतिक सीमाओं के बाहर कई लाख उड़िया-भाषी लोग बसते हैं। प्राचीन भारत में जिन्होंने कलिंग, उत्कल तथा ओड्र नाम से सैनिक और नौसैनिक गौरव प्राप्त किया था, उड़िया उन लोगों की भाषा है। प्राचीन उत्कलों का साम्राज्य कई शताब्दियों तक गंगा के किनारे से गोदावरी के तट तक फैला हुआ था। उनके साम्राज्य समुद्र-पार कई उपनिवेशों के रूप में भी विख्यात हुए हैं। वस्तुतः प्रसिद्ध शैलोद्भवों का राज्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के कई देशों में फैला हुआ था। परन्तु जैसा कि साधारणतया होता है, उपनिवेश और साम्राज्य तो मिट गए, और प्राचीन कलिंग अब एक छोटे-से उड़ीसा राज्य के रूप में सिमट आया है। अब वह भारतीय गणतन्त्र का एक भाग है। लेकिन उड़िया जनता के पास फिर भी श्रेष्ठ कला और स्थापत्य की भव्यता के रूप में एक महान् साम्राज्य विद्यमान है। प्राचीन सशक्त साम्राज्य और वास्तु-कला के उन निर्माताओं ने अपनी भावी पीढ़ियों के लिए एक अमूल्य धरोहर के रूप में यह सब सुरक्षित रखा है। उड़िया लोगों की भवन-निर्माण-कला प्रायः एक सहस्राब्दी तक जीवित रही। इसका आरम्भ खण्डगिरि, उदयगिरि की दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व वाली जैन गुफाओं से हुआ, और यह परम्परा तेरहवीं शताब्दी में कोणार्क के अत्यन्त सुन्दर और भव्य पाषाण-स्वप्न में आकर जैसे रुक गई। वस्तुतः यह विचारणीय बात है कि साहित्यिक कला का विकास तभी हुआ जब ऐसी किन्हीं परिस्थितियों के कारण, जिनका कि पूरा परीक्षण अभी तक नहीं हो पाया है, इस देश की शिल्प-स्थापत्य-रचना-सम्बन्धी कलात्मक अभिव्यंजना प्रायः समाप्त हो गई।

असमिया, बंगाली और उड़िया पंडित सभी 'बौद्ध गान ओ दोहा' (जो कि आठवीं और नवीं शताब्दी ईस्वी की रचना है) को ही अपनी भाषाओं का सर्वप्रथम साहित्यिक ग्रन्थ मानते हैं।

चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं के अन्त तक के पाँच सौ वर्षों में, जबकि अत्याधुनिक काल का आरम्भ होता है, उड़िया साहित्य का विकास और निर्माण प्रायः उन्हीं रेखाओं पर हुआ, जिन पर अन्य आधुनिक भारतीय साहित्यों का कहीं-कहीं रूप और सजावट में स्थानीय विशेषताएँ आ गई हैं। समूचे साहित्य का रूप ऐसा है कि उसमें धार्मिक और साहित्यिक दोनों तत्त्वों का सम्मिश्रण है। धार्मिक साहित्य में अकल्पनीय स्वप्न, भावना और कुण्ठाएँ उन लेखकों के मन में मिलती हैं जो कि रामायण, महाभारत

और भागवत पुराण के तीन संयुक्त वर्तुलों के बाहर से कोई विषय लाने का साहस नहीं कर सके। परन्तु इन संकुचित क्षितिजों में भी महान् तथा अमर कृतियाँ रची गईं। इनसे सम्बन्धित क्षेत्र में भी जितनी रचनाएँ हुई हैं वे संख्या में विशाल हैं। यदि असंख्य भाव-गीतों तथा गीत-काव्यों को छोड़ भी दें तो उड़िया में कम-से-कम रामायण के बारह अनुवाद और महाभारत के चार अनुवाद प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक युग

मध्य युग अपने पौराणिक वातावरण-सहित आधुनिक युग से एकदम भिन्न है। पश्चिम के सम्पर्क से जनता के स्वप्न और दृष्टिकोण का पुनर्निर्माण हुआ, और उन्हें एक नया मूल्यांकन करने की शक्ति प्राप्त हुई। उसी में से एक आधुनिक प्राणवान साहित्य निर्मित हुआ, जिसमें भाव-संवेदन और दृष्टिकोण के अनेक व्यापक क्षेत्र ऐसे हैं, जो कि प्राचीन महान् लेखकों के लिए एकदम अज्ञात थे।

विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण पश्चिम का यह सम्पर्क उड़ीसा में शायद बहुत देर से आया और इस प्रकार आया कि जनता के लिए हानिकारक हुआ। पड़ोसी भाषा-भगिनी बँगला की तुलना में उड़िया अपेक्षाकृत ज्यादा पिछड़ी हुई है। उसका कारण यह नहीं है कि यह भाषा और इसको बोलने वाली जनता अपेक्षाकृत हीन है। परन्तु वे अवसर, जो कि बंगाल को मिले और जिनके कारण बंगाल अंग्रेज़ी राज्य में कई दिशाओं में समृद्ध बना, उड़िया-भाषियों को कम-से-कम एक शताब्दी के लिए प्राप्त नहीं हो सके।

उड़िया भाषा-भाषियों को अपना राज्य केवल विगत बीस वर्षों से मिला है। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब से उड़ीसा की स्वतन्त्रता छिनी तब से चार सौ वर्षों तक, यानी जब अंग्रेज़ों ने भारत छोड़ा उसके दस वर्ष पहले तक, उड़ीसा और उड़िया-भाषी चार अलग-अलग प्रदेशों में बँटे हुए दलितों और निर्दयता से शोषित अल्पसंख्यकों के रूप में मिलते हैं। उड़ीसा स्वायत्त खण्ड-राज्य के रूप में अभी-अभी आगे बढ़ा है। प्लासी के युद्ध के सौ वर्ष बाद, जबकि बंगाल का अपना एक विश्वविद्यालय था, अंग्रेज़ी स्कूल और कॉलेज तो अगणित थे और उसके साथ बंगला उच्च स्तर पर विकसित हो चुकी थी, उड़िया और असमिया में दिखाने योग्य कुछ भी नहीं था। यहाँ तक हालत थी कि उड़ीसा में एक पूरा पक्का हाई-स्कूल भी नहीं था। इन सबके बावजूद यदि यहाँ की भाषा और साहित्य न केवल जीवित रहे बल्कि पनपे, तो उसका श्रेय मुख्यतः उस विद्रोह की शक्ति को देना चाहिए जो कि उड़िया भाषा में शोषण के विरुद्ध व्यक्त हुई। आधुनिक उड़िया साहित्य के जनक और उस विद्रोही शक्ति के प्रतीक अत्यन्त विद्वान और योग्य व्यक्ति थे फ़कीरमोहन सेनापति।

फकीरमोहन सेनापति (१८४३-१९१८) अपने गोत्र-नाम के ही अनुरूप सचमुच में आधुनिक उड़िया साहित्य और राष्ट्रीयता के सेनापति बने। वे कई बातों में एक विलक्षण और अभूतपूर्व व्यक्ति थे। उनकी विधिवत् शिक्षा-दीक्षा केवल तीन या चार साल तक हुई। उन्होंने अपने चाचा के सहकारी के रूप में ज़िन्दगी की शुरुआत की। उनके चाचा उन दिनों फकीर मोहन के जन्म-स्थान और जहाज़ी व्यापार के लिए प्रसिद्ध बालासोर नामक बन्दरगाह में, टूटे हुए जहाज़ों को सुधारने के काम पर निरीक्षक थे। यहाँ से शुरू करके, अपनी प्रतिभा और परिश्रम की सहायता से, फकीर मोहन उड़ीसा की कई रियासतों के दीवान बनते गए। उन्हें पाँच भाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था, थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी भी वे जानते थे। उड़ीसा में उन्होंने सबसे पहले सहकारी ढंग पर मुद्रण, प्रकाशन और पत्रकारिता का काम किया। उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण रामायण और सम्पूर्ण महाभारत का मूल से आधुनिक उड़िया भाषा में अनुवाद किया, यद्यपि उड़िया भाषा में दोनों ही महाकाव्यों के बहुत-से अनुवाद पहले से थे। फिर उन्होंने कुछ ऐसी कहानियाँ लिखीं, जो उड़िया भाषा की सबसे पहली कहानियाँ थीं। गीतिकाव्य, भजन, खण्डकाव्य, परिहास-व्यंग्य और बुद्ध पर एक महाकाव्य इत्यादि कई प्रकार की रचनाएँ लिखकर उन्होंने अपने अवसर-प्राप्त उत्तरकाल में करीब आधे दर्जन उत्तम उपन्यास लिखे। ये आज भी अपनी टकसाली भाषा, धरती के प्रेम, गहरे स्पन्दनमय यथार्थवाद, परिहास और उच्च नैतिक स्तर के कारण अद्वितीय हैं।

फकीरमोहन को अभी भी उड़ीसा के बाहर के लोग

नहीं जानते। मैंने कई ऐसे आई० ए० एस० अफ़सरों से, जो कि उड़िया-भाषी नहीं हैं परन्तु उड़ीसा में रहने के कारण जिन्हें अध्ययन के लिए फकीरमोहन के एक-दो उपन्यास पढ़ने 'आवश्यक' होते हैं, सुना है कि उपन्यासकार के नाते 'सेनापति' आधुनिक भारतीय साहित्य में सचमुच अद्वितीय हैं। जनता के लेखक होने के नाते वे इसी क्षेत्र के अन्य कई लेखकों के प्रेरक और अग्रदूत थे। जब बंगाल के प्रसिद्ध बंकिमचन्द्र अत्यधिक संस्कृतमयी शैली में नवाबों, बेग़मों, राजाओं, राजकुमारियों, उच्च-मध्यवर्गीय और भद्रवर्गीय बंगालियों के बारे में लिख रहे थे, उड़ीसा का यह अज्ञात उपन्यासकार, सीधे-सादे, अशिक्षित जुलाहों, नाइयों और किसानों के बारे में, उन गाँवों के चौकीदारों के बारे में, जो कि खुद डाकुओं से मिलकर बदमाशी कराते हैं, शहरों और गाँवों में पाई जाने वाली निर्लज्ज और दुष्ट नौकरानियों के बारे में, अंग्रेज़ मजिस्ट्रेटों के यहाँ काम करने वाले लोभी क्लर्कों, घमण्डी वकीलों, पुराने खानदानों के उन युवक बेटों के बारे में, जो कि अंग्रेज़ी शिक्षा के पहले घूँट से ही मदमत्त हो गए थे और अपने-आपको तथा अपने माँ-बापों को बड़ी कठिनाइयों में डाल रहे थे, उन सबके बारे में फकीरमोहन ने लिखा है। फकीरमोहन को अंग्रेज़ी में कोई विधिवत् शिक्षा नहीं मिली थी। यह एक तरह से बड़ा लाभ ही हुआ। वह मुख्यतः जनता के आदमी थे। जनसाधारण की घरेलू सशक्त भाषा, जिसमें गाँवों की गलियों की सही गन्ध आती हो, धान के लिए और दैनिक गप-शप के लिए आन जुटती है और ये सब फकीरमोहन के स्वाभाविक विषय थे। इन सबका उपयोग उन्होंने अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में बहुत ही आकर्षक और प्रभावशाली ढंग से किया है। इन सारी चीज़ों को उन्होंने ऐसे असाधारण साहित्यिक महत्त्व और सहृदयता के साथ चित्रित किया है कि यदि वे ऐसा न करते, तो आज वे सब असम्भव जान पड़तीं।

फकीरमोहन के उपन्यासों और कहानियों में हमें स्त्री और पुरुषों के ऐसे जीवन्त चित्र मिलते हैं जिन्हें महान् साहित्यकार ही अपनी रचनाओं में निर्दिष्ट कर सकते हैं और जिनके कारण वे पात्र अमर हो जाते हैं, और सारे जीवित स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा अधिक प्राणवान जान पड़ते हैं। उड़िया-समाज के सभी स्तरों की एक राष्ट्रीय चित्रशाला का जैसा निर्माण फकीरमोहन ने किया है, उनकी कृतियाँ पढ़ते हुए मुझे बार-बार महान् सर्वान्तीस के 'दनेन किखोते' नामक इस्पहानी क्लासिक ग्रन्थ की याद हो आती है, जिसमें कि स्पेन की आत्मा का स्पष्ट और कलात्मक प्रतिबिम्ब है।

फकीरमोहन का उपन्यास 'छमाण अठगुण्ठ' (छः एकड़ और आठ गुण्ठा) है। इस उपन्यास को साहित्य अकादेमी ने अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना है। हिन्दी अनुवाद हो चुका है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। विदेशी भाषाओं में भी इस उपन्यास के अनुवाद की सिफ़ारिश की गई है। एक ऐसे सरल, शिशु-विहीन जुलाहे दम्पती की कथा है, जिसे गाँव के एक साहूकार ने अपनी क्रूरता से बहुत अधिक शोषित किया था। इस पुस्तक में सेनापति का ग्रामीण यथार्थवाद अपनी चरम सीमा पर है। यह उपन्यास सबसे पहले 'उत्कल साहित्य' नामक पत्र में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। ऐसा कहते हैं कि इस उपन्यास में हत्या का जो मुक़दमा है उसकी खोज-बीन और पृष्ठभूमि के वर्णन इतने सजीव थे कि दूर-दूर के लोग यह देखने के लिए कटक में आते थे कि यह मुकदमा सचमुच कैसे हो रहा है; वास्तव में वे इस उपन्यास के पात्रों को सजीव मानकर चलते थे।

इस उपन्यासकार ने कई मौलिक बातों में प्रेमचन्द के 'गोदान' को पचास वर्ष पहले ही जैसे पूर्व-कल्पित कर लिया था, यद्यपि दोनों उपन्यासों की घटनाओं में कोई समानता नहीं है। सेनापति का 'लछमा' एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें बंगाल और उड़ीसा में 'बर्गी' या मराठा आक्रमणकारियों के अत्याचारों का वर्णन है। उनके 'मामूँ' और 'प्रायश्चित्त' नामक उपन्यासों में यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव से पुरानी समाज-व्यवस्था के विघटन का चित्र है, जो एक आदर्शवादी युवक के मन के द्वन्द्व के रूप में चित्रित किया गया है। इन्हें एक प्रकार से प्रायश्चित्त और पुनर्जीवन के नीति-प्रधान ग्रन्थ मानना चाहिए, क्योंकि इनमें जो पात्र दिखाये गए हैं, वे कई प्रकार के ऊँचे-नीचे अनुभवों में से गुज़रते हुए, ग़लतियाँ करते हुए, फिर सदाचार और सच्चे जीवन-पथ पर लाये गए हैं।

फकीरमोहन न केवल एक साहित्यिक रचयिता थे, बल्कि बंगाल के सांस्कृतिक और भाषा-सम्बन्धी आक्रमण के विरोध में जो आन्दोलन उड़ीसा में शुरू हो रहा था, उसके प्रमुख कार्यकर्ता भी थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा के पुनर्जीवन के कार्य में बहुत बड़ी सहायता की, जिसके कारण उड़िया साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय हो गया है।

राधानाथ और मधुसूदन

फकीरमोहन अपने कार्य में अकेले नहीं थे। उस समय प्रतिभाशाली लेखकों का जो एक दल प्राचीन उड़िया साहित्य और सांस्कृतिक परम्परा के पुनर्जीवन के लिए प्रशंसनीय सेवा-कार्य कर रहा था, उनमें राधानाथ राय और मधुसूदन राय भी थे। दोनों महाकवि थे। इस त्रयी ने मनुष्य, प्रगति और ईश्वर को अपने काव्यों का विषय बनाया, और इस प्राचीन भाषा में एक नया स्वायत्त और स्वयंपूर्ण साहित्य निर्मित किया। इन तीनों मित्रों की पूरी साहित्यिक कृतियाँ यदि हम पढ़ें तो यह पता चलेगा कि किसी भी समृद्ध साहित्य के सब तत्त्व इन कृतियों में भरे हुए हैं।

शहरों और गाँवों की दशा और शान्त सामाजिक जीवन के नीचे जो मानवीय वासनाओं का नाटक चल रहा है, उसे फकीरमोहन ने सारे देश के सामने खोलकर रख दिया। 'मधुसूदन' (१८५३-१९१२) ने अपने भव्य काव्य में विश्व के साथ पवित्र जीवन और मानवीय आत्मा के आध्यात्मिक मिलन की गाथा गाई है। उनके विषय हिमालय के सुन्दर हिमजड़ित ऊँचे शिखरों से लेकर द्वन्द्व-मय जीवन की साधारण छोटी-छोटी घटनाओं तक बिखरे हुए हैं। उन्होंने कभी भी साहित्यिक कीर्ति के लिए कोई सचेष्ट प्रयत्न नहीं किया और इसलिए कभी भी कोई विशाल ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न नहीं किया। उनकी रच-नाओं में छोटे-छोटे गीत, भाव-कविता, गीति-काव्य, सूत्र और सानेट असंख्य मात्रा में बिखरे हुए हैं। उन सबमें एक उच्च जीवन का वातावरण मिलता है। इनमें से कुछ, जैसे कि दस-बारह सानेट, 'नदी प्रति', 'आकाशा प्रति' और 'ध्वनि', उनके सूक्त और उनकी दो गीति-कविताएँ 'हिमाचले उदयोत्सव' और 'ऋषिप्राणे देववतरण' ऐसी हैं जो कि किसी भी साहित्य के लिए गौरव हो सकती हैं। होस्टलों में हजारों बालक प्रतिदिन सायंकाल उनके रचे हुए भजन गाते हैं। उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन में नहीं, तो कम-से-कम साहित्य में तो उनकी कविता एक सशक्त तथा चैतन्ययुक्त, नैतिक और आध्यात्मिक बल के रूप में अभी भी प्रतिष्ठित है।

राधानाथ (१८४८-१९०८) एक सच्चे कवि और सौन्दर्य-द्रष्टा थे। सेनापति ने जो कुछ गद्य में किया, उन्होंने उसकी पूर्ति कविता के रूप में की। उन्होंने उड़िया-भाषियों के लिए एक सच्चा साहित्य निर्मित किया। यह धरती का साहित्य था, और धरती के बेटों के लिए था, और फिर भी उसमें ऐसा सौन्दर्य और चमत्कार है जो कि अभूतपूर्व था। उड़िया-कविता में जो नवीनता राधानाथ के द्वारा आई, उसकी दोनों दिशाएँ स्पष्ट हैं। उन्होंने ही उड़िया-पद्य को शाब्दिक कसरत से मुक्त किया। यह अलंकार-प्रियता उपेन्द्र भंज और उनके अनुयायियों के प्रभाव से मध्ययुगीन कविता के एक अनिवार्य अंग के रूप में चल रही थी। अनुप्रासों का अनुपात कम करके तथा शैली पर विशेष ध्यान देकर राधानाथ ने अपने पद्य को सरल वेश-भूषा में इतना आकर्षक बना दिया कि वह किसी भी प्राचीन कवि की रचना के समकक्ष जान पड़ता है। शब्द और अर्थ के बीच जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके प्रति एक गहरा सम्मान उन्होंने सबसे पहले अपने पद्य में आरम्भ किया। इस विषय में यानी वागर्थ के संश्लेषण अर्थात् सही शब्दों और सही विशेषणों को चुनने में वे अपने गुरु कालिदास का अनुकरण करते जान पड़ते हैं।

'राधानाथ' उड़िया कविता के माध्यम में जो क्रान्ति लाए, उससे भी अधिक आधुनिक उड़िया साहित्य और उड़िया के राष्ट्रीय जीवन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकार। एक प्रकार से उन्होंने उड़ीसा के समस्त प्राकृतिक दृश्य को सौन्दर्यान्वित कर दिया। अपनी कविता की विषय-वस्तु के लिए उन्होंने उड़ीसा के प्राचीन इतिहास या लैटिन या यूनानी पुराण-कथाओं से जनश्रुतियाँ और ऐतिहासिक गाथाएँ लीं तथा जहाँ विदेशी कथा-वस्तु थी, उसे भी उड़िया वातावरण में ऐसा ढाल दिया कि उड़ीसा का सारा भू-भाग मानो इन्हीं

नायक-नायिकाओं के लिए एक रंगमंच की तरह से प्रस्तुत हो। उनके पहले चार शताब्दी तक उड़िया कवि (जिनमें कि सारलादास और बलरामदास अपवाद हैं) केवल गंगा, यमुना और गोवर्धन पर्वत इत्यादि उत्तर भारत के प्राकृतिक स्थानों का ही वर्णन करते थे, जबकि उनमें से किसी ने भी उन्हें शायद देखा नहीं था। अपने ही घर के सुन्दर प्राकृतिक दृश्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई थी। उड़ीसा की चौड़ी और बड़ी नदियाँ महानदी, ब्राह्मणी, वैतरणी और मलयगिरि, मेघासन और महेन्द्र-जैसे चित्रोपम पर्वत अनगाए ही रह गए। उड़ीसा के सुन्दर भू-भाग का पहला सच्चा प्रशंसक और गायक, जिसने कि उस अंचल के प्राकृतिक सौन्दर्य को सब प्रकार से और भाव-कविता के उत्साह से वर्णित किया, हमें राधानाथ के रूप में मिलता है। उन्होंने 'चिलिका' सरोवर पर एक लम्बा भावपूर्ण खण्डकाव्य लिखा। चिलिका उड़ीसा की सुन्दर समृद्ध झील है। इस काव्य में चमत्कारपूर्ण, प्रसाद और माधुर्य से भरे दो-दो पंक्ति वाले छन्दों में इस झील के विविध मनोरम रूपों का ऐसा सुन्दर गुण-गान हुआ है मानो प्रकृति देवी के प्रति यह एक स्तोत्र ही हो, और वह भी इतनी आत्मीयता के साथ रचा गया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो वह झील एक जीवित व्यक्ति हो। इस काव्य में स्थान-स्थान पर उड़ीसा के उन समकालीन संस्मरणीय दिवसों और सर्वसाधारण के जीवन पर कई विचार व्यक्त किये गए हैं। इसी कारण राधानाथ की 'चिलिका' (यह काव्य साहित्य अकादेमी द्वारा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना गया है। इसका हिन्दी अनुवाद हो चुका है और शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।) उड़िया साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण सीमाचिह्न बन गई है।

राधानाथ मूलतः महाकवि थे। उन्होंने गीत बहुत थोड़े लिखे हैं। उनकी रचनाओं में मुक्तक काव्य हैं। अर्द्ध-ऐतिहासिक गीत, सरल विषय, प्रवाहपूर्ण सुखद वर्णन-शैली, देश-भक्तिपूर्ण स्थानीय वातावरण और भावनाएँ, जीवन और जगत के प्रति दार्शनिक विचार—इन गुणों के कारण राधानाथ की रचनाएँ उड़िया कविता में अद्वितीय हो गई हैं, और उन्हें यह समुचित सम्मान दिया जाता है कि उड़िया साहित्य में नवयुग का निर्माण उनके काव्यों से हुआ।

उनकी कृतियों में उनका सबसे बड़ा महाकाव्य 'महायात्रा' नाम से प्रकाशित हुआ है। यह उदात्त, मधुर और चित्रोपम मुक्त-छन्द में है। कवि की इच्छा थी कि वे उसे इक्कीस सर्गों में पूरा करते, परन्तु सात सर्गों के बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। अपूर्ण रूप में भी उनका वह काव्य एक विलक्षण कृति है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद पाण्डवों के स्वर्ग-प्रयाण की अन्तिम यात्रा उन्होंने महाभारत से ली, और इस कथानक की नींव पर वे पूरे भारतवर्ष के इतिहास और विदेशी आक्रमणों के उत्थान-पतन तथा भविष्य के लिए एक दिशा-निर्देश का चित्र उपस्थित करना चाहते थे। उन्होंने इस काव्य में पाण्डवों को जगन्नाथपुरी में आता हुआ दिखाया है, जहाँ उन्हें अग्निदेव मिलते हैं, जो कि उड़ीसा और मध्य प्रदेश के आदिम जंगलों में से उन्हें सह्याद्रि के शिखर पर ले जाते हैं। वहाँ अग्निदेव उन्हें भारतीय इतिहास की पूरी कहानी विस्तार से बतलाते हैं, और आर्यों के अपने देश में आने वाले कलियुग से क्या-क्या पतन हो गया, इसका भी वर्णन करते हैं। पृथ्वीराज को मुहम्मद ग़ोरी ने पराजित किया, इन घटनाओं तक कवि यह कहानी लाते हैं। इसमें युद्धों और प्रकृति का वर्णन महाकाव्योचित भव्यता से किया गया है। अन्तिम युद्ध के आरम्भ में हिन्दू सेनापति का देशभक्तिपूर्ण भाषण बड़ा ही उत्साहवर्धक और अविस्मरणीय है।

परवर्ती लेखक

राधानाथ, फ़क़ीरमोहन और मधुसूदन के पीछे-पीछे उनके कई अनुयायी आए, जिनमें से दो लेखकों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि एक में तो उसके अत्यल्प लेखन में भी मौलिकता के दर्शन होते हैं और दूसरे की काव्य-शक्ति में विलक्षण कुशलता दिखाई देती है।

नन्दकिशोर, राधानाथ और मधुसूदन के अनुकरण में ही बहुत-कुछ लिखते थे। उन्होंने अपनी कविताओं में उड़ीसा के गाँवों का चित्रण किया है। लोक-गीतों और लोक-धुनों को वह आधुनिक भाव-गीतों के क्षेत्र में लाए। उनके 'पल्ली-चित्र' नामक काव्य में ऐसी गहरी भावनाएँ व्यक्त हैं, जो कि प्रत्येक उड़िया व्यक्ति के हृदय

में अपने शान्त, सुन्दर, स्वयंपूर्ण तथा पवित्र ग्रामीण वातावरण की ओर लौट जाने के लिए होती है और अब जहाँ का वातावरण इतना बदल गया है कि वे वापस लौटकर नहीं आ सकते। उस पर भी आधुनिक सभ्यता का क्रूर आघात हुआ है। उनका 'नाना बाया-गीत' (कुछ शिशु-छन्द) उड़िया में अभी भी बच्चों की कविता का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह मान जाता है।

गंगाधर मेहेर सम्बलपुर के एक गरीब जुलाहे कवि थे, जो अपनी काव्य-कुशलता के लिए प्रसिद्ध हैं। कम पढ़े-लिखे होने के कारण उनका क्षेत्र भी बहुत छोटा है, परन्तु प्राचीन पुराण-गाथाओं के विषय में उन्होंने एक नवीन जादू और रस भर दिया। उनकी पंक्तयों में नवीन संगीत और उनके छन्दों में नया मँजाव है। उनके चित्रों में एक विशेष दृष्टि और वास्तविकता है, जो कि उड़ीसा में पहले न तो कभी देखी गई और न सुनी गई। सम्बलपुर के उस विश्व-विख्यात हाथ से बने कपड़े की तरह, जो कि वह वंश-परम्परा से अपने जीवनयापन के लिए पैदा करते थे, मेहेर ने कविता को भी एक सजीव, रंगीन और सचित्र कला का रूप दिया। उनका एक-एक काव्य चित्र-कला के नमूने की तरह है। उनमें भावनाएँ, रंग और घटनाएँ बोलती हैं। उनका क्षेत्र सीमित था, परन्तु उस छोटी-सी दुनिया में उन्होंने अनेक छोटे-छोटे स्वर्ग निर्मित किए। उनके कई छन्द और श्लोक अब जन-साधारण की बोल-चाल के भाग हो गए हैं, और उनकी छन्द-रचना उड़ीसा में अब तक सर्वोत्तम काव्य-कला का माप-दण्ड मानी जाती है। प्राचीन और आधुनिक सभी भारतीय काव्यों में उनके छन्द सबसे पुराने और संगीतमय माने जाते हैं। उनके प्रसिद्ध काव्य 'तपस्विनी' की सीता नारी-आदर्श का बहुत ऊँचा नमूना है।

सत्यवादी शाखा

इस शताब्दी के तीसरे दशक तक राधानाथ और मधुसूदन के अनुयायी अपनी परम्पराएँ बार-बार चलाते आए हैं, फिर भी यह कहना होगा कि साहित्यिक शक्ति के नाते उनका प्रभाव पहले दशक में प्राय: समाप्त हो गया था, क्योंकि बुद्धिवादियों की एक नई पीढ़ी धीरे-धीरे आगे आ रही थी।

१९०३ में, अर्थात् उड़ीसा में ब्रिटिश आधिपत्य के ठीक सौ वर्ष बाद, 'उत्कल सम्मिलनी' की स्थापना हुई। इसके मंच पर राजा और रंक, सामन्त और साधारण जनता, कन्धे-से-कन्धा मिलाकर उड़िया-भाषी भू-प्रदेश के एकीकरण की मिली-जुली माँग कर रही थी। वस्तुत: भारत में एक भाषा-भाषी प्रान्त की यह सबसे पहली माँग थी। १९०३ से प्रथम महायुद्ध के अन्त तक, और गांधीजी के आगमन और उनके असहयोग-आन्दोलन तक, उड़िया लोगों का यह सबसे बड़ा स्वप्न और सबसे महत्त्वपूर्ण आकांक्षा थी। यह प्रादेशिक राष्ट्र-प्रेम आधुनिक भारत के जिस एक बहुत बड़े सपूत के रूप में अभिव्यक्त हुआ, वे थे पंडित गोपबन्धु दास (१८७७-१९२८)। उनके गद्य, पद्य और भाषणों ने उड़ीसा की जनता को इस तरह अनुप्राणित कर दिया, जैसा न तो कभी पहले हुआ और न बाद में ही। ऐसा लगता था मानो उनके शब्द समूची जनता के हृदयों से—अन्तरात्मा से—आ रहे हों। उन्होंने पुरी के पास साखीगोपाल नामक स्थान पर एक 'विहार' स्थापित किया, जहाँ अनेक बड़े-बड़े विद्वान् (जैसे पंडित नीलकण्ठ दास, पंडित गोदावरीश मिश्र और पंडित कृपासिन्धु मिश्र) बहुत साधारण पारिश्रमिक पर काम करते रहे। यह 'विहार' प्राय: बारह वर्ष तक चलता रहा और यही था उड़ीसा का सांस्कृतिक केन्द्र। इस शाला के सब अध्यापक पंडित गोपबन्धु के प्राणदायक नेतृत्व के नीचे शिक्षा और साहित्य की सेवा तथा उसके पुनर्निर्माण में जुट गए। वस्तुत: यह एक पुनरुत्थानवादी आन्दोलन था, जो कि जनता को फिर से वैदिक संस्कृति की ओर ले जाने की माँग करता था। गोपबन्धुदास 'सत्यवादी' नाम का एक मासिक पत्र निकालते थे और साप्ताहिक 'समाज' की स्थापना भी उन्होंने की थी। इन पत्रों के पृष्ठों में गोपबन्धु ने अपनी पूरी भावनाएँ, आकांक्षाएँ और उमंगें ऐसी गद्य-शैली में व्यक्त कीं, जो कि अपनी भव्यता, शुद्धता, व्यंजना-चातुर्य, विचारों की शिष्टता और सच्चे काव्य-रस से भरी हुई हैं। यह गद्य-शैली अब उड़िया में देखने को नहीं मिलती। उनकी 'बन्दी का आत्म-चिन्तन' नामक कृति उड़ीसा में लोक-गीतों की भाँति अत्यन्त लोकप्रिय है।

पंडित नीलकंठदास ने, जो गोपबन्धु के निकटतम अनुयायी हैं, अपनी 'आर्य जीवन' नामक पुस्तक में पांडित्य-मयी शैली में ब्राह्मण आदर्शों का फिर से प्रचार किया। उन्होंने 'कोणार्क' पर एक सुन्दर काव्य-रचना की। इस काव्य की भूमिका में उड़ीसा के इतिहास का स्पष्ट और विचारोत्तेजक सिंहावलोकन किया गया है, जो कि सत्य-वादी 'विहार' के विद्यार्थियों के स्वप्नों के रूप में चित्रित है। इन विद्यार्थियों को वे कोणार्क में शैक्षणिक यात्रा पर ले गए थे। पंडित नीलकंठ दास राजनीति के वीरान बीहड़ में बहुत दिन भटकने के बाद अब साहित्य के रचनात्मक जगत् की ओर लौटे हैं और इधर उन्होंने एक नूतन दिशा-बोध कराने वाला सामाजिक-साहित्यिक इतिहास लिखा है। अनेक खण्ड वाले 'उड़िया साहित्यार क्रम-परिणाम' नामक गद्य-ग्रंथ को सर्वसाधारण पाठकों ने उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति माना है। उसी धारा के पंडित गोदावरीश मिश्र ने मन को हिला देनेवाले राष्ट्रीय नाटक, कविताएँ और उत्तम वीर-गाथाएँ लिखी हैं। कुल मिलाकर अब तक उड़ीसा में सामूहिक रूप से निर्मित साहित्यिक उपलब्धियों में यह सबसे अच्छा युग और सबसे सुन्दर रचयिताओं का दल है। 'सत्यवादी' धारा क्यों लुप्त हो गई, इसका चाहे कुछ भी कारण हो, किन्तु यह तो सच है कि उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन में उस धारा के नष्ट होने से एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया, जो फिर कभी नहीं भर सका। अपने छोटे-से जीवन में यह धारा उड़ीसा के लिए वैसी ही थी, जैसा बंगाल के लिए 'शान्तिनिकेतन'।

नाटक और रंगमंच

इन वर्षों में नाटक धीरे-धीरे ऊपर आ रहे थे। न केवल साहित्य की एक प्रतिष्ठित शाखा के रूप में, बल्कि उड़ीसा के राष्ट्रीय जीवन के अंग और माँग के नाते भी ये नाटक निर्मित हुए। क्योंकि उड़ीसा में बंगाली नाटक-मण्डलियाँ मंच पर बंगाली नाटक खेलती थीं और यह एक चुनौती थी जिसका उत्तर उड़िया नाटक के रूप में आगे आया। रामशंकर राय, कामपाल मिश्र, भिखारीचरण पटनायक और गोविन्द सुरदेव धीरे-धीरे रंगभूमि को एक सशक्त और सम्मानित माध्यम के रूप में इस प्रदेश में प्रतिष्ठित कर रहे थे। उनके द्वारा रंगभूमि केवल मनोरंजन का स्थान न रहकर, समाज-सुधार और राष्ट्रीय पुनरुत्थान का भी मंच बन गई। जिस प्रकार बंगाली नाटककारों को राजस्थान और महाराष्ट्र के इतिहास से बहुत-सी सामग्री मिली, उसी प्रकार उड़िया नाटककारों को उड़ीसा के ऐतिहासिक वीरों से आवश्यक सामग्री प्राप्त हुई। उदा-हरणार्थ राजा खारवेल, कपिलेन्द्र, पुरुषोत्तम और अनंग-भीम आदि के नाम लिये जा सकते हैं, जिनकी पताका के नीचे उड़ीसा देश की बहुत समय तक विभक्त जाति के लिए यह वीर-पूजा एक स्वाभाविक प्रिय भावना थी।

इसी युग में वैष्णव पाणी ने ग्राम-नाटकों को क्रान्ति-कारी ढंग से संशोधित कर समूचे ग्रामीण उड़ीसा में 'यात्रा' का आधुनिक परिष्कृत रूप प्रचलित किया। अब इन यात्राओं में समकालीन घटनाओं का प्रतिबिम्बन होने लगा और ये ग्राम-नाटक रंगभूमि के नाटकों के निकट आने लगे, फिर भी उनकी आकर्षक संगीतमयता कम नहीं हुई। उड़ीसा के कवियों में इस एक अकेले प्रतिभाशाली व्यक्ति ने जो कमाल कर दिखाया, वह समूचे आधुनिक भारत के नाट्य-आन्दोलन में अद्वितीय है।

गांधी, ठाकुर और 'सबूज' दल

इस समय तक गांधी की आँधी सारे देश में फैल चुकी थी। पंडित गोपबन्धु और उनके कार्यकर्ताओं के दल ने अपने-आपको राष्ट्रीय आन्दोलन में तन्मयतापूर्वक लगा दिया था और उड़ीसा का जो एकमात्र सांस्कृतिक केन्द्र था, वह भी एक प्रकार से बन्द हो गया था। इस प्रकार जब 'सत्यवादी' दल समाप्त हो गया, तब कटक के कुछ थोड़े-से अण्डर-ग्रेजुएट नवयुवक एक नया साहित्यिक शगूफ़ा लेकर बढ़े जिस पर बंगाल का 'ट्रेड मार्क' लगा हुआ था। लेकिन ठाकुर की कविता और विवेक के महान् भण्डार में से ये तरुण कोई बहुत महत्त्वपूर्ण चीज़ अपने साथ नहीं ला सके। उन्होंने केवल कुछ बाह्य गौण बातों का ही अनुकरण किया, जैसे कि तुकों या तर्क और संगति के अभाव का और रहस्यप्रियता के नाम पर नितान्त अर्थहीन रचना का। ये लोग अपने-आपको 'सबूज' कहते थे। यह नाम भी उधार लिया हुआ था, क्योंकि शुरू में रवि ठाकुर और

प्रमथ चौधरी ने यह नाम, बंगाल में उस समय जो रूढ़िवाद और पुराणपन्थी विचारों के विरोध में एक आन्दोलन चला था उसके लिए प्रयुक्त किया था। और बंगाल के 'सबूज' पत्र की तरह इन लोगों ने भी अपनी एक पत्रिका निकाली, जिसका नाम था 'युग-वीणा'।

उड़ीसा के साहित्यिक जगत् में इस दल ने एक नया आन्दोलन शुरू किया। पाँच-छः वर्ष तक ये लोग बहुत-सी नई-नई चीज़ें उड़िया साहित्य में लाये। इन लोगों ने अपना प्रकाशन-गृह भी शुरू किया, लेकिन आश्चर्य की बात है कि बहुत जल्दी ये 'सबूज' (हरे) पीले पड़ गए।

गत दो दशाब्दियों में तरुण पीढ़ी पर 'सबूज' दल का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रास-रचना को उन्होंने उड़िया साहित्य में प्रतिष्ठित किया और उसके साथ-साथ वे देशज छन्द-रचना भी लाये। अन्नदाशंकर राय और वैकुण्ठनाथ पटनायक की कई कविताएँ, जो कि उन दिनों के आरम्भ में लिखी गई थीं, सभी समीक्षकों के द्वारा उड़िया साहित्य के भण्डार के लिए स्वागत-योग्य मानी गईं। उन कविताओं को पढ़कर ऐसा आभास होने लगता है जैसे सचमुच हम एक नई दुनिया में पहुँच गए हैं। उनमें अपने ही ढंग के शब्द-संगीत का जादू है। उनमें प्रेम, सौन्दर्य और जीवन के नये स्वप्न हैं। ऐसी नई कल्पना-प्रतिमाएँ हैं, जो सुसंस्कृत उड़िया कानों को बहुत अटपटी और विचित्र नहीं लगतीं। प्रास तो हैं ही, क्योंकि उड़िया व्यक्ति के कान 'सारलादास' से लगाकर गंगाधर मेहेर और नीलकंठ दास के काव्यों तक में कवि-मालिका के देशज-अनुप्रास से इतने परिचित थे कि उन्हें जनता की आत्मा और भाषा के सच्चे मुहावरे इस पारस्परिक कविता में मिले। इस दल के लेखकों द्वारा मिलकर लिखा हुआ उपन्यास 'वासन्ती' बहुत लोकप्रिय हुआ और तरुण पीढ़ियों को उसने खूब प्रभावित भी किया। कालिन्दीचरण पाणिग्राही का उपन्यास 'माटीर माणिष' (साहित्य अकादेमी ने इसे अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद के लिए चुना है और इसका हिन्दी-अनुवाद 'मिट्टी का पुतला' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है) इस दल के चरमोत्कर्ष के दिनों में लिखा गया। उनकी कई कहानियाँ बहुत लोकप्रिय हुईं। आज समूचे उड़ीसा में कालिन्दीचरण पाणिग्राही समकालीन समस्याओं के अच्छे प्रचारक और विशिष्ट गद्य-शैलीकार के नाते बहुत प्रसिद्ध हैं।

जनता के कवि

'सबूजों' के बाद सोशलिस्ट या कहिए कम्युनिस्ट, तीसरे दशक के मध्य में आये। वे अपने साथ फ्रायड, वाल्ट विटमैन और कार्ल मार्क्स को लाये। यद्यपि उड़ीसा मुख्यतः कृषि-प्रधान प्रदेश था और है तथा कल तक उसका एकमात्र उद्योग कुछ धान की मिलें ही था, ये नवयुग के लानेवाले जोशीली और हिंसात्मक कविताएँ वर्ग-युद्ध पर लिखते थे। बेचारा ग़रीब रिक्शेवाला, जो कि कटक की गन्दी धूल-भरी सड़कों पर रिक्शा चलाता था, यह नहीं जान पाया कि वह अगणित छोटी कहानियों का नायक बन गया है। जो लोग इनके गोल में नहीं आते थे उनका मध्ययुगीन या अफ़यूनसेवी कहकर मज़ाक उड़ाया गया। परन्तु सच्ची बात कहें तो वह वर्ग-युद्ध की घोषणा एक अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय फ़ैशन-मात्र थी और 'जनता' की बात तो छोड़िए, इन स्वयंभू 'जनता के कवियों' में से अधिकांश की मार्क्सवादी सन्ध्या-भाषा पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों के लिए भी दुर्बोध होती है।

बहुत-से वामपक्षी लेखकों में कुछ नाम निस्सन्देह प्रतिभा के कारण चमक उठते हैं। उनका स्थान उड़िया कविता में इसीलिए नहीं है कि वे वामपक्षी प्रचार-काव्य लिखते थे, परन्तु इसलिए है कि उनमें मानवीय भावना और सामाजिक व्यक्तिवाद का सच्चा पुट मिलता है। सचीराउतराय की 'पल्लि-श्री' उड़ीसा में लोकप्रिय है और उनकी कुछ कहानियों तथा कविताओं में आधुनिक युग की निराशा का प्रतिबिम्ब है, जो कि साहित्य में स्थायी महत्त्व की वस्तु रहेगी। अनन्त पटनायक की कविताओं और मनमोहन मिश्र के कुछ गीतों में भावुकता के दर्शन होते हैं जिसने कई रसिक हृदयों का स्पर्श किया है।

परन्तु अब तो वामपक्षी विचारधारा साहित्यिकों का सामान्य विषय हो गया है। आक्रामक युद्ध-घोषणाएँ अब नहीं सुनाई देतीं। अब इलियट और एज़रा पाउण्ड की छायाएँ मंच पर चलती हैं। प्रतिमास या प्रति-सप्ताह हमें कुछ ऐसा साधारण गद्य पढ़ने को मिलता है, जिसे जान-

में एक विशाल ग्रन्थ 'उड़िया साहित्यार क्रम परिणाम' लिखकर इसमें योगदान किया। हाल में ही फकीरमोहन और गंगाधर मेहेर-जैसे कवियों पर स्वतन्त्र रूप से लिखी गई पुस्तकों की भी बाढ़ आ गई है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पण्डित गोपीनाथ शर्मा ने 'उड़िया भाषा तत्त्व' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचकर जिस कार्य को प्रारम्भ किया था, उसे पण्डित विनायक मिश्र ने 'उड़िया भाषा का इतिहास' लिखकर तथा गिरजाशंकरराय और गोलक विहारी धाल ने अन्य विद्वत्तापूर्ण कार्य करके आगे बढ़ाया है। छोटे-बड़े लगभग एक दर्जन कोशों में से प्रमुख हैं, पण्डित गोपीनाथ नन्द शर्मा का 'उड़िया शब्द-तत्त्व-बोध अभिधान' और लगभग डेढ़ लाख रुपए की लागत से सात खण्डों में प्रकाशित श्री गोपालचन्द्र प्रहराज का चतुर्भाषीय कोश 'पूर्णचन्द्र उड़िया भाषा कोष'। पाठकों को सभी प्रकार का आवश्यक और रोचक ज्ञान प्रदान करनेवाले चार-पाँच लोकप्रिय और बृहदाकार विश्व-कोश प्रकाशित हो चुके हैं और अभी हाल में ही इस दिशा में जो वास्तविक कार्य आरम्भ किया गया है, वह है—श्रेष्ठ विद्वज्जनोचित्त पद्धति पर 'उत्कल विश्वकोश' का संग्रह। इस आयोजन को पूरा करने का भार अब उत्कल विश्वविद्यालय ग्रहण कर रहा है।

उड़ीसा के पाठक-वर्ग में ज्ञान-विज्ञान का साहित्य पढ़ने की लालसा अब इतनी अधिक और तीव्र हो गई है कि विभिन्न प्रकाशक विश्व-इतिहास पर बड़े-बड़े ग्रन्थ, खेती-बारी के सभी पहलुओं पर मोटी-मोटी किताबें और अणु-परीक्षण तथा शिक्षा-दीक्षा जैसे विषयों पर विज्ञान-प्रचार-समिति की समीक्षात्मक पुस्तकें प्रकाशित करने लगे हैं। इस अत्यन्त आवश्यक समिति का निर्माण उड़ीसा के उन तरुण वैज्ञानिकों ने किया है, जो उड़िया भाषा में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह क्षेत्र अभी तक अछूता ही पड़ा था और इस सम्बन्ध में गोकुलनन्द महापात्र तथा डॉ० बी० के० बेहरा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मनमोहन प्रेस के नवयुवक और साहसी प्रकाशक प्रफुल्लकुमार दास की भी प्रशंसा करनी चाहिए, जिन्होंने नोबल पुरस्कार-प्राप्त सभी लेखकों की पुरस्कृत कृतियों का अनुवाद उड़िया में करने का श्लाघनीय दायित्व अपने ऊपर लिया है। उनके कुछ अनुवादों के विषय में यह कहना उचित ही ही होगा कि समूचे एशिया अथवा भारत की किसी भी भाषा में उस समय तक उक्त अनुवाद नहीं हुए थे, उदाहरणार्थ आइसलैंड के लेखक हैलडोर लैक्सनेस के 'इंडिपेण्डेण्ट पीपुल' का अनुवाद। युवक प्राध्यापक बैद्यनाथ मिश्र का कार्य भी प्रशंसनीय है। हमारे राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पक्षों के विषय में उड़ीसा के बुद्धिजीवी वर्ग को सम्यक् रूप से शिक्षित करने के उद्देश्य से उन्होंने जनतन्त्र, संसदीय सरकार-व्यवस्था और सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर पुस्तकें और लेख लिखने का एक तरह से बीड़ा ही उठा लिया है। औषधि-शास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, पशु एवं कुक्कुट-पालन आदि पर भी क्रमशः पुस्तकें बाज़ार में आती जा रही हैं। भारत की किसी भी भाषा में शायद ही हाथियों के सम्बन्ध में कोई ऐसी प्रामाणिक पुस्तक हो, जैसी कि 'उत्कल साहित्य' के पृष्ठों में बिखरी पड़ी है। समस्त तकनीकी और वैज्ञानिक विषयों का समावेश करनेवाला एक शब्दकोश अनेक खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। इस कोश के संग्रह का कार्य, उड़ीसा सरकार के तत्त्वावधान में एक समिति ने किया, जिसके प्रधान डॉ० आ० महान्ती थे। बाल-साहित्य का भी पर्याप्त विकास हो रहा है, यद्यपि इस क्षेत्र में अधिक पूँजी लगाने में प्रकाशक निश्चय ही हिचकिचाते हैं। 'शिशु-संखलि' अर्थात् बच्चों का खज़ाना सारस्वत प्रेस द्वारा प्रकाशित एक उत्कृष्ट बाल-विश्वकोश है, यद्यपि यह अभी भी पूर्ण होने को है।

उड़ीसा में प्राचीन और मध्य-युग में भी कुछ प्रसिद्ध लेखिकाएँ हुईं और आधुनिक काल में भी कई हैं। उनमें से दो लेखिकाओं का परिचय उनकी असाधारण प्रतिभा के लिए देना आवश्यक है। स्वर्गीया डॉ० कुन्तलाकुमारी साबत, जो कि दिल्ली में रहती थीं और वहीं उनका देहान्त हुआ, अपने समय में कवयित्री, उपन्यास-लेखिका और देश-सेविका के नाते विख्यात थीं। इस समय एक अन्य प्रधान प्रतिभाशाली लेखिका हैं, श्रीमती विद्युत्-प्रभा देवी, जिनकी भाव-कविता अपने सहज प्रवाह, निर्दोष अनुप्रास और कल्पना-चित्रों के लिए प्रसिद्ध है।

उड़ीसा राज्य के निर्माण के बाद जैसी पहले स्थिति

थी, उससे अब कहीं अधिक आशादायक चित्र साहित्य के क्षेत्र में मिलता है। हमारी कालेजों की पढ़ाई के दिनों में तीस साल तक सिर्फ एक या दो साप्ताहिक पत्रिकाएँ प्राप्त थीं, अब उड़ीसा में पाँच दैनिक पत्र हैं, जिनमें से एक अंग्रेज़ी का भी है ! पुस्तकों का व्यवसाय भी तेज़ी से प्रगति कर रहा है। आशा और विश्वास के साथ एक उज्ज्वल भविष्य की ओर देखने के उड़ीसा के पास पर्याप्त कारण हैं—केवल इसलिए नहीं कि उड़ीसा के पास प्राकृतिक सम्पदा की प्रचुर सम्भावनाएँ हैं, परन्तु इसलिए भी कि कलाऔर संस्कृति के क्षेत्र में उसकी बड़ी ऊँची परम्पराएँ रही हैं, जो अभी भी उन्नति कर रही हैं, और विविध अन्य रूपों में प्रकट हो रही हैं।

ल० ग० जोग

स्वातन्त्र्योत्तर मराठी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

श्री ल० ग० जोग मराठी के जाने-माने लेखक और विश्रुत विद्वान हैं। बम्बई विश्वविद्यालय से मराठी में एम० ए० कर इन्होंने तर्खडकर स्वर्ण पदक प्राप्त किया। मराठी में 'कादम्बरी' नामक एक समीक्षात्मक ग्रन्थ १९३५ से १९६० तक के मराठी उपन्यासों पर लिखा, जिसकी प्रामाणिकता को सभी ने सराहा। सम्प्रति महाराष्ट्र सरकार द्वारा नियुक्त 'नामदेव गाथा संशोधन समिति' के मन्त्री और रूपारेल कॉलेज, बम्बई के मराठी विभाग के अध्यक्ष हैं।

राजनीतिक परिवर्तनों के आधार पर काल-निर्णय करने की पद्धति बहुत प्रचलित है। यही कारण है कि मराठी साहित्य के काल-विभाजन के बारे में सोचते समय समालोचकों ने 'यादवकाल', 'शिवकाल'-जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया है। इसका यह मतलब नहीं कि इसके अलावा मराठी में और कोई काल-विभाजन नहीं हुआ। साहित्य की दृष्टि से प्रो० माटे का सन्त, पन्त तथा तन्त कविवाला विभाजन अधिक समीचीन माना जाएगा।

'अनुभववादी' (सन्तों का) काव्य, 'अनुवादप्रधान' काव्य 'पण्डित' काव्य जैसी उनकी संज्ञाएँ, साहित्य-निर्माण के मूल में विद्यमान प्रवृत्तियों की ओर संकेत करती हैं। इस दृष्टि से इन पन्द्रह वर्षों की अवधि में निर्मित मराठी साहित्य का नामकरण कैसे किया जाए? राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के कारण यह 'स्वातन्त्र्य युग' कहलाया अवश्य, किन्तु इस युग के साहित्य की प्रेरक प्रवृत्तियों का बीज सन् १९४७ के पहले बोया गया था। फिर भी साहित्य की प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में भी इस युग को 'स्वातन्त्र्य युग' कहना औचित्यपूर्ण होगा। यह वही समय है, जब साहित्य ने कई पुराने बन्धन तोड़ डाले, लेकिन नवीन बन्धनों को अपनाया हो, यह कहना मुश्किल है। वास्तव में इस ज़माने के साहित्यकारों में 'क्रुद्ध युवकों' की-सी प्रवृत्ति अधिक तीव्र मालूम होती है। अतः इस युग को स्वतन्त्रता का युग कहा जा सकता है, जिसमें मुक्ति एवं निर्बन्धता और कलात्मकता को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हो चुका था।

स्वतन्त्रता का स्वरूप

एक ज़माना था, जब साहित्य में बाह्य प्रयोजनों की ही तूती बोलती थी। गांधीवादी लेखकों तथा चिन्तकों का आग्रह था कि सब लोग गांधी रूपी सूर्य के चारों ओर मँडराते रहें। उस समय आग्रह के साथ बताया जाता था कि सही अर्थ में वही साहित्य प्रगतिशील है जिसमें उच्चवर्गियों के ज़ुल्मों से मुक्ति प्राप्त करने हेतु कोशिश करने की चेष्टा की गई हो। कम-से-कम यह माँग अवश्य थी कि साहित्य जीवन-दर्शन प्रस्तुत करे। हरिभाऊ आपटे ने मराठी नारी को मुक्त किया। खाडिलकर ने अंग्रेज़ सरकार के ज़ुल्मों के खिलाफ़ लोकमत जागृत किया। 'केशवसुत ने क्रान्ति की। मतलब यह कि बाह्य परिणामों अथवा उद्देश्यों को ध्यान में रखकर साहित्य का मूल्य-निर्धारण

किया जाता था। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर को हास्यरस का सम्राट् इसलिए माना जाता था कि उनकी रचना में समाज के प्रति करारा व्यंग्य था।

इस दशा में कला-विषयक मूल्यों को यदि गौण स्थान प्राप्त हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इस समय प्रो० ना० सी० फडके कला के मूल्यों की चर्चा करते अवश्य थे, लेकिन उनकी साहित्यिक सूझ की रसिकता की अधिकतर उपेक्षा की जाती थी। वैसे प्रो० फडके के पूर्व न० चिं० केलकर एवं वा० म० जोशी ने शुद्ध कलात्मक भूमिका का प्रतिपादन करके अपनी मौलिकता अभिव्यक्त की थी। द० के० केलकर ने भी इनका समर्थन किया। इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १९४७ में कला के मूल्यों को स्वतन्त्र रूप से साँस लेने का सुअवसर मिला। सन् १९४७ के उपरान्त मराठी लेखकों को हेतुपूर्वक निरन्तर जागृत रखने का कार्य जिन समालोचकों ने किया, उनमें प्रा० वा० ल० कुलकर्णी और प्रो० रा० श्री जोग का स्थान बहुत ऊँचा है। आज के मराठी लेखक को जो स्वतन्त्रता प्राप्त है, उसके लिए बा० सी० मर्ढेकर-जैसे चिन्तनशील कवि को बहुत कष्ट उठाने पड़े। न्यायालय में पहुँचकर सिद्ध करना पड़ा कि अश्लील साहित्य दोषपूर्ण ही हो सकता है सो बात नहीं है। इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य-विषयक स्वतन्त्रता की भूमिका को सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्राप्त हुई। 'सौन्दर्यमीमांसा', 'साहित्यगत आत्मनिष्ठा', 'काव्यांन्तर्गत लयतत्त्व'-जैसे विषयों से सम्बन्धित बुनियादी विचारों की चर्चा स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के बाद आरम्भ हुई। प्रा० गंगाधर गाडगिल तथा अन्य आधुनिक समालोचकों ने गत पन्द्रह वर्षों में यह विचार प्रचलित किया जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। इसी के कारण लेखकों तथा कवियों की प्रतिभा पर जो बाह्य दबाव था, वह दूर हुआ। किसी समस्या का उद्घाटन कराना, किसी प्रगतिशील नायक को काव्य में उपस्थित करना आदि अनावश्यक चिन्ताओं का बोझ रचनाकर के मानस से हट गया। नाटककार, उपन्यासकार तथा कथाकार यदि इस स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगे, तो स्वतन्त्रता के अग्रदूत कवि भला कैसे पिछड़ते? न हम पर समूचे समाज के प्रतिनिधित्व का भार है, न हम समाज के कर्णधार हैं, इस विचार की प्रतिक्रियाएँ अन्यान्य साहित्य-प्रकारों में भी प्रतिफलित हुईं।

कविता में व्यक्तिगत प्रवृत्ति का विकास हुआ। कविता आखिर आत्मा का आविष्कार है, इसलिए उसकी सृष्टि वैसी ही आत्म-परिचित रही। परम्परा एवं संकेतों के आधार पर आने वाले विषयों तथा अभिव्यक्ति में परिवर्तन हुआ। शब्दों के सहारे अनुभूति की सूक्ष्मता को भलीभाँति अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से नवीन प्रतिमानों का उदय हुआ। नितान्त व्यक्तिगत सुख-दुःख की क्षणिक छटाएँ भी वर्णित होने लगीं। समूची कविता एक कलाकृति है। शब्द-प्रतिमाओं के मूल में कलाकार के मन तथा संवेदनाओं का अन्वेषण आवश्यक है। पूरी कविता के हिस्सों का अध्ययन करके अर्थ ढूँढ़ने की कोई जरूरत नहीं, इस सचाई को भी समझा जाने लगा।

कहानियों तथा उपन्यासों ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस स्वतन्त्रता से लाभ उठाया। आज तक जीवन की जो स्थितियाँ असूर्यपश्या मानी गई थीं, उन्हें कहानियों तथा उपन्यासों में स्थान मिला। नागर एवं कृत्रिम जीवन से मुँह मोड़कर ग्रामीण जीवन की ओर रचनाकार दौड़े। इस काल के मराठी उपन्यासों की विशेषता है, उनकी आंचलिकता। ऋणी और साहूकार, ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर, किसान और शिक्षक, यौन तथा नैतिक सम्बन्धों की शिथिलता आदि का चित्रण आरम्भ हुआ। आंचलिकता के अन्यान्य चित्र भी उभरने लगे। कहानी ने जिस ढंग से इस स्वतन्त्रता को अपनाया वह बिलकुल अलग रूप था। जब से कला का महत्त्व अनन्य और मन का महत्त्व सर्वोपरि है, ये बातें समझी जाने लगीं, तब से कथावस्तु के कवच-कुण्डल गिर पड़े। कलात्मक ढंग से मन के तनाव को प्रकट करना ही कहानी में प्रधान हो गया और फलस्वरूप कथावस्तु-विरहित कहानी का निर्माण हुआ। यह 'नव कथा' इन पन्द्रह वर्षों की नई एवं सर्वोपरि विशेषता है। इस स्वतन्त्रता से लाभ उठाने में नाटक पिछड़ा ही रहा। हाँ, यह बात सही है कि नाट्य-रचना एवं नाट्य-प्रयोग के लिए आवश्यक प्रकाश, ध्वनि, नेपथ्य आदि में स्वतन्त्रता का पूरा-पूरा उपयोग किया गया। श्री विजय तेंडुलकर के नाटक इसके उत्तम उदाहरण हैं। किन्तु नाटक तो शत-प्रतिशत साहित्य नहीं है, उसमें अन्य कलाओं से समझौता करना पड़ता है।

शायद यही कारण है कि नाटक स्वतन्त्रता से उतना लाभान्वित नहीं हो पाया। निबन्धों के क्षेत्र में लघु निबन्ध (भाव-निबन्ध) ने पूर्ववर्ती शैली से नाता तोड़कर आत्मपरक प्रवृत्ति को अपनाना आरम्भ कर दिया। साहित्य के रूपों का बना-बनाया ढाँचा गिरने लगा। आज लघुकथा एवं ललित निबन्ध दोनों अनपेक्षित रूप से आपस में मिले-जुले नज़र आ रहे हैं।

मन की संकीर्णता

मन के व्यापारों के अन्वेषण के प्रति साहित्यिकों का प्रेम सुविदित ही है। सन् १९४७ से पहले ही, वास्तव में १८७५ से मराठी कवि इस प्रवृत्ति का तीव्रता के साथ व्यक्तिकरण करने लगे थे। लेकिन इस काल की कविता अधिकतर विषयगत थी, जिसकी वजह से मन के व्यापार गौण हो जाते थे। दूसरी बात है चेतना की धारा की (Stream of Consciousness), जिसकी कल्पना से मानव की उलझनों को समझना सम्भव हुआ। श्री मर्ढेकर-विरचित 'रात्रीचा दिवस' नाम की प्रायोगिक दीर्घ कथा में बोधावस्था-अबोधावस्था के साथ-साथ सीमान्त मनोव्यापारों के विस्मयकारी दर्शन होते हैं। मन कभी क्रूर, तो कभी कोमल, कभी दुष्ट तो कभी भला, कभी कायर तो कभी वीर, कभी कामुक तो कभी विरक्त हो सकता है—इस कल्पना का उदय हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ललित साहित्य में अनूठा युगान्तर हुआ। मनुष्य की प्रवृत्ति के इस विसंवाद के कारण साहित्य में प्रचलित पुराने ढंग का चरित्र-चित्रण हास्यास्पद प्रतीत होने लगा। मज़दूरों के हिमायती या किसी भी प्रेरणा के प्रतिनिधि के रूप में किसी व्यक्ति के चित्रण का कोई मूल्य नहीं रहा। किसी भी कलाकृति या रचना का मूल्य उसी तक सीमित होता है, यह नवीन विचार प्रबल हो उठा। फलस्वरूप समालोचना के पुराने माप-दण्ड व्यर्थ हो गए। अवचेतन मन के चित्रांकन की ओर जान-बूझकर या अनजान में मौलिक साहित्य का प्रत्येक रचयिता आकृष्ट हुआ। सर्वश्री फड़के, वसन्त कानिटकर, गंगाधर गाडगिल खांडेकर आदि उपन्यासकार, गंगाधर गाडगिल, अरविन्द गोखले जी० ए० कुलकर्णी के स्तर के कहानीकार, विजय तेंडुलकर, पु०ल० देशपांडे-जैसे समर्थ नाटककार एवं गो० वि० (विंदा) करंदीकर-जैसे ललित निबन्धकार इन मनोव्यापारों के अध्ययन का ही प्रभाव अंकित करते हैं। निरन्तर नवीन के अन्वेषण में मग्न रहने वाले साहित्यकारों को मनोव्यापारों के रूप में वह निधि प्राप्त हुई, जो सचमुच असीम एवं अनन्त है। आत्मपरक अभिव्यक्ति ही जिन साहित्यकारों का सम्बल था, उन्हें अपने मन के व्यापारों के आविष्कार में अधिक उन्मुक्तता प्रतीत हुई। लेकिन इसी उन्मुक्तता ने उनमें तथा पाठकों में एक दुराव भी पैदा किया। अपनी अनुभूतियों को कवि उन्हीं प्रतिमानों के सहारे प्रकट करने लगे, जो उन्हें साध्य हुए। इसके फलस्वरूप काव्य लौकिक दृष्टि से दुरूह हो उठा। कवियों के 'अहं' में ही कविता के केन्द्रित होने के कारण कवियों के व्यापार एवं व्यक्तित्व में भेद नहीं रहा। एक ओर साहित्यकारों ने समाज के नेतृत्व का त्याग किया और दूसरी ओर घोर वैयक्तिकता ने उन्हें घेर लिया। जनसाधारण की मानव-मूल्यों की धारणा पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा और 'आधुनिक साहित्य हेय है' जैसे निर्मूल आक्षेपों के लिए उर्वरा भूमि पैदा हो गई।

मन के व्यापारों में यौन-सम्बन्धों का असाधारण महत्त्व है। स्वाभाविक रूप से आज के मराठी ललित-साहित्य में यह काम-क्रीड़ा चरम सीमा तक पहुँची है। प्रणय-प्रधान ललित साहित्य में अभिव्यक्त होने वाले यौन-सम्बन्धों की अपेक्षा इस विकृत भोगवादी साहित्य की बाढ़-सी आ गई है। मराठी कविता को यदि छोड़ दें तो अन्य ललित साहित्य में बूढ़े, दुर्बल, बीमार पति के कारण व्यभिचार का मार्ग अपनाने वाली विवश नारियों के साथ-साथ, सुखपूर्ण वैवाहिक जीवन के बावजूद परकीया नायिकाओं से यौन सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों के वर्णनों की भरमार दिखाई देती है। इस प्रकार के साहित्य के स्रष्टाओं में भी दो दल हैं। पहले दल में वे साहित्यकार, प्रकाशक एवं सम्पादक सम्मिलित हैं, जो पाठकों की सहज-यौन-प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर ग्रन्थों एवं मासिकों को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा में मग्न हैं। इस दल से आज तक एक भी प्रथम श्रेणी का लेखक नहीं निकला। हाँ, यह बात सही है कि इस प्रकार की हीन अभिरुचि के कुहरे में सच्चा

साहित्य कुछ काल तक ओझल हो जाता है। दूसरा दल उन लेखकों का है, जो मनोविश्लेषण के आकर्षण से मनुष्य की भीतरी यौन-प्रवृत्तियों को अंकित करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि इस साहित्य में समाज जीवन के विकास का उद्देश्य नहीं होता, फिर भी इसका अपना स्तर तो होता ही है। इसमें कोई उद्देश्य नज़र भी आए तो वह है कठोर यथार्थवाद की भूमि पर आज के यन्त्र-युगीन मानव की अर्थहीन यौन-प्रवृत्ति की विफलता एवं क्षुद्रता के दर्शन कराना। इसमें लालित्य के साथ-साथ कला-मूल्यों के भी दर्शन होते हैं। इनकी भूमिका वास्तव में कलात्मक है। इन लेखकों को न लोकप्रियता की अभिलाषा होती है, न अपनी पुस्तकों के तुरन्त बिक जाने की इच्छा। मराठी उपन्यासों एवं कहानियों में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कविता के क्षेत्र में सर्वश्री मर्ढेकर, करन्दीकर आदि की रचनाएँ इस प्रवृत्ति की परिचायक हैं।

नई प्रयोगशीलता को अपनाने वाले साहित्यिक

साहित्यकारों के हमेशा दो रूप दिखाई देते हैं। कुछ साहित्यकार पुरानी परम्परा के बल पर श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करते हैं, तो कुछ नवीनता के प्रति आकर्षण का अनुभव करके नये-नये प्रयोगों को अपनाने का समर्थन करते हैं। इनका साहित्य कई बार सामर्थ्यहीन एवं अल्प-जीवी होता है। किन्तु आगे चलकर इनके द्वारा प्रवर्तित नया पक्ष रूढ़ होता है और साहित्य के विकास के लिए ऐसे ही लोग अधिक उपयोगी होते हैं। मराठी में गत पन्द्रह वर्षों में कई नवीन प्रयोग अपनाये गए हैं। शेक्स-पीयर तथा इब्सन के परवर्ती काल में पाश्चात्य रंगमंच का नये सिरे से विकास हुआ। उसका अनुकरण यहाँ भी किया गया। नेपथ्य, रंगभूषा, प्रकाश-योजना, रंगमंच पर उपस्थित किया जाने वाला प्रतीकात्मक नेपथ्य विधान, कलाकारों की सोद्देश्य क्रियाएँ अथवा विवशता, आदि के कारण उस नवीन रंगमंच का जन्म हुआ, जो परम्परागत बैठकशाली रंगमंच से भिन्न था। अवचेतन मन के साथ-साथ स्वप्न-सृष्टि के चित्र को रंगमंच पर उपस्थित करने के लिए जो सहायता आवश्यक थी वह तन्त्रज्ञों से प्राप्त हुई। इन नाटकों की प्रयोगशीलता के कारण कथोपकथन का कायाकल्प हो गया। संक्षिप्त, अर्थपूर्ण एवं गतिशील कथोपकथनों से नाटकों में परिवर्तन हो गया। बड़े धैर्य के साथ नये जीवन के दर्शन कराने वाले अभिनेता एवं दिग्द-र्शक अवतीर्ण हुए। प्रतीकात्मक पर्यवसान को अपनाकर भरत वाक्यों को हटाने का साहस भी किया गया। रंगमंच के गहरे हिस्से में तथा प्रेक्षकों के बिलकुल सामने वाले हिस्से में क्रमशः दिखाई जाने वाली दो धाराओं वाली एवं दुहरी कथावस्तु पिछड़ गई। केवल दो पात्रों के अभिनय के बल पर रंगमंच को प्रभावित करने वाले अभिनेताओं तथा लेखकों के सहयोग से नवीन रंगमंच अवतीर्ण हुआ। इस प्रयोगशील रंगमंच की दृढ़ धारणा है कि अभिनेताओं के लिए नाटक नहीं लिखे जाते, नाटकों के लिए अभि-नेताओं की अवतारणा की जाती है।

अखंड अथवा एक-दूसरे से अलग एकांकी नाटकों के संलग्न प्रयोगों का भी सूत्रपात हुआ। मराठी नाटकों की प्रयोगशीलता से प्रहसन का पुनरुज्जीवन हुआ। किन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी के अन्त में, जिन्हें मराठी में गौण स्थान मिला था, उन प्रह-सनों से ये नये प्रहसन या फार्स भिन्न हैं। इनमें यथार्थता, सम्भवनीयता आदि की ओर अधिक ध्यान न देते हुए केवल अभिनय के बल पर उन कथोपकथनों से विनोद का निर्माण किया जाता है, जो ऊपरी तौर से बिलकुल सीधे-सादे मालूम होते हैं। पढ़ते समय आज के विनोदी प्रहसन विनोदहीन मालूम होते हैं, किन्तु रंगमंच पर अभिनीत होने पर इनके हास्य की दीप्ति दमक उठती है।

अनुलोम तथा प्रतिलोम कथावस्तु वाले उपन्यास पिछड़ गए। प्रसंगों की उद्भावना करना, गौण कथा की सहायता से प्रधान कथा का विकास करना, आदि विशेष-ताओं से युक्त उपन्यासों के स्थान पर सरलता को महत्त्व प्राप्त हुआ। कथाओं में भी रचनाओं की यह विविधता प्रतीत हुए विना नहीं रहती। मराठी कविता ने इन नये प्रयोगों में पर्याप्त प्रगति की। ऊपरी तौर से मुक्त छन्द अवश्य कायम रहा। किन्तु अंग्रेज़ी की लय तथा ताळ के अनुकरण पर मराठी कविता गद्य से मिलती-जुलती मालूम होने लगी। अच्छी बात तो यह है कि कविता का रूप फिर भी अक्षुण्ण रहा। इन नई कविताओं के द्वारा करन्दी-

कर-जैसे कवियों ने उन मुक्त सुगीतों का निर्माण किया जो मुक्त छन्द के परे हैं। संवेदनाओं के विषयगत होने से त्रिताल-जैसे तबले के बोलों से अभिव्यक्त होने वाले नाद-ब्रह्म को शब्दरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। अर्थहीन स्वच्छन्द गीतों (nonsense Rhymes) के ढंग पर मुक्तकों का निर्माण आरम्भ हुआ। मराठी नवकविता की इस प्रयोगशीलता के ज़माने में भी पुराने ढंग के सौन्दर्य-वादी कवियों की लोकप्रियता अक्षुण्ण रही। गत कतिपय वर्षों में आकाशवाणी के माध्यम से संगीतिकाओं का जन्म हुआ। श्री मर्ढेकर-कृत 'कर्ण', श्री माडगूलकर-कृत 'पारिजात' तथा श्री पाडगांवकर-रचित 'राधा' इनमें अधिक उल्लेखनीय हैं। इधर इन नये प्रयोगों की कुशलता एवं रसिकता के साथ विडम्बना करके श्री पु० ल० देशपांडे ने अपनी 'बटाट्या ची चाल' नाम की संगीतिका लिखकर सुयश पाया। 'काव्य-गायन' पिछड़ गया और 'काव्य-दर्शन' प्रचलित हुआ। एकोक्ति के ढंग पर श्री वसंत बापट की कुछ कविताओं ने काफ़ी सफलता प्राप्त की। 'किंचित् कविता' तथा 'वात्रटिका' जैसे दो लघुकाय काव्य-प्रकारों को भी लोगों ने बहुत पसन्द किया। हाल ही में एक और नया काव्य-प्रकार 'कणिका' के नाम से रूढ़ हो गया है जो पाँच चरणों वाली रुबाइयों से समता रखता है।

मराठी साहित्यकारों में नये-नये प्रयोगों को अपनाने की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है। इसीलिए यात्रा-वर्णन को बड़ा ही सुगठित एवं सुचारु रूप प्राप्त हुआ। पुराने काल में यात्रा-वर्णनों के मूल में धार्मिक प्रवृत्ति विद्यमान थी। दर्शनीय स्थानों का परिचय कराना उसका लक्ष्य था। आज भी कुछ यात्रा-वर्णन इसी ढंग से लिखे जाते हैं। फिर भी सर्वश्री व्यंकटेश माडगूलकर, प्रभाकर पाध्ये, अनन्त काणेकर, जयवन्त दलवी, पु० ल० देशपाण्डे, गंगाधर गाडगील आदि लेखकों की कृपा से मराठी के यात्रा-वर्णनों में एक नया आवेग, एक नई गति पैदा हुई है। इन सभी प्रतिभाशाली लेखकों के पास दृष्टिकोण का सामंजस्य है। इन पर रसिकता का पर्याप्त संस्कार हुआ है और सबसे बड़ी बात है संसार तथा जीवन की ओर एक नटखट की आँखों से देखने की प्रवृत्ति। इन लेखकों की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से इनके इस व्यक्तित्व की जो आभा है, उसी के कारण इनके यात्रा-वर्णनों को प्रवास या दर्शनीय स्थानों के वर्णन की संज्ञा देने में पाठकों को सन्देह होता है। असल में इसी वजह से इन्हें ललित साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

साहित्य के प्रायः दो विभाग माने जाते हैं—शास्त्रीय एवं रचनात्मक या ललित। लेकिन यह कोई शास्त्रीय भेद नहीं है, इसे समझने के लिए कोई विशेष कष्ट नहीं करना पड़ता। अतएव कई बार कुछ रचनाएँ दोनों छोरों को छूती हुई पाठकों को उलझन में डालती हैं। किन्तु इस तरह की छोटी-बड़ी रचनाओं को उनकी मृदु-मधुर शैली एवं प्रवृत्ति के कारण रचनात्मक एवं ललित साहित्य में ही स्थान देना समीचीन मालूम होता है। प्रा० श्री० म० माटे तथा श्री ना० ग० गोरे की कुछ रचनाएँ इस ढंग की हैं। हाल ही में सुश्री दुर्गा भागवत-कृत 'व्यास-पर्व' प्रकाशित हुआ। वह भी इसी ढंग की पुस्तक है। मराठी के पुराने कवि मुक्तेश्वर ने भी बड़े रोचक गर्व के साथ कहा था, "व्यास ने विस्मृति के कारण जो नहीं कहा सो मैं कह रहा हूँ।" 'व्यास पर्व' में कलात्मक भूमिका को अपनाकर महाभारत के पात्रों के अन्तरंग में प्रवेश करने की चेष्टा की गई है। इधर श्री मधु मंगेश कर्णिक का निबन्ध-संग्रह 'सोबत' के नाम से निकला है, जिसमें संवेदना के सहारे ऋतु-चक्र एवं वृक्षराजि के साथ-साथ सुमनों के सम्मेलन का बड़ा ही सुघड़ वर्णन किया गया है। पुरानी परम्परागत पद्धति को अपनाकर लिखी जाने वाली अनेक रचनाओं के नील निलय में उपर्युक्त दो-चार रचनाएँ अपनी मौलिकता एवं नवीनता के बल पर, साहित्य-प्रेमी पाठक के मन को निस्सन्देह मोह लेती हैं।

अस्त होने वाले सूर्य की कहानी

प्रतिक्षण करोड़ों मानव जन्म लेते हैं, करोड़ों मरते भी हैं। इस दृष्टि से एक पीढ़ी का उदय एवं अस्त दोनों कोई विशेष अर्थ नहीं रखते। सन् १९४७ के उपरान्त हाल ही में एक महाराष्ट्रीय पीढ़ी निवृत्त होकर स्मृतियों के सहारे अमरता प्राप्त करने की कोशिश कर रही है। असल में हरेक पीढ़ी की यही कहानी है। स्वतन्त्रता

के आन्दोलन की ज्वालाओं से झुलसी हुई पीढ़ी के लोगों की राजनीतिक जीवनियाँ प्रसिद्ध हुई हैं। श्री गंगाधरराव देशपाण्डे की 'जीवित यात्रा' बड़ी ही सुन्दर बनी है। उस काल के साहित्यकारों ने भी अपनी आयु की संध्या में बड़ी रसिकता के साथ अपने-अपने जीवन की कहानियाँ लिपिबद्ध की हैं। इनमें श्री वि० द० घाटे-कृत 'दिवस असे होते' बड़े ही सुचारु एवं रोचक ढंग से लिखी हुई जीवनी है। उक्त जीवनियाँ साहित्य के अन्तर्गत दो प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। पहली के रचयिता समष्टि जीवन में अपने स्थान को निर्धारित नहीं कर पाए तो दूसरी के निर्माता का साहित्यिक दृष्टिकोण जीवन के अन्य पहलुओं के स्पर्श से अछूता ही रह गया। दोनों की आशा-आकांक्षाएँ अपनी सफलता एवं विफलता के साथ इन पुस्तकों में अभिव्यक्त हुई हैं। आंग्ल कवि टेनिसन का कहना है, "The low Sun makes the colour". फिर भी उक्त कलाकृतियों के मूल में विद्यमान मानस में इस तरह की निराश, संकीर्ण एवं रेंगनेवाली प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। सचाई तो यह है कि इन कृतियों के सहारे गत पीढ़ी की अनुभूतियों का रंगीन चित्रपट ही आँखों के सामने उपस्थित होता है।

अभिरुचि का निरन्तर घूमनेवाला चक्र

गत कतिपय वर्षों में साहित्य के मूल में विद्यमान अभिरुचि में परिवर्तन हो रहा है। स्वतन्त्रता की घोर यथार्थवादी प्रवृत्ति को नवीन सौन्दर्यान्वेषी प्रवृत्ति ने चुनौती दी है। श्री खाण्डेकरजी का रूमानी ढंग से लिखा गया 'ययाति' उपन्यास इसका उत्तम उदाहरण है। श्री दारवेकर-कृत 'चन्द्र नभींचा ढलला' नाटक, श्री वसन्त कानेटकर का ऐतिहासिक नाटक 'जेव्हां रायगडला जाग येते' और श्री रणजित देसाई का ऐतिहासिक उपन्यास 'स्वामी' इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं। शेक्सपियर के सुखांत नाटकों के अनुवाद, बड़े पैमाने पर निकलने वाले देशी एवं विदेशी भव्य चित्रपट, अद्भुत एवं रमणीय वायुमण्डल से युक्त वह रंगमंच जो बालकों के लिए तैयार किया गया हो—सभी की अनुभवजनित सफलता शायद आगामी सौन्दर्यान्वेषण के युग की ओर संकेत कर रही है। सम्भव है कि बड़ी रसिकता एवं आग्रह के साथ 'लेंचतें' का चित्रण करने वाले कवियों एवं उसी को उच्चतम साहित्य कहकर उसका प्रबल समर्थन करने वाले सम्पादकों एवं समालोचकों को काल ही चुनौती दे रहा हो। वास्तव में साहित्य को किसी नियम की पैमाइश में रखना असमीचीन ही है और अन्ततोगत्वा यही प्रतीत होने लगता है कि वास्तविक जीवन काँच के शीशे के उस पार दिखाई देने वाले वर्णों की तरह विविधता से युक्त एवं सम्पन्न है। अभिरुचि के उपयुक्त परिवर्तन ने मासिक पत्रिकाओं में 'याला जीवन ऐसे नाव' जैसे कई स्तम्भों को जन्म दिया जिनके द्वारा दी जानेवाली जीवनानुभूतियों की ओर तथा वैज्ञानिक जानकारी की ओर पाठक आकृष्ट हो चुके हैं। एक ही ढंग की अनेक मासिक पत्रिकाओं के निकलने से उत्पन्न नवीनता के अभाव को दूर करने के लिए आजकल मासिकों के सम्पादक क्रिकेट-जैसे खेलों की बहादुरी, नाटक-मण्डलियों का जीवन आदि लिखकर विविधता की माँग की पूर्ति करने के प्रयत्न में लगे हैं, जिसका साहित्य पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा है।

मराठी में विनोद एवं हास्य रस

मराठी-भाषियों के मन में एक धारणा का निर्माण किया गया है कि भारतीय भाषाओं में (और थोड़ी अत्युक्ति के साथ कहा जाए तो दुनिया में) उच्च कोटि का हास्य रस उनकी भाषा में विद्यमान है। श्री कोल्हटकर के 'सुदाम्या चे पोहे' से लेकर श्री चि० वि० जोशी के 'चिमणरावांचे च-हाट' तक हास्य रस के दो अलग रूप दृग्गोचर होते हैं। 'सुदामा' समाज का सुधारक है। न्यूनाधिक मात्रा में वही परम्परा आज तक चली आ रही है। श्री गडकरी के मानसपुत्र बालकराम ने उसमें जीवन की क्षुद्र विसंगतियों के नवीन आविष्कार का अध्याय जोड़ दिया। श्री ताम्हनकर जी के 'दाजी' को विरासत में दोनों गुण मिले। किन्तु श्री चिं० वि० जोशी के 'चिमणराव जोग' तथा 'गुंडयाभाऊ दाण्डेकर' दोनों शुद्ध एवं निर्मल (कहीं-कहीं मामूली श्लेष पर आधारित) हास्य के निर्माता एवं वितरक हैं। विद्यमान पीढ़ी के श्री गंगाधर गाडगील ने मराठी में 'बन्डू तथा स्नेहलता' नामक दम्पति के द्वारा

पात्र सापेक्ष हास्य के निर्माण का प्रयत्न किया। फिर भी श्री गाडगील का तरीका श्री जोशी के ढंग से समानता रखता है। किन्तु आजकल श्री रमेश मन्त्री, श्री वि० आ० बुवा, श्री पु० ल० देशपांडे तथा श्री बबन प्रभु क्रमशः कथाओं, विडम्बनाओं, एकांकियों तथा प्रहसनों (फार्सों) के माध्यम से विनोद की धारा को परिपुष्ट कर रहे हैं। इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस स्वातन्त्र्योत्तर-काल में मराठी में हास्य रस के युगान्तकारी लेखक की उद्भावना नहीं हो पाई है।

मराठी साहित्य की वैचारिक सम्पदा

गत पन्द्रह वर्षों में रचनात्मक या ललित साहित्य के अलावा असंख्य रचनाएँ मराठी में लिखी गईं। विद्यापीठों की शिक्षा के माध्यम में जो परिवर्तन हुआ उसके कारण विशेष रूप से पुस्तकों की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। इससे उत्पन्न साहित्य को हम भले ही छोड़ दें, किन्तु उपाधि प्राप्त करने के उद्देश्य से जो शोधपरक तथा अनुशीलनात्मक साहित्य लिखा गया उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पुरानी कृतियों का शास्त्रसम्मत एवं समीक्षात्मक सम्पादन करने वाले प्रो० अ० का० प्रियोलकर-जैसे अन्वेषक अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सन्त साहित्य का अध्ययन उपस्थित करने वाले श्री न० र० फाटक-जैसे समालोचक, मराठी में नये भाषा-विज्ञान (ध्वनि-विचार) को मुखर करने वाले श्री ना० गो० कालेलकर, साहित्येतिहास को सुचारु एवं सुसंगठित रूप में उपस्थित करने वाले समालोचक श्री अ० ना० देशपांडे, संस्कृत साहित्य-समीक्षा का मर्मग्राही एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत करने वाले डॉ० ग० त्र्यं० देशपांडे-जैसे मनीषियों द्वारा लिखित वैचारिक साहित्य बहुत ही उच्च कोटि का है। उपर्युक्त महानुभावों को लोकप्रियता की चिन्ता नहीं, उन्हें सचाई से प्रेम है और खरी बात पर अड़ जाने की अटलता, जो सराहनीय है।

कला के विषय में दार्शनिक विचार-मन्थन से उत्पन्न तथ्यों का समीक्षा में उपयोजन (application) करने वाले सर्वश्री वा० ल० कुलकर्णी, जोग, बेडेकर, क्षीरसागर, गाडगील-जैसे विचारकों ने मराठी पाठक को समीक्षा-प्रवण एवं उदार बनाने का जो प्रयत्न किया है वह भी विशेष महत्त्व रखता है। आजकल संगीत-नृत्यकला, चित्रकला, क्रीड़ा आदि की आकर्षक समीक्षा पढ़ने का अवसर मराठी पाठक को मिल रहा है। यह कार्य निकट भविष्य में बड़ा ही प्रभावशाली सिद्ध होगा। 'अभिरुचि', 'सत्य-कथा', 'साहित्य', 'सह्याद्रि', 'नव भारत,' 'छन्द', 'समीक्षक', 'प्रतिष्ठान', 'आलोचना' आदि मराठी पत्रिकाएँ असाधारण धैर्य से इसमें अग्रसर हुई हैं। 'साहित्य-पत्रिका', जो बम्बई मराठी साहित्य संघ की वार्षिकी है, का उल्लेख भी यहाँ करना चाहिए। उक्त पत्रिकाओं में से कुछ को पाठक भी नहीं मिल पाए और उन्हें बन्द करना पड़ा, लेकिन आदर्शवादी विचारधारा से उत्पन्न होने के कारण वे अमर हैं। माना कि इनमें कुछ आज तक जीवित हैं, किन्तु व्यवसाय से अथवा ग्राहकों की संख्या की दृष्टि से इन्हें स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ है।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त भाषावार राज्यों का पुनर्गठन हुआ। सौभाग्य की बात है कि शासन, कला, संस्कृति आदि के विषय में महाराष्ट्र राज्य बड़ी रुचि रखता है। लोकभाषा, लोककला, संस्कृत विद्या और नृत्यकला के साथ-साथ साहित्य तथा अनुसन्धान, संगीत एवं नाट्य के विषय में शासकीय चहारदीवारी में रहकर, जो कुछ किया जा सकता है उसे महाराष्ट्र राज्य ने सहर्ष अपनाया है। (कहीं-कहीं अधिकारियों की सीमाओं के कारण त्रुटियाँ पैदा होती हैं अवश्य, लेकिन उनकी ईमानदारी पर शक नहीं किया जा सकता।) वैचारिक, पांडित्यपूर्ण एवं गवेषणात्मक रचनाएँ प्रस्तुत करने वाले पंडितों का भी सम्मान हो रहा है। भाषाई संघर्ष के कारण राजनीतिक कार्यकर्ताओं में कई गलतफ़हमियाँ पैदा हो गई हैं। किन्तु महाराष्ट्र राज्य की स्थापना के कारण मराठी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति को पर्याप्त बल मिला, जिसमें सम्भवतः वर्तमान शासकों के औचित्यपूर्ण दृष्टिकोण का बड़ा हाथ है। महाराष्ट्र में गरीबी की तनिक भी परवाह न करते हुए 'विद्याया व्यसन्' का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करने वाली जो पीढ़ी पैदा हुई थी वह अब गुज़र गई। आज के परिवर्तन के युग में त्याग की प्राचीन कल्पना का त्याग करना समीचीन होगा। अन्य परिश्रमों की भाँति

विद्या के अर्जन एवं वितरण के लिए किये जाने वाले परिश्रमों का भी मूल्य होता है। हमें यह सतर्कता बरतनी चाहिए कि यह मूल्य केवल गौरव या प्रशंसा तक ही सीमित न रहे। 'सरस्वती श्रुति महतां महीयतो' के मर्म को महाराष्ट्र के शासक समझ चुके हैं और यह निश्चित है कि निकटवर्ती भविष्य में कम-से-कम महाराष्ट्र राज्य में विद्याधरों को दर-दर घूमने की नौबत नहीं आएगी।

आशास्पद भविष्य

मराठी लेखकों एवं लेखिकाओं में भेद मानकर नारी-साहित्य का अलग विवरण प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पुरुष के साथ नारी को भी महाराष्ट्र में समान शिक्षा एवं समान अवसर प्राप्त हो रहा है। महाराष्ट्रीय नारी आज अपने को पुरुषों से पिछड़ी हुई नहीं मानती। फूल-जैसे बालकों का कल्पना-प्रचुर एवं अद्भुत रम्य साहित्य सबसे अलग तो रहेगा ही। गत पन्द्रह वर्षों में 'शाला-पत्रक' तथा 'आनन्द' जैसी मासिक पत्रिकाओं की परम्परा को आगे बढ़ाने वाली पत्रिका तो नहीं निकली, परन्तु 'गोकुल', 'चांदोबा'-जैसी दो-चार पत्रिकाएँ विद्यमान हैं। बालकों के लिए स्वतन्त्र रंगमंच का उदय एक नवीन घटना है, जिसके दिग्दर्शक के रूप में सुश्री सुधा करमरकर का कार्य सचमुच अविस्मरणीय एवं अनमोल है। इधर नाट्य-रचना में सुश्री सई परांजपे और श्री रत्नाकर मतकरी ने सुयश पाया है। यह रंगमंच 'छाया रंगमंच' कहलाता है। पाश्चात्य संस्कृति की परियों की कथाओं एवं अद्भुत कहानियों-जैसी सामग्री यहाँ प्रधान रूप से प्रयुक्त होती है। इस रंगमंच को इससे भी अधिक भारतीय रूप प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। वैसे संस्कृत साहित्य एवं भारतीय संस्कृति में अद्भुत का ही साम्राज्य रहा है। एक ज़माना था, जब सर्वश्री चिपलूणकर, तिलक आगारकर, परांजपे, केलकर, कोल्हटकर-जैसे मराठी के दिग्गज विद्वान् पत्रिकाओं के सम्पादक थे और उन्हीं के माध्यम से निबन्धों का सृजन कर रहे थे। खेद है कि विचारवान सम्पादकों का यह स्तर आज नहीं रहा। पत्रिकाओं का सम्पादन आज आदर्श नहीं, एक पेशा हो गया है। परिणाम यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र से सम्पादकीय का विभाजन हो गया। सम्पादक की तरह पाठक का भी हाल है। पुराने ज़माने के शिक्षा-प्राप्त एवं सुसंस्कृत पाठक से आज के पाठक की तुलना भला कैसे की जा सकती है? इसीलिए लोकप्रियता के आधार पर किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांनहीं किया जा सकता।

गत पन्द्रह वर्षों में अंग्रेज़ी से पर्याप्त साहित्य अनूदित हुआ। खासकर अमेरिका तथा रूस से यहाँ विपुल साहित्य पहुँचा। वह सस्ता भी है, लेकिन उसे लोकप्रियता नहीं मिल पाई। राष्ट्रीय एकता की माँग के अनुरूप अन्य भाषाओं के साहित्य का भी मराठी में अनुवाद हुआ है। लेकिन श्री वा० गो० आपटे, श्री गुर्जर, श्री वरेरकर आदि पुराने ज़माने के अनुवादकों के स्तर तक आज कोई भी नहीं पहुँच पाया है। आज के अनुवादकर्ताओं का प्रधान उद्देश्य धनार्जन ही रहता है। इस उद्देश्य से अच्छे अनुवाद की आशा करना बेकार है। अनुवादकर्ताओं में साहित्य की सूझ-बूझ नितान्त आवश्यक है। जासूसी कथाएँ भी अनूदित होती हैं और श्री बाबूराव अनिलेकर-जैसे व्यक्ति सौ से भी अधिक जासूसी कथाएँ लिख देते हैं, किन्तु साहित्य की दृष्टि से इनका स्तर नहीं के बराबर है। महाराष्ट्रीय जीवन में इन जासूसी कथाओं का कोई मूल्य नहीं है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में स्वतन्त्र साहित्य का निर्माण अधिक नहीं हो पाया।

संक्षेप में वर्तमान मराठी साहित्य के कुछ अंग यद्यपि ठोस नज़र नहीं आते, फिर भी उपन्यासों, गल्पों और नाटकों की ओर देखते हुए उसके उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

●

खुशवन्तसिंह

पंजाबी साहित्य : एक झलक

सरदार खुशवन्तसिंह का जन्म १९१५ में पश्चिमी पंजाब के हदली नामक स्थान पर हुआ। इन्होंने लन्दन से एल-एल० बी० और बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। १९४७ तक पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर में प्राध्यापक रहे। उसके बाद १९५१ तक लन्दन में भारतीय हाई कमिश्नर के प्रेस-सहकारी एवं जन-सम्पर्क अधिकारी के रूप में कार्य करते रहे। कुछ समय आकाशवाणी और यूनेस्को में बिताकर आजकल 'योजना' के प्रधान सम्पादक हैं। अंग्रेज़ी और पंजावी में लिखते हैं। 'दि सिक्ख' इनकी अंग्रेज़ी की और 'नाम विच्च की पिया हे' पंजाबी की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। साहित्य अकादेमी की पंजाबी परामर्शदात्री समिति के सदस्य भी हैं। निम्न लेख साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'आज का भारतीय साहित्य' से साभार उद्धृत किया गया है।

पंजाबी दो करोड़ से अधिक हिन्दू, मुस्लिम और सिखों की भाषा है। इसके बोलने वाले भारत और पाकिस्तान दोनों में हैं, इसलिए इसकी साहित्यिक परम्परा में तीन अलग-अलग धर्मों के लोगों की रचनाएँ आती हैं, जो तीन अलग-अलग लिपियों में—अरबी, देवनागरी और गुरुमुखी में हैं। फलतः पंजाबी की साहित्यिक परम्परा को, उन दूसरी भाषाओं की रचनाओं में प्रचलित विचारों ने भी समृद्ध किया जो उन-उन लिपियों में लिखी गई हैं; उदाहरणार्थ अरबी, फ़ारसी और संस्कृत की विविध शाखाएँ। यह मज़ेदार पंचमेल खिचड़ी पंजाबी की अलग-अलग बोलियों के मिश्रण से और भी स्वादिष्ट हो गई है। इन बोलियों ने पंजाबी भाषा को एक खास किस्म का अक्खड़पन और पौरुष प्रदान किया है।

किसी भी भाषा के आरम्भ की तारीख कायम करना आसान नहीं है, खास तौर से पंजाबी-जैसी भाषा के लिए तो यह और भी कठिन है, क्योंकि इसकी पूर्व-परम्परा के बारे में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान इसे १२वीं शती तक ले जाते हैं, कुछ उससे भी पहले। जब कोई प्रामाणिक लेखा नहीं है, तब बेहतर यही है कि उन लेखकों से शुरू किया जाए जिनकी तारीखों का निश्चित पता है, जिनकी रचनाएँ हमारे साहित्य का अभिन्न अंग बन गई हैं और समकालीन लेखकों को प्रभावित करती हैं। इनमें दो मुख्य दल हैं—एक तो मुस्लिम सूफ़ी और दूसरे सिख गुरु। दोनों १५वीं शती से शुरू होते हैं। ये दोनों धाराएँ बहुत पहले ही एक हो गईं, मानो यही हमारी भाषा की जनक-जननी रही हों।

सूफ़ी सन्त

भारत में मुसलमानों के आक्रमण के पीछे-पीछे सूफ़ी आये। भारतीय जीवन और साहित्य पर उनका प्रभाव तब तक नहीं हुआ जब तक उन्होंने यहाँ की भाषा और यहाँ के लोगों के रिवाज नहीं अपनाये। लेकिन ये करते-करते उनका धार्मिक उत्साह बहुत-कुछ ठण्डा हो गया था और वे अपने से भिन्न दूसरे धर्मों को मानने और उनके प्रति आदर भी व्यक्त करने लगे थे। सूफ़ियों का पंजाब में मुख्य स्थान था, मुल्तान के पास पाकपट्टन। सिख गुरु, विशेषतया सिख-धर्म के संस्थापक गुरु नानक ने उतनी ही भक्ति से सूफ़ियों को पढ़ा, जितनी से भक्ति-आन्दोलन के भक्तों और सन्तों को।

सूफ़ियों की दृष्टि में परमात्मा और भक्त का वही सम्बन्ध है, जो एक प्रेयसी और प्रेमी का होता है। दोनों के बीच माया का पर्दा है, इसी कारण विरह है। यह

विरह गहरी लगन और प्रेम से ही दूर हो सकता है। बुल्लेशाह के लोकप्रिय गीतों में व्यक्त यही भावना प्राय: इन सन्त कवियों में है :

"प्रेम की सदा एक नई बहार होती है।
मैं वेद के शब्दों से थक गया।
कुरान पढ़ने से थक गया।
प्रार्थना से मैं थक गया।
सिजदे से मेरा माथा घिस गया।
न मैंने हिन्दुओं के तीर्थों में भगवान पाया।
और न मक्का को हज पर जाने से।
केवल जिसे प्रेम मिला उसे ही प्रकाश मिला।"

यह विचार सिख-गुरुओं के लेखन में बार-बार आता है, और पंजाब के तीन महाकाव्यों के पीछे यह भावना बराबर काम करती है। ये तीनों महाकाव्य हैं : 'हीर-राँझा', 'ससि-पुन्नू' और 'सोहनी माहीवाल'। इन सबमें जीवन-भर वियोग और विरह सहने के बाद प्रेमी मिलते हैं तो मृत्यु में। इसी भावना की गूँज आज के सबसे बड़े कवि भाई वीरसिंह की कविता में भी हमें मिलती है।

सूफ़ी लोग गाँवों में रहते थे; उनकी शब्दावली में बड़ी ताज़गी और देहाती रंग है। किसानों के प्रतिदिन के काम, हल चलाना, बुनना, छाछ मथना, संयुक्त परिवार के कारण रिश्तेदारों की बड़ी संख्या में चलनेवाली रार-तकरार, कहीं ननद-भौजाई की लड़ाई, सास के अत्याचार, लड़की का पीहर की याद में तड़पना इत्यादि बातों से उन्होंने अपनी आवश्यक उपमाएँ और रूपक ग्रहण किये।

सूफ़ियों की पंजाबी साहित्य को दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है, कुछ छन्द-रूपों को विशेष लोकप्रिय बनाना। सूफ़ी साहित्य में कुछ छन्द बहुत मिलते हैं, जैसे 'काफ़ी', 'बारह-माह' और 'सिहरफ़ी'। 'काफ़ी' फ़ारसी के कवियों को बहुत अच्छी तरह मालूम थी और आज भी यह उर्दू-कविता में लोकप्रिय है। 'बारह-माह', या कि वर्ष के बारह महीनों का वर्णन ऐसा विषय था, जिसमें कवि स्वतन्त्रतापूर्वक ऋतुओं का सौन्दर्य वर्णित करते थे। इस प्रकार कवि इस विषय की डोर को लेकर जो चाहते थे, इसमें गूँथ देते थे। पंजाबी कविता में प्रकृति-वर्णन के कुछ बहुत ही समृद्ध स्थलों का आरम्भ 'बारह-माह' की रचना-पद्धति में मिलता है। वारिस-शाह ने एक सुन्दर 'बारह-माह' अपने 'हीर-राँझा' में दिया है और 'आदि-ग्रन्थ' में सम्मिलित गुरु नानक का 'बारह-माह' भी पंजाबी साहित्य का अत्यन्त सुन्दर अंश है (यह दु:ख की बात है कि समकालीन लेखक इस पद्धति को छोड़ते जा रहे हैं)। 'सिहरफ़ी' यानी अक्षरबन्ध, जिसमें एक छन्द का अन्तिम अक्षर अगले छन्द का आरम्भिक अक्षर होता है, पंजाबी का अपना विशेष काव्य-रूप है। सिख गुरुओं ने भी इस रूप में लिखा, पर उनके बाद इसे छोड़ दिया।

सिख गुरु

अधिकतर सिख गुरु कवि थे। 'ग्रन्थ साहिब' में नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन और तेग़बहादुर की रचनाएँ सुरक्षित हैं। दो सिख धर्म-ग्रन्थों के सबसे प्रमुख रचयिता हैं—प्रथम गुरु नानक और पाँचवें गुरु अर्जुनदेव।

गुरु नानक (१४६९-१५३९) ने कविता द्वारा उपदेश दिये, फलत: उनकी रचनाओं में उनके जीवन-दर्शन को व्यक्त करनेवाली उपदेशात्मकता है। उनमें दूसरों को एक खास ढंग का जीवन बिताने के लिए सीख और नसीहत है। अधिकतर ऐसी उपदेशपरक नीति-प्रधान कविता संकीर्ण होती है, क्योंकि उसका उद्देश्य संकुचित होता है; परन्तु गुरु नानक की कविता में वाणी की स्वतन्त्रता विशेष रूप से है। देहाती पंजाब का सौन्दर्य—लहलहाते गेहूँ के खेत, उषाकाल और पक्षियों का जगना, जंगल में हिरनों के झुण्डों का भागना, वर्षाकालीन घटाओं की भव्यता और पावस का संगीत—इन सबसे उनमें एक धार्मिक और काव्यमय उन्माद जागता था। उनके लिए सामान्य विषयों में भी नैतिक अर्थ की संकेत-योजना गर्भित रहती थी :

"जैसे बैलों की जोड़ी हाँकी जाए
हलवाहे द्वारा, वैसे ही हमारे लिए हमारा गुरु है।
जिस तरह खेत में लकीरें बनती जाती हैं,
इस धरती के कागज़ पर हमारे कर्म लिखे जाते हैं।
ये पसीने की बूँदें, जो मणियों की तरह हैं,
इस तरह गिरती हैं जैसे किसान के हाथों से बीज।
जैसा हम बोते हैं, वैसा ही काटते हैं,

कुछ अपने लिए रख लेते हैं, कुछ औरों को दे देते हैं।
ओ नानक, यही सच्चे जीवन का रास्ता है।"

गुरु नानक का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है—'जप साहब'। यह सवेरे की प्रार्थना है। निम्नलिखित पद्य उस धार्मिक उमंग का एक नमूना है, जिससे उनकी सारी रचनाएँ भरी हुई हैं :

"एक के बदले मुझे लाख जिह्वाएँ दी होतीं,
और हर लाख बीस गुना होता,
तो लाख बार मैं कहता, और फिर कहता हूँ,
सारी दुनिया का स्वामी एक है।
वही रास्ता है जो मंजिल पर पहुँचाता है,
वही सीढ़ियाँ हैं जो ऊपर ले जाती हैं,
इसी तरह स्वामी के महल में चढ़,
और उससे जाकर मिल जा, एक हो जा।
स्वर्ग के संगीत की ध्वनि स्पन्दित होती है
उन सबके लिए एक-सी, जो रेंग रही हैं, ऊपर उड़ना चाहती हैं।
ओ नानक, उसी की कृपा यहाँ-वहाँ सब ओर फैली है,
बाक़ी सब बकवास है, और झूठ है।"

गुरु अर्जुन (१५६३-१६०६) ने वही गहरा भाव अपनी कविता में व्यक्त किया है, जैसा गुरु नानक का है। उनकी कविता में रत्नों-जैसे शब्द और वाक्यांश भरे हैं। अनुप्रास और यमक के कारण उनकी कविता में मार्मिक संगीत पैदा हुआ है। 'सुखमनी' गुरु अर्जुनदेव की बहुत लोकप्रिय रचना है और वे हमारी भाषा में सबसे अधिक गाये जाने वाले कवियों में हैं।

पंजाबी साहित्य की सबसे महान् कृति 'ग्रन्थसाहब' है। इसे संकलित करने में सबसे अधिक श्रम गुरु अर्जुनदेव और उनके समकालीन लेखक भाई गुरुदास ने किया। यह बहुत बड़ा ग्रन्थ है, कई हज़ार छन्द इसमें हैं। ऊपर जिन छः गुरुओं का नाम आया है, उनके अलावा कई सन्त कवियों के पद्य भी इसमें हैं। ये सन्त भक्ति-आन्दोलन से सम्बद्ध थे। भाषा कई बार उस प्रदेश की नहीं है, जिस प्रदेश के ये सन्त माने जाते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह (१६६६-१७०८) सब सिख गुरुओं में सबसे सुपठित और विद्वान् थे। हिन्दू पुराणों और इस्लाम के धर्मशास्त्र से वे सुपरिचित थे। वे कला और साहित्य के प्रेमी थे। उनके दरबार में ५२ कवि थे। उन्होंने संस्कृत, फ़ारसी और पंजाबी तीनों भाषाओं में लिखा। अपने पूर्वजों से भिन्न उन्होंने अपनी रचनाएँ केवल पद्य में परमात्मा की स्तुति के लिए ही नहीं लिखीं। गुरु गोविन्दसिंह की रचनाओं में नैतिक और राजनीतिक अर्थ हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों में जो वीरता की भावना भरी वह उनके प्रसिद्ध 'ज़फ़रनामा' नामक विजय के गीत-जैसी सबल कविता में व्यक्त है। यह कविता सम्राट् औरंगज़ेब को सम्बोधित है। उनका 'जपसाहब' उनके अनुयायियों के लिए आज भी एक प्रेरणा-स्रोत है। गुरु गोविन्दसिंह की कृतियाँ उनके समकालीन मणीसिंह ने संकलित और सम्पादित कीं।

गोविन्दसिंह की रचना की शक्ति का एक नमूना निम्नलिखित है :

"अनन्त ईश्वर, तू हमारी ढाल है,
कटार, चाकू, तलवार तू ही है।
हमारी रक्षा के लिए दिया हुआ
अजर-अमर स्वर्ग का स्वामी तू है।
हमारे लिए पूरे इस्पात की अपराजित शक्ति,
हमारे लिए त्रिकाल की अबाध गति,
सिर्फ़ तू ही है, ओ हमारे वीर रक्षणकर्ता,
पूरे इस्पात के बने, क्या इस दास को नहीं बचाओगे ?"

दस गुरुओं की मृत्यु के बाद इन गुरुओं की जीवनियों पर समकालीन और अन्य लेखकों ने इतना लिखा कि मानो एक बाढ़ आ गई और इस विषय पर जो जानकारी मिली वह सब जमा की गई। इन जीवनियों का नाम 'जनम साखी' है और वह मूल्यवान ऐतिहासिक वर्णन है। इस काल के अच्छे जाननेवाले इतिहासकार थे—सेवाराम, रामकौर, सन्तोखसिंह, रतनसिंह भंगु और ग्यानसिंह।

सत्ता के लिए संघर्ष के समय सिखों ने कोई साहित्य नहीं रचा और न सिख राज्य के उस छोटे-से काल में ही कुछ लिखा गया, जबकि फ़ारसी का ज़्यादा मान था, और पंजाबी का कम। परन्तु जब वे विजय करने और अपने राज्य को संघटित करने में लगे हुए थे, तब दो मुसलमानों बुल्लेशाह (१६८०-१७५८) और वारिसशाह (१७३५-

१७६८) ने ऐसी कविता लिखी जो रोमांटिक और रहस्यवादी पंजाबी काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। बुल्लेशाह की 'काफ़ी' और वारिसशाह का महाकाव्य 'हीर-राँझा' बहुत ही लोकप्रिय हैं. और इस प्रदेश के हर गाँव में ये पढ़े जाते हैं। उन्होंने पंजाबी लेखकों की आगे आनेवाली पीढ़ियों को भी प्रभावित किया।

समकालीन पंजाबी लेखक

अंग्रेज़ों के कब्ज़ा करने के आधी शताब्दी बाद तक भारत में बहुत-सा साहित्य पैदा हुआ। राजनीतिक भावना के परिणामों से उबरने में बहुत साल लगे, पश्चिम के मूल्यों को समझने में बहुत समय लगा। प्रमुख अंग्रेज़ी शासक यह मानते थे कि सारी पूर्वी संस्कृति बेकार है और भारतीयों के लिए सबसे अच्छा सही मार्ग यही है कि वे यूरोपीय संस्कृति को अपना लें। भारत की एक पीढ़ी इस राय से सहमत थी और उन्होंने अपने-आपको इतनी अंग्रेज़ियत में डुबो लिया कि उनका भारतीय परम्परा और वैशिष्ट्य से सम्बन्ध जैसे छूट ही गया। अगली पीढ़ी ने इस मूर्खता को समझ लिया और प्राचीन भारत की उपलब्धियों को जिन संग्रहालयों में रखा था, उन पर से धूल साफ़ करनी शुरू की। यही प्रक्रिया सारे देश में चलती रही। चूंकि पंजाब में इन पश्चिमी प्रभावों का असर सबसे अन्त में आया, अतः उस प्रभाव को दूर करने में भी वह सबसे पीछे रहा। इसी कारण पंजाबी साहित्य का पुनर्जागरण शेष देश की अपेक्षा बहुत देर से घटित हुआ।

अंग्रेज़ी के आने के बाद, पहले सिंह-सभा के आन्दोलन और बाद में अकालियों व कम्युनिस्टों के प्रभाव से जो सामाजिक और राजनीतिक भावनाएँ प्रसारित हुईं, उन्हीं को पंजाबी साहित्य प्रतिबिम्बित करता रहा। प्रत्येक समय की साहित्यिक रचनाओं पर उन समस्याओं का प्रभाव है, जो कि इन आन्दोलनों के प्रवर्तकों के सामने थीं। फिर भी कुछ लेखक ऐसे थे जो सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं से बेफिक्र रहते थे और मानो लिखने के लिए ही लिखते थे।

सिंह-सभा के लेखक

सिंह-सभा के आन्दोलन का साहित्यिक कृतित्व सिख धर्म को उनके योगदान का ही महत्त्वपूर्ण अंग है। जिस व्यक्ति ने इस दिशा में सबसे अधिक काम किया, वे थे भाई वीरसिंह। उन्होंने पंजाबी भाषा में लोगों की दिलचस्पी फिर से पैदा की। इस भाषा के इतिहास में उनका नाम हमेशा एक पथ-चिह्न की तरह माना जाएगा। वीरसिंह (१८७२-१९५७) ने ८५ वर्ष के जीवन में इतना लिखा, जितना कि शायद किसी भी जीवित या मृत भारतीय लेखक ने न लिखा होगा। उनकी रचनाएँ इतनी अधिक हैं कि 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के २४ खण्डों के बराबर उनका स्थान है। अपने जीवन के अन्त तक भी उनका लिखना बन्द नहीं हुआ था। उन्होंने उपन्यास, कहानी, धर्म-ग्रन्थों की टीकाएँ, सब-कुछ लिखा।

जब उन्होंने लिखना शुरू किया तब १९वीं शताब्दी के अन्त में जो सामाजिक और राजनीतिक स्थिति थी, उसी परिपार्श्व में वीरसिंह के लेखन को देखना होगा। उनके उपन्यास, जिनसे कि उनका नाम लाखों घरों में जाना गया, ऐसे समय लिखे गए थे जब कि पंजाबी लोग अपने पुरखों की उपलब्धियों पर सन्देह करने लगे थे। अंग्रेज़ इतिहासकार स्थूल और अनैतिक सिख-राज्य की निन्दा करते थे और कहते थे कि अंग्रेज़ों ने उसके बदले अधिक सुसभ्य राज्य कायम किया है। संस्कृत के विद्वान् सिखों के धर्म का मज़ाक उड़ाते थे कि यह तो वेदों का ही बहुत दरिद्री अनुकरण है और सिख धर्म के बाह्य रूपों तथा संकेतों को जंगली करार दे रहे थे। भाई वीरसिंह के 'सुन्दरी', 'विजयसिंह', 'सतवन्त कौर' और 'बाबा नौधसिंह' उपन्यासों में सिखों की वीरता और बहादुरी का मुख्य वर्णन है। सिख धर्म की नैतिक श्रेष्ठता ही उनके उपन्यासों का मुख्य विषय है। जनसाधारण की दासता, पठान और मुगल राजाओं के अत्याचार भी वर्णित किये गए हैं। सिखों ने वीरसिंह के उपन्यास बड़े उत्साह और श्रद्धा से पढ़े। लेकिन धीरे-धीरे वह विशेष मनःस्थिति बदल गई और उनके उपन्यासों की लोकप्रियता भी कम हो गई। आज के पाठक को ये उपन्यास बहुत नीरस लगते हैं। अब उनका स्थान साहित्य में नहीं, इतिहास में है।

वीरसिंह ने उपन्यास लिखना छोड़ दिया और धर्म-ग्रन्थों पर टीका और अनुवाद कई छोटी-छोटी पुस्तिकाओं

में करने लगे तथा 'खालसा समाचार' नामी अपने साप्ताहिक पत्र में लिखना शुरू किया। इसी में उनकी कविता भी प्रकाशित होनी शुरू हुई, जिसके कारण उन्हें पंजाबी कवियों में बहुत बड़े सम्मान का स्थान मिला।

वीरसिंह ने पहले मुक्तछन्द के प्रयोग किये। एक लम्बी कविता 'राणा सूरतसिंह' नाम से प्रकाशित हुई। इसका विषय भी वही, हमेशा की तरह, धार्मिक था। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था और शैली बड़ी प्रभावशाली थी। पंजाबी में पहले किसी ने सफलतापूर्वक मुक्तक नहीं लिखा था। वीरसिंह ने एक लम्बी कविता ऐसी सफलता से लिखी कि उसमें अनुप्रास और शब्द-संगीत, लय और आवृत्ति से ऐसा आनन्द निर्मित हुआ मानो उसमें वसन्त की दोपहरी का सालस सरस वातावरण हो। इसके बाद वीरसिंह ने नानक और गुरु गोविन्दसिंह की जीवनियाँ लिखीं। पहले 'कलगीधर चमत्कार' नाम से गुरु गोविन्दसिंह की जीवनी प्रकाशित हुई और इसके तीन वर्ष बाद 'गुरु नानक चमत्कार'।

इन जीवनियों के बीच में वीरसिंह ने कई कविता-संग्रह प्रकाशित किए, जिनमें उन्होंने ऐसा छोटा छन्द प्रयुक्त किया जो आज तक पंजाबी कवियों ने प्रयुक्त नहीं किया था। इनमें से अधिक लोकप्रिय थीं 'रुबाइयाँ'। इनमें उन्होंने अपने दर्शन और रहस्यवाद को व्यक्त किया। उनकी रुबाइयों में ईश्वर और मनुष्य-जाति का प्रेम, आध्यात्मिक और ऐन्द्रिक, नैतिक तथा दैवी धाराओं का रंगीन मिश्रण मिलता है। इन्हें पढ़कर सौन्दर्य और विस्मय दोनों का बोध होता है। इन सबमें विनम्रता का और कभी-कभी आत्म-पीड़न का अन्तःस्वर भी दिखाई देता है :

तुमने मुझे शाख से तोड़कर अलग किया,
मुझे हाथ में लेकर सुगन्ध सूँघी,
और मुझे फेंक दिया,
इस तरह फेंका हुआ, उपेक्षित, पददलित, धूल-धूसरित मैं हूँ।
मुझे केवल इतनी ही याद है—तुम्हारे स्पर्श की स्मृति की,
और मैं उसके लिए कृतज्ञ हूँ।

और उनकी यह कविता भी बहुत अधिक उद्धृत हुई है :

सपने में तुम मेरे पास आए,
मैंने उछलकर अपनी बाँहों में भर लेना चाहा,
पर वह केवल आभास था, जिसे कि मैं पकड़ न सका,
मेरी बाँहें साध से दुखती रहीं।
फिर मैंने लपककर तुम्हारे पैर पकड़ने चाहे
कि मैं उन पर अपना सिर टेक दूँ।
वहाँ तक भी मैं न पहुँच सका
क्योंकि तुम बहुत ऊँचे थे और मैं नीचा था।

अधिकतर लोगों की सृजनात्मक शक्ति साठ वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो जाती है, परन्तु वीरसिंह के साथ ऐसी बात न थी। वे कभी भी उन कवियों के दल में न थे, जो अपनी ही रचनाओं की लपटों में जल जाते हैं। जिस तरह का जीवन वे जीते थे और जैसी कविता लिखते थे, दोनों ही शुद्धतावादी परम्परा के थे—भाषा साफ़, विचार पवित्र, व्यंजना हार्दिक। और निश्चय ही, वही ज़्यादा दिन टिकने वाली चीज़ है। यह उचित ही हुआ कि उनकी 'मेरे सैयाँ जिओ' (साहित्य अकादेमी ने स्वतन्त्रता के बाद प्रकाशित पंजाबी की श्रेष्ठ रचना का पुरस्कार इस ग्रन्थ को दिया) नामक ग्रन्थ को देश के सर्वोत्तम साहित्यिक पुरस्कार का सम्मान मिला। इससे कम-से-कम यह लाभ तो हुआ कि पंजाबी भाषा के बाहर के दूसरे लोगों को वीरसिंह के नाम का पता लग गया।

भाई वीरसिंह के चार समकालीन कवि, जो अब जीवित नहीं हैं, उल्लेखनीय हैं। काहनसिंह ने सिख धर्म का सबसे प्रसिद्ध विश्व-कोश तैयार किया। चरणसिंह 'मौजी' के सम्पादक थे। उन्होंने पंजाबी गद्य में हास्य की शुरुआत की। पूरणसिंह ने कुछ उत्तम रचनाएँ मुक्त छन्द में दीं और बड़ी ही परम्परा-रहित शैली में और वह भी अपरिचित विषयों पर। और धनीराम चात्रिक, जिनकी कीर्ति, जब तक वे जीवित थे, भाई वीरसिंह से दूसरे नम्बर पर रही। उनके काव्य-संग्रहों, विशेषतः 'केसर क्यारी', 'नवाँ जहान' और 'सूफ़ीखानो' में कुछ बहुत सुन्दर भाव-गीत हैं, जिनमें पंजाबी बोलियों की मुहावरेदारी भी है।

तरुण पीढ़ी में भी कविता ही साहित्यिक व्यंजना का सबसे लोकप्रिय रूप है। ऐसा कोई महीना नहीं बीतता, जिसमें एक नया कवि आगे न आता हो। अखबारों और पत्रिकाओं में बहुत-सी जगह कविताओं के लिए दी जाती है और किसी राजनीतिक या धार्मिक सभा से अधिक

जनता पंजाबी कवि-दरबार में जमा होती है। बहुत-सी नई कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें उत्कृष्टता बहुत कम है। इस सर्वसाधारण नियम के दो अपवाद हैं—मोहनसिंह और अमृता प्रीतम। मोहनसिंह साहित्यिक पत्रिका 'पंज दरिया' के सम्पादक हैं। उन्होंने 'सावे पतर', 'कुसुम्बा' और 'अधवाटे' नामक तीन पुस्तकों से बड़ा ही उत्तम आरम्भ किया। वे तरुण कवियों में सबसे अच्छे माने जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी बाद की रचनाएँ विशेषतया 'कछ-सच', जो कि देश के विभाजन के बाद प्रकाशित हुई, ऐसी है कि उसमें वाम पक्ष की ओर ज़बरदस्त झुकाव है। इसमें राजनीतिक भावनाओं को काव्य-रूप से भी अधिक महत्त्व दिया गया है और यह बीमारी ऐसे बहुत-से नौजवान लेखकों को लग गई है, जो अपने-आपको 'प्रगतिवादी' कहते हैं। मोहनसिंह के मामले में मार्क्सवाद के प्रति पहला उत्साह जल्दी ही ठण्डा हो गया और अब उनमें दलितों का नेतृत्व करने की इच्छा और कर्म के लिए प्रेरणा के रूप में ही वह मार्क्सवाद बाकी है। वे अपने पहले के लेखन की सहज सुन्दरता को फिर से पकड़ सके हैं और अगर वे इसी रफ्तार से लिखते रहे, तो हमारी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि ज़रूर बन जाएँगे, क्योंकि उनके आगे बड़ी उम्र बाकी है। एक नवीन किन्तु अनुल्लेखित ग़ज़ल में उन्होंने अपनी क्रान्तिकारी भावना इस प्रकार व्यक्त की है :

घड़े के अन्दर का अँधरा फूट पड़ा,
चाँदनी का दूधिया सफ़ेद रंग फैल गया,
समय हो गया है कि हम सबेरे की बात करें,
और रात के बारे में गप्प लड़ाना छोड़ दें।
मैं मानता हूँ कि शिशिर के स्पर्श से
कुछ पत्ते पीले पड़ते जा रहे हैं।
जो कुछ खो गया और बीत गया उसके लिए दुःख मत करो
अपनी गोद नई आशाओं से भर लो!
कब तक स्वर्ग के प्राचीन पनघट पर
बेकार कल्पनाएँ खींचोगे और उन्हें प्रिय मानोगे?
चलो इस धरती के बालों को चूमें,
चलो कुछ नजदीकी चीज़ों के बारे में बात करें।

दोनों पंजाबों के—यानी पाकिस्तान और भारत के—साहित्यिकों में अमृता प्रीतम बहुत लोकप्रिय हैं। वे कोई 'प्रगतिशील' कवयित्री नहीं हैं, न उन्हें कोई सन्देश ही देना है। वे किसी और कारण से कविता नहीं लिखतीं, केवल इसलिए लिखती हैं कि लिखे बिना उनसे रहा नहीं जाता। वे विद्वान् नहीं हैं, लेकिन उनकी कविता की सादगी और ताज़गी उस विद्वत्ता के अभाव को भर देती है। उनकी सभी रचनाओं में लोक-गाथा और वीर-काव्य की मधुर धुन समाई रहती है। कभी-कभी सुन्दर उक्तियों या शब्दों का माधुर्य उन्हें अपने मूल विषय से दूर ले जाता है और उससे कविता का मुख्य विषय धुँधला हो जाता है। एक कविता में, जो कि उनकी प्रिय कविता है, प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है :

जागो, प्रिय!
तुम्हारी पलकें स्वप्नों से भारी हैं,
बीते हुए दिनों के स्वप्नों से,
जब हवाएँ सुगन्धि से गुँथी हुई थीं
(क्या उस कारण से तुम आह भर रही हो?)
आमावस्या की अँधेरी रात में
अनगिनत तारे तुम्हारे बालों को चमका दें।

जिस कविता ने अमृता प्रीतम की कीर्ति को भारत की सीमा पार कर पाकिस्तान तक फैलाया, वह 'वारिसशाह के प्रति' है। वारिसशाह विभाजन के पूर्व के उन अच्छे दिनों का प्रतीक है जब हिन्दू, मुसलमान और सिख भाई-भाई की तरह रहते थे। अमृता की कविता इस प्रदेश के विभाजन पर एक मर्सिया है। विभाजन के बाद जो खून-खराबा हुआ, उस पर उसमें शोक व्यक्त किया गया है। वह वारिसशाह से पूछती है कि अब तू कब्र में से क्यों नहीं जागता और तेरी मातृभूमि में जो विनाश हो रहा है उसे क्यों नहीं देखता?

ओ दुःख को शान्त करने वाले उठ, और अपना पंजाब देख, उसके खेतों में लाशें फैली हैं, चिनाब में खून बह रहा है। हमारी पाँचों नदियां उसी हाथ ने जहरीली बना दीं, जो कि इस जहरीले पानी को ज़मीन की सिंचाई के लिए काम में लाता है।

अमृता की कविता को लोकप्रियता कुछ सहज ढंग से मिल गई और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि काव्यात्मक

गुण छोड़कर वह लोक-प्रशंसा का रास्ता अपनाती हैं। (उनकी कविता की शुरू की पंक्तियाँ सबसे अच्छी होती हैं, उनके बाद करुण, अन्त सब में प्रायः पाया जाता है।) परन्तु वह अभी आयु में छोटी हैं और इस कवयित्री के आगे बड़ा अच्छा भविष्य है। पंजाब को उनसे बहुत आशाएँ हैं।

दूसरी भाषाओं की तरह पंजाबी में भी कविता में ऐसी आधुनिक धाराएँ हैं, जो रूप-छन्द-तुक आदि को न मानने का आग्रह रखती हैं और इस कारण वे साधारण पाठक के लिए अर्थहीन हो जाती हैं। इस तरह का बहुत-सा लिखना उनके दिन चूक जाने पर खत्म हो जाता है, सिर्फ़ जो अच्छा है, वही बचता है। जो बचने लायक थोड़ा-सा है, उसका उदाहरण प्रीतमसिंह 'सफ़ीर' की कविता है। इधर बहुत दिनों से वे भी प्रायः मौन हैं।

चलें, अब हम गद्य की ओर मुड़ें। पंजाबी गद्य में सबसे बड़ा नाम गुरबख़्शसिंह का है। गुरबख़्शसिंह ने अपना जीवन इंजीनियर के रूप में शुरू किया और अध्ययन के लिए वे अमेरिका पहुँचे। वहाँ से लौटने पर उन्होंने इंजीनियरी छोड़ दी और आधुनिक विचारों का प्रचार करने लगे। 'प्रीतलड़ी' नाम से उन्होंने एक अखबार चालू किया और उस मासिक के द्वारा अपने विचारों का प्रचार करने लगे। उन्होंने एक सामूहिक केन्द्र स्थापित किया, जिसे प्रीतनगर कहते हैं और जो भारत-पाकिस्तान की सीमा पर है। प्रीतनगर ऐसी शिक्षा का केन्द्र बन गया। गुरबख़्शसिंह का 'साँवी पथरी ज़िन्दगी' निबन्ध-संग्रह ऐसा था कि उसने उन्हें पंजाब का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार और गद्यकार बना दिया। सामाजिक प्रवृत्ति के जिन कई लेखकों के पीछे उनकी प्रेरणा प्रधान है, उनमें उनके पुत्र नवतेजसिंह भी हैं। पिता-पुत्र दोनों चीन, पूर्वी यूरोप, सोवियत रूस इत्यादि स्थानों पर 'शान्ति-सम्मेलनों' में जाते रहे हैं। यद्यपि उनका बहुत-कुछ लेखन (कसमिया) प्रचारात्मक है, फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वह अच्छे स्तर का है, क्योंकि वह बाहर की दुनिया के अनुभव से समृद्ध है और विदेशी साहित्य की आधुनिक धाराओं का उसमें प्रतिबिम्ब है।

पंजाबी उपन्यास में बहुत कम नाम गणनीय हैं। वैसे तो कई उपन्यास लिखे जा रहे हैं और हर मास प्रकाशित हो रहे हैं। भाई वीरसिंह, जिनकी कविता में श्रेष्ठता इतनी उच्चकोटि की थी, उपन्यास के आवश्यक गुण नहीं पैदा कर सके और दुग्गल-जैसे तरुण लेखक लम्बी कहानियाँ लिखते हैं, और उसी से सन्तुष्ट हैं। दुग्गल की कहानियों में वही चरित्र होते हैं, और शायद यों सोच लिया जाता है कि इसी का नाम उपन्यास है। सबसे अधिक लोकप्रिय उपन्यासकार नानकसिंह हैं, जिन्होंने करीब चालीस उपन्यास लिखे हैं, जिनमें 'चिट्टा लहू' और 'आदमखोर' ('आदमखोर' का अनुवाद साहित्य अकादमी अन्य भारतीय भाषाओं में कर रही है) सर्वोत्तम हैं। नानकसिंह अपनी रचनाओं द्वारा सामाजिक सुधार का सन्देश फैलाना चाहते हैं। उनकी कहानियाँ दिलचस्प होती हैं, परन्तु उनकी भाषा अंग्रेज़ी शब्दों से विकृत है, जबकि उन्हीं शब्दों के लिए अच्छे-ख़ासे पंजाबी शब्द मौजूद हैं। दो तरुण लेखक, जो यदि विकसित होते जाएँ तो आगे बहुत अच्छा लिखेंगे, सुरिन्दरसिंह नरूला और जसवन्तसिंह 'कंवल' हैं। 'कंवल' की 'पूरणमासी' बहुत आशापूर्ण रचना है।

रचनात्मक साहित्य की एक और विधा, जिसमें पंजाबी लेखकों ने विशेष सफलता प्राप्त की है, लघुकथा या कहानियाँ हैं। पंजाबी पत्रिकाओं में जो कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनका साधारण स्तर बहुत ऊँचा है। इसका कारण यह है कि इस क्षेत्र के प्रमुख अगुवा सन्तसिंह सेखों ने यूरोपीय और अमरीकी कहानी-लेखकों की टेकनीक का अनुसरण किया है। सीधा-सच्चा घटना-वर्णन छोड़कर सन्दर्भ-संकेत, नाटकीय वस्तु, मनोविश्लेषण और आत्म-कथन आदि युक्तियों का कुशलतापूर्वक उपयोग किया है। करतारसिंह दुग्गल ने, जो सबसे प्रमुख कहानी-लेखक हैं, सेखों से यह कला सीखी। दुग्गल की विशेषता है रावलपिण्डी ज़िले की बोलियों का ज्ञान, जिसे वे बहुत मज़े से उपयोजित करते हैं। उन्होंने करीब सौ कहानियाँ प्रकाशित की हैं, जिनमें से 'सवेरे सर' और 'नवाँ भर' प्रसिद्ध हैं। उन्होंने विभाजन की दुरवस्था पर उपन्यास भी लिखे हैं; मगर वे, जैसा कि ऊपर कहा गया है, निरे कहानियों के गुम्फन-मात्र हैं। उनका 'नहूँ ते मास' पंजाबी उपन्यासों में आने वाले वर्षों में एक पथ-चिह्न की तरह

रहेगा। उसमें किसान-चरित्रों का बड़ा ही साधिकार चित्रण हुआ है और ऐसी वस्तु का कुशल वर्णन है, जिसमें कि गाँव और देहात की शान्ति साम्प्रदायिक पक्षपात से बिलकुल दूर है। 'लड़ाई नहीं' नामक बाद की रचना में भी उन्होंने वस्तुनिष्ठता का स्तर रखा है। दुग्गल ने कुछ कविताएँ भी लिखी हैं, जो विशेष प्रसिद्ध नहीं हैं, और यह अच्छा ही है। उनके नाटक स्टेज पर कभी नहीं खेले गए, परन्तु कुछ प्रसारित हुए हैं।

दूसरे सफल कहानी-लेखक कुलवन्तसिंह विर्क हैं। दुग्गल ने जो कमाल उत्तरी पंजाब की बोली से हासिल किया, विर्क लाहौर की आस-पास की बोली से वही काम लेते हैं। यद्यपि दुग्गल का प्रभाव उस पर स्पष्ट है, फिर भी विर्क के पात्र और विषय इस प्रदेश के अधिक जोशीले हिस्से से आते हैं, और इस कारण इनका लेखन अधिक पौरुषपूर्ण है और उसमें बेकार का रोना-धोना तथा वृथा की भावुकता नहीं।

पंजाबी लेखन का सबसे उपेक्षित अंग है नाटक। इसका सीधा-सा कारण यह है कि यहाँ कोई संगठित स्टेज नहीं है। नाटककार नाटक लिखकर सिर्फ़ यह आशा-भर कर सकते हैं कि उनके नाटक कोई पढ़ेगा और अधिक-से-अधिक प्रसारित करेगा। नाट्य-कला के लिए केवल पठन और प्रसारण पूरा न्याय नहीं करता। अव्यावसायिक अभिनेताओं को स्कूल-कालेजों से चुन लेने-भर से कभी-नाट्य-कला नहीं पनपती। फिर भी प्रो० ईश्वरचन्द्र नन्दा के सुखान्त नाटकों ने कुछ थोड़ी-सी शाब्दिक हेर-फेर और युक्ति-प्रयुक्ति से हँसी पैदा की थी। अभी भी पंजाबी साहित्यिकों में उनके बारे में बातचीत होती है। कुछ कमज़ोर कोशिश इक्के-दुक्के नाटक को स्टेज पर दिखाने के बारे में की जाती है। गुरदयालसिंह खोसला ने बच्चों के लिए नाटक लिखने में विशेषता हासिल की है और छोटी-छोटी पाठशालाओं से वे किसी तरह अभिनेता पैदा कर लेते हैं। बलवन्त गार्गी, जिनका नाम नाटककार के नाते अधिक प्रसिद्ध है, बहुत अर्से से वामपक्षी राजनीति से सम्बद्ध हैं, और अभी हाल में वे रूस और यूरोप के स्टेज का बहुत समय तक अध्ययन करके लौटे हैं। उनके अनेक नाटक उस भावना से भरे हुए हैं और उनमें एक राजनीतिक प्रयोजन होता है। उनका व्यंग्य तीखा और उनका हास्य कड़आ है, जिससे कि उनका सन्देश अच्छी तरह व्यक्त होता है। उनका पटियाला में बोली जानेवाली बोली का उपयोग ऐसा है कि इससे उनके नाटक जानदार हो जाते हैं। उनकी देहाती कहानियों के लिए भी वह भाषा उपयुक्त है। यह दुःख की बात है कि गार्गी के नाटकों को समझने के लिए उन्हें पढ़ना पड़ता है, और जो मंच पर खेले जाते हैं वे राजनीतिक दलों द्वारा खेले जाते हैं। इनमें से बहुत थोड़े ऐसे हैं जो रेडियो पर प्रसारित किये जा सकते हैं। अब उन्होंने उपन्यास लिखना भी शुरू किया है।

भविष्य

यह विचित्र बात है कि अधिकतर सिख राजनीतिक नेताओं ने कभी-न-कभी लिखने की या कविता रचने की कोशिश की। गुरमुखसिंह 'मुसाफ़िर' (जो प्रादेशिक कांग्रेस पार्टी के प्रमुख हैं) काफ़ी प्रभावशाली कवि हैं। मास्टर तारासिंह ने कुछ उपन्यास लिखे हैं, पश्चिम के जंगल-उपन्यासों के ढंग पर। वे सिर्फ़ 'बिल कोडी' और 'डेवी क्रोकेट' के बजाय सिख-चरित्र ले आते हैं, और आप विश्वास करें या न करें, कम्युनिस्ट नेता सोहनसिंह 'जोश' धर्म-ग्रन्थों के बहुत अच्छे टीकाकार के नाते प्रसिद्ध थे। साहित्यिक शक्ति पर राजनीतिज्ञों द्वारा यों बल देने का सुखद परिणाम यह हुआ कि पंजाबी को सरकारी भाषा बनाने की संयुक्त माँग को अधिक शक्ति मिली। इसी कारण एक पंजाबी-भाषी प्रदेश और एक पंजाबी साहित्य अकादेमी स्थापित हुई। अब जबकि ये सब बातें हो चुकी हैं, कोई पूछ सकता है कि भविष्य क्या है?

सरकारी मान्यता से साहित्य नहीं पैदा होता। कुछ हद तक विभाजन के कारण और पाकिस्तान में उर्दू को शासकीय मान्यता और भारत में हिन्दी को राज्याश्रय मिलने से पंजाबी भाषा को जो ठेस पहुँची, उसकी क्षति-पूर्ति शायद कुछ दिनों बाद हो जाए। परन्तु अभी तो कुछ वर्षों के लिए पंजाबी में साहित्यिक रचना उन सिख-लेखकों पर अधिक अवलम्बित रहेगी जो केवल गुरुमुखी का प्रयोग करते हैं। पंजाबी-भाषी प्रदेश की भाषा और शैली ज्यों-ज्यों मानदण्ड प्राप्त करती जाएगी, बोली का

महत्त्व कम होगा और उतनी ही मात्रा में उसकी देहाती शक्ति भी कम होगी। यह बाधक प्रभाव इस तरह दूर किया जा सकता है कि दूसरी भाषा के श्रेष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद पंजाबी में हों। दूसरे दर्जे का साधारण लेखन, जो केवल पंजाबी में होने से स्कूल-कालेजों के पाठ्य-ग्रन्थों में लिखा जाता है, कम करना होगा। इससे साहित्य का स्तर गिरता है और कल्पनाहीन लेखन को बढ़ावा मिलता है। जिन पंजाबियों ने ऊँचे पारिश्रमिक के अभाव में दूसरी भाषा में लिखना शुरू किया, उन्हें अपनी मातृभाषा की ओर लौटने के लिए प्रेरित करना होगा, उदाहरणार्थ राजेन्द्रसिंह बेदी, जिनकी उर्दू कहानियाँ बहुत ही उच्चकोटि की होती हैं। पंजाबी मासिक पत्रिकाओं को उस बुरे असर से मुक्त करना होगा, जिसके कारण वे केवल परीक्षार्थियों के लिए सामग्री देती हैं। ऊपर जिनका उल्लेख आ चुका है, उनके अलावा कुछ अच्छे पत्र भी हैं। पंजाब सरकार ऐसी योजनाओं को शुरू कर रही है, और हरीकिशन का 'पंजाबी साहित्य', जो जालन्धर से निकलता है, बहुत वर्षों से उच्च साहित्यिक स्तर कायम रखे हुए है। अन्त में पंजाबी में प्रमुख समालोचकों का ऐसा वर्ग विज्ञापित होना चाहिए जो रचनात्मक लेखन की सहायता कर सके और बेचारे भोले पाठकों को रद्दी किताबों से बचा सके। अब तक पंजाबी साहित्य-जगत् बहुत संकीर्ण रहा है, इसमें 'परस्परं भावयन्तः', 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' बहुत होता रहा है। अब उसे अच्छे और बुरे के बीच में विवेक करना होगा और अपने बहुत दिनों से प्रतीक्षित पुनर्जागरण की ओर बढ़ना होगा।

बालकृष्ण वामनराव भोंसले
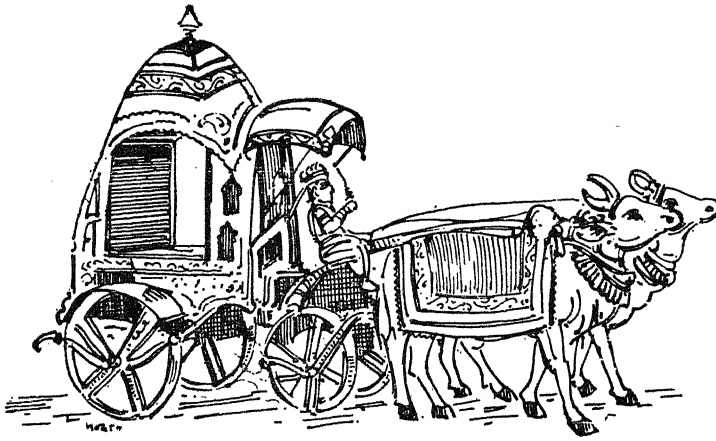
बंगला साहित्य की प्रवृत्तियाँ

श्री बालकृष्ण वा० भोंसले मराठी-भाषी हैं। इनका जन्म दिनांक ३० जुलाई सन् १९२७ में महाराष्ट्र के बम्बई नगर में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा बम्बई में ही हुई। हिन्दी-सेवा की रुचि और लगन आरम्भ से ही थी। शिक्षणोपरान्त 'बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ' के सक्रिय कार्यकर्ता बन गए। तब से आज तक हिन्दी के प्रचार-कार्य में संलग्न हैं। हिन्दी में आपकी पाँच कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। सम्प्रति बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के प्रसार-मन्त्री हैं और बम्बई में ही निवास करते हैं।

बंगला साहित्य में, विगत दो दशकों में समीक्षात्मक ढंग से यदि देखा जाए तो कुछ सराहनीय उपलब्धियाँ हुई हैं। ये उपलब्धियाँ आलोचकों की बढ़ती हुई प्रखरता का परिणाम नहीं, लेखकों द्वारा आलोचकों का साथ दिये जाने से ही सम्भव हो सकी हैं। समसामयिक कवि और उपन्यासकार पूर्ववर्ती प्राचीन कवि और उपन्यासकारों से किन्हीं अंशों में कहीं अधिक सहज, बोधगम्य और सम्प्रेषणीय हैं। लेकिन बंगला साहित्य की इस विधा का सामयिक समीक्षकों द्वारा उल्लेख कम ही हुआ है। बंगला आलोचकों के कथनानुसार, साधारणतः लेखकों के सहज विश्लेषण, उनकी प्रवृत्ति और उद्देश्य उनकी अभिव्यक्तियों में, नवीन उद्भावनाओं और आदर्शों में हैं। इसीलिए समीक्षकों को इनके सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करने में कठिनाई प्रतीत हुई है। कदाचित् अधिकांश अद्यतन बंगला-लेखक सामयिक जीवन के नैतिक मूल्यों की महत्ता या मौलिक चेतनात्मक बोध को प्रस्तुत करते हैं।

आज बंगला साहित्य में बंगला आलोचकों के अनुसार स्पृहणीय प्राणवत्ता है, जो बहुल रचना-शक्ति की सूचक है। नये लेखकों में पुरुषों के साथ नारी-लेखकों की भी बहुलता है। बंगला का अधिकांश भाग पाकिस्तान में चले जाने के बावजूद बंगला के पाठकों की संख्या बढ़ी है। जो इस तरह का सन्देह करते हैं कि आधुनिक साहित्यकारों का रचना-बाहुल्य उनकी महत्त्वाकांक्षा का परिणाम है, वे इस सत्य की उपेक्षा करते हैं कि सृजन की क्षमता प्रसिद्धि की इच्छा से प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि समीक्षक ऐसा तर्क प्रस्तुत करें कि आधुनिक बंगला-लेखकों की महत्त्वाकांक्षा उनकी क्षमताओं से मेल नहीं खाती तो यह अन्याय होगा। उपन्यास के क्षेत्र में उत्कृष्ट क्षमता रखने वाले केवल कुछ ही लेखक नहीं, बहुत-से हैं। उनकी योग्यता, प्रतिभा की उच्चतम सीमा को निस्सन्देह छूती है और शुद्ध साहित्य, जैसा कि कहा जाता है, अपने अतीत गौरव के साथ समस्त विश्व में बिखरा रहता है, वही स्थिति आज बंगला-लेखकों की भी है।

बंगला समीक्षकों का एक आरोप यह भी है कि साधारणतः बंगला साहित्य के गुणान्वेषण की अपेक्षा उसका छिद्रान्वेषण किया जाता है। ऐसा कहा जाना किंचित् भी ठीक नहीं है कि महान् प्रतिभा दोषरहित ही होनी चाहिए। समसामयिक बंगला साहित्य में पात्रों की

चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन अवश्य ही उस स्तर पर नहीं हो सकता जिस स्तर पर समाजगत नैतिक मूल्यों की अवतारणा होती है। स्पष्टतः बंगला साहित्य में यह प्रतिच्छाया टूटते हुए जीवन के आयामों से तथा भावना और अभिव्यक्ति में अनुभूति की उथली, अप्रौढ़ पैठ के कारण आई है। ठीक यही स्थिति इतर सामाजिक और व्यावसायिक व्यवहारों में भी है। शायद इसका कारण नवीन सामाजिक परिवेशों में उत्पन्न बौद्धिक समस्याओं को हल कर पाने में बुद्धिजीवियों की असफलता ही है। बंगला लोक-समूह, नैतिक औत्सुक्य की अनुभूति में यथेष्ट समृद्ध नहीं है। सैद्धान्तिक स्तर पर यही समृद्धि समाज को विचार और व्यवस्था की प्रौढ़ता प्रदान करती है।

बंगला साहित्य में, इधर के दशकों में बौद्धिकता का अभाव समीचीन नहीं तो विचारणीय अवश्य है। इस तरह का प्रस्तुतीकरण व्यापक दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है। इसमें वास्तविकता यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर पन्द्रह वर्षों में बंगला के जो गद्य-लेखक साहित्य-जगत् में आये उनकी गणना पूर्ववर्ती बंकिमचन्द्र, भूदेव, द्विजेन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ, रामेन्द्रसुन्दर, प्रमथ चौधरी के समकक्ष नहीं की जा सकती। स्वातन्त्र्योत्तर-काल में गद्य की महत्ता किसी भी तरह पहले से कम नहीं है, परन्तु जो बौद्धिक समायोग इस तरह का साहित्य प्रस्तुत कर सकता था, उसका जन-समाज में अभाव रहा है। इस काल के उपलब्ध बंगला-साहित्य में दार्शनिक ढंग से हमारी समस्याओं पर किसी ने भी विचार नहीं किया। निश्चय रूप से ही अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता जीवन के प्रति विचारों की पवित्रता और गहरी पैठ का परिणाम है। लेकिन इस स्तर और कोटि का आधुनिक बंगला साहित्य बहुत ही थोड़ा, कहना चाहिए कि नहीं के ही समान है। गद्य का उदात्त रूप तो किसी भी देश में विरल ही होता है, परन्तु अच्छा गद्य, जो प्रायः सामान्य स्तर की सभी भाषाओं के साहित्य में प्राप्त है, स्वस्थ जीवन का परिचायक होता है। बंकिम और रवीन्द्रनाथ ने उदात्त गद्य प्रस्तुत किया, जिसके आधार पर अच्छे गद्य-साहित्य की परम्परा का निर्माण सम्भव था। किन्तु इस तरह की परम्परा को न केवल ग्रहण ही नहीं किया गया, उसकी उपेक्षा भी की गई।

अर्वाचीन बंगला काव्य जीवन की गहनता को दिग्दर्शित नहीं करता। अधिकांश कवियों ने काव्य-शैलियों के प्रयोगों से उत्साहित होकर नवीन रम्य उद्भावनाओं और कल्पनाओं को प्रस्तुत किया जो अधिकतर उद्देश्यहीन अन्त के साथ आई। मासिक पत्रों में अधिकांश प्रकाशित कविताएँ कभी-कभी पाठकों को आश्चर्य में डाल देती हैं। यदि उनके लेखक यह अनुभव कर पाते कि केवल कवि ही कविता कर सकता है तो अच्छा होता। कुछ कविताएँ निस्सन्देह उच्च स्तर की भी प्रकाश में आईं। जब जीवनानन्ददास (१८९९-१९५४) को उनकी श्रेष्ठ कविताओं के लिए १९५५ में अकादेमी पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया, तब शायद ही किसी समीक्षक ने उनके अपने समय के सर्वोत्तम कवि होने पर सन्देह किया। प्रेमेन्द्र मित्र (जन्म १९०५) का ओजपूर्ण काव्य, अस्पष्टता को काव्य का गुण समझनेवाले आधुनिक कवियों के लिए अच्छा उदाहरण है। उनका 'सागर थके फेरा' (१९५६), जिसे अकादेमी पुरस्कार मिला है, भले ही सर्वोत्तम काव्य-कृति न माना जाए, किन्तु उसमें सर्वत्र अनुभूति की जो यथार्थता और अभिव्यक्ति की सहजता है, वही उत्तम काव्य का गुण है। विष्णु दे ने इलियट और समकालीन कवियों की १७ कविताओं का १९५३ में अनुवाद प्रस्तुत करके आधुनिक बंगला काव्य को सम्पन्न किया है। उनकी दूसरी कृति 'नाम रखेची कोमल गन्धार' (१९५३) निश्चित रूप से सर्वोत्कृष्ट कवि का कार्य है। इसमें कवि अपने शब्दों और स्वरों को समीक्षक के कान से तब तक सुनता रहता है जब तक कि उनके चयन में ध्वन्यात्मकता और संप्रेषणीय भाव-सार्थकता नहीं आ जाती। अधिकांश पाठक केवल ध्वन्यात्मकता को ही ग्रहण कर आनन्दविभोर हो जाते हैं और उसकी वास्तविक संवेदना को ग्रहण नहीं कर पाते। सम्भवतः एक दिन पाठकों को अपनी भूल अवश्य ज्ञात होगी। बुद्धदेव बसु (जन्म १९०८) ने 'शीतेर प्रार्थना' में १९४० से १९५४ तक की ३३ कविताओं को संकलित किया है और इसे बंगला कविता का सीमाचिह्न कह सकते हैं।

यह सत्य है कि प्राचीन कवियों के गौरव के समक्ष आधुनिक कवियों की कीर्ति धुँधली पड़ गई है। उनमें

सबसे पहले कुमुद रंजन मलिक (जन्म १८८३) हैं। इनकी कविताएँ स्नातकोत्तर और शिक्षकीय पाठक-समूह में अधिक प्रिय रही हैं। कालिदास राय (जन्म १८८९) की गणना श्रेष्ठ काव्यकारों के रूप में की जाती है। इनकी काव्यकृति 'सान्ध्यमणि' (१९५७) में प्राचीन काव्य-सौन्दर्य के साथ गहरी आत्मानुभूति अभिव्यक्त हुई है। प्रमथनाथ विशी (जन्म १९०२) आधुनिक युग के निकट होने पर भी, आध्यात्मिकता के कारण प्राचीन पीढ़ी के ही कवि माने जाते हैं। सम्भवतः इनके कवि-रूप की ख्याति आलोचना और पांडित्य के कारण कम हो गई है। अभी हाल ही में इन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में टैगोर व्याख्याता का महार्घणीय पद प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त इन्हें इनके एक उपन्यास पर रवीन्द्रनाथ पारितोषिक भी मिल चुका है। बंगला में अत्यधिक वैशिष्ट्यपूर्ण कविता करने वालों में ये प्रमुख हैं। इनकी श्रेष्ठ कविताओं का संकलन १९६० में प्रकाशित हुआ जो अधिकांश गेय हैं।

सम-सामयिक बंगला लेखकों की रचनात्मक कल्पनाएँ उपन्यासों और छोटी कहानियों में प्रस्फुटित होती हैं। ताराशंकर बनर्जी (जन्म १८९८) का उपन्यास इस ढंग की पहली कृति है जो प्राचीन पद्धति से कुछ हटकर है। इनके उपन्यास कहानियों से श्रेष्ठ नहीं बन पड़े हैं। 'विचारक' इनकी १९५६ की रचना है। इनका कथानक श्रेष्ठ है। उसमें मनुष्य की शक्तियों का अव्यवस्थित ढंग से आत्म-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। 'सप्तपदी' (१९५७) एक आध्यात्मिक व्यक्ति का बंगला भाषा में अत्यधिक संवेदनशील उपन्यास है। इसका ईसाई नायक भारतीय मानववाद का प्रतिनिधि है। 'राधा' (१९५८) एक धार्मिक उपन्यास है, जिसकी पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का चित्रण हुआ है। उसमें वैष्णवों की उदारता और हेयता प्रकट होती है। राधा आगे चलकर हेय, अभद्र रूप में परिवर्तित हो जाती है। राजनीतिक तत्त्व कथा में वैविध्य तो अवश्य लाते हैं, किन्तु एकात्मक प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। 'उत्तरायण' (१९५८) कथा-संगठन की दृष्टि से शायद इसीलिए बहुत हलका है—बंगला उपन्यासकारों में सबसे अप्रिय असफल उदाहरणों में से भी है। 'महाश्वेता' (१९५९) में एक सुन्दर कथानक को भौंडेपन की सीमा तक, लम्बे एकाकी व काव्यों के द्वारा पहुँचा दिया गया है, जबकि 'योगभ्रष्टा' में लेखक व्यक्तिगत धार्मिक समस्याओं की ओर मुड़ा है। इस प्रयास में भी वह यथार्थता के पास तक नहीं पहुँच सका है। सम्भवतः इस विधा की कमियाँ एक दिन महत्त्व का प्रश्न बन सकती हैं, जबकि तथाकथित प्रतिभा-प्राप्त बंग-भू वर्ष में केवल एक ही उपन्यास प्रस्तुत कर रही है।

नारायण गांगुली (जन्म १९१८) ने 'विदूषक' की कथा-संघटना में अनावश्यकताओं का समावेश कर दिया। इसमें कथा एक गन्दे-घिनौने लड़के की है जो कि सर्कस में नकलची या विदूषक की नौकरी करता है। उसकी इच्छाएँ और अतृप्तियाँ उसे प्रतिशोध और आत्महत्या की ओर ले जाती हैं। अवश्य ही यह उपन्यास धाराप्रवाही अभिव्यक्ति और असाधारण वर्णनात्मक क्षमता के लिए उल्लेखनीय है। मनोज बसु (जन्म १९०१) ने पाँच वर्षों (१९५७ से १९६१) में छः उपन्यासों को प्रस्तुत किया। 'मानुषगरार कारीगर' (१९५९) में स्कूल मास्टर की कथा के माध्यम से अध्यापकीय समस्याओं को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही एक असामान्य पात्र भी कथा में मूल कथा को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाए अवतरित किया गया है। 'सतक्रिया' (१९५८) में सुबोध घोष (जन्म १९५८) ने स्पष्ट दिखाया है कि उपन्यास-लेखन में कितनी साधना और सतर्कता वांछनीय है और इसमें सिद्धहस्त होने के लिए व्यापक सहजगम्य दृष्टिकोण भी कितना आवश्यक है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में गजेन्द्रकुमार मित्र ने (जन्म १९०८) 'कालीकतार काछइ' के माध्यम से प्रौढ़ कथाकार की प्रसिद्धि हासिल की है। इस पर १९५९ में अकादेमी पुरस्कार भी दिया गया है। इसकी शैली की सहजता एक प्रौढ़ कलाकार की सहजता है। इस उपन्यास के पात्रों की विविधता कथाकार की उर्वरा कल्पना का फल है। इनका 'वन्हीवन्या' ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में एक दिलचस्प प्रयोग है। १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम की अधिकांश नाटकीय घटनाएँ संगठित दृष्टिकोण से व्यवस्थित प्रतीत नहीं होतीं। इसका प्रमुख कारण शायद यही है

कि इस महान् घटना का नियोजन ही असम्बद्ध और अनिश्चित था। ऐतिहासिक कल्पना-शक्ति के विचार से बंगला लेखक प्रमथनाथ विशी का 'केरी साहेबेर मुनशी' (१९५८) एक उल्लेखनीय कृति है। इस पर रवीन्द्रनाथ पारितोषिक भी दिया जा चुका है। इस उपन्यास की अत्यधिक लोकप्रियता के कारण इसका चलचित्र भी तैयार किया गया है। यह उपन्यास विलियम केरी (१७६१-१८३४) के समय के कलकत्ता का चित्र प्रस्तुत करता है। इसका मुनशीराम बसु (१७५७-१८१३), जो कि बंगला में प्रकाशित पुस्तकों में प्रथम बंगला पुस्तक का लेखक है, ऐतिहासिक सामग्री के माध्यम से मानवीय कथा को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार कथा का निर्माण अति ही सहज ढंग से करते हैं। उच्च साहित्यिक स्तर के कार्य के लिए या कला के वांछनीय तत्त्वों का कथा के निर्माण में पालन होना ही चाहिए, ऐसी बात प्रतिभा-सम्पन्न, सबल लेखनी के धनी के लिए आवश्यक नहीं है। इंडियन नेशनल आर्मी के कार्य-व्यापारों से सम्बन्ध रखने वाला सुभाषचन्द्र बोस के ऊपर लिखा गया देवेशचन्द्र दास (जन्म १९११) का 'रक्तराग' उपन्यास यथार्थ चित्रण के अभाव में अपनी अन्विति में पूर्णतः सफल नहीं हो सका है। बिमल मित्र (जन्म १९१२) का 'कुड़ि दिये किनलाम' पात्रों और घटनाओं की बहुलता के बावजूद एक उत्कृष्ट उपलब्धि है।

अभी विगत वर्षों में बहुत-सी लघुकथाओं का प्रणयन हुआ है। उनमें कुछ ही बहुत अच्छी हैं। बंगला लेखकों ने कहानी को अपना अलग ही स्वरूप दिया है। बंगला के कुशल कहानी-लेखकों की लेखन-प्रक्रिया में अल्प शब्दों के वर्णन सुझावों की सम्पन्न शक्ति के साथ हुए हैं। यह आगे चलकर पूर्ण प्रौढ़ परिष्कृत स्वरूप तक पहुँची है जो आज बंगला साहित्य की उत्तम उपलब्धि है। इस विधा में सर्वोत्तम, वनफूल (जन्म १८९९), प्रमथनाथ विशी, परिमल गोस्वामी (जन्म १८९९), गजेन्द्रकुमार मित्र, सुमथनाथ घोष (जन्म १९०३), रामपद चौधरी (जन्म १९२२), सुबोध घोष और प्रतिभा बोस (जन्म १९१५) हैं।

आत्मकथा और यात्रा-साहित्य में भी बंगला लेखकों ने प्रचुर कार्य किया है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि शिवनाथ शास्त्री का 'आत्मचरित्र', नवीन सेन का 'अमर जीवन' और रवीन्द्र का 'जीवन-स्मृति'-जैसी उत्कृष्ट आत्म-कथाओं के उदाहरण रहने पर भी आत्मकथा और जीवनी लिखने की कला यथास्थान रह गई। कुछ सुन्दर अपवादों में परिमल गोस्वामी की रचना है। इनकी सुघड़ शैली और परिष्कृत हास्य अपना प्रभाव छोड़ जाता है। उत्तम यात्रा-साहित्य में उल्लेखनीय आनन्दशंकर राय (जन्म १९०४) की 'जापान यात्रा' है, जिस पर १९६३ का अकादेमी पुरस्कार मिला है। सुबोधकुमार चक्रवर्ती (जन्म १९१९) की 'रामायणी भिक्षा' (१९५७) भी उल्लेखनीय है। इस पर लेखक को १९६३ में रवीन्द्र पुरस्कार दिया गया है।

इतिहास और जीवनी के क्षेत्र में विनय घोष (जन्म १९१७) का कार्य 'विद्यासागर और बंगला समाज' उल्लेखनीय है। तीन खण्डों में प्रकाशित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०-१८९१) की जीवनी परिश्रमसाध्य शोध का परिणाम है। निरंजनराय (जन्म १९०४) के 'बंगलेर इतिहास' के स्तर पर अन्य कोई इतिहास बंगला-लेखक प्रस्तुत नहीं कर सके। इसका महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। कुछ अन्य विद्वान लेखकों ने जो कार्य किये उनमें 'बंगला संस्कृति का इतिहास' श्रेष्ठ ग्रन्थों में गिना जाता है। प्रबोधचन्द्र घोष (जन्म १९१४) का बंगला के सामूहिक मनोरंजक कार्यक्रमों पर प्रस्तुत किया गया कार्य भी इसी कोटि का है।

समसामयिक बंगला आलोचना में पी-एच० डी० के शोधकार्यों के थीसिस बहुत संख्या में सामने आए हैं। इनके शीर्षक देखने में उत्तम प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त जो समीक्षा के क्षेत्र में आए हैं उनका कार्य निस्सन्देह आलोचना के स्तर को स्थिर करता है। शशिभूषण दास गुप्त (जन्म १९११) ने अपनी 'उपनिषदेर पटभूमिका रवीन्द्रनाथ' में गहन विचारों को अभिव्यक्त किया है और 'भारत की शक्ति-साधना और शाक्त साहित्य' (१९६०) नामक ग्रन्थ पर इन्हें १९६२ में साहित्य अकादेमी पुरस्कार दिया गया है। प्रमथनाथ विशी की 'रविन्द्र शारनी' १९६२ में प्रतिभा और अनुभूति का अनुपम संयोग हुआ है। रवीन्द्रनाथ की शताब्दी के अवसर पर प्रस्तुत की गई कनाई

समंता (जन्म १९०४) की 'रवीन्द्र प्रतिभा' व्यापक साहित्यिक दृष्टिकोण को मूल में रखकर समीक्षा का उत्तम उदाहरण है। सुकुमार सेन (जन्म १९००) का 'बंगला साहित्य का इतिहास', जिसे साहित्य अकादेमी ने पाँच खण्डों में प्रकाशित किया, अंग्रेज़ी में भी अनूदित कर छापा गया है। पुलिन सेन का 'रवीन्द्रनाथ के ग्रन्थों का पाठानुलोचन' साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत हो चुका है और कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इसकी सर्वोत्तम उपादेयता को स्वीकार किया है। श्रीकुमार बनर्जी (जन्म १८९४) का 'बंगला उपन्यासों का इतिहास' और 'बंग-साहित्य की औपन्यासिक धारा' (चतुर्थ आवृत्ति १९६२) आज की उच्चस्तरीय उपलब्धि है। आशुतोष भट्टाचार्य (जन्म १९०९) ने बंगला लोक-साहित्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्दिरा मित्रा ने बंगला रंगमंच का उद्भव और विकास बहुत ही दिलचस्पी से लिखा है, जिस पर दिल्ली विश्वविद्यालय का नरसिंहदास पुरस्कार १९६२ में दिया गया।

समस्त सम-सामयिक बंगला साहित्य में जीवन्त विविधता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु बंकिम माईकेल मधुसूदन दत्त और रवीन्द्र के समकक्ष रचनाकार की अभी प्रतीक्षा है।

—डॉ० आर० के० दास गुप्त के लेख पर आधारित

इतर-भाषी हिन्दी लेखक

बालशौरि रेड्डी : जी० सुन्दर रेड्डी

दाक्षिणात्यों की हिन्दी-सेवा
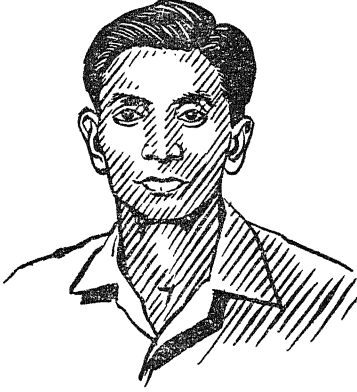
श्री बालशौरि रेड्डी और श्री जी० सुन्दर रेड्डी तेलुगु-भाषी हिन्दी-लेखक हैं। बालशौरिजी की शिक्षा-दीक्षा नेल्लुर, विजयवाड़ा, इलाहाबाद और वाराणसी में हुई। लिखना इन्होंने हिन्दी में ही आरम्भ किया। इनकी दो पुस्तकें 'पंचामृत' और 'आन्ध्र भारती' क्रमशः भारत सरकार और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। हिन्दी में कुछ उपन्यास भी प्रकाशित किये हैं। तेलुगु में भी चार-पाँच पुस्तकें निकल चुकी हैं। कुछ समय हिन्दी प्रशिक्षण विद्यालय, मद्रास में प्राचार्य रह चुकने के बाद आजकल दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के प्रकाशन विभाग में सहायक हैं। श्री जी० सुन्दर रेड्डी आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। 'हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन' इनकी बहुप्रशंसित कृति है। 'साहित्य तथा समाज' और 'मेरे विचार' नामक दो निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं।

दक्षिण के हिन्दी-प्रचारक एवं कार्यकर्ताओं ने हिन्दी की जो सेवा की, उसका परिचय इस लघु निबन्ध में कराना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। ऐसे कर्मठ हिन्दी-कार्यकर्ताओं की सेवा का मूर्त रूप हिन्दी प्रचार सभा और उसकी शाखाएँ हैं तथा आज के हिन्दी-प्रचारक एवं साहित्य-सेवी भी उन्हीं की उपज हैं।[1]

दक्षिण में प्रारम्भ में प्रचारोपयोगी पुस्तकों की रचना हुई। प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से हिन्दी सीखने के लिए आवश्यक स्वबोधिनियाँ, व्याकरण, रचनाएँ, कोश एवं अनुवाद-मालाएँ तैयार की गईं। इस प्रकार की पुस्तकें तैयार करने वालों में श्री मोटूरि सत्यनारायण का नाम प्रथम लिया जाना चाहिए। उन्होंने जो स्वबोधिनी तैयार की, वह अंग्रेज़ी तथा दक्षिण की चारों भाषाओं के माध्यम से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने परोक्ष रूप से अनेकों का हिन्दी में शिक्षित किया। पं० अवधनन्दन की सहायता से यह पुस्तक प्रस्तुत की गई थी। श्री जं० शि० शास्त्री ने तेलुगु-हिन्दी व्याकरण तथा कोश तैयार करके तेलुगु माध्यम से हिन्दी सीखने वालों का मार्ग प्रशस्त किया। श्री एस० महालिंगम् ने 'बच्चों की किताब' की रचना वैज्ञानिक ढंग से की। आज भी वह अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है। रीडर लिखने वालों में सर्वश्री भालचन्द्र आप्टे और श्री श्रीकण्ठमूर्ति के नाम उल्लेखनीय हैं।

आज दक्षिण में हिन्दी में मौलिक रचनाएँ करने वालों की संख्या कम नहीं है। दक्षिण के चारों प्रान्तों में सुयोग्य मौलिक लेखक एवं अनुवादक अपनी प्रतिभा-सम्पन्न लेखनी द्वारा हिन्दी की सेवा में तत्पर हैं। अहिन्दी-भाषा-भाषी होते हुए भी हिन्दी में सृजनात्मक रचनाएँ करने वालों में श्री आरिगपूडि का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। श्री आरिगपूडि को हिन्दी के ही लेखक कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। इन्होंने एक दर्जन के करीब उपन्यास प्रकाशित

१. विस्तृत परिचय के लिए कृपया 'श्री सत्यनारायण अभिनन्दन ग्रन्थ', 'हिन्दी प्रचार का इतिहास' तथा 'आन्ध्र रजत जयन्ती संस्मरण ग्रन्थ' का अवलोकन करें।

किये हैं, जिनमें दो-तीन उपन्यास उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हैं। 'कामभिक्षु', 'भूले-भटके', 'खरे-खोटे', 'आदरणीय', 'पतितपावनी', 'अपनी करनी' आदि उपन्यास, 'नेपथ्य' (एकांकी-संग्रह), 'भगवान भला करें' (कहानी-संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त तेलुगु के उत्तम उपन्यास 'नारायणराव' का आपने साहित्य अकादेमी के लिए हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किया है। उत्तर के लेखकों द्वारा प्रशंसित श्री आरिगपूडि से हिन्दी को बड़ी आशाएँ हैं।

इन पंक्तियों के एक लेखक बालशौरि रेड्डी ने तेलुगु साहित्य-सम्बन्धी जो ग्रन्थ प्रस्तुत किये वे भी काफ़ी लोकप्रिय हुए। प्रथम पुस्तक 'पंचामृत' भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई। दूसरा ग्रन्थ 'आन्ध्र भारती' भी उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ। मौलिक उपन्यासों में 'शबरी', 'जिन्दगी की राह' और 'यह बस्ती : ये लोग' उल्लेखनीय हैं। अनूदित ग्रन्थों में 'अटके आँसू', 'तेलुगु की उत्कृष्ट कहानियाँ', 'नई धरती' प्रकाशित हुए हैं। साहित्य अकादेमी दिल्ली के लिए तेलुगु के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'रुद्रमदेवी' का रूपान्तर किया है। 'सत्य की खोज' (मौलिक एकांकी-संग्रह), 'आन्ध्र के महापुरुष', 'आन्ध्र की लोककथाएँ' आदि अन्य प्रकाशित रचनाएँ हैं।

इन पंक्तियों के संयुक्त लेखक सुन्दर रेड्डी ने समय-समय पर हिन्दी के विभिन्न पत्रों में जो निबन्ध प्रकाशित किये, वे 'साहित्य और समाज' तथा 'मेरे विचार' नाम से दो भागों में प्रकाशित हुए हैं। इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन' है। दक्षिणी भाषाओं में यह प्रथम प्रयत्न कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसमें दोनों साहित्यों की गतिविधियों का तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया गया है। आन्ध्र विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से कार्य करते हुए 'डिप्लोमा इन हिन्दी' नामक एक नये कोर्स का प्रारम्भ भी किया है जो दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होता जा रहा है।

श्री वारणासी राममूर्ति रेणु ने 'आन्ध्र कबीर वेमना' नामक एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। इसमें कबीर और वेमना का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आप एक अच्छे निबन्धकार भी हैं। 'आदान-प्रदान' नाम से आपका एक और ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्री बैरागी एक अच्छे कवि हैं। तेलुगु में तो वे काफ़ी विख्यात हैं ही, साथ ही आपने 'पलायन' नाम से एक काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित किया है। वह हिन्दी में 'बदली की रात' नाम से प्रकाशित हुआ और काफ़ी सराहा गया।

श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् ने इस दिशा में अच्छा कार्य किया है। आपने राजाजी की दो-तीन पुस्तकों का अनुवाद किया, साथ ही 'तमिल साहित्य का इतिहास' भी प्रस्तुत किया। तमिल के यशस्वी कथाकार 'कलकी' के उपन्यास का आपने 'चोर की प्रेमिका' नाम से रूपान्तर भी किया है।

राजाजी की सुपुत्री श्रीमती लक्ष्मी देवदास गांधी ने राजाजी की कृतियों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। श्री रा० वीलीनाथन ने तमिल की अनेक कहानियों के अनुवाद के साथ हाल ही में तमिल से 'हृदयनाथ' नामक एक उपन्यास का अनुवाद किया है। साहित्य अकादेमी, दिल्ली के लिए भी आपने अनुवाद किये हैं। श्रीमती सरस्वती रामनाथन ने तमिल की उत्कृष्ट कहानियों का रूपान्तर किया है। श्री र० शौरिराजन हिन्दी के पत्रों में काफ़ी निबन्ध प्रकाशित कर चुके हैं और असंख्य तमिल कहानियों का सुन्दर अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया है। श्री का० श्री० श्रीनिवासाचार्य ने पर्याप्त मात्रा में तमिल की उत्तम कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया है, साथ ही अनेक निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में लिखे हैं।

श्री एन० वी० राजगोपालन ने हिन्दी की अच्छी सेवा की है। आपने तमिल के सुविख्यात महाकाव्य 'कम्ब रामायण' का हिन्दी अनुवाद किया, जिसका प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। आपने संक्षेप में तमिल साहित्य का इतिहास भी लिखा है। इस समय हिन्दी और तमिल के काव्यशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में संलग्न हैं।

श्री ए० सी० कामाक्षी राव का बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य तेलुगु के लोकप्रिय 'रंगनाथ रामायण' का हिन्दी अनुवाद है। यह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित किया गया है। उपर्युक्त अनुवाद के अतिरिक्त आपने 'तेलुगु-हिन्दी कोश' तथा 'हिन्दी-तेलुगु कोश' का भी

सम्पादन किया। 'हिन्दी-तेलुगु : तुलनात्मक व्याकरण' तथा आपकी असंख्य रीडरें प्रकाशित हो चुकी हैं।

दक्षिण के अनेक उत्साही प्राध्यापकों ने उत्तर में जाकर तथा कुछ लोगों ने दक्षिण में रहकर भी विश्वविद्यालयों के अधीन अनुसन्धान का कार्य किया। परिणामस्वरूप इस दिशा में अच्छा कार्य सम्पन्न हुआ। श्री हिरण्यमय ने 'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन' नामक अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इसके अतिरिक्त आपने 'शान्तला' नाम से कन्नड़ के ऐतिहासिक उपन्यास का हिन्दी में अनुवाद किया। श्री भास्करन नायर ने 'हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्तिकाव्य' नामक शोध-ग्रन्थ लिखा और पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। आपके अन्य ग्रन्थों में 'मलयालम साहित्य का इतिहास' उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ है।

श्री इ० पांडुरंगराव ने 'आन्ध्र हिन्दी रूपक' नाम से अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उपाधि प्राप्त की। आपने समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में कई निबन्ध भी प्रकाशित किये हैं। श्री वेंकटेश्वर रेड्डी ने कबीर और वेमना पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उपाधि प्राप्त की।

श्री ना० नागप्पा ने 'व्यावहारिक हिन्दी' नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त अनेक विचारपूर्ण निबन्ध भी समय-समय पर लिखे। श्री एम० राजेश्वरय्या ने अपने अनेक निबन्धों के साथ आलेखन और टिप्पणी-सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं।

डा० शंकरराजू नायुडु ने 'तुलसी और कम्ब रामायण' पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। आपने तमिल के सुप्रसिद्ध नीति-ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त तमिल की अनेक उत्तम कृतियों के रूपान्तर और आलोचनात्मक अध्ययन में संलग्न हैं।

डॉ० गणेशन ने 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' नाम से आलोचनात्मक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उपाधि प्राप्त की। इस समय श्री एन० चन्द्रकान्त मुदलियार, श्री चावलि सूर्यनारायण मूर्ति, श्री प० जयरामन, श्री आदेश्वर राव अपने शोध-प्रबन्ध पूरे कर चुके हैं। हाल ही में श्री नरसिंहाचारी ने अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उपाधि प्राप्त की है। श्री अयाचितुल हनुमच्छास्त्री भी अनुसन्धान में लगे हुए हैं। आपने 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' बहुत समय पूर्व ही प्रकाशित किया है। केरल से डॉ० विश्वनाथ अय्यर, श्री प्रसाद आदि ने भी डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर ली है।

श्री चन्द्रहासन ने अनेक पाठ्य-पुस्तकों की रचना के साथ व्याकरण भी प्रस्तुत किया है। श्रीमती भारतीदेवी ने 'दो सर' नाम से मलयालम के उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया है। श्री सी० आर० नागप्पा ने श्री वी० के० परमेश्वरन नायर-कृत 'मलयालम साहित्य का इतिहास' का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत लिया है। श्री के० रवि वर्मा ने मलयालम से दो उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद किया है और साथ ही 'मलयालम और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' लिखा है। श्री धर्मराजन ने 'तमिल और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' लिखा है तो श्री श्रीकण्ठमूर्ति ने 'कन्नड़ और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' प्रस्तुत किया है। श्री भालचन्द्र आप्टे ने 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' लिखा है। आपने समय-समय पर तेलुगु साहित्य और संस्कृति पर सुन्दर निबन्ध भी प्रकाशित किये हैं।

श्री मोटूरि सत्यनारायण ने आन्ध्र संस्कृति और साहित्य पर दर्जनों निबन्ध प्रकाशित करने के साथ-ही-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपने सारगर्भित लेख प्रकाशित करके प्रशंसनीय कार्य किया है। श्री एस० महालिंगम् ने पाठ्य-पुस्तकों के साथ भारत सरकार के इस्पात और भारी उद्योग मन्त्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम्-कृत 'मेरे देखे हुए अनेक देशों की झाँकी' नामक तमिल ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर किया है।

श्री चावलि सूर्यनारायणमूर्ति ने 'महानाश की ओर', 'सती उर्मिला' और 'सत्यमेव जयते' पुस्तकें प्रस्तुत कीं तो श्री चौ० रामशेषय्या ने 'रानी मल्लम्मा', 'गृहिणी' और 'मन्त्री रामय्या' हिन्दी को दिये हैं। श्री कर्ण राजशेषगिरि राव ने 'आन्ध्र की लोककथाएँ', श्री के० राधाकृष्णमूर्ति ने 'नागार्जुन सागर', श्री बी० वी० सुब्बाराव ने 'उफ़ान' के अतिरिक्त अनेक काव्य भी हिन्दी-भारती के चरणों में भेंट किये हैं। श्री दण्डमूडि वेंकट कृष्णराव ने 'चित्रांगी', श्री मु० संगमेशम ने 'विश्वामित्र', श्री शिव सुब्रह्मण्यम् वेनी ने

'तिरुकुरल', श्री पी० एन० भट्टत्तिरी ने 'बसव' के साथ अनेक मलयालम कहानियों का रूपान्तर किया है।

श्री एन० चन्द्रशेखरन ने 'कुरुक्षेत्र जागता है' नाम से एकांकी-संग्रह हाल ही में प्रकाशित किया है। श्री नारायण देव ने 'बेलुतं बिदलवा' नाम से एक नाटक का हिन्दी रूपान्तर किया है। पं० अभयदेव ने 'जो जीना भूल गए' नाम से एक उपन्यास का सुन्दर रूपान्तर प्रस्तुत किया है।

श्री सुमन्तीनन्दन ने 'एक पत्र की याद में' नाम से एक कविता-संग्रह प्रस्तुत किया है। श्री भीमसेन 'निर्मल' ने 'नदी सुन्दरी' नाम से एक तेलुगु नाटचरूपक का अनुवाद किया और 'दीक्षितुलु' नामक तेलुगु उपन्यास का रूपान्तर भी।

आज दक्षिण के चारों प्रान्तों में इतनी संख्या में उत्साही लेखक अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने और दक्षिण की विशेषताओं और अभिव्यक्तियों द्वारा परि-पुष्ट बनाने में संलग्न हैं कि उनकी नामावली प्रस्तुत करना भी सम्भव नहीं है। उनमें कुछ प्रमुख लेखकों के नाममात्र यहाँ उद्धृत कर रहे हैं: सर्वश्री एन० वेंकटेश्वरन, श्री पी० नारायण, श्री रा० शौरिराजन, श्री मु० नरसिंहाचार्मुल, श्री बी० एम० कृष्णस्वामी, श्री चलसानि सुब्बाराव, श्री सूर्यनारायण भानु, श्री बी० दयावन्ती, सुश्री सीतादेवी, श्रीयलमंचिलि वेंकटेश्वरराव, श्री मोटूरि वेंकटेश्वरराव, श्री अट्लूरि रामराव, श्री आकेल्ल सीतारामम्, श्री वेभूरि आंजनेय शर्मा, श्री रें० राघवराव, श्री दुर्गानन्द, श्री दशिक सूर्यप्रकाशराव, श्री डी० राजाराव, अं० हनुमय्या, श्री वर्दिपत्ति चलपतिराव, श्री चलपतेश्वरराव, श्री वे० राम-कोटय्या चौधरी, डी० मंजुलता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के इतर-भाषी लेखक

हिन्दी अब किसी क्षेत्र-विशेष अथवा समुदाय-विशेष की भाषा नहीं रही। राष्ट्र भाषा और राजभाषा के पद पर अधिष्ठित होते ही वह कश्मीर से कन्याकुमारी और कच्छ से कामरूप तक भारत के विविध भाषा-भाषियों की अपनी भाषा बन गई। आज सभी का उस पर समान अधिकार है। कश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, कन्नड, तेलुगु, मलयालम, तमिल, उड़िया, बंगला, असामी, सभी भाषाओं के लेखक अपनी भाव-सम्पदा और भाषागत विशेषताओं से उसे शृंगारित करने में प्रयत्नशील हैं। यहाँ कतिपय इतरभाषी हिन्दी-लेखकों के संक्षिप्त परिचय संकलित किये गए हैं। लक्ष्य तो यह था कि भारत-भर के सभी इतरभाषी लेखकों के परिचय इस रजत-जयन्ती-ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिये जाएँ, जिससे यह प्रयत्न एक सन्दर्भ का काम दे सके। परन्तु कुछ तो रजत-जयन्ती-ग्रन्थ के सम्पादकों की सीमाओं एवं विवशताओं के कारण और कुछ बार-बार के प्रयत्नों के बावजूद अनेक लेखकों से परिचय प्राप्त न हो सकने के कारण यह संकल्प पूर्ण न हो सका। आधा-अधूरा जिस रूप में बन पड़ा, यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। स्थल-संकोच और विस्तार-भय के कारण इस सूची में उन लेखकबन्धुओं का समावेश करना अभीष्ट नहीं हुआ जिनकी कृतियाँ इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उनके परिचय-सहित प्रकाशित हुई हैं। इस सूची में केवल जीवित लेखकों को ही लिया गया है। स्वर्गवासी साहित्यकारों को इसमें स्थान नहीं दिया गया। केवल डॉ० रांगेय राघव को एक अपवाद मानकर लिया गया है। इस सूची को तैयार करने में श्री राजेन्द्र कुशवाहा ने जो परिश्रम किया उसके लिए सम्पादक-मण्डल उनका अत्यन्त आभारी है।

अक्रूर अनन्तचारी

अनन्तचारीजी का जन्म १३-६-१९०३ को मद्रास में हुआ। आपकी मातृभाषा तमिल है। अब तक आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रेमचन्द की कहानियों का आपने हिन्दी से तमिल में अनुवाद किया है जो १९३९ में प्रकाशित हुआ। आपका पता है—१५ गोविन्द स्ट्रीट, मद्रास-१७।

अनवर आगेवन

श्री अनवर आगेवन का जन्म २-२-१९३२ को अकोला में हुआ। आपकी मातृभाषा गुजराती है। व्यवसाय से आप पत्रकार हैं। हिन्दी में आपका एक कहानी-संग्रह 'मैत्रेयी' नाम से प्रकाशित हुआ है। आपका पता है—प्रेमयान, शिवराज गढ़, वाया गौण्डल, सौराष्ट्र।

अभयदेव

श्री अभयदेव का जन्म १२-७-१९१४ को केरल राज्य के कोट्टयम ज़िले के अन्तर्गत पालम नामक स्थान में हुआ। आपकी मातृभाषा मलयालम है। आपने हिन्दी से 'एकतारा' नामक उपन्यास का मलयालम में अनुवाद किया। आपका पता है—पालम, ज़िला कोट्टयाम, केरल राज्य।

ईश्वरचन्द्र देसाई

बत्तीस-वर्षीय ईश्वरचन्द्र देसाई की मातृभाषा गुजराती है। आपने हिन्दी में एम० ए० किया है और आजकल वी० एस० पटेल कॉलेज साकेत, महादेव नगर बीलीमोरा,

में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। 'नूतन हिन्दी गुजराती शब्दकोश' और 'हिन्दी स्वयंशिक्षक' पुस्तकों के अतिरिक्त आप समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते रहे हैं। स्वयं आपके ही शब्दों में—"अभी तो हिन्दी की सेवा का आरम्भ ही है, भाग्य साथ रहा तो अन्तिम साँस तक कुछ गिनवा सकेंगे।"

ई० के० दिवाकरन पोत्ती

श्री दिवाकरन पोत्ती का जन्म केरल राज्य के पुत्तेनचिरा नामक स्थान पर २८-४-१९१८ को हुआ। आपकी मातृभाषा मलयालम है। आपकी लगभग एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपने हिन्दी से प्रेमचन्द के 'गोदान' और राहुल सांकृत्यायन के 'वोल्गा से गंगा' का मलयालम में अनुवाद किया है। आपका पता है—पुत्तेनचिरा, ज़िला त्रिचूर, केरल राज्य।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अश्क'जी का जन्म जलन्धर में सन् १९०९ में हुआ था। आपकी मातृभाषा पंजाबी है। आप हिन्दी के कतिपय मूर्धन्य लेखकों में से हैं और सहसा यह विश्वास नहीं होता कि आप अ-हिन्दी भाषा-भाषी हैं। 'अश्क'जी की हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में लगभग ३० से ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उर्दू में लिखना प्रारम्भ करके आज 'अश्क'जी हिन्दी के गौरव हैं। हिन्दी में—'गिरती दीवारें' (उपन्यास), 'दीप जलेगा' (कविता-संग्रह), 'गर्म राख' (उपन्यास), 'बड़ी-बड़ी आँखें' (उपन्यास) आपकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। आपका पता है—५, खुसरो बाग, इलाहाबाद।

ए० चन्द्रहासन

श्री चन्द्रहासनजी (एम० ए०) का जन्म एरनाकूलम् में सन् १९०८ में हुआ था। आपकी मातृभाषा मलयालम है। आप एरनाकूलम् के महाराजा कॉलेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं और केन्द्रीय शिक्षा समिति के सदस्य भी। हिन्दी के प्रचार और प्रसार में आपके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। हिन्दी में आपके द्वारा संकलित 'पदावली' (काव्य-संग्रह) उल्लेखनीय कृति है। आपका पता है—रविपुरम् रोड, एरनाकूलम्, केरल राज्य।

एस० मरसोजी

तेतीस-वर्षीय मरसोजी की मातृभाषा तेलुगु है। आप १९५९ से गोलकुण्डा में हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद के केन्द्र-व्यवस्थापक एवं वर्ग-संचालक हैं। आप हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर लेख लिखते रहते हैं।

एस० वेंकटेश्वर राव

तेतीस-वर्षीय वेंकटेश्वर राव की मातृभाषा तेलुगु है। आप एक कार्यकर्ता के रूप में सन् १९४९ से हैदराबाद में हिन्दी प्रचार और प्रसार का कार्य करते आ रहे हैं। आपने हिन्दी प्रचार सभा की अनेक पाठ्य-पुस्तकें तैयार की हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं—'शिंजनी', 'पंथ मंजरी', 'हिन्दी दीपिका' और 'पत्र पुष्प'।

ए० सी० कामाक्षिराव

श्री कामाक्षिराव का जन्म १९-५-१९१८ को आन्ध्र प्रदेश के कुड्डप्पा नामक स्थान पर हुआ। आपकी मातृभाषा तेलुगु है और आपने एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। आजकल आप मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज, तम्बारम् (मद्रास राज्य) में प्राध्यापक हैं। आप तीन वर्ष तक रेडियो के द्वारा तेलुगु के माध्यम से हिन्दी सिखाते रहे हैं। आपने मद्रास एवं आन्ध्र सरकारों से मान्यता प्राप्त हाई स्कूल के पाठ्यक्रम के लिए हिन्दी की अनेक पुस्तकें भी तैयार की हैं। आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—१. 'हिन्दी-तेलुगु कोष', २. 'तेलुगु-हिन्दी कोष' ३. 'रंगनाथ रामायण' (तेलुगु से हिन्दी में) ४. 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हिन्दी से तेलुगु में) ५. 'हिन्दी-तेलुगु तुलनात्मक व्याकरण' आदि।

श्रीमती कमलाबाई बेडेकर

श्रीमती कमलाबाई बेडेकर का जन्म पूना में सन् १९०४ में हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी है। आपने राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास 'सिंह सेनापति' का मराठी में अनुवाद किया है। आपका पता है—द्वारा के० एम० बेडेकर, इन्दीवर जंगली महाराज रोड, पूना-४।

श्रीमती कमलाबाई माधोराय किबे

श्रीमती कमलाबाई माधोराय किबे की जन्म-तिथि है ८-१-१८८७ और जन्म-स्थान है कोल्हापुर। आप मराठी भाषा-भाषी हैं। हिन्दी में आपकी प्रमुख कृति है—'राजकुमारी और सीता चरित्र'। आपका पता है—संयोगिता गंज, जी० पी० ओ० इन्दौर, मध्य प्रदेश।

काशीनाथ रघुनाथ वैशम्पायन—गुरुजी

काव्यतीर्थ, वैशम्पायन गुरुजी का जन्म सन् १८७८ में महाराष्ट्र के चालीसगाँव शहर के पास बगलीसाय गाँव में हुआ। असहयोग-आन्दोलन में आप कई बार जेल की यात्रा कर आये हैं। आपकी कुछ रचनाएँ इस प्रकार हैं—१. 'अमावस की रात' (मराठी से हिन्दी), २. 'योगनिष्ठा और ईश्वर साक्षात्कार' (मराठी से हिन्दी), ३. 'कुछ अशर्फियाँ कुछ गौहर' (मराठी से हिन्दी)।

के० नारायणन्

तमिल भाषा-भाषी के० नारायणन् की जन्म-तिथि है—५-३-१९२७। आपकी संगीत में विशेष रुचि और पैठ है। आपने 'कर्नाटक' संगीत पर हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से एक पुस्तक लिखी है। वही पुस्तक हिन्दी पाठकों के सामने 'संगीत' मासिक पत्रिका के 'कर्नाटक संगीत अंक' के रूप में आई। आपका पता है—टी० सी० १२।१७८७, गान्धारी अम्मन कोविल रोड पुत्तन चन्तै, त्रिवेन्द्रम्।

गुरुनाथ महादेव जोशी

श्री गुरुनाथ महादेव जोशी का जन्म १५-३-१९०८ को धारवार के बागाडागेरी नामक स्थान पर हुआ। आपकी मातृभाषा कन्नड है। अभी तक आपकी लगभग २५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हिन्दी-कन्नड शब्दकोश', 'कन्नड-हिन्दी शब्दकोश', ये दो आपके महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-ग्रन्थ हैं।

आपने गल्प संसार माला के कन्नड खण्ड का सम्पादन और उसके लिए कन्नड से हिन्दी में कहानियों का अनुवाद भी किया है। आपका पता है: दीक्षितवाडा, लाइन बाज़ार, धारवार, मैसूर राज्य।

गोपालचन्द्र चक्रवर्ती

श्री गोपालचन्द्र चक्रवर्ती का जन्म वर्तमान पाकिस्तान के पूर्वी बंगाल के फरीदपुर मण्डलान्तर्गत कोटालीवाड़ा नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता वहाँ के ताल्लुकेदार थे। आजकल आप ४३/१७ सदानन्द बाज़ार, वाराणसी में रहते हैं। अभी तक आपकी १०३ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कुछ बंगला और अंग्रेज़ी की पुस्तकों को छोड़कर शेष पुस्तकें हिन्दी में ही लिखी हैं। हिन्दी की पुस्तकों की संख्या लगभग ९० है। इनमें 'हिन्दी-बंगला शब्दकोश', 'बंगला-हिन्दी शब्दकोश', 'तुलनात्मक मेटिरिया मेडिका', 'खूनी दाग' और 'गुब्बारे की सैर' बहुत ख्याति पा चुकी हैं।

चम्पकलाल हीरालाल गांधी

श्री चम्पकलाल हीरालाल गांधी का जन्म २७-६-१९३२ को सूरत ज़िले में हुआ था। आपकी मातृभाषा गुजराती है। आपने यशपाल के एक उपन्यास और राहुलजी के 'भागो नयी दुनिया को बदलो' के गुजराती में अनुवाद किये हैं। पता है—राम बाग, श्रद्धानन्द रोड, विले पार्ले, बम्बई-२४।

जितेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

श्री जितेन्द्रनाथ का जन्म सन् १९०७ में बंगाल के मिदनापुर ज़िले में हुआ था। आपकी मातृभाषा बंगला है। बाल्यकाल से ही अभिनय में आपकी विशेष रुचि थी। कटक के रंगमंच पर आपने अनेक नाटकों में भाग लिया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की तरफ शुरू से ही आपका झुकाव रहा। सन् १९५० से देवनागरी में लिखना प्रारम्भ किया। स्वर्गीय शिशिर कुमार भादुड़ी के रंगमंच पर आपके द्वारा लिखा गया नाटक 'परिचय' कई सप्ताह चलता रहा। आपके द्वारा लिखे गए लोकप्रिय और उल्लेखनीय नाटकों में 'परीक्षा', 'मज़ाक', 'प्रेम का फ़ैशन', 'शिल्पी और आदर्श', 'जीवन की माँग', 'ममता का बन्धन' आदि हैं। ये नाटक समय-समय पर आकाशवाणी से प्रसारित भी होते रहे हैं।

ज़िन्दा कौल

श्री ज़िन्दा कौल का जन्म सन् १८८४ में श्रीनगर में हुआ था। आपकी मातृभाषा कशमीरी है। हिन्दी में आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं :

'पत्र पुष्प' (कविता संग्रह) और 'परमानन्द'(जीवनी)। 'पत्र पुष्प' पर आपको अकादमी का पुरस्कार भी मिल चुका है। आपका पता है : शैली तेंग, हब्बा का दल, श्रीनगर, काशमीर।

तं० सुन्दरम्मा 'शर्वरी'

कु० 'शर्वरी' का जन्म मद्रास में सन् १६३६ में हुआ। आपकी मातृभाषा तेलुगु है। आपके हिन्दी-गीतों का प्रसारण आकाशवाणी हैदराबाद से होता रहता है। समय-समय पर हिन्दी के निबन्ध भी प्रकाशित होते हैं। आपका पता है : तं० सुन्दरम्मा, द्वारा तं० अप्पन्ना, एम० ए० ५-१-२२५, जाम बाग, हैदराबाद।

तरिनी चरनदास

श्री तरिनी चरनदास (एम० ए०) प्रायः 'चिदानन्द' के नाम से हिन्दी में लिखते हैं। आपका जन्म उड़ीसा के गंजम् ज़िले के पण्डिआ पठार नामक स्थान पर हुआ था। आपकी मातृभाषा उड़िया है। हिन्दी में आपकी 'माँ की बातें' उल्लेखनीय कृति है। आजकल आप उड़ीसा राज्य के कटक के हिन्दी ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट के प्राचार्य हैं।

तारकनाथ बाली

श्री तारकनाथ बाली (एम० ए०, पी-एच० डी०) का जन्म सन् १९३३ में रावलपिंडी में हुआ था। आपकी मातृभाषा पंजाबी हैं। बी० एस-सी० तक विज्ञान पढ़ने के बाद आपने एम० ए० हिन्दी में करने का विचार किया। इससे पूर्व आपने कभी हिन्दी नहीं पढ़ी थी। एम० ए० में आगरा विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया, इस पर आपको स्वर्ण पदक भी मिला। इसके बाद आपने एम० ए० दर्शन में किया। इसमें भी आपको प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान मिला। एम० ए० संस्कृत के प्रथम खंड में भी प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम थे। हिन्दी में 'रस के दार्शनिक विश्लेषण' पर आपको पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। आपकी लगभग १५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें 'सुमित्रानंदन पंत', 'महादेवी' और 'कुरुक्षेत्र' आदि प्रमुख हैं। आपकी कविताएँ और कहानियाँ भी यत्र-तत्र प्रकाशित होती रहती हैं। आपका पता है : २।२५ बी० रोहतक रोड, दिल्ली।

दत्तात्रेय गोविन्द काले

श्री दत्तात्रेय गोविन्द काले का जन्म ६-१२-१८६४ को औरंगाबाद में हुआ। आपकी मातृभाषा मराठी है। 'रेशों की रंगाई' हिन्दी में वस्त्र-उद्योग सम्बन्धी एक तकनीकी पुस्तक आपकी महत्त्वपूर्ण कृति है। आपका पता है : मेसर्स ब्लैक एण्ड वाईट, ८८।६. फैक्ट्री एरिया, कानपुर।

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर 'काका कालेलकर' के नाम से ही अधिक लोकप्रिय हैं। आपका जन्म १-१२-१८८५ में सूरत में हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी(कोंकणी), आपका साहित्यिक माध्यम गुजराती और कार्य-क्षेत्र हिन्दी है। आपकी लगभग ३० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी के क्षेत्र में आपका महत्त्वपूर्ण कार्य है 'देवनागरी लिपि सुधार'। 'अ' की स्वराखड़ी का आग्रह इस लिपि-सुधार का अधिष्ठान है। दिल्ली में हुए राष्ट्र-भाषा प्रचार सम्मेलन के नवें अधिवेशन में हिन्दी की सेवाओं के उपलक्ष्य में आपको १५०१) रुपये का महात्मा गांधी पुरस्कार प्राप्त हुआ था। आपका पता है : सन्निधि, राजघाट, दिल्ली।

आचार्य श्री दत्तात्रेयजी वाव्ले

दत्तात्रेयजी का जन्म १६०६ में महाराष्ट्र के अहमदनगर ज़िले के अन्तर्गत गंगापुर नामक स्थान पर हुआ। आपकी मातृभाषा मराठी है। आपने राजनीतिशास्त्र में एम० ए० और कानून में एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं। आप कई वर्ष तक साप्ताहिक 'अजय' और मासिक 'विजय' के सम्पादक रहे हैं। कुछ छोटी-मोटी पुस्तकों के अतिरिक्त आपकी 'राष्ट्रीय चरित्र और एकता'

नामक पुस्तकें बड़ी उपयोगी और लोकप्रिय हैं। आजकल आप अजमेर के दयानन्द कॉलेज में राजनीति के अध्यक्ष हैं।

दशरथराज ग्रासनानी

सिन्धी भाषा-भाषी श्री दशरथराज का जन्म सिन्ध पाकिस्तान के नवाबशाह जिला और मोरा तालुका के शाहपुर जहानिया नामक गाँव मे हुआ था। आपने हिन्दी में सन् १९५५ से लिखना आरम्भ किया है। प्रारम्भ में आपने आलोचनात्मक निबन्ध ही लिखे, जो हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। अब तक आपके दो मौलिक उपन्यास छप चुके हैं—१. 'पंखों की छाँव' और २. 'अन्तिम पत्र'। आजकल आप धुलिया (महाराष्ट्र) के आर्ट्स, साइन्स व कॉमर्स कॉलेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

दिनकर यादव मारदीकर

श्री दिनकर यादव मारदीकर का साहित्यिक नाम है भास कवि। आपका जन्म सन् १९०० में मध्य प्रदेश के रायगढ़ नामक स्थान पर हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी है। हिन्दी में आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'गीत यान' (कविता-संग्रह), 'गीतमधु', (कविता-संग्रह) 'गीत चन्द्रिका' (कविता-संग्रह) और 'सुदर्शन' (नाटक)। आपका पता है—गनेश पेठ, नागपुर।

दुर्गानन्द

'तेलुगु' मातृभाषी दुर्गानन्द हिन्दी के मौन साधकों में से हैं। आप सन् १९५२ से बराबर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में लिख रहे हैं। हिन्दी में अब तक आपकी अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं : १. 'फिरदौसी' (तेलुगु से हिन्दी में अनुवाद), 'मधूलिका' (काव्य-संग्रह) आदि।

देवदत्त 'ग्रटल'

श्री देवदत्तजी 'अटल' का जन्म मुजफ्फरगढ़ में २-१-१९१३ को हुआ था। आपकी मातृभाषा पंजाबी है। हिन्दी में 'ज्वाला' (कहानी-संग्रह), 'स्वर्ग में गांधी' (एकांकी संग्रह), 'शेखर' (नाटक), 'शान्तिदूत' (नाटक), 'सूतपुत्र' (नाटक) आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। आपका पता है: कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़िस, ४ बीडनपुरा, करौल बाग, नई दिल्ली।

दोनेपूडि राजाराव

दोनेपूडि राजाराव का जन्म सन् १९२५ में आन्ध्र के कृष्णा ज़िले के अन्तर्गत कोप्पगूरवाड नामक स्थान पर हुआ था। आपकी मातृभाषा तेलुगु है। आपने काशी विश्वविद्यालय से हिन्दी की एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की है। १९४५ से आप हिन्दी का अध्ययन-कार्य कर रहे हैं। १९५० से १९५२ तक आप 'शिक्षक' हिन्दी मासिक पत्रिका के सम्पादक भी रहे हैं। हिन्दी की लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहे हैं। आजकल आप तेनाली (आन्ध्र प्रदेश) के वी० एस० आर० कॉलेज के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

नरायन तम्माजी कटगाडे

श्री नरायन तम्माजी कटगाडे की मातृभाषा मराठी है। आपका जन्म ११-२-१८९५ को सतारा ज़िले के नीराज नामक स्थान पर हुआ था। हिन्दी में आपकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं, 'मराठी हिन्दी शिक्षक' तथा 'हिन्दी मराठी कोश'। आपका पता है—रामदेओराव गली, बेलगाँव, बम्बई राज्य।

नारायण वासुदेव गोडबोले

श्री नारायण वासुदेव गोडबोले का जन्म १९१२ में मध्य प्रदेश के महुआ ग्राम में हुआ। आपकी मातृभाषा मराठी है। आपने हिन्दी में 'मराठी साहित्य का इतिहास' लिखा है। आपका पता है—लोहिया बाज़ार, ग्वालियर, मध्य प्रदेश।

नानूभाई काहनजी भाई बारोट

श्री नानूभाई काहनजी भाई बारोट (बी० ए०, एल-एल० बी) का जन्म १०-६-१९११ को गुजरात के नाडियाद नामक स्थान पर हुआ। आपकी मातृभाषा

गुजराती है। 'आधुनिक हिन्दी कविता' आपकी उल्लेखनीय पुस्तक है। आपका पता है—नव बारोटवाड, नाडियाद, जिला खेड़ा, गुजरात।

ना० मा० तलारवार 'शुभांशु'

मराठी भाषाभाषी श्री 'शुभांशु' जी बाल-साहित्य के सिद्धहस्त लेखक हैं। सन् १९५२ से चाँदा शहर से प्रकाशित हो रहे मराठी 'बाल सेवा' मासिक पत्र में एक स्वतन्त्र हिन्दी विभाग रखकर हिन्दी का हृदय से प्रचार-कार्य कर रहे हैं।

नित्यानन्द पटेल

नित्यानन्द पटेल का जन्म सन् १९१३ में सूरत ज़िले के सानम नामक गाँव में हुआ। आपने दिल्ली विश्वविद्यालय से एम० ए० संस्कृत और पंजाब विश्वविद्यालय से हिन्दी एम० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। हिन्दी में आपके फुटकर लेखों के अतिरिक्त 'सन्ध्या-सुमन', 'पूजा के पुष्प', 'मनोविज्ञान की रूपरेखा', 'गीता मर्म', 'प्रार्थना प्रदीप' आदि उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। आजकल आप नवसारी के एस० बी० गार्डा कॉलेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

प्रोजेश बनर्जी

श्री प्रोजेश बनर्जी का जन्म इलाहाबाद में २९-७-१९१३ को हुआ था। आपने बी० ए० एल-एल० बी० तक शिक्षा प्राप्त की है। व्यवसाय से आप पत्रकार हैं। आपकी रचनाएँ हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों में हैं। हिन्दी में आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'शिक्षाप्रद लोक-नृत्य' दो भाग, 'संगीत वीथिका', दो भाग आदि।

बलवन्तसिंह

बलवन्तसिंह का जन्म पाकिस्तान के गुजरांवाला स्थान पर सन् १९२६ में हुआ था। आपकी मातृभाषा पंजाबी है। आप आजकल हिन्दी के प्रमुख कथाकारों में गिने जाते हैं। 'रात चोर और चाँद' (उपन्यास), 'उजाला' (उपन्यास), 'मैं जरूर रोऊँगी' आदि आपकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। आपका पता है : इम्पीरियल होटल, चौक, इलाहाबाद।

बालशौरि रेड्डी

बालशौरि रेड्डीजी का जन्म आन्ध्र प्रदेश के कडुप्पा ज़िले के गोल्लल गुडूर नामक स्थान पर हुआ था। आपकी मातृभाषा 'तेलुगु' है। आपने लिखना हिन्दी से ही आरम्भ किया। हिन्दी में आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'पंचामृत' (तेलुगु साहित्य पर आलोचनात्मक ग्रन्थ), 'आन्ध्र भारती' (तेलुगु साहित्य पर आलोचनात्मक ग्रन्थ), 'शबरी' (उपन्यास), 'ज़िन्दगी की राह' (उपन्यास), 'यह बस्ती : ये लोग' (उपन्यास) आदि। आजकल आप वडिवेलुपुरम्, मद्रास में रहते हैं और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रकाशन विभाग में काम करते हैं।

बिनयेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय

श्री बिनयेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय (एम०.ए०) का जन्म कलकत्ता में २९-५-१९०९ को हुआ। आपकी मातृभाषा बंगला है। आप संयुक्त राष्ट्र संघ के सलाहकार भी रह चुके हैं। यों आपकी अधिकांश रचनाएँ बंगला और अंग्रेजी में हैं। किन्तु हिन्दी के प्रति आपकी रुचि कम नहीं है। १९५० में 'राजनीति विज्ञान' नाम से आपकी एक पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित हुई है। आपका पता है—७१८।४१३, डोवर लेन, कलकत्ता-२९।

बी० वी० सुब्बाराव

श्री बी० वी० सुब्बाराव का जन्म आन्ध्र प्रदेश के गुंटूर ज़िले में सन् १९२४ ई० में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गुंटूर में समाप्त करने के बाद श्री सुब्बाराव ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से साहित्यरत्न और नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी विषय लेकर एम० ए० की उपाधि प्राप्त की।

आप इस समय हिन्दू कॉलेज, गुंटूर में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं।

श्री सुब्बाराब एक अच्छे कवि होने के साथ-साथ एक अच्छे कहानी-लेखक और उपन्यासकार भी हैं। आपने अब तक ९ पुस्तकें—'प्रणय' (काव्य), 'मृणालिनी' (काव्य), 'भारत-श्री' (फुटकल कविताओं का संग्रह), 'रेशमी कुर्ता' (काव्य), 'उफान' (उपन्यास), 'कथा-गुच्छ', 'सिद्धहस्त',

'भारत के पुजारी', 'कथा-भारती' (कहानी) प्रकाशित की हैं।

श्री सुब्बाराव की हिन्दी के प्रचार-कार्य में विशेष रुचि है। हिन्दी का प्रचार-कार्य करने वाली संस्थाओं में विभिन्न पदों पर रहकर आपने हिन्दी के प्रचार-कार्य में सक्रिय सहयोग दिया है।

भण्डारम भीमसेन जोस्युलु (भीमसेन 'निर्मल')

भण्डारम भीमसेन जोस्युलु का साहित्यिक नाम है भीमसेन 'निर्मल'। आपका जन्म ३०-११-१९३० को तेलंगाना में हुआ था। आपने हिन्दी और तेलुगु की एम० ए० परीक्षाएँ उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद से उत्तीर्ण कीं और साहित्य सम्मेलन प्रयाग से साहित्यरत्न भी हैं। आपकी मातृभाषा तेलुगु है। आपने तेलुगु से लगभग एक सौ से अधिक रचनाओं का हिन्दी अनुवाद किया है। 'निखरे हीरे' में तेलुगु लोकगीतों का हिन्दी अनुवाद है। 'तिरुपति वेंकट कवुलु' और 'काट्टूरि-पिंगलि कवलु' इन दो पुस्तकों का भी आपने हिन्दी में सम्पादन किया है। इनमें तेलुगु के दो कवि-युग्मों का परिचय और रचनाएँ हैं। 'नदी सुन्दरी', तेलुगु एकांकियों का हिन्दी अनुवाद है। इनके अतिरिक्त आपकी दो पुस्तकें 'समाज शिक्षा' और 'समाज-शिक्षा और विद्यार्थी' आन्ध्र प्रदेश सरकार की ओर से प्रकाशित हुई हैं।

मन्मथनाथ गुप्त

श्री मन्मथनाथ गुप्त का जन्म २७-२-१९०८ को वाराणसी में हुआ था। आपकी मातृभाषा बंगला है। आप हिन्दी के मूर्द्धन्य लेखकों में से हैं। अभी तक आपकी लगभग १०० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं—'क्रान्तियुग के संस्मरण', 'भारत में सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का इतिहास', 'सेक्स का स्वभाव', 'कथाकार प्रेमचन्द', 'प्रगतिवाद की रूपरेखा', 'साहित्य कला समीक्षा', 'रैन बसेरा' आदि। आपका पता है: पब्लिकेशन डिवीज़न, सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८।

भालचन्द्र विष्णु आप्टे

श्री भालचन्द्र विष्णु आप्टे का जन्म २८-८-१९०७ को रत्नगिरि में हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी है। हिन्दी में आपके द्वारा लिखी गई जीवनी 'लोकमान्य' विशेष उल्लेखनीय है। अंग्रेज़ी में आपने 'हिन्दी ग्रामर' लिखी है। आजकल आप दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की दिल्ली शाखा के अध्यक्ष हैं।

यशपाल

हिन्दी के मूर्द्धन्य लेखक श्री यशपाल की मातृभाषा डोगरी है। हिन्दी के साथ यशपाल का नाम ऐसा जुड़ गया है कि उन्हें हिन्दीतर भाषा-भाषी नहीं माना जा सकता। आपकी जन्म-तिथि है ३-१२-१९०३। अब तक आपकी लगभग ४० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें प्रमुख हैं 'पिंजड़े की उड़ान' (कहानी-संग्रह), 'न्याय का संघर्ष' (व्यंग्य), 'गांधीवाद की शव परीक्षा' (राजनीति), 'दिव्या' (उपन्यास), 'सिंहावलोकन' तीन भाग (संस्मरण), 'नशे-नशे की बात' (नाटक), 'फूलो का कुर्ता' (कहानी-संग्रह), 'झूठा सच' (उपन्यास) आदि। आपका पता है—विप्लव कार्यालय, २१ शिवाजी मार्ग, लखनऊ।

रघुनाथ विनायक धुलेकर

श्री रघुनाथ विनायक धुलेकरजी (एम० ए०, एल-एल० बी०) का जन्म उत्तर प्रदेश के झाँसी नगर में ६-१-१८९१ को हुआ। आपकी मातृभाषा मराठी है। आप झाँसी आयुर्वेदिक विश्वविद्यालय के संस्थापक हैं और उत्तर प्रदेश की विधान परिषद के अध्यक्ष। हिन्दी में 'मातृभूमि अब्द कोश' आपका महत्त्वपूर्ण प्रयास था। आपका पता है: ४०, टोरिया नरसिंहराव, झाँसी।

रमनीकान्त गुलाबचन्द मर्चेंट

श्री रमनीकान्त गुलाबचन्द मर्चेंट का साहित्यिक नाम 'कुसुमकान्त' है। आपका जन्म गुजरात राज्य के नासिक ज़िले के अन्तर्गत मालेगाँव में २२-२-१९१४ को हुआ था। आपकी मातृभाषा गुजराती है। हिन्दी में आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं—'हिन्दी व्याकरण रचना', 'हिन्दी व्याकरण गुटिका', 'दश वैकालिक सूत्र' आदि! आपका पता है: मनीलाल गुलाबचन्द मर्चेंट, बुधवार पेठ, मालेगाँव, नासिक।

रमेश चौधरी

श्री रमेश चौधरी 'आरिगपूडि' के नाम से ही प्रख्यात हैं। आपका जन्म २८-११-१९३२ को कृष्णा ज़िले के वुट्युर नामक स्थान पर हुआ था। आपकी मातृभाषा तेलुगु है। आप हिन्दी की प्रसिद्ध बाल पत्रिका 'चन्दा मामा' के सम्पादक हैं। श्री 'आरिगपूडि' आज हिन्दी के प्रथम पंक्ति के लेखकों में से हैं। आपकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं, 'भगवान भला करे' (कहानी संग्रह), 'नेपथ्य (एकांकी संग्रह), 'भूले-भटके', 'दूर के ढोल', 'धन्य भिक्षु', 'पतित पावनी', 'अपवाद', 'अपनी करनी' आदि उपन्यास। आपका पता है : १३८, शेणोय नगर, मद्रास-३०।

रमेश बेदी

श्री रमेश बेदी का जन्म अविभक्त पंजाब के काला-बाग नामक स्थान पर सन् १९१५ में हुआ था। आपकी मातृभाषा पंजाबी है। हिन्दी में आपकी 'सपनों की दुनिया', 'त्रिफला', 'लहसुन' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। आपका पता है : गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।

श्रीमती रत्नमईदेवी दीक्षित

श्रीमती रत्नमई दीक्षित (एम० ए०, राष्ट्रभाषा कोविद) का जन्म २५-११-१९०९ को केरल राज्य के पचकुर नामक स्थान पर हुआ था। आपकी मातृभाषा मलयालम है। हिन्दी में आपकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं : 'कल्यानमल' (उपन्यास), 'कैरली साहित्य दर्शन'। आपने के० एम० पन्निकर के उपन्यास 'केरलसिंह' का भी अनुवाद किया है। आपका पता है : १०, जोन् स्क्वायर, गोल मार्केट, नई दिल्ली।

श्रीमती रख्मादेवी तल्लूर

श्रीमती रख्मादेवी तल्लूर का जन्म २४ जनवरी १९०८ को कर्नाटक में हुआ था। आप सन् १९३२ से हिन्दी प्रचार-कार्य में लगी हैं। तभी से आप हिन्दी में कुछ-न-कुछ लिखती रहती हैं। हिन्दी में आपकी कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। १९५९ में आपकी स्वर्ण-जयन्ती बड़े पैमाने पर मनाई गई थी। आपके विषय में कहा जाता है—"बम्बई-जैसे बहुभाषा-भाषी नगर में आज राष्ट्रभाषा हिन्दी सीखने के लिए जो उत्सुकता घर-घर में व्याप्त दिखाई देती है, उसका प्रमुख श्रेय श्रीमती रख्यादेवी तल्लूर-जैसी निष्ठावान प्रचारिका को ही है।"

रत्नाकर आ० पतंगे

मराठी भाषा-भाषी श्री रत्नाकर आनन्दराव पतंगे की जन्म-तिथि है १९-२-१९३०। आपने हिन्दी में अनेक एकांकी, कहानियाँ और लेख लिखे हैं। हिन्दी में आपकी 'हवाई जहाज' नामक पुस्तक उल्लेखनीय है। आपका पता है : दुर्गादास मेनशन, अरदेशिर डेडी क्रॉस स्ट्रीट, बम्बई-४।

रवि वर्मा

श्री रवि वर्मा का जन्म १९१६ में केरल के एरनाकुलम् नामक स्थान पर हुआ। आपकी मातृभाषा मलयालम है। बेंगलोर हिन्दी प्रचारक प्रशिक्षण विद्यालय में अध्ययन और हिन्दी प्रचार सभा मद्रास के साहित्य विभाग में कार्य कर चुके हैं। आजकल आप हिन्दी पाक्षिक 'युग प्रभात' के सह-सम्पादक हैं। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख निकलते ही रहते हैं। 'दादा का हाथी' (मलयालम से हिन्दी) उपन्यास आपका बहुचर्चित अनुवाद है। आपका पता है : युग प्रभात, मातृभूमि बिल्डिंग्स्, कालिकट, केरल।

रांगेय राघव

रांगेय राघव का नाम था टी० एन० वी० आचार्य। आपका जन्म आगरा में १७-१-१९२३ को हुआ था। आपकी मातृभाषा थी तमिल। १९६३ में हिन्दी का यह नक्षत्र टूट गया। इतनी अल्प आयु में इस प्रतिभा ने हिन्दी को उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, इतिहास, समाजशास्त्र, पुरातत्त्व, मनोविज्ञान, अनुवाद, सभी-कुछ दे डाला। आपकी कृतियाँ सौ से ऊपर पहुँचती हैं। इनमें प्रमुख हैं—'घरौंदे', 'मुर्दों का टीला', 'विरुद्धक', 'प्राचीन भारतीय इतिहास और परम्परा', 'कब तक पुकारूँ' आदि।

राजेन्द्रसिंह बेदी

श्री राजेन्द्रसिंह बेदी का जन्म लाहौर में १-९-१९१५

विष्णु भीकाजी कोल्ते

श्री विष्णु भीकाजी कोल्ते का जन्म ज़िला बुल्ढाना के नारीवेल नामक स्थान पर २२-६-१६०८ को हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी है। आपकी लगभग १५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी में 'मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य' आपकी महत्त्वपूर्ण कृति है। आपका पता है : प्राचार्य, नागपुर महाविद्यालय, नागपुर।

शंकर दामोदर चिटले

श्री शंकर दामोदर चिटले का जन्म सिकन्दराबाद में १६-१०-१९०६ को हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी है। 'राष्ट्र भाषा विचार संग्रह' का सम्पादन आपने बड़ी कुशलता से किया है। आपका पता है : अनाथ विद्यार्थी गृह, ६२४, सदाशिव, पूना-२।

शंकर शिवराम अठले

श्री शंकर शिवराम अठले का जन्म सन् १८७८ में उत्तर प्रदेश के जालौन ज़िले के अन्तर्गत उरई नामक स्थान पर हुआ था। आपकी मातृभाषा मराठी है। अभी तक आपकी लगभग १४ पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हिन्दी अलंकार चन्द्रोदय', 'रसचन्द्रोदय', 'सितार चन्द्रोदय', 'नाड़ी प्रबोधक', 'खगोलीय ग्रहवेध विज्ञान' आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। आपका पता है : श्री जी० एस० अठ्ले, एच० टी० ६, ७८, ओर्डीनेंस फैक्ट्री, मुरादनगर, मेरठ (उ० प्र०)।

शंकरराव कप्पीकेरी

श्री कप्पीकेरीजी का जन्म ५ नवम्बर सन् १९३४ को हैदराबाद राज्य के बीदर जिले के अन्तर्गत उदगीर में हुआ। आप पिछले बारह वर्षों से बराबर हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं। हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख निकलते रहते हैं। 'हिन्दी गद्य-पद्य' नामक पाठ्य-पुस्तक का आपने सम्पादन भी किया है। आजकल आप कर्नाटक कॉलेज में हिन्दी के अध्यापक हैं।

सरस्वती रामनाथ

श्रीमती सरस्वती रामनाथ का जन्म मद्रास के कोइम्बटूर नामक स्थान पर ७-६-१९२४ को हुआ। आपकी मातृभाषा तमिल है। स्वयं आपके ही शब्दों में : 'तमिल की लेखिका हूँ। ४६ से कुछ लिख रही हूँ। हिन्दी से तमिल में लाने का और तमिल से हिन्दी में देने का उत्साह है। साहित्य में आदान-प्रदान में मुझे विश्वास है, लगन है। अब तक हिन्दी से कई उपन्यासों को तमिल में लाई हूँ।' आपके हिन्दी से तमिल में उल्लेखनीय अनुवाद हैं—'चेतन', 'डॉक्टर शेफाली', 'मोटी सी बात' आदि। तमिल से हिन्दी में आपने अखिलन के उपन्यास 'नारी' का अनुवाद किया है। आपका पता है : साम्बशिवम् स्ट्रीट, त्यागशिव नगर, मद्रास-१७।

सी० एन० गोपाल कुरूप

श्री सी० एन० गोपाल कुरूप का जन्म केरल राज्य के वेन्नीकुलम नामक स्थान पर ६-५-१९०२ को हुआ था। आपने 'रामचरितमानस' का मलयालम में अनुवाद किया है। आपका पता है टी० सी०, २२०, थाईकउद, त्रिवेन्द्रम्।

हंसराज रहबर

श्री हंसराज रहबर की मातृभाषा पंजाबी है। आपकी जन्म-तिथि है ९-३-१९१३। आप हिन्दी के प्रथम कोटि के लेखकों में से हैं। आपकी लगभग २५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'धरती की बेटी' (उपन्यास), 'उपहास और नव-क्षितिज' (कहानी-संग्रह), 'प्रेमचन्द—कृतित्व और व्यक्तित्व' (आलोचना), 'परेड ग्राउण्ड' (उपन्यास) आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं। आपका पता है : १९८, नवीन शहादरा, दिल्ली।

हरदेव बाहरी

डॉ० हरदेव बाहरी, (एम० ए०, एम० ओ० एल०, पी-एच० डी०, डी० लिट्, शास्त्री) का जन्म १-१-१९०७ को पाकिस्तान के अटक ज़िले के तलगाँव नामक गाँव में हुआ था। आपकी मातृभाषा पंजाबी है। अब तक आपकी लगभग आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'हिन्दी की काव्य-शैलियों का विकास', 'प्राकृत और उसका साहित्य', 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा', 'प्रसाद साहित्य कोश', 'प्रसाद काव्य विवेचन', 'शब्द सिद्धि' तथा 'बृहत् अंग्रेज़ी

हिन्दी कोश' आपकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। आजकल आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर हैं। आपका पता है : १०, दरभंगा रोड, इलाहाबाद-२।

हरिदत्त वेदालंकार

श्री हरिदत्त (एम० ए०, वेदालंकार) का जन्म २७-१०-१९१७ को जम्मू में हुआ था। आपकी मातृभाषा डोगरी है। हिन्दी में आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं, 'भारत की सांस्कृतिक दिग्विजय', 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास', 'भारतीय जनता तथा संस्थाएँ' आदि। आपका पता है : इतिहास विभाग, गुरुकुल विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

निम्नलिखित इतरभाषी हिन्दी लेखकों के परिचय डॉ. मो. दि. पराडकर के 'महाराष्ट्र की हिन्दी सेवा' लेख में समाविष्ट हैं :—

अनंत गोपाल शेवडे (पृ. ३३७), श्रीपाद जोशी (पृ. ३३७ व ३३९), ना. द. गाडगिल (पृ. ३३७), यदुनाथ थत्ते (पृ. ३३८), डॉ. जगदीशचन्द्र जैन (पृ. ३३९), आचार्य विनोबा भावे (पृ. ३३९ व ३४०)।

बम्बई
हिन्दी
विद्यापीठ:
इतिवृत्त

भानुकुमार जैन
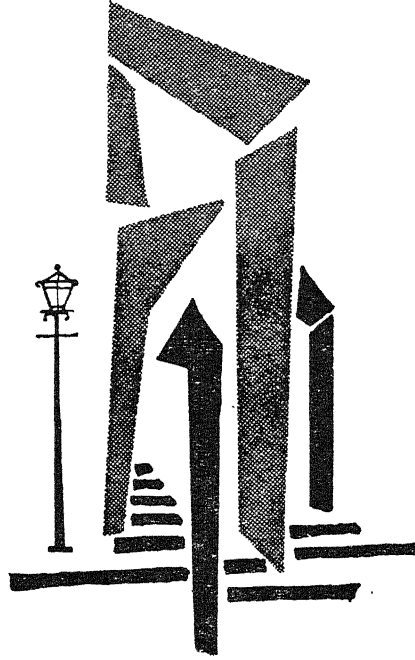
बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के आरम्भिक अध्याय

मेरी किताबों की दुकान पर अनेक ग्राहक मुझसे पूछा करते थे—सम्मेलन और महिला-विद्यापीठ की परीक्षाओं के लिए पढ़ाई के केन्द्र यहाँ बम्बई में कहीं हैं क्या ? स्पष्ट था कि उन दिनों ऐसा कोई केन्द्र नहीं था। तब मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। श्री पी० डी० पालकंडवार, प्रिन्सिपल सरदार हाई स्कूल, ने स्थान की अनुमति दी; और ऐसा एक वर्ग वहाँ खोला गया। प्रिन्सिपल श्री ए० वी० जाखी की अनुमति से मारवाड़ी विद्यालय में भी जगह मिली और दूसरा वर्ग वहाँ खोला गया। विद्यापीठ का कार्यालय कई वर्षों तक मेरी ही दुकान में रहा; बल्कि मैंने अपनी दुकान विद्यापीठ के लिए ही निर्धारित कर दी थी।

एक कार्य शुरू हो जाने पर विचारों की गति तीव्र हो जाती है। सौभाग्य से सर्वश्री विट्ठल शेट्टी, रखमाबाई तल्लर, इन्दिराबाई वायंगणकर, नारायण सांझगिरि, नीरा बापट, सदाशिव देसाई, श्री वा० पां० खाडिलकर आदि विद्यापीठ में सम्मेलन की विशारद-परीक्षा की क्लास के प्रथम विद्यार्थी बनकर आए। इस कक्षा में अध्यापक के तौर पर सर्वश्री भा० ग० जोगलेकर, स्व० डॉ० पी० आचार्य थर्मोपैथ, नारायणप्रसाद जैन और राजबहादुरसिंह आदि ने योग दिया। श्री रामनाथजी पोद्दार ने मुझे पहली आर्थिक सहायता पाँच सौ रुपए की प्रदान की। सर्वश्री डॉ० मोतीचन्द, रामनाथ पोद्दार, घनश्यामदास पोद्दार, स्व० माधवप्रसादजी शर्मा सालिसिटर, ए० वी० जाखी, रणछोड़लाल ज्ञानी, श्री पालकंडवार आदि ने कार्यकारिणी में शामिल होना स्वीकार कर लिया और विद्यापीठ चल निकली।

स्वतन्त्र परीक्षाओं का प्रस्ताव

कुछ दिनों बाद हमारी सर्वप्रथम विद्यार्थी-टुकड़ी सर्वश्री विट्ठल शेट्टी आदि ने मेरे सामने प्रस्ताव रखा कि हमें स्वतन्त्र परीक्षाएँ चलाना चाहिए। कार्य मेरे अकेले के बल का नहीं था। उन लोगों की टीम ने नित्य-प्रति पूरा कार्य करने की पूरी जिम्मेदारी ली। मेरा उत्साह भी बढ़ा। पहली परीक्षा निर्धारित की गई। क्लास खोली गई और ९८ विद्यार्थी उसमें उत्तीर्ण हुए।

मुझे कहना चाहिए कि विद्यापीठ के संस्थापक और उसकी नींव गहरी तथा मजबूत करने वाले विद्यापीठ के ये सर्वप्रथम विद्यार्थी ही हैं, जिनका सम्मान और वन्दना बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के वर्तमान कर्ता-धर्ताओं को इस रजत-जयन्ती के अवसर पर करनी चाहिए थी।

मेरा शुरू से यह मानना रहा है कि हर राज्य में प्रादेशिक विश्वविद्यालय होने चाहिए। विद्यापीठ को मैंने बम्बई राज्य का हिन्दी माध्यम का प्रादेशिक विश्वविद्यालय बनाने का विचार किया था।

क्रमशः विद्यापीठ में अनेक साहित्यिक परीक्षाएँ भी पूरे साहित्यिक स्तर (एम० ए०) और सर्वविषयक 'नागरिक' होने तक की निर्धारित कर ली गईं। दो सौ कक्षाएँ स्थान-स्थान पर खोली गईं। लगभग दस-दस हज़ार परीक्षार्थी परीक्षाओं में एक-एक बार में बैठने लगे। करीब दो सौ कार्यकर्ता अहर्निश बिलकुल निःस्पृह भाव से हिन्दी-प्रचार का कार्य करते रहे। एक टीम, अनुशासनबद्ध पूरे नौ वर्ष तक मेरे मन्त्रीत्व काल में बनी रही। कभी किसी ने मुझ पर अविश्वास नहीं किया, शंका नहीं उठाई।

भाषा-विवाद नहीं

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ में मैं उन दिनों कोई भाषा-विवाद हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्थानी का नहीं उठाना चाहता था। अतः कभी हमने ऐसी चर्चा या बहस नहीं रखी, यानी राजनीति से उसे मुक्त रखा। मैं बम्बई में दक्षिण-

भारतीयों की लगन, निष्ठा, सार्वजनिक कार्यों में बिना विवाद के टीम बनाकर काम करने के उनके आचरण का कायल रहा हूँ। उन्हीं के सहयोग और परिश्रम से विद्यापीठ मज़बूत हुई। मेरा मानना यह रहा है कि हममें कला, क्षमता, प्रतिभा, योग्यता, दृष्टि और उचित ढंग से कार्य करने की पद्धति का ज्ञान होना चाहिए। निःस्पृहता, विशाल-हृदयता, सच्चरित्रता, ईमानदारी और परिश्रमशीलता आदि गुण होने चाहिए। यदि ये गुण हैं तो आप अन्य भाषा-भाषियों के प्रियपात्र बन जाएँगे। आखिर देश ऐसे ही तो बना है। मुझे सैकड़ों कार्यकर्ताओं का अमित प्यार और उनसे वन्दना मिली। मैंने चाहा और प्रयत्न भी किया कि अपना नेतृत्व प्रचारकों को सौंप दूँ, लेकिन किसी ने उसे स्वीकार नहीं किया। मुझसे वह तभी छूटा जब मैंने अपनी आर्थिक परिस्थिति की वजह से तीन-तीन बार विद्यापीठ से मुक्ति पाने के लिए अनुनय-विनय की।

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के कार्यकर्ताओं ने ही उस समय सारी पाठ्य-पुस्तकें, जो करीब दो दर्जन थीं, लिखीं; लेकिन एक पैसा भी पारिश्रमिक नहीं लिया। हमने उन दिनों एक लेख-संग्रह छापा, जिसमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू का 'दो मस्जिदें' नामक प्रसिद्ध लेख उनसे पूछकर शामिल किया। श्री श्रीप्रकाश की सर्वप्रथम पुस्तक 'संस्भरण' भी हमीं ने छापी।

विद्यापीठ की भाषा-नीति अडिग रही, जबकि उस समय की हिन्दी की संस्थाओं की भाषा-नीति समय-समय पर बदलती रही। विद्यापीठ की भाषा-नीति ही स्वतन्त्रता के बाद संविधान में निहित भाषा-नीति बनी और उसी आधार पर विद्यापीठ को भारत सरकार से मान्यता मिली।

मेरी नीति यह रही कि दीक्षान्त भाषण के लिए सिर्फ़ विद्वानों को ही बुलाया जाए। अतः सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार, माखनलालजी चतुर्वेदी, क्षितिमोहन सेन, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि अनेक मूर्धन्य साहित्यिकों को ही बुलाया गया। उन दिनों के उनके दीक्षान्त भाषण 'अमर दीक्षान्त-भाषण' थे, जो आज भी पठनीय हैं। भारत में सबसे पहले हमने सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार, रामकुमार वर्मा आदि अनेक साहित्यिकों की नामी रचनाएँ अपने पाठ्यक्रम में रखीं और उनके अध्ययन छापे।

मेरी दृष्टि यह रही कि राजनीतिज्ञ और धनाधीश विद्यापीठ का नेतृत्व न करें, बल्कि योग दें। मेरे पूरे मन्त्रीत्व-काल में यह बात निभी। विद्यापीठ के वार्षिक समारोह अद्भुत होते थे। एक बार के अधिवेशन से श्रीमती लीलावती और कन्हैयालाल मुंशी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने मुझे बुलाने के लिए कार्ड भेजा। मैं गया तो उन्होंने विद्यापीठ में काम करने की इच्छा प्रदर्शित की। हम लोगों ने स्वागत किया। वे साहित्यिक भी थीं, अतः उन्हें अध्यक्ष बना लिया गया। वे अपने साथ अनेक धनिकों को विद्यापीठ की कार्यकारिणी में लाईं—सर्वश्री स्व० प्राणलाल देवकरण नानजी, मोतीचन्द्रजी शाह, प्रभाशंकर भट्ट, भडगांवकर सालिसिटर, मथुरादास, रतनचन्द हीराचन्द आदि। श्री मदनमोहन रूइया मेरे सहपाठी थे। श्री श्रेयांसप्रसाद जैन की भी उन दिनों मुझ पर स्नेह-कृपा थी। ये दोनों मेरे स्नेहवश शामिल हो गए।

उन दिनों हर महीने एक बार १५ व्यक्तियों के पूरे कोरम के साथ हर एक श्रीमन्त के यहाँ 'डिनर' के साथ, कार्यकारिणी की बैठक होती थी। मेरी पूरी योजनाओं और सुझावों को स्वीकृति मिलती। मेरे सब साथी कार्यकर्ता उन सब प्रवृत्तियों पर अमल करके विद्यापीठ को मज़बूत बनाते। धन के बारे में इतने श्रीमानों के रहते हुए भी मैं कार्यकारिणी में निवेदन नहीं करता था। विद्यापीठ के सालाना जलसे में बड़ी लहक और महक रहती। एक बार मंच पर श्री घनश्यामदास पोद्दार ने, जो विद्यापीठ के निरन्तर कोषाध्यक्ष रहे, एकाएक मुझे बुलाकर कहा, "भानु, तेरे लिए ६०००) रुपया हो गया।" और मैं गद्गद् हो गया। और भी जोश से स्वागत-सत्कार में जुट गया।

हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार

हिन्दी के सर्वमान्य मूर्धन्य, बीत रही पीढ़ी के सभी साहित्यिकों का बम्बई में सर्वप्रथम सार्वजनिक उद्घाटन विद्यापीठ के मंच से ही हुआ। राहुल सांकृत्यायन, टंडनजी, मुंशी-दम्पती, बनारसीदास चतुर्वेदी, अमरनाथ झा

और सभी नामी व्यक्ति विद्यापीठ के कर्ता-धर्ता के नाते इस दीन की छोटी-सी कुटिया में कई-कई बार पधारे। सारे भारत में विद्यापीठ की ऐसी धाक थी कि लोग उसे एक महान् विश्वविद्यालय मानते थे। दूर से लोग मुझे बुजुर्ग और श्रद्धा का पात्र समझते थे। प्रत्यक्ष जब आते और पाते कि हम सब लोग नौजवान हैं तो वे चकित होते और हम शर्म से झुक जाते थे।

स्व० डॉ० पी० आचार्य थर्मोपैथ ने विद्यापीठ को उन दिनों पाँच सौ रुपए दिये, जब उनके लिए एक बार भोजन जुटाना भी मुश्किल था। श्री रामनाथ पोद्दार ने मंच पर कहा कि ये पाँच सौ पाँच लाख के बराबर हैं। उनके स्मारक का रुपया विद्यापीठ के खाते में अब तक ज्यों-का-त्यों पड़ा है। उनकी 'प्राकृतिक चिकित्सा' की सुन्दर पांडुलिपि का, जो एक मौलिक आविष्कार थी, विद्यापीठ के वर्तमान भाग्यविधाताओं ने पता नहीं क्या किया।

अपने नौ-दस वर्ष के कार्यकाल में मैं अपनी आर्थिक स्थिति को बिगाड़कर भी विद्यापीठ के कार्य में चौबीसों घण्टे जुटा रहा। मेरे अलग होने के बाद विद्यापीठ के कार्य-कर्ताओं ने अपने-अपने कार्यक्षेत्र के घटकों के नए-नए नामकरण करके 'भारतीय विद्यापीठ' और 'बम्बई हिन्दी सभा' जैसी अनेक संस्थाएँ खोल लीं। इन संस्थाओं में सम्मिलित करने के अनेक प्रस्ताव मेरे सामने आये; नई संस्था बनाने के प्रलोभन भी कई दिये गए; परन्तु बम्बई हिन्दी विद्यापीठ को विश्वविद्यालय बनाने की मेरी कामना अब भी बाकी है और मैं आजीवन विद्यापीठ में रहकर उसी के उत्थान के लिए निरन्तर कार्य करते रहना चाहता हूँ।

राजबहादुर सिंह
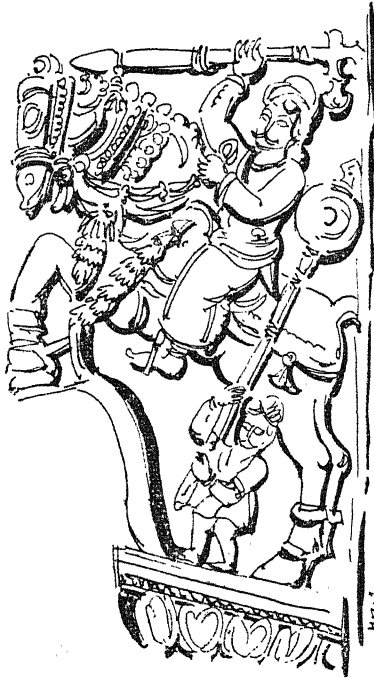
विद्यापीठ और मैं

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ का इतिहास, मेरे बम्बई-जीवन के इतिहास का गौरवपूर्ण अंग है। मैं १६३३-३४ में 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' (साप्ताहिक) के सम्पादकीय कार्य के सिल-सिले में बम्बई पहुँचा था। उन दिनों मुझे हिन्दी-भाषियों के सिवा अन्य भाषा-भाषियों का सम्पर्क भी प्राप्त हुआ—विशेष-कर, मराठी, गुजराती और कन्नड़-भाषियों का। दक्षिण भारत में जिन दिनों हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) की ओर से हिन्दी-प्रचार का काम चल रहा था और दक्षिण के आठ विद्यार्थी सभा की ओर से प्रयाग प्रशिक्षण लेने के लिए आये थे, उन दिनों मैं स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी के साथ काम कर रहा था। त्रिपाठीजी इस कार्य का संचालन करते थे और श्री हरिहर शर्मा के साथ जो अन्य सात भाई दक्षिण से आये थे, उनको अंग्रेज़ी के माध्यम से हिन्दी में प्रशिक्षण देने का काम मैं करता था। इस प्रकार हिन्दी-प्रचार का अंकुर मुझमें अपने विद्यार्थी जीवन से ही जम चुका था। बम्बई आने पर जब अवसर मिला तो उस पौधे ने विटप का रूप कैसे धारण किया और कालान्तर में उसमें फल-फूल कैसे लगे, इसका वृत्तान्त यहाँ प्रसंगानुकूल होगा।

'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' (साप्ताहिक) में काम करते हुए मुझे काफ़ी समय मिल जाता था, इसलिए हिन्दी-भाषी संघ और बाद में उत्तर भारतीय संघ का काम करने में मेरी रुचि बढ़ी। कई वर्ष तक तो यह प्रयत्न छिट-पुट रूप में ही चलता रहा। हिन्दी-प्रचार के लिए कुछ वर्ग आदि खोले और बम्बई नगर और उपनगरों तक में इस दिशा में कुछ प्रयत्न किये। किन्तु संस्थागत योजना का विचार तब आया जब मैं हिन्दी माध्यम के विद्यालयों से सम्पर्क जमा चुका और कुछ अध्यापकों, प्रचारकों तथा कार्यकर्ताओं को अपनी ओर खींच सका। इस बीच मैंने बम्बई नगर के विशिष्ट व्यक्तियों में अंग्रेज़ी के माध्यम से चार्टर्ड बैंक और इलाहाबाद बैंक के यूरोपीय मैनेजरों तथा स्माल काज़ेज़ कोर्ट के चीफ़ जज श्री एस० एम० नरोन्हा को भी हिन्दी पढ़ाई।

संस्था का प्रचार

इस प्रकार के सम्पर्क और प्रयत्न के फलस्वरूप मैं श्री भानुकुमार जैन से मिला, जिनकी हीराबाग में पुस्तकों की दुकान थी और जो हिन्दी-प्रचार के कार्य में मुझसे भी पहले से दिलचस्पी के साथ लगे थे। हम दोनों की संयुक्त योजना ने काम को आगे बढ़ाया और सितम्बर १६३८ ई० में हमने मारवाड़ी हाईस्कूल बिल्डिंग में केवल ८ विद्यार्थियों को (जिनमें शायद पाँच मराठी-भाषी लड़कियाँ थीं) लेकर वर्ग आरम्भ कर दिया। इस वर्ग का अध्यापन-कार्य अकेले मैंने आरम्भ किया।

कुछ दिनों तक तो वर्ग इसी प्रकार चलता रहा; पर धीरे-धीरे विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गई और ऐसा मह-सूस किया जाने लगा कि सुविधा की दृष्टि से कई स्थानों पर वर्ग खोले जाएँ तो कार्य-विस्तार अच्छी तरह हो सकता है। कुछ समय बाद विद्यापीठ को वैधानिक रूप देने की आवश्यकता भी महसूस कर ली गई। इसके लिए हमने कई और हिन्दी के विद्वानों और प्रेमियों को अपनी ओर आकर्षित किया। डा० मोतीचन्द्र, श्री रणछोड़लाल ज्ञानी, श्री पाल खंडवार (प्रिंसिपल, सरदार हाईस्कूल) का सहयोग हमें ऐसी ही मंज़िल पर प्राप्त हुआ और उनके प्रेम, उत्साह और लगन के कारण शीघ्र ही विद्यापीठ की विधिवत् स्थापना हो गई। उसके बाद कार्य निरन्तर वेगपूर्वक बढ़ता गया। १६३६ ई० की परीक्षाओं में लगभग ३०० विद्यार्थी बैठे जो उन दिनों की दृष्टि से अच्छी संख्या मानी गई।

बड़े सोच-विचार और गवेषणा के बाद अनेक अनुभवी

अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर हमने विद्यापीठ का अपना पाठ्यक्रम तैयार किया था, जो आरम्भ में तीन परीक्षाओं के लिए सरल सहायक पुस्तकें तैयार करने के रूप में ही रहा। कई वर्ष बाद जब परीक्षा में बैठनेवाले विद्यार्थियों की संख्या और भी बढ़ी और प्रतिवर्ष बढ़ती ही गई, हमने इस पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर परीक्षा की ज्ञान-परिधि का विस्तार किया और संस्था की ओर शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया।

युद्ध आरम्भ होने के बाद अर्थात् १९४० ई० तक विद्यापीठ के अध्यक्ष डॉ० मोतीचन्द, मन्त्री श्री भानुकुमार जैन और परीक्षाध्यक्ष श्री रणछोड़लाल ज्ञानी रहे। ज्ञानीजी ने अपने देहावसान तक संस्था की सेवा बड़ी लगन के साथ की। आरम्भ के दिनों में कार्यकारिणी के सदस्यों में मारवाड़ी विद्यालय हाई स्कूल के प्रिंसिपल श्री ए० की० जाखी, श्रीमती रख्माबाई तल्लूर, श्री विट्ठल शेट्टी, प्रभाकर याज्ञिक, सेठ रामनाथ पोद्दार और पं० माधवप्रसाद थे।

१९४० ई० तक संस्था को स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, पं० मदनमोहन मालवीय, श्री राजगोपालाचारी, महर्षि घोंडो केशव कर्वे, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, डॉ० रघुवीर, श्रीमती लीलावती मुन्शी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, सैयद अब्दुल्लाह बरेलवी बाम्बे क्रानिकल—सम्पादक) आदि के आशीर्वाद प्राप्त हो चुके थे। इस प्रकार थोड़े ही समय में विद्यापीठ ने अपने उच्च उद्देश्य, सुघड़ संगठन और निरन्तर प्रयत्न के द्वारा अखिल भारतीय मान्यता का स्वरूप प्राप्त कर लिया और उसे निरन्तर सफलता मिलने लगी। बम्बई से संलग्न महाराष्ट्र और गुजरात-काठियावाड़ क्षेत्र में इस संस्था की ख्याति बढ़ने लगी।

विद्यापीठ का कार्य युद्ध-काल की कठिनाइयों के बावजूद आगे बढ़ता गया और उसके वर्गों एवं परीक्षा-केन्द्रों में तो वृद्धि हुई ही, उसके विद्यार्थियों की संख्या तथा आय-व्यय में भी काफ़ी विस्तार हुआ।

१९४५ ई० में युद्ध बन्द होने के बाद मैंने 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' छोड़ दिया, क्योंकि सन्तान-संख्या बढ़ी, युद्ध-काल में उसके बाद खर्च खूब बढ़े और उन दिनों एक पुराने और रूढ़िपन्थी पत्र में वेतन बढ़ने की कोई आशा नहीं रही। मैं कुछ समय के लिए कलकत्ता जाकर दिल्ली आया और वहाँ फिर १९४६ ई० तक पुस्तक-लेखन में लगा रहा। १९४९ ई० में मुझे भारतीय संविधान परिषद् में सीनियर ट्रान्सलेटर का काम मिला और मुन्शी अभिनन्दन-ग्रन्थ का सम्पादन भी मैंने उन्हीं दिनों किया, किन्तु १९५० ई० में जब श्री रामकृष्ण डालमिया ने मुझे बम्बई जाकर टाइम्स ऑफ इण्डिया (बैनेट कोलमैन लि०) से हिन्दी दैनिक निकालने का कार्यभार दिया तो मैं पुनः बम्बई लौट आया और उसी साल जून से 'दैनिक नवभारत टाइम्स' संस्थापित कर उसका प्रधान सम्पादक बना। एक बार फिर मुझे बम्बई हिन्दी विद्यापीठ की सेवा का सुयोग प्राप्त हुआ और मैं उसके प्रचार-कार्य में सहायक हुआ। उस समय इस संस्था के अध्यक्ष ज्ञानीजी ही थे, जिनके साथ कार्य करने का आनन्द मुझे फिर मिला। तब तक श्री हरिशंकरजी मन्त्री का कार्य करने लगे थे। श्री ज्ञानीजी और श्री हरिशंकरजी के प्रस्ताव और समर्थन पर मुझे बम्बई हिन्दी विद्यापीठ का कुलपति चुना गया। दैनिक पत्र का सम्पादन करते हुए भी मैं विद्यापीठ के कार्य में उसी प्रकार रस लेने लगा, जिस प्रकार पहले लेता था। १९५० से १९५३ तक तो मैं 'नवभारत टाइम्स' की व्यस्तता के कारण उतना समय विद्यापीठ को नहीं दे पाता था, पर १९५४ ई० से पत्र के मालिकों की नीति-परिवर्तन के कारण मैं इस्तीफ़ा देकर उससे अलग हो गया तो विद्यापीठ के काम में अधिक समय देने की स्थिति में हो गया। यही कारण था कि मेरे मित्रों, सहयोगियों और सहकारियों ने मुझे इस काम से तब तक मुक्ति नहीं दी जब तक कि १९५८ ई० में गाँधी स्मारक निधि के आमन्त्रण पर मैं बम्बई छोड़कर दिल्ली नहीं पहुँचा और वहाँ से उसके मुख-पत्र गांधी-मार्ग का सम्पादन नहीं करने लगा। किन्तु बम्बई से दूर होने पर भी मैं विद्यापीठ से दूर नहीं हुआ और उसके पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों ने मुझे यहाँ से ही नहीं याद किया, दिल्ली पहुँचकर भी विद्यापीठ की रजत-जयन्ती पर बचे-खुचे रजत-केशों का प्रदर्शन करने के लिए बुला लिया।

इस अवसर पर इस रजत-सभा का अवलोकन कर मुझे वैसा ही आनन्द हो रहा है—ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि आँखिन को सुख होत।

गिरीश माथुर

बम्बई-हिन्दी-विद्यापाठ : परिचय

'संयोजन काल'

पच्चीस वर्ष पहले के हिन्दी प्रचार-कार्य पर दृष्टिपात करने से यह सभी को ज्ञात हो सकता है कि उस समय के हिन्दी-सेवी प्रचारकों को किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। बम्बई शहर की स्थिति तो विचित्र ही है, जहाँ मराठी और गुजराती-भाषी व्यक्तियों के साथ-साथ अन्य भाषा-भाषी भी सदा से रहते आए हैं। राष्ट्र की एकता को ध्यान में रखते हुए जब से हिन्दी प्रचार का कार्य हमारे देश के बड़े-बड़े नेताओं द्वारा प्रारम्भ किया गया, कितने ही हिन्दी-प्रेमी इस कार्य में सहयोगी बने। अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार की बहुत ही आवश्यकता थी। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी हिन्दी का रूप निश्चित करने की, जिसे अलग-अलग हिन्दी संस्थाओं ने अपनी हिन्दी-नीति का नाम दिया है।

विद्यापीठ के संयोजन-काल में कुछ हिन्दी-प्रचारकों ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी तैयार करने का प्रयत्न किया। परन्तु उस काल में सम्मेलन की परीक्षाओं का उच्चतर मानदण्ड उस काल के प्रारम्भिक हिन्दी छात्र के लिए कठिन-सा प्रतीत हुआ। सम्मेलन प्रयाग ने १९३६ में हिन्दी की प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा के लिए एक शाखा के रूप में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा का निर्माण किया। मद्रास में इसी समय के आसपास दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा की स्थापना हुई, जो अब द० भा० हिन्दी प्रचार सभा के नाम से कार्यरत है। प्रारम्भ में इन दोनों संस्थाओं की हिन्दी का रूप इस प्रकार रहा कि उसमें हिन्दी और उर्दू के शब्द बराबर मात्रा में मिला करते थे। बम्बई के निवासियों को इसमें भी कठिनाई थी। अतः उस समय के कुछ हिन्दी-प्रचारकों ने हिन्दी के उस रूप का ही प्रचार करना अधिक श्रेष्ठ समझा जिसे सरलता के साथ सभी लोग समझ सकते हैं, जिसे बोलचाल की भाषा भी कहा जा सकता है। संयोजन-काल के उपरान्त १९३९ में बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ की नियमावली बनाने के लिए जो समिति बनाई गई, उसने अपनी हिन्दी-नीति निम्न प्रकार निर्धारित की :

हिन्दी भाषा—हिन्दी भाषा का वह स्वरूप मान्य समझा जाएगा जो सामान्य जनता—ग्रामीण और नागरिक—के व्यवहार में आता है और जिसमें रूढ़, सर्वसुलभ एवं प्रचलित संस्कृत या विदेशी शब्दों का बहिष्कार नहीं है।

यह नियमावली १२ मई १९४० की विद्यापीठ की व्यवस्थापक समिति में सर्वानुमति से स्वीकृत हुई थी।

प्रत्येक पहले वर्ष की १ अप्रैल से लेकर दूसरे वर्ष की ३१ मार्च तक रजिस्टर्ड संस्थाओं का १ वर्ष गिना जाता है। आगे इसी क्रम के अनुसार प्रत्येक वर्ष की परिस्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

१२ अक्टूबर १९३८ को बम्बई नगर के कुछ हिन्दी-सेवी प्रचारकों ने 'बम्बई हिंन्दी-विद्यापीठ' की स्थापना का

शुभ कार्य किया। मुख्य संयोजकों में **भानुकुमार जैन** का नाम तथा उनकी हिन्दी-सेवा उल्लेखनीय है। आज का विद्यापीठ-परिवार भानुकुमार जैन को विद्यापीठ के संस्थापक के रूप में मानता है। अन्य सहयोगियों में **ठा० राजबहादुर सिंह, डॉ० मोतीचन्द्र** तथा **श्रीमती रखमा बाई तल्लूर** के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। संयोजन-काल के उपरान्त १४-५-१९३९ को बम्बई शहर के मारवाड़ी विद्यालय में विद्यापीठ की साधारण सभा का जो उल्लेख मिलता है, वह लिखित रूप में आज भी परिवार के लिए मार्गदर्शक है। इस सभा में सर्वश्री पी० डी० पालकंडवार, रणछोड़लाल ज्ञानी, व्यं० पा० कामत, शं० शां० सबनीस, वि० दिवेकर, दा० कृष्ण गेद्र, प० वा० पंडित, गोपालजी पी० लखपतिया, वि० आर० कारकल, रखमाबाई तल्लूर, वा० पां० खाडिलकर, रामजससिंह, कन्हैयालाल गुप्त, विट्ठल शेट्टी, भानुकुमार जैन, सूर्यप्रकाश शास्त्री, भगवानदास गोयलीय, सरला पण्डित, हरिजी गोविल, नारायण संझगिरि, बी० जी० झवेरी तथा शा० शा० पहेलवान उपस्थित थे।

१ अप्रैल १९३९ से ३१ मार्च १९४० तक

श्रीमती रखमाबाई तल्लूर इस समय प्रचार और विद्यालय विभाग की मन्त्राणी थीं। इसी सभा में कार्य-संचालन के लिए जिस कार्यकारिणी समिति का चुनाव किया गया, उसका स्वरूप इस प्रकार था :

अध्यक्ष : **डॉ० मोतीचन्द्र**
उपाध्यक्ष : **प्रा० अश्वत्थामा बालाचार्य गजेन्द्रगडकर**
संयुक्त मन्त्री : **भानुकुमार जैन, श्रीमती सरला पण्डित**
कोषाध्यक्ष : **हरजी गोविल**
प्रचारक व विद्यालय विभाग के सं० मन्त्री : **विट्ठल शेट्टी, श्रीमती रखमाबाई तल्लूर**
साहित्य-प्रकाशन ,, ,, **हरिजी गोविल, डॉ० एस० एस० सबनीस**
परीक्षा विभाग के ,, ,, **रणछोड़लाल ज्ञानी, पी० डी० पालकंडवार**
पुस्तकालय व वाचनालय ,, ,, **वा० पा० खाडिलकर, नारायण संझगिरी**

इसी सभा में व्यवस्थापक-मंडल की स्थापना भी हुई तथा मण्डल के सभापति के रूप में श्रीमती **लीलावती मुन्शी** चुनी गईं। व्यवस्थापक-मण्डल में उपरोक्त उल्लेखित व उपस्थित व्यक्तियों के अतिरिक्त, प्रा० बी० डी० वर्मा, मदनलाल सेकसरिया, डॉ० बालकृष्ण, पं० प्रतापचन्द, प्रा० इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा ए० वी० जाखी के सहयोग की अपेक्षा की गई थी।

आज उपरोक्त महानुभावों में से कुछ अब तक भी निरन्तर विद्यापीठ की प्रगति के साथ हमारे कार्य में हाथ बँटा रहे हैं।

प्रचार-कार्य की प्रणाली

उस समय के हिन्दी-सेवी प्रचारकों के पास हिन्दी-प्रचार के अपने साधन थे—घर-घर जाकर लोगों को हिन्दी सीखने के लिए आग्रह करना तथा स्कूलों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं में हिन्दी प्रचार के महत्त्व का प्रतिपादन करना, सप्ताह में कम-से-कम एक बार लोगों को एकत्रित करके व्यवस्थित रूप से वर्ग संचालित करना आदि। उस समय के हिन्दी प्रचारक उन वर्गों में उपस्थित व्यक्तियों को हिन्दी की शिक्षा देने लगे। बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के प्रचारकों ने संयोजन-काल में ही प्रचार परीक्षाओं का मानदण्ड निर्धारित कर लिया था। उसीके अनुसार सप्ताह में एक दिन नियमित वर्ग चलने लगे। वर्गों में वृद्ध तथा बालक सभी उपस्थित होते थे। मराठी के माध्यम से हिन्दी का ज्ञान प्राप्त हो सके, इस उद्देश्य से विद्यापीठ की ओर से मराठी-हिन्दी-शिक्षिका का पहला भाग प्रकाशित किया गया। शीघ्र ही अंग्रेज़ी-हिन्दी-शिक्षिका का पहला भाग भी प्रकाशित हुआ, और फरवरी १९३९ में विद्यापीठ की स्वयं प्रारम्भ की हुई प्रथमा परीक्षा में १९८ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। इस समय जो परीक्षाएँ निर्धारित की गईं वे इस प्रकार थीं :

हिन्दी प्रथमा
,, मध्यमा
,, उत्तमा
,, भाषारत्न (पदवी परीक्षा)

सितम्बर १९३९ की सत्र में उपरोक्त चारों ही

परीक्षाओं में परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। हिन्दी-सेवी प्रचारकों का उत्साह बढ़ा। फरवरी १९३९ की प्रथमा परीक्षा में जो छात्र उत्तीर्ण हुए थे उनके लिए प्रमाण-पत्र-वितरण का आयोजन किया गया। **श्री जयचन्द्र विद्यालंकार** इस प्रथम प्रमाण-पत्र-वितरणोत्सव के अध्यक्ष बने तथा **श्री जैनेन्द्रकुमार** ने दीक्षांत भाषण दिया। सितम्बर १९३९ की हिन्दी भाषारत्न (पदवी) परीक्षा में सर्वप्रथम भाषारत्न उत्तीर्ण पदवीधारी **श्री पद्माकर वामन पण्डित** थे।

मई १९४० की सर्वसाधारण व्यवस्थापक समिति में विद्यापीठ की नियमावली स्वीकृत हुई। इस सभा में स्वीकृत मार्च १९४० तक के कार्य-विवरण से विद्यापीठ की प्रगति का जो ब्यौरा मिलता है वह बहुत ही उत्साह-वर्धक है: स्थापना-काल से मार्च ४० तक की डेढ़ वर्ष की अवधि में ही विद्यापीठ के २२ वर्ग चल रहे थे, जिनमें ५४ हिन्दी-सेवी प्रचारक पढ़ा रहे थे। इन प्रचारकों को किसी भी प्रकार का वेतन या पुरस्कार नहीं मिलता था। केवल हिन्दी की सेवा-भावना से प्रेरित होकर ये लोग अपने कार्य में लगे हुए थे। पढ़ने वाले परीक्षार्थियों से भी किसी प्रकार का पढ़ाई का शुल्क नहीं लिया जाता था। विद्यापीठ के वर्गों में आज तक यह प्रणाली बम्बई शहर में चल रही है।

मार्च '४० तक विद्यापीठ की तीन सत्रों की परीक्षा में १९०० विद्यार्थी सम्मिलित हो चुके थे। पुस्तकालय में ७५० पुस्तकें एकत्रित हो गई थीं तथा ४३ सदस्य पुस्तकालय का लाभ उठा रहे थे। विद्यापीठ की ओर से ८ पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी थीं। परीक्षा-समिति को सर्वश्री **रायकृष्णदास, पं० विद्याभूषण मिश्र, प्रा० बी० डी० शर्मा, प्रा० नरहर फाटक** आदि का सहयोग प्राप्त हुआ था।

१ अप्रैल १९४० से ३१ मार्च १९४१ तक

१९४०-४१ के लिए जिस कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन हुआ, उसकी रूपरेखा निम्नलिखित है:

अध्यक्ष : **माधव प्रसादजी एन० शर्मा**
उपाध्यक्ष : **रामनाथ पोद्दार**
मंत्री : **भानुकुमार जैन**
अन्य सदस्य : **डॉ० मोतीचन्द्र**
रणछोड़लाल ज्ञानी
प्रभाकर श्रीलाल याज्ञिक
प्रा० ए० वी० जाखी
हिन्दी सेवक दल से : **विट्ठल शेट्टी**
श्रीमती रखमाबाई तल्लूर

इसके अतिरिक्त **घनश्यामदास पोद्दार, मदनमोहन रुइया** भी कार्यकारिणी में सम्मिलित हुए। **पद्मसिंह शर्मा** ने इन दिनों सहायक मन्त्री के रूप में विद्यापीठ को महत्त्व-पूर्ण सहयोग दिया। परीक्षा-समिति के अध्यक्ष ए० वी० जाखी तथा परीक्षा-मन्त्री रणछोड़लालजी ज्ञानी थे। सहायक परीक्षामत्री के रूप में त्र्यंवकराव अण्णाजी दुग्गल ने सहयोग दिया। प्रचार विभाग का कार्य श्रीमती **इंदिराबाई वायंगणकर** ने सँभाला।

१९४०-४१ में विद्यापीठ का द्वितीयाधिवेशन दिसम्बर '४० में हुआ। आचार्य **क्षितिमोहन सेन** और **आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने शांतिनिकेतन से पधारकर विद्यापीठ के उपाधिधारियों को ज्ञान-दीक्षा दी एवं उपाधि-पत्र वितरित किए। इसी वर्ष स्नेह-सम्मेलन में **श्रद्धेय पुरुषोत्तमदासजी टंडन, पं० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, पं० श्रीराम शर्मा, डॉ० बाबूराम सक्सेना, बाबू गुलाबराय** आदि विद्वान पधारे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की मान्यता भी विद्यापीठ को इसी वर्ष प्राप्त हुई। एक हस्तलिखित त्रैमासिक 'युगधर्म' का प्रकाशन भी इसी वर्ष किया गया। अब तक विद्यापीठ द्वारा १३ पुस्तकें प्रकाशित कर दी गई थीं। इन्हीं दिनों विद्यापीठ को पंजीकृत (रजिस्टर्ड) कराने की दिशा में कार्य शुरू किया गया। तदनुसार नियमावली में संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया।

१ अप्रैल १९४१ से ३१ मार्च १९४२ तक

१९४१-४२ में कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की संख्या ११ से बढ़ाकर १५ की गई। १९४१-४२ के पदाधिकारी और कार्यकारिणी समिति के सदस्य इस प्रकार थे:

अध्यक्ष : **श्रीमती लीलावती मुन्शी**
उपाध्यक्ष : **रामनाथजी पोद्दार**

कोषाध्यक्ष : **घनश्यामदास पोद्दार**
मन्त्री : **भानुकुमार जैन**
सदस्य : मदनमोहन रा० रुइया
प्राणलाल देवकरण नानजी
प्रभाशंकर रामचन्द्र भट्ट
मोतीचन्दजी शाह
मधुकर व माडगांवकर
माधवप्रसाद न० शर्मा
डॉ० मोतीचन्द्र
श्री रणछोड़लाल ज्ञानी (परीक्षा-मन्त्री)
आत्माराम वि० जाखी
विट्ठल शेट्टी
श्रीमती रख्माबाई तल्लूर

यह समय द्वितीय विश्वयुद्ध का था। श्रीमती लीलावती मुंशी ने साधारण सभा के समय इस वर्ष के कार्य-वृत्तान्त पर काफ़ी प्रकाश डाला है। कठिनाइयों में भी आगे बढ़ते रहने का कार्यकर्ताओं का संकल्प बहुत ही महत्त्व रखता है। **इन्हीं दिनों हिन्दुस्तानी बोर्ड, काका साहेब कालेलकर और श्री किशोरीलाल मश्रूवाला ने उन दिनों की हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद से सम्बन्धित नीति के आधार पर विद्यापीठ के लिए कुछ सुझाव भेजे थे, जैसे हिन्दी के साथ हिन्दुस्तानी या उर्दू को भी विकल्प में रखना अथवा नाम परिवर्तन करना। परन्तु हमारे कार्यकर्ताओं ने अपने स्वीकृत लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य बातों को स्वीकार नहीं किया और सभी परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़ते रहे।**

१६४१-४२ में **नारायण संझगिरि** शिक्षामन्त्री थे। पुस्तकालय विभाग श्री घोंडो वि० सप्रे, श्री शान्ता कसबेकर और देविदास अकोला द्वारा संचालित था। वाङ्मय-मण्डल का संचालन श्री वसन्त सशित्तल और शान्ता बधावन ने किया। देश में विश्वयुद्ध का प्रभाव था। फिर भी विद्यापीठ के प्रचार-कार्य में किसी प्रकार की रुकावट नहीं हुई। तुलनात्मक दृष्टि से परीक्षार्थियों की संख्या इस प्रकार थी :

वर्ष १९३८-३९ में—१ सत्र के १९८ परीक्षार्थी
,, १९३९-४० में—२ सत्रों के ९३७ ,,
वर्ष १९४०-४१ में—२ सत्रों के १२०७ परीक्षार्थी
,, १९४१-४२ में—२ सत्रों के १३९३ ,,

इसी वर्ष विद्यापीठ में 'ध्रुवखण्ड' की स्थापना की गई। निम्नलिखित महानुभावों में से प्रत्येक ने ५०१ रु० देकर एक स्थायी कोष की रचना में सहयोग दिया :

श्री रामनाथ आ० पोद्दार
श्री मदनमोहन रा० रुइया
श्रीमती लीलावती मुन्शी
श्री मोतीचन्द शाह
श्री मेघजी मथुरादास
श्री रामदेव आ० पोद्दार
श्री प्राणलाल देवकरण नानजी
श्री घनश्यामदास सी० पोद्दार
श्री प्रभाशंकर रा० भट्ट
श्री मधुकर व० माडगाँवकर
डॉ० पी० आचार्य।

उपरोक्त के अतिरिक्त श्री मूंगालाल गोयनका और श्री सत्यभूषण आनन्द ने १०० और १०१ रुपये दिये। इस प्रकार प्रथम वर्ष में ही स्थायी कोष ५,७१२ रुपये का बन गया। अब तक आर्थिक कठिनाइयाँ सदा ही विद्यापीठ को भुगतनी पड़ी थीं। ऐसे अवसरों पर कोष से सहायता प्राप्त करके कार्य-संचालन में सुविधा मिलने लगी।

इस समय तक बम्बई शहर में २३ केन्द्र संचालित थे, उपनगरों में भी चार केन्द्र खुले। इतना ही नहीं, बम्बई से बाहर भी प्रचार-कार्य बढ़ा—कारवार, शहापुर, बेलगाँव, गोआ, नवसारी तथा कलकत्ता में भी विद्यापीठ के केन्द्र खुले। नवम्बर सन् '४१ में तृतीयाधिवेशन मनाया गया, जिसमें **पं० माखनलाल चतुर्वेदी** 'एक भारतीय आत्मा' ने उपाधिधारियों के लिए दीक्षान्त भाषण दिया। अधिवेशन में **श्री कन्हैयालाल मा० मुन्शी** और श्री भवानीदयाल संन्यासी भी पधारे। भाषणों के आयोजन में **श्री भा० वि० वरेरकर** (मामा वरेरकर) और श्री रामचन्द्र वर्मा का सहयोग प्राप्त हुआ। **श्री भगवतीचरण वर्मा** के बम्बई आगमन के समय विद्यापीठ की ओर से कवि-सम्मेलन का आयोजन भी किया गया। हस्तलिखित त्रैमासिक के अब तक ४ अंक प्रकाशित हो चुके थे।

१ अप्रैल १९४२ से ३१ मार्च १९४३ तक

१९४२-४३ और उसके बाद के दो-तीन वर्ष बहुत ही संकटपूर्ण थे। युद्ध की विभीषिका के कारण बम्बई नगर का जीवन अस्थिर-सा था। फिर भी बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ का कार्य सामान्य रूप से चलता ही रहा। वर्ष १९४२-४३ के लिए निम्नलिखित रूप में कार्यकारिणी समिति की रचना की गई :

अध्यक्ष : **श्रीमती लीलावती मुन्शी**

उपाध्यक्ष : **रामनाथ पोद्दार**

कोषाध्यक्ष : **श्री घनश्यामदास पोद्दार**

परीक्षा-मन्त्री : **रणछोड़लाल ज्ञानी**

शिक्षा-मन्त्री : **अनन्त नाडकर्णी**

मन्त्री : **भानुकुमार जैन**

कार्यकारिणी समिति के शेष सदस्य इस प्रकार थे :

सर्वश्री मदनमोहन रा० रुइया, प्राणलाल दे० नानजी, प्रभाशंकर रा० भट्ट, मोतीचन्दजी शाह, मधुकर व० माडगाँवकर, माधवप्रसाद ना० शर्मा, डॉ० मोतीचन्द्र, आत्माराम वि० जाखी और वा० पा० खाडिलकर (प्रचार विभाग के संयुक्तमन्त्री) और नारायण शि० संझगिरि नियुक्त हुए। इन दिनों तक प्रचार को दृष्टिगत रखते हुए बम्बई नगर को दो विभागों में बाँटा गया था—उत्तर-विभाग और दक्षिण-विभाग। उत्तर-विभाग के संयोजक सर्वश्री वा० सी० मुले, सदाशिव देसाई और किशोर नायक नियुक्त हुए। इस वर्ष की दोनों सत्रों के परीक्षार्थी पिछले वर्ष की अपेक्षा कुछ कम अवश्य रहे, परन्तु प्रचार की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ा। १९४२-४३ में विद्यापीठ की परीक्षाओं में कुल १३२२ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। विद्यापीठ का प्रचार-कार्य संस्था के स्वयं के प्रचारक तो करते ही थे। अन्य संस्थाओं ने भी विद्यापीठ की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी तैयार करने शुरू किए। आगे चलकर इनमें से ज्ञानलता मण्डल, स्वतन्त्र हिन्दी वर्ग, शारदा हिन्दी वर्ग तथा सरस्वती मण्डल आदि संस्थाओं का भी बहुत सहयोग प्राप्त हुआ। इस वर्ष सीमित क्षेत्रों में प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव ही मनाये गए। उपाधिपत्र-वितरण तथा अधिवेशन के कार्यक्रम स्थगित रखे गए। पंजीयन (रजिस्ट्रेशन) के कार्यों में बहुत ही प्रयत्न किये गए। नई नियमावली पर विचार करने के हेतु विद्यापीठ के प्रचारक अनेक बार वैधानिक सभाओं में परस्पर मिलते रहे। कुछ हेरफेर के साथ इस वर्ष की कार्यकारिणी आगामी दो वर्षों तक और चलती रही। इसी वर्ष की समाप्ति के आस-पास १७ मार्च १९४३ को बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ का रजिस्ट्रेशन, सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट २१, सन् १८६० के अन्तर्गत रजिस्ट्रेशन संस्था १२११ पर हुआ।

१ अप्रैल १९४३ से ३१ मार्च १९४४ तक

१९४३-४४ के वर्ष में १६१३ परीक्षार्थी विद्यापीठ की परीक्षाओं में सम्मिलित हुए। प्रचार-क्षेत्र भी बढ़ा। कच्छ, सोलापुर तथा बेलगाँव में भी अनेक केन्द्र स्थापित हुए। **प्राणलाल देवकरण नानजी** और **मोतीचन्दजी शाह** इन दिनों समयाभाव या अन्य कारणों से कार्यकारिणी समिति से अलग हुए और उनके स्थान पर **श्री रतनचन्द हीराचन्द** और **श्री काशीप्रसादसिंह** कार्यकारिणी समिति में सम्मिलित किये गए। जनवरी १९४४ में पदवीदान समारोह का आयोजन किया गया। **भदन्त आनन्द कौसल्यायन** ने दीक्षान्त-भाषण दिया।

वर्ष-समाप्ति के आसपाप वा० पां० खाडिलकर और अनन्त नाडकर्णी भी विद्यापीठ कार्यकारिणी से अलग हुए, जिनके स्थान पर **मणिशंकर जोशी** और **श्रीमती इन्दिराबाई वायंगणकर** को सम्मिलित किया गया। साथ ही ज़िम्मेदारियों में कुछ हेरफेर हुए, तदनुसार कार्यकारिणी समिति में निम्नलिखित परिवर्तन भी हुआ :

संयुक्त मन्त्री : **मणिशंकर जोशी**

प्रचार-मन्त्री : **हीरजी र० कोटक**

इस वर्ष से **'हिन्दी-प्रचार-प्रत्रिका'** का प्रकाशन करना मान्य किया गया और आगामी कुछ महीनों तक, जब तक कि युद्ध-काल का असर अखबारी कागज़ पर नहीं हुआ, यह पत्रिका नियमित प्रकाशित होती रही।

१ अप्रैल १९४४ से ३१ मार्च १९४५ तक

वर्ष १९४४-४५ में प्रचार-कार्य पूर्ववत् होता रहा। बम्बई शहर के प्रचार-क्षेत्र को उत्तर और दक्षिण विभागों में इससे पूर्व ही बाँट दिया गया था। दोनों विभागों के

कार्यालय और अधिकारी भी अलग-अलग थे। उत्तर-विभाग का कार्यालय दादर में स्थित था। दोनों ही स्थानों पर पुस्तकालय का संचालन होता है।

विद्यापीठ के प्रचारकों के अतिरिक्त अन्य संस्थाएँ भी विद्यापीठ की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी तैयार करती थीं। इनके लिए न तो कोई सीमा निश्चित थी, न किसी प्रकार की शर्तें ही। फिर भी प्रचार-कार्य ज़ोर-शोर से होता रहा। १९४४-४५ में २०४० परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। यह संख्या अब तक की संख्याओं से सर्वाधिक थी। इस वर्ष भी कार्यकारिणी समिति आदि का नया निर्वाचन नहीं हो सका। इससे पूर्व के लोग ही कार्य-संचालन करते रहे। इस वर्ष प्रचार-समितियों ने अपने अलग-अलग प्रमाणपत्र-वितरणोत्सव मनाए। विद्यापीठ का अधिवेशन या उपाधिपत्र-वितरण आयोजित नहीं किया गया। सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि हुई। आजीवन तथा ऊपर की श्रेणियों के अब तक ५० से अधिक सदस्य बन चुके थे। सेवक सदस्य एवं प्रचार-कार्य में सहयोग देने वाले महानुभाव १०० तक पहुँच गए। बम्बई शहर में अब तक ३७ स्थानों पर विद्यापीठ के वर्ग चलने लगे थे। कच्छ, बेलगाँव आदि स्थानों पर भी १६ केन्द्र चल रहे थे।

१ अप्रैल १९४५ से ३१ मार्च १९४६ तक

१९४५-४६ व्यवस्था और वैधानिक दृष्टि से बहुत ही अस्थिर वर्ष रहा, परन्तु इसका असर प्रचार-कार्य पर किंचित् भी नहीं हुआ। उलटे प्रचार की दृष्टि से अब तक के वर्षों में उसे सर्वोत्तम गिना जा सकता है। विद्यापीठ के मन्त्री श्री भानुकुमारजी विद्यापीठ के साथ-साथ साधना-मन्दिर आदि अन्य प्रकाशन-संस्थाओं को भी सँभाल रहे थे। साथ ही, हिन्दी ज्ञान मन्दिर लि० नामक प्रकाशन-संस्था का भार भी उन पर ही था। अतएव सीमित समय, कार्याधिक्य एवं हिन्दी की सभी प्रकार की सेवा को देखते हुए विद्यापीठ को सभी का सहभागी बनना पड़ा। १९४२ के बाद से अब तक साधारण सभा नहीं हो पाई थी। रजिस्ट्रेशन के समय जिस नए विधान को स्वीकृत किया गया था, उसमें भी शीघ्र ही परिवर्तन और परिवर्द्धन की आवश्यकताएँ प्रतीत होने लगीं। प्रचारकगण अपने-अपने सुझाव तैयार करने लगे। प्रचार-कार्य केवल विद्यापीठ के प्रचारकों तक ही सीमित न रहने के कारण, अन्य संस्थाएँ जो विद्यापीठ की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी तैयार करती थीं, वे भी संवैधानिक कठिनाइयों में थीं। आर्थिक स्थिति दृढ़ न होने पर भी, स्थानीय एवं बाहर की समितियों को तथा सहयोगी संस्थाओं को समय-समय पर अनुदान देने पड़ते थे। फिर भी हेर-फेर के साथ जो कार्यकारिणी समिति इस समय कार्यरत थी, वह व्यवस्थित ढंग से विद्यापीठ का संचालन करती रही और यही कारण है कि जहाँ गत वर्ष २०४० परीक्षार्थी ही थे, इस वर्ष विद्यापीठ की परीक्षाओं में ३५८८ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए।

इस वर्ष श्रद्धेय टण्डनजी ने भी बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ में पधारकर अपना आशीर्वाद दिया। 'हिन्दी-प्रचार पत्रिका' इस समय बन्द हो चुकी थी, जिसे पुनः प्रकाशित करने के प्रयत्न चल रहे थे।

इसी वर्ष श्रीमती लीलावती मुन्शी अध्यक्ष-पद से, श्री रामनाथजी पोद्दार उपाध्यक्ष पद से तथा श्री मदनमोहनजी रुइया कार्यकारिणी समिति से अलग हुए। विधान-परिवर्तन का स्वरूप निश्चित होता जा रहा था। इसमें बाहर के अर्थात् बेलगाँव, बेंगलोर, भद्रावती, कच्छ और सोलापुर के प्रतिनिधियों को भी कार्यकारिणी समिति में स्थान देने का आयोजन था। तदनुसार दिसम्बर १९४५ में साधारण सभा का आयोजन किया गया। इसी में भावी योजनाएँ भी स्वीकार की गईं। जनवरी १९४६ में नई कार्यकारिणी समिति का चुनाव हुआ। इसका स्वरूप इस प्रकार बना :

अध्यक्ष : **श्रेयांसप्रसाद जैन**
उपाध्यक्ष : **डॉ० आशानन्द पंचरत्न**
कोषाध्यक्ष : **घनश्यामदास पोद्दार**
संयुक्त मन्त्री : **श्रीमती रखमाबाई तल्लूर**
,, : **भानकुमार जैन**
,, : **हरिशंकर**
साहित्य-मन्त्री : **श्रीमती इन्दिराबाई वायंगणकर**
परीक्षा-मन्त्री : **डॉ० मोतीचन्द्र**
शिक्षा-मन्त्री : **ना० ग० पेंगणकर**
अर्थ-मन्त्री : **ग० वा० तैलंग**

कार्यकारिणी समिति के अन्य सदस्य इस प्रकार थे :

सर्वश्री जी० आर० भटकल, बा० चि० मजुमदार, वि० भै० हर्डीकर, रमेश सिनहा, श्रीधर नायडू, बी० के० भारतीय, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, बा० सी० मुले, बिमलाबाई सर्राफ, धारेश्वरजी, हिन्दकुमारजी, द० गो० शिंत्रे, हीरजी र० कोटक, जयराम स० घोंड।

परन्तु एक-दो मास की अवधि में ही जयराम स० घोंड (गोवा) कार्यकारिणी से अलग हुए और रणछोड़लाल ज्ञानी उनके स्थान पर सम्मिलित किये गए। इस अवधि में श्रेयांसप्रसाद जैन ने भी अध्यक्ष-पद के भार से मुक्ति चाही, तदनुसार रणछोड़लाल ज्ञानी विद्यापीठ के अध्यक्ष नियुक्त हुए। प्राचीन एवं स्थापना-काल से कार्यरत सदस्यों के अतिरिक्त इस कार्यकारिणी में कुछ नये सदस्य भी चुने गए थे। कुछ सदस्य विद्यापीठ का प्रचार-कार्य करने वाली संस्थाओं के थे; जैसे सर्वश्री नागेश पैंगणकर, ना० बा० मुडी, बा० चि० मजुमदार, वि० भै० हर्डीकर आदि। कुछ नये सदस्य विद्यापीठ की स्थानीय प्रचार-समितियों के थे। हरिशंकर, जिनका १९४३ से ही विद्यापीठ से सम्बन्ध था, संयुक्तमन्त्री नियुक्त हुए। अब तक विद्यापीठ का प्रधान-कार्यालय हीराबाग, बम्बई-४ में था, परन्तु स्थान की असुविधा को देखते हुए नये स्थान पर कार्यालय-परिवर्तन की योजनाएँ चल रही थीं। वर्षान्त तक जी० आर० भटकल भी कार्यकारिणी से अलग हो गए और उनके स्थान पर श्री **रा० म० शिराली** सम्मिलित किये गए। अब तक आर्थिक कठिनाइयाँ सहते हुए भी विद्यापीठ की ओर से निःशुल्क अध्यापन-कार्य होता था। परन्तु केन्द्रों के खर्च के लिए कुछ सत्र-शुल्क या प्रवेश-शुल्क विद्यार्थियों से प्राप्त करने का भी इन्हीं दिनों विचार हुआ।

अब तक विद्यापीठ के प्रधान कार्यालय को अपनी सेवाएँ देकर निम्नलिखित व्यक्तियों ने व्यवस्था में बहुत ही सहयोग दिया था :

सर्वश्री राजेन्द्रसिंहजी, गिरिजाशरण उपाध्याय, दालचन्द जैन, भानुकुमार जैन, परिशंकर, राधेश्याम पाण्डे, श्रीमती रख्माबाई तल्लूर, आदि।

प्रचार और उपाधि-परीक्षाओं के अतिरिक्त नागरिक परीक्षाएँ संचालित करने की योजना बनाई गई। अब तक ३० पुस्तकें विद्यापीठ की ओर से प्रकाशित की जा चुकी थीं। ६० से भी अधिक स्थानों पर बम्बई नगर में इन दिनों विद्यापीठ के अध्यापन-केन्द्र चल रहे थे। इसी वर्ष के अंत में जो कार्यकारिणी समिति बनी वह आगामी वर्ष के लिए भी मान्य रही।

१ अप्रैल १९४६ से ३१ मार्च १९४७ तक

१९४६-४७ में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य हुए। विद्यापीठ के स्थापना-काल से अब तक कार्य करने वाली **श्रीमती रख्माबाई तल्लूर इस वर्ष विद्यापीठ से अलग हो गईं**। भानुकुमार जैन की भाँति श्रीमती रख्माबाई तल्लूर का भी विद्यापीठ की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग रहा है। हिन्दी की सेवा आपके जीवन का लक्ष्य रहा है। घर-घर घुमकर प्रचार करना, चन्दा इकट्ठा करना तथा अपनी ज़िम्मेदारियों को भी साथ-साथ निभाते रहना श्रीमती तल्लूर की विशेषता रही है। इनके स्थान पर कार्यकारिणी समिति में डॉ० जोशी सम्मिलित किये गए।

इसी वर्ष विद्यापीठ का प्रधान कार्यालय हीराबाग से गिरगाँव-स्थित महाराजा बिल्डिंग में स्थानांतरित हुआ। कार्यालय में इस समय हरिशंकर को अक्षयकुमार राधेश्याम पाण्डे तथा बालकृष्ण भोंसले सहयोग दे रहे थे। इसी वर्ष एक साइक्लोस्टाइल मशीन भी विद्यापीठ को प्राप्त हुई।

इस वर्ष किसी प्रकार का कोई अधिवेशन सम्पन्न न हो सका। प्रचारकों में अवश्य वृद्धि हुई, विशेषकर उन प्रचारकों की जो हिन्दी-सेवक श्रेणी के सदस्य कहलाते थे। इस समय तक कितनी ही स्वतन्त्र संस्थाएँ और वर्ग विद्यापीठ का प्रचार कर रहे थे। केवल बम्बई नगर में ही विद्यापीठ की परीक्षाओं के लिए विद्यार्थियों को पढ़ाने वाले प्रचारक २२५ के लगभग थे। परिणामस्वरूप परीक्षार्थियों की संख्या भी दुगुनी हो गई। वर्ष १९४६-४७ में ६०१३ परीक्षार्थी विद्यापीठ की परीक्षाओं में सम्मिलित हुए।

'हिन्दी प्रचार पत्रिका,' जो बन्द हो गई थी, इस वर्ष फिर से प्रकाशित होने लगी।

१ अप्रैल १९४७ से ३१ मार्च १९४८ तक

१९४७-४८ कठिनाइयों का और तदुपरान्त विशेष

सफलताओं का वर्ष रहा। १९४७ के कुछ महीनों में बम्बई में कर्फ्यू का बोलबाला रहा, जिससे सामान्य जनजीवन भी अस्तव्यस्त हो गया। इस प्रकार की परिस्थिति में भी कार्य संचालित करते रहना उस समय के कार्यकर्ताओं के उत्साह की झलक है। १९४७-४८ में परीक्षार्थी ६४८६ हो गए। प्रति सत्र ३ हज़ार परीक्षार्थियों का औसत निश्चित ही हो गया।

इसी वर्ष भारत को विदेशी आधिपत्य से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। हिन्दी प्रचार करने वाली संस्थाओं का दायित्व बढ़ गया। १५ अगस्त '४७ के प्रस्ताव में निहित विद्यापीठ कार्यकारिणी के निम्नलिखित संकल्प प्रशंसनीय हैं :

सत्ता हस्तांतरण करने के बाद आज की हमारी नई आवश्यकताओं में भाषा, साहित्य और संस्कृति के स्वराज्य की आवश्यकता महसूस होने लगी है। हिन्दी जन-जन की भाषा है, जो अंग्रेज़ी को पदच्युत कर उसके स्थान पर राष्ट्र-भाषा होगी। हमारी संस्था इस क्षेत्र में वर्षों से काम कर रही है और हमारी-जैसी अन्य संस्थाओं ने भी इस क्षेत्र में काफ़ी काम किया है। ये संस्थाएँ आज देश के पुनर्निर्माण में सरकार को शक्ति-भर पूरा सहयोग दे सकती हैं।

इसी अवसर पर हिन्दी की प्रगति के लिए कुछ सुझाव भी निश्चित किये गए थे जो निम्नलिखित हैं :

(१) हिन्दी से हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ और अंग्रेज़ी शब्दकोष तैयार करना।

(२) राजनीतिक (शासन और नागरिकता-सम्बन्धी), आर्थिक (औद्योगिक) एवं वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली तैयार करना।

(३) बॉम्बे इन्फ़रमेशन को हिन्दी में प्रकाशित करना।

(४) सरकारी और अर्द्धसरकारी संस्थाएँ, जैसे म्युनिसिपैलिटी, रेलवे, पोस्ट आदि के कार्यकर्ताओं को तुरन्त हिन्दी सिखाना आदि।

इसी वर्ष नवीन कार्यकारिणी समिति का भी निर्वाचन हुआ जिसका स्वरूप निम्नलिखित है :

अध्यक्ष	: **रणछोड़लाल ज्ञानी**
उपाध्यक्ष	: **अ० बा० गजेन्द्रगड़कर**
कोषाध्यक्ष	: **घनश्यामदास पोद्दार** (विशेष स्थान)
संयुक्त मन्त्री	: **श्रीमती इन्दिराबाई वायंगणकर**
संयुक्त मन्त्री	: **म० गं० नाबर**
परीक्षा-मन्त्री	: **रा० आ० नाबर**
शिक्षा-मन्त्री	: **नागेश पैंगणकर**
साहित्य-मन्त्री	: **हरिशंकर**
अर्थमन्त्री	: **सुशील कवलेकर**
प्रसार-मन्त्री	: **बा० सी० मुळे**

सांस्कृतिक कार्य-मन्त्री : **श्रीमती विमला सराफ**
डॉ० पी० आचार्य वि० म० मन्त्री : **महेन्द्रनाथ शास्त्री**

कार्यकारिणी समिति के शेष सदस्य इस प्रकार थे :

सर्वश्री के० आर० सामन्त, देविका आरोंदेकर, वि० भै० हर्डीकर, ग० बा० तेलंग, चन्द्रकान्त पैंगणकर, गिरिजा-शरण उपाध्याय, शां० गो० नारकर, गो० कृ० गोडबोले, धारेश्वरजी, वल्लभदास जयराम, बा० चि० मजुमदार, रा० भ० शिराली, वसन्तभरडकर।

परन्तु सुशील कवलेकर अर्थ-मन्त्री के पद से तथा बा० सी० मुळे प्रसार-मन्त्री के पद से एक-दो माह की अवधि में ही अलग हो गए। अतएव **के० आर० सामन्त** अर्थ-मन्त्री और श्री **चन्द्रकान्त पैंगणकर** प्रसार-मन्त्री नियुक्त हुए।

कार्यकारिणी के कार्यभार सँभालने के तीन महीने की अवधि में ही उपाध्यक्ष अ० बा० गजेन्द्रगडकर का देहावसान हो गया तथा ग० म० शिराली भी कार्यकारिणी समिति से अलग हुए। अतएव **रमेश सिनहा** कार्यकारिणी समिति में सम्मिलित किये गए तथा विद्यापीठ के उपाध्यक्ष भी नियुक्त हुए। रा० म० शिराली के स्थान पर **बैजनाथ मोडक** कार्यकारिणी समिति में सम्मिलित किये गए।

आगामी वर्ष इस कार्यकारिणी समिति में और भी परिवर्तन हुए। नये निर्वाचन तक हेर-फेर के साथ यही कार्यकारिणी कार्यरत रही। हरिशंकर को प्रबन्ध-मन्त्री की विशेष ज़िम्मेदारी भी इन दिनों से सँभालनी पड़ी।

जुलाई १९४७ में विद्यापीठ का पदवीदान समारोह मनाया गया। **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** ने दीक्षान्त भाषण दिया।

१ अप्रैल १९४८ से ३१ मार्च १९४९ तक

१९४८-४९ का अधिकांश समय वैधानिक कठिनाइयों में व्यतीत हुआ। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका

है, विद्यापीठ का प्रचार-कार्य सीधे विद्यापीठ के प्रचारकों द्वारा भी होता था और अन्य संस्थाएँ भी विद्यापीठ का प्रचार कर रही थीं। विद्यापीठ की ओर से दो समितियाँ बम्बई नगर में स्थापित थीं : (१) दक्षिण विभाग प्रचार समिति और (२) उत्तर विभाग प्रचार समिति। दोनों के लिए अलग-अलग प्रचार-क्षेत्र निश्चित थे। दक्षिण विभाग में विद्यापीठ की ओर से सीधा प्रचार बहुत ही कम था। इस क्षेत्र में ज्ञानलता मंडल, सरस्वती मंडल, मुले राष्ट्र-भाषा वर्ग, शारदा हिन्दी वर्ग (कुडीजी के) तथा स्वतन्त्र-वर्ग (भा० ग० जोगलेकरजी के) प्रचार करते थे। व्यवस्था के लिए सभी संस्थाओं के एक-एक, दो-दो प्रतिनिधियों ने मिलकर समिति बनाई थी। इसके विपरीत उत्तर-विभाग में अधिकांश कार्य विद्यापीठ के प्रचारकों द्वारा सीधे होता था। इस क्षेत्र में भी उपरोक्त संस्थाओं ने अपने वर्ग खोले। तब उलझनें पैदा हुईं।

विद्यापीठ के समक्ष प्रश्न यह था कि समितियाँ ही प्रचार-कार्य करें, अथवा संस्थाएँ भी, या दोनों मिलकर। कभी समितियों को रद्द कर देने के प्रस्ताव प्राप्त होते, कभी संस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने के। इस विषय पर कानूनी सलाह ली गई और यह निष्कर्ष निकला कि विद्यापीठ का प्रचार-कार्य केवल वे ही प्रचारक कर सकेंगे जो सीधे विद्यापीठ के सदस्य हैं। संस्थाओं को विद्यापीठ में विलीन होकर विद्यापीठ का प्रचार करना होगा। इस कारण कुछ संस्थाएँ विद्यापीठ में विलीन हो गईं और कुछ अलग भी हो गईं।

विद्यापीठ से अलग हो जाने वाली संस्थाओं के प्रचारकों की जिम्मेदारियाँ भी समाप्त हुईं। जो लोग कार्यकारिणी समिति में तथा महत्त्वपूर्ण पदों पर भी थे, इस वर्ष अलग हुए। कार्यकारिणी से निम्नलिखित ८ महानुभाव अलग हुए :

सर्वश्री नागेश पैंगणकर (शिक्षा-मन्त्री), रा० आ० नावर (परीक्षा-मन्त्री), म० गं० नाबर (संयुक्त-मन्त्री), बा० ची० मजुमदार, चन्द्रकान्त पैंगणकर (प्रसार-मन्त्री), द्वि० भै० हर्डीकर, वसन्त भरडकर, श्रीमती देविका आरोंदेकर।

उपरोक्त ८ स्थानों के लिए निम्नलिखित सदस्य सम्मिलित किये गए :

सर्वश्री डॉ० मोतीचन्द्र (परीक्षा-मन्त्री), गिरीश माथुर (सहायक परीक्षा-मन्त्री), संकटाप्रसाद शुक्ल (प्रसार-मन्त्री), कुमार शर्मा (शिक्षा-मन्त्री), बीरबलसिंह रावत, दि० वा० जोगलेकर, ना० दि० कोटस्थाने, और कृष्णा बोरगांवकर।

उपरोक्त सदस्यों में डॉ० मोतीचन्द्रजी का सम्बन्ध तो विद्यापीठ के स्थापना-काल से ही था। शेष सभी सदस्य एक-दो वर्ष की अवधि में ही विद्यापीठ से सम्बन्धित हुए थे।

इससे पूर्व कार्यकारिणी के सदस्य धारेश्वरजी का देहावसान हो चुका था और उनके स्थान पर एच० वि० रामस्वामी सम्मिलित किये गए थे।

इस वर्ष किसी प्रकार का अधिवेशन अथवा दीक्षान्त-भाषण आदि का आयोजन नहीं किया गया। अलग-अलग समितियों एवं वर्गों ने अपने-अपने प्रमाण-पत्र-समारोह मनाए।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि कुछ संस्थाएँ विद्यापीठ के प्रचार-कार्य से अलग हो गईं, तदनुसार परीक्षाओं की संख्या पर भी इसका असर पड़ा।

इससे पूर्व प्रतिसत्र ३००० परीक्षार्थियों की औसत होकर वर्ष में ६ हज़ार तक परीक्षार्थी सम्मिलित हुआ करते थे। १९४८-४९ के प्रथम सत्र में ४११२ परीक्षार्थी थे, परन्तु द्वितीय सत्र में १५५४ ही रह गए। इस प्रकार इस वर्ष परीक्षार्थियों की संख्या ५,६६६ हुई। परन्तु इस समय बम्बई नगर का सम्पूर्ण प्रचार-कार्य समितियों के अन्तर्गत आ गया था, अतः पुनः शक्ति बढ़ाने के प्रयत्न होने लगे। मासिक पत्रिका-प्रकाशन का कार्य विचाराधीन हुआ, जो आगामी वर्ष में सफलीभूत बना। प्रिंटिंग प्रेस खरीदने पर भी विचार-विनिमय होने लगा। हिन्दी टाइपराइटर मशीन खरीदी गई। इससे पूर्व के वर्ष में ही बम्बई सरकार द्वारा विद्यापीठ को ग्राण्ट मिली थी। ५ और नई पुस्तकें प्रकाशित की गईं। नगर और उपनगर में इस समय तक ६५ से भी अधिक अध्ययन-केन्द्र चलने लगे थे। बम्बई से बाहर ३५ स्थानों पर भी परीक्षा-केन्द्र जारी थे।

१ अप्रैल १९४९ से ३१ मार्च १९५० तक

गत वर्ष की कार्यकारिणी समिति ही इस वर्ष कार्य करती रही। इस वर्ष वा० सी० मुले कार्यकारिणी समिति से अलग हुए, उनके स्थान पर **द० र० केलकर** सम्मिलित किये गए।

प्रचार-कार्य पर गत वर्ष ही प्रभाव पड़ा था। परन्तु प्रचारकों का संगठन दृढ़ हुआ। बम्बई नगर में दक्षिण-विभाग प्रचार-समिति और उत्तर-विभाग प्रचार-समिति ने ज़ोर-शोर से प्रचार-कार्य शुरू किया। दक्षिण-विभाग में सर्वश्री हरिशंकर, गिरीश माथुर, कुमार शर्मा, राधेश्याम पाण्डे, बालकृष्ण भोसले, बीरबलसिंह रावत, गं० श० शिरसाट, राम तेलंग, श्री वी० हर्षे, त्रिं० ज० गोंधलेकर, ना० ह० मन्त्री, द० शि० धुरी, रामचन्द्र पवार, मगनलाल मिस्त्री, चन्द्रकान्तराव तथा भा० वि० राजपुरकर आदि प्रचारक-गण फिर से विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाने के प्रयत्न में कार्यरत हुए। श्रीमती इन्दिराबाई वायंगणकर तथा अन्य पदाधिकारियों का भी पूर्णरूपेण सहयोग प्रचार-कार्य में प्राप्त हुआ। वर्ष के अन्त तक दक्षिण विभाग प्रचार-समिति की ओर से नगर के दक्षिण भाग में २७ केन्द्र प्रारम्भ हो गए। उत्तर विभाग में देवीदास तेलंग, रामजीत तिवारी, और द० र० केलकर, या० वि० जोशी आदि प्रचारकों ने प्रचार-कार्य को बढ़ाया, जिन्हें डॉ० त्र्य० रा० नरवणे और ग० बा० तेलंग आदि महानुभावों का पूर्णरूपेण सहयोग प्राप्त हुआ।

परीक्षार्थियों की संख्या, जो गत सत्र में १५०० ही रह गई थी, अब प्रति सत्र २००० से ऊपर होने लगी। इस वर्ष की दोनों सत्रों में ४३८२ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। प्रचार-क्षेत्र भी बढ़ा। गुजरात में प्रचार-कार्य की योजना स्वीकृत हुई।

इसी वर्ष ८ नवम्बर, '४९ को पदवीदान समारोह का आयोजन किया गया। **श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दीक्षान्त-भाषण दिया।**

जनवरी १९५० से हिन्दी-प्रचार-पत्रिका फिर से आरम्भ की गई। इसका नाम **'भारती मासिक'** रखा गया।

इन्हीं दिनों प्रेस खरीदने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श होने लगा और १९४९ के अन्त में **शुक्ल प्रिंटिंग प्रेस** ख़रीद लिया गया।

विद्यापीठ की आर्थिक स्थिति इतनी दृढ़ नहीं थी। ध्रुवकोश में कुछ रकम अवश्य जमा थी, उसी से प्रेस की आधी रकम चुका दी गई। शेष धीरे-धीरे भविष्य में चुकाते रहे।

१ अप्रैल १९५० से ३१ मार्च १९५१ तक

१९५०-५१ में प्रचार-कार्य पूर्ववत् होता रहा। परीक्षार्थियों की संख्या ४७२३ तक पहुँच गई। प्रचार-समितियों की संख्या भी ७ से बढ़ाकर ९ कर दी गई। इसी वर्ष विद्यापीठ की 'हिन्दी भाषारत्न' परीक्षा सरकारी नौकरी के लिए मान्य की गई। परन्तु निकट भविष्य में ही 'पोतदार समिति' की रिपोर्ट प्रकाशित होने के कारण यह सुविधा अन्य समितियों के साथ समाप्त हो गई। इसी वर्ष विद्यापीठ को टेलिफोन भी प्राप्त हुआ। स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी के सुपुत्र **हरिशंकर विद्यार्थी** ने इस वर्ष विद्यापीठ को भेंट दी।

सामान्य रीति से कार्य चलते रहने पर भी यह वर्ष आन्तरिक कठिनाइयों का वर्ष रहा। शुक्ल प्रिंटिंग प्रेस खरीद लिये जाने पर विद्यापीठ प्रधान कार्यालय का स्थानान्तरण भी हो गया। गिरगाँव से यह कार्यालय सिक्कानगर में स्थापित हुआ। गिरगाँव की जगह प्रधान मन्त्री हरिशंकर के अधिकार में रही। इन्हीं दिनों विद्यापीठ के शिक्षा-मन्त्री कुमार शर्मा और एक केन्द्र-संचालक कृष्णा बोरगाँवकर के बीच कुछ अशिष्ट घटना हो गई, जिसका परिणाम प्रचारकों और केन्द्र पर भी पड़ा। दिसम्बर '५० में कुमार शर्मा का विद्यापीठ से सम्बन्ध-विच्छेद स्वीकृत हुआ। साथ ही २५ से अधिक प्रचारक भी विद्यापीठ से अलग हो गएं। इस आन्तरिक संघर्ष का सामना करते हुए भी प्रचार-कार्य को आगे बढ़ाया गया। इस वर्ष कार्यकारिणी समिति का भी नया चुनाव किया गया।

नई निर्वाचित कार्यकारिणी समिति का स्वरूप निम्नलिखित हुआ :

अध्यक्ष : **रणछोड़लाल ज्ञानी**
उपाध्यक्ष : **सत्येन्द्रप्रसाद मिश्र**
कोषाध्यक्ष : **घनश्यामदास पोद्दार**

मन्त्री : हरिशंकर
परीक्षा-मन्त्री : **मोतीचन्द्र**
शिक्षा-मन्त्री : **त्रि० ज० गोंधलेकर**
साहित्य-मन्त्री : **बीरबलसिंह रावत**
अर्थ-मन्त्री : **ना० ह० मन्त्री**
प्रसार-मन्त्री : **का० रा० पालवणकर**
सांस्कृतिक मन्त्री : **गं० स० शिरसाट**

कार्यकारिणी समिति के शेष सदस्य इस प्रकार थे : सर्वश्री राधाकृष्ण खेतान, सुशील कवलेकर, इन्दिराबाई वायंगणकर, गुणवन्त सावन्त, य० स० सुखठणकर, शां० गो० नारकर, गिरीश माथुर, मोहना नाईक, देवीदास तेलंग, द० र० केलकर, गो० कृ० गोडबोले, एम० एन० नाडगौड, एन० डी० नाईक, मल्लेला वेंकटेश्वर्लु और नटवरलाल त्रिवेदी।

कुछ ही समय बाद इन्दिराबाई वायंगणकर कार्यकारिणी समिति से अलग हुई, उनके स्थान पर **ठा० राजबहादुरसिंह** सम्मिलित किये गए।

गत दो-तीन वर्षों से भानुकुमार जैन विद्यापीठ की गतिविधियों में अधिक भाग नहीं ले रहे थे। इस वर्ष उन्होंने सारी स्थिति का निरीक्षण किया, परन्तु कुछ समय बाद वे मध्यप्रदेश चले गए।

यही कार्यकारिणी समिति आगामी वर्षों में भी कार्यरत रही।

१ अप्रैल १९५१ से ३१ मार्च १९५२ तक

१९५१-५२ में डॉ० मोतीचन्द्र परीक्षा-मन्त्री-पद से अलग हुए। उनके स्थान पर ठा० राजबहादुरसिंह परीक्षा-मन्त्री बने।

प्रचार-कार्य में वृद्धि होने लगी। इस वर्ष विद्यापीठ की परीक्षाओं में ५,६४७ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। नवम्बर, '५१ में पदवी-दान समारोह मनाया गया, जिसमें न्यायमूर्ति भगवती ने दीक्षान्त-भाषण दिया। इस वर्ष से 'साहित्य-सुधाकर' परीक्षा को नियमित चलाने का कार्य प्रारम्भ किया गया।

विद्यापीठ में इस वर्ष **आचार्य चतुरसेन शास्त्री, जयचन्द्र विद्यालंकार** तथा **पं० सीताराम चतुर्वेदी** पधारे। जयचन्द्र विद्यालंकार के सभापतित्व में आयोजित 'विचार-गोष्ठी' बहुत ही सफल रही।

अप्रैल १९५१ में भवननिधि के सहायतार्थ बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। 'यशोधरा' को नृत्य-नाटिका का रूप दिया गया। इस कार्य में **पार्वतीकुमार** और **हेमन्त केदार** ने क्रमशः नृत्य और संगीत का निर्देशन किया। कलाकारों में चन्द्रकान्त हडकर, हरीश पितळे तथा कु० मंगला पितळे ने बहुत ही सहयोग दिया। इसी कार्यक्रम के साथ 'पुरस्कार' एकांकी भी प्रदर्शित किया गया, जो **डी० एन० देवेश** और **गं० स० शिरसाट** के सहयोग द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इस कार्यक्रम के साथ ही 'कामायनी' महाकाव्य को 'मूकनाटिका' के रूप में प्रस्तुत किया गया, जो गं० स० शिरसाट और गिरीश माथुर के सहयोग से प्रदर्शित हुआ। इस वर्ष से प्रचार-समितियों के अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रचार-कार्य करने वाले केन्द्रों के लिए नये नियम स्वीकृत किये गए, जिससे प्रचार-कार्य में बहुत ही वृद्धि हुई।

वर्ष के अन्त में एक कठिनाई अवश्य ही उपस्थित हुई। शुक्ल प्रिंटिंग प्रेस खरीदते समय विद्यापीठ प्रधान-कार्यालय भी सिक्कानगर में स्थानान्तरित कर दिया गया था, परन्तु इन दिनों वह जगह छोड़ देने के लिए विद्यापीठ को विवश होना पड़ा। एक-दो माह की अस्थायी व्यवस्था के बाद आगामी वर्ष **'आनन्दनगर', फारजेट स्ट्रीट, बम्बई-२६** में विद्यापीठ के प्रधान-कार्यालय और प्रेस के लिए जगह उपलब्ध हो सकी।

१ अप्रैल १९५२ से ३१ मार्च १९५३ तक

१९५२-५३ में गुजरात क्षेत्र में ठोस प्रचार-कार्य की नींव पड़ी। विद्यापीठ की ओर से वहाँ शाखा कार्यालय के रूप में अहमदाबाद में जगह प्राप्त की गई। **नटवरलाल त्रिवेदी** और उनके सहयोगी **श्री भगवत प्रसाद भट्ट, श्रीमती कुसुमकान्ता त्रिवेदी** तथा **श्री गौरीशंकर जोशी** प्रचार-कार्य में महत्त्वपूर्ण योजनाएँ कार्यान्वित करते रहे। इस वर्ष परीक्षार्थियों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। १९५२-५३ में कुल ६,१३७ परीक्षार्थी परीक्षा में सम्मिलित हुए। अब १९४८-४९ के प्रचार-कार्य की सामान्य स्थिति पर

विद्यापीठ पहुँच गई थी । ८० से अधिक केन्द्रों पर परीक्षा-व्यवस्था होने लगी ।

प्रधान कार्यालय वर्ष के प्रारम्भ में ही आनन्द नगर, बम्बई-२६ में स्थित हो गया था । इन्हीं दिनों उस समय के **महापौर गणपति शंकर देसाई** के सभापतित्व में एक आयोजन किया गया और शुक्ल प्रिंटिंग प्रेस का नाम बदलकर **'विद्यापीठ प्रेस'** रखा गया । अब तक विद्यापीठ की ओर से ३३ पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी थीं । इन दिनों 'भारती' मासिक का स्वरूप भी बदला और अपने परिवार में वह एक महत्त्व की पत्रिका मानी जाने लगी ।

विद्यापीठ के अध्यक्ष रणछोड़लाल ज्ञानी इस समय **५०** वर्ष के हो गए थे । विद्यापीठ की ओर से **'ज्ञानी सत्कार समारोह'** मनाया गया तथा तीन हज़ार रुपये की थैली ज्ञानीजी को भेंट की गई । 'भारती' मासिक का इस अवसर पर 'ज्ञानी-अभिनन्दन-अंक' प्रकाशित किया गया ।

सितम्बर '५२ में राष्ट्रकवि **मैथिलीशरण गुप्त** बम्बई पधारे । उनके सम्मान में यशोधरा नृत्य-नाटिका का फिर से प्रदर्शन किया गया । इस कार्य में **श्री वृजानन्द वर्मा** एवं अन्य महानुभावों ने भी सहयोग दिया ।

अक्तूबर '५२ में विद्यापीठ का पदवीदान समारोह मनाया गया । **माननीय मंगलदास पकवासा** का दीक्षान्त भाषण पढ़ा गया ।

इस वर्ष विद्यापीठ के विधान का हिन्दी-रूपान्तर तैयार कर लिया गया, जो आगामी वर्ष के प्रारम्भ में ही स्वीकृत भी हुआ ।

वर्षान्त में **कविवर नवीनजी** का विद्यापीठ की ओर से सत्कार किया गया ।

१ अप्रैल १९५३ से ३१ मार्च १९५४ तक

१९५३-५४ के प्रारम्भ में नया विधान स्वीकृत हुआ । इसके अनुसार पदाधिकारियों और मन्त्रियों के पदों में परिवर्तन हुआ । कार्यकारिणी का स्वरूप निम्नलिखित स्वीकृत हुआ :

कुलपति	: **रणछोड़लाल ज्ञानी**
उपकुलपति	: **सत्येन्द्र मिश्र**
कोषाध्यक्ष	: **घनश्यामदास पोद्दार**
परीक्षाध्यक्ष	: **ठा० राजबहादुरसिंह**
प्रधान मन्त्री	: **हरिशंकर**
परीक्षा-मन्त्री	: **गिरीश माथुर**
शिक्षा-मन्त्री	: **त्रि० ज० गोंधलेकर**
प्रसार-मन्त्री	: **का० रा० पालवणकर**
प्रकाशन-मन्त्री	: **बीरबलसिंह रावत**
अर्थ-मन्त्री	: **ना० ह० मन्त्री**
सांस्कृतिक मन्त्री	: **गं० स० शिरसाट**

शेष सदस्य उसी प्रकार रहे, जैसे ऊपर १९५०-५१ वर्ष के विवरण में दिया गया है ।

इस वर्ष ही दक्षिण विभाग प्रचार समिति और उत्तर विभाग प्रचार समिति समाप्त कर दी गई । उनके स्थान पर नगर प्रचार-समिति और उपनगर प्रचार-समिति की स्थापना हुई । इनके प्रथम संयोजक क्रमशः **ना० ह० मन्त्री** और **द० र० केलकर** नियुक्त हुए ।

दक्षिण विभाग में इन दिनों हरिशंकर, गिरीश माथुर, राधेश्याम पाण्डेय, बीरबलसिंह रावत, गं० स० शिरसाट, रमाशंकर मिश्र, सो० य० भोगले, बालकृष्ण भोसले, राधामोहन मिश्र, परशुरामसिंह, सुधाकर सामन्त, अष्टमकर बहनें, गुणवन्त सावन्त, मोहनसिंह, कमलाबाई शिन्त्रे, ज्ञानी बन्धु, य० स० सुखठणकर, तु० गायकवाड, ना० ह० मन्त्री, चिं० रा० फणशीकर, ना० ग० अवतरे, प्रभाशंकर तरैया, गट्टुभाई देसाई, प्रभाकर पण्डित, इन्दुमति म्हात्रे, ग० दा० परूलेकर, कालिदास पाथरकर, त्रि० ज० गोंधलेकर, शकुन्तला खलगांवकर, मगनलाल मिस्त्री, फातमा मजीद, सकीना उस्मान, अफरोज कुरेशी, पां० भि० फडके, विमल पाताडे, जेरुषा मेन्द्रेकर आदि १०० से अधिक प्रचारक-गण कार्यरत थे । सभी ने नगर और उपनगर की व्यवस्था को स्वीकार किया, परन्तु उत्तर विभाग के कार्यकर्ताओं ने, जिनमें प्रमुख अनन्त नामजोशी, जयकर, देविदास तेलंग, राम गर्दे, टी० श्री० भगत, जनक कोली, दीनानाथ टाकलकर, या० वि० जोशी, मधुसूदन शर्मा, परशुराम माचे, कारेकर, सिरसीकर, वि० म० चांदोरकर, मु० वि० तरटे; तथा रामजीत तिवारी आदि थे, इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया । तदनुसार अगस्त '५३

में साधारण सभा का आयोजन हुआ और नई व्यवस्था मान्य की गई। इसी अवसर पर दादर-स्थित विद्यापीठ का कार्यालय भी बन्द कर दिया गया। इन दिनों **देविदास तेलंग** विद्यापीठ से अलग हुए।

१९५० में कुमार शर्मा का विद्यापीठ से सम्बन्ध-विच्छेद हुआ था, परन्तु इस वर्ष से वे फिर विद्यापीठ के सदस्य मान्य हुए।

पोतदार समिति की रिपोर्ट के आधार पर परीक्षाओं पर जो असर पड़ा था, वह अब तक समाप्त हो चुका था। बम्बई सरकार ने इस सम्बन्ध में नई व्यवस्था कर ली थी। फिर भी प्रचार-कार्य में अधिक वृद्धि नहीं हुई। इस वर्ष ५७७१ परीक्षार्थी विद्यापीठ की परीक्षाओं में सम्मिलित हुए। 'साहित्य रत्नाकर' नामक उच्च मानदण्ड की परीक्षाओं का संचालन भी विद्यापीठ की ओर से इस वर्ष प्रारम्भ किया गया।

आर्थिक दृष्टि से यह वर्ष बहुत ही संकटपूर्ण रहा। प्रेस का ऋण अब तक सम्पूर्ण नहीं चुकाया गया था, उसके सम्बन्ध में प्रयत्न शुरू किये गए। कुछ महीनों तक १९५३ में 'भारती' मासिक भी स्थगित हो गई थी, जो १९५४ से फिर प्रारम्भ की गई।

इस वर्ष विद्यापीठ के प्रधान कार्यालय में **श्रीमती महादेवी वर्मा** तथा **रामनरेश त्रिपाठी** पधारे, जिनका स्वागत-समारोह बहुत ही सफल रहा।

फरवरी '५४ में पदवीदान समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर बम्बई राज्य के शिक्षा-मन्त्री **माननीय दिनकरराव देसाई** ने दीक्षान्त भाषण दिया।

१ अप्रैल १९५४ से ३१ मार्च १९५५ तक

१९५४-५५ के प्रारम्भ में ही विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति का नया निर्वाचन हुआ। तदनुसार निम्नलिखित रूप में पदाधिकारी व सदस्य निर्धारित हुए :

कुलपति : **रछोड़लाल ज्ञानी**
उपकुलपति : **द० र० केलकर**
कोषाध्यक्ष : **घनश्यामदास पोद्दार**
परीक्षाध्यक्ष : **ठा० राजबहादुरसिंह**
प्रधान मन्त्री : **बीरबलसिंह रावत**
सहायक मन्त्री : **कुमार शर्मा**
अर्थ-मन्त्री : **ना० ह० मन्त्री**
परीक्षा-मन्त्री : **गिरीश माथुर**
शिक्षा-मन्त्री : **चिं० रा० फणशीकर**
प्रसार-मन्त्री : **शां० गो० बणवे**
प्रकाशन-मन्त्री : **द० शि० धुरी**
सांस्कृतिक मन्त्री : **अच्युत शं० देवस्थली**

कार्यकारिणी समिति के अन्य सदस्य निम्नलिखित थे : सर्वश्री का० रा० पालवणकर, त्रिं० ज० गोंधलेकर, राधाकृष्ण खेतान, सुशील कवलेकर, गुणवन्त सावन्त, का० स० तेंडुलकर, टी० श्री० भगत, विमल जोशी, देवीप्रसाद खण्डेलवाल, नटवरलाल त्रिवेदी, मल्लेला वेंकटेश्वर्य, रतनलालजी और ताराचन्द सौगानी।

परन्तु दिसम्बर १९५४ में विद्यापीठ के कुलपति श्री रणछोड़लाल ज्ञानी का देहावसान हो गया। ज्ञानीजी विद्यापीठ के स्थापना-काल से निरन्तर विद्यापीठ के साथ रहे हुए लोगों में से थे। कार्यकारिणी समिति में जो परिवर्तन इस परिस्थिति में किया गया वह इस प्रकार रहा :

कुलपति : **ठा० राजबहादुरसिंह**
परीक्षाध्यक्ष : **त्रिं० ज० गोंधलेकर**
कार्यकारिणी में सम्मिलित : **भगवतप्रसाद भट्ट**

इस वर्ष के प्रारम्भ में ही **हरिशंकर** और **राधेश्याम पाण्डेय** विद्यापीठ की गतिविधियों से अलग हुए। दोनों ने विगत दशक में विद्यापीठ की उन्नति के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे। अपनी ज़िम्मेदारियों के अतिरिक्त हरिशंकर विद्यापीठ प्रधान-कार्यालय की तथा राधेश्याम पाण्डेय विद्यापीठ-प्रेस की व्यवस्था भी सँभालते थे। इन दिनों में पहले दिये गए विवरण के उपरान्त राधेश्याम पाण्डेय, बालकृष्ण भोंसले और गिरीश माथुर विद्यापीठ प्रधान-कार्यालय में हरिशंकर के सहयोगी थे। वर्ष के अन्त तक कुमार शर्मा भी कार्यकारिणी समिति से अलग हो गए।

इस वर्ष किसी प्रकार के सम्मेलन या पदवीदान-समारोह का आयोजन नहीं किया गया।

प्रचार-कार्य पूर्ववत् चलता रहा। बम्बई नगर से बाहर परीक्षा केन्द्रों में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। वर्ष १९५४-

५५ में कुल ६५४९ परीक्षार्थी विद्यापीठ की परीक्षाओं में सम्मिलित हुए ।

१ अप्रैल १९५५ से ३१ मार्च १९५६ तक

१९५५-५६ में कु० विमल, जो अब सौ० सुहासिनी अभ्यंकर हो गई थीं, कार्यकारिणी समिति से अलग हुईं, उनके स्थान पर शालिनी प्रधान सम्मिलित की गईं ।

इस वर्ष प्रचार-कार्य में महत्त्वपूर्ण गति परिलक्षित हुई । अब तक किसी भी वर्ष में परीक्षार्थियों की संख्या ७ हज़ार तक नहीं पहुँची थी । इस वर्ष विद्यापीठ की परीक्षाओं में ११,५८७ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए । तदनुसार १७० से भी अधिक स्थानों पर परीक्षा-व्यवस्था की गई ।

इस वर्ष विद्यापीठ का पदवीदान समारोह जून १९५५ में मनाया गया । **मान० डॉ० हरेकृष्ण मेहताब,** राज्यपाल, बम्बई सरकार, ने दीक्षान्त भाषण दिया । यह समारोह पूर्ण-रूपेण सफल रहा । इस अवसर पर 'रामचन्द्रिका' नामक नृत्य-नाटिका का प्रदर्शन विद्यापीठ की ओर से आयोजित किया गया था ।

इस वर्ष विद्यापीठ के पदाधिकारी और मन्त्री गुजरात क्षेत्र के दौरे पर गये । प्रत्येक जिले में पहुँचकर वहाँ के अधिकारियों से सम्पर्क स्थापित किया । अर्थमन्त्री ना० ह० मन्त्री के साथ बालकृष्ण भोंसले ने गुजरात क्षेत्र का दौरा किया तथा प्रधान मन्त्री बीरबलसिंह रावत के साथ ओमनारायण तोमर ने सौराष्ट्र क्षेत्र का दौरा किया । यह अवसर बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा । गुजरात क्षेत्र में विद्यापीठ के प्रचार की नींव इसी समय से दृढ़ हुई ।

'भारती' मासिक का स्वरूप फिर से नियमित हुआ । इससे पूर्व 'भारती' को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया गया था; परन्तु अब इसे परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी बनाने पर ध्यान दिया गया ।

१ अप्रैल १९५६ से मार्च १९५७ तक

१९५६-५७ में विद्यापीठ का प्रचार-क्षेत्र बढ़ा । २०० से ऊपर परीक्षा-केन्द्र स्थापित हो गए । परीक्षार्थियों की संख्या इस वर्ष १९,५३२ तक पहुँच गई । गुजरात क्षेत्र के अतिरिक्त राजस्थान में भी विद्यापीठ की परीक्षाओं के केन्द्र स्थापित हो गए थे, परन्तु महाराष्ट्र में अभी भी प्रचार-कार्य के लिए क्षेत्र पड़ा हुआ था । अतः इस ओर भी अधिक ध्यान दिया गया ।

जुलाई १९५६ में **डॉ० बा० वि० केसकर,** केन्द्रीय सूचना और प्रसारण मन्त्री के हस्ते उपाधि-पत्र बाँटे गए । डॉ० केसकर ने ही दीक्षांत भाषण दिया । यह समारोह भी पूर्णरूपेण सफल रहा ।

इस वर्ष के प्रारम्भ में ही कार्यकारिणी समिति का नया निर्वाचन हुआ । तदनुसार निम्नलिखित रूप निर्धारित हुआ :

कुलपति	: **ठा० राजबहादुरसिंह**
उपकुलपति	: **अच्युत शं० देवस्थली**
कोषाध्यक्ष	: **घनश्यामदास पोद्दार**
परीक्षाध्यक्ष	: **डॉ० मोतीचन्द्र**
प्रधान मन्त्री	: **बीरबलसिंह रावत**
अर्थ-मन्त्री	: **ना० ह० मन्त्री**
परीक्षा-मन्त्री	: **गिरीश माथुर**
शिक्षा-मन्त्री	: **जगदम्बाप्रसाद शास्त्री**
प्रकाशन-मन्त्री	: **द० शि० धुरी**
सांस्कृतिक मन्त्री	: **चिन्तामण फणशीकर**
प्रसार-मन्त्री	: **भगवत प्रसाद भट्ट**

कार्यकारिणी समिति के अन्य सदस्य—सर्वश्री सुशील कवळेकर, डॉ० मो० दि० पराड़कर, बालकृष्ण भोसले, जेरुपा मेन्द्रेकर, यशवन्त सुखठणकर, द० र० केलकर, मगनलाल मिस्त्री, रामकृष्ण बजाज, कृ० वि० पेठे, नागेश अवसरे, सुशील ज्ञानी, नटवरलाल त्रिवेदी और रतनलाल टोंगरा थे ।

परन्तु वर्ष के मध्य यह प्रतीत हुआ कि विद्यापीठ में १ के बदले २ उपकुलपति होने चाहिए, अतः निम्नलिखित रूप में नियुक्ति हुई :

उपकुलपति—(१) अच्युतशंकर देवस्थली
(२) नटवरलाल त्रिवेदी

'भारती' मासिक का स्वरूप भी स्थिर रखा गया । साथ ही इसमें स्थानीय विद्वानों का सहयोग भी प्राप्त हुआ । प्रचार-कार्य अपने पूरे वेग से जारी था । नये-नये स्थानों में विद्यापीठ के केन्द्र स्थापित हो रहे थे ।

विद्यापीठ की आर्थिक स्थिति में भी शनैः-शनैः सुधार होने लगा। प्रेस को स्वयं पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया।

इसी वर्ष से वर्तमान कार्यालय के स्थान को निजी बना लेने का (ऑनरशिप बेसिस पर खरीद लेने का) विचार भी किया गया, जो आगामी वर्ष में पूर्ण हुआ।

१ अप्रैल १९५७ से ३१ मार्च १९५८ तक

१९५७-५८ प्रचार-कार्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व-पूर्ण वर्ष रहा है। परीक्षा-केन्द्रों की संख्या ४०० तक पहुँच गई थी। इस वर्ष विद्यापीठ की परीक्षाओं में २६,२१८ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। विशेष प्रचार-कार्य गुजरात क्षेत्र में हुआ। गुजरात हिन्दी प्रचार समिति द्वारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया। गुजरात और सौराष्ट्र के प्रत्येक जिले में विद्यापीठ के परीक्षा-केन्द्र स्थापित हुए। समय-समय पर प्रत्येक जिले में 'जिला प्रचारक सम्मेलनों' का भी आयोजन इस वर्ष किया गया।

इससे पूर्व बम्बई सरकार तथा बम्बई नगरपालिका द्वारा विद्यापीठ को ग्रान्ट मिली थी। विद्यापीठ की 'साहित्य-सुधाकर' परीक्षा को बम्बई सरकार ने मान्यता प्रदान की।

इस वर्ष का पदवीदान समारोह बम्बई के राज्यपाल **श्री श्रीप्रकाशजी** की अध्यक्षता में निश्चित किया गया था, परन्तु अस्वस्थता के कारण वे न आ सके, अतः बम्बई सरकार के ग्रामविकास और मद्यनिषेध मन्त्री **रतुभाई अडानी** द्वारा दीक्षान्त भाषण दिया गया एवं उपाधिपत्र वितरित किये गए।

विद्यापीठ प्रधान-कार्यालय में बाळकृष्ण भोसले, गिरीश माथुर तथा कु० इन्दुमति म्हात्रे कार्यरत रहे। वर्ष के अन्त में प्रधान मन्त्री बीरबलसिंह रावत ने भी इस कार्य में सहयोग देना प्रारम्भ किया।

इसी वर्ष विद्यापीठ के प्रधान कार्यालय की आनन्दनगर स्थित जगह ऑनरशिप बेसिस पर खरीद लेने का कार्य भी सम्पन्न हुआ।

'भारती' मासिक पत्रिका भी सुव्यवस्थित रूप से नियमित प्रकाशित होती रही। स्थानीय प्राध्यापक वर्ग का सहयोग भी मिला। डॉ० **रामरतनसिंह 'भ्रमर'** तथा **डॉ० मो० दि० पराडकर** ने इस कार्य में सक्रिय भाग लिया।

परन्तु वर्षान्त तक गुजरात हिन्दी प्रचार समिति के कार्य में गतिरोध पैदा हो गया। विद्यापीठ के लिए गुज-रात में प्रचार-कार्य करने वाले प्रचारकों ने अपना अलग संगठन स्थापित किया और भारतीय हिन्दी विद्यापीठ के नाम से अलग प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। इससे थोड़ा-सा असर प्रचार-कार्य पर अवश्य ही परिलक्षित हुआ। महाराष्ट्र क्षेत्र में भी विद्यापीठ का प्रचार प्राथ-मिक रूप में दृढ़ हो गया।

१ अप्रैल १९५८ से ३१ मार्च १९५९ तक

१९५८-५९ का वर्ष गुजरात क्षेत्र के डावाँडोल प्रचार की स्थिति में आरम्भ हुआ, परन्तु शीघ्र ही सारी परि-स्थिति सँभाल ली गई। सम्पूर्ण गुजरात के परीक्षा-केन्द्रों से विद्यापीठ द्वारा सीधा सम्पर्क स्थापित किया गया। केन्द्रों को जो सुविधा गुजरात समिति द्वारा प्राप्त थी, उससे भी अधिक प्रधान कार्यालय द्वारा दी जाने लगी। प्रत्येक केन्द्र को आर्थिक व्यवस्था में स्वतन्त्र एवं स्वीकृत नियमों के अन्तर्गत रखा गया। प्रथम सत्र में परीक्षार्थियों की संख्या अवश्य घटी, परन्तु द्वितीय सत्र में तो सर्वाधिक परीक्षार्थी उपलब्ध हुए। वर्ष १९५८-५९ में विद्यापीठ की परीक्षाओं में २७,८४३ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए।

इस वर्ष कार्यकारिणी समिति का भी नया निर्वाचन हुआ। विद्यापीठ के कुलपति **ठा० राजबहादुरसिंह** दिल्ली चले गए और 'गांधीमार्ग' नामक त्रैमासिक पत्रिका से सम्बद्ध हो गए थे। नई कार्यकारिणी समिति का निम्न-लिखित रूप में संगठन हुआ—

कुलपति	:	**सुशील कवलेकर**
उपकुलपति	:	**अच्युत शं० देवस्थली**
कोषाध्यक्ष	:	**वाइ० एस० प्रभु**
परीक्षाध्यक्ष	:	**डॉ० मो० दि० पराड़कर**
प्रधान मन्त्री	:	**श्री चिन्तामण फणशीकर**
अर्थ-मन्त्री	:	**,, द० शि० धुरी**
परीक्षा-मन्त्री	:	**,, गिरीश माथुर**

शिक्षा-मन्त्री	:	**श्री मगनलाल मिस्त्री**
प्रसार-मन्त्री	:	**,, बालकृष्ण भोसले**
प्रकाशन-मन्त्री	:	**,, ग० र० प्रभुतेंडोलकर**
सांस्कृतिक मन्त्री	:	**,, कालिदास पाथरकर**

सर्वश्री यशवन्त पाताडे, रा० भा० कुलकर्णी, यशवन्त सुखठणकर, विष्णु ना० पोरे, पांडुरंग फडके, सुलभा बापट, वीरबलसिंह रावत, शां० गो० नारकर, तु० ता० सावन्त, द० र० केलकर, ना० ह० मन्त्री।

इस वर्ष **बड़ौदा** ज़िले में एक **प्रचारक सम्मेलन** का आयोजन विद्यापीठ की ओर से किया गया, जिसमें बम्बई के भी बहुत-से प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यह सम्मेलन पूर्णरूपेण सफल रहा।

कुछ वर्ष पहले उत्तर विभाग प्रचार समिति समाप्त हो जाने पर वहाँ का पुस्तकालय विद्यापीठ ने अपने अधीन कर लिया था। इस वर्ष से नगर प्रचार समिति का पुस्तकालय भी अपने अधीन करके स्वयं प्रधान कार्यालय द्वारा संचालित करना शुरू किया।

अक्तूबर '५८ में विद्यापीठ का पदवीदान समारोह मनाया गया, जिसमें बम्बई राज्य के शिक्षा मन्त्री **माननीय हितेन्द्रभाई देसाई** ने दीक्षान्त भाषण दिया, एवं उपाधिपत्र बाँटे।

१ अप्रैल १९५९ से ३१ मार्च १९६० तक

१९५९-६० में प्रचार-कार्य पूर्ववत् होता रहा। भारत सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से सभी हिन्दी प्रचार-कार्य करने वाली संस्थाओं की प्राथमिक जाँच अब तक हो चुकी थी। **शिक्षा-मन्त्री डॉ० के० एल० श्रीमाली** ने लोकसभा में अप्रैल १९५९ में निजी संस्थाओं में से कुछ की परीक्षाओं को मान्य घोषित किया। बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ की उत्तमा, भाषारत्न और साहित्य सुधाकर परीक्षा का मानदण्ड क्रमशः मैट्रिक, इण्टर और बी० ए० के समकक्ष केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्य घोषित हुआ। परीक्षार्थियों की संख्या पर भी परिणाम हुआ। १९५९-६० में विद्यापीठ की परीक्षाओं में ३९,८०९ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए।

इस वर्ष विद्यापीठ की ओर से नागपुर में आयोजित 'हिन्दी नाट्य प्रतियोगिता' में भी भाग लिया गया। मराठी के प्रख्यात नाटक 'उद्याचा संसार' का हिन्दीकरण 'कल की गृहस्थी' के नाम से रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। इससे पूर्व विद्यापीठ की ओर से हिन्दी के खण्ड-काव्य 'पंचवटी' का मराठी और गुजराती में पद्यानुवाद 'भारती' मासिक में प्रकाशित हुआ था। मराठी पद्यानुवाद **रा० भा० कुलकर्णी** और गुजराती पद्यानुवाद **प्रभाशंकर तरैया** द्वारा किया गया था।

बाह्य क्षेत्र में सर्वाङ्गीण प्रगति होने पर भी आन्तरिक क्षेत्र, विशेषतः स्थानीय प्रचारक-वर्ग, में इस समय कठिनाइयाँ अवश्य उपस्थित हुईं। इसी वर्ष वीरबलसिंह रावत भी विद्यापीठ की गतिविधियों से अलग हुए। कार्यकारिणी समिति में उनके स्थान पर **या० वि० जोशी** सम्मिलित किये गए।

प्रचार-कार्य को सुव्यवस्थित बनाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र को तालुका और जिला विभागों में बाँटने और तदनुसार प्रमुखों की नियुक्ति करने के कार्य पर भी इसी वर्ष से विचार प्रारम्भ किया गया।

इस वर्ष विभिन्न क्षेत्रों में तथा समितियों की ओर से आयोजित समारम्भ बहुत ही सफल रहे। विद्यापीठ के पदवीदान समारोह में इस वर्ष **माननीय बालासाहेब देसाई,** निर्माण-मन्त्री ने दीक्षान्त भाषण किया, तथा उपाधिपत्र वितरित किए।

१ अप्रैल १९६० से ३१ मार्च १९६१ तक

१९६०-६१ में विद्यापीठ का प्रचार-कार्य बहुत ही बढ़ गया। परीक्षार्थियों की संख्या इस वर्ष ४८,६८६ तक पहुँच गई। परीक्षा-केन्द्र ७०० से भी अधिक स्थापित हो चुके थे।

इस वर्ष कार्यकारिणी समिति का नया निर्वाचन हुआ। तदनुसार निम्नलिखित स्वरूप में पदाधिकारी, मन्त्री तथा सदस्य निर्धारित हुए।

कुलपति	:	**सुशील कवलेकर**
उपकुलपति	:	**अच्युत शं० देवस्थली**
कोषाध्यक्ष	:	**वाइ० एस० प्रभू**
परीक्षाध्यक्ष	:	**डॉ० मो० दि० पराड़कर**

प्रधान मन्त्री	:	**ना० ह० मन्त्री**
अर्थ-मन्त्री	:	**द० शि० धुरी**
परीक्षा-मन्त्री	:	**गिरीश माथुर**
शिक्षा-मन्त्री	:	**चि० रा० फणशीकर**
प्रसार-मन्त्री	:	**बालकृष्ण भोसले**
प्रकाशन-मन्त्री	:	**मगनलाल मिस्त्री**
सांस्कृतिक मन्त्री	:	**ओमनारायण तोमर**

कार्यकारिणी समिति के शेष सदस्य निम्नलिखित थे: सर्वश्री य० स० सुखठणकर, रा० ग० फोपे, कमलाबाई शित्रे, ग० र० प्रभुतेंडोलकर, पां० भि० फडके, द० र० केलकर, बालाकान्त झा, माणिकचन्द जैन, पुरुषोत्तम पंड्या, नवनीतलाल रावल, रा० मा० कुलकर्णी और डॉ० श्रीधर शां० आजगांवकर।

आर्थिक दृष्टि से विद्यापीठ का कारोबार अब तक स्वयंपूर्ण हो गया था। रिक्त निधियों को पूरा करने का प्रयत्न भी इस वर्ष से प्रारम्भ किया गया।

इससे पूर्व के वर्ष में ही विद्यापीठ की सदस्या-संख्या में बहुत वृद्धि हुई थी। इस वर्ष ३७६ सदस्य विद्यापीठ के रहे।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री डॉ० के० एल० श्रीमाली भी इस वर्ष विद्यापीठ के प्रचारक सम्मेलन में पधारे। यह समारोह बहुत ही सफल रहा। इस वर्ष के पदवीदान समारोह में महाराष्ट्र के अर्थ-मन्त्री श्री **शेषराव कृ० वानखेडे** ने दीक्षान्त भाषण दिया तथा उपाधिपत्र वितरित किये।

विद्यापीठ की ओर से महाराष्ट्र राज्य नाट्य प्रतियोगिता में इस वर्ष 'अजनबी' नाटक प्रस्तुत किया गया, जिसे तीन राज्य पुरस्कार प्राप्त हुए।

१ अप्रैल १९६१ से ३१ मार्च १९६२ तक

१९६१-६२ में विद्यापीठ का प्रचार भारत के सभी प्रदेशों में स्थायी हो गया। राजस्थान सरकार से भी विद्यापीठ की परीक्षाओं को मान्यता प्राप्त हुई। महाराष्ट्र राज्य में भी घना प्रचार-क्षेत्र स्थापित हुआ। इस वर्ष विद्यापीठ की परीक्षाओं में ७०,३७४ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। आर्थिक स्थिति भी दृढ़ हुई। ध्रुवकोष एवं भवन-निधि की अधिकांश पूर्ति की गई।

नवम्बर १९६१ में जयपुर में विद्यापीठ का पदवीदान समारोह डॉ० मो० दि० पराड़कर की अध्यक्षता में मनाया गया, जिसमें उस समय के राजस्थान के अर्थ-मन्त्री **हरिभाऊ उपाध्याय** ने दीक्षान्त भाषण दिया।

'साहित्य सुधाकर' तक की परीक्षाओं के निजी प्रकाशन बना लेने की योजना इसी वर्ष स्वीकार की गई।

इस वर्ष विद्यापीठ के संविधान में कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गए। विद्यापीठ की कार्यकारिणी समिति में प्रत्येक प्रचार-क्षेत्र के चुने हुए प्रतिनिधियों का समावेश किया गया। तालुका प्रमुखों एवं जिला प्रमुखों की व्यवस्था की गई।

इसी वर्ष नगर प्रचार समिति और उपनगर प्रचार समिति के संगठन भी समाप्त कर दिये गए। प्रसार-समिति के अन्तर्गत प्रचार-व्यवस्था स्वीकृति की गई।

उपनगर प्रचार समिति में सर्वश्री द० र० केलकर, या० वि० जोशी, सुशीला आगाशे, माधवप्रसाद मिश्र, ब० के० राऊत, द० ए० दुग्गल, वि० म० दाते, अनन्त नामजोशी, सरस्वतीबाई काकडे, वि० कुलकर्णी, वा० गो० मोडक, द० वि० फडणीस आदि ने समय-समय पर बहुत ही ज़िम्मेदारीपूर्वक कार्य किया। इनमें से कितने ही महानुभाव अब भी तालुका प्रमुख पद्धति के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं।

नगर प्रचार-समिति में सर्वश्री अच्युत शं० देवस्थली, कमलाबाई शित्रे, काशिनाथ कदम, कमलाशंकर शुक्ल, गो० स० जोशी, चन्द्रिकाप्रसादसिंह अनिल, ज० गो० बाल, तुकाराम गायकवाड, दि० ज० गोंधलेकर, द० धो० मोरे, प्रभाशंकर तरैया, बाबूलाल गुप्त, बा० धा० बागवे, य० वि० पाताडे, रा० भा० कुलकर्णी, र० ग० पारकर, रामलखन तिवारी, ल० आ० करलकर, विमल पाताडे, वि० ना० पोरे, वि० य० तेंडुलकर, सो० य० भोगले, संतोषकुमारी सूद, प्रकाशचन्द्र मेहरोत्रा, हरिश्चन्द्र भि० ढोलम, हुसैन कमाल अशरफी, ज्ञानदेव देसाई, राधेश्याम पाण्डेय, बीरबलसिंह रावत ने समय-समय पर ज़िम्मेदारीपूर्वक पदों व विभागों पर कार्य किया तथा व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

१ अप्रैल १९६२ से ३१ मार्च १९६३ तक

इस वर्ष कार्यकारिणी समिति का नया निर्वाचन हुआ। वर्तमान समय रजत जयन्ती के अवसर पर भी इस बार की चुनी हुई कार्यकारिणी ही कार्यरत है। इस वर्ष की कार्यकारिणी के सदस्यों का परिचय आगे दिया गया है।

जून १९६२ में महाराष्ट्र सरकार के नगर विकास मन्त्री **माननीय श्री मधुकरराव चौधरी** ने विद्यापीठ के पदवीदान समारोह के अवसर पर दीक्षांत भाषण दिया एवं उपाधिपत्र वितरित किये। गत वर्ष तक के विद्यापीठ के उपकुलपति अच्युत शं० देवस्थली का गोवा स्थानान्तरण हुआ।

नवम्बर '६२ में दूसरा पदवीदान समारोह अहमदाबाद शहर में आयोजित किया गया, जिसमें गुजरात सरकार के शिक्षा-मन्त्री **माननीय मनुभाई पटेल** ने दीक्षान्त भाषण दिया।

इस वर्ष **अनन्त गोपाल शेवडे** विद्यापीठ के प्रधान कार्यालय में पधारे। विद्यापीठ के अर्थमन्त्री और सांस्कृतिक मन्त्री ने दिल्ली जाकर पं० नेहरू से आशीर्वाद प्राप्त किया। तालुका प्रमुखों की संख्या भी १०० से अधिक निर्धारित की गई। परीक्षार्थियों की संख्या इस वर्ष ६८,२१६ हुई।

इस वर्ष से भारत सरकार द्वारा आयोजित हिन्दी सम्बन्धी परिचर्चाओं में विद्यापीठ द्वारा भी प्रतिनिधित्व किया जाने लगा।

● ●

बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ की वर्तमान कार्यकारिणी (१९६२-६३ और १९६३-६४) के सदस्यों का संक्षिप्त सम्बन्ध

सुशील कवलेकर—इस समय आप विद्यापीठ के कुलपति हैं। १९४५ में आप विद्यापीठ के आजीवन सदस्य हुए। १९४७ से अब तक आप विद्यापीठ की सभी कार्यकारिणी समितियों के सदस्य रहे हैं। १९५८ से आप विद्यापीठ के कुलपति पद पर हैं। आपने अनेक वैधानिक कठिनाइयों के समय विद्यापीठ की महत्वपूर्ण मदद की है।

वासुदेव वा० वरलीकर—इस सयम आप विद्यापीठ के उपकुलपति हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध इन्हीं दिनों हुआ है। १९६२ में आप विद्यापीठ के आजीवन सदस्य बने। परन्तु इस अल्प अवधि में भी आपने अपनी कार्य-संचालन प्रणाली का बहुत ही उत्तम परिचय हमें दिया है। महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर प्राप्त आपका सहयोग सराहनीय है।

वाइ० एस० प्रभू—इस समय आप विद्यापीठ के कोषाध्यक्ष हैं। १९५७ में आप विद्यापीठ के आजीवन सदस्य बने। तभी से आप विद्यापीठ के कोषाध्यक्ष का पद सँभाले हुए हैं। समय-समय पर आर्थिक विषयों में आपकी महत्वपूर्ण राय विद्यापीठ को मिलती रहती है।

मो० द० पराडकर—इस समय आप विद्यापीठ के परीक्षाध्यक्ष हैं। १९५७ में आप विद्यापीठ के साधारण सदस्य बने। १९५८ से अब तक निरन्तर परीक्षाध्यक्ष का पद आप सँभाले हुए हैं। आपके कार्यकाल में विद्यापीठ ने परीक्षा-केन्द्रों, परीक्षार्थी-संख्या तथा अन्य सम्बन्धित विषयों में द्विगुणित उन्नति की है। परीक्षा विभाग का सारा कार्य आपके सम्पूर्ण नियन्त्रण में होता है।

द० शि० धुरी—इस समय आप विद्यापीठ के प्रधानमन्त्री हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९४७ से भी पूर्व का है। ज्ञानलता मंडल द्वारा विद्यापीठ की परीक्षाओं का जब कार्य होता था, तब से ही आप विद्यापीठ से सम्बन्धित हैं। तदुपरान्त १९४९ में आप दक्षिण विभाग प्रचार समिति में केन्द्र-संचालक तथा कार्यवाहक सभाओं के सदस्य रहे हैं। १९५४ से आप विद्यापीठ कार्यकारिणी के सदस्य हुए हैं। तदुपरान्त प्रकाशन-मन्त्री तथा अर्थ-मन्त्री के रूप में विद्यापीठ को सहयोग देते हुए १९६२ में आप विद्यापीठ के प्रधानमन्त्री बने हैं। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

ना० ह० मन्त्री—इस समय आप विद्यापीठ के अर्थमन्त्री हैं। १९४२ से ही आप विद्यापीठ के प्रचारक के रूप में कार्य कर रहे हैं। सरस्वती मण्डल तथा दक्षिण विभाग प्रचार समिति में कार्य करते हुए आपने नगर प्रचार समिति में अध्यक्ष और मन्त्री के अतिरिक्त अन्य जिम्मेदारियों के पद भी सँभाले हैं। १९५० से ही आप विद्यापीठ के अर्थ-

मन्त्री रहे हैं। १९६१ में दो वर्ष के लिए आप विद्यापीठ के प्रधान-मन्त्री भी चुने गए थे। आप सक्रिय श्रेणी के विद्यापीठ के सदस्य हैं।

गिरीश माथुर—इस समय आप विद्यापीठ के परीक्षा-मन्त्री हैं। आपका सम्बन्ध विद्यापीठ से १९४८ में हुआ। १९४९ में आप दक्षिण विभाग प्रचार समिति के मन्त्री रहे हैं। १९५० में आप विद्यापीठ के सहायक परीक्षा-मन्त्री बने, तभी से आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। १९५४ से आप विद्यापीठ के परीक्षा-मन्त्री हैं। आप सक्रिय श्रेणी के उपरान्त आजीवन श्रेणी के विद्यापीठ के सदस्य हैं।

मगनलाल मिस्त्री—आप इस समय विद्यापीठ के शिक्षा-मन्त्री हैं। आपका १९४८ से विद्यापीठ से सम्बन्ध है। दक्षिण-विभाग और नगर प्रचार समिति में आप कार्यवाहक समितियों के सदस्य रह चुके हैं। १९५६ से आप विद्यापीठ कार्यकारिणी के सदस्य हैं। आप इससे पूर्व भी विद्यापीठ के शिक्षा-मन्त्री और प्रकाशन-मन्त्री रह चुके हैं। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

बालकृष्ण भोसले—आप इस समय विद्यापीठ के प्रसार-मन्त्री हैं। १९४७ से आपका सम्बन्ध विद्यापीठ से रहा है। दक्षिण विभाग प्रचार समिति में ज़िम्मेदारी के पद सँभालते हुए आप कार्यवाहक समिति के सदस्य रहे हैं। तदुपरान्त नगर प्रचार समिति में भी आप प्रचार-मन्त्री रह चुके हैं। विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति में आप १९५६ से हैं। १९५८ में आप विद्यापीठ के प्रसार-मन्त्री चुने गए। तब से आप इसी विभाग को सँभाले हुए हैं। आप सक्रिय श्रेणी के विद्यापीठ के सदस्य हैं।

चि० रा० फणशीकर—आप इस समय विद्यापीठ के प्रकाशन-मन्त्री हैं। नगर प्रचार समिति की कार्यवाहक समिति के आप सदस्य रह चुके हैं। १९५४ में आप विद्यापीठ की कार्यकारिणी के सदस्य बने, तथा उसी वर्ष शिक्षा-मन्त्री का कार्य भी आपने सँभाला। १९५६ में आप विद्यापीठ के सांस्कृतिक मन्त्री बने। १९५८ में आप विद्यापीठ के प्रधान मन्त्री पद पर चुने गए। दो वर्षों तक आपने यह पद सँभाला। तदुपरांत आप फिर १९६० में शिक्षा-मन्त्री बने। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

ओमनारायण तोमर—इस समय आप विद्यापीठ के सांस्कृतिक मन्त्री हैं। आपका सम्बन्ध विद्यापीठ से १९५४ में हुआ। १९६० में आप विद्यापीठ कार्यकारिणी के सदस्य बने। इसी समय से आप सांस्कृतिक मन्त्री का कार्य सँभाले हुए हैं। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

अ० शं० देवस्थली—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। १९५३ में आपका विद्यापीठ से सम्बन्ध हुआ। १९५४ में आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य चुने गये। १९५४ में ही आप विद्यापीठ के सांस्कृतिक मन्त्री रहे। १९५६ में आप विद्यापीठ के उपकुलपति चुने गए। इस अवधि में समय-समय पर आपने नगर प्रचार समिति के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। १९६२ में आप गोवा चले गए। आप विद्यापीठ की आजीवन श्रेणी के सदस्य हैं।

ए० यू० जी० सैय्यद—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। बारामती केन्द्र का संचालन करते हुए आप तालुका प्रमुख का कार्य भी कर रहे हैं। महाराष्ट्र क्षेत्र के प्रचारकों द्वारा आप १९६२ में विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के लिए चुने गए। आप विद्यापीठ के मान्य प्रचारक एवं साधारण सदस्य हैं।

चन्द्रिकाप्रसादसिंह अनिल—आप कार्यकारिणी के सदस्य हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९५३ से भी पूर्व का है। १९५६ में और उसके बाद भी आप नगर प्रचार समिति के मन्त्री रह चुके हैं। १९६२ में आप विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के सदस्य हुए। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

ज० गो० बाल—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९४४ से है। १९५४ के और उसके बाद भी आप नगर प्रचार समिति की कार्यवाहक सभा में महत्त्वपूर्ण विभागों पर रह चुके हैं। १९६२ में आप विद्यापीठ कार्यकारिणी के सदस्य हुए। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

द० र० केलकर—आप कार्यकारिणी के सदस्य हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९४७ से भी पूर्व का है। आप उत्तर विभाग प्रचार समिति के प्रचार-मन्त्री और उपनगर समिति के अध्यक्ष रह चुके हैं। १९५० से आप विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। १९५४ में

दो वर्ष की अवधि के लिए आप विद्यापीठ के उपकुलपति भी चुने गए थे। आपने कल्याण तालुका प्रमुख के रूप में भी कार्य किया है। आप सक्रिय के उपरान्त आजीवन श्रेणी के विद्यापीठ के सदस्य हैं।

दि० ज० गोंधलेकर—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। आपका सम्बन्ध १९४५ से भी पूर्व का है। १९५६ में आप नगर प्रचार समिति के अध्यक्ष भी रह चुके हैं। १९६० में आप विद्यापीठं कार्यकारिणी समिति के सदस्य चुने गए। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

बालाकांत झा—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। अहमदाबाद केन्द्र का संचालन करते हुए आप तालुका प्रमुख का कार्य भी कर रहे हैं। गुजरात क्षेत्र के प्रचारकों द्वारा आप १९६२ में विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के लिए चुने गए। आप विद्यापीठ के मान्य प्रचारक एवं साधारण सदस्य हैं।

बा० धा० बागवे—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९५६ से भी पूर्व का है। नगर प्रचार समिति के कोषाध्यक्ष पद को भी आपने सँभाला है। १९६२ में आप विद्यापीठ कार्यकारिणी के सदस्य बने। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

रा० ग० फोपे—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९५८ से भी पूर्व का है। १९६० से आप विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

रामप्रसाद सिंह—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९५८ से भी पूर्व का है। १९६२ में आप विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के सदस्य हुए। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

वि० श० चौगुले—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। विद्यापीठ से आपका सम्बन्ध १९५८ से भी पूर्व का है। १९६२ में आप विद्यापीठ की कार्यकारिणी समिति के सदस्य हुए। आप सक्रिय श्रेणी के सदस्य हैं।

विनायक के० थरथरे—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। १९६० में विद्यापीठ का आपसे सम्बन्ध हुआ। १९६२ में आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य बने। आप साधारण श्रेणी के सदस्य हैं।

विमल मोरे—आप कार्यकारिणी समिति की सदस्य हैं। १९५९ में विद्यापीठ से आप सम्बन्धित हुईं। १९६२ में आप कार्यकारिणी समिति की सदस्य बनीं। आप साधारण श्रेणी की सदस्य हैं।

श्रीधर शां० आजगांवकर—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। १९५९ में आप विद्यापीठ से सम्बन्धित हुए। १९६० में आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य बने। आप आजीवन श्रेणी के सदस्य हैं।

शिवप्रसाद शुक्ल—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। गोधरा केन्द्र का संचालन करते हुए आप तालुका-प्रमुख का कार्य भी कर रहे हैं। गुजरात क्षेत्र के प्रचारकों द्वारा आप १९६२ में विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के लिए चुने गए। आप विद्यापीठ के मान्य प्रचारक सदस्य हैं।

सोमदत्त हर्ष—आप कार्यकारिणी समिति के सदस्य हैं। १९६२ में विद्यापीठ कार्यकारिणी समिति के लिए आप राजस्थान के प्रचारकों द्वारा चुने गए। आप विद्यापीठ के मान्य हिन्दी प्रचारक सदस्य हैं।

● ●

संचालन व्यवस्था (दृष्टिपात)

प्रत्येक संस्था में कुछ कार्यकर्ता ऐसे होते हैं, जो अपना जीवन ही संस्था के हित अर्पण करते हैं। उन्हीं की कार्यकुशलता एवं सेवा-भाव से संस्था आगे बढ़ती है। विद्यापीठ से सम्बन्धित कुछ ऐसे ही महानुभावों का उल्लेख भी आवश्यक है। वैसे तो संस्था के विधान, सदस्य तथा कार्यकारिणी समितियाँ ही संचालक शक्ति होती हैं, परन्तु उनमें भी जिन विशेष व्यक्तियों की प्रेरणा कार्य करती रहती है, उनसे सभी लोग परिचित नहीं रहते।

कार्य-विवरण का वार्षिक ब्यौरा पढ़कर सब लोग यह जान सकते हैं कि बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ की स्थापना का

विचार **श्री भानुकुमार जैन** को ही सर्वप्रथम आया । उनके सहयोगी ठा० राजबहादुरसिंह, **डॉ० मोतीचन्द्र** आदि ने भी इस विचार को साकार करने में पूर्ण योग दिया। **श्रीमती रखमाबाई तल्लूर** की सेवाएँ भी प्राप्त हुईं और बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ एक 'परीक्षा-संस्था' के रूप में चल पड़ी । १९३८ से १९४७ तक, ९ वर्ष तक श्री भानुकुमार जैन ही विद्यापीठ के प्रधान मन्त्री रहे । संयुक्त मन्त्री के रूप में आपको कितने ही महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ, परन्तु ध्यान दिया जाए तो संयुक्त मन्त्री कभी भी स्थायी नहीं रहे । श्री भानुकुमार जैन ने हिन्दी भाषा की सेवा से प्रेरित होकर विद्यापीठ की स्थापना की । विद्यापीठ के लिए आवश्यक धन-संग्रह के हेतु आपने बम्बई के हिन्दी-प्रेमी धनिकों को अपने साथ लिया । विद्यापीठ की परीक्षाओं के प्रचार व प्रबन्ध के लिए आपने बम्बई के हिन्दी-सेवी प्रचारकों का सहयोग प्राप्त किया । विद्यापीठ का कार्यालय पहले मारवाड़ी विद्यालय की एक अलमारी-मात्र में सीमित था, वह सी-पी-टैंक पर भानुजी के ही कार्यालय में स्थापित हुआ । बाहर के विद्वानों को बम्बई बुलाकर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते रहना, साथ-ही-साथ उस समय के प्रचारकों को संगठित करते रहना आपकी कार्यकुशलता का परिचायक है । आपके कार्यकाल में प्रतिसम परीक्षार्थी-संख्या तीन हज़ार से भी अधिक हो चुकी थी । संस्था का रजिस्ट्रेशन भी आपके कार्यकाल में ही हुआ ।

पहले तो १९४३ तक सामान्य परन्तु क्रमशः प्रगति के साथ संस्था का कार्य चलता रहा, किन्तु इसके बाद आन्तरिक संघर्ष से भी निबटना पड़ा। ज्यों-ज्यों नये कार्यकर्ता सम्मिलित होते गए, व्यवस्था में नवीन परिवर्तन भी लक्षित होने लगे । भानुकुमार जैन के सहयोगी श्रीमती लीलावती मुन्शी, रामनाथ पोद्दार, मदनमोहन रुइया आदि इनके समय में ही विद्यापीठ से अलग हो गए । वैसे आन्तरिक कठिनाई का यह प्रसंग उतना प्रचारित नहीं होता, परन्तु श्रीमती रखमाबाई तल्लूर के अलग होने से उस समय की सम्पूर्ण आन्तरिक व्यवस्था से विद्यापीठ के प्रचारकगण विचारमग्न हुए । कितने ही उत्साही सदस्यों के उत्साह पर, कार्यकर्ताओं के कार्य पर तथा विद्यापीठ की व्यवस्था पर भी इन आन्तरिक कठिनाइयों का प्रभाव परिलक्षित हुआ । परन्तु सारी स्थिति सँभली रही—संस्था आगे बढ़ती रही ।

रणछोड़लाल ज्ञानी ने श्रीमती लीलावती मुन्शी के बाद अध्यक्ष पद सँभाल लिया था । वे अपनी कार्यकुशलता से अन्य पदाधिकारियों का मार्ग-दर्शन करते हुए संस्था को आगे बढ़ाने में कार्यरत हुए ।

हरिशंकर—भानुकुमार जैन के बाद हरिशंकर का विद्यापीठ की व्यवस्था में प्रमुख हाथ रहा है । भानुकुमार जैन १९४७ के बाद व्यवस्था-कार्य से जो अलग हुए तो अब तक अलग ही रहे हैं, फिर भी हरिशंकर के कार्यकाल में उनका बहुत ही महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा । हरिशंकर का १९४३ से ही विद्यापीठ से सम्बन्ध हुआ । कार्यालय के कार्यो में सहयोग देते हुए १९४६ में आप प्रथम बार संयुक्त मन्त्री के रूप में व्यवस्था में भाग लेने लगे । १९४७ और १९४८ में जब आप संयुक्त मन्त्री नहीं रहे, तो प्रबन्ध मन्त्री के रूप में व्यवस्था करते रहे । भानुकुमार जैन के समय में ही (१९४६ में) प्रधान कार्यालय हीराबाग से गिरगाँव में चला गया था । हरिशंकर के समय यह गिरगाँव से सिक्कानगर और तदुपरान्त आनन्दनगर में स्थानान्तरित हुआ । इनके कार्यकाल में ही २०,०००.०० का मुद्रणालय खरीदा गया । परन्तु आन्तरिक संघर्ष से आप भी नहीं बचे । किसी-न-किसी रूप में हर दूसरे-तीसरे वर्ष कोई-न-कोई कठिनाई उपस्थित हो जाती थी । १९४७ से १९४५ तक के ७ वर्ष विद्यापीठ के सभी विभागों की प्रगति के वर्ष रहे हैं, केवल आर्थिक व्यवस्था को छोड़कर । प्रचार की ठोस नींव पड़ चुकी थी । प्रकाशन भी पनप रहा था । लोगों में उत्साह बना हुआ था । परन्तु अधिकांश पुराने साथी इन दिनों विद्यापीठ से दूर थे । नये कार्यकर्ताओं के उत्साह पर विद्यापीठ प्रगति कर रही थी । आप १९५१ से १९५४ तक विद्यापीठ के प्रधानमन्त्री रहे ।

बीरबलसिंह रावत—१९५४ से १९५८ तक ४ वर्ष आपने विद्यापीठ की व्यवस्था में बहुत ही महत्वपूर्ण योग दिया । आप १९४८ से विद्यापीठ से सम्बन्धित थे । हरिशंकर के बाद १९५४ में आप प्रधान मन्त्री बने । आर्थिक दृष्टि से इस समय विद्यापीठ का हालत बहुत ही कमज़ोर

थी । हज़ारों का कर्ज चुकाना था और नकद रूप में कुछ भी नहीं था ।

अपने सहयोगी कार्यकर्ताओं के साथ सभी प्रकार की आन्तरिक कठिनाइयों का सामना करते हुए आपने विद्यापीठ के कार्य को आगे बढ़ाया । प्रारम्भ में दो-तीन वर्ष अपनी अन्य ज़िम्मेदारियों को सँभालते हुए आप अधिकतम समय इस ओर न लगा सके, परन्तु अन्तिम वर्ष, जबकि गुजरात के कार्यकर्ताओं में असन्तोष व्याप्त था, आपने अपना सारा समय विद्यापीठ के कार्यों में ही लगाया ।

इस अवधि के उपरान्त अब तक कोई भी महानुभाव दीर्घ समय तक विद्यापीठ के प्रधानमन्त्री नहीं रहे । अपनी इच्छा से सभी अपना कार्यभार दूसरों को सँभालकर सेवा-कार्य में रत रहे ।

चिन्तामण फणशीकर—१९५८ और १९५९ में प्रधान मन्त्री रहे । आप १९५० से विद्यापीठ से सम्बन्धित हुए थे । आपने विद्यापीठ के समक्ष उपस्थित सभी समस्याओं का साहसपूर्वक निबटारा किया । प्रत्येक विभाग की ठोस कार्यप्रणाली की व्यवस्था की । आर्थिक स्थिति सुधरने लगी । प्रचार-कार्य का केन्द्रीकरण हुआ । परीक्षार्थी हज़ारों की संख्या में बढ़ने लगे । कार्य सुव्यवस्थित रूप से जारी रहा ।

ना० ह० मन्त्री—१९६० और १९६१ में प्रधानमन्त्री रहे । इनका कार्यकाल शान्त और सुव्यवस्थित अवस्थाओं का कार्यकाल रहा है । सरकारी और ग़ैर-सरकारी क्षेत्र में संस्था की प्रतिष्ठा बढ़ती रही । आर्थिक स्थिति ठोस रही । आप विद्यापीठ के इस समय के प्रचारकों में सबसे पुराने हैं ।

द० शि० धुरी—१९६२ से वर्तमान समय (रजत-जयन्ती) के प्रधान मन्त्री हैं । आपका सम्बन्ध १९४८ से भी पूर्व का है । संस्था की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा कार्य को सुव्यवस्थित जारी रखने में आपका महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त हो रहा है ।

श्री रणछोड़लाल ज्ञानी के उपरान्त **ठा० राजबहादुर सिंह** के मार्गदर्शन का विद्यापीठ को बहुत ही लाभ हुआ । ठा० राजबहादुरसिंह संस्थापकों में से एक हैं । यदि आपका दिल्ली स्थानान्तरण नहीं होता, तो दूसरा कुलपति चुनने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । जिस प्रकार भानुकुमार जैन को श्रीमती लीलावती मुन्शी और रणछोड़लाल ज्ञानी का अध्यक्षपद से अनमोल सहयोग प्राप्त होता रहा तथा जिस प्रकार हरिशंकर को रणछोड़लाल ज्ञानी का पूरे कार्यकाल तक सहयोग प्राप्त हुआ, उसी प्रकार वीरबलसिंह रावत को और उनके सहयोगी **गिरीश माथुर** और **बालकृष्ण भोसले** को ठा० राजबहादुरसिंह का अनमोल मार्गदर्शन सदैव प्राप्त हुआ ।

ठा० राजबहादुर के दिल्ली चले जाने पर **सुशील कवलेकर** ने विद्यापीठ को अपने सहयोग और मार्गदर्शन से लाभान्वित किया और आज भी कर रहे हैं । चिन्तामण फणशीकर, ना० ह० मन्त्री और द० शि० धुरी के कार्यकाल में उपस्थित सभी कठिनाइयों का हल कवलेकरजी के मार्गदर्शन से ही सम्भव होता गया है ।

इनके अतिरिक्त **अच्युत शं० देवस्थली** ने भी व्यवस्था को प्रभावित करने में ६ वर्ष तक बहुत ही सहयोग दिया । आप ४ वर्ष तक विद्यापीठ के उपकुलपति रहे । कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी आपने अपनी सूझबूझ से कार्य को आगे बढ़ाया ।

डॉ० मो० दि० पराडकर का स्थान विद्यापीठ की साहित्यिक गतिविधियों में विशेष उल्लेखनीय है । आपकी समन्वय की भावना ने विद्यापीठ को सरकारी और ग़ैर-सरकारी सभी क्षेत्रों में बहुत ही प्रतिष्ठित और लोकप्रिय बनाया है ।

संक्षेप में विद्यापीठ के कुलपति (या अध्यक्ष) इस प्रकार रहे—

श्रीमती लीलावती मुन्शी (स्थापना-काल से १९४६ तक)
रणछोड़लाल ज्ञानी (१९४६ से १९५४ तक)
ठा० राजबहादुरसिंह (१९५४ से १९५८ तक)
सुशील कवलेकर (१९५८ से अब तक)

विद्यापीठ के उपकुलपति (या उपाध्यक्ष), जो सदैव स्मरणीय रहेंगे, इस प्रकार रहे :

रामनाथ आ० पोद्दार (स्थापना-काल से १९४६ तक)
सत्येन्द्रप्रसाद मिश्र (१९५१ से १९५४ तक)
अच्युत शं० देवस्थली (१९५६ से १९६१ तक)

उपरोक्त के अतिरिक्त रमेश सिनहा, श्री आशानन्द पंचरत्न, द० र० केलकर और श्री नटवरलाल त्रिवेदी ने

भी विभिन्न समयों पर यह पद सँभाला है।

विद्यापीठ के प्रधानमन्त्री (या मन्त्री) इस प्रकार रहे हैं :

भानुकुमार जैन	(स्थापना-काल से १९४६ तक)
श्रीमती इन्दिराबाई वायंगणकर	(१९४६ से १९५० तक)
हरिशंकर	(१९५० से १९५४ तक)
बीरबलसिंह रावत	(१९५४ से १९५८ तक)
चि० रा० फणशीकर	(१९५८ से १९६० तक)
ना० ह० मन्त्री	(१९६० से १९६२ तक)
द० शि० धुरी	(१९६२ से अब तक)

उपरोक्त के अतिरिक्त संयुक्त अथवा सहायक मन्त्रियों के रूप में निम्नलिखित ने भी विभिन्न विषयों पर ज़िम्मेदारी सँभाली है :

सर्वश्री सरला पण्डित, मणिशंकर जोशी, रखमाबाई तल्लूर, हरिशंकर, म० गं० नाबर, कुमार शर्मा।

परीक्षा-नीति-निर्धारण में डॉ० मोतीचन्द्र, रणछोड़लाल ज्ञानी, रा० आ० नाबर, ठा० राजबहादुरसिंह, चि० ज० गोंधलेकर, डॉ० मो० दि० पराडकर और गिरीश माथुर का समय-समय पर बहुत ही सहयोग प्राप्त हुआ है।

उपरोक्त महानुभावों ने अपनी-अपनी नीतियों के अनुसार विद्यापीठ की अवस्था को सँभाला है, परन्तु यदि इनके सहयोगियों की सेवा पर दृष्टि न डाली जाए तो उचित न होगा। भानुकुमार जैन के कार्यकाल में श्रीमती रखमाबाई तल्लूर और बाद में हरिशंकर का विद्यापीठ की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ज्ञानलता मण्डल के कार्यकर्ता और **श्रीमती इन्दिराबाई वायंगणकर** आदि का मार्ग-दर्शन भी भुलाया नहीं जा सकता। जब-जब विद्यापीठ के समक्ष कोई हानिप्रद प्रसंग उपस्थित हुआ, उस समय के कार्यकर्ताओं ने पूरी शक्ति के साथ उसे दूर किया। हरिशंकर को राधेश्याम पाण्डे, कुमार शर्मा और इन्दिराबाई वायंगणकर का सहयोग प्राप्त होता रहा। यदि कुमार शर्मा के साथ किसी अशिष्ट घटना का सम्बन्ध न हुआ होता तो वे हरिशंकर को बहुत ही सहयोग देते, परन्तु १९५३ या १९५४ में दोनों की नीतियों में भारी अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा था। १९५४ में बीरबलसिंह रावत के साथ कुमार शर्मा विद्यापीठ की नीतियों को प्रभावित करने लगे। इन दिनों विद्यापीठ की आन्तरिक व्यवस्था को सँभाल सकने का श्रेय द० शि० धुरी, गिरीश माथुर और बालकृष्ण भोंसले को भी उतना ही है, जितना मन्त्रीद्वय को। इस असवर पर जबकि हज़ारों का कर्ज़ चुकाना हो, पास में कुछ न हो, यहाँ तक कि लोगों का उत्साह भी ठण्डा पड़ गया हो, उपरोक्त का सहयोग विद्यापीठ को नया मोड़ देने वाला प्रमाणित हुआ। कुमार शर्मा तो १ वर्ष की अवधि में ही अलग हो गए, परन्तु बीरबलसिंह रावत उपरोक्त लोगों के साथ विद्यापीठ की प्रगति में जुटे रहे।

हरिशंकर के कार्यकाल के बाद विद्यापीठ की आन्तरिक व्यवस्था को सँभालने में दो व्यक्तियों का नाम सबसे पहले दृष्टिगोचर होता है और वे हैं **गिरीश माथुर और बालकृष्ण भोसले**। १९५४ से अब तक कितने ही प्रधान मन्त्रियों के कार्यकाल में इन दोनों ने सभी प्रकार से विद्यापीठ की प्रगति में हाथ बँटाया है। १९५४ से विद्यापीठ के प्रधान मन्त्री वेतनभोगी नहीं रहे। तब से अब तक विद्यापीठ की आन्तरिक (कार्यालय-सम्बन्धी) व्यवस्था को गिरीश माथुर का और बाह्य (सम्पर्क-सम्बन्धी) व्यवस्था को बालकृष्ण भोसले का जो सहयोग प्राप्त रहा है, उसके कारण विद्यापीठ ने एक नई दिशा ही प्राप्त कर ली है। ना० ह० मन्त्री, चि० रा० फणशीकर और विशेषकर श्री द० शि० धुरी का सम्पूर्ण सहयोग आपको प्राप्त हुआ है। विद्यापीठ के इस दशक की कार्य-व्यवस्था में कितने ही सुधार हुए हैं, हो रहे हैं।

विद्यापीठ प्रेस—इस विभाग का भी अपना एक इतिहास-सा है। १९५० में जब शुक्ल प्रिंटिंग प्रेस खरीदा गया, कुछ पुराने और कुछ नए टाइप तथा एक प्रिंटिंग मशीन ही प्रेस में थी। **राधेश्याम पाण्डे** उन दिनों विद्यापीठ प्रेस की व्यवस्था सँभालते थे। पुराने कार्यकर्ताओं में, जो अब भी विद्यापीठ के साथ हैं, रामवचन शर्मा (हैड कम्पोज़ीटर) और महादेव शिन्दे (मशीनमैन) का प्रेस को सँभालने और आगे बढ़ाने में काफ़ी सहयोग रहा है। अब तो बाइंडिंग विभाग और उसकी मशीनें भी प्रेस को प्राप्त हो गई हैं। १९५४ में राधेश्याम पाण्डे के पश्चात् **द० शि० धुरी** ने प्रेस का कार्यभार सँभाला, और दिन-रात

एक करके, कितनी ही कठिनाइयों का सामना करके भी कार्य आगे बढ़ाते रहे। कुछ समय बाद तो प्रेस आत्मनिर्भर हो गया; और आज अपने कार्यकर्ताओं की कार्यकुशलता से ही संचालित हो रहा है। प्रेस में नन्दलाल तिवारी भी पुराने कार्यकर्ताओं में ही हैं। शेष सभी कार्यकर्ता इन दिनों सम्बन्धित हुए हैं।

ध्रुवकोष—विद्यापीठ में ध्रुवकोष की स्थापना का श्रेय भानुकुमार जैन को ही है। एक ऐसी निधि इकट्ठी की गई जो आवश्यकता के समय विद्यापीठ के काम आ सकी। १९४१ में ५,७७१.०० की रकम बम्बई के हिन्दी-प्रेमी धनिक-वर्ग से एकत्र की गई। इस कोष से रकम लेकर पुस्तक-प्रकाशन आदि का कार्य चलता रहा। १९४६ में इस कोष में १२,९९७·०० रु० एकत्र हो गया था। परन्तु आधी के लगभग रकम विद्यापीठ के चालू खर्च में फँसी हुई थी। इसी प्रकार की अवस्था १९४८ तक रही। १९५० में तो कोष की सारी रकम प्रेस-खरीद में लग गई और कोष १४,००० से भी ऊपर का होकर केवल कागज़ों में ही रह गया। यह स्थिति १९५९ तक ज्यों-की-त्यों बनी रही। कोष में १६,००० रुपये तक एकत्र हो चुके थे, परन्तु सारी रकम लगी हुई थी। १९५९-६० में उस समय के कार्यकर्ताओं ने पहली बार चालू खर्च से रकम बचाकर १६,६०० रुपये फ़िक्स डिपाज़िट किये। तब से आज तक, जबकि यह कोष १९,००० तक पहुँच चुका है, लगभग इतनी ही रकम (१८,५११) नकद रूप में सुरक्षित रहने लगी है।

कार्यालय ऑनरशिप—बम्बई शहर में ऑनरशिप-प्रणाली के अन्तर्गत स्थान के स्वामित्व की प्रथा बहुत चल पड़ी है। हीराबाग से गिरगाँव में महाराजा बिल्डिंग के चौथे माले पर विद्यापीठ के कार्यालय का स्थान रण-छोड़लाल ज्ञानी के सद्प्रयत्नों से प्राप्त हुआ था। १९५० में प्रेस-खरीद के समय कार्यालय सिक्कानगर चला गया। परन्तु कुछ समय बाद ही 'दुविधा में दोनों गए' की स्थिति परिलक्षित हुई। जब सिक्कानगर का कार्यालय विद्यापीठ को (न्यायालयीन आदेशानुसार) खाली करना पड़ा तो एक समस्या ही उत्पन्न हो गई। प्रेस तो चौथी मंज़िल पर जा नहीं सकता था। उन दिनों **शामराव शिरोडकर** ने आनन्द नगर-स्थित वर्तमान स्थान विद्यापीठ को पाँच वर्ष की लीज़ पर दिया। यह पाँच वर्ष समाप्त होने पर फिर से स्थान का प्रश्न उपस्थित होने वाला था, परन्तु उस समय के कार्यकर्ताओं ने वर्तमान स्थान को ऑनरशिप बेसिस पर खरीद लेना ही उचित समझा, और वे इस कार्य में सफल भी हुए। तीन कमरों में, प्रेस के साथ, सारा कार्य चलाते रहना भी अब बहुत कठिन लग रहा है, जबकि विद्यापीठ कार्यालय के सभी विभागों में आज २५ से भी अधिक कार्यकर्ता कार्य कर रहे हैं। परन्तु यह प्रश्न तो तभी सुलझ सकेगा, जबकि स्वयं के भवन में कार्य संचालित हो।

विद्यापीठ में विरोधी पक्ष—प्रत्येक संस्था अथवा सामाजिक संगठन में विरोधी पक्ष होता है, परन्तु विद्या-पीठ के लिए यह अपवाद-स्वरूप ही है। अकसर यह देखा गया है कि जो लोग कार्यकारिणी समिति में या पदाधि-कारी होते हैं, उनसे मतभेद रखने वाले लोग उनके कार्यों की आलोचना करके अथवा नीति-सम्बन्धी विवेचना करके लोगों में ग़लतफहमी फैलाते रहते हैं। परन्तु विद्यापीठ में पदाधिकारियों अथवा कार्यकारिणी के लोगों का विरोध उपरोक्त स्तर पर बहुत ही नगण्य रूप में किया गया है। हाँ, पदाधिकारियों के गलत काम में प्रवृत्त रहने पर अन्य उत्साही कार्यकर्ता सदैव ही सजग रहे हैं। इसके अति-रिक्त यदि किसी ने निजी स्वार्थवश गलतफहमी फैलाने का प्रयत्न किया, अथवा विद्यापीठ और उसके कार्यकर्ताओं पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न किया, तो उन्हें सदैव ही असफलता प्राप्त हुई है। वैसे ही विद्यापीठ के आज के, विशेषकर इस दशक के, बढ़े हुए और बढ़ते हुए कार्य को देखकर ईर्ष्यालु व्यक्ति तथा अनिष्टकारी सज्जन बहुत ही बौखलाये और आज भी रहते हैं; परन्तु उनकी भी एक सीमा है। खुलेआम या जनता के सम्मुख आने की उनमें हिम्मत नहीं, यदि किसी ने ऐसा प्रयत्न किया तो व्यर्थ की बदनामी भी उसे सहनी पड़ी।

यदि कार्यों तथा निर्धारित नीति की समय-समय पर आलोचना न होती रहे तो प्रगति का मूल्यांकन तथा सावधानी और ज़िम्मेदारीपूर्वक कार्य-संचालन में निष्पक्षता नहीं आने पाती। यही कारण है कि संस्था की प्रगति में

कार्यों के प्रति सजग रखने वाले महानुभावों का भी बहुत हाथ रहता है। विद्यापीठ के प्रारम्भिक ५ वर्ष तो शैशव के ही गिने जाएँगे। संस्था की नींव को सुदृढ़ बनाने में तथा सभी कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करने में, सभी ओर उत्साह-ही-उत्साह दिखाई पड़ा। मत-भिन्नता या विरोध की गुंजाइश नहीं थी। परन्तु ५ वर्ष के उपरान्त जब उस समय के पदाधिकारियों ने साधारण सभा बुलाने में एक-दो वर्ष की देर कर दी तो, कितनी ही बातें, जो दबी पड़ी थीं, उभर आईं। मन्त्री के कार्यों से असन्तोष भी प्रकट किया गया। यदि इस प्रकार की चेतावनी उस अवसर पर न होती तो कितनी ही बातें सम्भाव्य थीं। मत-भिन्नता के कारण उस समय के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तक विद्यापीठ से अलग हो गए। परन्तु व्यवस्था को वे व्यक्ति सँभाले हुए थे, जो प्रतिष्ठापकों में से एक थे। अतः उनके प्रति आदर भी आवश्यक था। किसी प्रकार मामला सुलझा। प्रथम दशक समाप्त होते-होते सभी श्रेणियों के कार्यकर्ता जागरूक अवस्था में थे। जब विद्यापीठ की उस समय की संयुक्त मन्त्राणी ने त्यागपत्र देकर साथ के मन्त्रियों पर दोषारोपण किये, तो कार्यकर्ता चुप न रह सके। प्रतिष्ठापकों के प्रति आदर रहते हुए भी उनके और उनके साथ वालों के कार्यों का स्पष्टीकरण प्राप्त करने के लिए जाँच-समिति नियुक्त कर दी गई। यह उस समय के व्यवस्थापकों के लिए चुनौती थी।

कार्यकर्ताओं को आश्चर्य तो तब हुआ, जबकि संयुक्त मन्त्राणी के आरोपों में अत्यधिक सत्यांश पाया गया। फिर भी व्यवस्थापकों को क्षमा किया गया और चेतावनी दी गई, जिससे वे भविष्य में गलतियों की ओर अग्रसर न हों। वैसे देखा जाए तो प्रथम दशक की सम्पूर्ण प्रगति उस समय के सभी कार्यकर्ताओं के उत्साह का परिणाम थी, फिर भी प्रधान व्यवस्थापकों का उसे सुनियन्त्रित रखने में बहुत हाथ रहा है।

विद्यापीठ के पहले मन्त्रित्वकाल में इससे अधिक मतभिन्नता के प्रसंग कम ही पाए जाते हैं, परन्तु इसका भी उन दिनों के व्यवस्थापकों पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे उस समय से आज तक व्यवस्था से दूर पड़ गए। दूसरे मन्त्रित्वकाल में केवल आपसी संगठनों के विवाद अधिक बढ़े। कितने ही संगठन कार्यरत थे और व्यवस्था में अधिकाधिक अपने प्रतिनिधित्व का प्रयत्न कर रहे थे; परन्तु इस कार्यवाही का न तो विद्यापीठ के कार्य पर ही असर पड़ा, न उस समय के व्यवस्थापकों पर ही। कानूनी सलाह के आधार पर संविधान की व्याख्या करते हुए विद्यापीठ के कुछ संगठन अलग हो गए, कुछ सम्मिलित हो गए। नई कार्यप्रणाली की रचना हुई। कार्यकर्ताओं से विद्यापीठ अथवा उसकी समितियों का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। वैसे इस दूसरे मन्त्रित्व-काल में सैकड़ों कार्यकर्ता और हजारों विद्यार्थियों का विछोह विद्यापीठ को सदैव ही अखरता रहा, परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई चारा भी नहीं था।

विद्यापीठ का तीसरा मन्त्रित्वकाल बहुत ही संघर्षमय और संकटपूर्ण रहा है। बम्बई से बाहर प्रचार की ठोस नींव पड़ चुकी थी। प्रेस आदि सम्पत्ति भी खरीद ली गई थी। परन्तु कार्यकर्ताओं और पदाधिकारियों में मतभिन्नता-सी रही। शर्मा-बोरगाँवकर प्रकरण के समय तो प्रत्यक्ष संकट ही विद्यापीठ पर दिखाई पड़ा। कार्यकर्ताओं का एक संगठन उस समय के शिक्षा-मन्त्री के विरुद्ध हो गया। यदि यह विवाद केवल विद्यापीठ में ही सीमित रहता तो भी आगे चलकर परिस्थिति सँभल सकती थी, परन्तु कार्यकर्ताओं के उस संगठन ने विद्यार्थियों में असहयोग उत्पन्न कर दिया। समाचार-पत्रों का प्रतिदिन यह विषय बन गया। निबटारे के फलस्वरूप शिक्षा-मन्त्री भी अलग हुए और २५ से अधिक प्रचारकों का संगठन भी। उस समय के पदाधिकारियों ने विद्यापीठ के महाराजा बिल्डिंग-स्थित कार्यालय के लिए भी कोई निश्चित निर्णय नहीं किया था, इसलिए यह प्रश्न भी उस समय के कार्यकर्ताओं में चर्चा का रहा। फिर भी एक-दो वर्ष के लिए स्थिति सँभली रही। इसी मन्त्रित्वकाल के अन्तिम दिनों में पदाधिकारियों को फिर कार्यकर्ताओं का असहयोग प्राप्त हुआ। कारण स्पष्ट थे। साधारण सभा हुई थी, परन्तु नया निर्वाचन दो वर्ष तक टल चुका था। आर्थिक स्थिति पूर्णरूपेण घाटे की तरफ थी। भविष्य केवल सामान्य गति के काम के अतिरिक्त कुछ नहीं था। नये पुराने कार्यकर्ता फिर संगठित हुए और निर्वाचन के समय पदाधिकारियों में से

कुछ को अच्छा सबक सिखाया।

पहले मन्त्रित्वकाल के व्यवस्थापक अपने निजी और घरेलू कारणोंवश विद्यापीठ से अलग हुए थे; दूसरे मन्त्रित्वकाल के संचालक मतभिन्नता के कारण, परन्तु तीसरे मन्त्रित्वकाल के संचालक कार्यकर्ताओं का असहयोग पाकर। चौथे मन्त्रित्वकाल में प्रारम्भ के दो-तीन वर्ष विना किसी मतभिन्नता के बीते। अन्तिम वर्ष में फिर कार्यकर्ताओं में दो संगठन बन गए। इस चौथे मन्त्रित्वकाल में तीसरे मन्त्रित्वकाल के संचालकों से भी समय-समय पर निपटना पड़ा; यहां तक कि तीसरे मन्त्रित्वकाल के प्रधान व्यवस्थापक के साथ मुकदमेबाज़ी भी हुई और वर्षों होती रही।

चौथे मन्त्रित्वकाल में गुजरात का संगठन विद्यापीठ से अलग हुआ। उस समय यह देखा गया कि वह सम्पूर्ण संगठन तीसरे मन्त्रित्वकाल के व्यवस्थापकों की सेवा से सम्पन्न होकर विद्यापीठ से अलग हुआ है। दस हजार से भी अधिक परीक्षार्थियों का प्रश्न था। गुजरात के संगठन ने विद्यापीठ की पूरी-पूरी नकल की, अपनी परीक्षाओं के नाम भी वही रख लिए जो विद्यापीठ के थे। प्रचार पर भारी परिणाम की आशंका थी। सम्पूर्ण क्षेत्र में उस संगठन के लोग विद्यापीठ के प्रति गलतफहमी फैलाने में तल्लीन हो गए। जब कुछ प्रकाशित सामग्री विद्यापीठ को प्राप्त हुई तो यहाँ से भी प्रयत्न प्रारम्भ हुए। फिर भी इस संगठन के अलग होने पर विद्यापीठ को किसी प्रकार की हानि नहीं उठानी पड़ी, उल्टे सभी प्रचारकों से सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ। चौथे मन्त्रित्वकाल के अन्तिम दिनों की मतभिन्नता केवल व्यवस्था सँभालने की भागदौड़ के लिए ही हुई, इसमें विद्यापीठ द्वारा निर्धारित नीतियों पर किसी प्रकार की आलोचना प्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं पड़ी।

पाँचवें मन्त्रित्वकाल से विद्यापीठ की दीर्घ-मन्त्रित्व अवधि इस समय तक समाप्त-सी है। यह काल है इस दशक का उत्तरार्द्ध और इसके आसपास का। पाँचवें मन्त्रित्वकाल में चौथे मन्त्रित्वकाल के संचालक और उनके साथियों से महीनों तक उलझना पड़ा, जिसका निबटारा भी विचित्र ही हुआ। चौथे मन्त्रित्वकाल के कुछ सहयोगियों को पाँचवें से छठे-सातवें तक के सभी कार्य आलोचनात्मक ही दिखाई दिये। परन्तु रजत-जयन्ती के शुभ मुहूर्त से एक-दो वर्ष पहले ही, वे भी वर्तमान नीतियों के पक्षपाती हो गए। केवल व्यर्थ का विरोध और अच्छे-भले कार्यों की भी आलोचना का समय बीत गया। लोगों में जो गलतफहमी थी, अधिकांश दूर हो गई। सच्ची लगन के साथ सभी कार्यकर्ता विद्यापीठ की उन्नति में हाथ बटाने लगे। इस समय विद्यापीठ के साथ जो लोग कार्यरत हैं, अथवा गतिविधियों में भाग ले रहे हैं, वे सभी इन १५ वर्षों से विद्यापीठ से सम्बन्धित हैं, कुछ प्रतिशत ही इससे अधिक अवधि वाले हैं। विद्यापीठ का छठा मन्त्रित्वकाल शान्त वातावरण में प्रगतिदायक सिद्ध हुआ। सातवाँ तो अभी चल ही रहा है।

उपरोक्त विवरण न देने से संचालन-व्यवस्था का पूर्ण आभास पाठकों को नहीं मिल सकता था। मतभिन्नता होते हुए भी विद्यापीठ की प्रगति के लिए सबके साथ मिलकर कार्य करते रहना विद्यापीठ के कार्यकर्ताओं की विशेषता रही है। केवल स्वार्थ के वशीभूत होकर जिन व्यक्तियों ने विद्यापीठ-विरोधी कार्य किया, उन्हें अपने कार्य में अधिक दिनों तक सफलता कभी नहीं मिली। अब भी यदा-कदा कुछ स्वार्थी और ईर्ष्यालु लोग विद्यापीठ के निष्ठावान कार्यकर्ताओं के विरुद्ध विष-वमन किया करते हैं, परन्तु रजत-जयन्ती के समय तो उनका प्रयत्न केवल अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। सभी लोगों के सहयोग और सम्मिलित शक्ति के जाज्वल्यमान प्रकाश में विद्यापीठ सदा ही उन्नति की ओर अग्रसर होती रहेगी।

उपरोक्त संक्षिप्त परिचय के बाद कुछ महानुभावों की सेवा का स्मरण करना भी आवश्यक है, क्योंकि उपरोक्त परिचय तो केवल बम्बई शहर की गतिविधियों से ही सम्बन्धित है। गुजरात क्षेत्र में विद्यापीठ के सैकड़ों निष्ठावान कार्यकर्ता इस समय काम कर रहे हैं, जिनमें सर्वश्री नवनीतलाल रावल, शिवप्रसाद शुक्ल, रमेशचन्द्र शुक्ल, माणिकचन्द जैन, जोसेफ मेकवान, बालाकान्त झा, लक्ष्मी बहन परमार तथा अनुसूया बहन पुसालकर के कार्य कभी भुलाए नहीं जा सकते। इससे पूर्व बा० दा० मेहता और पोपटलाल शाह ने भी प्रचार-कार्य में विशेष योग दिया।

महाराष्ट्र क्षेत्र में सैयद परिवार के अतिरिक्त सर्वश्री रामदास अत्तर, ज० शं० गोसावी, घनश्यामदास मूंदड़ा और बा० रा० पाटील का कार्य विशेष स्मरणीय है। साथ ही विद्यापीठ का स्थान-स्थान पर प्रचार करते रहने वाले श्री म० का० भागवत का तो विशेष स्थान है ही।

राजस्थान में सर्वश्री मोहनलाल शर्मा, मदनलाल पुरोहित, गंगाशंकर जोशी और हुकुमनारायण जोपट का सहयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसी प्रकार दिल्ली में सर्वश्री फूलचन्द शर्मा तथा डी० डी० गोस्वामी विद्यापीठ को महत्त्वपूर्ण सहयोग दे रहे हैं। इम्फाल क्षेत्र में कृष्णचन्द्र शर्मा और बेलगाँव क्षेत्र में महादेव वा० पालकर और गणपति मु० दाणी का सम्पूर्ण सहयोग विद्यापीठ को प्राप्त हो रहा है।

इनके अतिरिक्त हज़ारों सेवाभावी कार्यकर्ता विद्यापीठ की उन्नति में हाथ बँटा रहे हैं, जो हमारी भावी योजनाओं को साकार रूप देने में सहायक सिद्ध होंगे।

परिशिष्ट: रजत-जयन्ती-महोत्सव के भाषण

डॉ० ज़ाकिर हुसैन

'हिन्दी' देश की एकता की कड़ी है

डॉ० जाकिर हुसैन भारत के उपराष्ट्रपति एवं सुप्रसिद्ध गांधीवादी शिक्षा-शास्त्री हैं। वर्धा बेसिक योजना के प्रणेता आप ही हैं। उर्दू के बहुत अच्छे कहानीकार भी हैं। प्रस्तुत भाषण आपने बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के रजत-जयन्ती-महोत्सव एवं जयन्ती-ग्रन्थ का उद्घाटन करते हुए दिया था।
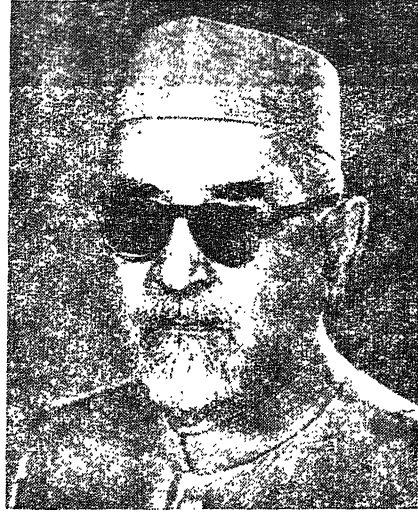
दोस्तो,

मैं दिल से आपका आभारी हूँ कि आपने बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के रजत-जयन्ती-महोत्सव के उद्घाटन के लिए मुझे याद किया है। आपने पिछले २५ वर्षों में हिन्दी को देश में फैलाने के लिए और इसे ऐसा बनाने के लिए कि इसके माध्यम से शिक्षा का सारा काम निकल सके, इसे देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वालों को जोड़ने की कड़ी बनाने के लिए जो काम किये हैं, उनका हाल सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई है। यह हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए बड़े महत्त्व का काम है—कठिन काम है; पर करने का काम है और आपका विद्यापीठ इसे जिस लगन से कर रहा है उस पर मैं दिल से बधाई देता हूँ।

हमारा देश एक निराला देश है, बहुत बड़ा देश है और इसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलनेवाले, भिन्न-भिन्न मतों और धर्मों को माननेवाले बसते हैं। इस देश का राज्य लोकराज्य है और गणतन्त्र है। इसमें सब काम सबके मेलजोल, आपस की रवादारी और सहायता से ही हो सकते हैं। इस मेलजोल के लिए एक भाषा का होना उपयुक्त हो सकता है। अब तक देश के अलग-अलग हिस्सों में कारोबार और व्यवहार एवं सरकारी काम के लिए पहले फ़ारसी और फिर अंग्रेजी से काम लिया जाता रहा है। मगर उस वक्त पढ़े-लिखे गिनती के लोग होते थे। अब देश के हर बच्चे को शिक्षा देने का प्रबन्ध हो रहा है। सारा देश लिखा-पढ़ा देश बन जाएगा। इन बच्चों की शिक्षा अपनी-अपनी मातृभाषा में ही हो सकती है। हज़ारों आदमियों के काम के लिए, करोड़ों के सर पर एक परदेशी भाषा का बोझ नहीं रखा जा सकता। मैं मानता हूँ कि यह बोझ न डालना ठीक है। पर सबकी शिक्षा अपनी-अपनी भाषा में हुई तो फिर इतना बड़ा देश जुड़ा कैसे रहेगा? अलग-अलग रहकर बिखर जाएगा, इसलिए इन अलग-अलग टुकड़ों को मिलाने के लिए एक भाषा और सिखानी जरूरी है। और हमारे संविधान में हिन्दी को, देवनागरी लिपि में, इस काम के लिए चुना गया है। यह हमारा राष्ट्रीय फ़ैसला सबको मञ्जूर है, इसलिए अब सभी की सहायता

और ऐसे न लिखो और क्यों बताए और वह क्यों किसी की सुने ? यह सच है, पर लिखनेवाले भी तो समझवाले लोग होते हैं। वे भी ध्यान दें तो शायद हमेशा नहीं तो बहुतेरे बार तो उनकी समझ में भी आएगा कि अगर भाषा बहुत कठिन हो, बोझिल हो, प्रचलित बोली से बहुत दूर, तो उसके समझनेवाले और उसे पढ़ानेवाले बहुत कम होंगे। इन लेखकों, कवियों का दिल भी चाहता है कि उनके विचार अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचें, अधिक-से-अधिक लोगों को रोशनी दें, अधिक-से-अधिक लोगों के दिलों को गरमाएँ। कभी-कभी अवश्य यह होगा कि लिखनेवाला अपने दिल का बोझ हल्का करने को लिखेगा। अपने मन को भला लगने के लिए थोड़ी देर को दूसरे पढ़ने ओर सुनने वालों को भूल जाएगा। ऐसी हालत में उसे उसी तरह लिखना चाहिए जैसे मन चाहता है, चाहे वह किसी को बोझिल लगे या हलका, चाहे सरल लगे या कठिन, लेकिन जब आप एक भाषा के चलन को फैलाना चाहें, जब आप उन लोगों में इसे प्रचलित करना चाहें जो दूसरी भाषाएँ बोलते हैं, जब आप इसे खाली विद्वानों की भाषा न बनाकर जनता की भाषा बनाने का हौसला रखते हैं, जब देश में करोड़ों लोगों को इसके माध्यम से बोलने, सुनने, समझने, समझाने का कार्य लेना चाहते हैं, तो फिर भाषा को सरल रखने की कोशिश ज़रूर करनी चाहिए। विद्वानों और पण्डितों की ज़बान कभी लोगों की ज़बान नहीं बन पाई है। आप बना भी दें किसी ढब से, तो लोग इसे बदल लेंगे। समय लगेगा, दो-तीन सौ साल का काम अकारथ जाएगा, मगर ये लोग ज़रूर उसे सरल बना लेंगे और सरल बनाने में उसे बहुत-कुछ बदल लेंगे।

तीसरी बात एक और कहना चाहता हूँ। आशा है कि आप बुरा नहीं मानेंगे। मैं यह बात इसलिए कहता हूँ कि आपने मुझे इस अवसर पर याद किया है। मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, उर्दू है। मैं हिन्दी सीख रहा हूँ। अभी पूरी तरह नहीं सीख पाया हूँ, पर आशा करता हूँ कि सीख लूँगा। देखता हूँ कि आपने मुझ पर भरोसा किया है और बुलाया है और मेरा दिल साफ है, इसलिए यह बात करता हूँ। वह बात है हिन्दी-उर्दू का झगड़ा। यह झगड़ा देश के बटवारे से पहले के राजनीतिक झगड़ों का दुमछल्ला है। अब उसको खत्म कर देना चाहिए। देश की कोई ज़बान हिन्दी के इतनी नज़दीक नहीं जितनी उर्दू। यह कोई विदेशी ज़बान नहीं, हमारे अपनों की भाषा है। इसके वर्ब, प्रपोज़ीशन और बेशुमार नाउन सब हिन्दी हैं। उसकी आवाज़ों को देखिए तो उसे ईरान और अरब से कोई वास्ता नहीं है। आवाज़ों की बहुत बड़ी संख्या हिन्दुस्तानी है। लिखावट में भी जिसके परदेशी होने पर बहुत ध्यान दिलाया जाता है, दर्जनों हिन्दुस्तानी आवाज़ों की निशानी है। ड़े, डाल, टे, दे, ढ, था, भा, फा, झा, छा, खा आदि इनमें कौन-सी परदेशी आवाज है ? और फिर यह खाली मुसलमानों की ज़बान नहीं है और होती भी तो ऐसी क्या बात थी ? क्या मुसलमानों को कोई हिन्दुस्तानी न मानकर अच्छा हिन्दुस्तानी रह सकता है ? लेकिन यह मुसलमानों की ज़बान कैसे ? त्रिभुवननाथ हिज्र, ज्वालाप्रसाद बर्क, रत्ननाथ 'सरशार', प्रोफ़ेसर रामचन्द्र, ब्रिजमोहन दत्तात्रय, किशनप्रसाद कौल, सुदर्शन, कृष्णचन्द्र, राजेन्द्रसिंह बेदी ने जिस ज़बान का दामन अपनी देन से भर दिया है, इसे आप खाली मुसलमानों की ज़बान कहेंगे ? नसीम चकबस्त, सरूर, फ़िराक, मुन्शी नवलकिशोर, लाला श्रीराम, पण्डित मनोहरलाल ज़ुत्शी, मुन्शी दयानारायण निगम, महाराजा किशनप्रसाद की भाषा को खाली मुसलमानों की ज़बान बताएँगे ? जिस ज़बान में आर्य समाज का सारा साहित्य मौजूद हो, जिसमें ईसाई मिशनरियों के कामों का ढेर हो, वह खाली मुसलमानों की ज़बान कहलाएगी ? नहीं, उर्दू हिन्दुस्तानी ज़बान है, यहीं पैदा हुई, यहीं पली, यहीं बढ़ी, यहीं फले-फूलेगी और मुझे पूरी आशा है कि इसके फलने-फूलने में हिन्दी का काम करने वाले और इस विद्यापीठ के कार्यकर्ता हाथ बढ़ाएँगे। उर्दू के साहित्य से उसकी चीज़ें चुन-चुनकर यदि आप देवनागरी लिपि में छाप लें तो हिन्दी के साहित्यिक खज़ाने में अनमोल इजाफा हो जाए। आप ऐसा करें और उर्दूवालों को विश्वास हो जाए कि हिन्दीवाले उर्दूवालों को अपना साथी समझते हैं, उर्दू-हिन्दी हमेशा बहनें हैं, तो यही नहीं कि एक बड़ा साहित्यिक काम बन जाए, बल्कि उर्दूवाले जो हिन्दी को राजभाषा मानते ही हैं, उसको अपनाने में और भी लग जाएँ और यही नहीं बल्कि भाषा के क्षेत्र में देश का सारा

वातावरण ही बदल जाएगा। राष्ट्रीय जीवन का रंग बदल जाएगा। उर्दूवाले तो हिन्दी की तरफ खिंचेंगे ही, सारे देश में जो जगह-जगह यह डर दिलाते हैं, गलत डर और झूठा डर कि हिन्दी अपने राजनीतिक बल से दूसरी भाषाओं को नुकसान पहुँचा सकती है या पहुँचाना चाहती है, देखते-देखते मिट जाएगा और मिल-जुलकर काम करने की सैकड़ों राहें खुल जाएँगी। आप भी देख लेंगे कि उर्दू की तरक्की से हिन्दी को नुकसान नहीं होता। इनके अलग रहने से, मैं समझता हूँ, दोनों को नुकसान पहुँचा है। दोनों तरफ़ से कोशिश रही है कि अपने को दूसरे से अलग साबित करें। एक तरफ अरबी ठूँसे, दूसरी तरफ संस्कृत, ताकि वह हमारी न समझें हम उनकी न समझें। मैं तो देखता हूँ कि इस मेल से देश-भर में एक सुन्दर, मधुर और कोमल भाषा का रिवाज होगा और बनावटी, बोझिल, कठिन ज़बान का ज़ोर कुछ कम होगा।

विद्यापीठ के कार्यकर्ता हिन्दी को जनता की भाषा बनाएँगे, सभी प्रान्तीय भाषाओं के अच्छे साहित्य को लेकर सम्पन्न बनाएँगे। इस कार्य की सफलता के लिए विद्यापीठ को एक भवन की ज़रूरत है। मैं आशा करता हूँ कि विद्यापीठ का भवन-निर्माण का कार्य जल्द ही पूरा होगा।

आख़िर में, विद्यापीठ के कुलपति और कार्यकर्ताओं को मैं बधाई देता हूँ कि वे इस राष्ट्रीय कार्य में दिनों-दिन तरक्की करते रहेंगे।

जय हिन्द।

ठाकुर राजबहादुरसिंह

हिन्दी-प्रचारकों से

ठाकुर राजबहादुरसिंह बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के संस्थापक सदस्यों में हैं। आप अनेक वर्ष विद्यापीठ के परीक्षा-मन्त्री और कर्णधार रहे। प्रस्तुत भाषण बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के रजत-जयन्ती-उत्सव पर आयोजित हिन्दी-प्रचारक-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिया गया है।

सबसे पहले तो मैं यहाँ उपस्थित विद्यापीठ के आप सभी प्रचारकों का स्वागत करता हूँ, और आपमें से प्रत्येक का अभिनन्दन करता हूँ, क्योंकि मैं मानता हूँ कि आप ही संस्था के प्राण और राष्ट्रभाषा-प्रचार के विधायक कार्यक्रम को आगे बढ़ानेवाले हैं। आज विद्यापीठ को यशस्वी बनाने में आपका जो हाथ रहा है उसका सुपरिणाम देखने में आ रहा है। पच्चीस वर्ष के दीर्घकाल में विद्यापीठ को उसके उच्च ध्येय पर पहुँचानेवाले आप ही लोग हैं। आरम्भ में मैं स्वयं एक निःशुल्क हिन्दी-प्रचारक रह चुका हूँ, इसलिए मैं आपके महत् कार्य की कठिनाइयों का अनुभव कर सकता हूँ। विद्यापीठ में जब-जैसी योजनाएँ बनीं उन सभी को सफल बनाने का श्रेय आप ही लोगों को है—आपके प्रयत्नों से ही सारे देश में बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ का प्रसार हुआ है और आज उसकी परिधि बम्बई और महाराष्ट्र-गुजरात तक ही सीमित न रहकर सारे देश के विभिन्न भागों में विस्तृत हो चुकी है।

हिन्दी-प्रचार में न तो प्रादेशिक भाषाओं से हमारा कोई विरोध है, न सैद्धान्तिक रूप में अंग्रेज़ी अथवा संसार की किसी भी अन्य विदेशी भाषा से ही। प्रादेशिक भाषाएँ तो हिन्दी-प्रसार के लिए सम्बल और आधार सिद्ध हुई हैं, हो रही हैं और होती रहेंगी, किन्तु अंग्रेज़ी का इस मानी में विरोध अवश्य है कि वह हिन्दी का स्थान अनुचित और अवांछनीय रूप में दबाए बैठी है और ऊपर से उसे लाद रखने की अभिसन्धियाँ चल रही हैं। आज़ादी के बाद जो स्थान हिन्दी को बहुत पहले मिल जाना था शासन के सिरताजों और कुछ बहके हुए नेताओं ने उसे न केवल टाल दिया और विलम्बित कर दिया है, बल्कि अपने, अपने-जैसे अन्य विचारवाले समानधर्मियों और जनता को शासन से दूर रखनेवाले तथाकथित जनतन्त्रवादियों और नौकरशाही के हित को ही आगे रखा है और हिन्दी को राष्ट्रभाषा का वास्तविक गौरव न प्राप्त होने देने में जितने भी रोड़े अड़ाए जा सकते हैं, अड़ा रहे हैं। फिर भी मुझे तो विश्वास है कि हिन्दी-प्रचारकों के त्याग, तपस्या, लगन और धुन के द्वारा हम इस समस्या को हल कर सकेंगे।

हिन्दी-प्रचारक-बन्धुओं से मुझे कुछ शब्द अपने तौर पर कहने हैं। वे अपना कार्य करते समय इस बात का ध्यान रखें कि हिन्दी-प्रचार के मार्ग में हिन्दी-प्रयोग की शुद्धता, व्याकरण और मुहावरों पर अत्यधिक ज़ोर न देकर प्रचार में बाधा न आने दें और प्रादेशिक भाषा के शब्दों का उपयोग मुक्त रूप से होने दें। इस प्रकार के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न नहीं होगा और विद्यार्थी मातृभाषा की ही तरह राष्ट्रभाषा को ग्रहण कर सकेंगे।

प्रचार-सम्बन्धी समस्याएँ और भी हैं, किन्तु मुझे अनुभव है कि उन्हें प्रचारक-गण स्थानीय स्तर पर सहानुभूति प्राप्त करके और अधिकारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, शिक्षा-संस्थाओं और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की मदद से हल कर सकते हैं।

संसार में किसी भी उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए जन-सम्पर्क अनिवार्य वस्तु है और जन-सम्पर्क स्थापित करने के लिए प्रचार-तन्त्र एक अनिवार्य साधन है। इसीलिए आरम्भ से ही प्रचार पर इतना बल दिया गया और

इधर के गत कई वर्षों में तो हमारी विभिन्न परीक्षाओं में बैठनेवालों की संख्या में जो आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है वह हमारी इस बात का अकाट्य प्रमाण है। विद्यापीठ के विवरणों में प्रकाशित आँकड़ों को देखने के बाद इस विषय में और कोई सबूत पेश करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

हम आप-जैसे सेवाभावी और निःस्वार्थी प्रचारकों के बल पर ही आज एक ऐसा अनुष्ठान कर बैठे हैं जिसे आप सबको अपनी-अपनी आहुति डालकर सम्पन्न बनाना है। जिस प्रकार प्रचारकों के निरन्तर अधिकाधिक सहयोग के कारण हमारी संस्था का सम्बल बढ़ा है, इसे देखते हुए और यश-बल के साथ उसका आर्थिक बल बढ़ाने के लिए हमने विद्यापीठ की भवन-योजना बनाई है, जिसकी सूचना आप को यथासमय मिल चुकी है और अब उसके लिए कार्पोरेशन की सहायता से स्थान प्राप्त हो जाने पर हम विद्यापीठ के प्रचारकों और प्रसारकों से यह अनुरोध करने की स्थिति में हो गए हैं कि वे अपनी समूची शक्ति लगाकर इसके लिए धन-संग्रह करने में सहायता करें, जिससे जहाँ तक हो सके शीघ्र-से-शीघ्र हम अपने अरसे से संजोए हुए संकल्प को कार्यरूप में परिणत कर सकें।

मुझे मालूम है कि विभिन्न क्षेत्रों में अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में काम करनेवाले प्रचारकों की भी अपनी अनेक समस्याएँ हैं। उन पर विचार करना हमारा फ़र्ज़ है और विद्यापीठ इस दिशा में सजग है। फिर भी इस विषय में आपको अपने-अपने सुझाव पेश करने पड़ेंगे, जिससे हमने विद्यापीठ भवन का जो संकल्पित रूप सोच रखा है, उसे क्रियान्वित किया जा सके और हम भारत के राष्ट्र-निर्माण और भावात्मक एकता को स्थापित करने के उच्च उद्देश्य की प्राप्ति में अपना हिस्सा अदा कर सकें।

एक बात और। प्रचार के साधन और उसके तन्त्र में विस्तार करने के लिए हम जब जो कार्यक्रम बनाएँगे उसकी सूचना आप सभी को यथासमय प्राप्त होती रहेगी और हमें आशा है कि उसकी पूर्ति में आप बिना हमारे अनुरोध के ही जी-जान से जुटकर काम करेंगे और हमें अपनी गति-विधि की सूचना यथासमय देते रहेंगे। मुझे विश्वास है कि विद्यापीठ के इस कार्य में आप न केवल पहले की भाँति लगे रहेंगे, बल्कि उसे और अधिक वेग से संचालित करने में सहायक होंगे।

आपमें से प्रत्येक व्यक्ति और प्रचार-केन्द्र विद्यापीठ का अंग है, इसलिए विद्यापीठ की प्रत्येक गति-विधि के सँभालने में आपको उसी प्रकार योगदान देना है, जिस तरह शरीर का प्रत्येक अवयव उसके पोषण के लिए अपना-अपना कार्य सम्पादन करता है। आपसे हमें बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं और आपके भरोसे हमने अपनी ध्येय-पूर्ति की महती धारणा बना रखी है। मुझे पूरी आशा है कि आप स्वेच्छा से हमारे इस ध्येय की पूर्ति में पूरा सहयोग देंगे और अपने कष्टों, अड़चनों की परवाह न कर राष्ट्ररथ को आगे बढ़ानेवाले हमारे इस प्रयत्न में सम्पूर्ण और अयाचित सहायता और सहयोग प्रदान करेंगे।

हमें आशा ही नहीं, विश्वास है कि विद्यापीठ के इस रजत-जयन्ती-महोत्सव से लौटकर आप लोग अपने-अपने क्षेत्र में हमारे इस यज्ञानुष्ठान की व्यापक चर्चा करेंगे और इस कार्य को भली-भाँति सम्पन्न करने के लिए अपनी अमूल्य सेवाएँ और भी वर्द्धित रूप में विद्यापीठ और राष्ट्र को अर्पित करेंगे। आपकी और आपके द्वारा विद्यापीठ की गतिविधि के सफल होने की मैं पूर्ण आशा रखता हूँ और चाहता हूँ कि मैं अपने जीवन-काल में इस महान् संकल्प—विद्यापीठ-भवन-निर्माण के साकार रूप को अपनी आँखों से देखकर पूर्ण सन्तोष और आत्मानन्द प्राप्त कर सकूँगा।

डॉ० विश्वनाथप्रसाद

हिन्दी का अखिल भारतीय स्वरूप

केन्द्र में हिन्दी के लिए ठोस कार्य करनेवालों में डॉ० विश्वनाथप्रसाद का स्थान अन्यतम है। भाषा-विज्ञान के अधिकारी विद्वान, सन्तों-जैसा सरल-स्वभाव, वाद-विवाद से दूर, रचनात्मक कार्य में तल्लीन! बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ की रजत-जयन्ती के अवसर पर देश-भर से आये हुए हिन्दी-अध्येताओं और प्रचारकों के समक्ष दीक्षान्त भाषण देते हुए उन्होंने हिन्दी के अखिल भारतीय स्वरूप का विवेचन किया। उसके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं।

हिन्दी के प्रत्येक विद्यार्थी को मैं राष्ट्रीय एकता का दूत समझता हूँ। चाहे आपने विशुद्ध ज्ञानार्जन के लिए, चाहे व्यवसाय के लिए और यश के लिए, चाहे किसी अन्य वृत्ति के लिए हिन्दी का अध्ययन किया हो, आपके सिर पर एक राष्ट्रीय दायित्व भी आ जाता है। आपने देश की ऐसी भाषा का अध्ययन किया है जो इस देश की बहुसंख्यक लोगों की—लगभग ५० प्रतिशत लोगों की—व्यवहारी भाषा है, जिसका क्षेत्रफल यदि मध्य देश में सीमित करके अनुमानित किया जाए, तो भी किसी समस्त देश के क्षेत्र-फल का लगभग अर्धांश है, जिसका संसार की भाषाओं के बीच जनसंख्या की दृष्टि से अंग्रेज़ी के बाद तीसरा स्थान है। आपने एक ऐसी भाषा का अध्ययन किया है, जिसका आमूल विकास बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय की भावना से हुआ है। आरम्भ से ही देश की एकता के मूल-मन्त्र के रूप में हिन्दी को हमने ग्रहण किया है। जिस दिन असम के शंकरदेव ने एक ऐसी भाषा में 'अंकिया' नाटक की रचना की, जो असम में ही सीमित नहीं थी, जिस दिन बंगाल के अनेकानेक कवियों ने एक ऐसी भाषा में साहित्य-सृष्टि की जो बंग-प्रदेश की सीमा में ही आबद्ध न होकर ब्रजबुलि के रूप में सुदूर ब्रज तक गुंजित हो जाने को उन्मुख थी, जिस दिन नरसिंह ने ऐसी वाणी में भजन गाए जो गुजरात की परिधि के बाहर भी लोगों के प्राणों और मन में अमृत घोल सके, जिस दिन नामदेव और तुकाराम ने ऐसे राग छेड़े जो महाराष्ट्र के दायरे से बाहर भी दूर-दूर के अगणित हृदयों में जीवन का नया प्रकाश और उमंग भर सके, जिस दिन राजस्थान के वीर कवियों ने डिंगल को पिंगल के रंग में रँगकर राजस्थान के बाहर भी बहुसंख्यक लोगों की भावनाओं को कुछ गजब की मस्ती और जोश से भर दिया, उसी दिन हिन्दी के उस उदार अभिनव रूप का निर्माण हुआ, जो प्रदेश-व्यापी न होकर देशव्यापी कहा जा सकता है। पंजाब के गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह तथा काशी के वासी कबीर ने इसी देशव्यापी भाषा का आश्रय ग्रहण किया था। हमारे समस्त भक्ति-साहित्य में हिन्दी का यही व्यापक रूप विकसित हुआ था। चाहे मिथिला के विद्यापति के पद हों, चाहे राजस्थान की मीराबाई के, सबमें सर्वग्राह्य केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार हिन्दी के विकास में विभिन्न प्रदेशों और उनकी भाषाओं का योग सदियों से रहा है।

हमारे संविधान के अनुसार १४ भाषाओं को राष्ट्र-भाषा की संज्ञा मिली है। इनमें बंगला, गुजराती, तमिल, तेलुगु इत्यादि भाषाओं का सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रदेश-विशेष से है। पर हिन्दी एक प्रदेश की भाषा न होकर अनेक प्रदेशों की भाषा है। यों हिन्दी के लिए भी एक क्षेत्र तो निर्धारित है, जिसके अन्तर्गत पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश और बिहार प्रदेश आते हैं। पर ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी केवल इसी परिधि में सीमित नहीं है। जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, वह एक सांस्कृतिक भाषा है। वह किसी एक

प्रदेश-विशेष या वर्ग-विशेष की भाषा न होकर समस्त देश की स्वाभाविक राष्ट्रभाषा है। जैसे अंग्रेज़ी इंग्लैंड की भाषा है, फ्रेंच फ्रांस की भाषा है, बृहत् रूसी रूस की भाषा है और चीनी चीन की भाषा है, वैसे ही हिन्दी भी समस्त देश की प्रतिनिधि राजभाषा है। हमारे संविधान ने इसे देश की राजभाषा स्वीकार करके उसके इसी रूप को बहुमान प्रदान किया है। उसके गौरव में सभी देशी भाषाओं का गौरव है, वैसे ही जैसे सभी देशी भाषाओं की गरिमा में ही उसकी भी गरिमा सन्निहित है। इस दृष्टि से हिन्दी हमारी अभिन्नता और एकता का प्रतीक है। यदि ऐसी बात नहीं है, तो हिन्दी मेरी दृष्टि में निरर्थक है।

हिन्दी के विकास का रोचक इतिहास

हिन्दी के सम्बन्ध में दक्षिण और उत्तर का भेद-भाव भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिन्दी के समस्त प्राचीन साहित्य के मूल में, चाहे वह राम-काव्य हो या कृष्ण-काव्य, दक्षिण के आचार्यों की ही मंगलमयी प्रेरणा काम कर रही थी। प्रसिद्ध है :

भक्ती द्रविड़ ऊपजी, बाए रामानन्द।
परगट करी कबीर ने सप्तदीप नौखण्ड ।।

चाहे निर्गुण-धारा का साहित्य हो, चाहे सगुण-धारा का, सभी में दक्षिण से उमड़ती हुई भक्ति-भावना की तरंग उद्वेलित है। तुलसीदास पर जैसे रामानन्द का प्रभाव है, वैसे ही सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की वाणी में वल्लभाचार्य के अमर सन्देश मुखरित हैं। हमारे वीर-साहित्य में भी भूषण-जैसे कवियों के प्रेरणा-स्रोत का उद्गम दक्षिण में ही वीर शिवाजी के उदात्त चरित्र में था। इस दृष्टि से हिन्दी जिस अंश में उत्तर की भाषा कही जाएगी, उसी अंश में दक्षिण की भी। वस्तुत: दक्षिण की ही भाषा बाद में चलकर आज की साहित्यिक खड़ी बोली यानी उर्दू के रूप में विकसित हुई है।

किस प्रकार इस भाषा का विस्तार उत्तर से दक्षिण में और फिर एक नए रूप में दक्षिण से उत्तर में हुआ, इसका इतिहास बड़ा रोचक है। जब उत्तर भारत के मुसलमान बीजापुर, गोलकुण्डा तथा दक्षिण के अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों में जा बसे, तो उन्होंने अनुभव किया कि दिल्ली, पंजाब, गुजरात तथा राजस्थान में समान रूप से बोली जानेवाली जिस भाषा को उन्होंने इस देश में पहले-पहल बसते समय सीखा था, दक्षिण में शासक-वर्ग के रूप में उनके व्यवहार का समर्थतम साधन वही भाषा है। इस समय तक ऐसी स्थिति आ गई थी जब इस भाग के मूल निवासियों के लिए इस भाषा को समझना कठिन नहीं था। इसकी शब्दावली अब भी संस्कृत की थी और गठन तथा वाक्य-रचना उनकी अपनी बोलियों के समान ही थी। इसलिए उन्होंने इस भाषा को कुछ आदर-भाव से ग्रहण किया, जो कि शासक-वर्ग की भाषा के प्रति स्वाभाविक ही है। समय-क्रम से इस भाषा ने विकसित होकर वहाँ दक्खिनी नाम से एक साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर लिया। धीरे-धीरे दक्षिण भारतीयों के प्रयोगों ने इसे प्रभावित किया और यह दक्षिण की भाषाओं को जोड़ने-वाली उनके बीच की एक मज़बूत कड़ी बन गई।

हिन्दी के सम्बन्ध में हिन्दू भक्त-कवियों की जितनी देनें हैं, उससे कम मुस्लिम फकीर या सूफी कवियों की नहीं। खुसरो, रहीम और रसखान हिन्दी के वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे सूर, तुलसी या केशव।

हमारे संविधान ने अपनी ३५१वीं धारा में हिन्दी के विकास और प्रसार को इसी परम्परा-सिद्ध आधार को ग्रहण करके इसे राजभाषा घोषित किया है और निर्देश दिया है कि :

> 'हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना उसका विकास करना, ताकि वह भारत की संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहाँ आवश्यक हो वहाँ उस शब्द के भण्डार के लिए मुख्यत: संस्कृत से तथा गौणत: उसी उल्लिखित भाषा से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।'

आज मुख्य प्रश्न यह है कि संविधान में हिन्दी के जिस व्यापक रूप की कल्पना की गई है, उसका विकास शीघ्राति-शीघ्र कैसे हो सके। लेकिन इस बारे में यदि कोई यह

समझे कि कृत्रिम ढंग से विकसित भाषा से शब्दों को जैसे-तैसे ठूँस-ठाँस करके एक कृत्रिम भाषा गढ़ डाली जाए, तो सफलता कभी नहीं मिल सकती है, उपहास ही हाथ लगेगा। भाषा के ऐसे व्यापक रूप का निर्माण तो प्राचीन परम्पराओं के अनुसार विकास की प्रक्रिया से ही सम्भव है। विभिन्न प्रदेशों के लोग हिन्दी में स्वतः साहित्य-निर्माण करने लगेंगे और उसे व्यवहार में लाने लगेंगे, तो आपसे-आप उनके साथ उनकी मातृभाषाओं और बोलियों के प्रयोग हिन्दी में स्वाभाविक रूप से और बरबस आते जाएँगे। उदाहरण के लिए हिन्दी में आपत्ति और सम्भ्रम शब्दों में कमशः उच्च और भद्र पुरुष इन नए अर्थों का जो विकास हुआ है, वह बँगला के अनुवादों की देन है। चालू, लागू आदि जैसे मराठी के अनेक शब्द हिन्दी में स्वर्गीय श्री माधवराव सप्रे तथा श्री पराड़करजी की कृतियों और लेखों के द्वारा व्यवहृत होने लगे। बगल के अर्थ में बाजू में, और खत्म हो जाने के अर्थ में खलास हो जाना जैसे प्रयोगों का हमें सानन्द स्वागत करना चाहिए।

अहिंदी क्षेत्रों के लेखकों, कवियों की रचनात्मक इच्छा-शक्ति जाग्रत होकर जब हिन्दी में स्वर भरने लगेगी तो स्वभावतः उसके साथ सहस्रों अर्थपूर्ण शब्द, बहुरंगी प्रयोग सहज ही प्रविष्ट होंगे और वे किसी प्रकार फिर अलग नहीं रखे जा सकेंगे। इस रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए सभी साधनों का उपयोग होना चाहिए।

भारतीय भाषाओं के शब्दकोश का लगभग ६०-७० प्रतिशत अंश पहले से ही समान है। हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि किसी एक के भी शब्दकोश को ले लीजिए और गुजराती और मराठी किसी अन्य भाषा के शब्दकोश से तुलना कीजिए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अधिकांश शब्द दोनों में व्यवहृत हैं। सच पूछिए तो साहित्यिक तमिल और व्यावहारिक उर्दू के भी शब्दकोश को इसका अपवाद नहीं कहा जा सकता। विभिन्न भाषाओं के शब्दों के अर्थ में प्रायः कुछ भेद अवश्य दिखाई देता है, पर वह अर्थभेद भी आदान-प्रदान के क्रम में धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

आज तो विज्ञान, जो देश-देशान्तर की दूरी समाप्त करता जा रहा है, हमारी उस अन्तर-वाहिनी आधारभूत एकता को और परिपुष्ट ही करेगा, जिसने बाह्य विभिन्नताओं के बीच एक सामान्य भारतीय जीवन-मार्ग तथा विचार-धारा को जन्म दिया है। देश में औद्योगीकरण की वृद्धि (एवं नागरीकरण की वृद्धि) तथा रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन आदि विचार-वहन के वैज्ञानिक साधनों के द्रुत विकास और वर्द्धमान सांस्कृतिक, साहित्यिक आदान-प्रदान के साथ-साथ भाषा-सम्मिश्रण और हेल-मेल की प्रवृत्ति बढ़ती ही जाएगी और इसका प्रस्फुटन सामान्य वक्ता के भाषण-व्यवहार में भी निश्चित रूप से होगा।

विरोध की बात

प्रायः बताया जाता है कि कुछ अहिन्दी-प्रदेशों में हिन्दी के खिलाफ विरोध की भावना फैल रही है; परन्तु सच बात तो यह है कि यह भावना कुछ राजनीतिक वर्गों तक ही सीमित है। असल में हिन्दी का विरोधी कौन है? मेरी समझ में हिन्दी-विरोध को अहिन्दी-भाषी प्रदेशों पर लादना सरासर अन्याय करना है, क्योंकि हिन्दी के सबसे प्रबल विरोधी तो उत्तर-भारत के वे ही प्रदेश हैं जो हिन्दी भाषा-भाषी कहे जाते हैं। उनके मन में भय भर गया है कि कहीं उन्होंने हिन्दी पर अधिक ध्यान दिया, उसे माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया, तो उसके कारण उनके यहाँ अंग्रेज़ी का स्टैण्डर्ड और नीचे गिर जाएगा। फिर तो उनके यहाँ के लोगों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ नहीं मिल सकतीं, क्योंकि वे अखिल भारतीय प्रतियोगिता-परीक्षाओं में सफलता नहीं प्राप्त कर सकेंगे। इसलिए विश्वविद्यालयों में जब कभी हिन्दी अथवा देशी भाषाओं के माध्यम के विस्तार का प्रश्न उठता है, तो उसका निषेध किया जाता है। अंग्रेज़ी के स्टैण्डर्ड को ऊँचा करने के लिए अब उन प्रदेशों में, कुछ समय पहले जहाँ पाँचवीं कक्षा से अध्ययन शुरू किया जाता था, वहाँ अब तीसरी कक्षा से अध्ययन प्रारम्भ करने की योजना कार्यान्वित की गई। यह सही है कि दक्षिण में तथा अन्य अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में भी यह डर व्याप्त है। तमिलनाड में भी तो यही डर प्रकट किया जाता है कि यदि अंग्रेज़ी माध्यम गया और हिन्दी माध्यम आया, तो फिर तथाकथित हिन्दी-क्षेत्र के लोगों को विशेष लाभ मिल जाएगा और अहिन्दी-भाषी प्रदेश नौकरियों तथा परीक्षाओं में

पिछड़ जाएँगे। इसलिए अंग्रेज़ी माध्यम को छोड़ने में और मातृभाषा के माध्यम को अपनाने में वे भय खा रहे हैं। उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सर्वत्र फैले हुए इस भ्रम का निवारण आख़िर कौन करे? नौकरियों में और प्रतियोगिता-परीक्षा में आख़िर कितने लोग आते हैं? उनकी संख्या एक प्रतिशत भी नहीं होगी। तो फिर ऐसा विचार क्यों न किया जाए कि हम एक आने के लिए पन्द्रह आने की बरबादी से बच सकें। मातृभाषाओं के माध्यम को अपनाने में हम पन्द्रह आने का हित कर सकेंगे और बहुसंख्यक लोगों को ज्ञान-विज्ञान में शिक्षित कर सकेंगे।

इस भ्रान्ति और भय को दूर करने के लिए हमारे प्रधान मन्त्री श्री नेहरूजी ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित कर दिया है कि जब तक अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के लोग स्वतः हिन्दी को स्वीकार करने को तैयार नहीं हों, तब तक वहाँ राजभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग कदापि नहीं हो सकता। इस विवेकपूर्ण घोषणा से तो अब सारे भाइयों को सन्तोष हो जाना चाहिए।

वस्तुतः समस्त राष्ट्र की समान भाषा अथवा राज-भाषा के रूप में हिन्दी का भविष्य हिन्दीतर भाषा-भाषियों के ही हाथ में है। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा के रूप की कल्पना का श्रेय उन्हीं को है। केशवचन्द्र, राममोहन राय, बंकिम-चन्द्र, सुभाष बोस, दयानन्द, माधवराव सप्रे, पराडकरजी, तिलक, महात्मा गांधी आदि हमारे जिन चिरस्मरणीय नेताओं ने हिन्दी के अखिल भारतीय रूप की प्रतिस्थापना की, वे सब-के-सब तथाकथित हिन्दी क्षेत्र के बाहर के ही थे। आज भी हिन्दीतर क्षेत्रों के अनेक यशस्वी और सुकृत साहित्यकार हिन्दी के निर्माण की साधना में लगे हैं।

अभी उर्नाकुलम में एक 'अखिल केरल हिन्दी कन्वेंशन' हुआ था, जिसमें संविधान की ३४३ धारा के अनुसार, हिन्दी को जल्दी-से-जल्दी भारत की राजभाषा बनाने की माँग की गई, जिससे केन्द्र, प्रशासनिक, वैज्ञानिक, न्याय-विभागिक तथा प्रशासकीय कार्य-क्षेत्रों में उसका अविलम्ब व्यवहार किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस कन्वेंशन में केन्द्रीय सरकार से ज़ोरदार सिफ़ारिश की गई। केरल प्रदेश ने इस सम्बन्ध में जो कदम उठाया है, उसे देखकर ही निश्चय हो जाता है कि हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रदेशों पर हमारे प्रधान मन्त्री नेहरू ने जो दायित्व डाला है, उसका निर्वाह वे बड़ी मुस्तैदी के साथ कर रहे हैं, और करेंगे। केरल का यह नेतृत्व उदाहरणीय है।[1]

अंग्रेज़ी मात्र झरोखा है, दरवाज़ा नहीं

गांधीजी ने अंग्रेज़ी को हम लोगों के लिए एक झरोखा कहा था, जिस झरोखे से हम बाहर का प्रकाश और हवा ले सकते हैं और कमरे के अन्दर से बाहर की रोशनी देख सकते हैं, परन्तु यदि झरोखे के बदले अंग्रेज़ी से दरवाज़े का ही काम लिया जाने लगे और कमरे के चारों ओर दरवाज़े-ही-दरवाज़े लगा दिए जाएँ, तब तो घर ही कम-ज़ोर हो जाएगा।

किसी विदेशी भाषा के द्वारा, चाहे वह कितनी भी समृद्ध हो, अपने राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा कदापि नहीं कर सकते और न उससे हम जनता में जीवन का मन्त्र फूंक सकते हैं। जन-जीवन को तो हम देशी भाषाओं के द्वारा ही जागृत कर सकते हैं और उन्हीं के द्वारा हम जनता के प्राणों में रस घोल सकते हैं। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम अब अंग्रेज़ी का मोह शीघ्र-से-शीघ्र छोड़कर हिन्दी तथा अपने राष्ट्र की अन्य सभी भाषाओं को समृद्ध बनाएँ और शिक्षा, शासन तथा कानून, इन सभी क्षेत्रों में उनका व्यवहार करें। प्रादेशिक भाषाओं के विकास और संवर्धन से ही हिन्दी को भी बल मिलेगा और वैसे ही हिन्दी के विकास से प्रादेशिक भाषाओं को। अपने देश के इस निर्विरोध तादात्म्य की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

भारतीय भाषाओं के प्रयोग के विषय में महसूस किया जा रहा है कि यदि कोई शृङ्खला-भाषा ऐसी न रही, जो

१. केरल के मुख्यमन्त्री श्री आर० शंकर ने कहा कि राज्य में हिन्दी की शिक्षा एवं अध्ययन और राज्य के शैक्षणिक पाठ्यक्रम में हिन्दी को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के लिए सरकार पूरी तरह प्रोत्साहन देगी। केरल सरकार हिन्दी की शिक्षा के वर्तमान प्रति सप्ताह तीन घण्टों में वृद्धि और छठे दर्जे के बजाय पाँचवें दर्जे से हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य करने पर विचार कर रही है।
—सं०

हम सबको एकान्वित कर सके, तो हमारे राष्ट्रीय जीवन में विश्रृङ्खलता आ जाएगी। इनके लिए आज हिन्दी और अंग्रेज़ी, इन दोनों भाषाओं को श्रृंखला-भाषा के रूप में ग्रहण करना आवश्यक माना जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में हमें इस बात का ध्यान रखना है कि जहाँ हिन्दी की जड़ें भारतीय सभ्यता और संस्कृति में जमी हुई हैं, वहाँ अंग्रेज़ी हमारे लिए सर्वथा निर्मूल है। अंग्रेज़ी जहाँ केवल कुछ पढ़े-लिखे लोगों को श्रृंखलाबद्ध करती है, वहाँ अल्प-जन-सुलभ विदेशी भाषा होने के कारण समाज के अल्प-संख्यक-वर्ग और दूसरे बहुसंख्यक-वर्ग के बीच एक बहुत बड़ी खाई भी खोद देती है। दूसरी ओर हिन्दी समाज के सभी वर्गों की भावनाओं को एक सूत्र में बाँधने में सहज समर्थ है।

याद रखिए, हिन्दी केवल एक भाषा नहीं, एक भावना है और वह पुनीत भावना इस समस्त राष्ट्र के एकीकरण की भावना है। इस दृष्टि से महात्मा गांधी ने हिन्दी को अपने रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बनाया था। इसलिए हिन्दी-सेवियों को तो किसी से विरोध होना ही नहीं चाहिए। हिन्दी के विकास और प्रसार में केवल उदारता और प्यार की ही बात की जा सकती है, विरोध की बिलकुल नहीं; क्योंकि हिन्दी हमारे भावात्मक ऐक्य का ही साधन है, फूट का नहीं। हिन्दी को तो देश की सभी भाषाओं को श्रृंखला की कड़ियों के रूप में लेकर चलना है। उन सबका दिल एक-दूसरे के हित में आकर्षित है। यहाँ मैं वन्देमातरम् के रचयिता बंकिमचन्द्र के द्वारा पचास वर्ष पहले के घोषित इस उद्‌बोधन को आपके सामने उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता।

'हिन्दि भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जाहारा ऐक्य-बन्धन संस्थापन करिते पारिबेन, तांहाराइ प्रकृत भारतबन्धु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन जतो दिन परेइ हउक, मनोरथ पूर्ण हइबे। हिन्दि भाषार पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल-साधना करिबेन···।'

'अर्थात् हिन्दी भाषा की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के बीच जो लोग एक बन्धन स्थापित कर सकेंगे, वे ही सच्चे भारतबन्धु नाम से अभिहित किए जाने योग्य हैं। सभी चेष्टा करें, यत्न करें, चाहे कितने ही दिन बाद क्यों न हो मनोरथ पूर्ण होगा। हिन्दी भाषा में पुस्तक और वक्तृता द्वारा भारत के अधिकांश स्थानों की मंगल-साधना कीजिए।'